जैवधर्म

श्रीश्रीगोद्रुमचन्द्राय नमः

जैवधर्म

[जीवका धर्म]

श्रीश्रील ठाकुर भक्तिविनोद–विरचित

अनुवादक एवं सम्पादक
नित्यलीला प्रविष्ट ॐ विष्णुपाद परमहंसस्वामी
श्रीश्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराज

के अनुगृहीत

त्रिदण्डिस्वामी
श्रीश्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण गोस्वामी महाराज

गौड़ीय वेदान्त प्रकाशन

प्रकाशक—
त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्तिवेदान्त माधव महाराज

पंचम संस्करण—१०,००० प्रतियाँ

ॐ विष्णुपाद श्री श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजकी
तिरोभाव तिथि
श्रीचैतन्याब्द ५२२
१४ अक्टूबर २००८

प्राप्तिस्थान

श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ मथुरा (उ०प्र०) ०५६५-२५०२३३४	श्रीरूप-सनातन गौड़ीय मठ दानगली, वृन्दावन (उ०प्र०) ०५६५-२४४३२७०
श्रीगिरिधारी गौड़ीय मठ दसविसा, राधाकुण्ड रोड गोवर्धन (उ०प्र०) ०५६५-२८१५६६८	श्रीश्रीकेशवजी गौड़ीय मठ कोलेरडाङ्गा लेन नवद्वीप, नदीया (प० बं०) ०९३३३२२२७७५
श्रीरमणबिहारी गौड़ीय मठ बी-३, जनकपुरी, नई दिल्ली ०११-२५५३३५६८	खण्डेलवाल एण्ड संस अठखम्बा बाजार, वृन्दावन ०५६५-२४४३१०१

विषय–अनुक्रमणिका

सोलहवाँ	प्रमेयके अन्तर्गत माया-ग्रसित जीवतत्त्वका विवेचन	
सत्रहवाँ	प्रमेयके अन्तर्गत मायासे मुक्त जीवोंका विचार	
अठारहवाँ	प्रमेयके अन्तर्गत भेदाभेद विचार	
उन्नीसवाँ	प्रमेयके अन्तर्गत अभिधेय विचार	
बीसवाँ	प्रमेयके अन्तर्गत अभिधेय विचार-वैध साधनभक्ति	
इक्कीसवाँ	प्रमेयके अन्तर्गत अभिधेय विचार-रागानुगाभक्ति	
बाईसवाँ	प्रमेयके अन्तर्गत प्रयोजनतत्त्वका विचार आरम्भ	
तेईसवाँ	प्रमेयके अन्तर्गत नामतत्त्वका विचार	
चौबीसवाँ	प्रमेयके अन्तर्गत नामापराधका विचार	
पच्चीसवाँ	प्रमेयके अन्तर्गत नामापराध (नामाभास) का विचार	

तीसरा खण्ड

छब्बीसवाँ	रस-विचार (प्रारम्भिक)	
सत्ताइसवाँ	रस-विचार (सात्त्विक एवं व्यभिचारी भाव एवं रत्याभास)	
अट्ठाइसवाँ	रस-विचार (मुख्य रति)	
उनतीसवाँ	रस-विचार (विभिन्न रसोंके अनुभावादि, शान्त, दास्य, सख्यका वर्णन)	
तीसवाँ	मधुररस-विचार (वात्सल्य और मधुर)	
इकतीसवाँ	मधुररस-विचार (मधुर रसके नायक कृष्णका स्वरूप, स्वकीया नायिकाएँ)	
बत्तीसवाँ	मधुररस-विचार (परकीया नायिकाएँ)	
तैंतीसवाँ	मधुररस-विचार (श्रीराधाका स्वरूप, पाँच प्रकारकी सखियाँ, दूती)	
चौंतीसवाँ	मधुररस-विचार (सखीभेद, सखियोंमें तारतम्य)	
पैंतीसवाँ	मधुररस-विचार (मधुररसके उद्दीपन)	
छत्तीसवाँ	मधुररस-विचार (मधुररसमें स्थायीभाव, रतिका	

प्रस्तावना

पृथ्वीतल पर बहुत-से धर्म-सम्प्रदाय प्रचलित हैं। उनमें अधिकांश सम्प्रदायोंमें ही तत्तद्धर्म-प्रचारके उद्देश्यसे विविध प्रकारकी प्रणालियोंका अवलम्बन कर विभिन्न भाषाओंमें अनेकानेक ग्रन्थ लिपिबद्ध हुए हैं। जिस प्रकार लौकिक शिक्षामें कनिष्ठ, मध्यम और उत्तमका भेद अथवा ऊँच-नीच आदि विविध प्रकारके तारतम्य स्वतः सिद्ध हैं, उसी प्रकार विभिन्न धर्म-सम्प्रदायोंकी धर्म-शिक्षाओंमें भी विभिन्न प्रकारके तारतम्य सर्ववादीसम्मत एवं स्वतःसिद्ध हैं। इनमेंसे श्रीचैतन्य महाप्रभुके प्रेम-धर्मकी शिक्षा सभी दृष्टिसे सर्वोत्तम है—इसे विश्वके सभी निरपेक्ष मनीषीवृन्द एक स्वरसे स्वीकार करेंगे। सर्वोत्तम आदर्श और शिक्षासे अनुप्राणित होनेकी आकांक्षा सभीमें ही परिलक्षित होती है। उन लोगोंकी यह शुभेच्छा कैसे फलवती हो—इसका विचार करके ही परममुक्त पुरुष तथा धर्म-जगत्की प्रधान आदर्श, शिक्षित कुलचूड़ामणि श्रील ठाकुर भक्तिविनोदने विभिन्न भाषाओंमें अनेकानेक धर्म-ग्रन्थोंका सृजन किया है। इन ग्रन्थोंमें श्रीचैतन्य महाप्रभुकी शिक्षाओंका ही अतिशय सरल-सहज भाषामें साङ्गोपाङ्ग वर्णन उपलब्ध होता है। लेखककी सम्पूर्ण ग्रन्थराशिमें इस 'जैवधर्म' ग्रन्थको ही विभिन्न देशीय धार्मिक मनीषियोंने सर्वोत्तम माना है।

विश्वमें वेद ही सबसे प्राचीनतम ग्रन्थ हैं। तदनुगत उपनिषद्समूह एवं श्रीवेदव्यास द्वारा प्रकटित वेदान्तसूत्र, महाभारत और श्रीमद्भागवत आदि आदर्श ग्रन्थ हैं। आगे चलकर इसी आदर्शसे अनुप्राणित होकर भारतवर्षमें अनेकों प्रकरण-ग्रन्थ लिखे गये, जिनका स्थान-स्थानपर प्रचुर प्रचार और आदर है। इन प्रकरण-ग्रन्थोंमें तारतम्य, वैशिष्ट्य और भेद आदिकी तो बात ही क्या, परस्पर सामञ्जस्यरहित विभिन्न प्रकारके मतभेद और काल्पनिक विचारधाराएँ भी परिलक्षित होती हैं। फलस्वरूप धर्म-जगत् में नाना प्रकारके उथल-पुथल और उपद्रव हुए हैं और हो रहे हैं। ऐसी विकट परिस्थितिमें स्वयं भगवान्ने परतत्त्वके रूपमें जीवमात्रका उद्धार करनेके लिए सप्ततीर्थोंमें प्रधान मायातीर्थ—मायापुर (श्रीधाम नवद्वीप) में आविर्भूत होकर अपने प्रिय पार्षदों द्वारा सम्पूर्ण शास्त्रोंका यथार्थ तात्पर्यमूल सार सङ्कलन करवाकर लगभग ४००-४५० वर्ष पूर्व सबके हृदयमें दिव्यज्ञान-मूला भक्तिका उन्मेष कराया था। उनमेंसे तीन-चारको छोड़कर अधिकांश ग्रन्थ ही संस्कृत भाषामें लिपिबद्ध हैं। श्रीचैतन्य महाप्रभुके पार्षदोत्तम श्रीश्रीरूप-सनातनके प्रियतम अभिन्न-विग्रह श्रील जीवगोस्वामीने समस्त शास्त्रोंका सार-सङ्कलन कर देवभाषामें षट्सन्दर्भ आदि ग्रन्थोंकी रचना की है और उनके माध्यमसे स्वयं भगवान्की जीवोद्धार—लीलाकी निगूढ़तम इच्छाको व्यक्त किया है। कुछ लोग शास्त्रोंका यथार्थ तात्पर्य अनुधावन नहीं कर पा सकनेके कारण उनके आंशिक या कलामात्र, यहाँ तक कि छाया या विरुद्ध भावको ही ग्रहण करनेके लिए बाध्य हुए हैं। श्रीजीव गोस्वामीकी लेखनी—प्रसूत शिक्षा ही श्रीमन् महाप्रभुकी ऐकान्तिक शिक्षा है; वेद-उपनिषद्, महाभारत और श्रीमद्भागवतकी शिक्षा है। इसी शिक्षाके सर्वथा निर्दोष और पूर्णतम भावका अवलम्बन करके यह 'जैवधर्म' ग्रन्थ अत्यन्त आश्चर्य रूपसे ग्रथित हुआ है। नीचे 'जैवधर्म'-नामकरणके तात्पर्यकी विवेचना की जा रही है, जिससे पाठकगण इस ग्रन्थकी उपादेयता और गुरुत्वका सहज ही अनुधावन कर सकेंगे।

ग्रन्थकारने इस ग्रन्थका नामकरण किया है—'जैवधर्म'। धर्मके सम्बन्धमें हम सबने कुछ-न-कुछ एक धारणा बना रखी है। इसीलिए यहाँ स्थानाभावके कारण इस विषयमें कुछ

अधिक कहना अनावश्यक समझते हैं। संस्कृत भाषामें 'जीव' शब्दमें 'ष्ण' प्रत्यय लगाकर 'जैव' शब्द निष्पन्न हुआ है। इसका अर्थ है—'जीवका' अथवा 'जीव-सम्बन्धीय'। अतएव 'जैवधर्म' कहनेसे 'जीवमात्रका धर्म' अथवा 'जीव-सम्बन्धीय' धर्मका बोध होता है। यहाँ जीव किसे कहते हैं?—इस प्रश्नका उत्तर स्वयं ग्रन्थकारने ही इसी ग्रन्थमें विस्तृत विवेचनपूर्वक प्रदान किया है । संक्षेपमें मैं दो-एक बातें यहाँ निवेदन करना आवश्यक समझता हूँ।

'जीव' शब्दसे जीवन है जिसे, वही जीव है अर्थात् प्राणीमात्र ही जीव है। अतएव जैवधर्मसे ग्रन्थकारने जीवमात्र या प्राणीमात्रके धर्मको लक्ष्य किया है। श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुने अपने एकान्त अनुगत निजजन श्रीरूप-सनातन और जीव आदि छह गोस्वामियोंके द्वारा प्राणीमात्र या जीवमात्रके लिए कौन-सा धर्म ग्रहणीय और पालनीय है—इस विषयमें शिक्षा दी है। तदनन्तर लगभग ४०० वर्षोंके पश्चात् श्रीगौर-जन्मस्थान श्रीधाम मायापुरके समीप ही इस ग्रन्थके लेखक सप्तम गोस्वामी श्रील ठाकुर भक्तिविनोदने आविर्भूत होकर, जीवोंके प्रति दयार्द्र-चित्त होकर बँगला भाषामें 'जैवधर्म' की रचना की है।

भगवान्‌की इच्छासे भगवान्‌के निजजन श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामीने श्रीचैतन्यचरितामृत ग्रन्थमें भगवान् श्रीगौरचन्द्रकी शिक्षाका सार निम्नलिखित पयारमें व्यक्त किया है—

जीवेर स्वरूप हय कृष्णेर नित्यदास।
कृष्णेर तटस्था शक्ति भेदा-भेद प्रकाश॥

(चै० च० म० २०/१०८)

ग्रन्थकारने गौड़ीय वैष्णवोंकी सम्पूर्ण शिक्षाके बीजमन्त्र-स्वरूप उक्त मन्त्रके आधारपर ही 'जैवधर्म' की रचना की है। अतएव यह ग्रन्थ जाति, वर्ण, आश्रम और देश-काल-पात्र आदि भेदोंसे परे मानवमात्रके लिए ही नहीं, अपितु मनुष्येतर कुलोद्भुत प्रस्तर, पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग और जलचर आदि स्थावर और जङ्गम योनियोंको प्राप्त प्राणीमात्रके लिए ही हितकर और ग्रहणीय है। मनुष्येतर प्राणियों में जैवधर्म ग्रहणके उदाहरण-स्वरूप अहिल्या (पाषाणी), यमलार्जुन (वृक्ष), सप्तताल (वृक्ष), नृगराज (गिरगिट), भरत (मृग), सुरभि (गाय), गजेन्द्र (हाथी), जामवन्त (रीछ), अङ्गद-सुग्रीव (बन्दर) आदिके नाम उल्लेख योग्य हैं। जगद्गुरु ब्रह्माजीने स्वयं भगवान् श्रीकृष्णसे तृण-गुल्म, पशु, पक्षी आदि किसी भी योनिमें जन्म देकर तदीय चरणकमलोंकी सेवाकी याचना की है—

तदस्तु मे नाथ स भूरिभागो भवेऽत्र वान्यत्र तु वा तिरश्चाम्।
येनाहमेकोऽपि भवज्जनाना भूत्वा निषेवे तव पादपल्लवम्॥

(श्रीमद्भा० १०/१४/३०)

भक्तराज प्रह्लाद महाराजने तो और भी स्पष्ट रूपसे पशु आदि सहस्रों योनियोंमें जन्म ग्रहण करके भी भगवद्दास्य रूप जैवधर्मकी प्राप्तिकी लालसा व्यक्त की है—

नाथ योनि सहस्रेषु येषु येषु ब्रजाम्यहम्।
तेषु तेष्वचला भक्तिरच्युतास्तु सदा त्वयि॥

और स्वयं ग्रन्थकारने भी स्वरचित 'शरणागति' ग्रन्थमें ऐसी ही प्रार्थना की है—

कीट जन्म हउ यथा तुया दास।
बहिर्मुख ब्रह्मजन्मे नाहि नाहि आश॥

अतएव 'जैवधर्म' की शिक्षा प्राणीमात्रके लिए आदरणीय और ग्रहणीय है। इस

शिक्षाको सर्वान्तःकरण द्वारा अपनानेसे प्राणीमात्र अति सहज ही मायामोहकी कठोर बेड़ीकी घोर यन्त्रणासे तुच्छ-अलीक आनन्दकी मृग मरीचिकासे सदाके लिए छुटकारा प्राप्तकर भगवत्-सेवानन्दमें निमग्न होकर पराशान्ति और परानन्दको प्राप्त करनेमें समर्थ होता है।

पूर्व-प्रदर्शित शिक्षाके ऊँच-नीच तारतम्यकी भाँति धर्मतत्त्वमें भी ऊँच-नीच आदिका तारतम्य स्वीकृत है। उन्नत शिक्षाका आदर्श उन्नत अधिकारी ही ग्रहण कर सकता है। तात्पर्य यह कि समस्त प्रकारके प्राणियोंमें मनुष्य सर्वश्रेष्ठ है। मनुष्येतर प्राणी भी अनेक प्रकारके हैं। प्राणी या जीव कहनेसे चेतन पदार्थका ही बोध होता है। यहाँ अचेतन या जड़ पदार्थोंका विषय आलोच्य नहीं है। चेतनकी स्वाभाविक वृत्ति या क्रियाको ही धर्म कहते हैं। वह धर्म वास्तवमें चेतनकी वृत्ति या उसके स्वरूपगत स्वभावको ही लक्ष्य करता है। धर्मकी वाणी कहने से चेतनकी वाणीका ही बोध होता है। इस ग्रन्थके सोलहवें अध्यायमें चेतनके तारतम्यमूलक क्रम-विकासका विज्ञान-सङ्गत सूक्ष्म विवेचन है। चेतन अर्थात् मायाबद्ध जीवोंकी पाँच अवस्थाएँ होती हैं—(१) आच्छादित चेतन, (२) संकुचित चेतन, (३) मुकुलित चेतन, (४) विकसित चेतन और (५) पूर्ण विकसित चेतन। ऐसे चेतन ही जीव या प्राणी कहलाते हैं। जीवोंकी ये पाँच श्रेणियाँ पुनः स्थावर और जङ्गम भेदसे दो भागों में विभक्त हैं। इनमें से वृक्ष, लता, गुल्म और प्रस्तर आदि स्थावर प्राणियोंको आच्छादित चेतन कहते हैं। इस आच्छादित चेतनको छोड़कर अन्य चार प्रकारके चेतनसमूहको जङ्गम (चलनेवाले) प्राणी कहते हैं। पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग एवं जलचर प्राणीसमूह संकुचित चेतन हैं। आच्छादित और संकुचित इन दो श्रेणियोंमें मनुष्येतर कुलोत्पन्न जीव होते हैं। मुकुलित, विकसित और पूर्ण विकसित चेतन—इन तीनों ही श्रेणियोंमें मनुष्य शरीरवाले जीवसमूह आते हैं। अतएव इन तीन श्रेणियोंमें अवस्थित चेतन, आकारकी दृष्टिसे मानव होनेपर भी चेतनताके क्रम—विकासकी दृष्टिसे इनमें तारतम्य है। इसी तारतम्य-विचारको ध्यानमें रखकर ही उनमें कनिष्ठ, मध्यम और उत्तमका विचार होता है। फिर भी वृक्ष, लता, गुल्म, पशु-पक्षी और मनुष्य—ये सभी जीव ही हैं और इन सभीका ही एकमात्र धर्म भगवदुपासना ही है। परन्तु इन सबमें मनुष्य सर्वश्रेष्ठ प्राणी है और भगवदुपासना रूप जैवधर्म उसीका विशेष धर्म है।

ज्ञान या बोधके आच्छादनके तारतम्यानुसार चेतन वृत्तिका तारतम्य हुआ करता है। मानव ही सर्वप्रकारके प्राणियोंमें श्रेष्ठ है—इस विषय में तनिक भी सन्देह नहीं है। यह श्रेष्ठत्व कहाँ और क्यों है—इस पर विचार करना अत्यन्त आवश्यक है। वृक्ष, लता, कीट-पतङ्ग, पशु-पक्षी और जलचर प्राणियोंसे आकार-विकार, बल-वीर्य, सौन्दर्य एवं रूप-लावण्य आदिकी दृष्टिसे मनुष्य ही सर्वश्रेष्ठ है—ऐसा नहीं कहा जा सकता। परन्तु मनोवृत्ति एवं बुद्धिके विकास अथवा चैतन्यवृत्तिके अधिक विकासकी दृष्टिसे ही मानव अन्यान्य प्राणियोंसे सर्वतोभावेन श्रेष्ठ है। अतएव 'जैवधर्म' में इसी श्रेष्ठ धर्मका विवेचन किया गया है। साधारणतः जीवमात्रका धर्म होनेपर भी इसे मानव-जातिका ही धर्म समझना चाहिये। क्योंकि श्रेष्ठ धर्ममें श्रेष्ठ जीवका ही विशेष रूपसे अधिकार होता है।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि ग्रन्थका नाम 'जैवधर्म' न रखकर 'मानवधर्म' या 'मनुष्यमात्रका धर्म' ही क्यों नहीं रखा गया? इसका कारण अनुसन्धान करनेपर यह ज्ञात होता है कि धर्ममात्रमें मनुष्यकी वृत्ति होती है। मनुष्येतर प्राणियोंमें धर्म नहीं होता—यही

साधारण विधि है। वृक्ष, लता, प्रस्तर, कृमि, कीट, पतङ्ग, मत्स्य, कच्छप, पशु-पक्षी और साँप आदि जीवके अन्तर्भूत होनेपर भी इनमें मोक्ष या भगवदुपासना सूचक धर्मवृत्ति परिलक्षित नहीं होती।

कतिपय दार्शनिकोंका यह मत है कि जिन प्राणियोंमें केवलमात्र पशुत्व अर्थात् मूर्खता और निष्ठुरता (animality) होती है, वे ही पशु हैं। इस पशु-श्रेणीके कतिपय जीवोंमें जो जन्मगत स्वाभाविक या सहज ज्ञानवृत्ति (intuition) परिलक्षित होती है, वह कुछ हद तक मानववृत्तिका आभासमात्र है; वास्तवमें वह मानववृत्ति नहीं। इस पशुत्व (animality) के साथ ज्ञान या विवेक-बुद्धि (rationality) युक्त होनेपर ही उसे मानवता और जिनमें यह मानवता हो, उन्हें मानव या मनुष्य कहते हैं। पाश्चात्य दार्शनिकोंने भी कहा है—Men are rational beings. हमारे आर्य ऋषियोंने उक्त पशुवृत्ति (animality) से संक्षेपतः आहार, निद्रा, भय और मैथुन—इन चार वृत्तियोंको लक्ष्य किया है। इस पशुवृत्तिको अतिक्रमकर धर्मवृत्ति (rationality) से युक्त होनेपर ही मनुष्यत्व प्रमाणित होता है। परन्तु यहाँ यह विशेष रूपसे ध्यान देने योग्य है कि पाश्चात्य दर्शनमें rationality का अर्थ अति संकुचित है और हमारे आर्य दर्शनका 'धर्म' शब्द बहुत ही व्यापक है, जो पाश्चात्य दर्शनके rationality को अपने एकांशमें अन्तर्भूतकर उससे भी बहुत उन्नत ईशोपासनावृत्ति तकको धारण करता है। यह धर्म ही मनुष्यत्वका यथार्थ परिचायक है। धर्महीन प्राणियोंको 'पशु' की संज्ञा दी गयी है। शास्त्र कहते हैं—

आहार निद्रा भय मैथुनञ्च सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषां अधिको विशेषो धर्मेण हीना पशुभिः समाना॥

तात्पर्य यह है कि आहार, निद्रा, भय और मैथुनरूप इन्द्रिय-तर्पणादि प्राणी या जीवमात्रकी स्वाभाविक वृत्तियाँ हैं। मनुष्य और मनुष्येतर सब प्रकारके जीवोंमें ही ये वृत्तियाँ समान रूपसे परिलक्षित होती हैं। इसमें दो मत नहीं। परन्तु मनुष्यको मनुष्य तभी कहा जायेगा, जबकि उसमें धर्मवृत्ति देखी जाये। **"धर्मो हि तेषां अधिको विशेषो"** अर्थात् पशु आदिकी अपेक्षा मनुष्यमें धर्म ही विशेष या अधिक होता है। जिसमें धर्मका नितान्त अभाव होता है, वह मनुष्य नहीं कहा जा सकता। **"धर्मेण हीना पशुभिः समाना।"**—धर्महीन व्यक्ति पशु-सदृश है। इसलिए हमारे देशमें धर्महीन मनुष्यको नरपशु कहा गया है।

अस्तु, यह विशेष रूपसे विचारणीय है कि आजकल लोग धर्मका परित्याग करके केवल आहार-विहार आदि विषय-भोगोंमें प्रमत्त रहते हैं, उनकी यह वृत्ति—पशुवृत्ति या मनुष्येतर वृत्ति है। कलिके प्रभावसे आजकल मनुष्य निम्नगामी होकर क्रमशः पशुत्वकी ओर अग्रसर हो रहा है। इसलिए ग्रन्थकारने सभीकी हितकामनासे ही ग्रन्थका नाम 'जैवधर्म' रखकर शास्त्र-मर्यादाको सम्पूर्ण रूपमें अक्षुण्ण रखा है। मनुष्यमें ही ईश्वर-उपासनारूप धर्म परिलक्षित होता है, पशु-पक्षी आदि मनुष्येतर प्राणियोंमें नहीं। अतएव मनुष्य सर्वोच्च प्राणी है और वही सर्वोच्च शिक्षा या धर्मका विशेष अधिकारी है। जैवधर्म उन्हींके लिए पठनीय है।

श्रीचैतन्य महाप्रभुकी विशेषता यह है कि उन्होंने सबसे निम्न व्यक्तिको भी कृपा करके अपनी उच्चतम शिक्षामें अधिकार प्रदान किया है। यह किसी भी दूसरे अवतारमें नहीं दिया गया है। इसीलिए शास्त्रकारोंने श्रीमन् महाप्रभुका बड़े ही मार्मिक शब्दोंमें स्तवन किया

है—

अनर्पितचरीं चिरात् करुणयावतीर्णः कलौ
समर्पयितुमुन्नतोज्ज्वलरसां स्वभक्तिश्रियम्।
हरिः पुरटसुन्दरद्युतिकदम्बसन्दीपितः
सदा हृदय-कन्दरे स्फुरतु वः शचीनन्दनः॥

(विदग्धमाधव १/२)

अर्थात् जो सर्वोत्कृष्ट उज्ज्वलरस जगत् को कभी भी दान नहीं किया गया, जिससे जीवमात्र अत्यन्त सहज और सरल रूपसे माया—मोहके बन्धनसे सदाके लिए मुक्त होकर कृष्णप्रेम प्राप्तकर धन्य हो सके, उसी स्वभक्ति-सम्पत्तिका दान करनेके लिए करुणावशतः सुवर्णकान्ति द्वारा देदीप्यमान स्वयं-भगवान् श्रीशचीनन्दन गौरहरि कलिकालमें अवतीर्ण हुए हैं। लेखकने भी श्रीमन् महाप्रभुके उक्त वैशिष्ट्यकी सर्वतोभावेन रक्षा की है।

"वैष्णवधर्ममें मनुष्यमात्रका अधिकार है"—ग्रन्थकारने 'जैवधर्म' के ग्यारहवें अध्यायके मौलवी साहेब और वैष्णवोंके परस्पर विचारप्रसङ्गमें इस सिद्धान्तका युक्तिसङ्गत विचारों एवं दृढ़ शास्त्रीय प्रमाणोंके द्वारा प्रतिपादन किया है। उर्दू, फारसी और अँग्रेजी आदि किसी भी भाषाको बोलनेवाला व्यक्ति वैष्णव हो सकता है। केवलमात्र संस्कृतभाषी ही वैष्णव हो सकेंगे —ऐसी बात नहीं, प्रत्युत् ऐसा देखा जाता है कि हिन्दी, बँगला, उड़िया, आसामी, तमिल, तेलगु आदि भाषा-भाषी अनेकों व्यक्ति प्रचुर प्रतिष्ठासम्पन्न वैष्णव-पदवीको प्राप्त कर चुके हैं। अतएव मुसलमान, ईसाई, बौद्ध और जैन आदि जातियोंके लोग वैष्णव होनेके अधिकारी हैं। भाषाके वैषम्यसे वैष्णवताका वैषम्य नहीं होता।

भाषा-विद्वेषियोंके विचारोंकी उपेक्षा करके श्रीलभक्तिविनोद ठाकुरने भाषाओंके माध्यमसे श्रीमन् महाप्रभुकी अप्राकृत भावमयी शिक्षाका प्रकाश किया है। अप्राकृत दैव-संस्कृत-भाषा तथा तदनुगत बँगलाके अतिरिक्त उड़िया, हिन्दी, उर्दू और अँग्रेजी आदि विभिन्न भाषाओंमें उनके द्वारा रचित लगभग १०० ग्रन्थोंका परिचय पाया जाता है। उनमेंसे कतिपय विशेष ग्रन्थोंके नाम उनके रचनाकालके साथ नीचे दिये जा रहे हैं—

(क) संस्कृत—(१) वेदान्ताधिकरण—बंगाब्द १२७९[१], (२) दत्तकौस्तुभम् १२८१, (३) दत्तवंशमाला १२८३, (४) बौद्धविजय काव्यम् १२८५, (५) श्रीकृष्णसंहिता १२८७, (६) 'सन्मोदन भाष्य' (शिक्षाष्टकका) १२९३, (७) दशोपनिषद्—चूर्णिका १२९३, (८) भावावली (श्लोक और भाष्य) १२९३, (९) 'श्रीचैतन्यचरणामृत'-भाष्य (श्रीचैतन्योपनिषद्का) १२९४, (१०) श्रीमदाम्नाय सूत्रम् १२९७, (११) तत्त्वविवेकः या श्रीसच्चिदानन्दानुभूतिः १३००, (१२) तत्त्वसूत्रम् १३०१, (१३) 'वेदार्क-दीधिति' व्याख्या (ईशोपनिषद्की) १३०१, (१४) श्रीगौराङ्ग-स्मरणमङ्गल-स्तोत्रम् १३०३, (१५) श्रीसनातनगोस्वामीके 'श्रीभगवद्धामामृतम्' ग्रन्थका भाष्य १३०५, (१६) श्रीभागवतार्कमरीचिमाला १३०८, (१७) श्रीभजनरहस्यम् १३०९, (१८) स्वनियम-द्वादशकम् १३०४, (१९) ब्रह्मसूत्र या वेदान्त-दर्शनका भाष्य, (२०) शिक्षा-दशमूलम्

---

(१) ग्रन्थकारने अपने ग्रन्थोंके रचनाकालमें 'बंगाब्द' का प्रयोग किया है। जो विक्रमी सम्वत्से ६५० वर्ष पीछे प्रचलित हुआ है। अर्थात् बंगाब्दमें ६५० का योग करनेसे वह विक्रमी सम्वत् होगा।

इत्यादि।

(ख) बँगला (गद्य)—(१) गर्भस्तोत्र—व्याख्या या सम्बन्ध—तत्त्व-—चन्द्रिका बंगाब्द १२७७, (२) श्रीसज्जनतोषिणी (मासिक पत्रिका, १म्—१७ खण्ड) आरम्भ १२८८, (३) 'रसिकरञ्जन भाषाभाष्य' (गीताकी श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीटीकासहित) १२९३, (४) श्रीचैतन्यशिक्षामृत १२९३, (५) प्रेम-प्रदीप (पारमार्थिक उपन्यास) १२९३, (६) 'श्रीविष्णुसहस्रनाम' का बँगानुवाद (बलदेवभाष्य) १२९३, (७) वैष्णवसिद्धान्तमाला १२९५, (८) सिद्धान्त-दर्पणानुवाद १२९७, (९) 'विद्वदरञ्जन' भाषा-भाष्य (श्रीगीताके श्रीबलदेव-भाष्य सहित) १२९८), (१०) श्रीहरिनाम, श्रीनाम, श्रीनाम-तत्त्व, श्रीनाम-महिमा, श्रीनाम-प्रचार (वैष्णव-सिद्धान्तमालाके गुच्छ सहित) १२९९, (११) श्रीमन् महाप्रभुकी शिक्षा १२९९, (१२) तत्त्व मुक्तावली या मायावादशतदूषणी १३०१, (१३) 'अमृतप्रवाह-भाष्य' (श्रीचैतन्यचरितामृतका) १३०२, (१४) श्रीरामानुज-उपदेश १३०३, (१५) जैवधर्म १३०३, (१६) 'प्रकाशिनी' वृत्ति सहित ब्रह्मसंहिताका बँगानुवाद १३०४, (१७) 'श्रीकृष्णकर्णामृतम्' ग्रन्थकी व्याख्या १३०५, (१८) 'पीयूषवर्षिणी' वृत्ति (श्रीउपदेशामृतम्की) १३०५, (१९) श्रीनरहरि ठाकुर कृत 'श्रीभजनामृतम्-ग्रन्थका भाष्य १३०६, (२०) 'श्रीसङ्कल्पकल्पद्रुमः' ग्रन्थका बँगानुवाद १३०८ इत्यादि।

(ग) बँगला (पद्य)—(१) हरिकथा-बंगाब्द १२५७, (२) शुंभ-निशुंभ-युद्ध १२५८, (३) विजन ग्राम १२७०, (४) संन्यासी १२७०, (५) कल्याण-कल्पतरु १२८८, (६) मनः शिक्षा १२९३, (७) श्रीकृष्णविजय १२९४, (८) श्रीनवद्वीपधाम-माहात्म्य १२९७, (९) शरणागति १३००, (१०) शोकशातन १३००, (११) श्रीनवद्वीपभावतरङ्ग १३०६, (१२) श्रीहरिनाम-चिन्तामणि १३०७, (१४) गीतावली, (१५) गीतमाला, (१६) श्रीप्रेमविवर्त्त (सम्पादन) १३१३ इत्यादि।

(घ) उर्दू—वालिदे रेजिष्ट्री—सन् १८६६ ई.

(ङ) अँग्रेजी—(1) Peried (1st & 2nd volume) 1857-1858, (2) Maths of Orissa 1860, (3) Our wants 1863, (4) Speech on Goutam 1866, (5) Speech on Bhagavatam 1869, (6) Reflection 1871, (7) Thakur Haridas 1871, (8) Temple of Jagannath 1871, (9) Monasteries of Puri 1871, (10) Review (Personality of Godhead) 1883, (11) Shri Chaitanya Mahaprabhu, His life and Precepts 1996, (12) A Beacon Light etc.

उपरोक्त ग्रन्थ-तालिकाको देखकर यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि ग्रन्थकार विभिन्न भाषाओंके पारदर्शी सुपण्डित थे। यहाँ लेखकके जीवनके एक वैशिष्ट्य पर प्रकाश डालना आवश्यक समझता हूँ। वे पाश्चात्य शिक्षाके धुरन्धर विद्वान होनेपर भी पाश्चात्य प्रभावसे सर्वथा मुक्त थे। पाश्चात्य शिक्षाविदोंका कहना है—"Do not follow me but follow my words", अर्थात् "मैं जैसा करता हूँ वैसा न करो; मैं जैसा कहता हूँ वैसा करो"। परन्तु श्रील भक्तिविनोद ठाकुरका जीवन-चरित्र इस कथनका प्रतिवाद है। उन्होंने स्वलिखित विविध ग्रन्थोंमें जिन शिक्षाओंका उल्लेख किया है, उनमेंसे प्रत्येक शिक्षाका आचरण उन्होंने स्वयं अपने जीवनमें करके दिखलाया है। इसीलिए उनकी शिक्षा और भजन

रीतिको 'भक्तिविनोद धारा' कहते हैं। उनके ग्रन्थोंमें एक भी ऐसी बात नहीं है, जिसका उन्होंने स्वयं पालन न किया हो। अतएव उनकी लेखनी और जीवनी-करनी और कथनी एक ही है।

जिस महापुरुषका ऐसा महान वैशिष्ट्य है, पाठकोंको उनका परिचय जाननेके लिए कौतूहल होना स्वाभाविक है। विशेषतः आधुनिक पाठकोंको कोई भी विषय अवगत होनेके लिए उसके लेखकके सम्बन्धमें अपरिचित रहनेसे उसके द्वारा लिखित विषयोंके प्रति श्रद्धा नहीं होती। इसीलिए संक्षेपमें लेखकके सम्बन्धमें दो-एक बातें निवेदन कर रहा हूँ।

अतिमर्त्य महापुरुषोंके सम्बन्धमें आलोचना करते समय साधारण मनुष्योंके जन्म, मृत्यु और स्थितिकालकी भाँति विचार करना भूल होगा, क्योंकि महापुरुषगण जन्म और मृत्युसे परे होते हैं। वे नित्यकाल विद्यमान रहनेपर भी लोकमें उनका आविर्भाव और तिरोभाव ही केवलमात्र लक्ष्य किया जाता है। श्रील भक्तिविनोद ठाकुरने १८ चैत्र, १२४५ बंगाब्द (२ सितम्बर १८३८ ई०) रविवारको पश्चिम बंगालके नदिया जिलेके अन्तर्गत श्रीगौराविर्भाव—स्थली श्रीधाममायापुरके सन्निकट 'वीरनगर' नामक ग्राममें अति उच्चकुलमें आविर्भूत होकर गौड़ीयगगनको प्रोद्भाषित किया था और ९ आषाढ़, १३२१ बंगाब्द (२३ जून, १९१४ ई०) को कलकत्ता महानगरीमें तिरोहित होकर श्रीगौड़ीय वैष्णवोंके परमाराध्य श्रीश्रीगान्धर्विका—गिरिधारीकी मध्याह-लीलामें प्रवेश किया।

इन ७६ वर्षोंके अल्पकालमें उन्होंने स्वयं चारों आश्रमोंका आचरण करके जगत्को शिक्षा दी है। सर्वप्रथम उन्होंने ब्रह्मचर्यका पालन करके बहुमुखी उच्च शिक्षाएँ प्राप्त कीं। तदनन्तर गार्हस्थ्य-जीवनमें सदुपायसे अर्थोपार्जन करके कुटुम्बका भरण-पोषण करनेका जो आदर्श दिखलाया है, वह प्रत्येक गृहस्थके लिए अनुसरणीय है। इसी समय उन्होंने अँग्रेजी राजत्वमें शासन एवं विचार विभागके एक विशिष्ट उच्च पदस्थ कर्मचारी (गजटेड आफिसर) के रूपमें सारे भारतवर्षका भ्रमण किया था। यहाँ तक कि जो प्रदेशसमूह उच्छृंखल (Unregulated Provinces) के नामसे कुख्यात थे, वहाँपर भी इन महापुरुषने अपने प्रौढ़ सुविचारों तथा शासन—सुकौशलसे शान्ति और सुश्रृङ्खलाकी स्थापना की। उन्होंने गृहस्थ जीवनमें भी अपने धार्मिक आदर्शसे तत्कालीन सभी लोगोंको आश्चर्यचकित कर दिया था। इस प्रकार गुरुदायित्वपूर्ण कार्योंमें नियुक्त रहकर भी उन्होंने अनेकानेक भाषाओंमें अनेक ग्रन्थोंकी रचनाएँ कीं। उनके द्वारा रचित ग्रन्थोंकी तालिकामें हमने उन-उन ग्रन्थोंके रचनाकालका भी उल्लेख किया है। उस तालिकाको मिलाकर देखनेसे पाठकवर्ग उनकी आश्चर्यजनक सृजन-शक्तिका अनुमान लगा सकेंगे। तत्पश्चात् राजकीय शासन-विभागसे सेवा निवृत्त होकर वानप्रस्थ आश्रय ग्रहणकर उन्होंने नवद्वीपके नौ द्वीपोंके अन्तर्गत कीर्त्तनाख्या गोद्रुमद्वीपमें सुरभिकुञ्जकी स्थापना की तथा वहींपर बहुत समय तक भजन किया। तत्पश्चात् संन्यास ग्रहण करके उसीके समीप स्वानन्द-सुखदकुञ्जमें रहकर उन्होंने ठीक श्रीचैतन्यमहाप्रभुजीने जिस प्रकारसे स्वयं और अपने अनुगत छह गोस्वामियों द्वारा श्रीकृष्णकी आविर्भाव और अन्यान्य लीलास्थलियोंका प्रकाश किया था, उसी प्रकारसे श्रीचैतन्यदेवकी आविर्भाव-स्थली तथा अन्यान्य गौरलीला-स्थलियोंका प्रकाश किया। यदि ये जगत्में आविर्भूत न होते तो श्रीगौराङ्ग महाप्रभुकी लीलास्थलियाँ तथा उनकी शिक्षाएँ विश्वसे विलुप्त हो जातीं। इसीलिए समग्र गौड़ीय वैष्णव जगत् इनका चिरऋणी है और रहेगा। यही कारण है कि

समग्र वैष्णव जगत्में इन्हें 'सप्तम' गोस्वामीका अत्युच्च सम्मान प्रदान किया गया है।

इन महापुरुषने अपने जीवनके उच्च आदर्श द्वारा जिस प्रकार लोकशिक्षाका प्रचार-प्रसार किया है, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न भाषाओंमें ग्रन्थादि प्रणयन करके प्रचुर शिक्षा दी है। इसके अतिरिक्त इनके दानके और भी एक वैशिष्ट्यका उल्लेख न करनेसे मादृश जीवकी घोर अकृतज्ञता ही प्रकाशित होगी। श्रील ठाकुर भक्तिविनोदने समग्र विश्वमें श्रीचैतन्यमहाप्रभु द्वारा प्रकटित धर्म-प्रचारकके मूल सेनापतिके रूपमें जिस महापुरुषको इस जगतीतल पर आविर्भूत कराया है, वे मदीय **गुरुपादपद्म जगद्गुरु ॐ विष्णुपाद परमहंसकुल चूडामणि अष्टोत्तरशत श्री श्रीमद्भक्ति सिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी ठाकुरके** रूपमें समग्र विश्वमें सुपरिचित हैं। इन महापुरुषको जगत्में आविर्भूत कराना—श्रीमद्भक्तिविनोद ठाकुरकी एक अतुलनीय अभिनव कीर्ति है। साधु-वैष्णव समाज उन्हें संक्षेपमें '**श्रील प्रभुपाद**' कहकर ही गौरव ज्ञापन करता है। मैं भी भविष्यमें उक्त परममुक्त महापुरुषके नामके स्थलपर 'श्रील प्रभुपाद का उल्लेख करूँगा।

श्रील प्रभुपादने श्रील भक्तिविनोद ठाकुरके पुत्रके रूपमें या अन्वय रूपमें, यहाँ तक कि पारम्पर्य रूपमें आविर्भूत होकर समग्र विश्वमें श्रीमन् महाप्रभु श्रीचैतन्यदेव द्वारा आचरित और प्रचारित श्रीमाध्व गौड़ीय वैष्णवधर्मकी अत्युज्ज्वल पताका उत्तोलन करके धर्मराज्यका प्रभूत कल्याण और उन्नति-साधन किया है। अमेरिका, इंग्लैण्ड, जर्मनी, फ्रांस, स्वीडन, स्विटजरलैण्ड और बर्मा आदि सुदूर पश्चिमी और पूर्वी देशसमूह भी इन महापुरुषकी कृपासे वञ्चित नहीं हुए हैं। सारे भारतवर्ष और भारतके बाहर सारे विश्वमें चौंसठ प्रचारकेन्द्र—गौड़ीय मठ स्थापित कर श्रीचैतन्यवाणीका प्रचार किया था। साथ ही उन्होंने श्रील भक्तिविनोद ठाकुरके सारे ग्रन्थोंका प्रचार करके जगत् में अतुलनीय कीर्त्ति स्थापित की है। कालके प्रभावसे अर्थात् कलिकी प्रबलतासे गौड़ीय वैष्णव धर्ममें नाना प्रकारके असदाचार-कदाचार, असिद्धान्त-कुसिद्धान्त आदिका प्रवेश हो जानेके कारण तेरह अपसम्प्रदाय निकल पड़े थे। ये तेरह अपसम्प्रदाय हैं—

आउल बाउल कर्त्ताभजा नेड़ा दर्वेश साईं।
सहजिया सखीभेकी स्मार्त्त जाति गोसाईं॥
अतिवाड़ी चूड़ाधारी गौराङ्गनागरी।
तोता कहे ए तेरह सङ्ग नाहि करि॥

श्रील प्रभुपाद द्वारा श्रील भक्तिविनोद ठाकुरके ग्रन्थोंका प्रकाश और प्रचार होनेसे पूर्वोक्त अपसम्प्रदायोंकी अपचेष्टाओंका प्रचुर परिमाणमें ह्रास हुआ है। फिर भी दुःखका विषय है कि इतना होनेपर भी कलिके प्रभावसे आहार-विहार और 'बाँचा पाड़ा' अर्थात् जीवनबीमा (life insure) ही किसी-किसी धर्म-सम्प्रदायके प्रचारके प्रधान विषय हो गये हैं। वास्तवमें यह सब पशुवृत्तिका ही नामान्तर या पाशविक अनुशीलनका प्रसारमात्र है। हम पहले ही ऐसा कह आये हैं।

'जैवधर्म' में पूर्वोक्त तथाकथित कलि-प्रचोदितधर्म-धर्म नहीं है, धर्मका स्वरूप क्या है, धर्मके साथ हमारा सम्बन्ध क्या है, धर्मका पालन करनेसे क्या लाभ है तथा धर्मका यथार्थ तात्पर्य क्या है—आदि विषयोंका बड़ा ही साङ्गोपाङ्ग विवेचन प्रस्तुत किया गया है। लगभग ६०० पृष्ठोंके इस छोटे-से ग्रन्थका पाठ करनेसे सम्पूर्ण शास्त्रोंका तात्पर्य अत्यन्त संक्षेपमें

जाना जा सकता है। इसमें प्रश्नोत्तरके रूपमें विश्वके सारे धर्मोकी तुलनामूलक आलोचना की गयी है। एक वाक्यमें मैं यह कह सकता हूँ कि इस छोटे–से ग्रन्थमें गागरमें सागरकी भाँति सम्पूर्ण भारतीय शास्त्रोंका सार भरा हुआ है। अतएव यह कहना अत्युक्ति नहीं होगी कि किसी धर्मजीवनमें इस ग्रन्थका पाठ नहीं किये जानेसे धर्म–तत्त्व ज्ञानका उसमें अवश्य ही अभाव रह जायेगा।

इस ग्रन्थमें किन–किन महत्वपूर्ण विषयोंका विवेचन हुआ है, इस विषयको जाननेके लिए पाठकवर्गसे इस ग्रन्थकी अनुक्रमणिका देखनेके लिए अनुरोध करता हूँ। ग्रन्थकारने शास्त्र–मर्यादाको अक्षुण्ण रखते हुए सम्बन्ध–अभिधेय–प्रयोजनात्मक–तत्त्वको तीन खण्डोंमें प्रकाशित किया है। कुछ अनभिज्ञ लेखकोंने (१) सम्बन्ध, (२) अभिधेय और (३) प्रयोजन —इस क्रमका उलङ्घन कर सबसे पहले ही (३) 'प्रयोजन' तत्त्वकी आलोचना करके पीछे (१) 'सम्बन्ध' (२) 'अभिधेय'–तत्त्वोंका वर्णन किया है, जो वेद, उपनिषद्, पुराण, महाभारत और विशेषकर प्रमाण शिरोमणि श्रीमद्भागवत आदिके सिद्धान्तोंके सर्वथा प्रतिकूल है।

पहले खण्डमें नित्य और नैमित्तिक धर्मोका विश्लेषण है, दूसरे खण्डमें सम्बन्ध–अभिधेय–प्रयोजन–तत्त्वोंका दृढ़ शास्त्रीय प्रमाणोंके आधारपर साङ्गोपाङ्ग वर्णन है तथा तीसरे खण्डमें रस–विचारका मार्मिक विवेचन है। श्रील प्रभुपादकी विचारधाराके अनुसार जब तक कुछ उन्नत अधिकारकी प्राप्ति न हो जाये, तब तक 'रसविचार' में प्रवेश करना उचित नहीं। यदि कोई अनधिकारी साधक 'रसविचार' में प्रवेश करनेकी अनधिकार चेष्टा करेगा तो उसका हितकी अपेक्षा अहित ही होगा। श्रील प्रभुपादने 'भाई सहजिया', 'प्राकृतरस–शत–दूषणी' तथा अन्यान्य अनेक प्रबन्धोंमें इसे सुस्पष्ट रूपसे व्यक्त किया है। इसलिए इस विषयमें सतर्क रहनेकी आवश्यकता है।

मूल 'जैवधर्म' ग्रन्थ बँगला भाषामें है। फिर भी इसमें शास्त्रीय प्रमाण आदि सम्वलित संस्कृत भाषाका प्रचुर प्रयोग किया गया है। इस ग्रन्थकी व्यापक लोक–प्रियताका इसीसे पता चलता है कि थोड़े ही समय में बँगला भाषामें इसके दस–बारह बड़े–बड़े संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। हिन्दी भाषामें अनुदित जैवधर्मका प्रस्तुत संकरण—श्रीगौड़ीयवेदान्त समिति द्वारा अभिनव आकारमें प्रकाशित जैवधर्मके अभिनव संस्करणकी पद्धतिका अनुसरण करके मुद्रित हुआ है। हिन्दी पारमार्थिक मासिक—**'श्रीभागवत पत्रिका' के सुयोग्य सम्पादक—त्रिदण्डि स्वामी श्रीश्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण महाराजजीने** बड़े परिश्रमसे इस ग्रन्थको हिन्दीमें अनूदित कर उक्त पत्रिकाके पहले वर्षसे छठे वर्ष तक में प्रकाशित किया है। अब अनेक श्रद्धालु व्यक्तियोंके बारम्बार अनुरोधपर हिन्दी भाषी धार्मिक जनताके कल्याणार्थ उसीको पुस्तकाकारमें प्रकाशित किया गया है। प्रसङ्गवश मैं यह कहनेके लिए बाध्य हो रहा हूँ कि अनुवादक महोदय हिन्दी भाषी हैं, बँगला उनकी मातृ–भाषा नहीं है, तथापि उन्होंने इस ग्रन्थका अनुशीलन करनेके लिए बँगला भाषाका अध्ययन किया तथा उसमें विशेष अभिज्ञता प्राप्त करके कठोर परिश्रम और कष्ट स्वीकार कर इस ग्रन्थका अनुवाद किया है। मुझे हार्दिक प्रसन्नता है कि इसमें मूल–ग्रन्थके कठिन दार्शनिक एवं रसविचारके अतिगहन तथा परमोन्नत सूक्ष्म भावोंकी भलीभाँति रक्षा हुई है। **हिन्दी जगत् इस महान कार्यके लिए इनका कृतज्ञ रहेगा। विशेषतः श्रील प्रभुपाद और श्रील भक्तिविनोद ठाकुर इनके इस अक्लान्त सेवा कार्यके लिए निश्चित रूपमें इन पर प्रचुर कृपा करेंगे।**

और भी कतिपय भगवद्भक्तोंकी इस ग्रन्थके मुद्रण और प्रकाशन कार्यमें सहायता एवं सहानुभूतिका उल्लेख नहीं करनेसे मेरे कर्त्तव्यकी हानि होगी। इनमें त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्तिवेदान्त भिक्षु महाराज (हाल ही में जिनका परलोकगमन हो चुका है), प्रिय कुञ्जबिहारी ब्रह्मचारी, प्रिय श्रीकृष्णस्वामी दास ब्रह्मचारी, प्रिय शेषशायी ब्रह्मचारी, प्रिय ओमप्रकाश ब्रजवासी 'साहित्यरत्न' और पण्डित बागरोदी श्रीकृष्णचन्द्र शास्त्री, काव्यतीर्थके नाम विशेष उल्लेख योग्य हैं।

सर्वोपरि मेरा वक्तव्य यह है कि उक्त भक्तजनोंका गौरवपात्र होनेके कारण ही इस ग्रन्थके सम्पादनमें मेरा नाम व्यवहृत हुआ है। वास्तवमें इस ग्रन्थके अनुवादक और प्रकाशक उक्त त्रिदण्डिस्वामी श्री श्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण महाराज ही सम्पादनका सारा कार्य करके मेरे विशेष आशीर्वादके पात्र हुए हैं।

मुझे पूरा विश्वास है कि एतद्देशीय श्रद्धालु जनतासे लेकर विद्वान् मण्डली तक—सभी इस ग्रन्थका पाठ करके श्रीचैतन्यमहाप्रभु द्वारा आचरित और प्रचारित सम्बन्धाभिधेयप्रयोजन—तत्त्वके सम्बन्धमें ज्ञान प्राप्तकर श्री श्रीराधाकृष्ण और श्रीचैतन्यमहाप्रभुके प्रेमधर्ममें अधिकार प्राप्त कर सकेंगे।

अन्तमें यह निवेदन है कि इस ग्रन्थके मुद्रणकार्यमें अत्यन्त शीघ्रताके कारण कुछ मुद्राकर प्रमादादि त्रुटियाँ रह गयी हैं। परन्तु वे अत्यन्त साधारण कोटिकी होनेके कारण शुद्धि-पत्र नहीं दिया गया है। पाठकवर्ग इस ग्रन्थका पाठ कर हमारे प्रति प्रचुर आशीर्वाद करें—यही प्रार्थना है। अलमतिविस्तरेण।

श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ पो० मथुरा (उ० प्र०) सम्वत् २०२३	श्रील प्रभुपाद—किङ्कर त्रिदण्डि-भिक्षु **श्रीभक्ति प्रज्ञान केशव**

निवेदन

जगद्गुरु ॐ विष्णुपाद श्रील सच्चिदानन्द भक्तिविनोद ठाकुर द्वारा बँगला भाषामें लिखित मूल 'जैवधर्म' का तृतीय संस्करण प्रकाशित हो रहा है। सुधी पाठकवृन्द कुछ दिनोंसे इस ग्रन्थका अभाव विशेष रूपसे अनुभव कर रहे थे। इसके पुनः प्रकाशित होनेसे वह अभाव दूर हुआ है। इससे पूर्व इस ग्रन्थके प्रथम एवं द्वितीय संस्करण श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ, मथुरासे त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण महाराज द्वारा प्रकाशित हो चुके हैं।

इस बहुल प्रचारित ग्रन्थके विषयमें नवीन रूपमें कुछ परिचय देना अनावश्यक है, क्योंकि यह ग्रन्थ सभी रूपानुग गौड़ीयों वैष्णवों द्वारा विशेष समादृत है। गद्य साहित्यमें कथोपकथन शैलीमें इस ग्रन्थका अवदान अतुलनीय है। इसके भावगाम्भीर्य, भाषाका लालित्य, विचार-प्रवाह और सर्वोपरि निगूढ़ दार्शनिक तत्त्वसिद्धान्तोंने इस ग्रन्थको प्राकृत साहित्य लेखकोंकी रचनाओंसे सम्पूर्ण रूपसे पृथक् एवं वैशिष्ट्यपूर्ण श्रेणीमें स्थापित कर रखा है। अप्राकृत साहित्य-सृष्टाओंके सम्राट् श्रीसच्चिदानन्द भक्तिविनोद ठाकुरने इस ग्रन्थकी रचनाकर अप्राकृत साहित्य जगत्में वैकुण्ठीय-कौस्तुमणिका आविष्कार किया है—इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है।

आलोच्य मूलग्रन्थ बंगभाषामें लिखित होनेपर भी इसका हिन्दी, अँग्रेजी, तमिल, तेलुगु, उड़िया आदि विविध भाषाओंमें अनुवाद हुआ है तथा विश्वके सभी देशोंमें इसका प्रचुर प्रचार है। अतिमर्त्य महापुरुषोंकी लेखनी भाषा-विवादसे सर्वथा ऊपर उठकर अनन्त विश्वकी कल्याण-कामनाके लिए सतत् प्रयत्नशील रहती है। उदार-नैतिक साधु-सन्त किसी भी भाषाके प्रति विद्वेषकी भावना नहीं रखते और न ही स्वार्थान्वेषियोंकी भाँति प्रादेशिकताको प्रश्रय देते हैं। श्रील भक्तिविनोद ठाकुरने विभिन्न भाषाओं में रचनाऐं की हैं। इससे उनकी उदार—नैतिक मनोवृत्तिका भी परिचय मिलता है। **"जेई भजे सेई बड़, अभक्त हीन छार। कृष्ण भजने नाहि जाति कुलादि विचार॥"** अर्थात् जो भजन करते हैं वे ही श्रेष्ठ हैं। कृष्णभजनमें जाति-कुलादिका कोई विचार नहीं है। इस सिद्धान्त वाणीके अनुसार सभी भाषा-भाषी, जाति, समाज एवं देशके लोगोंको वैष्णव या भक्त होनेका अधिकार है—यह सभी सनातन शास्त्रोंमें सर्वतोभावेन स्वीकृत है। अतः प्राकृत भाषा, प्रादेशिकता, जाति-कुलादि विचार द्वारा वैष्णवता या भक्त भावका पार्थक्य नहीं होता।

यह ग्रन्थ मानवमात्रके लिए विशेष हृदयग्राही एवं उपयोगी है। इसके भाव बड़े गम्भीर एवं भाषा बड़ी सरल और आकर्षक है। 'जैवधर्म' की विचारधाराको लेकर ही 'श्रीचैतन्य-शिक्षामृत' और 'श्रीमन् महाप्रभुकी शिक्षा' आदि बहुत-से ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं। विभिन्न भाषाओंमें इस ग्रन्थका अनुवाद होना ही इसकी लोकप्रियताका यथेष्ट प्रमाण है।

जैवधर्म ग्रन्थमें वर्णित 'धर्म' साधारण लोगोंकी प्राकृत धारणासे सर्वथा भिन्न है। देह और मनके प्राकृत धर्म कदापि आत्मधर्मके स्थानपर प्रतिष्ठित नहीं हो सकते। आत्मधर्म या सनातन धर्मका ही दूसरा नाम जैवधर्म है। श्रील भक्तिविनोद ठाकुरने जीवमात्रको यही समझानेका प्रयास किया है। उन्होंने कुकर्मी, कुज्ञानी और कुयोगियोंके अधर्म, छलधर्म, विधर्मके साथ तुलना-मूलक आलोचनाके द्वारा सनातन धर्मका वैशिष्ट्य स्थापित किया है। उन्होंने वेद-वेदान्त, उपनिषद्, गीता, भागवतादि शास्त्रोंके निगूढ़ रहस्यों और गौड़ीय गोस्वामी गुरुवर्गके गुरु-गम्भीर दार्शनिक तत्त्व-सिद्धान्तोंको जिस प्रकार अत्यन्त सहज-सरल, प्राञ्जल

भाषामें प्रकाशित किया है, उससे उनके अतिमर्त्य व्यक्तित्व एवं नित्य सिद्धत्वका पूर्णरूपेण परिचय मिलता है।

इस ग्रन्थमें चालीस अध्याय हैं। सम्पूर्ण ग्रन्थ तीन भागों में विभक्त है—नित्य और नैमित्तिक धर्ममूलक पहला खण्ड, सम्बन्ध-अभिधेय-प्रयोजनमूलक दूसरा खण्ड और रसविचारमूलक तीसरा खण्ड। पहले खण्डमें वर्णाश्रमधर्मका विवेचन है। दूसरे खण्डमें दशमूल-शिक्षाका विस्तृत रूपसे वर्णन है, जो वैष्णव-सिद्धान्त मालाकी मध्यमणि स्वरूप है। तीसरे खण्डमें अप्राकृत भाव-विभावित परम रसिकोंका विषय-रसविचार है।

पहला खण्ड वर्णाश्रमधर्ममूलक है। दूसरा खण्ड श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु, षट्सन्दर्भ और श्रीचैतन्यचरितामृत ग्रन्थका सार-संकलन एवं अखिल शास्त्रोंका निर्यास-स्वरूप है। सभी शास्त्रोंमें सम्बन्ध-अभिधेय एवं प्रयोजनात्मक तत्त्वविचार की ही प्रतिष्ठा है। श्रील भक्तिविनोद ठाकुरने जैवधर्ममें कर्म, ज्ञान, योगादि क्लिष्ट साधनोंकी तुच्छता प्रदर्शित की है और प्रसङ्ग क्रमसे निर्विशेष, केवलाद्वैत ब्रह्मवाद (मायावाद) का जिस प्रकारसे खण्डन किया है, उससे विशुद्ध दार्शनिक जगत् उन्हें चिरदिन कृतज्ञताके साथ स्मरण करता रहेगा। इन्होंने श्रद्धा और भक्तिके बिना कर्म-ज्ञानादि सभी साधनोंको निष्फल प्रमाणित किया है। साथ ही नामब्रह्मकी आराधनाको ही शास्त्रीय-युक्ति और प्रमाणोंके द्वारा सर्वश्रेष्ठ भजनाङ्गके रूपमें स्थापित किया है।

श्रीभक्तिविनोद ठाकुरने भक्ति साधकोंके कल्याणके लिए दशमूल शिक्षाकी अभिनव पद्धतिका आविष्कार किया है और इसीलिए 'शिक्षा दशमूलम्' नामक ग्रन्थकी रचना भी की है। श्रीलचक्रवर्ती चरणने श्रीचैतन्यमहाप्रभुकी शिक्षाओंका सार "आराध्यो भगवान्" श्लोकमें लिपिबद्ध किया है। गौड़ीय वेदान्ताचार्य श्रीबलदेव विद्याभूषण प्रभुने मध्वसम्प्रदायके साथ श्रीगौड़ीय-वैष्णव सम्प्रदायके विचारोंकी समता प्रदर्शन हेतु 'प्रमेय रत्नावली' में 'श्रीमध्वप्राह' श्लोककी अवतारणा की है। इसी प्रकार श्रीभक्तिविनोद ठाकुरने उपर्युक्त दोनों प्रसिद्ध श्लोकगत सिद्धान्तोंका सामञ्जस्य करते हुए दशमूलकी रचना द्वारा गौड़ीय-वैष्णव सिद्धान्तोंका मन्थन करनेका प्रयास किया है। पुनः "आम्नायः प्राह तत्त्वम्" एक ही श्लोकमें 'दशमूलनिर्यास' संग्रहपूर्वक उसका सुधी—सज्जनोंमें वितरण किया है। इसप्रकार सम्बन्ध-अभिधेय-प्रयोजनात्मक यह ग्रन्थ श्रीचैतन्यमहाप्रभुकी शिक्षाओंका सार और श्रीगौड़ीय वैष्णवोंके लिए कण्ठहार स्वरूप है। रसविचारमूलक तीसरे खण्डके साथ सम्पूर्ण जैवधर्म ग्रन्थका हिन्दी संस्करण पहले प्रकाशित हो चुका है। यद्यपि श्रीगौड़ीय वेदान्त समिति द्वारा बँगला भाषामें इसके कतिपय संस्करणोंमें केवल प्रथम एवं द्वितीय संस्करण ही मुद्रित हुए हैं। सम्प्रति रसविचारमूलक तृतीय खण्ड बंगाक्षरमें प्रकाशित होनेपर पृथक् रूपमें तथा एकत्र भी अधिकारी पाठकोंमें वितरित हुआ है। परमाराध्य श्रील गुरुदेवने उक्त ग्रन्थकी प्रथम प्रस्तावनामें लिखा है—श्रील प्रभुपादकी विचारधाराके अनुसार भजनमें कुछ उन्नत अधिकार प्राप्त नहीं होने तक रसविचारमें प्रवेश करना उचित नहीं है। श्रील प्रभुपादने 'भाई सहजिया', 'प्राकृतरस—शतदूषणी' और अन्यान्य बहुत से प्रबन्धोंमें इसे सुन्दर रूपसे व्यक्त किया है। फिर भी आज तक अनधिकारी व्यक्तियोंके हाथोंमें रसविचार सम्वलित यह जैवधर्म ग्रन्थ दिया जाता रहा है। यह श्रील प्रभुपादजीकी विचारधाराके अनुकूल नहीं है। रसविचारमूलक तृतीय खण्डको हम अनधिकारी साधारण जनोंके हाथोंमें अर्पण नहीं करना चाहते हैं।

उपर्युक्त निषेधाज्ञाके स्वपक्ष और विपक्षमें अनेकानेक युक्तियोंकी अवतारणा की जा सकती है। इससे पूर्व श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ, मथुरासे त्रिदण्डिस्वामी भक्तिवेदान्त नारायण महाराज द्वारा सम्पूर्ण ग्रन्थ ही प्रकाशित हुआ है। परन्तु उन्होंने अपने प्रकाशकीय वक्तव्यमें इस विषयमें कोई मन्तव्य प्रकाश नहीं किया है। हो सकता है कि उन्होंने अपने परमाराध्यदेवका इङ्गित और निर्देश प्राप्त करके ही ऐसा किया हो। मैं व्यक्तिगत रूपमें श्रील गुरुपादपद्मके निषेधात्मक निर्देशके उद्देश्य और तात्पर्यके विषयमें पाठक वर्गको दो एक युक्तियोंके द्वारा बतलाना चाहता हूँ।

परमाराध्य श्रीश्रील गुरुपादपद्मने अपने श्रीगुरुदेव श्रीश्रील सरस्वती प्रभुपादजीकी विचारधाराके अनुसार साधन-भजनके विषयमें अधिकार निर्णयपर अधिक जोर दिया है। साधन-भजनमें जब तक उन्नत अधिकार प्राप्त न हो जाये तब तक रसविचारमें प्रवेश करना किसी भी साधकके लिए अनुचित है। शास्त्रोंका ऐसा ही निर्देश है। सभी शास्त्र सम्बन्ध, अभिधेय, प्रयोजनात्मक और विधि-निषेधमूलक हैं। साधु-गुरु-वैष्णवाचार्यगण शास्त्रीय विधि—निषेधोंका भलीभाँति पालन करते हुए शास्त्रोंकी यथार्थ मर्यादाका स्थापन करते हैं। वे अपने दिव्य जीवनचरित्र द्वारा भजन क्षेत्रमें यथार्थ रूपमें मार्गदर्शन करते हैं। साधकजन उनका पथ अनुसरणकर कृतार्थ होते हैं। **"ततोदुःसंगमुत्सृज्य सत्सुसज्जेत बुद्धिमान"** यही भागवतीय विधि और निषेध है। पुनः **"स्मर्तव्यो भगवान् विष्णु विस्मर्तव्यो नजातु चित्"**—इसे भी अन्वय और व्यतिरेक रूपमें मूलविधि और मूलनिषेध कहा गया है। भक्तिके प्रतिकूल विषय वर्जनीय हैं एवं भक्तिके अनुकूल विषय सर्वतोभावेन ग्राह्य हैं। षडङ्ग शरणागतिमें ऐसा ही कहा गया है।

श्रीगुरुपादपद्म अनधिकारी व्यक्तियोंके हाथोंमें रसविचारवाले तृतीय खण्डको देना नहीं चाहते थे। अनधिकार रस-चर्चा करनेवालोंको वे 'उन्मार्ग—गामी' और इचड़ेपाका (कच्चा नीरस सूखा कटहल) 'प्राकृत सहजिया' कहा करते थे। इन लोगोंका उन्नतोज्ज्वल माधुर्यरसके भजनमें अधिकार नहीं है। ये लोग रूपानुगभजन प्रणाली या चिन्ताधारासे भ्रष्ट हैं। उनकी सतत्त्वानभिज्ञता उच्छृंखलताका ही परिचायक है। श्रीचैतन्य महाप्रभुकी शिक्षाका प्रचार करना ही कीर्त्तन है—वे इसकी उपलब्धि नहीं कर पाते।

साधन—भजनमें जिस प्रकारसे अधिकारका विचार स्वीकृत है, भक्ति—शास्त्रादि आलोचनामें भी अधिकारी—अनधिकारीका विचार निर्दिष्ट है। कृष्णद्वैपायन वेदव्यासने श्रीमद्भागवत दशमस्कन्धमें रासपञ्चाध्यायीके प्रारम्भ और अन्तमें उसके अनुशीलन करनेवाले अधिकारी—अनधिकारीका विचार किया है। **"विक्रीड़ितं व्रजवधुभिः"** आदि शलोकोंमें अधिकारी और "नैतत् समाचरेज्जातु" आदि श्लोकोंमें अनधिकारीका निर्देश किया है। अनधिकारीके लिए निषेधाज्ञा होनेपर भी यथार्थ अधिकारीके अधिकार, क्षमता और सामर्थ्यकी बात शास्त्रोंमें सर्वत्र ही स्वीकृत है। श्रील गुरुपादपद्मकी युक्तिमें यथार्थ अधिकारी व्यक्तिके अधिकारको तनिक भी खर्व नहीं किया गया है। साधन-भजनमें उन्नताधिकार प्राप्त करनेवाले साधारण विधि-निषेधका अतिक्रमणकर अप्राकृत रसमार्गमें प्रवेश करते हैं तथा क्रमशः प्रेम'-भक्ति लाभकर धन्यातिधन्य हो जाते हैं। इसलिए अधिकारी साधकजन अप्राकृत मधुररस विचारमूलक विभागका अनुशीलन कर प्रीति लाभ करें, यही श्रील गुरुपादपद्मकी उक्तिका तात्पर्य समझना चाहिये।

इस ग्रन्थके मुद्रण कार्यमें अत्यन्त शीघ्रताके कारण कुछ मुद्राकर प्रमादादि त्रुटि—विच्युतियोंका रहना सम्भव है। सुधी पाठकवृन्द द्वारा उनका संशोधनपूर्वक पाठ करनेसे आनन्दित होऊँगा। अलमतिविस्तरेण।

श्रीगौड़ीय वेदान्त समिति श्री श्रीगुरुपादपद्मकी ९२वीं आविर्भाव तिथिपूजावासर, सोमवार, २९ माघ, १२ फरवरी, १९९०	श्रीगुरु—वैष्णव दासानुदास त्रिदण्डि भिक्षु **श्रीभक्ति वेदान्त वामन**

प्रकाशकीय वक्तव्य

आज 'जैवधर्म' का तृतीय हिन्दी संस्करण पाठकोंके सम्मुख प्रस्तुत करते हुए मुझे अपार हर्ष हो रहा है। इस ग्रन्थके प्रकाशित होनेसे मेरी चिरकालकी अभिलाषा पूर्ण हुई है। राष्ट्रभाषा हिन्दीमें इस ग्रन्थका अभाव मुझे बुरी तरहसे खटक रहा था।

मूल 'जैवधर्म' ग्रन्थ बँगला भाषामें है। बँगला भाषाभाषी प्रत्येक वैष्णवोंका यह गलेका हार है। इसके लेखक हैं—वर्त्तमान वैष्णव जगत्में स्वयं-भगवान् श्रीचैतन्यमहाप्रभु द्वारा प्रकटित विशुद्ध भक्ति-भागीरथीकी पुनीत धाराको पुनः प्रबल वेगसे प्रवाहित करनेवाले, विभिन्न भाषाओंमें भक्तिसम्बन्धी सैकड़ों ग्रन्थोंके रचयिता, श्रीचैतन्य महाप्रभुके पार्षदप्रवर, सप्तम गोस्वामी श्रील भक्तिविनोद ठाकुर। इस 'जैवधर्म' ग्रन्थने दार्शनिक एवं धार्मिक जगत्में युगान्तर उपस्थित कर दिया है।

श्रीब्रह्म-मध्व-गौड़ीय सम्प्रदायके वर्त्तमान संरक्षक, श्रीश्रीभक्तिविनोद-गौरकिशोर-सरस्वतीके मनोभीष्टपूरक, श्रीचैतन्य महाप्रभुकी परम्परामें दशम आचार्यकेशरी, श्रीगौड़ीय वेदान्त समिति एवं उसके अधीनस्थ भारतव्यापी शाखा—गौड़ीय मठोंके संस्थापक एवं नियामक आचार्यवर, मदीय परमाराध्यतम श्रीश्रीगुरुपादपद्म ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशत श्री श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजकी अहैतुकी असीम अनुकम्पा, प्रेरणा और साक्षात् आदेशसे ही मैं सर्वविषयोंमें अयोग्य और असमर्थ होनेपर भी इस कठिन दार्शनिक एवं गूढ़ उपासना-तत्त्वसे परिपूर्ण ग्रन्थका अनुवाद कर पाया हूँ।

इस अनुवादमें मैंने मूल ग्रन्थके उच्चतम दार्शनिक एवं रसविचारके अति गहन सूक्ष्मतम भावोंकी यथासाध्य रक्षा करनेकी चेष्टा की है; साथ ही उन्हें सहज-सरल और सुबोध रूपमें व्यक्त करनेका भरसक प्रयास किया है। इस विषयमें मैं कितना सफल हुआ हूँ, इसे तो पाठकगण ही बतला सकेंगे। जैसा भी हो, इसका सारा श्रेय श्रीश्रीगुरुपादपद्मको ही है।

सर्वप्रथम यह अनुवाद 'श्रीभागवत पत्रिका' के पहले वर्षसे छठे वर्ष तकमें क्रमशः प्रकाशित हुआ। श्रद्धालु पाठकोंने उसे बहुत ही पसन्द किया तथा उसे पृथक् ग्रन्थाकारमें प्रकाशित करनेके लिए मुझे बार-बार अनुरोध किया। फलस्वरूप सम्पूर्ण हिन्दी भाषाभाषी श्रद्धालु जनताके कल्याणार्थ तथा शुद्ध भक्तोंके आनन्द विधानार्थ अल्प समयमें ही द्वितीय संस्करण समाप्त होनेपर पाठकोंकी गहन रुचि और मांगकी पूर्ति हेतु यह तृतीय संस्करण पाठकोंके सामने प्रस्तुत किया गया।

यद्यपि मदीय परमाराध्यतम श्रीश्री आचार्य देवने अपने सम्पादकीय—'प्रस्तावना' में ग्रन्थ और ग्रन्थकारके वैशिष्ट्य और परिचय आदि सभी महत्वपूर्ण विषयोंपर विस्तृत रूपसे प्रकाश डाला है, तथापि मैं भी इस विषयमें दो शब्द लिखनेका लोभ संवरण न कर सका। मैं पाठकोंको ग्रन्थ पढ़नेसे पूर्व 'प्रस्तावना' को मनोनिवेशपूर्वक पाठ करनेके लिए अनुरोध करता हूँ। इससे पाठकोंको परमार्थ-तत्त्वमें प्रवेश करनेमें एक सुन्दर दिशा प्राप्त हो सकेगी—ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है।

'जैवधर्म' कहनेसे जीवसम्बन्धी धर्म या जीवके धर्मका बोध होता है। बाह्य दृष्टिसे विभिन्न देशोंकी विभिन्न जातियों एवं विभिन्न वर्गोंके मनुष्यों, पशु-पक्षियों, कीट-पतङ्गों तथा दूसरे-दूसरे विभिन्न प्राणियोंके धर्म भिन्न-भिन्न दृष्टिगोचर होनेपर भी अखिल ब्रह्माण्डोंके

निखिल जीवसमूहका नित्य और सनातन-धर्म एक है। जैवधर्म ग्रन्थमें इसी सार्वत्रिक, सार्वकालिक तथा सार्वजनिक नित्य-धर्म—'जैवधर्म' का हृदयग्राही साङ्गोपाङ्ग वर्णन है। इसमें वेद, वेदान्त, उपनिषद्, श्रीमद्भागवत आदि पुराण, ब्रह्मसूत्र, महाभारत, इतिहास, पञ्चरात्र, षट्सन्दर्भ, श्रीचैतन्यचरितामृत, भक्तिरसामृतसिन्धु और उज्ज्वलनीलमणि आदि सद्ग्रन्थोंके अतिशय गम्भीर और गहन विषयोंका सार सरस, सरल कथोपकथन शैलीमें गागरमें सागरकी भाँति भरा हुआ है।

इस ग्रन्थमें सम्बन्ध, अभिधेय और प्रयोजनके रूपमें ग्रथित भगवत्तत्त्व, जीवतत्त्व, शक्तितत्त्व, जीवकी बद्ध और मुक्त दशाएँ, कर्म, ज्ञान और भक्तिका स्वरूप एवं तुलनात्मक विचार, वैधी-रागानुगा भक्तिका सिद्धान्तपूर्ण सरस विचार-वैशिष्ट्य तथा श्रीनाम-भजनकी सर्वश्रेष्ठता आदि विषयोंका अपूर्व मार्मिक विवेचन है।

यद्यपि श्रीगौड़ीय वेदान्त समिति द्वारा प्रकाशित जैवधर्म ग्रन्थके बँगला संस्करणसे पूर्व स्वयं ग्रन्थकार, श्रीभक्तिसिद्धान्त सरस्वती 'प्रभुपाद' तथा उनके परम्परागत परवर्ती गौड़ीय वैष्णवाचार्यों द्वारा प्रकाशित सभी संस्करणोंमें रस-विचार सहित सम्पूर्ण ग्रन्थ ही प्रकाशित हुए हैं, परन्तु अस्मदीय परमाराध्यतम श्रील गुरुपादपद्मने किन्हीं विशेष परिस्थितियोंमें ही इस ग्रन्थके नित्य-नैमित्तिक धर्म विचारमूलक प्रथम खण्ड तथा सम्बन्ध-अभिधेय-प्रयोजनात्मक द्वितीय खण्डको एक साथ प्रकाशित किया था; रसविचारमूलक तृतीय खण्डको प्रकाशित नहीं किया। किन्तु परवर्तीकालमें श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ, मथुरासे हिन्दी संस्करण प्रकाशित होनेके समय स्वयं श्रील गुरुपादपद्मने सम्पूर्ण ग्रन्थका सम्पादन किया। उन्होंने उक्त संस्करणकी स्वलिखित प्रस्तावनामें सुस्पष्ट रूपसे रसविचार सम्वलित तृतीय खण्डके सम्बन्धमें पाठकोंसे अधिकारी-अनधिकारीका विचारकर सतर्क रहकर अनुशीलन करनेका उपदेश दिया है। इसीलिए मैंने द्वितीय संस्करणमें सम्पूर्ण ग्रन्थको एकत्र प्रकाशित होनेपर स्पष्टीकरण प्रस्तुत करनेकी कोई आवश्यकता नहीं समझी।

श्रीचैतन्यचरितामृतकी रचना करते समय रसविचारका प्रसङ्ग उपस्थित होनेपर श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामीके हृदयमें भी ऐसी शङ्का उत्पन्न हुई थी कि रसविचारको इसमें सम्मिलित किया जाये अथवा नहीं; क्योंकि इसे पढ़कर अनधिकारी व्यक्तियोंका कहीं अहित न हो जाये। किन्तु तत्क्षण ही उन्होंने रसविचारको देनेका निश्चय किया—

ये सब सिद्धान्त गूढ़ कहिते न जुयाय।
ना कहिले, केह इहार अन्त नाहि पाय॥

अतएव कहि किछु करिया निगूढ़।
बुझिबे रसिक भक्त ना बूझिबे मूढ़॥

ए सब सिद्धान्त हय आम्रेर पल्लव।
भक्तगण—कोकिलेर सर्वदा वल्लभ॥

अभक्त उष्टेर इथे ना हय प्रवेश।

तबे चित्ते हय मोर आनन्द विशेष॥

(चै० च० आ० ४/२३१-२३५)

अर्थात् सर्वसाधारणके निकट निगूढ़ ब्रजरसका प्रकाश करना सर्वदा अनुचित है; किन्तु इसका सर्वथा प्रकाश न करनेपर इस रहस्यपूर्ण विषयके लुप्त हो जानेकी भी सम्भावना है। नीम और आमके बगीचे एक साथ सम्मिलित होनेपर भी कौए नीमके पेड़ पर बैठकर निम्बोरीका ही आस्वादन करते हैं और रसिक कोयल आमके वृक्ष पर बैठकर मधुर आम्रपल्लव एवं मधुर मञ्जरीका ही आस्वादन करती है। अतः रसविचार देना ही उचित है।

हिन्दी जगत् में अब तक वैष्णव-धर्मके परमोच्च दार्शनिक सिद्धान्तों एवं सर्वोत्कृष्ट उपासना पद्धतिका तुलनात्मक बोध करानेवाले ऐसे अपूर्व सुन्दर एवं सर्वाङ्गपूर्ण ग्रन्थका अभाव था। 'जैवधर्म' हिन्दी जगत्में इस अभावकी पूर्तिकर दार्शनिक एवं धार्मिक जगत् में विशेषतः वैष्णव जगत्में युगान्तर उपस्थित करेगा, इसमें सन्देह नहीं।

प्रस्तुत संस्करणकी प्रतिलिपि प्रस्तुत करने, प्रूफ संशोधन आदि विविध सेवा कार्योंके लिए श्री ओमप्रकाश ब्रजवासी, स्नेहास्पद श्रीमान शुभानन्द ब्रह्मचारी, श्रीमान प्रेमानन्द ब्रह्मचारी, श्रीमान नवीनकृष्ण ब्रह्मचारी, श्रीमान सुधन्व ब्रह्मचारी, श्रीमान कृष्णचन्द्र ब्रह्मचारी, श्रीमान अनङ्ग मोहन ब्रह्मचारी, श्रीमान शुभकृष्ण ब्रह्मचारी तथा इसके लिए पूर्ण आर्थिक सेवाके लिए श्रीमान कृष्ण गोविन्द ब्रह्मचारी आदिकी सेवा प्रचेष्टा सराहनीय एवं विशेष उल्लेख योग्य है। श्रीश्रीगुरुगौराङ्ग—गान्धर्विका—गिरिधारी इन सबपर प्रचुर कृपा आशीर्वाद वर्षण करें—यही उनके श्रीचरणोंमें प्रार्थना है।

इस ग्रन्थमें यदि कोई भूल दृष्टिगोचर हो तो पारमार्थिक पाठकगण निजगुणोंसे क्षमा करेंगे तथा संशोधनकर ग्रन्थका सार ग्रहण कर बाधित करेंगे।

श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ पो० मथुरा (उ० प्र०) सम्वत् २०४६	श्रीश्रीगुरु—वैष्णव—कृपालेश प्रार्थी त्रिदण्डि भिक्षु **श्रीभक्ति वेदान्त नारायण**

पंचम संस्करणका सम्पादकीय वक्तव्य

श्रीश्रीगुरु—गौराङ्ग एवं श्री श्रीराधाविनोदविहारीजीकी असीम अनुकम्पासे हिन्दी जैवधर्मका पंचम संस्करण पाठकोंके समक्ष प्रस्तुत करते हुए अपार हर्ष हो रहा है। अल्प समयमें ही इस ग्रन्थका चतुर्थ संस्करण निःशेष हो जाना ही इसकी अत्यन्त लोकप्रियताका प्रमाण है। विशेषतः विश्वकी सभी प्रमुख भाषाओंमें इसका रूपान्तर हो रहा है तथा सर्वत्र प्रचार हो रहा है, यह भी इसकी लोकप्रियताका प्रमाण है। चतुर्थ संस्करणकी त्रुटियोंको सुधारकर कम्पूटर द्वारा इसकी कम्पोजिंग कराकर आकर्षक और सुन्दर रूपमें इसे छपवाया जा रहा है। आशा है यह ग्रन्थ दार्शन एवं भजन राज्यमें आये अभिनव अभावकी पूर्तिकर पाठकोंका कल्याणसाधन करेगा।

प्रस्तुत संस्करणके प्रुफ संशोधन आदि विविध सेवा कार्योंके लिए श्रीमद्भक्तिवेदान्त माधव महाराज, श्रीमान् उत्तम कृष्ण ब्रह्मचारी, बेटी कृष्णवल्लभा दासी और बेटी शान्ति दासी आदिकी सेवा चेष्टा अत्यन्त प्रशंसनीय है। श्रीश्रीगुरु—गौराङ्ग—गान्धर्विका—गिरिधारी इन सबपर प्रचुर कृपा आशीर्वाद वर्षण करें—यही उनके श्रीचरणोंमें प्रार्थना है।

इस ग्रन्थमें कोई भूल दिखायी पड़े तो पारमार्थिक पाठकगण निजगुणोंसे क्षमा करेंगे तथा संशोधनकर ग्रन्थका सार ग्रहण कर बाधित करेंगे। अलमतिविस्तरेण।

श्रीललिता सप्तमी	श्रीश्रीगुरु—वैष्णव—कृपालेश प्रार्थी
श्रीचैतन्याब्द ५२२	त्रिदण्डिभिक्षु
७ सितम्बर, २००८	**श्रीभक्ति वेदान्त नारायण**

सांकेतिक चिह्नोंकी अनुक्रमणिका

अ०—अध्याय
अनु०—अनुच्छेद
ईश०—ईशोपनिषद
उ० नी०—उज्ज्वलनीलमणि
ऐत० उ०—ऐतरेयोपनिषद्
कठ० उ०—कठोपनिषद्
के० उ०—केनोपनिषद्
गीता—श्रीमद्भगवद्गीता
गीतोपनिषद्—श्रीमद्भगवद्गीता
चै० च० अ०— श्रीचैतन्यचरितामृत अन्त्यलीला
चै० च० आ०— श्रीचैतन्यचरितामृत आदिलीला
चै० च० म०— श्रीचैतन्यचरितामृत मध्यलीला
चै० भा० आ०— श्रीचैतन्यभागवत आदिखण्ड
छा० उ०—छान्दोग्योपनिषद्
तै०—तैत्तिरीयोपनिषद्
तै० आ०— तैत्तिरीयोपनिषद् आनन्दवल्ली
तै० ब्र०—तैत्तिरीय ब्रह्मानन्दवल्ली
तै ० भृगु०—तैत्तिरीय भृगुवल्ली
द० वि०—दक्षिण विभाग
दशमूल—दशमूल शिक्षा
ना० पं०—नारदपञ्चरात्र
बृ० उ०—बृहदारण्यकोपनिषद्
बृ० पु०—बृहन्नारदीयपुराण
ब्र० सं०—ब्रह्मसंहिता
भ० र० सि०—भक्तिरसामृतसिन्धु
भी० प०—भीष्म पर्व
म०—मन्त्र
मा० उ०—माण्डूक्योपनिषद्
मु० उ०—मुण्डकोपनिषद्
यजु०—यजुर्वेद
वि० पु०—विष्णुपुराण
श्रीमद्भा०—श्रीमद्भागवत
श्वे० उ०—श्वेताश्वतरोपनिषद्
ह० भ० वि०—हरिभक्तिविलास

श्रीगोद्रुमचन्द्राय नमः

जैवधर्म

नित्य और नैमित्तिक-धर्ममूलक प्रथम खण्ड

पहला अध्याय

जीवका नित्य और नैमित्तिक धर्म

इस पृथ्वीमें जम्बूद्वीप श्रेष्ठ है। जम्बूद्वीपमें भारतवर्ष प्रधान है। भारतमें गौड़भूमि सर्वोत्तम है। गौड़भूमिमें श्रीनवद्वीप मण्डल परम उत्कृष्ट है। इसी श्रीनवद्वीप मण्डलके एक स्थानमें भागीरथीके किनारे श्रीगोद्रुम नामका रमणीय जनपद नित्य विराजमान है। प्राचीनकालमें श्रीगोद्रुमके उपवनमें अनेक भजनानन्दी पुरुष जगह-जगहमें निवास करते थे। किसी समय वहीं श्रीसुरभिने अपने लता-मण्डपमें भगवान् श्रीगौरचन्द्रकी आराधना की थी। उससे थोड़ी ही दूर पर प्रद्युम्न कुँज नामकी एक भजन-कुटी थी। वहाँ सघन लताओंसे ढकी हुई एक कुटीके भीतर श्रीप्रेमदास परमहंस नामक बाबाजी रहते थे। वे श्रीभगवत्-पार्षद प्रवर प्रद्युम्न ब्रह्मचारीके शिक्षा-शिष्य थे। बाबाजी निरन्तर भजनानन्दमें मस्त होकर अपना समय बिताया करते थे।

श्रीप्रेमदास बाबाजी सभी शास्त्रोंमें पण्डित होते हुए भी नन्दग्रामसे अभिन्न तत्त्व जानकर श्रीगोद्रुम वनका एकान्त मनसे आश्रय किये हुए थे। नित्य दो लाख हरिनाम जपना, सब वैष्णवोंके उद्देश्यसे शत-शत दण्डवत् तथा गोप-गृहोंमें मधुकरी (भिक्षा) द्वारा जीविका—निर्वाह करना, यही उनके जीवनका नियम हो चुका था। जब भी वे इन कार्योंसे अवसर पाते, किसी प्रकारकी ग्राम्य-कथा (गन्दा वार्त्तालाप) न करके भगवत्पार्षद-प्रधान श्रीजगदानन्दके 'प्रेम-विवर्त' का पाठ करते थे पढ़ते-पढ़ते उनकी आँखोंमें आँसू भर आते थे। इस समय निकटस्थ कुञ्जवासीगण भक्तिके साथ उनका पाठ सुनते। क्यों न सुनते? प्रेम-विवर्त ग्रन्थ समस्त रसतत्त्वोंसे भरपूर है। उस पर भी बाबाजीकी अमृत बरसानेवाली मधुर स्वर-लहरीसे वे आप्लावित हो जाते और उनकी विषय-विष ज्वाला शान्त हो जाती।

एक दिन तृतीय-प्रहरका समय था। बाबाजी महाशय नाम-जपकी संख्या पूर्ण कर चुके थे और श्रीमाधवी मालती लता-मण्डपमें बैठकर 'प्रेम-विवर्त' का पाठ करते-करते भावसमुद्रमें मग्न हो रहे थे। उसी समय एक संन्यासीने आकर उनके चरणोंमें दण्डवत् प्रणाम किया और वे देर तक उसी तरह पड़े रहे। बाबाजी महाशय पहले भावानन्दमें मस्त थे, किन्तु थोड़ी देरमें ही जब उनकी बाह्य स्फूर्ति हुई, तब उन्होंने साष्टाङ्ग पड़े हुए संन्यासी महात्माको देखा। अपनेको तृणसे भी अधिक दीन-हीन जानकर उन्होंने संन्यासीके सामने पड़कर, "हा चैतन्य! हा नित्यानन्द! इस अधमके ऊपर कृपा करो" कहकर रोना आरम्भ किया। क्रमशः संन्यासीने उनसे कहा—"प्रभो, मैं अत्यन्त दीन-हीन हूँ, आप मेरी विडम्बना क्यों करते हैं?"

इसके बाद संन्यासी बाबाजीके चरणोंकी रज मस्तकपर धारणकर उनके सामने बैठे। बाबाजी महाशयने भी उन्हें बैठनेके लिए केलेका वल्कलासन दिया और एक तरफ बैठकर प्रेमसे गद्गद स्वरसे कहा—प्रभो! यह दीन व्यक्ति आपकी क्या सेवा करनेके योग्य है?

अपना कमण्डलु रखते हुए हाथ जोड़कर संन्यासीने कहा—प्रभो! मैं बड़ा ही भाग्यहीन हूँ। सांख्य, पातञ्जल, न्याय, वैशेषिक, उत्तर-मीमांसा, पूर्व—मीमांसा और उपनिषद् आदि वेदान्त शास्त्रोंका, काशी आदि नाना पुण्यतीर्थोंमें मैंने अच्छी तरह अध्ययन किया तथा शास्त्र—तात्पर्य वितर्क में अपना बहुत-सा समय बिताया है। लगभग बारह वर्ष पूर्व मैंने श्रीसच्चिदानन्द सरस्वती पादके निकट दण्ड (संन्यास) भी ग्रहण किया। दण्ड ग्रहणकर सब तीर्थोंमें भ्रमण करते हुए मैंने भारतमें सर्वत्र शङ्कर—मतानुयायी संन्यासियोंका सङ्ग भी किया। कुटीचक, बहुदक, हंस—इन तीन अवस्थाओंका अतिक्रमणकर कुछ दिन परमहंस पद भी मैंने प्राप्त किया। मौनावलम्बनपूर्वक वाराणसी क्षेत्रमें '**अहं ब्रह्मास्मि**'(१) '**प्रज्ञानं ब्रह्म**'(२), '**तत्त्वमसि**(३) आदि श्रीशङ्कराचार्यकथित महावाक्योंका आश्रय भी मैंने किया। परन्तु जिस प्रकारका सुख और आत्मिक सन्तोष मिलना चाहिये था, वह नहीं मिल सका।

एक दिन कोई वैष्णव साधु ऊँचे स्वरसे हरिलीला गान करते-करते मेरे सामनेसे निकले। मैंने आँखें खोलकर देखा कि वे आँसुओंसे तर-बतर हो रहे थे। उनके सारे शरीरमें रोमाञ्च हो रहा था। गद्गदस्वरसे, 'श्रीकृष्णचैतन्य प्रभु नित्यानन्द' नामका कीर्त्तन कर रहे थे। नृत्य करते-करते उनके चरण स्खलित हो पड़ते थे और वे पृथ्वीपर गिर पड़ते थे। उन्हें देखकर तथा गान सुनकर मेरे हृदयमें एक अनिर्वचनीय भाव उत्पन्न हुआ, जिसे मैं आपके निकट वर्णन करनेमें असमर्थ हूँ। भावोदय तो अवश्य हुआ तथापि अपने परमहंस पदकी मर्यादा—रक्षा करनेके लिए उनसे कुछ भी वार्त्तालाप न कर सका। हा धिक्कार है, धिक्कार है, मेरी पद-मर्यादाको! धिक्कार है मेरे भाग्य को! कह नहीं सकता, न जाने क्यों उसी दिनसे मेरा चित्त श्रीकृष्णचैतन्यके चरणोंमें आकृष्ट हो गया। कुछ समय पश्चात् मैंने व्याकुल होकर उन वैष्णव साधुको बहुत ढूँढ़ा, पर फिर वे दिखायी नहीं पड़े। मैंने देखा, उनके दर्शन और मुखसे निःसृत नाम-श्रवण कर जो विमल आनन्द प्राप्त हुआ, उसका अनुभव मुझे पहले कभी नहीं हुआ था। मैंने बहुत दिन विचारकर निश्चय किया कि वैष्णवोंके चरणोंका आश्रय लेना ही मेरे लिए श्रेयस्कर है। मैं काशीको छोड़कर श्रीधामवृन्दावन गया। वहाँ मैंने अनेक वैष्णवोंको देखा, जो श्रीरूप, सनातन तथा जीव गोस्वामीका नाम ले-लेकर विलाप करते हैं। वे श्रीराधाकृष्णकी लीलाओंका स्मरण करते हैं और नवद्वीपका नाम लेकर प्रेमसे पृथ्वीपर लोटते हैं। यह देख-सुनकर मेरी भी लालसा नवद्वीपधामके दर्शनकी हुई। तब श्रीव्रजधामकी चौरासी कोसकी परिक्रमा करता हुआ मैं कई दिन हुए श्रीमायापुरमें आया हूँ। मायापुर नगरीमें आपकी महिमा सुनकर आज मैंने आपके चरणोंका आश्रय लिया है। आप इस दासको अपना कृपा-पात्र समझकर कृतार्थ करें।

परमहंस बाबाजी महाशयने दाँतोंसे तिनके दबाकर रोते-रोते कहा—संन्यासी ठाकुर, मैं एक नितान्त अपदार्थ हूँ। उदर पूर्ति, निद्रा और व्यर्थकी बातोंमें मेरा जीवन व्यर्थ गया। यह अवश्य है कि मैं श्रीकृष्णचैतन्यकी लीला—स्थलीमें रहकर दिन अतिवाहित करता हूँ, किन्तु कृष्णप्रेम क्या वस्तु है, इसे आस्वादनके द्वारा अब तक नहीं समझ पाया। आप धन्य हैं।

---

(१) मैं ब्रह्म हूँ (बृहदारण्यकोपनिषद् १/४/१०)

(२) प्रज्ञान ब्रह्म है (ऐतरेयोपनिषद् २/४)

(३) तुम भी वही हो (छान्दोग्योपनिषद् ६/२५/३)।

क्योंकि क्षणभरके लिए भी वैष्णवका दर्शनकर आपने प्रेमका आस्वादन तो कर लिया है। आप कृष्णचैतन्यदेवके कृपा—पात्र हैं। इस अधमको प्रेम आस्वादनके समय कभी-कभी अवश्य स्मरण कर लिया करें तो भी मैं कृतार्थ हो जाऊँगा।

यह कहते-कहते बाबाजीने संन्यासीको गले लगा लिया और आँसुओंसे तरबतर कर दिया। संन्यासी महाराजने वैष्णवके अङ्गका स्पर्शकर हृदयमें एक अभूतपूर्व भावोदयका अनुभव किया। वे भी रोते-रोते नृत्य करने लगे। नृत्यके समय वे गाने लगे—

(जय) श्रीकृष्णचैतन्य श्रीप्रभु नित्यानन्द।
(जय) प्रेमदास गुरु जय भजन आनन्द॥

बहुत देर तक नृत्य—कीर्त्तनके उपरान्त स्थिर होकर दोनोंने परस्पर बहुत-सी बातें की। प्रेमदास बाबाजीने विनीत भावसे कहा—महात्मन्! आप इस प्रद्युम्न-कुञ्जमें कुछ दिन रहकर मुझे पवित्र करें।

संन्यासीने कहा—मैंने आपके चरणोंमें अपना यह शरीर समर्पण कर दिया। कुछ दिनोंकी ही बात क्या कह रहे हैं, अपने देह त्याग तक आपकी सेवा कर सकूँ, यही मेरी आकांक्षा है।

संन्यासी ठाकुर सब शास्त्रोंके पण्डित थे। गुरुकुलमें रहकर ही गुरुका उपदेश ग्रहण करना होता है, वे इस बातको अच्छी तरह जानते थे। अतएव वे आनन्दसे उसी कुञ्जमें रहने लगे।

कुछ दिनों पश्चात् परमहंस बाबाजीने संन्यासी महोदयसे कहा—महात्मन्, श्रीप्रद्युम्न ब्रह्मचारीने कृपाकर मुझे श्रीचरणोंमें स्थान दिया है। वे आजकल श्रीनवद्वीप मण्डलके एक प्रान्तमें श्रीदेवपल्ली ग्राममें श्रीश्रीनृसिंहदेवकी उपासनामें मग्न हैं। चलिये, आज ही मधुकरी समाप्तकर उनके चरणोंका दर्शन कर आवें।

संन्यासी ठाकुर ने कहा—जो आज्ञा होगी, मैं पालन करूँगा।

दो बजेके बाद वे दोनों श्रीअलकानन्दा पारकर श्रीदेवपल्लीमें उपस्थित हुए। सूर्यटीला पारकर श्रीनृसिंहदेवके मन्दिरमें उन्होंने भगवत्-पार्षद श्रीप्रद्युम्न ब्रह्मचारीके चरणोंका दर्शन किया।

दूरसे परमहंस बाबाजीने पृथ्वीपर गिरकर श्रीगुरुदेवको साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम किया। ब्रह्मचारीजीने भक्त-वत्सलतासे आर्द्र होकर श्रीमन्दिरके बाहर आकर परमहंस बाबाजीको दोनों हाथोंसे उठाकर प्रेमालिङ्गन दे, कुशल-क्षेम पूछी। बहुत देर तक इष्ट-गोष्ठीके बाद परमहंस बाबाजीने उन्हें संन्यासी ठाकुरका परिचय दिया।

ब्रह्मचारीजीने सादर कहा—वत्स! तुमने यथायोग्य गुरु पाया है। प्रेमदासके निकट 'प्रेम-विवर्त' की शिक्षा प्राप्त करो।

किवा विप्र, किवा न्यासी, शूद्र केने नय।
जेई कृष्ण-तत्त्ववेत्ता सेई गुरु हय॥

(चै० च० म० ८/१२७)

संन्यासी ठाकुरने भी विनीत भावसे परमगुरुके पादपद्मोंमें साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम कर कहा—प्रभो, आप श्रीचैतन्यदेवके पार्षद हैं। आपकी कृपा-कटाक्षसे मेरे जैसे सैकड़ों अभिमानी-संन्यासी पवित्र हो सकते हैं। आप कृपा करें।

संन्यासी ठाकुरने भक्तगोष्ठीके परस्पर व्यवहारको इससे पहले सीखा नहीं था। गुरु और परमगुरुमें परस्पर जिस प्रकारका व्यवहार देखा, उसीको सदाचार जानकर अपने गुरुके प्रति निष्कपट रूपसे उसी दिन से वैसा ही व्यवहार करने लगे। सन्ध्याके समय आरती दर्शनकर दोनों श्रीगोद्रुम लौट आये।

कुछ दिन इस तरह रहनेके बाद संन्यासीने परमहंस बाबाजीसे तत्त्व-जिज्ञासा करनेकी इच्छा की। इस समय वेषके अतिरिक्त और सब बातें उन्होंने वैष्णवों जैसी ग्रहण कर ली थीं। शम-दम आदि गुणोंसे सम्पन्न होकर सम्पूर्ण रूपसे ब्रह्मनिष्ठा तो उन्होंने पहले ही प्राप्त कर ली थी। इस समय उस निष्ठाके ऊपर परब्रह्मकी चित्-लीला-निष्ठा भी उत्पन्न हुई। साथ ही साथ दीन भाव भी प्रबल हो उठा।

एक दिन अरुणोदयके समय परमहंस बाबाजी पवित्र होकर तुलसी मालापर हरिनाम-संख्या करते-करते माधवी-मण्डपमें बैठे। कुञ्ज-भङ्ग—लीलाकी स्फूर्ति हो आनेके कारण उनके नेत्रोंसे निरन्तर प्रेमाश्रुकी धारा प्रवाहित हो रही थी। अपने सिद्ध-भावसे परिभावित तत्कालोचित सेवामें नियुक्त होकर वे अपनी स्थूल देहकी स्मृतिको खोने लगे। संन्यासीजी उनके भावसे मुग्ध होकर उनके निकट बैठ गये और उनके सात्विक भावोंको देखने लगे।

देखते-ही-देखते परमहंस बाबाजीने कहा—सखि! इस कक्खटी श्रीमती राधिकाजीकी बन्दरीका नाम) को शीघ्र चुप कराओ, नहीं तो मेरे राधा-गोविन्दकी सुख-निद्रा उचट जानेसे सखी ललिता दुःख पायेंगी और मेरी भर्त्सना करेंगी। अरी देखो, अनङ्गमञ्जरी इसके लिए इङ्गित कर रही हैं। तुम रमणमञ्जरी हो, तुम्हारी यही निर्दिष्ट सेवा है। तुम उसमें यत्नवती होओ।

यह कहते-कहते परमहंस बाबाजी अचेतन हो गये। संन्यासी महाराज अपनी सिद्ध देह और सिद्ध परिचय जानकर उसी समयसे उस सेवामें नियुक्त हुए। क्रमशः प्रातःकाल हुआ। पूर्व दिशामें उषा अपना सौन्दर्य बिखेरने लगी। पक्षी चतुर्दिक कलरव करने लगे, मृदु मन्द समीर प्रवाहित होने लगा। बालसूर्यकी रक्तिम आभासे उद्भासित प्रद्युम्न कुञ्जके माधवी—मण्डपकी उस समय जो अपूर्व शोभा हुई, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता।

परमहंस बाबाजी कदलीके वल्कलासनपर बैठे हैं। धीरे-धीरे उन्हें अब बाह्य स्फूर्ति हो रही है। साथ ही नाम-माला जप रहे हैं।

इसी समय संन्यासीजीने बाबाजीके चरणोंमें साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम करके उनके समीप विनीत भावसे बैठकर हाथ जोड़कर कहा—प्रभो! यह दीनजन एक प्रश्न कर रहा है। उत्तर प्रदानकर हृदयको सन्तुष्ट करें। ब्रह्म-ज्ञानकी अग्निसे दग्धहृदयमें व्रजरसका सञ्चारकर उसे शीतल करें।

बाबाजीने कहा—आप योग्य पात्र हैं। आप जो प्रश्न करेंगे, उसका मैं यथाशक्ति उत्तर दूँगा।

संन्यासी ने कहा—प्रभो! मैं बहुत दिनोंसे धर्मकी प्रतिष्ठा सुनकर 'धर्म' क्या है? यह प्रश्न अनेक लोगोंसे अनेकों बार कर चुका हूँ। परन्तु दुःखका विषय यही है कि इस प्रश्नके उत्तरमें उन लोगोंने जो कुछ बतलाया वह सब परस्पर विरोधी दिखायी दिया। इसलिए आप कृपा करके बतलाइये—जीवका धर्म क्या है? और भिन्न-भिन्न उपदेशक क्यों भिन्न-भिन्न उपदेशोंको 'धर्म' कहते हैं? धर्म यदि एक है, तो सभी पण्डित क्यों नहीं उसी

एक अद्वितीय धर्मका अनुशीलन करते?

श्रीकृष्णचैतन्यप्रभुके श्रीचरणकमलोंका ध्यान करके परमहंस बाबाजी कहने लगे—हे सौभाग्यवान्! मैं अपने ज्ञानके अनुसार धर्मका तत्त्व कहता हूँ। जिस वस्तुका, जो नित्य स्वभाव है, वही उसका नित्य धर्म है। वस्तुके गठनसे स्वभावका उदय होता है। कृष्णकी इच्छासे जब कोई वस्तु गठित होती है, तब उस गठनका नित्य सहचररूप एक स्वभाव भी होता है। वही स्वभाव उस वस्तुका नित्य धर्म है। तत्पश्चात् किसी घटनावश अथवा अन्य वस्तुके संसर्गसे जब उस वस्तुमें कोई विकार होता है, तब उसका स्वभाव भी विकृत या परिवर्तित हो जाता है। परिवर्तित स्वभाव कुछ दिनोंमें दृढ़ होनेपर नित्य स्वभावकी तरह उस वस्तुका साथी हो पड़ता है। यह परिवर्तित स्वभाव, स्वभाव नहीं है। इसका नाम निसर्ग है। निसर्ग स्वभावके स्थानमें बैठे अपनेको स्वभाव कहकर अपना परिचय देता है। जैसे—जल एक वस्तु है। तरलता उसका स्वभाव है। घटनावशतः जल जब जमकर हिम हो जाता है, तब काठिन्य उसका निसर्ग होकर स्वभावकी तरह कार्य करता है। वास्तवमें निसर्ग (बदला हुआ स्वभाव) नित्य नहीं, नैमित्तिक है। कारण, वह किसी निमित्त (कारण) से उदित होता है और निमित्त दूर होनेपर वह स्वयं दूर हो जाता है। किन्तु स्वभाव नित्य है। विकृत होनेपर भी वह वस्तुमें अनुस्यूत रहता है। काल और घटनाक्रमसे स्वभाव अवश्य ही अपना परिचय दे सकता है।

वस्तुका स्वभाव ही वस्तुका नित्य-धर्म है। वस्तुका निसर्ग ही वस्तुका नैमित्तिक धर्म है। जिन्हें वस्तुका ज्ञान है, वे नित्य और नैमित्तिक-धर्मके प्रभेदको जान सकते हैं और जिन्हें वस्तुका ज्ञान नहीं, वे निसर्गको ही स्वभाव समझते हैं तथा नैमित्तिक-धर्मको ही नित्य-धर्म समझ बैठते हैं।

संन्यासी ठाकुरने पूछा—वस्तु किसे कहते हैं तथा 'स्वभाव' शब्दका अर्थ क्या है?

परमहंसजीने कहा—'वस्'-धातुमें संज्ञा अर्थसे 'तु' प्रत्यय लगाकर 'वस्तु' शब्द बनता है। अतएव जिसका अस्तित्व या प्रतीति है, वही वस्तु है। वस्तुएँ दो प्रकार की हैं—वास्तव और अवास्तव। वास्तव वस्तु परमार्थ-भूत है। अवास्तव वस्तु द्रव्यगुणादिकरूप है। वास्तव वस्तुका अस्तित्व या सत्ता है। अवास्तव वस्तुका अस्तित्व केवल प्रतीत होता है। प्रतीति किसी जगह सत्य होती है और किसी जगह केवल भानमात्र होती है। श्रीमद्भागवतके प्रथम स्कन्धके द्वितीय श्लोकमें "**वेद्यं वास्तवमत्र वस्तु शिवदं**"(४) की जो अवतारणा है, उसमें 'वास्तव वस्तु' एकमात्र परमार्थ है, ऐसा निर्णय किया जा चुका है। भगवान् एकमात्र वास्तव वस्तु हैं। जीव उस 'वस्तु' का पृथक् अंश है तथा माया उस वस्तुकी शक्ति है। अतएव 'वस्तु' शब्दसे भगवान्, जीव और माया—इन तीनों तत्त्वोंको समझना चाहिये। इन तीनोंके परस्पर सम्बन्ध—ज्ञानको शुद्धज्ञान कहा जाता है। इन तत्त्वोंकी बहुविध प्रतीतियाँ हैं। उन सबकी अवास्तव वस्तुमें गणना होती है। वैशेषिकोंके द्रव्य और गुणोंकी संख्या केवल अवास्तव वस्तुकी आलोचनामात्र है। वास्तव वस्तुका जो विशेष गुण है, वही उसका स्वभाव है। जीव एक वास्तव वस्तु है। जीवका जो नित्य विशेष गुण है वही उसका स्वभाव है।
संन्यासी महाराजने कहा—प्रभो! इस विषयको मैं अच्छी तरह जानना चाहता हूँ।

---

(४) परम सुखद परमार्थ सम्बन्धीय वास्तव वस्तु ही जानने योग्य है।

बाबाजीने कहा—श्रीनित्यानन्द प्रभुके कृपापात्र कृष्णदास कविराज गोस्वामीने मुझे एक स्वहस्तलिखित ग्रन्थ दिखाया है। उस ग्रन्थका नाम 'श्रीचैतन्यचरितामृत' है। उसमें श्रीमहाप्रभुका इस विषयमें एक उपदेश है—

जीवेर स्वरूप हय कृष्णेर नित्यदास।
कृष्णेर तटस्था शक्ति भेदाभेद—प्रकाश॥

कृष्ण भूलि सेई जीव अनादि बहिर्मुख।
अतएव माया तारे देय संसार-दुःख॥

(चै० च० म० २०/२०८, ११७)

अर्थात् जीवका स्वरूप कृष्णका नित्यदास है। वह कृष्णकी तटस्थाशक्ति है तथा उसका भेदाभेद-प्रकाश है। जब कृष्णको भूलकर जीव अनादि बहिर्मुख होता है, तब माया उसे संसाररूपी दुःख देती है।

कृष्ण परिपूर्ण चित्-वस्तु हैं। तुलनास्थलमें अनेक लोग उन्हें चित्-जगत्का एकमात्र सूर्य कहा करते हैं। जीव उनका किरणकणमात्र है। जीव अनेक हैं। "जीव कृष्णका अंश है"—यह कहने से पत्थरका एक टुकड़ा जैसे पर्वतका अंश है, वैसे नहीं समझना चाहिये, क्योंकि अनन्त अंशरूप जीव श्रीकृष्णसे निकला हुआ होनेपर भी, उससे कृष्णके किसी अंशका क्षय नहीं होता। इसी कारण वेद अग्निकी चिनगारीके साथ जीवका एकांशमें सादृश्य बतलाते हैं। वस्तुतः इस विषयमें तुलनाका स्थल ही नहीं है। महाग्निकी चिनगारी कहिये, चाहे सूर्यकी किरण-परमाणु अथवा मणि-प्रसूत स्वर्ण कोई भी तुलना सर्वांग-सुन्दर नहीं होती। किन्तु इन सब तुलनाओंके जड़ीय भावांशका परित्याग करनेपर सहज हृदयमें जीवतत्त्वकी स्फूर्ति होती है। कृष्ण—बृहत् चित् वस्तु हैं और जीव—उनकी अणु चित्-वस्तु है। चित्-धर्ममें दोनोंका ऐक्य है, किन्तु पूर्णत्व और अपूर्णत्वके भेदसे दोनोंका स्वभाव-भेद अवश्य सिद्ध होता है। कृष्ण जीवके नित्य प्रभु हैं, जीव कृष्णका नित्यदास है—इसीको स्वाभाविक कहना होगा। कृष्ण आकर्षक हैं, जीव आकृष्ट है, कृष्ण ईश्वर हैं, जीव ईशितव्य है, कृष्ण द्रष्टा हैं, जीव दृष्ट है, कृष्ण पूर्ण हैं, जीव दीन और क्षुद्र है, कृष्ण सर्वशक्तिमान हैं और जीव निःशक्तिक है। अतएव कृष्णका नित्य आनुगत्य या दास्य ही जीवका नित्य स्वभाव या धर्म है। कृष्ण अनन्त शक्तिसम्पन्न हैं, अतएव चित्-जगत्को प्रकाश करनेमें जैसे उनका पूर्ण शक्तिका परिचय पाया जाता है, वैसे ही जीव-सृष्टिके विषयमें उनकी एक तटस्थाशक्तिका परिचय मिलता है। अपूर्ण जगत्की संघटनमें कोई विशेष शक्ति कार्य करती है, उस शक्तिको तटस्था कहते हैं। तटस्थाशक्तिकी क्रिया यह है कि वह चित्-वस्तु और अचित्-वस्तु—इन दोनोंके बीचमें एक ऐसी वस्तुका निर्माण करती है, जो चित्-जगत् और अचित्-जगत् दोनोंके साथ सम्बन्ध रखनेके योग्य होती है। शुद्ध चित् वस्तु अचित् वस्तुके विपरीत होती है, अतएव स्वभावतः अचित्-वस्तुके साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं होता। जीव चित्—कण तो अवश्य है, किन्तु एक ऐशीशक्ति (ईश्वरीय शक्ति) के द्वारा वह अचित्-सम्बन्धके उपयोगी हुआ है। उस ऐशी शक्तिका नाम तटस्था है। नदीके जल और भूमि इन दोनोंके बीचमें तट होता है। जिसे तट कहते हैं वह भूमि भी है और जल भी अर्थात् उभयस्थ है। उक्त ऐशीशक्ति तटपर स्थित होकर भूधर्म और जलधर्म—दोनोंको ही

एक सत्तामें धारण करती है। जीवका धर्म चित् होता है, फिर भी उसका गठन ही ऐसा होता है कि वह जड़धर्मके वश होने योग्य होता है। अतएव जीव शुद्ध चित्-जगत्की तरह जड़ सम्बन्धसे परे नहीं होता है। चित्-धर्मके कारण यह जड़वस्तु भी नहीं है। अतः जड़ और चित्—इन दोनों तत्त्वोंसे पृथक् होनेके कारण जीवको भी एक तत्त्व माना गया है। इसलिए ईश्वर और जीवमें नित्य भेद स्वीकार करना कर्त्तव्य है। ईश्वर मायाका अधीश्वर है अर्थात् माया उसके वशीभूत तत्त्व है, जीव मायावश्य है, अर्थात् किसी विशेष अवस्थामें वह मायाके अधिन हो सकता है। अतएव भगवान्, जीव और माया—ये तीन तत्त्व पारमार्थिक सत्य और नित्य हैं। इनमें **'नित्योनित्यानाम्'** [(५)] (कठ० उ० २/२/१३) इस वेद वचन द्वारा भगवान् तीनों तत्त्वोंके मूल नित्य तत्त्व हैं।

जीव स्वभावतः कृष्णका नित्यदास और उनकी तटस्थाशक्तिका परिचय है। ऐसा विचार करनेसे यह सिद्धान्त होता है कि जीवका भगवत्-तत्त्वसे युगपत् भेद और अभेद है, इसलिए वह भेदाभेद-प्रकाश है। जीव मायावश्य है, किन्तु भगवान् मायाके नियन्ता हैं, इस स्थलपर जीव और भगवानमें नित्य भेद है। जीव स्वरूपतः चित्-वस्तु है। भगवान् भी स्वरूपतः चित्-वस्तु हैं एवं जीव भगवान्की शक्ति-विशेष है। इसी कारण इस अंशमें इन दोनोंमें नित्य अभेद है। नित्य भेद और नित्य अभेद यदि युगपत् हो, तो नित्य भेदका परिचय ही प्रबल होता है। कृष्णकी दासता (सेवावृत्ति) ही जीवका नित्य धर्म है। उसे भूलकर जीव मायाके वशीभूत होता है। इसलिए तभीसे जीव कृष्णसे बहिर्मुख हो जाता है। क्योंकि मायिक जगत्में आनेके समय ही यह बहिर्मुखता परिलक्षित होती है, अतः मायिक जगत्की कालके भीतर जीवके पतनका इतिहास नहीं है। इसलिए अनादि 'बहिर्मुख' शब्दका व्यवहार किया है। बहिर्मुखता और मायामें प्रवेश करनेके कालसे ही जीवका नित्य धर्म विकृत हुआ है। अतएव मायाके सङ्गसे जीवका निसर्ग उदय होनेपर नैमित्तिक धर्मको प्रकाशित होनेका अवसर मिला है। नित्यधर्म भिन्न-भिन्न अवस्थाओंमें एक, अखण्ड और निर्दोष है, नैमित्तिक धर्म भिन्न-भिन्न आकारोंसे भिन्न-भिन्न लोगों द्वारा भिन्न-भिन्न रूपोंमें प्रचारित होता है।

परमहंस बाबाजी यहाँ तक कहकर चुप हो गये और हरिनामका जप करने लगे। संन्यासी ठाकुरने इस प्रकार तत्त्वकी बातें सुनकर दण्डवत् प्रणाम करते हुए कहा—प्रभो! मैं आज इन सब बातोंपर विचार करूँगा। जो कुछ भी प्रश्न मनमें उदित होंगे उन्हें कल आपके श्रीचरणोंमें निवेदन करूँगा।

॥पहला अध्याय समाप्त॥

---

(५) जो नित्य या वास्तव वस्तुसमूहके भी परम नित्य हैं एवं जो नित्य चेतन—समूहमें मुख्यचेतन हैं।

दूसरा अध्याय
जीवका नित्यधर्म शुद्ध और सनातन है

दूसरे दिन प्रातः काल प्रेमदास बाबाजी अपने व्रजभावमें डूब रहे थे, अतः संन्यासी महाशयको उनसे कोई भी बात पूछनेका अवसर नहीं मिला। फिर दोपहर में 'मधुकरी' करके दोनों ही श्रीमाधवीमालती मण्डपमें बैठे। तब स्वयं ही परमहंस बाबाजीने कृपा करके कहा—हे भक्त-प्रवर! आपने धर्म-विषयकी मीमांसा सुनकर उस पर क्या स्थिर किया? और किस निर्णयपर पहुँचे?

यह बात सुनकर संन्यासीजीने परम आनन्दके साथ फिर प्रश्न किया—प्रभो! जीव यदि अणु पदार्थ है, तो उसका नित्यधर्म कैसे पूर्ण और शुद्ध हो सकता है? जीवके गठनके साथ यदि उसके धर्मका भी गठन होता है, तो धर्म सनातन कैसे हो सकता है?

इन दोनों प्रश्नोंको सुनकर श्रीशचीनन्दनके चरणोंका ध्यान करते हुए परमहंस बाबाजी मुस्कराकर कहने लगे—महाशयजी! जीव अणु पदार्थ है, किन्तु उसका धर्म पूर्ण और सनातन है। अणुत्व केवल वस्तुका परिचय है। बृहत्-वस्तु एकमात्र परब्रह्म श्रीकृष्णचन्द्र हैं। जीवसमूह उनके अनन्त परमाणु हैं। अखण्ड अग्निसे जिस प्रकार चिनगारियाँ निकला करती हैं, वैसे ही अखण्ड चैतन्यस्वरूप कृष्णसे ये जीव भी निकलते हैं। अग्निकी एक-एक चिनगारी जैसे पूर्ण अग्नि-शक्तिको धारण करती है, प्रत्येक जीव भी उसी तरह चैतन्यके पूर्ण-धर्मकी विकास भूमि होनेमें समर्थ हैं। एक चिनगारी जैसे जलानेकी सामग्री पाकर क्रमशः महान अग्निका परिचय देकर समग्र जगत्‌को जला डालनेमें समर्थ होती है, वैसे ही एक जीव भी प्रेमके प्रकृत विषय श्रीकृष्णचन्द्रको पाकर प्रेमकी महाबाढ़ लानेमें समर्थ हो सकता है। जब तक अपने धर्मके यथार्थ विषयको वह स्पर्श नहीं करता, तब तक उस पूर्ण धर्मका सहज विकास दिखानेमें अणुचैतन्य-स्वरूप जीव असमर्थ होकर प्रकाश पाता है। वास्तवमें विषयके संयोगसे ही धर्मका परिचय मिलता है।

"जीवका नित्यधर्म क्या है?" इसका अच्छी तरह अनुसन्धान कीजिये। प्रेम ही जीवका नित्यधर्म है। जीव अजड़ अर्थात् जड़से अतीत वस्तु है। चैतन्य ही इसका गठन है। प्रेम ही इसका धर्म है। कृष्णका दास्य ही वह विमल प्रेम है। अतएव कृष्णदासरूप प्रेम ही जीवका स्वरूप धर्म है।

जीवकी दो अवस्थाएँ हैं—शुद्धावस्था और बद्धावस्था। शुद्ध अवस्थामें जीव केवल चिन्मय है। उस समय उसका जड़से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। शुद्ध अवस्थामें भी जीव अणु पदार्थ है। उसी अणुत्वके कारण जीवके अवस्थान्तर प्राप्त होनेकी सम्भावना होती है। बृहत्-चैतन्यस्वरूप कृष्णका स्वभावतः अवस्थान्तर नहीं है। वे वस्तुतः बृहत् पूर्ण शुद्ध और सनातन हैं, जीव वस्तुतः अणु, खण्ड और अशुद्ध होनेके योग्य और अर्वाचीन है, किन्तु धर्मतः वह बृहत्, अखण्ड, शुद्ध और सनातन है। जीव जब तक शुद्ध है, तभी तक उसके स्वधर्मका विमल परिचय मिलता है। जीव जब मायाके सम्बन्धसे अशुद्ध होता है तभी स्वधर्ममें विकार होनेके कारण वह अविशुद्ध, अनाश्रित और सुख-दुःखसे पिसा हुआ रहता है। कृष्णके दास्यभावकी विस्मृति होते ही जीवकी संसार-दशा उपस्थित होती है।

जीव जब तक शुद्ध रहता है, तभी तक उसे स्वधर्मका अभिमान रहता है। वह अपनेको कृष्णका दास समझकर अभिमान करता है। किन्तु मायाके सम्बन्धसे अशुद्ध होते

ही वह अभिमान संकुचित होकर भिन्न-भिन्न आकार धारण करता है। मायाके सम्बन्धसे जीवका शुद्धस्वरूप लिङ्गदेह और स्थूलदेहसे आवृत हो जाता है। तब लिङ्गशरीरका एक अलग अभिमान उदित होता है। वही अभिमान फिर स्थूलदेहके अभिमानमें मिलकर एक तृतीय अभिमानका रूप धारण करता है। शुद्ध शरीरमें जीव केवल कृष्णका दास है। लिङ्गशरीरमें जीव अपनेको स्वकर्म फलका भोक्ता समझने लगता है। उस समय कृष्ण-दास्यका अभिमान लिङ्गदेहके अभिमानसे ढका रहता है। फिर स्थूलदेह प्राप्त करके—"मैं ब्राह्मण हूँ, मैं राजा हूँ, मैं गरीब हूँ, मैं दुःखी हूँ, मैं रोग-शोकके द्वारा अभिभूत हूँ, मैं स्त्री हूँ, मैं अमुकका स्वामी हूँ"—इस प्रकार तरह-तरहके स्थूलाभिमानके साथ वह अपना परिचय देता है।

इस प्रकारके मिथ्या अभिमानसे युक्त होकर जीवका स्वधर्म विकृत होता है। विशुद्ध प्रेम ही जीवका स्वधर्म है। सुख-दुःख, राग-द्वेष आदिके रूपमें वही प्रेम विकृत भावसे लिङ्गशरीरमें उदित होता है। भोजन, पान और जड़सङ्ग सुखरूप वह विकार अधिकतर घनीभूत होकर स्थूल शरीरमें दिखलायी देता है। अब देखिये, जीवका नित्यधर्म केवल शुद्ध अवस्थामें प्रकाशमान होता है। बद्ध अवस्थामें जिस धर्मका उदय होता है, वह नैमित्तिक है। नित्यधर्म स्वभावसे ही पूर्ण शुद्ध और सनातन है। नैमित्तिक धर्मकी अन्य किसी दिन विस्तारपूर्वक व्याख्या करूँगा।

श्रीमद्भागवत शास्त्रमें जो विशुद्ध वैष्णवधर्म परिलक्षित होता है, वही नित्यधर्म है। जगत्में जितने प्रकारके धर्मोंका प्रचार है, उन सभी धर्मोंको तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है—नित्यधर्म, नैमित्तिकधर्म और अनित्यधर्म। जिन धर्मोंमें ईश्वरकी आलोचना नहीं है और आत्माका नित्यत्व नहीं है, वे सब अनित्य धर्म हैं। जिन धर्मोंमें ईश्वर और आत्माका नित्यत्व स्वीकार किया गया है, किन्तु केवल अनित्य उपाय द्वारा ईश्वरकी कृपा लाभ करनेकी चेष्टा की जाती है, वे सब नैमित्तिक धर्म हैं। जिनमें विमल प्रेमके द्वारा कृष्णदास्य प्राप्त करनेका यत्न किया जाता है, वे नित्यधर्म हैं। नित्यधर्म देश, जाति तथा भाषाके भेदसे पृथक्-पृथक् नामोंसे परिचित होनेपर भी वह एक और परम उपादेय है। भारतमें जो वैष्णवधर्म प्रचलित है, वही नित्यधर्मका आदर्श है। फिर हमारे हृदयनाथ भगवान् श्रीशचीनन्दनने जगत्कीी जिस धर्मकी शिक्षा दी है, वही वैष्णवधर्मकी विमल अवस्था होनेके कारण प्रेमानन्दी महापुरुषगण उसीको स्वीकार करते हैं और उसीका आश्रय लेते हैं।

यही पर संन्यासीजीने हाथ जोड़कर कहा—प्रभो! मैं श्रीशचीनन्दनके द्वारा प्रकाशित विमल वैष्णव धर्मका सर्व—उत्कर्ष सर्वदा देखता हूँ। शङ्कराचार्यके द्वारा प्रकाशित अद्वैतमतके हेयत्वका अनुभव अवश्य करता हूँ, किन्तु मेरे मनमें एक बात आती है जिसे आपके श्रीचरणोंमें निवेदन किये बिना नहीं रह सकता। मैं उसे आपसे छिपाना भी नहीं चाहता। बात यह है कि प्रभु श्रीकृष्णचैतन्यने जो घनीभूत प्रेमकी महाभाव-अवस्था दिखायी है, वह क्या अद्वैतसिद्धिसे पृथक् अवस्था है?

श्रीशङ्कराचार्यजीका नाम सुनकर परमहंस बाबाने उन्हें दण्डवत् प्रणाम किया। फिर कहा —महाशय, "शङ्करः शङ्करः साक्षात्" इस बातको सदा स्मरण रखियेगा। शङ्करजी वैष्णवोंके गुरु हैं। इसी कारण महाप्रभुने आचार्य कहकर उनका उल्लेख किया है। शङ्कर स्वयं पूर्ण वैष्णव थे। जिस समय वे भारतमें उदित हुए थे, उस समय उनके समान एक गुणावतार

होनेकी बहुत बड़ी आवश्यकता थी। भारतमें वेद-शास्त्रकी आलोचना और वर्णाश्रमधर्मका क्रियाकलाप बौद्धोंके शून्यवादके चक्करमें पड़कर शून्यप्रायः हो गये थे। शून्यवाद नितान्त निरीश्वर है। उसमें जीवात्माका तत्त्व कुछ-कुछ स्वीकृत होनेपर भी वह धर्म बिलकुल ही अनित्य है। उस समय ब्राह्मणगण प्रायः बौद्ध होकर वैदिक धर्मका परित्याग करते जा रहे थे। असाधारण शक्तिशाली शङ्करावतार श्रीशङ्कराचार्यने उदित होकर वेद-शास्त्र के सम्मानकी स्थापना की—शून्यवादको ब्रह्मवादमें परिणत कर दिया। यह कार्य असाधारण था। भारतवर्ष इस महान् कार्यके लिए श्रीशङ्कराचार्यका सदा ऋणी रहेगा। सभी कार्योंका जगत्में दो प्रकारसे विचार होता है। कुछ कार्य तातकालिक होते हैं और कुछ सार्वकालिक। शङ्कराचार्यका यह कार्य तात्कालिक था। उसके द्वारा अनेक सुफलोंका उदय हुआ है। शङ्कराचार्यने जो नींव डाली, उसी नींवके ऊपर श्रीरामानुजाचार्य आदि आचार्योंने विशुद्ध वैष्णवधर्मका महल खड़ा किया। अतएव शङ्करावतार वैष्णवधर्मके परम बन्धु और एक प्राग्-उदित आचार्य हैं।

शङ्कराचार्यने जो विचार-मार्ग दिखलाया है, उसकी सम्पत्ति इस समय वैष्णवगण अनायास भोग कर रहे हैं। जड़ और बद्ध जीवके लिए सम्बन्धज्ञानका बड़ा ही प्रयोजन है। इस जड़ जगत् में स्थूल और लिङ्ग देहसे चित्-वस्तु पृथक् और अतिरिक्त है, इस सिद्धान्तपर श्रीशङ्कर और वैष्णवगण दोनों ही विश्वास करते हैं। जीवकी सत्ताके विचारमें उन दोनोंके बीच कोई पार्थक्य नहीं है। जड़ जगत् के सम्बन्ध-त्यागका नाम मुक्ति है, इस बातको दोनों ही मानते हैं। मुक्ति-लाभ होने तक श्रीशङ्कर और वैष्णव आचार्योंके बीच अनेक प्रकारका मतैक्य है। हरि भजनके द्वारा चित्त शुद्धि और मुक्ति-लाभ होती है—यह भी शङ्करकी शिक्षा है। केवल इस विषयमें शङ्कर चुपचाप हैं कि मुक्ति-लाभके बाद जीवकी क्या अपूर्व गति होती है। शङ्कर इस बातको अच्छी तरह जानते थे कि हरि भजनके द्वारा जीवको मुक्तिके मार्गमें अच्छी तरह चला सकनेसे ही जीव क्रमशः भजन सुखमें आबद्ध होकर शुद्ध भक्त हो जायेगा। इसी कारण शङ्करने केवल मार्ग दिखला दिया और अधिक कुछ वैष्णवधर्मका रहस्य नहीं खोला। उनके सब भाष्योंको जिन्होंने विशेष ध्यानपूर्वक पढ़ा है, वे शङ्करके गूढ़ भावको समझ सकते हैं। जो लोग केवल उनकी शिक्षाके बाहरी अंशको लेकर उसीकी उधेड़-बुनमें अपना समय बिताते हैं, वे ही वैष्णव धर्मसे दूर बने रहते हैं।
एक प्रकारसे विचार करनेपर अद्वैतसिद्धि और प्रेम एक जैसे ही प्रतीत होते हैं।

अद्वैतसिद्धिका जो संकुचित अर्थ किया जाता है, उससे अद्वैतसिद्धि और प्रेममें भिन्नता उत्पन्न हो गयी है। प्रेम क्या पदार्थ है—इस पर विचार कीजिये। एक चित्-पदार्थ अन्य चित्-पदार्थके प्रति जिस धर्मके द्वारा स्वभावतः आकृष्ट हो, उसीका नाम 'प्रेम' है। दो चित्-पदार्थोंके पृथक् अवस्थान बिना प्रेम-सिद्ध नहीं होता, समस्त चित्-पदार्थ जिस धर्मके द्वारा परम चित्-पदार्थरूप कृष्णचन्द्रकी ओर नित्य आकृष्ट होते हैं उसका नाम है—'कृष्ण-प्रेम'। कृष्णचन्द्रका नित्य पृथक् अवस्थान और जीवसमूहका उनके प्रति जो अनुगतभावके साथ नित्य पृथक् अवस्थान है, वह प्रेमतत्त्वमें नित्य-सिद्ध तत्त्व है। आस्वादक, आस्वाद्य और आस्वादन इन तीनों भावोंकी पृथक् स्थिति सत्य है। यदि प्रेमके आस्वादक और आस्वाद्य एक ही हो तो प्रेम नित्य-सिद्ध नहीं हो सकता। यदि अचित् सम्बन्धशून्य चित्-पदार्थकी शुद्ध अवस्थाको अद्वैतसिद्धि कहा जाये तो प्रेम एवं अद्वैतसिद्धि एक जैसे ही प्रतीत होते हैं।

किन्तु आधुनिक शङ्कर-मतावलम्बी पण्डितगण चित्-धर्मकी अद्वैत-सिद्धिसे सन्तुष्ट न होकर चित्-वस्तुकी एकता साधनके यत्न द्वारा वेदोदित अद्वय तत्त्वसिद्धिका प्रचार न कर उसके विकारका प्रचार करते हैं। उससे प्रेमके नित्यत्वकी हानि होनेसे वैष्णवोंने उस सिद्धान्तको बिलकुल अवैदिक सिद्धान्त ठहराया है। शङ्कराचार्यने केवल चित्-तत्त्वकी विशुद्ध अवस्थाओंको अद्वैतावस्था कहा है, किन्तु उनके अर्वाचीन शिष्य गुरुके गूढ़भावोंको समझ न पाकर क्रमशः उन्हें अपदस्थ (अपमानित) करते जा रहे हैं। विशुद्ध प्रेमकी सब अवस्थाओंको मायिक कहकर वे मायावाद नामक एक सर्वाधम मतका जगत् में प्रचार करते हैं। मायावादी लोग पहले तो एकके सिवाय और अधिक चित्-वस्तुका होना स्वीकार नहीं करते। वे यह भी स्वीकार नहीं करते कि चित्-वस्तुमें प्रेमधर्म है। वे कहते हैं कि ब्रह्म जब तक एकावस्थाको प्राप्त है, तब तक वह मायासे अतीत है। जब वह कोई स्वरूप ग्रहण करता है तथा जीवरूपसे नाना तरहके आकारोंको प्राप्त करता है, तब वह मायाग्रस्त होता है। अतः वे भगवान्के नित्यशुद्ध चिद्घन विग्रहको मायिक मानते हैं। इसी कारण वे प्रेम और प्रेम-विकारको मायिक मानकर अद्वैतज्ञानको निर्मायिक (मायासे परे) कहकर उसकी स्थापना करते हैं। उनके भ्रान्त—मतकी यह अद्वैतसिद्धि और प्रेम कभी एक पदार्थ नहीं हो सकते।

किन्तु भगवान् श्रीचैतन्यदेवने जिस 'प्रेमका आस्वादन करनेके लिए उपदेश दिया है और अपने लीलाचरित्र द्वारा जिसकी शिक्षा जगत्को दी है, वह मायासे सम्पूर्ण अतीत है—विशुद्ध अद्वैतसिद्धिका चरम फल है। महाभाव उसी प्रेमका विकार विशेष है। उसमें कृष्ण प्रेमानन्द अत्यन्त प्रबल होता है। सुतरां संवेदक और संवेद्यका पार्थक्य और निगूढ़ सम्बन्ध एक अपूर्व अवस्थामें पहुँचा देता है। तुच्छ मायावाद इस प्रेमकी किसी अवस्थामें कोई कार्य नहीं कर सकता।

संन्यासी ठाकुरने आदरके साथ कहा—प्रभो! यह मेरे हृदयमें अच्छी तरह बैठ गया कि मायावाद बहुत ही अकिञ्चित्कर है, उसके सम्बन्धमें मुझे जो संशय था वह भी आपकी कृपासे आज दूर हो गया। अपने इस मायावादी संन्यासी-वेषको त्यागनेकी मेरी बड़ी इच्छा हो रही है।

बाबाजीने कहा—महात्मन्! मैं वेषके ऊपर किसी प्रकारका राग-द्वेष रखनेका उपदेश नहीं करता। अन्तःकरणका धर्म निर्मल होनेपर वेष सहजमें ही निर्मल हो जाता है। जहाँ बाह्य वेषका विशेष आदर है, वहाँ आन्तर धर्मपर विशेष रूपसे ध्यान नहीं दिया जाता। मेरी समझमें पहले अन्तःशुद्धि करके जब साधुओंके बाहरी आचारमें अनुराग होता है, तभी बाह्य वेष आदि निर्दोष होते हैं। आप अपने हृदयको सम्पूर्ण रूपसे श्रीकृष्णचैतन्यके अनुगत कीजिये, इसके बाद जिन बाह्य सम्बन्धोंमें रुचि होगी, उनका आचरण कीजियेगा। श्रीमन् महाप्रभुके इस उपदेशको सर्वदा स्मरण रखियेगा—

मर्कट वैराग्य ना कर लोक देखाइया।
यथायोग्य विषय भुञ्ज अनासक्त हञा॥
अन्तरे निष्ठा कर, बाह्ये लोक-व्यवहार।
अचिराते कृष्ण तोमाय करिबेन उद्धार॥

(चै० च० म० १६/२३८-३९)

अर्थात् बाहरमें लोगोंको दिखानेके लिए, मर्कट वैराग्य (बन्दर जैसा केवल दिखावटी वैराग्य) नहीं करना, किन्तु मनकी वासनाओंको त्यागकर आवश्यकतानुसार विषयोंका भोग करना चाहिये। अन्दरमें भगवन्निष्ठा रखते हुए बाहरमें लौकिक कर्मोंका आचरण करना चाहिये। इससे श्रीकृष्ण तुमको अति शीघ्र संसारसे मुक्त करेंगे।

संन्यासी ठाकुर ने इस विषयका भाव समझकर फिर वेश परिवर्तनकी बात नहीं उठायी। हाथ जोड़कर कहने लगे—प्रभो! मैंने जब आपका शिष्य होकर चरणोंका आश्रय लिया है तब आप जो उपदेश करेंगे, उसे बिना तर्क किये मैं शिरोधार्य करूँगा। आपका उपदेश श्रवण करके मैं समझ गया हूँ कि विमल कृष्णप्रेम ही एकमात्र वैष्णवधर्म है। यही जीवका नित्यधर्म है। वही धर्म पूर्ण, शुद्ध और सहज है। नाना देशोंमें नाना प्रकारके जो धर्म प्रचलित हैं, उन धर्मोंके विषयमें मैं कैसी भावना करूँ?

बाबाजीने कहा—महात्मन्, धर्म एक है, दो या अनेक नहीं। जीवमात्रका एक ही धर्म है। उसी धर्मका नाम वैष्णवधर्म है। भाषाभेद, देशभेद और जाति भेदसे धर्म-भेद नहीं हो सकता है। लोग जैवधर्मको भिन्न-भिन्न नामोंसे पुकारते हैं; किन्तु पृथक् धर्मकी सृष्टि नहीं कर सकते हैं। परम-वस्तुमें अणु-वस्तुका जो निर्मल चिन्मय प्रेम है, उसे जैवधर्म अथवा जीव सम्बन्धीय धर्म कहते हैं। जीवसमूह नाना प्रकृतियोंसे युक्त है, इसलिए जैवधर्म भी कुछ प्राकृत आकारोंके द्वारा विकृत रूपमें दिखायी देता है। इसीसे जैवधर्मकी शुद्धावस्थाको वैष्णवधर्मके नामसे अभिहित किया गया है। अन्यान्य धर्मोंमें जिस परिमाणमें वैष्णवधर्म है, उसी परिमाणमें वह धर्म शुद्ध है।

कुछ दिन पहले मैंने श्रीव्रजधाममें भगवत्पार्षद श्रीसनातन गोस्वामीजीके श्रीचरणोंमें एक प्रश्न किया था। मुसलमानी मजहबमें जो 'इश्क' शब्द है, उसका अर्थ निर्मल प्रेमसे है या कुछ और से—यही मेरा प्रश्न था। गोस्वामीजी सब शास्त्रोंमें पण्डित हैं, विशेषकर अरबी फारसीमें तो उनके पाण्डित्यकी सीमा ही नहीं। श्रीरूप गोस्वामी, श्रीजीव गोस्वामी आदि अनेक महामहोपाध्याय उस सभामें उपस्थित थे। श्रीसनातन गोस्वामीजीने मेरे प्रश्नका उत्तर इस प्रकार दिया था—

हाँ 'इश्क' शब्दका अर्थ प्रेम ही है। मुसलमान उपासकगण ईश्वर भजनके विषयमें भी 'इश्क' शब्दका व्यवहार करते हैं; किन्तु प्रायः 'इश्क' शब्दसे मायिक प्रेम ही उनका लक्ष्य रहता है। लैला-मजनूंका इतिहास और कविवर हाफिजके इश्क वर्णनको देखनेसे यह प्रतीत होता है कि यवनाचार्यगण शुद्ध चित्-वस्तु क्या है, इसकी उपलब्धि नहीं कर सके, स्थूलदेहके प्रेमको और कहीं-कहीं लिङ्गदेहके प्रेमको ही उन्होंने 'इश्क' कहा है।

विशुद्ध चित्-वस्तुको अलग करके कृष्णके प्रति जो विमलप्रेम होता है, उसका उन्होंने अनुभव नहीं किया। वैसा प्रेम मैंने यवन आचार्योंके किसी भी ग्रन्थमें नहीं देखा। वह केवल वैष्णवग्रन्थोंमें ही मिलता है। यवनाचार्योंका 'रूह' शुद्ध जीव है—ऐसा भी प्रतीत नहीं होता। बल्कि बद्ध जीवको ही वे 'रूह' कहते हैं, ऐसा जान पड़ता है। अन्य किसी भी धर्ममें मैंने विमल कृष्णप्रेमकी शिक्षा नहीं देखी। वैष्णव धर्ममें साधारणतः कृष्णप्रेमका उल्लेख है। श्रीमद्भागवतमें 'प्रोज्झित कैतवधर्म' रूप श्रीकृष्णप्रेम विशद् रूपसे वर्णित हुआ है। किन्तु मेरा विश्वास है कि श्रीकृष्णचैतन्यके पहले किसीने भी विमल कृष्णप्रेम—धर्मकी शिक्षा नहीं दी है। मेरी बातपर अगर तुम्हारी श्रद्धा हो तो यह सिद्धान्त ग्रहण करो। मैंने यह उपदेश

सुनकर गोस्वामीजीको बारम्बार दण्डवत्-प्रणाम किया।

संन्यासी ठाकुरने भी बाबाजीके मुखसे यह सुनकर उस समय दण्डवत् प्रणाम किया। परमहंस बाबाजीने कहा—हे भक्तश्रेष्ठ! अब आपके दूसरे प्रश्नका उत्तर देता हूँ; एकाग्रचित्तसे सुनिये। जीव-सृष्टि और जीवगठन—ये शब्द मायिक सम्बन्धमें व्यवहृत होते हैं। जड़ीय वाक्य कुछ-कुछ जड़भावका आश्रय लेकर कार्य करते हैं। भूत, भविष्य और वर्त्तमान इन तीन अवस्थाओंमें जो काल विभक्त है, वह मायागत जड़ीय काल है। चित्-जगत्का जो काल है वह सर्वदा वर्त्तमान है। उसमें भूत भविष्यरूप विभागगत व्यवधान या अन्तर नहीं है। जीव और कृष्ण उसी कालमें विराजमान रहते हैं। अतएव जीव नित्य और सनातन है। इस जड़ जगत्में आबद्ध होनेके बाद जीवकी सृष्टि, गठन, पतन ये सब धर्म मायिक कालके अन्तर्गत जीवमें आरोपित हुए हैं, जीव अणुपदार्थ होनेपर भी चिन्मय और सनातन है। जड़ जगत् में आनेसे पहले ही उसका गठन होता है। चित्-जगत् में भूत-भविष्यरूप अवस्था न रहनेसे उस कालमें जो कुछ होता है, वह सभी नित्य वर्त्तमान है। जीव और जीवका धर्म वास्तवमें नित्य—वर्त्तमान और सनातन है। यह बात मैंने कही तो अवश्य, किन्तु आपने जहाँ तक शुद्ध चित्-जगत्का भाव पाया है, वहीं तक आपको इस कथनके यथार्थ अर्थकी उपलब्धि होगी। मैंने आपको आभासमात्र दिया है, आप चित्-समाधिके द्वारा इसके अर्थका अनुभव कर लीजियेगा। जड़जात युक्ति और तर्क द्वारा ये सब बातें आपकी समझमें नहीं आयेंगी। जड़ बन्धनसे अनुभवशक्तिको जितना ढीला कर सकेंगे, उतना ही जड़ातीत चित्-जगत्का अनुभव उदित होगा। पहले अपने शुद्ध स्वरूपके अनुभवका और शुद्ध चिन्मय कृष्णनामका अनुशीलन करनेपर जैवधर्म प्रबल रूपमें उदित होगा। अष्टाङ्गयोग या ब्रह्मज्ञानके द्वारा चित्-अनुभव विशुद्ध नहीं होगा। साक्षात् कृष्णका अनुशीलन ही नित्यसिद्ध धर्मका उदय करानेमें समर्थ है। आप निरन्तर उत्साहके साथ हरिनाम कीर्त्तन कीजिये। हरिनामका अनुशीलन ही एकमात्र चिदनुशीलन है। कुछ दिन हरिनाम करते-करते उस नाममें अपूर्व अनुराग उदय होगा। उस अनुरागके साथ-साथ चित्-जगत्का अनुभव भी उदित होगा। भक्तिके जितने प्रकारके अङ्ग हैं, उनमें श्रीहरिनामका अनुशीलन ही प्रधान और शीघ्र फल देनेवाला है। इसीसे श्रीकृष्णदासके उपादेय ग्रन्थमें यह श्रीमहाप्रभुका उपदेश है—

भजनेर मध्ये श्रेष्ठ नवविधा भक्ति।
कृष्णप्रेम कृष्ण दिते धरे महाशक्ति॥
तार मध्ये सर्वश्रेष्ठ नाम संकीर्त्तन।
निरपराधे नाम कैले पाय प्रेमधन॥

(चै० च० अ० ४/७०-७१)

अर्थात् सब भजनोंमें नवविधा भक्ति श्रेष्ठ है जो कृष्णप्रेम और कृष्णको देनेकी महाशक्ति रखती है। उसमें (नवधा भक्तिमें) नाम सङ्कीर्त्तन सर्वश्रेष्ठ है, निरपराध होकर कृष्ण नामसङ्कीर्त्तन करनेसे प्रेमधनकी प्राप्ति होती हैं।

महात्मन्! यदि आप यह जिज्ञासा करें कि वैष्णव किसे कहना चाहिये तो मैं इसके उत्तरमें इतना ही कहूँगा कि जो अपराधोंको त्यागकर भावसे कृष्णनाम करता है, वही वैष्णव है। वैष्णव तीन प्रकरके होते हैं—कनिष्ठ, मध्यम और उत्तम। जो बीच-बीचमें कृष्ण नाम लेते हैं, वे कनिष्ठ वैष्णव हैं। जो निरन्तर कृष्ण नाम लेते हैं, वे मध्यम वैष्णव हैं और

जिन्हें देखते ही मुखसे हरिनाम निकलने लगे, वे उत्तम वैष्णव हैं। महाप्रभुकी शिक्षाके अनुसार और किसी लक्षणसे वैष्णवका निर्णय नहीं करना चाहिये।

संन्यासी ठाकुर बाबाजीके शिक्षामृतमें निमग्न होकर—

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥

यह नामगान करते हुए नृत्य करने लगे। उस दिन उनकी हरिनाममें रुचि उत्पन्न हुई। गुरुके श्रीचरणकमलोंमें साष्टाङ्ग प्रणाम करके उन्होंने कहा—प्रभो! दीनबन्धो! इस दीन पर कृपा कीजिये।

॥दूसरा अध्याय समाप्त॥

तीसरा अध्याय

नैमित्तिक धर्म असम्पूर्ण, हेय, मिश्र और अचिरस्थायी है

एक दिन एक पहर रात बीतनेके बाद संन्यासी महाराज हरिनाम गान करते-करते श्रीगोद्रुमके उपवनके एकान्तमें ऊँची जगहपर बैठकर उत्तरकी ओर देखने लगे। उस समय पूर्णचन्द्रका उदय हो चुका था। श्रीनवद्वीप-मण्डलकी अपूर्व शोभा हो रही थी। थोड़ी ही दूरपर श्रीमायापुर नयनगोचर होने लगा।

संन्यासी महाराज कहने लगे—अहा! यह तो मैं एक विचित्र आनन्दमय धाम देख रहा हूँ। बड़ी-बड़ी रत्नमयी अट्टालिकाएँ, मन्दिर और तोरणसमूह अपनी किरणावलीसे जाह्नवीकूलको उज्ज्वल कर रहे हैं, अनेक स्थानोंपर हरिनाम-सङ्कीर्त्तनका शब्द तुमुल होकर गगन-मण्डलको जैसे भेद कर रहा है। नारदके समान कितने ही सैकड़ों भक्त वीणा वादनकर नामगान करते हुए नृत्य कर रहे हैं। एक ओर श्वेतशरीर देवदेव महादेव हाथमें डमरू लिए " हा विश्वम्भर दया करो" कहकर ताण्डव नृत्य करते-करते पछाड़ खा रहे हैं। दूसरी ओर चतुर्मुख ब्रह्मा वेदवादी ऋषियोंकी सभामें बैठ कर—

महान्प्रभुर्वै पुरुषः सत्त्वस्यैषः प्रवर्त्तकः।
सुनिर्मलामिमां प्राप्तिमीशानो ज्योतिरव्ययः॥[१]

(श्वे० उ० ३/१२)

—यह वेदमन्त्र पाठ करके इसकी निर्मल व्याख्या कर रहे हैं। कहीं इन्द्रादि देवगण "जय प्रभु गौरचन्द्र, जय नित्यानन्द" कहकर उछल-कूद रहे हैं। पक्षीवृन्द डालोंपर बैठकर "गौर निताई" की पुकार कर रहे हैं। भ्रमर गौर-नामरस पानमें मत्त होकर पुष्पोद्यानमें चतुर्दिक गुञ्जन कर रहे हैं। प्रकृतिदेवी गौररससे उन्मत्त होकर सर्वत्र अपनी छटा बिखेर रही हैं। अहा! दिनमें जब मैं श्रीमायापुरका दर्शन करता हूँ तब तो यह कुछ भी नहीं देख पाता। आज यह क्या देख रहा हूँ। फिर श्रीगुरुदेवको स्मरण करके कहने लगे—प्रभो! आज मैंने समझ लिया कि आपने कृपा करके मुझे अप्राकृत मायापुरके दर्शन कराये हैं। आजसे मैं भी श्रीगौरचन्द्रका निजजन कहकर अपना परिचय दूँगा। मैं देखता हूँ कि इस अप्राकृत नवद्वीपमें सभी तुलसीकी माला, तिलक और नामांकित उत्तरीय धारण किये हुए हैं। मैं भी ऐसा ही करूँगा।

ऐसा कहते-कहते संन्यासी महाराजकी एक प्रकारकी अचेतन अवस्था हो गयी। थोड़ी देरमें ही उन्हें फिर बाह्य-ज्ञान हुआ। ज्ञान तो हुआ, किन्तु वह अपूर्व चिन्मय दृश्य फिर नयनगोचर न हो सका।

तदनन्तर संन्यासी महाराजने रोते-रोते कहा—मैं बड़ा ही सौभाग्यशाली हूँ, क्योंकि श्रीगुरुकी कृपा लाभकर क्षणभर श्रीनवद्वीपधामके दर्शन तो कर लिये।

दूसरे दिन संन्यासी महाराज अपना एकदण्ड जलमें विसर्जनकर गलेमें त्रिकण्ठी तुलसीकी माला और ललाटपर ऊर्ध्वपुण्ड्र धारण करके "हरि-हरि" कहते हुए नृत्य करने

---

(१) यह पुरुष निश्चय ही महान् प्रभु अर्थात् महाप्रभु हैं। वे ही अन्तःकरण अर्थात् बुद्धि-वृत्तिके प्रवर्तक हैं। उनकी कृपासे सुनिर्मल शान्ति प्राप्त होती है। वे ज्योतिस्वरूव अर्थात् कनक-कान्तियुक्त एवं अव्यय (ह्रास-वृद्धिशून्य) प्रेममय हैं।

लगे। गोद्रुमवासी वैष्णवगण उनका अपूर्व नूतन वेष और भाव देखकर उन्हें धन्य-धन्य कहकर दण्डवत् प्रणाम करने लगे।

संन्यासी महाराजने इस समय कुछ लज्जित होकर कहा—अहो, मैंने वैष्णवोंका कृपापात्र बननेके लिए यह वैष्णव-वेष ग्रहण किया, किन्तु यह एक और बाधा खड़ी हो गयी। मैंने श्रीगुरुदेवके मुखसे बारम्बार ऐसा सुना है—

तृणादपि सुनीचेन तरोरपि तरोरपि सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्त्तनीयः सदा हरिः॥[२]

(चै० च० अ० २०/२१)

जिन्हें मैं अपना गुरु मानता हूँ, अब वे ही वैष्णवजन मुझे प्रणाम करते हैं। मेरी क्या गति होगी? इस प्रकार मन-ही-मन सोचते-सोचते वे परमहंस बाबाजीके पास गये और उन्हें साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम कर नतमस्तक हो खड़े हो गये।

बाबाजी माधवी मण्डपमें बैठकर हरिनाम कर रहे थे। उन्होंने संन्यासी महाराजका सम्पूर्ण वेश-परिवर्तन और नामके प्रति भावोदय देखकर प्रेमाश्रुओंसे उनको नहलाते हुए गले लगा लिया और कहा—वैष्णवदास! आज तुम्हारे मङ्गलमय शरीरका स्पर्श करके मैं कृतार्थ हो गया।

ऐसा कहनेके साथ-ही-साथ संन्यासी महाराजका पूर्व नाम दूर हो गया। अब वे वैष्णवदासके नामसे परिचित हुए। संन्यासीको आजसे एक अपूर्व जीवन प्राप्त हुआ। मायावादी संन्यासीका वेश, संन्यासाश्रमका अहङ्कारपूर्ण नाम और अपनेको महत् समझनेका अभिमान सब कुछ दूर हो गया।

तीसरे पहर श्रीप्रद्युम्नकुञ्जमें श्रीगोद्रुम और श्रीमध्यद्वीपके अनेक वैष्णव परमहंस-बाबाजीका दर्शन करने आये थे। वे परमहंस बाबाजीको चारों ओरसे घेर कर बैठे थे। सभी तुलसीकी मालासे हरिनामका जप कर रहे थे। कोई-कोई "हा गौराङ्ग नित्यानन्द!" काई-कोई "हा सीतानाथ!" और कोई-कोई "जय शचीनन्दन!" इत्यादि कहते हुए आँसुओंसे तर हो रहे थे। सभी परस्पर इष्टगोष्ठी कर रहे थे। वैष्णवजन तुलसीकी परिक्रमाकर वैष्णवोंको दण्डवत् प्रणाम कर रहे थे। इसी समय वैष्णवदास श्रीवृन्दादेवीकी परिक्रमा करके वैष्णवोंकी पदरजमें लोटने लगे।

कोई-कोई महात्मा आपसमें कानाफुसी करने लगे—यही न वे संन्यासी महाराज हैं? आज इनकी कैसी अद्भुत मूर्ति हो रही है।

वैष्णवोंके सामने पृथ्वीपर लोटते हुए वैष्णवदास कह रहे थे—आज मैं वैष्णवोंकी चरणरज पाकर कृतार्थ हो गया। श्रीगुरुदेवकी कृपासे मैंने अच्छी तरहसे जान लिया है कि वैष्णवपदरजके बिना जीवकी और गति नहीं है। वैष्णव पदरज, वैष्णपोदक और वैष्णवकी अधरसुधा—ये तीनों वस्तुएँ भवरोगकी औषध और भवरोगीके लिए पथ्य हैं। इससे केवल भवरोग ही दूर होता हो, ऐसी बात नहीं—अपितु जिनका भवरोग दूर हो गया है ऐसे

---

(२) अर्थात् तृणकी अपेक्षा भी सुनीच और वृक्षकी अपेक्षा भी सहनशील होकर स्वयं अभिमान शून्य होकर, औरोंको सम्मान देने हुए सर्वदा हरि—कीर्त्तन करना चाहिये।

पुरुषोंको इनसे परम भोग भी लाभ होता है। हे वैष्णवगण! ऐसा न समझें कि, मैं अपने पाण्डित्यका अहङ्कार प्रकाश कर रहा हूँ। मेरा हृदय आजकल सब अहङ्कारोंसे शून्य हो गया है। ब्राह्मण-कुलमें जन्म हुआ था, सभी शास्त्रोंका अध्ययन किया था और चतुर्थाश्रममें प्रवेश भी किया था। उस समय मेरे अहङ्कारकी सीमा न थी। किन्तु जबसे मैं वैष्णवतत्त्वकी ओर आकृष्ट हुआ, तबसे मेरे हृदय में एक दीनताका बीज रोपित हो गया है। मैं क्रमशः आप लोगोंकी कृपासे जन्म-अहङ्कार, विद्यामद और आश्रमगौरवको दूर कर चुका हूँ। इस समय मुझे जान पड़ता है कि मैं एक निराश्रित क्षुद्र जीव हूँ। वैष्णव-चरणाश्रयके बिना मेरी और किसी प्रकारसे गति नहीं है। ब्राह्मणत्व, विद्या और संन्यास, ये मेरा अधःपतन कर रहे थे। मैंने सरल भावसे आप लोगोंके चरणोंमें सब बातें कह दी हैं। आप अपने दासका जो करना हो, करें।

वैष्णवदासके इन दीनतापूर्ण वचनोंको सुनकर उनमेंसे अनेक कह उठे—हे भागवत-प्रवर! आप जैसे वैष्णवकी चरणरेणु प्राप्त करनेके लिए हम लालायित हैं। कृपापूर्वक हमें अपनी पदरज देकर कृतार्थ करें। आप परमहंस बाबाजीके कृपापात्र हैं, हमें भी अपना सङ्गी बनाकर पवित्र कीजिये। आप जैसे भक्तोंके सङ्गसे ही भक्ति पायी जाती है। शास्त्रका कथन है—

भक्तिस्तु भगवद्भक्तसङ्गेन परिजायते।
सत्सङ्गः प्राप्यते पुंभिः सुकृतैः पूर्व संचितैः॥

(बृहन्नारदीयपुराण ४/३३)

अर्थात् भगवद्भक्तोंके सङ्ग प्रभावसे भक्तिवृत्तिका उदय होता है। जीव अपने पूर्व-पूर्व जन्मोंके सञ्चित सुकृत्यके फलसे ही विशुद्ध भक्तोंका सङ्ग पाते हैं।

हमारी पुंज-पुंज भक्तिपोषक सुकृति थी, इसीसे हमने आपका सत्सङ्ग पाया है। अब हम आपके सत्सङ्गसे हरिभक्ति लाभ करनेकी आशा करते हैं।

वैष्णवोंकी परस्पर दीनता और प्रणति समाप्त होनेपर उस भक्त गोष्ठीमें वैष्णवदास एक तरफ बैठकर गोष्ठीकी शोभा बढ़ाने लगे, उनके हाथमें हरिनामकी माला शोभा पा रही थी।

उस गोष्ठीमें उस दिन एक भाग्यवान पुरुष बैठे हुए थे। वे बचपनसे ही अरबी-फारसी भाषा पढ़कर बहुत कुछ मुसलमान राजाओंके व्यवहारका अनुकरण करनेके कारण देशमें एक प्रतिष्ठित व्यक्ति समझे जाते थे। निवास शान्तिपुरमें था। ब्राह्मण जाति और उसमें भी कुलीन बड़ी जमींदारी थी। लोगोंमें दलबन्दी करानेके काममें बड़े निपुण थे। बहुत दिनों तक उन पदोंको भोगकर भी उनमें उन्हें कुछ सुख नहीं मिला। अन्तमें उन्होंने हरिनाम-सङ्कीर्त्तन आरम्भ कर दिया।

बाल्यकालमें ही दिल्लीके बड़े-बड़े उस्तादोंसे इन्होंने राग-रागनियोंकी शिक्षा पायी थी। उसी शिक्षाके बलसे वे हरिनाम-सङ्कीर्त्तनमें भी मुखिया बन बैठे थे। यद्यपि वैष्णवलोग उनके उस्तादी सुरोंको पसन्द नहीं करते थे, तथापि सङ्कीर्त्तनमें वे थोड़ी-थोड़ी गलेबाजी दिखाकर अपना माहात्म्य प्रकट करते-करते प्रशंसाकी अभिलाषासे औरोंका मुँह ताकने लगते थे। कुछ दिनों तक ऐसा करते-करते उन्हें नाम सङ्कीर्त्तनमें कुछ सुख मिलने लगा। उसके बाद उन्होंने श्रीनवद्वीपमें वैष्णवोंके निकट गानकीर्त्तनमें सम्मिलित होनेके लिए श्रीगोद्रुममें आकर एक वैष्णवाश्रममें डेरा डाला। एक दिन एक वैष्णवके साथ वे प्रद्युम्नकुञ्जकी मालती-माधवी

मण्डपमें बैठे थे। वैष्णवोंके परस्पर व्यवहार दैन्यप्रकाश और वैष्णवदासकी बातें सुनकर, उनके मनमें कई सन्देह उपस्थित हुए। वे बोलनेमें निपुण थे, इसलिए साहसपूर्वक उस वैष्णव सभामें जिज्ञासा कर बैठे। उनका प्रश्न इस प्रकार था—

मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्रोंमें ब्राह्मणवर्णको सर्वोत्तम वर्ण कहा गया है। उनके अनुसार ब्राह्मणोंके लिए सन्ध्या-वन्दना आदि नित्य कर्म हैं। यदि वह कार्य नित्य हैं तो वैष्णवोंके व्यवहार उनके विरुद्ध क्यों होते हैं?

वैष्णव तर्क-वितर्क पसन्द नहीं करते। कोई तार्किक ब्राह्मण यदि ऐसा प्रश्न करता तो वे कलहके भयसे कोई उत्तर न देते। किन्तु समागत प्रश्नकर्त्ताको हरिनाम-गान करनेवाला देखकर उन सबने कहा—श्रीयुत परमहंस बाबाजी महाशय यदि इस प्रश्नका उत्तर दें तो हमें आनन्द होगा।

परमहंस बाबाजीने वैष्णवोंका आदेश सुनकर दण्डवत् प्रणाम करनेके बाद कहा—महोदयगण, यदि आप लोगोंकी इच्छा हो तो भक्त-प्रवर श्रीवैष्णवदास उक्त प्रश्नका सम्यक् उत्तर दें। सभीने इसका अनुमोदन किया।

वैष्णवदास श्रीगुरुदेवकी बात सुनकर अपनेको धन्य समझकर नम्रतापूर्वक कहने लगे—मैं बहुत ही अधम और अकिञ्चन हूँ। ऐसी महती विद्वत्सभामें मेरा कुछ बोलना नितान्त अनुचित है, फिर भी गुरुदेवकी आज्ञा सर्वदा शिरोधार्य है। मैंने गुरुदेवके मुखारविन्दसे निकले हुए जिस तत्त्वोपदेशरूप मधुका पान किया है, उसीको स्मरण करके यथाशक्ति बोलता हूँ। इतना कहकर वैष्णवदासने परमहंस बाबाजीकी चरणरज अपने सारे शरीरमें लगा खड़े होकर कहना आरम्भ किया—

जो साक्षात् परमानन्दमय भगवान् हैं, ब्रह्म जिनकी अङ्गकान्ति हैं और परमात्मा जिनके अंश हैं, समस्त प्रकाश और विलासके आधारस्वरूप वे श्रीकृष्णचैतन्यदेव ही हम लोगोंकी बुद्धिवृत्तिमें प्रेरणा करें। मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्र वेदशास्त्रके अनुगत विधि—निषेध—निर्णायक शास्त्र होनेके कारण इनका जगत्में सर्वत्र आदर है। मानव प्रकृति दो प्रकारकी होती है—(१) वैधी और (२) रागानुगा। जब तक मानवकी बुद्धि मायाके अधीन रहती है, तब तक मनुष्य-प्रकृति अवश्य ही वैधी रहेगी। मायाके बन्धनसे मनुष्यकी बुद्धि मुक्त होनेपर फिर वैधी प्रवृत्ति नहीं रहती—रागानुगा प्रकृति प्रकट होती है। रागानुगा प्रकृति ही जीवकी शुद्ध प्रकृति—स्वभावसिद्ध, चिन्मय और जड़मुक्त है। श्राकृष्णकी इच्छासे शुद्ध चिन्मय जीवका जड़ सम्बन्ध दूर होता है, किन्तु जब तक कृष्णकी इच्छा नहीं होती, तब तक जड़ सम्बन्ध केवल क्षयोन्मुख होता है। उस क्षयोन्मुख अवस्थामें मानवबुद्धि स्वरूपतः जड़मुक्त नहीं होती है, अर्थात् उस समय भी वस्तुतः जड़मुक्त नहीं होती है। वस्तुतः जड़मुक्त होनेपर शुद्ध जीवकी रागात्मिका वृत्ति स्वरूपतः और वस्तुतः उदित होती है। व्रजवासियोंकी प्रकृति ही रागात्मिका प्रकृति है। क्षयोन्मुख अवस्थामें उसी प्रकृतिके अनुगत होनेसे जीव रागानुग हो पड़ते हैं।

जीवके लिए यह अवस्था बड़ी ही उपादेय होती है। वह अवस्था जब तक उपस्थित नहीं होती, तब तक मानव-बुद्धिका अनुराग मायिक वस्तुओंमें ही रहता है। निसर्गके कारण (मायाके कारण परिवर्तित स्वभावसे) मूढ़ जीव मायिक विषयोंके अनुरागको ही अपना स्वाभाविक अनुराग समझने की भूल करता है। चिद्विषयका स्वाभाविक विशुद्ध अनुराग उस

समय भी नहीं होता। मायिक विषयमें "मैं और मेरा" ये दो अभिमान गाढ़े रूपसे कार्य करते रहते हैं। "यह देह मेरी है और देह ही मैं हूँ" इस बुद्धिके द्वारा इस जड़देहके सुखदायक व्यक्ति और वस्तुके प्रति प्रीति तथा सुखबाधक व्यक्ति और वस्तुके प्रति द्वेष सहज ही हुआ करता है। इस राग-द्वेषके वशीभूत होकर मूढ़ जीव दूसरेके प्रति शारीरिक, सामाजिक और नैतिक प्रीति या विद्वेष प्रकटकर उसे शत्रु-मित्र जानता है—विषयोंके लिए विवाद करता है। कनक और कामिनीमें मिथ्या प्रीति करके सुख-दुःखके अधीन हो पड़ता है। इसीका नाम संसार है। इस संसारमें आसक्त होकर जन्म, मरण, कर्मफल, उच्च-नीच अवस्था लाभकर मायाबद्ध जीव भ्रमण करते हैं। इन जीवोंको चिदनुराग सहज नहीं जान पड़ता। चिदनुराग क्या चीज है, इसकी भी उन्हें उपलब्धि नहीं होती। अहा! चिदनुराग ही जीवका स्वधर्म और नित्य प्रकृति है—इसे भूलकर जड़ानुरागमें विभोर होकर चित्कण स्वरूप जीव अधोगतिका भोग करता है। संसारमें प्रायः सभी जीव इस दुद्रशाको दुद्रशा समझते ही नहीं।

रागात्मिका प्रकृति प्राप्तिकी बात तो दूर रहे, मायाबद्ध जीव रागानुगा प्रकृति से भी बिलकुल अपरिचित होता है। कभी-कभी साधुओंकी कृपासे जीवोंके हृदयमें रागानुगा प्रकृतिका उदय होता है। इसलिए रागानुगा प्रकृति विरल और दुर्लभ है। संसार उस प्रकृतिसे वञ्चित है।

किन्तु भगवान् सर्वज्ञ और कृपामय हैं। उन्होंने देखा—मायाबद्ध जीव चित्-प्रवृत्तिसे वञ्चित हो गया है। अब उसका मङ्गल किस प्रकार हो? मायामुग्ध जीवोंमें कृष्ण-स्मृतिके उदित होनेका उपाय क्या हो सकता है? साधुसङ्ग होनेसे जीव अपनेको कृष्णदास समझ सकेगा। किन्तु साधुसङ्गके लिए कोई निर्दिष्ट विधि नहीं है। अतः इसकी आशा भी कैसे की जा सकती है, कि वह सबके लिए सम्भव या सुलभ होगा? अतएव साधारण लोगोंके लिए कोई विधिमार्ग न होनेसे उनका कोई कल्याण नहीं होगा। भगवान्की ऐसी ही कृपा शास्त्र-दृष्टिसे उदित हुए। आर्यहृदयरूपी आकाशमें भगवत्-कृपा-प्रसूत शास्त्र-सूर्यने उदित होकर सर्वसाधारणके लिए सब प्रकारकी आज्ञा-विधियोंका प्रचार किया।

सर्वप्रथम वेद-शास्त्र हुए। वेद-शास्त्र के किसी भागमें कर्म, किसी भागमें ज्ञान और किसी भागमें प्रीतिरूपाभक्तिके उपदेश दिये गये। मायामुग्ध जीवोंकी अनेक अवस्थाएँ हैं। कोई बिलकुल ही मूढ़ है, तो कोई कुछ विज्ञ हैं और कोई-कोई बहुत-से विषयोमें विज्ञ होते हैं। जीवकी बुद्धि जैसी होती है, शास्त्रमें उसके प्रति वैसा ही आदेश है। इसीका नाम अधिकार है। यद्यपि जीवोंकी संख्याके अनुसार अधिकार अनन्त हैं, फिर भी मुख्य-मुख्य लक्षणोंके अनुसार वे तीन भागों में विभक्त हैं—(१) कर्माधिकार (२) ज्ञानाधिकार और (३) प्रेमाधिकार। वेद शास्त्रोंमें ऐसे ही त्रिविध अधिकार निर्दिष्ट हुए हैं। वेदमें विधियोंका निर्माण कर इन तीनों अधिकारोंके कर्त्तव्याकर्त्तव्यका निर्णय किया गया है। इससे निर्दिष्ट धर्मका नाम वैध-धर्म है। मनुष्य जिस प्रवृत्तिसे परिचालित होकर उस धर्मको ग्रहण करते हैं, उस प्रवृत्तिका नाम वैधी-प्रवृत्ति है। जिसमें वैधी-प्रवृत्ति नहीं, वे नितान्त अवैध हैं, अवैध मनुष्य पाप कर्मोंमें निरत रहते हैं। उनका जीवन सदा अवैध कर्मोंमें ही लगा रहता है। ऐसे लोग वेदसे बहिर्भूत होते हैं और म्लेच्छ इत्यादि नामोंसे पुकारे जाते हैं। वेद शास्त्रोंने जिन त्रिविध अधिकारोंका निर्णय किया है, उन्हींका ऋषियोंने संहिता शास्त्रोंमें विस्तारकर वेदानुगत अन्यान्य

शास्त्रोंको प्रकाशित किया है। मनु आदि पण्डितोंने बीस धर्मशास्त्रों में कर्माधिकारका वर्णन किया है। दार्शनिकोंने तर्क और विचार शास्त्रोंमें ज्ञानाधिकारका विचार किया है। पौराणिकों तथा विशुद्ध तान्त्रिकोंने भक्ति तत्त्वके अधिकारगत उपदेशों और क्रियाओंका निर्णय किया है। ये सभी वैदिक हैं। उन शास्त्रोंके नवीन मीमांसकोंने सर्व शास्त्रोंके तात्पर्यकी ओर दृष्टि न रखकर कहीं-कहीं किसी एक अङ्गकी सर्वोत्कृष्टताका वर्णनकर कितने ही लोगोंको वितर्क और सन्देहके गड्ढेमें ढकेल दिया है। उन शास्त्रोंकी अपूर्व मीमांसारूप गीताशास्त्रको देखनेसे प्रतीत होता है कि कर्मका उद्देश्य ज्ञान न होनेसे वैसे कर्मको पाषण्ड समझकर परित्याग करना ही उचित है। फिर कर्मयोग और ज्ञानयोग भक्तिके उद्देश्यसे न हों, तो कर्म और ज्ञान दोनों ही पाषण्ड लगते हैं। कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग वास्तवमें एक ही योग है —यही वैदिक वैष्णव सिद्धान्त है।

मायामुग्ध जीवको पहले ही कर्मका आश्रय ग्रहण करना पड़ता है। इसके बाद कर्मयोग और ज्ञानयोग, अन्तमें भक्तियोगको ग्रहण करना पड़ता है। मायामोहित जीवोंको जबतक कोई एक सोपान न दिखा दिया जाये, तब तक वे किसी प्रकार भी ऊँचे भक्ति मन्दिर तक उठ नहीं सकते।

कर्मका आश्रय करना किसे कहते हैं?—जीवन धारणपूर्वक शरीर और मनसे जो कुछ किया जाता है, उसे कर्म कहते हैं; कर्म दो प्रकारके हैं—एक शुभ और दूसरा अशुभ। शुभ कर्मसे जीवको शुभ फल मिलता है और अशुभ कर्मसे अशुभ फल। अशुभ कर्मको 'पाप या विकर्म' कहते हैं। शुभ कर्मके न करनेको 'अकर्म' कहते हैं। ये दोनों ही बुरे हैं। शुभ कर्म ही उत्तम है। शुभ कर्म भी तीन प्रकारके होते हैं—(१) नित्य, (२) नैमित्तिक और (३) काम्य। काम्यकर्म सर्वथा स्वार्थसे परिपूर्ण होनेके कारण हेय है। नित्य और नैमित्तिक कर्मोंका उपदेश शास्त्रोंमें दिया गया है। हेयता और उपादेयताके विचारसे शास्त्रों में नित्य, नैमित्तिक और काम्य कर्मको ही कर्म कहते हैं; अकर्म और कुकर्म कर्म नहीं कहे गये हैं। इस तरह जब काम्यकर्मको भी हेय समझकर त्याग दिया गया है, तब नित्य और नैमित्तिक कर्म ही, कर्म हैं। शरीर, मन, समाज और परलोकके मङ्गलजनक कर्मको नित्यकर्म कहते हैं। नित्यकर्म सभीके लिए कर्त्तव्य कर्म है। जो कर्त्तव्य कर्म किसी निमित्तका आश्रयकर नित्यकर्मकी तरह किया जाता है, उसे नैमित्तिक कर्म कहते हैं। सन्ध्या, वन्दना, पवित्र उपायों द्वारा शरीर और समाज रक्षण, सत्य—व्यवहार और पालनीयका पालन —ये सभी नित्यकर्म हैं। मृत माता—पिताके प्रति कर्त्तव्यका आचरण आदि और पाप उपस्थित होनेपर प्रायश्चित करना—ये सभी नैमित्तिक कर्म हैं।

ये नित्य और नैमित्तिक कर्म सुचारु रूपसे जगत्में अनुष्ठित हो सकें, ऐसा विधान करनेके अभिप्रायसे शास्त्रकारोंने मनुष्यके स्वभाव और उनके स्वाभाविक अधिकारका विचारकर "वर्णाश्रमके नामसे एक धर्मकी व्यवस्था की है।" इस व्यवस्थाका अभिप्राय यह है, कि कर्मोंका अनुष्ठान करने योग्य मनुष्य स्वभावतः चार प्रकारके होते हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। ये लोग जिन अवस्थाओंका अवलम्बनकर संसारमें अवस्थित होते हैं, वे चार प्रकारके हैं, उनका नाम आश्रम है। गृहस्थ, ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यास—ये चार आश्रम हैं। जिन्हें अकर्म और कुकर्म प्रिय हैं, वे अन्त्यज वर्ण और बिना आश्रमके हैं। वर्ण– स्वभाव, जन्म, क्रिया और लक्षण द्वारा निरूपित होता है। जहाँ केवल जन्मके द्वारा

ही वर्ण निरूपित होता है, वहाँ वर्णाश्रमके मूल तात्पर्यकी हानि ही एकमात्र फल होता है। विवाहित अवस्था, अविवाहित अवस्था और स्त्रीसङ्गके त्यागके बाद वैराग्यकी अवस्था, इन अवस्थाओंके अनुसार आश्रम निर्दिष्ट हुए हैं। विवाहित अवस्था ही गृहस्थाश्रम है। अविवाहित अवस्था ब्रह्मचारीका आश्रम है, स्त्रीसङ्गसे विरक्त होनेकी अवस्था वानप्रस्थ और संन्यास है। संन्यास ही सर्वश्रेष्ठ आश्रम है और ब्राह्मण ही सर्वश्रेष्ठ वर्ण है।

सर्वशास्त्र शिरोमणि श्रीमद्भागवत शास्त्रमें (११/१७/१५-२१) ऐसा सिद्धान्त है—

वर्णानामाश्रमाणाश्च जन्मभूम्यनुसारिणी। (३)
आसन् प्रकृतयो नृणां नीचैनचोत्तमोत्तमाः॥१५॥

शमोदमस्तपः शौचं सन्तोषः क्षान्तिराज्र्जवम्।
मद्भक्तिश्च दया सत्यं ब्रह्मप्रकृतयस्त्विमाः॥१६॥

तेजो बलं धृतिः शौयं तितिक्षौदर्यमुद्यमः। (४)
स्थैयं ब्रह्मण्यमैश्वर्यं क्षत्रप्रकृतयस्त्विमाः॥१७॥

आस्तिक्यं दाननिष्ठा च अदम्भो ब्रह्मसेवनम्।
अतुष्टिरर्थोपचयैर्वैश्य—प्रकृतयस्त्विमाः ॥१८॥

शुश्रूषणं द्विजगवां देवानाञ्चाप्यमायया।
तत्र लब्धेन संतोषः शुद्रप्रकृतयस्त्विमाः॥१९॥

अशौचमनृतंस्तेयं नास्तिक्यं शुष्कविग्रहः।

---

(३) वर्ण तथा आश्रमके जन्मस्थानानुसार मनुष्यकी नीच और उत्तम प्रकृति उत्पन्न हुई। पैर और जंघा निचले स्थान हैं, उनसे क्रमशः शूद्र वर्ण और गृहस्थाश्रमके उत्पन्न होनेसे शूद्र और गृहस्थकी नीच प्रकृति हुई॥१५॥

शम, दम, तपस्या, शौच, सन्तोष, क्षमा, सरलता, भगवान् में भक्ति, परदुःख—कातरता, सत्य-यह सब ब्राह्मणोंकी प्रकृति है॥१६॥

(४) प्रताप बल, धैर्य, वीरत्व, सहिष्णुता, उदारता, उद्यम (चेष्टा) स्थैर्य तथा ऐश्वर्य—यह सब क्षत्रियोंका स्वभाव है॥१७॥

भगवान्में विश्वास, दाननिष्ठा, ब्राह्मण-सेवा, अर्थोपार्जनमें प्रयत्न—यह सब वैश्यका स्वभाव है॥१८॥

देव, द्विज तथा गौ आदिकी अकपट रूपसे सेवा तथा गौ—द्विज—देवकी शुश्रूषा द्वारा उपार्जित धनमें सन्तोष रखना—यह सब शूद्रोंका स्वभाव है॥१९॥

अपवित्रता, मिथ्या, चोरी, परलोकमें अविश्वास अनर्थक कलह, काम-क्रोध, असत् विषयोंमें लोभ—यह सब आश्रमभ्रष्ट अन्त्यजोंकी प्रकृति है॥२०॥

अहिंसा, सत्य, अचौर्य, काम-क्रोध-लोभ-शून्यता, सभी जीवोंका प्रिय तथा हित-चेष्टा—यह सभी वर्णोंका धर्म है॥२१॥

कामः क्रोधश्च तर्षश्च सभावोऽन्त्यावसायिनाम्॥२०॥

अहिंसा सत्यमस्तेयमकामक्रोधलोभता।
भूतप्रियहितेहा च धर्मोऽयं सार्ववर्णिकः॥२१॥

इस विद्वत्मण्डलीमें संस्कृत श्लोकोंके अर्थ सभी समझ लेते हैं, अतएव मैं सब श्लोकोंका अनुवाद नहीं कर रहा हूँ। मैं केवल इतना ही कहना चाहता हूँ कि वर्ण तथा आश्रमकी व्यवस्था ही वैध जीवनकी मूल भित्ति है। जिस देशमें वर्णाश्रमव्यवस्थाका जितना ही अभाव है, उस देशमें अधार्मिकताका उतना ही प्राबल्य है।

अब विचारणीय यह है कि कर्मके सम्बन्धमें जिन 'नित्य' और 'नैमित्तिक' दो शब्दोंका व्यवहार होता है, वह किस प्रकार होता है? शास्त्रोंके गूढ़ातिगूढ़ तात्पर्यपर विचारपूर्वक देखनेसे कर्मके सम्बन्धमें वे दोनों शब्द पारमार्थिक भावसे व्यवहृत नहीं होते हैं। केवल व्यवहारिक अथवा औपचारिक भावसे ही व्यवहृत होते हैं। 'नित्य—धर्म' 'नित्यकर्म' 'नित्य-तत्त्व' प्रभृति शब्द केवल जीवके विशुद्ध चिन्मय अवस्थाके अतिरिक्त और किसी हालतमें व्यवहृत नहीं हो सकते; परन्तु कर्मको लक्ष्यकर 'नित्य' शब्दका जो प्रयोग किया जाता है, वह इस संसारमें नित्य तत्त्वको दूरसे लक्ष्य करनेके लिए केवल औपचारिक भावसे कर्मको नित्य कहा जाता है। कर्म कभी नित्य नहीं होता। कर्म, जब कर्मयोगके द्वारा ज्ञानको लक्ष्य करता है एवं ज्ञान, जब भक्तिको लक्ष्य करता है, तभी कर्म और ज्ञान औपचारिक भावसे नित्य कहे जाते हैं। ब्राह्मणोंकी सन्ध्या-वन्दनाको 'नित्यकर्म' कहनेसे केवल यही समझा जाता है कि शारीरिक भौतिक क्रियाओंके माध्यमसे भक्तिको जो दूरसे उद्देश्य करनेवाला मार्ग है, वह नित्यधर्मको लक्ष्य करनेके कारण नित्य है, वह वस्तुतः नित्य नहीं है, इसका नाम उपचार है।

वस्तुतः विचार करनेपर जीवके लिए कृष्णप्रेम ही एकमात्र नित्यकर्म है। इसका तात्त्विक नाम विशुद्ध चिदनुशीलन है। इस कार्यकी साधनाके लिए जिस जड़ कार्यका अवलम्बन करना पड़ता है वह नित्यकर्मका सहायक होता है, अतः ऐसे कर्मोंको नित्यकर्म कहनेमें कोई दोष नहीं है। तात्त्विक रूपसे देखनेपर उसे 'नित्य' न कहकर 'नैमित्तिक' कहना ही उचित होगा। कर्ममें जो नित्य-नैमित्तिक विभाग हैं, वे केवल व्यवहारिक हैं—तात्त्विक नहीं।

वस्तुका विचार करनेसे शुद्ध—चिदनुशीलन ही जीवका नित्य धर्म है—अन्य जितने प्रकारके धर्म हैं वे सभी नैमित्तिक हैं। वर्णाश्रमधर्म, अष्टाङ्गयोग, सांख्यज्ञान तथा तपस्या—ये सभी नैमित्तिक धर्म हैं। जीव यदि बद्ध न होता तो इन धर्मोंकी कोई आवश्यकता न होती। जीव बद्ध होनेसे मायामुग्ध अवस्था ही एक 'निमित्त' है। उस निमित्तसे ही उपरोक्त धर्मसमूह वर्णाश्रम आदि 'धर्म' हुए हैं। अतएव तात्त्विक विचारसे ये सभी नैमित्तिक धर्म हैं।

ब्राह्मणकी श्रेष्ठता, सन्ध्या-वन्दनादि कर्म और उनका कर्मत्याग करनेपर संन्यास ग्रहण—ये नैमित्तिक धर्म हैं। ये सब कर्म धर्मशास्त्रोंमें प्रशस्त और अधिकार भेदसे नितान्त उपादेय माने गये हैं, तथापि नित्यकर्मोंके सामने इनका कोई सम्मान नहीं है। यथा (श्रीमद्भा० ७/६/६)—

विप्राद् द्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभ-
पादारविन्दविमुखात् श्वपचं वरिष्ठम्।
मन्ये तदर्पित-मनो-वचने हितार्थ-
प्राणं पुनाति स कुलं न तु भूरिमानः॥ (५)

सत्य, दम, तप, अमात्सर्य, तितिक्षा, अनसूया, यज्ञ, दान, धृति, वेद-श्रवण और व्रत— ये बारह ब्राह्मणोंके धर्म हैं। ऐसे द्वादश गुण-विशिष्ट ब्राह्मण जगत् में पूजनीय तो हैं, किन्तु यदि इन सब गुणोंसे युक्त होकर भी वे कृष्णभक्ति शून्य हों तो उन ब्राह्मणोंकी अपेक्षा भक्त चाण्डाल होनेपर भी श्रेष्ठ है। तात्पर्य यह है कि चाण्डालके वंशमें जन्म लाभकर साधुसङ्गरूप संस्कार द्वारा जो व्यक्ति जीवके नित्य धर्मरूप चिदनुशीलनमें लगे हैं, वे शुद्ध— चिदनुशीलनरूपी नित्य धर्मानुशीलनसे विरत किन्तु नैमित्तिक धर्मोंमें निरत रहनेवाले ब्राह्मणकी अपेक्षा भी श्रेष्ठ हैं।

जगत्में दो प्रकारके मनुष्य हैं अर्थात् उदित-विवेक और अनुदित-विवेक। अनुदित-विवेक मनुष्य ही संसारमें प्रायः छाये हुए हैं। उदित-विवेक बहुत कम हैं। अनुदित-विवेक मनुष्योंमें ब्राह्मण सबसे श्रेष्ठ है और अपने-अपने वर्णके अनुसार सन्ध्या-वन्दनादि नित्यकर्म सभी कर्मोंमें श्रेष्ठ हैं। उदित-विवेक मनुष्यका दूसरा नाम वैष्णव है। वैष्णवोंका व्यवहार और अनुदित-विवेक मनुष्योंका व्यवहार अवश्य ही पृथक् होगा। पृथक् होनेपर भी वैष्णवोंके व्यवहार अनुदित-विवेक मनुष्योंके शासनके लिए बनाये गये स्मार्त्तविधानके तात्पर्यके विरुद्ध नहीं हैं। शास्त्रोंका तात्पर्य सर्वत्र ही एक है। अनुदित-विवेक मनुष्य शास्त्रके स्थूल वचनोंके एक अंशमें आबद्ध रहनेके लिए बाध्य हैं, उदित विवेक—मनुष्य शास्त्रके तात्पर्यको बन्धु भावसे ग्रहण करते हैं। क्रियामें भेद होनेपर भी तात्पर्यमें भेद नहीं होता। अनधिकारीकी दृष्टिमें उदित विवेक पुरुषोंके व्यवहार साधारण व्यवहारके विरुद्ध प्रतीत होते हैं। किन्तु वास्तवमें उनके पृथक् व्यवहारका मूल तात्पर्य एक है।

उदित-विवेक मनुष्यकी दृष्टिमें साधारण लोगोंके लिए नैमित्तिक धर्म उपदेश योग्य हैं; किन्तु नैमित्तिक धर्म वास्तवमें असम्पूर्ण, हेय, मिश्र और अचिरस्थायी है।

नैमित्तिक धर्ममें साक्षात् चिदनुशीलन नहीं है। चिदनुशीलनके आश्रयमें जड़ानुशीलनको ग्रहण करनेसे वह केवल चिदनुशीलनरूप उपेयकी प्राप्तिका उपायमात्र होता है। उपाय उपेयको देकर शान्त हो जाता है। अतएव उपाय कभी भी सम्पूर्ण नहीं—उपेय वस्तुकी खण्डावस्थामात्र है। अतएव नैमित्तिक धर्म कभी सम्पूर्ण नहीं। उदाहरणके लिए ब्राह्मणोंकी सन्ध्या-वन्दना दि उनके अन्यान्य कर्मोंकी तरह क्षणिक और विधिसाध्य हैं। सहज प्रवृत्तिसे ये सब कार्य नहीं होते। बादमें बहुत दिनों तक वैध व्यापारमें रहते-रहते जब साधुसङ्ग-संस्कारके द्वारा चिदनुशीलनरूपी हरिनाममें रुचि होती है, तब कर्मके आकारमें फिर सन्ध्या-

---

(५) मेरी समझमें बारह गुणोंसे युक्त ब्राह्मण भी भगवान् पद्मनाभके चरणकमलोंसे विमुख हो तो उससे चाण्डाल कुलमें उत्पन्न वह भक्त श्रेष्ठ है, जिसने अपने मन, वचन, कर्म और धन कृष्णके चरणोंमें समर्पित कर रखे हैं, क्योंकि वह चाण्डाल तो अपने कुलके साथ अपने प्राण तकको पवित्र कर लेता है, किन्तु बड़प्पनका अभिमान रखनेवाला वह ब्राह्मण स्वयंको भी पवित्र नहीं कर सकता।

वन्दनादि नहीं रह रह जाती। हरिनाम सम्पूर्ण चिदनुशीलन है। सन्ध्या-वन्दनादि केवल उक्त प्रधान कार्यके उपायमात्र हैं। वे कदापि सम्पूर्ण तत्त्व नहीं हो सकते हैं।

नैमित्तिक धर्म सदुद्देशक होतेके कारण आदरणीय होनेपर भी हेयमिश्र है। चित्-तत्त्व ही उपादेय है। जड़ और जड़का सङ्ग ही जीवके लिए हेय है। नैमित्तिक धर्ममें अधिक जड़त्व है और उसमें अवान्तर फल इतने अधिक हैं कि जीव उन सब क्षुद्र फलोंमें पड़ा ही नहीं रह सकता। जैसे ब्राह्मणके लिए ईश्वर उपासना अच्छी बात तो है, किन्तु मैं ब्राह्मण हूँ और अन्य जीव मुझसे हीन हैं, ऐसा मिथ्याभिमान, ब्राह्मणकी उपासनाको तुच्छ फल देनेवाला बना देता है। अष्टाङ्गयोगादिमें 'विभूति' नामक एक तुच्छ फल जीवके पक्षमें बहुत ही अमङ्गलजनक है। 'मुक्ति' और 'भुक्ति'—ये दोनों ही नैमित्तिक धर्मकी अनिवार्य सहचरी हैं। इनसे बचनेसे ही मूल उद्देश्य है, जो चिदनुशीलन सम्भव हो सकता है। अतएव नैमित्तिक धर्ममें जीवके लिए हेयताका अंश ही अधिक है।

नैमित्तिक धर्म अचिरस्थायी होता है। जीवकी सभी अवस्थाओंमें और सभी समयोंमें नैमित्तिक धर्म नहीं होता। जैसे ब्राह्मणका ब्राह्मधर्म, क्षत्रियका क्षात्रधर्म आदि नैमित्तिक धर्म निमित्तके समाप्त होते ही दूर हो जाते हैं। जैसे एक आदमीने ब्राह्मण-जन्मके बाद चाण्डालका जन्म पाया। उस समय उसके ब्राह्मण वर्णका नैमित्तिक धर्म फिर उसका स्वधर्म नहीं रहेगा। 'स्वधर्म' शब्द भी यहाँ औपचारिक है। प्रत्येक जन्ममें जीवके स्वधर्मका परिवर्तन होता है किन्तु किसी भी जन्ममें जीवके नित्यधर्मका परिवर्तन नहीं होता। नित्यधर्म ही वास्तवमें जीवका स्वधर्म है नैमित्तिक धर्म अचिरस्थायी है।

तब यदि पूछिये कि वैष्णवधर्म क्या है? तो उत्तर यह है कि वैष्णवधर्म ही जीवका नित्यधर्म है। वैष्णव (जीव) जड़मुक्त अवस्थामें विशुद्ध चिदाकारमें कृष्ण प्रेमका अनुशीलन करते हैं और जड़बद्ध अवस्थामें उदित-विवेक होकर जड़ और जड़-सम्बन्धी विषयोंमेंसे चिदनुशीलनके अनुकूल विषयोंको आदरपूर्वक ग्रहण करते हैं तथा सभी प्रतिकूल विषयोंका वर्जन करते हैं। वे शास्त्रीय विधि-निषेधके अधीन होकर कोई काम नहीं करते। जो विधि जब हरिभजनके अनुकूल होती है, उसका आदर वे उसी समय करते हैं और जो प्रतिकूल होती है तो उसी क्षण उसका अनादर करते हैं। निषेधके सम्बन्धमें भी वैष्णवोंका व्यवहार वैसा ही होता है। वैष्णव ही जगत्की बन्धु हैं। वैष्णव ही जगत्की मङ्गलकारी हैं। मुझे जो कुछ कहना था, उसे आज मैंने वैष्णवसभामें विनीत भावसे कह सुनाया। आप लोग मेरे दोषोंको क्षमा करें।

यह कहते हुए जब वैष्णवदास वैष्णवसभाको साष्टाङ्ग प्रणाम कर एक किनारे बैठ गये, उस समय वैष्णवोंकी आँखोंसे अश्रुधारा प्रवाहित होने लगी। सभी लोग एक साथ धन्य-धन्य कहने लगे, साथ ही गोद्रुमके कुञ्जमें भी धन्य-धन्यकी ध्वनि गूँज उठी।

जिज्ञासु गायक ब्राह्मणको विचारके अनेक स्थलोंपर निगूढ़ सत्य दिखायी दिया और किसी-किसी स्थलपर कुछ-कुछ सन्देह भी उपस्थित हुआ। जैसा भी हो उनके हृदयमें वैष्णवधर्मका श्रद्धा—बीज कुछ पुष्ट हुआ। उन्होंने हाथ जोड़कर कहा—महोदयगण! मैं वैष्णव नहीं हूँ, किन्तु हरिनाम सुनते-सुनते वैष्णव हुआ हूँ। आपलोग यदि कृपाकर मुझे कुछ-कुछ शिक्षा दें तो मेरे बहुत-से सन्देह दूर होंगे।

श्रीप्रेमदास परमहंस बाबाजी महाशयने कृपाकर कहा—आप समय-समयपर श्रीमान्

वैष्णवदासका सङ्ग किया करें। ये शास्त्रोंके बड़े पण्डित हैं। वेदान्त-शास्त्रके गम्भीर अध्ययनके बाद संन्यास ग्रहण कर ये वाराणसीमें वास करते थे; हमारे प्राणपति श्रीकृष्णचैतन्यने असीम कृपा प्रकाश करके इन्हें इस नवद्वीपमें खींच लिया है। इस समय ये वैष्णव-तत्त्वके पूर्ण पण्डित हैं। हरिनाममें इनकी प्रगाढ़ निष्ठा हो गयी है।

प्रश्नकर्त्ताका नाम श्रीकालिदास लाहिड़ी था। उन्होंने बाबाजी महाशयकी बातें सुनकर मन-ही-मन वैष्णवदासको गुरु मान लिया। उन्होंने सोचा कि ये ब्राह्मणकुलमें जन्मे हैं और संन्यास आश्रम भी ग्रहण किये हुए हैं। अतः ब्राह्मणको उपदेश देनेके योग्य हैं; इसके अतिरिक्त वैष्णव-तत्त्वमें इनका विशेष पाण्डित्य दिखायी देता है। इनसे वैष्णवधर्मकी कितनी ही बातें सीखी जा सकती हैं। ऐसा सोचकर लाहिड़ी महाशयने वैष्णवदासके चरणोंमें दण्डवत् प्रणाम करते हुए कहा—महाशय, आप मुझपर कृपा करें।

वैष्णवदासने भी उन्हें दण्डवत् प्रणामकर उत्तर दिया—आपकी कृपा होनेसे मैं भी कृतार्थ हो जाऊँगा।

उस दिन प्रायः सन्ध्या हो चली थी। लोग अपने-अपने घर चले गये।

लाहिड़ी महाशयका घर गाँवके एक गुप्त स्थानमें था; वह भी एक कुञ्जमें। कुञ्जके बीचमें माधवी मण्डप और तुलसीदेवीका चबूतरा था। दोनों तरफ दो घर थे। आँगन चितावृक्षकी टट्टिओंसे घिरा हुआ था। बेल, नीम और कई फल-फूलोंके वृक्ष वहाँ शोभा पा रहे थे। उस कुञ्जके अधिकारी माधवदास बाबा थे। बाबाजी पहले तो निर्मल सन्त थे, किन्तु सङ्ग-दोषसे उनकी वैष्णवतामें विशेष धब्बा लग गया था। स्त्री-सङ्गके दोषसे दूषित होनेसे भजनादि घट गया था। अर्थाभावके कारण उनका खर्च भी नहीं चलता था। वे अनेक स्थानोंसे भिक्षा ग्रहण करते और एक घर किरायेपर लेकर निर्वाह करते थे। उसी घरमें लाहिड़ी महाशयने डेरा डाला था।

आज आधी रातको लाहिड़ी महाशयकी नींद टूटी। वे बाबा वैष्णवदासकी वक्तृताके सारार्थपर मन-ही-मन विचार करने लगे। इसी समय आँगनमें कुछ शब्द हुआ। उन्होंने बाहर निकलकर देखा कि बाबा माधवदास एक स्त्रीके साथ आँगनमें खड़े होकर बातें कर रहे हैं। उन्हें देखते ही स्त्री भाग गयी। लाहिड़ी महाशयके आगे लज्जित हो बाबा माधवदास चुपचाप खड़े रहे।

लाहिड़ी महाशयने कहा—बाबाजी मामला क्या है?

माधवदासने सजल नयनोंसे कहा—मेरा दुर्भाग्य और क्या कहूँ? हाय! मैं क्या था क्या हो गया। परमहंस बाबाजी महाशय मुझपर कितनी श्रद्धा रखते थे। अब उनके निकट जानेमें मुझे लज्जा आती है।

लाहिड़ी महाशयने कहा—साफ-साफ कहिये तो मेरी समझमें आवे। माधवदासने कहा—जिस स्त्रीको आपने देखा है वह मेरे पूर्वाश्रमकी विवाहिता पत्नी थीं। मेरे वेष ग्रहण करनेके कुछ दिन बाद वह श्रीपाट शान्तिपुरमें गङ्गाके किनारे एक कुटी बनाकर रहने लगीं। इसी तरह बहुत दिन बीत गये। एक दिन मैंने श्रीपाट शान्तिपुरमें गङ्गाके किनारे उन्हें देखकर कहा— "तुमने क्यों गृह त्याग किया?" उन्होंने मुझे समझाया—"संसार अब मुझे अच्छा नहीं लगता। आपकी चरण सेवासे वञ्चित हो, मैं तीर्थवास कर रही हूँ, भिक्षा-शिक्षा करके किसी प्रकार जीवन-निर्वाह कर रही हूँ।" इसपर मैं उनसे और कुछ न कहकर गोद्रुम लौट

आया। वे भी धीरे–धीरे गोद्रुममें आकर एक अहीरके घर रहने लगीं। प्रतिदिन किसी–न–किसी स्थानमें उनसे भेंट हो जाती थी। मैं उनसे पीछा छुड़ानेकी जितनी इच्छा करता वे उतनी ही अधिक घनिष्ठता बढ़ाने लगीं। अब उन्होंने एक आश्रम बनाया है। अधिक रात बीतनेपर यहाँ आकर मेरा सर्वनाश करनेका प्रयत्न करती हैं। चारों ओर मेरी बदनामी फैल रही है। साथ–साथ मेरा भजनादि भी घट गया है। श्रीकृष्णचैतन्यके दासोंमें मैं कुलाङ्गार हूँ। छोटे हरिदासको दण्ड मिलनेके बाद अब मैं भी एक दण्डनीय मनुष्य हो गया हूँ। श्रीगोद्रुमके बाबा लोगोंने कृपाकर अब तक मुझे दण्ड नहीं दिया; किन्तु अब मुझपर श्रद्धा नहीं करते।

उनकी बातें सुनकर लाहिड़ी महाशयने कहा—बाबा माधवदासजी, अब आप सावधान हो जाइये। ऐसा कहते हुए वे अपनी कोठरीमें चले गये। बाबाजी भी अपनी गद्दीपर चले गये।

रातको लाहिड़ी महाशयको नींद न आई। वे मन–ही–मन कहने लगे कि बाबा माधवदास तो बान्ताशी[६] होकर अधःपथको गये। इसलिए अब मेरा भी यहाँ रहना उचित नहीं। क्योंकि सङ्ग–दोष न होनेपर भी बदनामी तो अवश्य होगी। फिर शुद्ध वैष्णवगण मुझे श्रद्धाके साथ शिक्षा नहीं देंगे।

प्रातःकाल ही उन्होंने प्रद्युम्नकुञ्जमें आकर यथाविधि श्रीवैष्णवदासका अभिवादनकर उनसे कुञ्जमें रहनेके लिए एक स्थान माँगा। वैष्णवदासने बाबा परमहंसजी महाराजसे आज्ञा लेकर कुञ्जके एक किनारे एक कुटीमें उनको रहनेकी आज्ञा दे दी। तबसे लाहिड़ी महाशयने उस कुटीमें रहकर समीप ही किसी ब्राह्मणके घर प्रसाद पानेकी व्यवस्था कर ली।

॥तीसरा अध्याय समाप्त॥

(६) जो संन्यासी संन्यास आश्रमका परित्यागकर पुनः गृहस्थाश्रममें प्रवेश करता है, उसे बान्ताशी कहते हैं।

चौथा अध्याय

नित्यधर्मका नामान्तर वैष्णवधर्म है

लाहिड़ी महाशय और वैष्णवदासकी कुटिया पास-ही पास हैं। समीप ही कुछ आम और कटहलके वृक्ष हैं। चारों ओर छोटे-छोटे सुपारीके वृक्ष शोभा पा रहे हैं। आँगनमें एक बहुत बड़ा गोल चबूतरा है। जिस समय श्रीप्रद्युम्न ब्रह्मचारी उस कुञ्जमें रहते थे—यह चबूतरा उसी समयका है। बहुत दिनोंसे वैष्णव लोग उसे 'सुरभि चबूतरा' कहते हैं, उसकी परिक्रमा करते हैं तथा उसे श्रद्धासे प्रणाम भी करते हैं।

सन्ध्या हो गयी है। वैष्णवदास अपनी कुटीमें पत्तोंके आसनपर बैठे हरिनाम जप रहे हैं। कृष्णपक्ष है; इससे धीरे-धीरे रात अधिक अँधेरी हो रही है। लाहिड़ी महाशयकी कुटीमें एक टिमटिमाता हुआ दीपक जल रहा है। अकस्मात् उनके दरवाजेके निकट ही एक सर्प जैसा दिखायी पड़ा। लाहिड़ी महाशयने उसी समय एक लाठी लेकर उस सर्पको मारनेके लिए दीपकको तेज कर दिया। किन्तु दीपक लेकर बाहर आते-आते सर्प गायब हो गया।

लाहिड़ी महाशयने वैष्णवदाससे कहा—आप जरा सावधान रहें, आपकी कुटीमें एक साँप आ गया है।

वैष्णवदास बोले—आप साँपके लिए इतना घबराते क्यों हैं? आइये, मेरी कुटीमें निर्भय होकर बैठिये।

लाहिड़ी महाशय उनकी कुटीमें प्रवेशकर पत्रासनपर बैठ गये। किन्तु उनका मन अभी भी बहुत ही चञ्चल था। उन्होंने कहा—महाशय! इस विषयमें हमारा शान्तिपुर अच्छा है। शहरमें कहीं भी साँप, बिच्छू आदिका भय नहीं है। नदिया-प्रान्तमें सर्वत्र ही साँपका भय बना रहता है। खासकर, गोद्रुम जैसे वन भागोंमें लोगोंका रहना बड़ा भयप्रद है।

वैष्णवदास बाबाजीने समझाया—इन विषयोंसे चित्तको चञ्चल करना उचित नहीं। आपने श्रीमद्भागवतमें महाराज परीक्षित्की कथा अवश्य ही सुनी होगी। उन्होंने साँपका भय परित्यागकर स्थिर चित्तसे श्रीशुकदेवके मुखसे हरिकथामृतका पान करते हुए परमानन्द लाभ किया था। मनुष्यकी चित्-देहमें सर्प आघात नहीं कर सकता। केवल भगवत्कथा-विरहरूपी सर्प ही उस देहके लिए व्याघातजनक है। जड़शरीर नित्य नहीं है, एक न एक दिन इसे अवश्य ही परित्याग करना पड़ेगा। जड़देहके लिए केवल शारीरिक कर्म ही विहित हैं। कृष्णकी इच्छासे जब इस देहका पतन होगा, तब किसी भी चेष्टासे इसकी रक्षा नहीं की जा सकेगी। जब तक शरीरके भङ्ग होनेका समय उपस्थित नहीं होता, तब तक सर्पके बगलमें सोनेसे भी वह कुछ नहीं कर सकता। अतएव साँप आदिका भय दूर करनेपर ही वैष्णवनामसे परिचय दिया जा सकता है। इन भयोंसे यदि चित्त चञ्चल रहा, तो वह श्रीहरिके चरणकमलोंमें कैसे नियुक्त होगा? अतएव सर्पका भय और भयके कारण सर्पको मारनेकी चेष्टाका अवश्यमेव परित्याग कर देना उचित है।

लाहिड़ी महाशयने कुछ श्रद्धाके साथ कहा—आपके साधु वचनोंसे मेरा हृदय निर्भय हो गया। अब मैं समझ गया कि हृदयको उन्नत करनेपर ही परमार्थ लाभ किया जा सकता है। गिरि-कन्दराओंमें बहुत-से महात्मा भगवान्का भजन करते हैं। वे वहाँ जङ्गली जीव-जन्तुका भय नहीं करते, बल्कि असत्सङ्गके भयसे ही बस्तियोंको छोड़कर वनके प्राणियोंके साथ निवास करते हैं।

बाबाजीने कहा—हृदयमें भक्तिदेवीका आविर्भाव होनेसे हृदय सहज ही उन्नत हो जाता है। जगत्‌की समस्त जीवोंका प्रियपात्र बना जा सकता है। सन्त और असन्त सभी जीव वैष्णवोंसे प्रीति करते हैं। अतएव मनुष्यमात्रको वैष्णव होना चाहिये।

यह बात सुनते ही लाहिड़ी महाशयने कहा—आपने नित्यधर्मके प्रति मेरी श्रद्धा उत्पन्न की है। मुझे ऐसा लगता है कि नित्यधर्मके साथ वैष्णव धर्मका कुछ निकटतम सम्बन्ध है। किन्तु नित्यधर्म और वैष्णवधर्म एक हैं इसे मैं अब भी समझ नहीं पाया हूँ।

वैष्णवदास बाबाजी कहने लगे—जगत्‌में वैष्णवधर्मके नामसे दो पृथक्-पृथक् धर्म चलते हैं—पहला शुद्ध—वैष्णवधर्म और दूसरा विद्ध—वैष्णवधर्म। शुद्ध वैष्णवधर्म तत्त्वतः एक होनेपर भी रसकी दृष्टिसे इसके चार भेद है—(१) दास्यगत वैष्णवधर्म, (२) सख्यगत वैष्णवधर्म, (३) वात्सल्यगत वैष्णवधर्म और (४) मधुरगत वैष्णवधर्म। वास्तवमें शुद्ध वैष्णवधर्म एक और अद्वितीय है तथा इसका नाम नित्यधर्म या परधर्म है। "यद् विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति" [१] (मुण्डकोपनिषद् १/३)—यह श्रुतिवाणी शुद्ध वैष्णवधर्मको ही लक्ष्य करती है। इसका विस्तृत विवरण आप क्रमशः जानेंगे।

विद्ध-वैष्णवधर्म दो प्रकारका होता है—कर्मविद्ध वैष्णवधर्म और ज्ञानविद्ध वैष्णवधर्म। स्मार्त्तमतमें वैष्णवधर्मकी जितनी पद्धतियाँ हैं—वे सभी कर्मविद्ध वैष्णवधर्म हैं। इस वैष्णवधर्ममें वैष्णव मन्त्रकी दीक्षा होनेपर भी विश्वव्यापी पुरुषरूप विष्णुको कर्माङ्गके रूपमें माना जाता है। इस मतसे विष्णु समस्त देवताओंके नियन्ता होनेपर भी स्वयं कर्माङ्ग और कर्मके अधीन हैं। कर्म विष्णुकी इच्छाके अधीन नहीं, बल्कि विष्णु ही कर्मकी इच्छाके अधीन हैं। इस मतके अनुसार उपासना, भजन और साधन—सभी कर्माङ्ग हैं, क्योंकि कर्मकी अपेक्षा कोई भी उच्च तत्त्व नहीं है। जरन्मीमांसकोंका वैष्णवधर्म इसी प्रकार बहुत दिनोंसे चला आ रहा है। भारतमें इस मतके बहुत से लोग अपनेको वैष्णव होनेका अहङ्कार करते हैं। वे शुद्ध वैष्णवोंको वैष्णव स्वीकार नहीं करना चाहते। यह उनका दुर्भाग्य है।

भारतमें ज्ञान—विद्ध-वैष्णवधर्मका भी खूब प्रचार है। ज्ञानी सम्प्रदायके मतसे अज्ञेय ब्रह्म-तत्त्व ही सर्वोच्च—तत्त्व है। इनमें निर्विशेष—तत्त्वको प्राप्त करनेके लिए साकार सूर्य, गणेश, शक्ति, शिव और विष्णुकी उपासना करना आवश्यक होता है। ज्ञान पूर्ण हो जानेपर साकार उपास्य दूर हो जाते हैं तथा अन्तमें निर्विशेष ब्रह्मत्व लाभ होता है। अनेक लोग इस मतको स्वीकारकर शुद्ध वैष्णवोंका अनादर करते हैं। इस पञ्चोपासनामें विष्णुकी जो उपासना होती है उसमें दीक्षा, पूजा आदि सभी कुछ विष्णु विषयक होती है। कहीं-कहींपर उनकी उपासना राधाकृष्ण विषयक होनेपर भी, वह शुद्ध वैष्णवधर्म नहीं है।

इस प्रकार विद्ध-वैष्णवधर्मोको पृथक् कर देनेपर जिस शुद्ध वैष्णवधर्मका प्रकाश होता है, वही यथार्थ वैष्णवधर्म है। कलिके प्रभावसे अधिकांश लोग शुद्ध वैष्णवधर्मको न समझ सकनेके कारण विद्ध-वैष्णवधर्मको ही वैष्णवधर्म समझते हैं।

श्रीमद्भागवतके अनुसार मनुष्यमें परमार्थकी प्रवृत्तियाँ तीन प्रकारकी होती हैं—(१) ब्राह्म-प्रवृत्ति, (२) परमात्म-प्रवृत्ति और (३) भागवत-प्रवृत्ति। ब्राह्म-प्रवृत्ति द्वारा निर्विशेष ब्रह्ममें किसी-किसीकी ही रुचि होती है। वे लोग जिस उपायका अवलम्बनकर निर्विशेष होनेकी

---

(१) जिन्हें विशेष रूपसे जाननेसे सब कुछ जानना हो जाता है।

चेष्टा करते हैं, वह पञ्चोपासनाके नामसे विख्यात है।

परमात्म-द्वारा सूक्ष्म परमात्म स्पर्शी योगतत्त्वोंमें भी किसी-किसीकी ही रुचि होती है। वे लोग जिस उपायका अवलम्बनकर परमात्म समाधिकी आशा करते हैं, वे क्रियाएँ कर्म-योग तथा अष्टाङ्गयोगके नामसे विख्यात हैं। इस मतके विष्णु मन्त्र, दीक्षा, विष्णुपूजा और ध्यान आदि सभी कर्माङ्ग हैं, इनमें ही कर्म-विद्ध-वैष्णवधर्मका उदय होता है।

भागवत-प्रवृत्ति द्वारा शुद्ध सविशेष भगवत्स्वरूपके अनुगत भक्तितत्त्वमें सौभाग्यशाली जीवोंकी ही रुचि होती है। इन लोगोंकी भगवदाराधना आदि क्रियाएँ कर्म अथवा ज्ञानके अङ्ग नहीं हैं—शुद्ध भक्तिके अङ्ग हैं। इस मतका वैष्णवधर्म ही शुद्ध वैष्णवधर्म है श्रीमद्भागवतका कथन है—

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज् ज्ञानमद्वयं।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्धते॥ (२)

(श्रीमद्भा० १/२/११)

देखिये, ब्रह्म और परमात्मा भेदोंवाला भगवत्-तत्त्व ही समस्त तत्त्वोंका चरम है। भगवत्-तत्त्व ही शुद्ध विष्णुतत्त्व है। उस तत्त्वके अनुगत जीव ही शुद्ध जीव है और उनकी प्रवृत्तिका नाम ही 'भक्ति' है। हरिभक्ति ही शुद्ध वैष्णवधर्म, नित्यधर्म, जैवधर्म, भागवत् धर्म, परमार्थ और परधर्मके नामसे विख्यात है। ब्रह्म-प्रवृत्ति और परमात्म-प्रवृत्तिसे जितने प्रकारके धर्म उत्पन्न हुए हैं, वे सभी नैमित्तिक हैं—नित्य नहीं हैं। निर्विशेष ब्रह्मानुसन्धानमें भी निमित्त है, अतएव वह भी नैमित्तिक है—नित्य नहीं। जड़विशेष अर्थात् जड़पदार्थोंमें आबद्ध होकर जो जीव उस बन्धनसे मुक्त होनेके लिए प्रयत्न करते हैं, वे जड़बन्धनको निमित्तकर निर्विशेषगतिके अनुसन्धानरूप नैमित्तिक धर्मका आश्रय ग्रहण करते हैं। अतएव ब्राह्म-धर्म नित्य नहीं है। जो जीव समाधि-सुखकी कामनासे परमात्म-धर्मका अवलम्बन करते हैं, वे जड़ीय सूक्ष्म मुक्तिको निमित्त बनाकर नैमित्तिक धर्मका अवलम्बन करते हैं। अतएव परमात्म-धर्म भी नित्य नहीं है। केवल विशुद्ध भागवत धर्म ही नित्य है।

यहाँ तक सुनकर लाहिड़ी महाशयने कहा—महाशय! कृपाकर मुझे शुद्ध वैष्णवधर्मका उपदेश करें। मैं इस अधिक उम्रमें आपके चरणोंका आश्रय लेता हूँ, कृपया आप मुझे ग्रहण करें। मैंने सुना है कि असद्गुरु द्वारा पहलेसे शिक्षा और दीक्षा ग्रहण करनेपर भी सद्गुरु मिलनेपर पुनः शिक्षित और दीक्षित होना उचित है। कई दिनोंसे आपके सदुपदेशोंको सुनकर वैष्णवधर्मके प्रति श्रद्धा हो गयी है। इस समय कृपाकर पहले वैष्णवधर्मकी शिक्षा दें और अन्तमें दीक्षा देकर मुझे पवित्र करें।

बाबाजीने कुछ व्यस्त होकर कहा—महाशय! मैं यथाशक्ति आपको शिक्षा तो दूँगा, किन्तु मैं दीक्षा गुरु होनेके योग्य नहीं हूँ। जैसा भी हो, इस समय आप शुद्ध वैष्णवधर्मकी शिक्षा ग्रहण करें।

संसारके आदि गुरु श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुने बतलाया है कि वैष्णवधर्ममें तीन तत्त्व हैं —(१) सम्बन्ध-तत्त्व, (२) अभिधेय-तत्त्व और (३) प्रयोजन-तत्त्व। इन तीनों तत्त्वोंको

---

(२) तत्त्वविद् वास्तव वस्तुको 'अद्वयज्ञान' कहते हैं। उसी अद्वय—ज्ञानतत्त्व वस्तुको कोई 'ब्रह्म' कोई 'परमात्मा' और कोई 'भगवान' के नामसे पुकारते हैं।

जानकर जो यथायथ आचरण करते हैं वे ही शुद्ध वैष्णव या शुद्ध भक्त हैं।

सम्बन्ध-तत्त्वके अन्तर्गत तीन विषयोंका अलग-अलग निरूपण किया गया है। जड़जगत् या मायिक तत्त्व, जीव या अधीन तत्त्व और भगवान् या प्रभु तत्त्व। भगवान् एक और अद्वितीय हैं, वे सर्वशक्तिसम्पन्न, सर्वाकर्षक, ऐश्वर्य और माधुर्यके एकमात्र निलय तथा जीव शक्तिके आश्रय हैं। माया और जीवोंके एकमात्र आश्रय होकर भी वे सुन्दर रूपमें एक परम स्वतन्त्रस्वरूप हैं। उनके अङ्गोंकी प्रभा दूरसे निर्विशेष-ब्रह्मके रूपमें प्रतिभासित होती है। उनकी ऐशीशक्ति जीव और जगत्की सृष्टिकर अपने अंशसे परमात्माके रूपसे जगत्में प्रवेश करती है। यही परमात्म या ईश्वर तत्त्व है। ऐश्वर्य प्रधान प्रकाशमें वे परव्योममें—वैकुण्ठमें नारायण हैं और वही अपने माधुर्य-प्रकाश वृन्दावनमें गोपीजनवल्लभ श्रीकृष्णचन्द्र हैं। उनके प्रकाश और विलास नित्य और अनन्त हैं। उनके समान कोई या कुछ भी नहीं है, उनसे अधिक अर्थात् श्रेष्ठ होनेकी बात ही क्या है? उनकी पराशक्ति द्वारा उनके समस्त प्रकाश या विलास प्रकटित होते हैं। पराशक्तिके अनेक विक्रम हैं, जिनमेंसे जीवोंके निकट केवल तीन विक्रम परिचित हैं। पहला चित्-विक्रम—जिसके द्वारा उनकी लीला-सम्बन्धी सब कुछ सिद्ध होता है। दूसरेका नाम जीव-विक्रम या तटस्थ-विक्रम है जिससे अनन्त जीवोंका उदय और अवस्थान होता है। और तीसरेका नाम माया-विक्रम है—जिसके द्वारा जगत्की समस्त मायिक वस्तु, काल और कर्मकी सृष्टि हुई है। जीवके साथ भगवान्का, भगवान् के साथ जीव और जड़का तथा जड़के साथ भगवान् और जीवका जो सम्बन्ध है—उसे सम्बन्ध-तत्त्व कहते हैं। सम्बन्ध-तत्त्वको पूरी तरहसे जान लेनेपर सम्बन्ध-ज्ञान होता है। सम्बन्ध-ज्ञानसे रहित व्यक्ति किसी प्रकार भी शुद्ध वैष्णव नहीं हो सकते।

लाहिड़ी महाशयने कहा—मैंने वैष्णवोंसे सुना है कि वैष्णव केवल भावुक होते हैं, उन्हें ज्ञानकी आवश्यकता नहीं होती। यह बात कहाँ तक ठीक है? मैंने अब तक हरिनाम-सङ्कीर्त्तनमें भावको ही संग्रह करनेका प्रयत्न किया है, किन्तु ज्ञानके लिए तो कोई चेष्टा नहीं की।

बाबाजीने कहा—भावका उदय होना ही वैष्णवोंके लिए परम फल है; किन्तु भाव शुद्ध होना चाहिये। जो लोग अभेद ब्रह्मानुसन्धानको परम फल जानकर साधनकालमें भावकी शिक्षा ग्रहण करते हैं, उनका भाव और उनकी चेष्टा शुद्धभाव नहीं है—शुद्ध भावका अनुकरणमात्र है। शुद्ध भावका एक बिन्दु भी जीवको चरितार्थ कर देता है। किन्तु ज्ञानविद्ध भावुकताको जीवोंके लिए केवल उत्पात ही समझना चाहिये। जिनके हृदयमें अभेद ब्रह्मभाव है, उनका भक्तिभाव केवल लोक वञ्चनामात्र है। अतएव शुद्ध भक्तोंके लिए सम्बन्ध-ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है।

लाहिड़ी महाशयने श्रद्धाके साथ पूछा—ब्रह्मकी अपेक्षा भी क्या कोई उच्च-तत्त्व है? भगवान्से यदि ब्रह्मकी प्रतिष्ठा है तो ज्ञानी लोग ब्रह्मको छोड़कर भगवान्का भजन क्यों नहीं करते?

बाबाजीने कुछ हंसकर उत्तर दिया—ब्रह्मा, सनकादि चारों कुमार, शुक, नारद और देवदेव महादेव—सभी लोगोंने अन्तमें भगवान्के चरणोंमें ही आश्रय लिया।

लाहिड़ी महाशयने शङ्का की—भगवान्का रूप है। अतएव सीमा-विशिष्ट होकर भी वे

असीम ब्रह्मके आश्रय कैसे हो सकते है?

बाबाजीने उनकी शङ्काका समाधान करते हुए उत्तर दिया—जड़-जगत्‌में आकाश नामक एक वस्तु है, वह भी असीम है। ऐसी दशामें ब्रह्मके असीम होनेसे आकाशकी अपेक्षा ब्रह्मका अधिक माहात्म्य ही क्या रहा? भगवान् अपनी अङ्गकान्तिरूप शक्ति द्वारा असीम होकर भी एक ही समय युगपत् स्वरूपवान् भी हैं। ऐसी और किसी वस्तुको देखा है? इसी अद्वितीय स्वभावके कारण भगवान् ब्रह्मतत्त्वकी अपेक्षा कहीं अधिक श्रेष्ठ हैं। उनका स्वरूप परमाकर्षक तो है ही अपितु उनमें सर्वव्यापित्व, सर्वज्ञत्व, सर्वशक्तित्व, परमदयालुता और परमानन्द भी पूर्णरूपेण विराजमान हैं। ऐसा सर्वगुणसम्पन्न स्वरूप उत्तम है अथवा एक अज्ञात सर्वव्यापी अस्तित्व—जिसमें कोई गुण नहीं, कोई शक्ति नहीं? वास्तवमें ब्रह्म भगवान्‌का ही एक निर्विशेष भावमात्र है। भगवान्‌में निर्विशेषत्व और सविशेषत्व—दोनों ही सुन्दर रूपमें एक ही समय अवस्थित हैं। ब्रह्म उनका एक अंशमात्र है। निराकार, निर्विकार, निर्विशेष, अपरिज्ञेय और अपरिमेय आदि भाव अदूरदर्शी व्यक्तियोंको प्रिय होता है। किन्तु जो सर्वदर्शी हैं, वे पूर्ण तत्त्वके अतिरिक्त और किसीमें मन नहीं लगाते। वैष्णव निराकार तत्त्वके प्रति विशेष श्रद्धा नहीं रखते। क्योंकि वह नित्यधर्म और शुद्धप्रेमका विरोधी है। परमेश्वर श्रीकृष्णचन्द्र सविशेष और निर्विशेष दोनों ही तत्त्वोंके आश्रय हैं, वे परमानन्दके समुद्र हैं तथा समस्त शुद्धजीवोंके आकर्षक हैं।

लाहिड़ी—श्रीकृष्णका जन्म है, कर्म है और शरीर त्याग है—तब उनकी श्रीमूर्ति नित्य कैसे हो सकती है?

बाबाजी—श्रीकृष्णमूर्ति सच्चिदानन्द है—उसमें जड़-सम्बन्धीय जन्म, कर्म और देह त्याग नहीं है।

लाहिड़ी—तब महाभारतादि ग्रन्थोंमें वैसा वर्णन क्यों किया गया है?

बाबाजी—नित्य तत्त्व वाणीके अतीत होनेके कारण उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। शुद्ध जीव अपने चिद्विभागमें कृष्णमूर्ति और कृष्णलीलाका दर्शन करता है। वाणी द्वारा व्यक्त किये जानेपर वह तत्त्व जड़ीय इतिहासकी तरह वर्णित हो जाता है। जो लोग महाभारत आदि ग्रन्थोंका सार ग्रहण करनेमें समर्थ हैं, वे कृष्णलीला आदिका जैसा अनुभव करते हैं, जड़-बुद्धिवाले उन्हीं वर्णनोंको दूसरी तरहसे अनुभव करते हैं।

लाहिड़ी—कृष्णमूर्तिका ध्यान करनेपर हृदयमें देश और कालसे परिच्छिन्न एक भाव उदित होता है। उसे पाकर श्रीमूर्त्तिका ध्यान कैसे हो सकता है?

बाबाजी—ध्यान मनका कर्म है। मन जब तक शुद्ध चिन्मय नहीं होता, ध्यान तब तक कभी चिन्मय नहीं हो सकता। भक्ति-भावित मन अर्थात् भक्ति द्वारा शुद्ध किया हुआ मन क्रमशः चिन्मय हो जाता है, उस मनसे जो ध्यान होता है वह अवश्य चिन्मय होता है। भजनानन्दी वैष्णव लोग जब कृष्णनाम लेते हैं, उस समय जड़ जगत् उनका स्पर्श नहीं करता है। वे चिन्मय हैं। चिन्मय जगत्‌में रहकर कृष्णकी दैनन्दिन लीलाका ध्यान करते हैं तथा अन्तरङ्ग सेवा-सुख भोग करते हैं।

लाहिड़ी—कृपाकर मुझे चिदनुभव प्रदान करें।

बाबाजी—समस्त जड़ीय सन्देह और कुतर्कका परित्यागकर जब आप निरन्तर नामकी आलोचना करेंगे, तब शीघ्र ही कुछ दिनोंमें चिदनुभव स्वयं उदित हो जायेगा। जितना

अधिक कुतर्क करेंगे, मनको उतना ही अधिक जड़बन्धनमें आबद्ध करते जायेंगे। और जितना ही अधिक नामरसका उदय करायेंगे जड़बन्धन उतना ही शिथिल होता जायेगा और हृदयमें चित्-जगत् प्रकाशित होगा।

लाहिड़ी—मैं चाहता हूँ कि आप कृपाकर मुझे बतला दें कि चिदनुभव क्या चीज है?

बाबाजी—'मन' वाणीके साथ उस तत्त्वको न पाकर लौट आता है। केवल चिदानन्दके अनुशीलनसे ही वह पाया जाता है। आप वितर्क छोड़कर कुछ दिन नाम कीजिये। नामके प्रभावसे आपके सारे सन्देह अपने आप दूर हो जायेंगे और आप इस विषयमें किसीसे भी कुछ न पूछें।

लाहिड़ी—मैंने जान लिया कि श्रीकृष्णमें श्रद्धाकी भावना रखते हुए उनका नामरसका पान करनेसे पूर्ण परमार्थ लाभ किया जा सकता है। मैं सम्बन्ध-ज्ञानको अच्छी तरह समझकर पीछे नाम ग्रहण करूँगा।

बाबाजी—यह सबसे अच्छी बात है। आप सम्बन्ध-ज्ञानका अच्छी तरहसे अनुभव करें।

लाहिड़ी—भगवत्-तत्त्व मेरी समझमें आ गया है। भगवान् ही एक परमतत्त्व हैं। ब्रह्म और परमात्मा उनके अधीन हैं। वे सर्वव्यापी होकर भी अपने अपूर्व श्रीविग्रह द्वारा चित्-जगत् में विराजमान हैं। वे सर्वशक्ति समन्वित और सच्चिदानन्द-घन पुरुष हैं। समस्त शक्तियोंके अधीश्वर होनेपर भी वे ह्लादिनीशक्तिके सङ्ग-सुखमें सदा विभोर रहते हैं। अब कृपाकर आप मुझे जीवतत्त्वका उपदेश करें।

बाबाजी—श्रीकृष्णकी अनन्त शक्तियोंमें 'तटस्थाशक्ति' भी एक है। इस शक्तिसे एक ऐसा तत्त्व बहिर्गत होता है जो चित्-जगत् और जड़-जगत् दोनोंमें विचरण कर सके। इस तत्त्वको जीवतत्त्व कहते हैं। जीवका गठन केवल चित्-परमाणु है। क्षुद्र होनेके कारण वह जगत्में आबद्ध होनेके योग्य होता है। किन्तु शुद्ध चित्-गठन होनेके कारण थोड़ा-सा चित्-बल प्राप्त करनेसे ही वह चित्जगत्का निवासी होकर परमानन्द लाभ कर सकता है। जीव दो प्रकारके होते हैं—बद्ध और मुक्त। चित्-जगत्में रहनेवाले जीव मुक्त हैं और माया द्वारा बद्ध होकर जड़-जगत्में आसक्त जीव बद्ध हैं। बद्धजीव दो प्रकार के हैं—उदित-विवेक और अनुदित—विवेक। वे मनुष्य जिनमें परमार्थकी चेष्टा नहीं होती तथा पशु पक्षी—ये अनुदित-विवेक बद्धजीव हैं। जो मनुष्य वैष्णव पथका अवलम्बन करनेवाले हैं, वे उदित-विवेक बद्धजीव हैं, क्योंकि वैष्णवोंके अतिरिक्त और किसीमें भी परमार्थकी सच्ची चेष्टा नहीं होती। इसलिए शास्त्रोंमें वैष्णव-सेवा और वैष्णव-सङ्गको सब कर्मोंसे श्रेष्ठ बतलाया गया है। जिस शास्त्रीय श्रद्धाका अवलम्बन करनेसे उदित-विवेक जीवोंको (वैष्णवोंको) कृष्णनामके भजनमें रुचि उत्पन्न होती है, उसीसे उनमें वैष्णव-सेवा और वैष्णव—सङ्गमें भी रुचि होती है। किन्तु अनुदित-विवेक मानव-शास्त्रीय श्रद्धा द्वारा कृष्णनाम ग्रहण नहीं करते, केवल परम्परागत आचारोंके अनुसार कृष्णमूर्त्तिका अर्चन करते हैं। अतएव इन लोगों में वैष्णव-सेवा और सत्सङ्गमें रुचि नहीं होती।

लाहिड़ी—कृष्णतत्त्व और जीवतत्त्व समझ गया। अब कृपाकर मायातत्त्व भी समझा दीजिये।

बाबाजी—माया अचित् व्यापार है। 'माया' कृष्णकी एक शक्ति है। इसका नाम अपराशक्ति या बहिरङ्गाशक्ति भी है। जैसे छाया प्रकाशसे दूर रहती है, उसी तरह माया भी कृष्ण और कृष्णभक्तिसे दूर रहती है। जड़ जगत् के चौदह भुवन, पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और जड़देहमें माया आमित्वरूप अहङ्कार पैदा करती है। बद्धजीवके स्थूल और लिङ्ग (सूक्ष्म) दोनों देह मायिक हैं। मुक्त होनेपर जीवकी चित्-देह निर्मल हो जाती है। जीव जितना ही अधिक मायामें फँसा रहता है, वह कृष्णसे उतना ही अधिक बहिर्मुख होता है। और मायासे जितना ही अलग रहता है, उतना ही अधिक वह कृष्णका सामुख्य प्राप्त करता है। बद्धजीवोंके भोगके लिए कृष्णकी इच्छासे मायिक ब्रह्माण्डकी सृष्टि होती है। मायिक जगत् जीवोंका नित्य निवासस्थल नहीं है, बल्कि यह जीवोंके लिए कारागारमात्र है।

लाहिड़ी—प्रभो! अब माया, जीव और कृष्णके नित्य सम्बन्धके विषयमें बतलाइये।

बाबाजी—जीव अणु चित् है, और कृष्ण पूर्ण चित् हैं। अतएव जीव कृष्णका नित्यदास है। यह मायिक जगत् जीवोंका कारागृह है। यहाँ सत्सङ्गके बलसे नामका अनुशीलन करते-करते कृष्णकी कृपासे वह चित्-जगत्में अपने सिद्ध चित्-स्वरूपमें प्रतिष्ठित होकर कृष्ण-सेवा-रसका पान करता है। यही तीनों तत्त्वोंका परस्पर निगूढ़ सम्बन्ध है। इसका ज्ञान न होनेसे भजन कैसे हो सकता है?

लाहिड़ी—यदि विद्याध्ययनके द्वारा ज्ञान लाभ होता है तो वैष्णव होनेके लिए क्या पाण्डित्यकी आवश्यकता होती है?

बाबाजी—वैष्णव बननेके लिए किसी विद्या या किसी भाषाकी शिक्षा नहीं लेनी पड़ती। जीवका मायाभ्रम दूर करनेके लिए सद्गुरु सद्वैष्णवोंके चरणोंमें आश्रय लेना चाहिये। वे अपनी वाणी और आचरणके द्वारा सम्बन्ध-ज्ञानका उदय करा देते हैं। इसीका नाम दीक्षा और शिक्षा है।

लाहिड़ी—दीक्षा और शिक्षाके बाद क्या करना होता है?

बाबाजी—सच्चरित्रताके साथ कृष्णका भजन करना होता है। इसीका नाम अभिधेय-तत्त्व है। यह तत्त्व वेदादि समस्त शास्त्रोंमें प्रबल रूपसे अभिहित (कथित) होनेसे श्रीमन् महाप्रभुने इसका नाम अभिधेय-तत्त्व रखा है।

आँखोंमें आँसू भरकर लाहिड़ी महाशयने कहा—गुरो! मैं आपके श्रीचरणोंमें आश्रय लेता हूँ। आपकी मधुर उपदेश वाणियोंको सुनकर मुझे सम्बन्ध-ज्ञान हो गया और साथ-ही-साथ न जाने कैसे आपकी कृपासे मेरे वर्ण, शिक्षा और विद्या आदिके सारे संस्कार दूर हो गये। अब कृपाकर मुझे अभिधेय तत्त्वकी शिक्षा प्रदान करें।

बाबाजी—अब कोई चिन्ता नहीं है। जब आपमें दीनता आ गयी है तब समझ लीजिये कि श्रीचैतन्यदेवने आप पर अवश्य कृपा की है। जगत्में फँसे हुए जीवोंके लिए साधु-सङ्ग ही एकमात्र उपाय है। साधु-गुरु कृपाकर भजनकी शिक्षा देते हैं। उसी भजनके बलसे धीरे-धीरे प्रयोजन लाभ होता है। भगवत्-भजनको ही अभिधेय कहते हैं।

लाहिड़ी—मुझे बतलाइये कि क्या करनेसे भगवान्‌का भजन होता है?

बाबाजी—भक्ति ही हरिभजन है। भक्तिकी तीन अवस्थाएँ हैं—साधन, भाव और प्रेम। पहले साधन-भक्ति करते-करते 'भाव' उदित होता है। उसी भावको पूर्ण होनेपर 'प्रेम' कहते

हैं।

लाहिड़ी—साधन कितने प्रकारके होते हैं? और किस तरहसे उनका साधन करना होता है?

बाबजी—श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु नामक ग्रन्थमें श्रीरूपगोस्वामीने इन विषयोंपर विस्तारसे लिखा है। मैं संक्षेपमें उसे बतलाता हूँ। साधन नौ प्रकारके हैं—

श्रवणं कीर्त्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मा निवेदनम्॥

(श्रीमद्भा० ७/५/२३)

श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन—इन नौ प्रकारकी साधनभक्तिका वर्णन श्रीमद्भागवतमें किया गया है। श्रीरूपगोस्वामीने चौंसठ प्रकारकी साधनभक्तिका साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया है। इसमें एक विशेष बात यह है कि साधनभक्ति दो प्रकारकी होती है—वैधी और रागानुगा। वैधी साधनभक्ति उपर्युक्त नौ प्रकारकी होती है और केवल व्रजवासियोंके अनुगामी होकर उनकी तरह कृष्णकी मानस-सेवाको रागानुगा साधनभक्ति कहते हैं। जो साधक जिस तरहकी भक्तिका अधिकारी है, उसे उसी प्रकारका साधन करना चाहिये।

लाहिड़ी—साधनभक्तिमें अधिकारका विचार किस तरह किया जाता है?

बाबाजी—गुरुदेव जिस श्रद्धालु साधकको शास्त्रकी विधियोंके अधीन रहनेका अधिकारी समझें, उसे सर्वप्रथम वैधी साधनभक्तिकी शिक्षा देंगे। जो रागानुगा भक्तिके अधिकारी हैं, उन्हें रागमार्गीय भजनकी शिक्षा देंगे।

लाहिड़ी—अधिकार कैसे जाना जाता है?

बाबाजी—जिनकी आत्मामें राग-तत्त्वकी उपलब्धि नहीं हुई होती और जिन्हें शास्त्रकी विधियोंके अनुसार उपासनादि करनेकी इच्छा होती है, वे वैधीभक्तिके अधिकारी हैं। हरिभजनमें शास्त्रकी विधियोंके अधीन नहीं रहना चाहते बल्कि उनकी आत्मामें हरिभजनके लिए स्वाभाविक अनुराग उदित हो गया है, वे रागानुगा भजनके अधिकारी हैं।

लाहिड़ी—प्रभो! आप मेरा अधिकार निर्णयकर दीजिये, जिससे मैं अधिकार तत्त्वको समझ सकूँ। वैधी और रागानुगा भक्तिका विचार मैं अभी भी नहीं समझ पा रहा हूँ।

बाबाजी—अपने चित्तकी परीक्षा करनेपर आप अपना अधिकार स्वयं समझ सकते हैं। क्या आप सोचते हैं कि शास्त्रके अनुसार नहीं चलनेसे भजन नहीं हो सकता?

लाहिड़ी—मुझे ऐसा लगता है कि शास्त्र द्वारा निर्धारित की गयी विधियोंके अनुसार साधनभजन करनेसे अधिक उपकार होता है। किन्तु आजकल मेरे मनमें यह बात भी आती है कि हरिभजन रसका समुद्र है, धीरे-धीरे भजनके बलसे इसे पाया जा सकता है।

बाबाजी—अब देखिये, आपके हृदयमें शास्त्रकी विधियोंका ही अधिक आधिपत्य है। अतएव आप वैधीभक्तिका अवलम्बन करें। धीरे-धीरे राग-तत्त्व हृदयमें उदित हो जायेगा।

यह सुनकर लाहिड़ी महाशय सजल नेत्रोंसे बाबाजीके चरणोंमें गिरकर कहने लगे-आप कृपाकर वैधी या रागानुगा भक्तिकी शिक्षा, जिसमें मेरा अधिकार हो—प्रदान करें। अब मैं अनधिकार चर्चा नहीं करना चाहता।

बाबाजीने उन्हें गले लगाकर बैठाया।

लाहिड़ी—अब मैं किस प्रकार भजन करूँ मुझे स्पष्ट आज्ञा दीजिये।

बाबाजी—आप 'हरिनाम' ग्रहण कीजिये। समस्त भजनोंकी अपेक्षा श्रीनामभजन ही अधिक बलवान है। नाम और नामीमें भेद नहीं है। निरपराध होकर नाम ग्रहण करें। नामभजनसे नौ प्रकारका भजन (नवधा भक्ति) हो जाता है। नामका उच्चारण करनेसे श्रवण और कीर्त्तन दोनों हो जाते हैं। नाम करनेके साथ-ही-साथ भगवान्‌की लीलाओंका स्मरण और मन द्वारा पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य तथा आत्मनिवेदन सभी हो जाते हैं।

लाहिड़ी—मेरा चित्त व्याकुल हो गया है। प्रभो! कृपा करनेमें देर न करें।

बाबाजी—आप निरपराध होकर निरन्तर यही नाम लिया करें—

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥

यह कहते-कहते बाबाजीने लाहिड़ी महाशयके हाथमें एक तुलसीकी माला दी। लाहिड़ी महाशय उस मालापर उक्त नाम उच्चारण करते-करते रो पड़े और कहने लगे—प्रभो! आज मुझे इतना आनन्द लाभ हुआ, जिसका मैं वर्णन नहीं कर सकता।

इतना कहते-कहते वे आनन्दके मारे अचेतन होकर बाबाजीके पैरोंमें गिर पड़े। बाबाजीने उन्हें सावधानीसे पकड़कर रखा। बहुत देरके बाद लाहिड़ी महाशय बोले—आज मैं धन्य हो गया। मैंने कभी भी ऐसा सुख नहीं पाया था।

बाबाजी—आप धन्य हैं, क्योंकि आपने श्रद्धापूर्वक श्रीहरिनाम ग्रहण किया। आपने मुझे भी धन्य कर दिया।

उसी दिनसे लाहिड़ी महाशय माला लेकर अपनी कुटीमें निर्भय होकर 'नाम' करने लगे। इसी प्रकार कुछ दिन बीत गये। लाहिड़ी महाशय अब अपने शरीरमें द्वादश तिलक लगाते हैं। भगवान्‌को निवेदन की हुई वस्तुओंके अतिरिक्त कुछ भी भोजन नहीं करते। प्रतिदिन दो लाख हरिनाम करते हैं। शुद्ध वैष्णवोंको देखते ही दण्डवत् प्रणाम करते हैं। परमहंस बाबाजीको नित्य दण्डवत् प्रणाम करनेके बाद कोई दूसरा काम करते हैं। अपने गुरुदेवकी सर्वदा सेवा करते हैं। व्यर्थकी बातों और उस्तादी गानोंमें उनकी अब रुचि नहीं है। लाहिड़ी महाशय पहलेके लाहिड़ी महाशय नहीं रहे। अब वे वैष्णव हो गये हैं।

एक दिन लाहिड़ीने वैष्णवदास बाबाजीको साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणामकर जिज्ञासा की—प्रभो! प्रयोजन-तत्त्व क्या है?

बाबाजी—कृष्णप्रेम ही जीवका प्रयोजन—तत्त्व है। साधन करते-करते भाव उदय होता है। भाव पूर्ण होनेपर प्रेम कहलाता है। वही जीवका नित्यधर्म है, वही नित्य धन है और वही नित्य प्रयोजन है। उस प्रेमके अभावसे ही जीव नाना तरहके कष्ट पाते हैं, जड़बन्धनमें फँस जाते हैं। प्रेमसे बढ़कर और कुछ भी नहीं है। कृष्ण केवल प्रेमके वशमें होते हैं। प्रेम चिन्मय तत्त्व है। आनन्द घनीभूत होनेपर प्रेम होता है।

लाहिड़ी—(रोते-रोते) क्या मैं प्रेम लाभ करनेके योग्य हो सकूँगा?

बाबाजी—(लाहिड़ी महाशयको गले लगाकर) थोड़े ही दिनोंमें आपने साधनभक्तिको भावभक्ति बना लिया है और कुछ ही दिनोंमें आपपर कृष्ण अवश्य कृपा करेंगे।

यह सुनकर लाहिड़ी महाशय आनन्दसे गद्गद होकर बाबाजीके चरणोंमें लोटते-पोटते कहने लगे—अहा! गुरुके अतिरिक्त और कोई वस्तु नहीं है। हाय! मैं इतने दिनों तक क्या करता रहा? गुरुदेवने स्वयं ही कृपाकर विषय-कूपसे मेरा उद्धार किया।

॥चतुर्थ अध्याय समाप्त॥

पाँचवाँ अध्याय

वैधीभक्ति—नित्यधर्म है, नैमित्तिक नहीं

लाहिड़ी महाशय शान्तिपुरके रहनेवाले हैं। उनके दो लड़के हैं। उच्च शिक्षित हैं। एकका नाम चन्द्रनाथ है, उनकी उम्र पैंतीस वर्षकी है। वे जमींदारी और घरके सारे काम-काज सँभालते हैं, चिकित्सा-शास्त्रके पण्डित हैं; धार्मिक मामलोंमें कोई कष्ट उठाना पसन्द नहीं करते, किन्तु ब्राह्मण समाजमें उनका अच्छा सम्मान है। दास-दासी और दरबान आदि रखकर घरका काम खूब ठाठ-बाँटसे करते हैं। छोटे पुत्रका नाम देवीदास है। ये न्यायशास्त्र और स्मृतिशास्त्रका अध्ययन कर अपने घरके सामने एक पाठशाला चलाते हैं। उसीमें वे दस-पन्द्रह लड़कोंको पढ़ाया करते हैं, उनकी उपाधि विद्यारत्न है।

एक दिन शान्तिपुरमें एक चर्चा फैली कि कालीदास लाहिड़ी भेष लेकर वैष्णव हो गये हैं। घाट, बाट और बाजारमें सर्वत्र यही एक चर्चा थी। कोई कहता—"बुड्ढा सठिया गया है। इतने दिनों तक भले आदमीकी तरह रहकर अब पागल हो गया है।" कोई कहता—"अच्छा यह कौन-सा रोग है? घरमें सब सुख हैं, जातिके ब्राह्मण हैं, पुत्र-परिवार सभी आज्ञाकारी हैं, आखिर ऐसे लोग क्यों और किस दुःखसे भेष लेते हैं?" किसीने कहा—"धर्म-धर्म चिल्लाते हुए इधर-उधर घूमनेसे अन्तमें ऐसी ही दुर्गति होती है।" किसी एक सज्जन व्यक्तिने भी कहा कि "कालीदास लाहिड़ी महाशय बड़े पुण्यात्मा हैं। संसारमें सब कुछ है, फिर भी अन्त समयमें हरिनाममें प्रेम हो गया है।" ऐसी ही तरह-तरहकी चर्चाएँ हो रही हैं। किसीने इन बातोंको सुनकर देवीदास विद्यारत्नसे जाकर कह दिया।

विद्यारत्नजी बड़े चिन्तित होकर बड़े भाईके पास जाकर बोले—भाई साहब! पिताजीको लेकर तो बड़ी मुश्किल दिखलाई देती है। वे स्वास्थ्य अच्छा रहनेके बहाने नदियाके गोद्रुममें रहते हैं, किन्तु वहाँ उनका सङ्ग अच्छा नहीं है। गाँवमें तो कान नहीं दिया जाता है।

चन्द्रनाथने कहा—भाई! मैंने भी कुछ-कुछ सुना है। हमारा घराना इतना ऊँचा है; परन्तु पिताजीकी करतूत सुनकर अब मुँह दिखाया नहीं जाता। हम लोग अद्वैत प्रभुके वंशका अनादर करते आ रहे हैं—अब अपने ही घरमें क्या हुआ? आओ अन्दर चलें, माताजीके साथ इस विषयपर विचारकर जैसा उचित होगा करेंगे।

दूसरी मञ्जिलके बरामदेमें चन्द्रनाथ और देवीदास भोजन करने बैठे हैं। एक विधवा ब्राह्मणी भोजन परोस रही है। गृहिणी माता ठाकुरानी बैठकर उन्हें भोजन करा रही हैं। चन्द्रनाथने कहा—माँ! पिताजीकी बात कुछ सुनी है?

माताजी बोलीं—क्यों, वे अच्छी तरह हैं तो? वे तो हरिनाममें पागल होकर श्रीनवद्वीपमें हैं न। तुम लोग उन्हें यहाँ क्यों नहीं लिवा लाते?

देवीदासने कहा—माँ! पिताजी अच्छी तरह तो हैं, लेकिन जैसा सुनते हैं अब उनका अधिक भरोसा नहीं। बल्कि उन्हें यहाँ लानेसे हम लोगोंको ही समाजसे बाहर होना पड़ेगा!

माताजी कुछ घबड़ाकर बोलीं—आखिर उन्हें हुआ क्या है? उस दिन बड़े गोसांईकी वधूके साथ गङ्गा तटपर मेरी अनेक बातें हुई थीं। उन्होंने कहा था—"आपके पतिका बड़ा मङ्गल हुआ है—उन्होंने वैष्णवोंमें खूब सम्मान पाया है।"

देवीदासने तनिक जोरसे कहा-सम्मान पाया है कि हमारा सिर। इस बुढ़ापेमें घरपर

रहकर हम लोगोंकी सेवा ग्रहण करते, ना अब नाना जातिके कौपीनधारियोंका जूठा खाकर हम लोगोंके उच्च वंशमें कलङ्क लगानेपर तुले हुए हैं। हाय रे कलि! इतना देख-सुनकर भी उनकी बुद्धि कैसी हो गयी?

माताजी बोलीं—तब उन्हें यहीं बुला लो न। यहीं किसी गुप्त स्थानमें रखो और समझा बुझाकर उनकी मति पुनः बदल दो।

चन्द्रनाथने कहा—इसके सिवा और किया ही क्या जा सकता है? देवी दो चार आदमियोंको साथ लेकर लुक—छिपकर गोद्रुम जायें और पिताजीको लिवा लावें।

देवीदासने कहा—आपलोग तो जानते हैं, पिताजी मुझे नास्तिक कहकर मेरा अनादर करते हैं। मेरे वहाँ जानेसे हो सकता है, वे मुझसे कुछ बोलें ही नहीं—यही सोच रहा हूँ। शम्भुनाथ देवीदासके ममेरे भाई हैं। लाहिड़ी महाशय इन्हें खूब प्यार करते हैं। इन्होंने लाहिड़ी महाशयके साथ रहकर उनकी बड़ी सेवा की है। तय हुआ कि देवीदास और शम्भुनाथ गोद्रुम जायेंगे। उसी दिन एक नौकरको गोद्रुममें एक ब्राह्मणके घर उनका वासस्थान ठीक करनेके लिए भेज दिया गया।

दूसरे दिन भोजन करनेके बाद देवीदास और शम्भुनाथने गोद्रुमकी यात्रा की। उन्होंने निर्दिष्ट स्थानपर पहुँचकर पालकीसे उतरकर कहारोंको विदा किया। वहाँ एक रसोइया ब्राह्मण और दो सेवक पहलेसे ही उपस्थित थे।

सन्ध्याके समय दोनोंने श्रीप्रद्युम्नकुञ्जकी ओर यात्रा की। वहाँ पहुँचकर देखा—श्रीसुरभि चबूतरेके ऊपर एक पत्तेके आसनपर पिताजी आँखें मूँदकर बैठे हुए माला लेकर हरिनाम कर रहे हैं। समस्त अङ्गों में द्वादश तिलक सुशोभित हैं। देवीदास और शम्भुनाथने धीरे-धीरे चबूतरेपर चढ़कर उनके चरणोंमें प्रणाम किया। लाहिड़ी महाशयने आहट पाकर आँखें खोलीं और उन्हें देख विस्मित होकर कहा—क्यों रे शम्भु! यहाँ क्या सोचकर आया है? अच्छी तरह तो हो न?

दोनोंने अत्यन्त नम्र होकर कहा—आपके आशीर्वादसे हम सभी अच्छी तरह हैं।

लाहिड़ी महाशयने पूछा—तुम लोग भोजन आदि करोगे?

दोनोंने उत्तर दिया—हमने यहींपर वासस्थान ठीक कर लिया है, उस विषयमें आप कोई चिन्ता न करें।

इसी समय प्रेमदास बाबाजीकी माधवी-मालती मण्डपमें एक हरिध्वनि हुई। वैष्णवदास बाबाजीने अपनी कुटीसे बाहर निकलकर लाहिड़ी महाशयसे पूछा—परमहंस बाबाजी महाशयके मण्डपमें हरिध्वनि क्यों हुई?

लाहिड़ी महाशय और वैष्णवदास बाबाजी आगे बढ़कर देखने लगे। देखा कि—बहुत-से वैष्णव लोग बाबाजीकी प्रदक्षिणा कर रहे हैं और हरिध्वनि दे रहे हैं। ये लोग भी वहीं उपस्थित हुए। सभी लोग परमहंस बाबाजी महाराजको दण्डवत् प्रणामकर चबूतरेके ऊपर बैठ गये। देवीदास और शम्भुनाथ भी मण्डपके एक तरफ हंसोंमें कौवोंकी भाँति बैठे रहे।

इतनेमें ही एक वैष्णव बोल उठे—हमलोग कण्टक नगरसे आ रहे हैं। श्रीनवद्वीप-मायापुरका दर्शन और परमहंस बाबाजी महाराजकी चरणरजको ग्रहण करना ही हमारा मुख्य उद्देश्य है।

परमहंस बाबाजी महाराज लज्जित होकर बोले—मैं अत्यन्त पामर हूँ, मुझे पवित्र

करनेके लिए ही आप लोगोंका आगमन हुआ है।

थोड़ी देरमें ही यह प्रकट हो गया कि वे सभी हरि-गुणगानमें प्रवीण हैं। झट मृदङ्ग और करताल मँगाया गया। उनमेंसे एक बूढ़े व्यक्तिने प्रार्थनाका एक मधुर पद गाया। फिर उस पदके समाप्त होते ही लाहिड़ी महाशयका एक पद भी उन्होंने गाया। अत्यन्त सरस और मधुर पद था। उसका अन्तिम पद यह था—

"कालिदास कहे मम अन्तरमें, जाग उठें श्रीराधाश्याम।"

इस पदको सब लोग मिलकर गाते-गाते उन्मत्त हो उठे। अन्तमें "जाग उठे श्रीराधाश्याम" इस अंशको बार-बार दुहराते हुए उद्दण्ड नृत्य होने लगा। नाचते-नाचते कितने ही भावुक वैष्णव अचेतन हो पड़े। उस समय एक अपूर्व दृश्य उपस्थित हुआ, उसे देखकर देवीदास मन-ही-मन विचार करने लगे कि पिताजी इस समय परमार्थमें मग्न हो गये हैं, उन्हें घर लौटा ले जाना कठिन होगा। प्रायः आधी रातको सभा भङ्ग हुई। सभी लोग परस्पर दण्डवत्—प्रणामकर अपने-अपने घर चले गये। देवीदास और शम्भूनाथ पिताजीकी आज्ञा लेकर अपने निवासस्थानको लौट आये।

दूसरे दिन फिर भोजन करनेके उपरान्त देवी और शम्भू, लाहिड़ी महाशयकी कुटियापर पहुँचे।

लाहिड़ी महाशयको प्रणामकर देवीदासने कहा—पिताजी! आपसे एक प्रार्थना है। अब आप शान्तिपुरवाले मकानमें ही रहा करें। घरपर हम लोग आपकी सेवा करके सुखी होंगे। आज्ञा हो तो, एक निर्जन कुटी भी आपके लिए प्रस्तुत कर दी जाये।

लाहिड़ी महाशयने उत्तर दिया—बात तो अच्छी है, परन्तु मैं इस जगह जैसे सर्वदा ही सत्सङ्गमें हूँ, शान्तिपुरमें वैसा न हो सकेगा। देवी! तुम तो जानते हो, शान्तिपुरके लोग कितने निरीश्वर और निन्दाप्रिय हैं। वहाँपर भले लोगोंका निवास करना कठिन है। अनेक ब्राह्मण हैं, यह सत्य है, लेकिन ताँतियोंके संसर्गसे उनकी भी बुद्धि मारी गयी है। पतले कपड़े, लम्बी चौड़ी बातें और वैष्णव निन्दा—शान्तिपुरवालोंके ये तीन लक्षण हैं। प्रभु अद्वैतके वंशधर वहाँ कितने कष्टसे हैं। कुसङ्गके कारण वे भी प्रायः महाप्रभुके विरोधी हो गये हैं। अतएव तुमलोग मुझे इस गोद्रुममें ही यत्नपूर्वक रखो। यही मेरी इच्छा है।

देवीदासने कहा—पिताजी! आपका कहना बिलकुल ठीक है। किन्तु आप शान्तिपुर निवासियोंके साथ किसी तरहका व्यवहार करने जायेंगे ही क्यों? निर्जन स्थानमें अपने धर्मका आचरण करते हुए सन्ध्या-वन्दना आदि कर दिन बिताइयेगा। ब्राह्मणका नित्यकर्म ही नित्यधर्म है। उसीमें मग्न रहना आप जैसे महात्माका कर्त्तव्य है।

लाहिड़ी महाशयने कुछ गम्भीर होकर कहा—बेटा! अब वे दिन नहीं रहे। कई महीने साधुसङ्ग कर और श्रीगुरुदेवके उपदेशोंको श्रवणकर मेरा विचार बहुत कुछ बदल गया है। तुमलोग जिसे नित्यधर्म कहते हो, मैं उसे नैमित्तिक धर्म कहता हूँ। हरिभक्ति ही जीवका एकमात्र नित्यधर्म है। सन्ध्या-वन्दनादि वास्तवमें नैमित्तिक धर्म हैं।

देवीदासने कहा—पिताजी! मैंने किसी भी शास्त्रमें ऐसा नहीं देखा है। सन्ध्या-वन्दनादि क्या हरिभजन नहीं है? यदि हरिभजन है, तो वे भी नित्यधर्म हुए। सन्ध्या-वन्दनादिके साथ क्या श्रवण-कीर्त्तन आदि वैधीभक्तिका कोई भेद है?

लाहिड़ी महाशयने कहा—बेटा! कर्मकाण्डकी सन्ध्या-वन्दनादि और वैधीभक्तिमें विशेष

अन्तर है। कर्मकाण्डमें सन्ध्या-वन्दनादिका अनुष्ठान मुक्ति लाभ करनेके लिए होता है। किन्तु हरिभजनके श्रवण और कीर्त्तनादिका कोई हेतु नहीं होता। फिर श्रवण और कीर्त्तन आदि वैधीभक्तिके अङ्गोंका जो फल देखते हो, वह सब केवल बहिर्मुख लोगोंकी उनमें रुचि उत्पन्न करानेके लिए है। हरिभजनका हरिसेवाके अतिरिक्त और कोई फल नहीं है। हरिभजनमें प्रेम उत्पन्न कराना ही वैध अङ्गोंका मुख्य फल है।

देवीदासने कहा—तब तो हरिभजनके अङ्गोंका गौण फल भी होता है—मानना होगा?

लाहिड़ी—साधकोंके भेदके अनुसार गौण फल होते हैं। वैष्णवोंकी साधनभक्ति केवल सिद्धभक्तिको उदय करानेके लिए है। अवैष्णव भी उन्हीं अङ्गोंका पालन करते हैं, किन्तु उनके पालन करनेके दो प्रधान उद्देश्य रहते हैं—भोग और मोक्ष। साधन-क्रियाके आकारमें कोई भेद नहीं देखा जाता परन्तु भेद है साधकोंकी निष्ठामें। कर्माङ्गमें कृष्ण-पूजा द्वारा चित्त शोधन और मुक्ति अथवा रोग शान्ति या पार्थिव फल पाया जाता है। भक्तिके अङ्ग रूपमें वही कृष्ण-पूजा केवल कृष्णनाममें प्रेम उत्पन्न कराती है। कर्मियोंके एकादशी व्रतसे पाप नष्ट होते हैं और भक्तोंकी एकादशी व्रतसे हरिभक्ति बढ़ती है। देखा, कितना जमीन आसमानका अन्तर है। कर्माङ्ग और भक्ति-अङ्गोंमें जो सूक्ष्म भेद है, वह भगवत्-कृपासे ही जाना जा सकता है। कर्मी लोग गौण फलोंमें आबद्ध रहते हैं, किन्तु भक्त मुख्य फल लाभ करते हैं। जितने प्रकारके गौण फल हैं, वे सब मिलाकर दो भागोंमें विभक्त किये गये हैं—भुक्ति और मुक्ति।

देवीदास—फिर शास्त्रोंमें गौण फलका माहात्म्य ही क्यों वर्णन किया गया है?

लाहिड़ी—जगत् में दो प्रकारके लोग हैं—उदित-विवेक और अनुदित-विवेक। अनुदित-विवेक व्यक्ति फल न देखकर कोई भी सत् कर्म नहीं करते। उनके लिए ही गौण फलोंका माहात्म्य वर्णन किया गया है। शास्त्रका यह तात्पर्य नहीं है कि वे गौण फलोंसे सन्तुष्ट रहें। शास्त्रका तात्पर्य यह है कि गौण फलोंको देखकर आकृष्ट होनेपर थोड़े ही समय में साधुओंकी कृपासे मुख्य फलोंका परिचय और उसमें रुचि हो सके।

देवीदास—स्मार्त्त रघुनन्दन आदि क्या अनुदित विवेकवाले व्यक्तियोंमें हैं?

लाहिड़ी—नहीं। वे स्वयं मुख्य फलकी खोज करते हैं, केवल अनुदित-विवेक वालोंके लिए उन्होंने व्यवस्थामात्र कर दी है।

देवीदास—किसी-किसी शास्त्रमें केवल गौणफलोंका उल्लेख मिलता है, मुख्य फलका उनमें कुछ भी उल्लेख नहीं है—इसका क्या कारण है?

लाहिड़ी—मनुष्योंके विविध अधिकार भेदसे शास्त्र भी तीन प्रकारके हैं—सात्त्विक, राजसिक और तामसिक। सत्त्वगुणविशिष्ट मनुष्यके लिए—सात्त्विक शास्त्र हैं, रजोगुणविशिष्ट मनुष्यके लिए—राजसिक शास्त्र हैं तथा तमोगुणविशिष्ट मनुष्योंके लिए—तामसिक शास्त्र हैं।

देवीदास—ऐसा होनेसे शास्त्रकी किस बातपर विश्वास किया जाये, और किस उपाय द्वारा निम्न अधिकारियोंको उच्चगति प्राप्त हो सकती है?

लाहिड़ी—मनुष्योंके अधिकारमें भेदके अनुरूप उनके स्वभाव और श्रद्धामें भी भेद होता है। तामसिक मनुष्योंकी तामसिक शास्त्रोंमें, राजसिक मनुष्योंकी राजसिक शास्त्रोंमें तथा सात्त्विक मनुष्योंकी सात्त्विक शास्त्रोंमें स्वाभाविक श्रद्धा होती है। श्रद्धाके अनुसार ही उनका विश्वास भी होता है। श्रद्धाके साथ अपने अधिकार जैसा कर्म करते-करते साधुसङ्गके बलसे

उच्च अधिकार पैदा होता है। उच्च अधिकारके पैदा होते ही उसका स्वभाव पुनः उच्च हो जाता है और तदनुरूप शास्त्रमें उसकी श्रद्धा होती है। शास्त्रकार लोग अभ्रान्त पण्डित थे। उन्होंने शास्त्रोंकी रचना इस प्रकारकी है कि अपने अधिकार-निष्ठासे ही धीरे-धीरे उच्च अधिकार स्वयं उत्पन्न हो जाये। इसीलिए अलग-अलग शास्त्रोंमें अलग-अलग व्यवस्थायें दी गयी हैं। शास्त्रीय श्रद्धाही समस्त मङ्गलोंकी जड़ है। श्रीमद्भगवद्गीता समस्त शास्त्रोंका मीमांसा-शास्त्र है। उसमें यह सिद्धान्त सुस्पष्ट है।

देवीदास—मैंने बचपनसे अनेक शास्त्रोंका अध्ययन किया है, किन्तु आज आपकी कृपासे मुझे एक अपूर्व तत्त्वकी उपलब्धि हुई।

लाहिड़ी—श्रीमद्भागवतमें (११/८/१०) लिखा है—

अणुभ्यश्च वृहद्भ्यश्च शास्त्रेभ्यः कुशलो नरः।
सर्वतः सारमादद्यात् पुष्पेभ्य इव षटपदः॥(१)

बेटा! मैं तुम्हें नास्तिक कहा करता था। अब मैं किसीकी निन्दा नहीं करता। क्योंकि प्रत्येक व्यक्तिको अपने अधिकारके अनुसार निष्ठा होती है। इसमें निन्दाकी कोई बात नहीं। सभी अपने-अपने अधिकारके अनुसार कार्य कर रहे हैं। समय आनेपर धीरे-धीरे उन्नत होंगे। तुम तर्कशास्त्र और कर्मशास्त्रके पण्डित हो। इसलिए अधिकारके अनुसार बातोंके लिए तुम्हारा कोई दोष नहीं।

देवीदास—अब तक मेरी ऐसी धारणा थी कि वैष्णव सम्प्रदायमें पण्डित नहीं हैं। वैष्णव लोग केवल शास्त्रका एक अंशमात्र देखकर उसी बातपर हठ किया करते हैं। आज आपने जो कुछ कहा है, उससे मेरी वह धारणा बिलकुल दूर हो गयी और अब मुझे विश्वास होता है कि वैष्णवोंमें सारग्राही लोग भी हैं। क्या आप आजकल किसी महात्माके पास शास्त्र अध्ययन कर रहे हैं?

लाहिड़ी—बेटा! अब मुझे कट्टर वैष्णव अथवा जो इच्छा हो कहो। मेरे गुरुदेव इसी दूसरी झोंपड़ीमें भजन करते हैं। उन्होंने समस्त शास्त्रोंका सार जो मुझे बतलाया है, वही मैंने तुमसे कहा है। तुम यदि उनके चरणोंमें कुछ शिक्षा प्राप्त करना चाहते तो भक्तिभावसे उनके निकट जाकर जिज्ञासा कर सकते हो। चलो, मैं तुम्हारा उनसे परिचय करा दूँ। यह कहकर लाहिड़ी महाशयने देवीदास विद्यारत्नको श्रीवैष्णव दासजीकी कुटियामें ले जाकर परिचय करा दिया और देवीदासजीको वहीं बाबाजीके पास छोड़कर अपनी कुटियामें लौटकर हरिनाम करने लगे।

वैष्णवदास—बेटा! तुम्हारी पढ़ायी—लिखायी कितनी हुई है?

देवीदास—न्यायशास्त्रके 'मुक्तिपाद' और 'सिद्धान्तकुसुमाञ्जलि' तक पढ़ा हूँ। स्मृतिशास्त्रके सभी ग्रन्थोंका अध्ययन किया है।

वैष्णवदास—तो तुमने शास्त्रोंमें बहुत ही परिश्रम किया है। उसके फलका कुछ परिचय दो।

देवीदास—**"अत्यन्त-दुःख-निवृत्तिरेव मुक्तिः"** (सांख्य १/१ और ६/५ के अवलम्बनपर)

---

(१) जिस प्रकार मधुमक्खी विभिन्न प्रकारके फूलोंसे मधु संग्रह करती है, कल्याण-कामी समर्थ व्यक्ति भी ठीक उसी प्रकार सभी शास्त्रोंसे सार-ग्रहण करेंगे।

—इसी मुक्तिके लिए सर्वदा चेष्टा करना उचित है। मैं अपने धर्मकी निष्ठाके साथ इसी मुक्तिकी खोज करता हूँ।

वैष्णवदास—हाँ, मैं भी किसी समय उन ग्रन्थोंको पढ़कर तुम्हारी ही तरह मुक्तिकी कामना करता था।

देवीदास–क्या अब आपने मुक्तिकी कामना छोड़ दी है?

वैष्णवदास—बेटा! बोलो तो, मुक्ति किसे कहते हैं?

देवीदास—न्यायशास्त्र के अनुसार जीव और ब्रह्ममें नित्य भेद है। इसलिए न्यायके मतमें—आत्यन्तिकी दुःखकी निवृत्ति कैसे होती है—स्पष्ट नहीं है। वेदान्तके मतसे अभेद ब्रह्मके अनुसन्धानको अर्थात् जीवका ब्रह्मके साथ एकीभाव प्राप्त होनेको 'मुक्ति' कहते हैं—यही एक प्रकारसे स्पष्ट मालूम होता है।

वैष्णवदास—बेटा, मैं पन्द्रह वर्षों तक शङ्कर सम्प्रदायके वेदान्त ग्रन्थोंको पढ़कर वर्षों तक संन्यासी रहा। मुक्तिके लिए बहुत-से प्रयत्न किये। शङ्करमतके चारों महावाक्योंका अवलम्बनकर बहुत दिनों तक निदिध्यासन भी करता रहा। बादमें उस पदको अर्वाचीन समझकर परित्याग कर दिया।

देवीदास—आपने उसे अर्वाचीन कैसे समझा?

वैष्णवदास—अनुभवी पुरुष अपनी परीक्षा दूसरोंको सहज ही में समझा नहीं सकते। दूसरे उसे समझ भी कैसे सकते हैं?

देवीदासने देखा कि वैष्णवदास महापण्डित, सरल और महाविज्ञ हैं। देवीदास वेदान्त नहीं पढ़े हैं। वे मन-ही-मन सोचने लगे कि यदि ये कृपा करें तो मेरा वेदान्तका अध्ययन हो सकता है। ऐसा सोचकर बोले—क्या मैं वेदान्त पढ़ने योग्य हूँ?

वैष्णवदास—संस्कृत भाषामें जैसा तुम्हारा अधिकार है, उससे तुम शिक्षक प्राप्त होनेपर अनायास ही वेदान्त पढ़ सकते हो।

देवीदास—आप यदि कृपाकर पढ़ावें तो मैं पढ़ूँ।

वैष्णवदास—एक बात है, मैं अकिञ्चन वैष्णवदास हूँ। परमहंस बाबाजीने मुझे कृपाकर हरिनाम करनेके लिए कहा है। वही किया करता हूँ। समय थोड़ा है। खासकर 'जगद्गुरु श्रीरूप गोस्वामीने वैष्णवोंको (शङ्करके) शारीरिक भाष्य पढ़ने या सुननेको निषेध किया है—ऐसा जानकर मैं शङ्करभाष्य पढ़ता भी नहीं और पढ़ाता भी नहीं, फिर भी जीवलोकके आदि गुरु श्रीशचीनन्दनने श्रीसार्वभौमको वेदान्तसूत्रका जो भाष्य सुनाया था—वह अब भी अनेक वैष्णवोंके पास हस्तलिखित पुस्तकके आकारमें वर्त्तमान है। उसे तुम अगर पढ़ना चाहते तो उसकी नकल कर ले आओ, मैं तुम्हारी सहायता कर सकता हूँ। तुम काञ्चनपल्लीके निवासी श्रीमद् कविकर्णपूरके घरसे उक्त हस्तलिखित पुस्तक मँगवा सकते हो।

देवीदास—मैं कोशिश करूँगा। आप वेदान्तके महापण्डित हैं। आप मुझे सरलतापूर्वक सच-सच बतलावें कि वैष्णवभाष्य पढ़कर वेदान्तका यथार्थ अर्थ पा सकूँगा या नहीं?

वैष्णवदास—मैंने शङ्करभाष्य पढ़ा है और पढ़ाया है। श्रीभाष्य आदि कई भाष्य पढ़े हैं। किन्तु गोपीनाथ आचार्य द्वारा दी हुई महाप्रभुकी सूत्रार्थ व्याख्या—जिसे गौड़ीय वैष्णव लोग पढ़ा करते हैं, की अपेक्षा मैंने और श्रेष्ठ कुछ भी नहीं देखा है। भगवत्कृत सूत्रार्थमें कोई मतवाद नहीं है। उपनिषद् के वचनोंसे जिन सब अर्थोंका संग्रह किया जा सकता है, वे

सब यथायथ उस व्याख्यामें पाये जाते हैं। इस सूत्र—व्याख्याको यदि कोई ठीक रीतिसे ग्रन्थन करे, तो उसके सामने कोई भी अन्य भाष्य विद्वानोंकी सभामें आदर प्राप्त नहीं कर सकेगा।

यह सुनकर देवीदास विद्यारत्न बड़े प्रसन्न हुए और श्रद्धाके साथ श्रीवैष्णवदास बाबाजीको प्रणामकर अपने पिताजीकी कुटीमें लौट आये और वैष्णवदास बाबाजीसे जो बातें हुई थीं उसे संक्षेपमें कह सुनाया।

लाहिड़ी महाशयने प्रसन्न होकर कहा—देवी! तुमने बहुत कुछ पढ़ा-लिखा। किन्तु जीवका यथार्थ कल्याण कैसे होता है—अब उसे भी ढूँढनेका प्रयत्न करो।

देवीदास—पिताजी! मैं एक बड़ी आशा लेकर यहाँसे आपको अपने साथ लिवा ले जानेके लिए आया हूँ। कृपाकर एकबार आपके घर चलनेसे सभी कृतार्थ होंगे। विशेषतः माताजी आपके दर्शनोंके लिए बड़ी उत्कण्ठित हैं।

लाहिड़ी—मैंने वैष्णवचरणोंमें आश्रय ग्रहण कर लिया है और प्रतिज्ञा की है कि भक्ति-विरोधी घरमें मैं अब कभी प्रवेश न करूँगा। तुम लोग पहले वैष्णव बनो, फिर मुझे घर ले चलना।

देवीदास—पिताजी! यह बात आप कैसे कहते हैं? हमारे घरमें प्रतिदिन भगवान् की सेवा-पूजा होती है, हमलोग हरिनामका अनादर नहीं करते, अतिथियों और वैष्णवोंका आदर-सत्कार करते हैं, फिर भी क्या हम लोग वैष्णव नहीं हैं?

लाहिड़ी—यद्यपि वैष्णवोंकी क्रिया और तुम लोगोंकी क्रियाओंमें बहुत कुछ साम्य है—दोनोंकी क्रियाओंमें भेद नहीं है, तथापि तुम लोग वैष्णव नहीं हो।

देवीदास—तब क्या करनेसे वैष्णव हो सकेंगे?

लाहिड़ी—नैमित्तिक भावोंका परित्यागकर नित्य धर्मका आचरण करनेसे वैष्णव हो सकते हो।

देवीदास—मेरी एक शङ्का है। आप उसका अच्छी तरहसे समाधान करनेकी कृपा करें। मेरी शङ्का यह है कि—वैष्णव लोग जो श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण, पादसेवा, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन—इस नवधा भक्तिके अङ्गोंका आचरण करते हैं, इनमें प्रचुर जड़मिश्र कर्म है। फिर इन्हें भी नैमित्तिक क्यों नहीं कहा जाये? इस विषयमें मुझे कुछ पक्षपात-सा नजर आता है। श्रीमूर्तिकी सेवा, उपवास जड़ पदार्थों द्वारा पूजा—ये तो सभी स्थूल हैं फिर ये किस प्रकार नित्य हो सकते हैं?

लाहिड़ी—बेटा! इस बातको समझनेमें मुझे भी अनेक दिन लगे थे। तुम इसे अच्छी तरह समझ लो। मनुष्य दो प्रकारके होते हैं—(१) ऐहिक—इस लोकसे सम्बन्ध रखनेवाले और (२) पारमार्थिक—परलोकसे सम्बन्ध रखनेवाले। ऐहिक मनुष्य लौकिक सुख, लौकिक मान और लौकिक उन्नतिकी खोज करता है। पारमार्थिक मनुष्य तीन प्रकारके होते हैं—(१) ईशानुगत, (२) ज्ञाननिष्ठ और (३) सिद्धिकामी। सिद्धिकामी—कर्मकाण्डके फलोंमें आसक्त रहते हैं। ये लोग अपने कर्मों द्वारा अलौकिक फल प्राप्त करना चाहते हैं। याग, यज्ञ और योग ही उस अलौकिक फलको प्राप्त करनेके लिए उपाय हैं। इनके मतमें ईश्वरको माना तो जाता है किन्तु वह ईश्वर कर्मोंके अधीन होता है। वैज्ञानिक इसी श्रेणीके अन्तर्गत होते हैं। ज्ञाननिष्ठ मनुष्य—ज्ञानचर्चा द्वारा अपना ब्रह्मत्व उदय करनेका यत्न करते हैं। ईश्वर

कोई रहे या न रहे वह साधनके लिए एक ईश्वरकी कल्पना करते हैं तथा उस काल्पनिक ईश्वरकी भक्ति करते-करते क्रमशः ज्ञानका फल-ब्रह्मत्वकी प्राप्तिकी आशा करते हैं। ज्ञानका फल प्राप्त होनेपर उपायकालीन काल्पनिक ईश्वरकी अब आवश्यकता नहीं रहती। उन लोगोंकी ईश्वर-भक्ति भी अन्तमें ज्ञानके रूपमें बदल जाती है। इस मतमें ईश्वर और ईश्वरकी भक्ति, दोनोंको अनित्य माना जाता है ईशानुगत मनुष्य तृतीय श्रेणीके पारमार्थिक मनुष्योंके अन्तर्गत होते हैं ये ही यथार्थतः परमार्थकी खोज करते हैं। इनके मतसे ईश्वर एक हैं। वे अनादि और अनन्त हैं। वे अपनी शक्तिसे जीव और जड़की सृष्टि करते हैं। जीव उनके नित्य दास हैं। मुक्ति के बाद भी ये ईश्वरके दास ही रहते हैं। नित्यकाल ईश्वरके अनुगत रहना ही जीवका नित्यधर्म है। जीव अपने बलसे कुछ नहीं कर सकता। कर्मके द्वारा जीव कोई नित्य फल प्राप्त नहीं कर सकता है। ईश्वरकी श्रद्धापूर्वक सेवा करनेसे उनकी कृपासे जीवकी सर्वार्थसिद्धि हो जाती है। सिद्धिकामी मनुष्य—कर्मकाण्डी और ज्ञाननिष्ठ मनुष्य ज्ञानकाण्डी होते हैं। केवल ईशानुगत मनुष्यही ईश्वरके भक्त होते हैं। ज्ञानकाण्डी और कर्मकाण्डी अपनेको पारमार्थिक मानकर अहङ्कार करते हैं। वास्तवमें वे लोग पारमार्थिक नहीं, ऐहिक हैं, अतः नैमित्तिक हैं। उन लोगोंकी सारी धर्म—चर्चाएँ नैमित्तिक होती हैं।

शैव, शाक्त, गाणपत्य और सौर—ये लोग ज्ञानकाण्डके अधीन हैं। ये लोग जो श्रवण और कीर्त्तन आदि भक्तिके अङ्गोंका आचरण करते हैं, वह केवल मुक्ति और अन्तमें अभेद ब्रह्मकी प्राप्तिकी आशासे किया करते हैं। जिन्हें श्रवण और कीर्त्तन आदिसे भुक्तिकी—मुक्तिकी आशा नहीं होती, वे उपर्युक्त मूर्तियोंमें विष्णुकी सेवा किया करते हैं। भगवान्‌की श्रीमूर्ति चिन्मय और सर्वशक्तिसम्पन्न होती है। उपास्य तत्त्वको यदि भगवान् न माना जाये, तो वह उपासना एक अनित्य वस्तुकी उपासना हो जाती है। बेटा! तुमलोगोंकी भगवत्सेवा पारमार्थिक नहीं है। क्योंकि तुम लोग भगवान्‌की नित्यमूर्ति स्वीकार नहीं करते। अतएव तुमलोग ईशानुगत नहीं हो। आशा करता हूँ, अब तुम नित्य और नैमित्तिक—इन दोनों उपासनाओंका भेद समझ गये होंगे?

देवीदास—हाँ, यदि भगवत्-विग्रहको नित्य न माना जाये और श्रीविग्रहका अर्चन किया जाये तो उससे नित्य वस्तुकी आराधना नहीं हो सकती। क्या अनित्य वस्तुकी उपासना द्वारा नित्य तत्त्वकी उपासना नहीं होती?

लाहिड़ी—होनेपर भी तुम्हारी उपासनाको नित्यधर्म नहीं कहा जा सकता। वैष्णवधर्मके नित्य विग्रहके अर्चन आदि ही नित्यधर्म हैं।

देवीदास—जिस श्रीमूर्तिकी पूजाकी जाती है, वह तो मनुष्य द्वारा बनायी हुई होती है, उसे नित्य मूर्ति कैसे कहें?

लाहिड़ी—वैष्णवों द्वारा पूजित मूर्ति वैसी मूर्ति नहीं होती। भगवान्, ब्रह्मकी तरह निराकार नहीं हैं। वे सच्चिदानन्दघन-विग्रह और सर्वशक्तिमान हैं। वही सच्चिदानन्दघन-विग्रह या श्रीमूर्ति पूजनीय है। वह श्रीमूर्ति पहले जीवके चित्-विभागमें प्रतिभात होकर मनमें उदित होती है। मनके द्वारा निर्मित मूर्त्तिमें भक्तियोगसे वही सच्चिदानन्द मूर्ति आविर्भूत हो पड़ती है। भक्त उसे दर्शनकर हृदयमें जिस चिन्मय मूर्त्तिका दर्शन करते हैं उसके साथ श्रीमूर्त्तिकी एकता कर लेते हैं। किन्तु ज्ञानी लोग जिस मूर्तिकी पूजा करते हैं वह मूर्ति वैसी नहीं

होती। इन लोगोंके मतमें किसी भौतिक पदार्थमें ब्रह्मकी कल्पना की जाती है। ये मूर्त्तियाँ उन लोगोंकी साधनावस्थाके लिए ही उपयोगी होती हैं। बादमें वे केवलमात्र एक पार्थिव वस्तुके अतिरिक्त और कुछ नहीं रहतीं। अब तुम इन दोनों मतोंकी मूर्तियों तथा उनके अर्चन आदिके भेदपर विचार करो। गुरुदेवकी कृपासे जब वैष्णवी दीक्षा प्राप्त होती है, तब दोनोंके फलोंको देखनेसे यह अन्तर भलीभाँति समझा जा सकता है।

देवीदास—अब मैं देखता हूँ कि वैष्णवोंमें केवल अन्धविश्वास ही नहीं है, बल्कि वे अत्यन्त सूक्ष्मदर्शी भी हैं। श्रीमूर्तिकी उपासनामें तथा किसी पार्थिव वस्तुमें ईश्वरकी कल्पनाकर उसकी अनित्य पूजामें बहुत अन्तर है। दोनोंकी क्रियाओंमें कोई अन्तर नहीं, किन्तु दोनोंकी अपनी-अपनी निष्ठामें बहुत बड़ा अन्तर है। इस विषयपर कुछ दिन विवेचना करूँगा। पिताजी! आज मेरी एक बहुत बड़ी शङ्का दूर हुई। अब मैं जोर देकर कह सकता हूँ कि ज्ञानियोंकी उपासना ईश्वरको केवल धोखा देना है। अच्छा, मैं इस विषयको आपके श्रीचरणोंमें पुनः निवेदन करूँगा।

ऐसा कहकर देवी विद्यारत्न और शम्भु अपने वासस्थानको चले गये। फिर शामको आये तो सही, परन्तु वार्त्तालापके लिए अवकाश न मिला। उस समय सभी लोग हरिनाम-सङ्कीर्त्तनमें मस्त हो रहे थे।

दूसरे दिन शामको परमहंस बाबाजीके मण्डपमें सभी लोग बैठे हैं। देवी विद्यारत्न और शम्भु दोनों लाहिड़ी महाशयके निकट बैठे हैं इसी समय ब्राह्मण पुष्करिणी (एक गाँव) के काजी साहब उपस्थित हुए। काजी साहबको देखकर वैष्णव-मण्डली उनका सम्मान करनेके लिए उठ खड़ी हुई। काजी साहब भी अत्यन्त आनन्दके साथ वैष्णवोंकी अभ्यर्थनाकर मण्डपमें बैठ गये।

परमहंस बाबाजीने कहा—आपलोग धन्य हैं। क्योंकि आपलोग श्रीमहाप्रभुके कृपापात्र चाँदकाजीके वंशज हैं, हमलोगोंपर कृपा रखियेगा।

काजी साहबने कहा—श्रीमहाप्रभुकी दयासे हम वैष्णवोंके भी दयापात्र हो चुके हैं। गौराङ्ग ही हमलोगोंके प्राणपति हैं। उन्हें दण्डवत् प्रणाम किये बिना हम लोग कोई काम नहीं करते।

लाहिड़ी महाशय फारसी भाषाके अच्छे विद्वान हैं। उन्होंने कुरान शरीफके तीसों सेफरोंको पढ़ लिया है। सूफियोंके भी अनेक ग्रन्थोंका अध्ययन किया है। उन्होंने काजी साहबसे पूछा—आप लोगोंके मतमें मुक्ति किसे कहते हैं?

काजी साहबने कहा—आप लोग जिसे जीव कहते हैं, उसे हमलोग 'रूह' कहते हैं। यह रूह दो अवस्थाओंमें रहती है। अर्थात् रूहे मुजर्रदी और रूहे तरकीबी। जिसे आपलोग चित् कहते हैं उसे हम मुजर्रद कहते हैं। जिसे आपलोग अचित् कहते हैं उसे हमलोग जिस्म कहते हैं। मुजर्रद देश और कालके अतीत होता है। जिस्म देश और कालके अधीन होता है। तरकीबी रूह या बद्धजीव वासना, मन और मलफुत् अर्थात् अज्ञानसे पूर्ण होता है। मुजर्रदी रूह इन सबसे शुद्ध और पृथक् होता है। आलम्—विशाल नामकी जो चिन्मय भूमि है, वहाँ मुजर्रदी रूह रह सकती है। इश्क अर्थात् प्रेमको क्रमशः बढ़ाते-बढ़ाते रूह शुद्ध हो जाती है। पैगम्बर-साहबको खुदा जिस स्थानमें ले जाते हैं, वहाँ जिस्म नहीं होता, किन्तु वहाँ भी रूह बन्दा अर्थात् दास है और ईश्वर अर्थात खुदा प्रभु हैं। अतएव बन्दा

और खुदाका सम्बन्ध नित्य होता है। शुद्ध भावसे इस सम्बन्धका होना ही मुक्ति है। कुरान तथा सूफियोंकी किताबोंमें इन सिद्धान्तोंका वर्णन किया गया है, किन्तु सब लोग उसे समझ नहीं पाते। गौराङ्ग प्रभुने कृपाकर जनाब चाँदकाजीको इन सब बातोंकी शिक्षा दी थी तभीसे हमलोग शुद्ध भक्त हो गये हैं।

लाहिड़ी—कुरानका मूल मत क्या है?

काजी—कुरानमें जिस बिहिस्तका वर्णन किया गया है, उसमें किसी तरहकी इबादतकी बात नहीं है यह ठीक है, किन्तु वहाँ जीवन ही इबादत है। खुदाका दर्शनकर लोग वहाँ बड़े सुखमें मग्न रहते हैं। यही बात श्रीगौराङ्गदेवने कही है।

लाहिड़ी—कुरानमें खुदाकी कोई मूर्ति मानी गयी है?

काजी—कुरानका कहना है कि खुदाकी मूर्ति नहीं है। किन्तु श्रीगौराङ्गदेवने चाँदकाजीसे कहा है कि कुरानमें केवल जिस्मानी मूर्तिका निषेध है, शुद्ध मुजर्रदी मूर्तिका निषेध नहीं है। उस प्रेममयी मूर्तिको पैगम्बर साहबने अपने अधिकारके अनुरूप देखा था। उसमें अन्यान्य रसोंके भाव छिपे हुए थे।

लाहिड़ी—इस विषयमें सूफियोंका क्या मत है?

काजी—वे अनहलक अर्थात् 'मैं ही खुदा हूँ' के सिद्धान्तोंको मानते हैं। आप लोगोंका अद्वैतवाद और मुसलमानोंका 'असोवाफ' मत एक ही है।

लाहिड़ी—क्या आप सूफी हैं?

काजी—नहीं, हम लोग शुद्ध भक्त हैं। गौराङ्ग ही हमारे प्राण हैं। इसी तरह बड़ी देर तक बातचीत होती रही। फिर काजी साहब वैष्णवोंका सम्मान कर चले गये। इसके बाद हरिसङ्कीर्त्तनके उपरान्त सभा भङ्ग हुई।

॥पाँचवाँ अध्याय समाप्त॥

छठा अध्याय

नित्यधर्म तथा जाति और वर्ण आदिका भेद

देवीदास विद्यारत्न एक अध्यापक हैं। बहुत दिनोंसे उनकी दृढ़ धारणा हो गयी है कि ब्राह्मणवर्ण ही सर्वश्रेष्ठ है। ब्राह्मणके अतिरिक्त कोई भी परमार्थ लाभ करनेके उपयुक्त नहीं होता। ब्राह्मणके घर जन्म पाये बिना जीवकी मुक्ति नहीं होती। जन्मसे ही ब्राह्मणमें ब्रह्मत्व पैदा होता है। उस दिन वे काजी साहबके साथ वैष्णवोंकी बातचीत सुनकर मन-ही-मन बहुत असन्तुष्ट हुए हैं। वे काजी साहबके तत्त्वपूर्ण विचारोंमें तनिक भी प्रवेश न कर सके थे। वे मन-ही-मन झुंझलाने लगे कि—"मुसलमान जाति भी क्या ही एक अद्भुत बला है। बातें भी उनकी अजीब होती हैं, कुछ भी समझमें नहीं आतीं। खैर, पिताजी तो अरबी-फारसी पढ़े हैं। बहुत दिनोंसे धर्म-चर्चाएँ भी करते हैं। किन्तु मुसलमानोंका इतना आदर वे क्यों करते हैं? जिसे छूनेसे स्नान करना पड़ता है, परमहंस बाबाजी महाराजने क्या समझकर उसे मण्डपमें बैठाकर आदर सत्कार किया?" उन्होंने उसी रातको कहा था कि "शम्भु! मैं इस विषयमें चुप नहीं रह सकता, तर्ककी प्रचण्ड आग जलाकर इस पाखण्डमतको भस्म कर दूँगा। जिस नवद्वीपमें सार्वभौम और शिरोमणि जैसे न्यायशास्त्रके प्रकाण्ड विद्वान् हुए हैं, जहाँ रघुनाथने स्मृतिशास्त्रका मन्थन कर 'अष्टाविंशति-तत्त्व' का प्रकाश किया है, उसी नवद्वीपमें आज आर्य और यवनोंका ऐसा व्यवहार? शायद नवद्वीपके अध्यापकोंको इस बातकी खबर नहीं हैं।" दो-एक दिनमें ही विद्यारत्न इस काममें तन-मनसे लग पड़े।

तीसरे पहरका समय है। आकाश काले-काले बादलोंसे ढका हुआ है। इन बादलोंके मारे आज अभी तक एक बार भी सूर्यकी किरणें पृथ्वीको स्पर्श न कर सकीं। सबेरे दो-चार बूँदें पड़ गयी हैं। देवी और शम्भु उपयुक्त समय देखकर दस बजेके भीतर ही खिचड़ी खाकर तैयार हो गये हैं। वैष्णवोंको मधुकरी पानेमें कुछ विलम्ब हुआ। अन्तमें प्रसाद सेवन कर सभी माधवी-मालती मण्डपके एक किनारेवाली बड़ी कुटियामें बैठे हैं। परमहंस बाबाजी, वैष्णवदास, नृसिंहपल्लीसे आये हुए पण्डित अनन्तदास, लाहिड़ी महाशय तथा कुलिया-निवासी यादवदास अपनी-अपनी तुलसी मालाओंपर परमानन्दसे हरिनाम करने लगे। उसी समय विद्यारत्न महाशय, समुद्रगढ़के निवासी चतुर्भुज पदरत्न, काशीके चिन्तामणि न्यायरत्न, पूर्वस्थलीके कालिदास वाचस्पति और विख्यात पण्डित कृष्ण चूणामणि वहाँ उपस्थित हुए। वैष्णवोंने बड़े आदरके साथ ब्राह्मण पंडितोंको आसन देकर बैठाया।

परमहंस बाबाजीने कहा—मेघाच्छन्न दिनको लोग दुर्दिन कहते हैं, किन्तु हमारे लिए तो सुदिन बन गया। आज हमारी कुटिया धामवासी ब्राह्मण पण्डितोंकी चरणरजसे पवित्र हो गयी।

वैष्णव लोग स्वभावतः अपनेको तृणसे भी नीच मानते हैं। अतएव उन लोगोंने 'विप्रचरणेभ्यो नमः' कहकर प्रणाम किया। ब्राह्मण पण्डित लोग अपनेको श्रेष्ठ मानकर उन्हें आशीर्वाद देकर बैठ गये। विद्यारत्न उनलोगोंको तर्कके लिए तैयारकर ले आये थे। उन लोगोंने लाहिड़ी महाशयको अपनेसे आयुमें बड़ा जानकर प्रणाम किया। लाहिड़ी महाशय अब तत्त्वज्ञ हो गये हैं, उन्होंने पण्डितोंके प्रणामको हाथों-हाथ लौटा दिया।

उन पण्डितोंमें कृष्ण चूड़ामणि सबसे अच्छे वक्ता हैं। काशी, मिथिला आदि अनेक

स्थानोंमें भ्रमणकर अनेक पण्डितोंको शास्त्रार्थमें पराजित कर चुके हैं। कद नाटा और रङ्ग साँवला-सा है, चेहरे से गम्भीरता टपकती है। दोनों आँखें तारों जैसी चमकती हैं। उन्होंने वैष्णवोंसे बातचीत आरम्भ की।

चूड़ामणिने कहा—आज हमलोग वैष्णवोंका दर्शन करनेके लिए आये हैं। यद्यपि आप लोगोंके समस्त आचारोंका हम समर्थन नहीं करते, फिर भी आप लोगोंकी एकान्त भक्ति हमें बहुत अच्छी लगती है भगवान्‌ने भी कहा है—

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥[१]

(गीता ९/३०)

भगवद्गीताका यह वचन हमारा प्रमाण है। इसी सिद्धान्तपर निर्भर कर आज हम साधु-दर्शन करने आये हैं। किन्तु हमारा एक अभियोग (आरोप) है, वह यह है कि आपलोग भक्तिके बहाने मुसलमानोंका सङ्ग क्यों करते हैं? हम इस विषयमें आप लोगोंके साथ विचार करना चाहते हैं। आपलोगोमें जो विशेष पढ़े-लिखे हों, वे थोड़ा आगे आ जायें।

वैष्णव लोग चूड़ामणिकी बातोंसे बड़े दुःखित हुए। परमहंस बाबाजीने विनम्र होकर कहा—हम लोग मूर्ख ठहरे, शास्त्रार्थ करना क्या जानें? हमारे महाजनोंने जैसा आचरण किया है, हम उसीका आचरण करते हैं। आप लोग विद्वान हैं, शास्त्रोंका जो उपदेश देंगे—हम उसे चुपचाप सुनेंगे।

चूड़ामणिने कहा—ऐसी बातोंसे कैसे काम चलेगा? हिन्दू-समाजमें रहकर आप लोग यदि शास्त्र-विरुद्ध आचार—प्रचार करें तो इससे जगत्‌का ध्वंस हो जायेगा। शास्त्र-विरुद्ध आचार—प्रचार भी करेंगे और महाजनोंकी दोहाई भी देंगे—यह कैसी बात है? महाजन कहते किसे हैं? यदि महाजनका आचरण और उसकी शिक्षा शास्त्रोंके अनुकूल है, तभी वह महाजन है और नहीं तो जिसे—तिसे महाजन खड़ाकर **"महाजनो येन गतः स पन्थाः"** कहनेसे जगत्‌का कल्याण कैसे हो सकता है?

चूड़ामणिकी बातें वैष्णवोंके लिए असहनीय हो उठीं। वे लोग वहाँसे उठकर एक अलग कुटियामें जाकर परामर्श करने लगे। अन्तमें तय हुआ, जब महाजनोंके प्रति दोषारोप किया जा रहा है, तब शक्ति रहते विचार करना उचित है। परमहंस बाबाजी शास्त्रार्थके बखेड़ेसे दूर रहे। पण्डित अनन्तदासजीके न्यायशास्त्रके विद्वान होनेपर भी सब लोगोंने श्रीवैष्णवदास बाबाजीको ही शास्त्रार्थ करनेके लिए अनुरोध किया। इन लोगोंको यह समझते देर न लगी कि देवीदास विद्यारत्नने ही यह झगड़ा उपस्थित किया है।

लाहिड़ी महाशय भी वहीं थे। उन्होंने कहा—देवी बड़ा अभिमानी है।

उस दिन काजी साहबके साथ हम लोगोंका व्यवहार देखकर उसे कुछ बुरा लगा था। इसीलिए आज इन सब ब्राह्मण पण्डितोंको बुलाकर ले आया है।

वैष्णवदासने परमहंस बाबाजीकी चरणधूलि मस्तकपर धारण करते हुए कहा—वैष्णवोंकी आज्ञा मुझे शिरोधार्य है। आज मेरी पढ़ी हुई विद्याएँ सार्थक होंगी।

---

(१) यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्य भावसे मेरा निरन्तर भजन करता है, वह साधु ही मानने योग्य है, क्योंकि उसका यह व्यवहार सब प्रकारसे सुन्दर है।

अब आकाश निर्मल हो गया है। मालती-माधवी मण्डपमें लम्बा-चौड़ा आसन बिछाया गया। एक ओर ब्राह्मण पण्डित और दूसरी ओर वैष्णवलोग बैठे। श्रीगोद्रुम और मध्यद्वीपके समस्त पण्डितों और वैष्णवोंको बुलाया गया। आस-पासके विद्यार्थी भी आकर सभामें बैठ गये। सभा खूब छोटी न हुई। लगभग एक सौ ब्राह्मण-पण्डित एक ओर और प्रायः दो सौ वैष्णव दूसरी तरफ बैठे हुए थे। वैष्णवोंकी अनुमतिसे वैष्णवदास बाबाजी प्रशान्त भावसे सामने बैठे। उसी समय एक आश्चर्यजनक घटना हुई, जिसे देखकर वैष्णवलोग आनन्दके मारे एकबार जोरसे हरिध्वनि कर उठे। घटना यह हुई कि ऊपरमें फैली हुई लताओंसे मालतीके फूलोंका एक गुच्छा वैष्णवदासके सिर पर आ गिरा।

वैष्णव लोगोंने कहा—इसे श्रीमन् महाप्रभुका प्रसाद समझिये |

दूसरी ओर बैठे हुए कृष्णचूड़ामणिने जरा नाक-भौंह सिकोड़कर कहा—ऐसा ही समझें। फूलोंका काम नहीं—फलसे ही परिचय मिलेगा।

बातोंको अधिक न बढ़ाकर वैष्णवदासने कहा—आज नवद्वीपमें वाराणसी जैसी सभा हो रही है। बड़े आनन्दकी बात है। यद्यपि मैं बङ्गवासी हूँ, फिर भी बहुत दिनों तक वाराणसी आदि स्थानोंमें अध्ययन करने तथा वहाँकी सभाओंमें वक्तृता आदि देनेके कारण मेरा बँगला भाषा बोलनेका अभ्यास कुछ कम हो गया है। मैं चाहता हूँ, आजकी सभामें संस्कृत भाषामें ही प्रश्नोत्तर हों।

चूड़ामणिने शास्त्रोंका अच्छा अध्ययन किया है। फिर भी कुछ कण्ठस्थ किये हुए पाठोंके अतिरिक्त वे धारावाहिक संस्कृत भाषा बोल नहीं सकते थे। उन्होंने वैष्णवदासके प्रस्तावसे कुछ संकुचित होकर कहा—क्यों, बँगलादेशकी सभामें बङ्गभाषा ही उपयुक्त है। मैं पश्चिम देशके पण्डितोंकी तरह संस्कृत बोल न सकूँगा।

उस समय उनके भावोंको देखकर ही लोग समझ गये कि चूड़ामणि वैष्णवदासके साथ शास्त्रार्थ करनेमें डर रहे हैं। सबने एक स्वरसे वैष्णवदास बाबाजीको बँगलामें बोलनेका अनुरोध किया। वे राजी हो गये।

चूड़ामणिने प्रश्न किया—जाति नित्य है या नहीं? मुसलमान और हिन्दू ये दोनों जातियाँ अलग-अलग हैं या नहीं? मुसलमानोंके संसर्गसे हिन्दू पतित होते हैं या नहीं?

वैष्णवदास बाबाजीने उत्तर दिया—न्याय—शास्त्र के अनुसार जाति नित्य है। किन्तु वह जाति मनुष्योंके देश-भेदसे उत्पन्न जाति-भेदको लक्ष्य नहीं करती, गो-जाति, बकरी-जाति, मनुष्य जाति आदि जाति-भेदोंका निरूपण करना ही उसका उद्देश्य है।

चूड़ामणिने कहा—आप बिलकुल ठीक कहते हैं। किन्तु हिन्दू और मुसलमानोंमें कोई जातिभेद है या नहीं?

वैष्णवदासने कहा—हाँ एक प्रकारका जातिभेद है, किन्तु वह जाति नित्य नहीं। मनुष्यमात्रकी जाति एक है। भाषा-भेद, देश-भेद, वेषभूषा-भेद तथा वर्ण भेदसे एक मनुष्य जातिमें ही अनेक जातियोंकी कल्पनामात्र कर ली गयी है।

चूड़ामणि—क्या, जन्म द्वारा कोई भेद नहीं? क्या केवल पहनावे आदिके भेदसे ही हिन्दू और मुसलमानका भेद है अथवा उसका जन्मसे भी कोई सम्बन्ध है?

वैष्णवदास—कर्मोंके अनुसार जीवका उच्च एवं निम्न वर्णोंमें जन्म होता है, वर्ण-भेदके अनुसार मनुष्योंका कर्माधिकार पृथक्-पृथक् होता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—ये

चार वर्ण हैं। बाकी सभी अन्त्यज हैं।

चूड़ामणि—मुसलमान अन्त्यज हैं या नहीं?

वैष्णवदास—हैं, वे शास्त्र के अनुसार अन्त्यज अर्थात् चारों वर्णोंसे बाहर हैं।

चूड़ामणि—तब मुसलमान कैसे वैष्णव हो सकता है और आर्य वैष्णव लोग कैसे उनका सङ्ग कर सकते हैं?

वैष्णवदास—जिन्हें शुद्ध भक्ति है, वे ही वैष्णव हैं। मनुष्यमात्र वैष्णवधर्मका अधिकारी है। जन्म-दोषके कारण मुसलमानोंका वर्णाश्रमधर्मके अनुसार प्रत्येक वर्णोंके लिए निर्दिष्ट कर्मोंमें अधिकार नहीं है, किन्तु भक्तिके क्षेत्रमें उनका सम्पूर्ण अधिकार है। कर्मकाण्ड, ज्ञानकाण्ड और भक्तिकाण्डका परस्पर जो सूक्ष्म भेद है, उस पर जब तक पुंखानुपुंख रूपसे विचार नहीं किया जाता, तब तक यह कभी नहीं कहा जा सकता है कि "हमने शास्त्रोंका तात्पर्य जान लिया है।"

चूड़ामणि—अच्छा, कर्म करते-करते चित्त शुद्ध होता है। चित्त शुद्ध होनेपर ज्ञानाधिकार उत्पन्न होता है। फिर ज्ञानियोंमें कोई निर्भेद ब्रह्मज्ञानी होता है और कोई सविशेषवाद स्वीकार करते हुए, वैष्णव होता है। इस तरह क्रमानुसार पहले कर्माधिकार समाप्त किये बिना वैष्णव नहीं हुआ जा सकता। ऐसी अवस्थामें अन्त्यज होनेके कारण मुसलमानोंको जहाँ कर्मोंमें अधिकार तक प्राप्त नहीं, उन्हें भक्तिका अधिकार कैसे मिल सकता है?

वैष्णवदास-अन्त्यज मनुष्योंको भक्तिमें पूर्ण अधिकार है—इसे प्रत्येक शास्त्र स्वीकार करते हैं। श्रीमद्भगवद्गीतामें स्वयं भगवान् कहते हैं—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥

(गीता ९/३२)

अर्थात्, हे पार्थ! स्त्री, वैश्य, शूद्र और पापयोनियोंमें जन्मग्रहण करनेवाले अन्त्यज आदि जो कोई भी हों, मेरा थोड़ा भी आश्रय लेते हैं, तो वे परम—गतिको ही प्राप्त होते हैं। यहाँ 'आश्रय' शब्दका अर्थ—भक्तिसे है। स्कन्दपुराणके अन्तर्गत काशीखण्डमें भी इसका समर्थन किया गया है—

ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रो वः यदिवेतरः।
विष्णु भक्तिसमायुक्तो ज्ञेयः सर्वोत्तमोत्तमः॥(२)

(काशीखण्ड २१/६३)

नारदीयपुराणमें भी—

श्वपचोऽपि महीपाल विष्णु भक्तो द्विजाधिकः।
विष्णु भक्ति—विहीनो यो यतिश्च श्वपचाधिकः॥(३)

चूड़ामणि—प्रमाण अनेक दिये जा सकते हैं, किन्तु आवश्यकता तो इस बात की है

---

(२) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र अथवा चारों वर्णोंसे बहिर्भूत अन्त्यज भी यदि विष्णुभक्तिका आश्रय ग्रहण कर ले, तो उसे ही सर्वश्रेष्ठ मानना चाहिये।

(३) हे राजन्! चाण्डाल भी यदि विष्णुका भक्त हो, वह ब्राह्मणकी अपेक्षा श्रेष्ठ है। यहाँ तक कि जो संन्यासी विष्णुभक्ति-विहीन होता है, वह चाण्डालसे भी अधम होता है।

कि विचारमें क्या तय होता है। दुर्जाति—दोष कैसे दूर होता है? जन्म द्वारा जो सङ्ग–दोष उत्पन्न होता है क्या वह पुनः जन्म लिए बिना कभी दूर हो सकता है?

वैष्णवदास—दुर्जाति–दोष—प्रारब्धकर्म है। वह भगवन्नामके उच्चारणसे दूर हो जाता है। इसका प्रमाण देखिये—

श्रीमद्भागवत (६/१६/४४)—

यन्नाम सकृत् श्रवणात् पुक्कसोऽपि विमुच्यते संसारात्॥ (४)

और—

नातः परं कर्म–निबन्ध–कृन्तनं,
मुमुक्षतां तीर्थ–पदानुकीर्त्तनात्।
न यत् पुनः कर्मसु सज्जते मनो,
रजस्तमोभ्यां कलिर्ल ततोऽन्यथा॥(५)

फिर देखिये—

अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान्
यज्जिह्वाग्रे वर्त्तते नाम तुभ्यम्।
तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या
ब्रह्मानुचूर्नाम गृणन्ति ये ते॥(६)

चूड़ामणि—तब भगवन्नामका उच्चारण करनेवाला चाण्डाल यज्ञादि कर्मोंको क्यों नहीं कर सकता?

वैष्णवदास—यज्ञादि कर्मोंको करनेके लिए ब्राह्मणके घर जन्म लेनेकी आवश्यकता है। जैसे ब्राह्मणके घर जन्म लेनेपर भी यज्ञोपवीत संस्कार न होने तक कर्माधिकार नहीं होता, वैसे ही हरिनामका आश्रयकर चाण्डाल शुद्ध होनेपर भी ब्राह्मणके घर शौक्र जन्म न पाने तक यज्ञका अधिकारी नहीं होता। किन्तु यज्ञकी अपेक्षा अनन्त गुण श्रेष्ठ भक्तिके अङ्गोंका आचरण कर सकता है।

---

(४) जिनका नाम एक बार सुननेसे चण्डाल भी उसी समय संसार और जातिदोषसे मुक्त हो जाता है।

(५) जो लोग इस संसार–बन्धन से मुक्त होना चाहते हैं, उनके लिए अपने चरणोंके स्पर्शसे तीर्थोंको भी तीर्थ बना देनेवाले भगवान् के नाम सङ्कीर्त्तनसे बढ़कर कोई साधन नहीं है, जिससे पापोंका समूल ध्वंस हो सके। क्योंकि भगवान्का आश्रय लेनेसे मनुष्यका मन फिर कर्मके पचड़ोंमें नहीं पड़ता। भगवन्नामके अतिरिक्त किसी भी दूसरे प्रायश्चित्तका आश्रय करनेसे मन रजोगुण और तमोगुणसे ग्रस्त ही रहता है तथा उससे पापोंका मूल रूपसे नाश नहीं होता।

(६) अहो! नाम ग्रहण करनेवाले पुरुषोंकी श्रेष्ठताकी बात और अधिक क्या कहूँ? जिनकी जिह्वाके अग्रभागमें आपका नाम उच्चारित होता है, वे चाण्डालकुलमें जन्म लेनेपर भी सर्वश्रेष्ठ हैं। उनकी ब्राह्मणता तो पूर्व जन्ममें ही सिद्ध हो चुकी है, क्योंकि जो श्रेष्ठ पुरुष आपका नाम उच्चारण करते हैं उन्होंने ब्राह्मणोंके तप, हवन, तीर्थस्नान, सदाचारका पालन और वेदाध्ययन—यह सब कुछ पहले ही कर लिया है।

चूड़ामणि—वाह, अच्छा सिद्धान्त रहा। जिसे साधारण अधिकार तक नहीं दिया गया, उसे अत्यन्त श्रेष्ठ अधिकार दिये जायें, इसका स्पष्ट प्रमाण क्या है?

वैष्णवदास—मनुष्यकी क्रियाएँ दो प्रकारकी होती हैं—व्यवहारिक और पारमार्थिक। पारमार्थिक अधिकार प्राप्त करके भी किसी-किसी व्यवहारिक क्रियाओंमें अधिकार नहीं मिलता। जैसे—एक मनुष्य जन्मसे मुसलमान है, किन्तु ब्राह्मणवर्णके स्वभाव और समस्त गुणोंसे वह युक्त है। ऐसी अवस्थामें वह व्यक्ति पारमार्थिक दृष्टिसे ब्राह्मण है, फिर भी व्यवहारिक क्रियाओंका—जैसे ब्राह्मणकी कन्यासे विवाह आदिका वह अधिकारी नहीं हो सकता।

चूड़ामणि—क्यों नहीं हो सकता? ऐसा करनेमें दोष ही क्या है?

वैष्णवदास—लोक-व्यवहारके विरुद्ध काम करनेसे व्यवहारिक दोष होता है। समाजके लोग जो व्यवहारिक सम्मानका गर्व रखते हैं, ऐसे कामोंमें वे अपनी स्वीकृति भी नहीं देते। इसलिए पारमार्थिक अधिकार होनेपर भी व्यवहार नहीं चल सकता।

चूड़ामणि—अब बतलाइये, कर्माधिकारका हेतु क्या है और भक्ति-अधिकारका हेतु क्या है?

वैष्णवदास—तत्तत्कर्मके योग्य स्वभाव और जन्म आदि व्यवहारिक कारण ही कर्माधिकारके हेतु हैं। तात्त्विक श्रद्धा ही भक्ति-अधिकारका हेतु है।

चूड़ामणि—वैदान्तिक शब्दोंसे मुझे दबानेकी चेष्टा न करें। स्पष्ट बतलाइये कि 'तत्तत्कर्मके योग्य स्वभाव' किसे कहते हैं?

वैष्णवदास—शम, दम, तपस्या, पवित्रता, सन्तोष, क्षमा, सरलता, ईश्वरकी भक्ति, दया और सत्य—ये ब्राह्मण वर्णके स्वभाव हैं। तेज, बल, धैर्य, वीरता, सहनशीलता, उदारता, उद्योगशीलता, स्थिरता, ब्रह्मण्यता और ऐश्वर्य—ये क्षत्रिय वर्णके स्वभाव हैं। ईश्वर-विश्वास, दानशीलता, निष्ठा, दम्भहीनता और अर्थ-लोलुपता—ये वैश्य वर्णके स्वभाव हैं। ब्राह्मण, गौ और देवताओंकी सेवा, जो मिले उसीमें सन्तोष—ये शूद्रवर्णके स्वभाव हैं और अशौच, मिथ्या, चोरी, नास्तिकता, वृथा कलह, काम, क्रोध तथा तृष्णाके वश होना—ये अन्त्यज वर्णके स्वभाव हैं। इन स्वभावोंके अनुसार वर्णका निरूपण करना ही शास्त्रका उद्देश्य है। केवल जन्म द्वारा वर्णका निर्णय करना—आधुनिक व्यवहारमात्र है। इन स्वभावोंके अनुरूप ही मनुष्यमें क्रिया-प्रवृत्ति और कर्मकुशलता उत्पन्न होती है अर्थात् जिस मनुष्यका जैसा स्वभाव होता है, उसकी वैसी ही क्रियाओंमें प्रवृत्ति और कर्मोंमें रुचि उत्पन्न होती है। ऐसे स्वभावोंका नाम ही ' तत्तत्कर्मयोग्य स्वभाव' है। बहुत से लोगोंका स्वभाव जन्मके अनुसार होता है और अनेक स्थलोंमें संसर्ग ही स्वभावजनक होता है। जन्म होनेके साथ ही सङ्ग आरम्भ हो जाता है, और उसी सङ्गके अनुसार स्वभावका गठन होता है। अतएव जन्मसे ही स्वभाव परिलक्षित होता है। किन्तु जन्मसे स्वभावकी उत्पत्ति होनेके कारण जन्मको ही स्वभावका एकमात्र कारण और कर्माधिकारका हेतु मानना भूल है। 'हेतु'—अनेक प्रकारके हैं। इसलिए स्वभावको देखकर कर्माधिकार निर्णय करना ही शास्त्रोंका उद्देश्य है।

चूड़ामणि—तात्त्विक श्रद्धा किसे कहते हैं?

वैष्णवदास—सरल हृदयसे ईश्वरके प्रति जो विश्वास होता है और उसके लिए जो स्वाभाविक चेष्टा उत्पन्न होती है, उसे तात्त्विक श्रद्धा कहते हैं। केवल लौकिक चेष्टाको

देखकर अशुद्ध हृदयमें जो ईश्वर सम्बन्धी भ्रान्त धारणा होती है, तथा स्वार्थके लिए दम्भ, प्रतिष्ठा और कामना-मूलक जो चेष्टा होती है, उसे 'अतात्त्विक श्रद्धा' कहते हैं कोई-कोई महाजन तात्त्विक श्रद्धाको शास्त्रीय श्रद्धा भी कहते हैं। यह तात्त्विक श्रद्धा ही भक्ति-अधिकारका कारण है।

चूड़ामणि—मान लिया, किसी व्यक्तिको शास्त्रीय श्रद्धा तो उत्पन्न हो गयी है, परन्तु उसका स्वभाव उच्च नहीं हो सका है। ऐसी अवस्थामें क्या वह भी भक्तिका अधिकारी है?

वैष्णवदास—स्वभाव कर्माधिकारका हेतु है, न कि भक्ति-अधिकारका। भक्ति-अधिकारका हेतु तो एकमात्र श्रद्धा है। श्रीमद्भागवत (११, अ० २०) में इसे स्पष्ट कर दिया गया है—

जातश्रद्धो मत्कथासु निर्विण्णः सर्वकर्मसु।
वेद दुःखात्मकान् कामान् परित्यागेऽप्यनीश्वरः॥२७॥

ततो भजेत मां प्रीतः श्रद्धालुर्दृढ़निश्चयः।
जुषमाणश्च तान् कामान् दुःखोदकांश्च गर्हयन्॥२८॥

प्रोक्तेन भक्तियोगेन भजतो माऽसकृन्मुनेः।
कामा हृदय्या नश्यन्ति सर्वे मयि हृदि स्थिते॥२९॥

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि मयि दृष्टेऽखिलात्मनि॥३०॥

यत् कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत्।
योगेन दानधर्मेण श्रेयोभिरितरैरपि॥३२॥

सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा।
स्वर्गापवर्गं मद्धाम कथञ्चिद् वाञ्छति॥३३॥ (७)

---

(७) जिस साधककी मेरी कथाओंमें श्रद्धा उत्पन्न हो गयी है, यदि वह सभी भोग और भोग-वासनाओंको दुःखरूप जानकर भी उन्हें परित्याग करनेमें समर्थ न हो, उसे चाहिये कि उन भोगोंको सच्चे हृदयसे दुःखजनक समझते हुए और मन-ही-मन उनकी निन्दा करते हुए भोगता रहे, किन्तु साथ-ही-साथ श्रद्धा, दृढ़ निश्चय और प्रीतिपूर्वक मेरा भजन भी करता रहे॥२७-२८॥

इस प्रकार मेरे बतलाये हुए भक्तियोगके द्वारा निरन्तर मेरा भजन करनेसे मैं उस साधकके हृदयमें आकर बैठ जाता हूँ और मेरे विराजमान होते ही उसके हृदयकी सारी वासनाएँ अपने संस्कारोंके साथ नष्ट हो जाती हैं॥२९॥

इस तरह जब उसे मुझ सर्वात्माका साक्षात्कार हो जाता है, तब तो उसके हृदयकी गाँठ टूट जाती है और उसके सारे संशय छिन्न-भिन्न हो जाते हैं और कर्म-वासनाएँ सर्वथा क्षीण हो जाती हैं॥३०॥

कर्म और तपस्यासे, ज्ञान और वैराग्यसे, योगाभ्यास और दानसे तथा दूसरे-दूसरे व्रत

सत्सङ्गके प्रभावसे किसी मनुष्यकी हरिकथाके श्रवणमें रुचि उत्पन्न होती है, उस समय उसे दूसरा कोई भी काम अच्छा नहीं लगता। वह दृढ़ विश्वासके साथ भगवन्नाम लेता रहता है उन भोग और भोगवासनाओंको, जिनका वह अपने पूर्व अभ्यासके कारण परित्याग करनेमें समर्थ नहीं होता, मन-ही-मन बुरा समझकर उनकी निन्दा करते-करते भोग करता है। हरिकथाके श्रवण और कीर्त्तनादिसे उसके हृदयकी सारी भोगवासनाएँ नष्ट हो जाती हैं। मेरा निरन्तर भजन करनेसे मैं उस साधकके हृदयमें बैठ जाता हूँ और मेरे विराजमान होते ही उसके सारे दोष नष्ट हो जाते हैं और कर्म वासनाएँ सर्वथा क्षीण हो जाती हैं। यह मेरी एक नित्य—विधि है। अतएव कर्म, तपस्या, ज्ञान, वैराग्य, योगाभ्यास, दान-धर्म और दूसरे कल्याण साधनोंसे जो कुछ स्वर्ग, मोक्ष, मेरा परमधाम अथवा दूसरी कोई वस्तु प्राप्त हो सकती है—वह सब मेरा भक्त मेरे भक्तियोगके प्रभावसे अनायास ही प्राप्त कर लेता है। श्रद्धासे उत्पन्न भक्तियोगका यही क्रम—पथ है।

चूड़ामणि—यदि मैं श्रीमद्भागवतको न मानूँ?

वैष्णवदास—सभी शास्त्रोंका यही एक विचार है। भागवत न माननेसे दूसरे शास्त्र आपको बाधा देंगे। बहुत शास्त्रोंको दिखलानेकी आवश्यकता न होगी, गीता सर्वसम्मतवादी ग्रन्थ है, आप पहले गीताको ही लीजिये। आपने यहाँ आते ही जिस श्लोकका उच्चारण किया था उसीमें समस्त शिक्षा भरी पड़ी है—

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥

(गीता ९/३०)

अर्थात्, अनन्यभाक् या मुझमें अनन्य भावसे श्रद्धायुक्त होकर जो भगवत्कथा और भगवन्नामके श्रवण और कीर्त्तनसे युक्त भगवद्भजनमें मग्न रहते हैं, अतिशय दुराचारी होनेके कारण उनका आचरण कर्मपद्धतिसे विरुद्ध होनेपर भी उन्हें साधु मानना चाहिये, क्योंकि उन्होंने साधु-पथका अवलम्बन किया है। तात्पर्य यह है कि कर्मकाण्डमें वर्णाश्रमादिका पथ एक प्रकारका है, ज्ञानकाण्डमें ज्ञानवैराग्यादिका पथ दूसरे प्रकारका है और सत्सङ्गमें हरिकथा तथा हरिनाममें श्रद्धाका पथ तीसरे प्रकारका है। ये तीनों पथ कभी-कभी एक ही साथ कर्मयोग, ज्ञानयोग या भक्तियोगके नामसे प्रकाशित होते हैं। कभी-कभी उनका साधन अलग-अलग भी होता है। पृथक् रूपसे साधन करनेवाले साधकोंको कर्मयोगी और ज्ञानयोगी कहा जा सकता है। इनमें भक्तियोगी सर्वश्रेष्ठ हैं। क्योंकि भक्तियोगके पृथक् साधनमें अर्थात् अनन्य भक्तियोगमें अनन्त कल्याण निहित है। अतएव गीताके प्रथम छह अध्यायोंके अन्तमें इसी सिद्धान्तकी पुष्टि की गयी है।

आदि कल्याण—साधनोंसे जो कुछ भी अत्यन्त कष्टसे प्राप्त होता है, वह सब मेरा भक्त मेरे भक्तियोगके प्रभावसे अनायास ही प्राप्त कर लेता है॥३२॥

यद्यपि मेरे भक्त निष्काम होते हैं, तथापि यदि वे स्वर्ग, अपवर्ग अर्थात् मोक्ष, मेरा परमधाम अथवा अन्य किसी भी वस्तुकी कामना करें तो प्राप्त कर लेते हैं॥३३॥

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥[८]

(गीता ६/४७)

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियोवैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥

(गीता ९/३१-३२)

"क्षिप्रं भवति धर्मात्मा"—इस श्लोकका तात्पर्य खूब अच्छी तरह समझने की आवश्यकता है। जो लोग श्रद्धालु होकर अनन्यभक्तिका आश्रय करते हैं उनके स्वभाव और चरित्र-दोष शीघ्र ही दूर हो जाते हैं। जहाँ भक्ति होती है, धर्म उसके पीछे-पीछे चलता है। भगवान् सब धर्मोंके मूल हैं। वे सहज ही भक्तिके अधीन होते हैं। भगवान्के हृदयमें विराजमान होते ही जीवको बाँधनेवाली माया तत्काल ही दूर हो जाती है—दूसरे साधनोंकी आवश्यकता नहीं होती। भक्त होते—न-होते ही धर्म भक्तके हृदयको धर्ममय कर देता है। इधर भोग—वासनाएँ दूर होते ही शान्ति आ विराजती है। इसलिए मेरी प्रतिज्ञा है कि—"मेरे भक्तोंका कभी विनाश नहीं होता।" कर्मी और ज्ञानी स्वतन्त्र होकर अपनी-अपनी साधना करते समय कुसङ्गमें पड़ सकते हैं, किन्तु मेरा भक्त मेरे सङ्गके प्रभावसे कुसङ्गमें नहीं पड़ सकता। इसलिए उसका पतन भी नहीं होता। भक्त किसी पापयोनिमें अथवा किसी ब्राह्मणके घरमें जन्म ग्रहण करे, परागति सर्वदा उसके हाथोंमें स्थित होती है।

चूड़ामणि—देखिये, हमारे शास्त्रोंमें जो जन्म द्वारा जाति-निरूपणकी व्यवस्था है, वही मानो अच्छी प्रतीत होती है। जिसने ब्राह्मणके घर जन्म लिया है, उसकी सन्ध्या और वन्दना आदि करते-करते ज्ञानकी प्राप्ति और अन्तमें मुक्ति भी अवश्य होगी। मैं समझ नहीं पा रहा हूँ कि श्रद्धा उत्पन्न कैसे होती है? गीता और भागवतमें श्रद्धा द्वारा उत्पन्न भक्तिका उपदेश पाया जाता है, किन्तु जीव उस श्रद्धाको कैसे पा सकता है—मुझे स्पष्ट बताइये।

वैष्णवदास—श्रद्धा ही जीवोंका नित्य स्वभाव है। वर्णाश्रमधर्मके अन्तर्गत जो कर्मोंमें निष्ठा देखी जाती है, वह जीवोंके शुद्ध अर्थात् नित्य-स्वभावसे नहीं, वरन् नैमित्तिक स्वभावसे उत्पन्न होती है। छान्दोग्योपनिषद् (७/१९/१) में कहा है—

"यदा वै श्रद्दधाति अथ मनुते नाश्रद्दधन् मनुते, श्रद्दधदेव मनुते, श्रद्धात्वेव विजिज्ञासितव्येति श्रद्धां भगवतो विजिज्ञास इति" [९]

---

(८) हे अर्जुन! सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो दृढ़ श्रद्धासे, मद्गतचित्तसे मेरेको निरन्तर भजता है, वही योगी मुझे परम श्रेष्ठ मान्य है।

(९) सनत्कुमारने कहा—"जिस समय मनुष्य श्रद्धा करता है, तभी वह मनन करता है, बिना श्रद्धा किये कोई मनन नहीं करता। अपितु श्रद्धा करनेवाला ही मनन करता है। अतः श्रद्धाकी ही विशेष रूपसे जिज्ञासा करनी चाहिये।" नारदजीने कहा—"मैं उसी श्रद्धाको ही

कोई-कोई सिद्धान्तविद् श्रद्धा शब्दका अर्थ—वेद और गुरु वाक्योंमें दृढ़ विश्वासका होना लगाते हैं। अर्थ बुरा नहीं है, किन्तु पूर्ण स्पष्ट नहीं है। हमारे सम्प्रदायमें श्रद्धा शब्दका अर्थ इस प्रकार किया गया है—

"श्रद्धा त्वन्योपायवर्ज्जं भक्त्युन्मुखी चित्तवृत्तिविशेषः"(१०)

(आम्नाय सूत्र-५७)

सत्सङ्गमें साधुओंकी वाणियोंको सुनते-सुनते जब साधकके चित्तमें यह भाव पैदा होता है कि कर्म, ज्ञान और योग आदि साधनोंसे जीवका नित्य—कल्याण नहीं हो सकता तथा श्रीहरिके चरणोंमें अनन्य भावसे शरण लिये बिना जीवकी कोई गति नहीं, तो समझना चाहिये कि उस साधकमें श्रद्धा उत्पन्न हो गयी है। अब श्रद्धाका स्वरूप बतलाते हैं—

"सा च शरणापत्तिलक्षणा"

(आम्नाय सूत्र-५८)

अर्थात्, शरणागति ही श्रद्धाका बाह्य लक्षण है। शरणागति क्या है—

आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्।
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्वे वरणं तथा।
आत्मनिक्षेप—कार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः॥

(हरिभक्तिविलास ११/४७)

अर्थात्, अनन्य भक्तिके अनुकूल आचरण करूँगा तथा प्रतिकूलका वर्जन करूँगा—ऐसी प्रतिज्ञा, केवल भगवान् ही मेरे रक्षक हैं, ज्ञान योगाभ्यास, तपस्यादिसे मेरा कुछ भी कल्याण न होगा—ऐसा विश्वास, मेरी अपनी चेष्टाके बावजूद भी मेरा कुछ लाभ नहीं हो सकता, अथवा अपना पोषण आप नहीं कर सकता, मैं भगवान्‌की यथाशक्ति सेवा करूँगा, वे हमारा पालन-पोषण करते हैं—ऐसी निर्भरता, मैं कौन हूँ? मैं उनका हूँ और उनकी इच्छाको पूर्ण करना ही मेरा कर्त्तव्य है—ऐसा आत्मनिवेदन, मैं दीन-हीन और अकिञ्चन हूँ—ऐसा दैन्य—ये सब भाव मिलकर अन्तःकरणमें प्रवेशकर जिस वृत्तिको प्रकाशित करते हैं, उसे श्रद्धा कहते हैं। ऐसा श्रद्धालु जीव ही भक्तिका अधिकारी है। यह नित्यमुक्त जीवकी प्राथमिक अवस्था है। अतएव यही जीवोंका नित्य स्वभाव है। इसके अतिरिक्त दूसरे सभी स्वभाव नैमित्तिक हैं।

चूड़ामणि—समझ गया। किन्तु आपने अभी तक यह नहीं बतलाया कि श्रद्धा किसे कहते हैं। यदि सत्कर्मसे श्रद्धाका उदय होता है, तब तो मेरा पक्ष ही अधिक बलवान रहता है। क्योंकि वर्णाश्रमके सत्कर्म और स्वधर्मका अच्छी तरह पालन किये बिना श्रद्धा उत्पन्न नहीं हो सकती। जब मुसलमानोंमें वैसे सत्कर्म नहीं हैं, तब वे भक्तिके अधिकारी कैसे हो सकते हैं?

वैष्णवदास—श्रद्धा सुकृतिसे उत्पन्न होती है। बृहन्नारदीयपुराणमें कहा गया है—

भक्तिस्तु भगवद्भक्तसंगेन परिजायते।

विशेष रूपसे जाननेकी इच्छा करता हूँ।"

(१०) कर्म, ज्ञान और अन्याभिलाष रहित जीवकी उस विशेष चित्तवृत्तिका नाम श्रद्धा है, जो केवल भक्तिकी तरफ उन्मुख करती है।

सत्संगः प्राप्यते पुंभिः सुकृतैः पूर्वसञ्चितैः॥[११]

सुकृति दो प्रकारकी है—नित्य और अनित्य। जिस सुकृतिसे सत्सङ्ग और भक्ति लाभ हो, वह नित्य सुकृति है। जिस सुकृतिसे भुक्ति और अभेद मुक्ति लाभ हो, वह नैमित्तिक सुकृति है। जिसका फल नित्य होता है, वह नित्य सुकृति है और जिसका फल किसी निमित्तपर आश्रित रहता है अर्थात् अनित्य होता है, वह अनित्य सुकृति है। सब तरहकी मुक्तियाँ स्पष्ट रूपसे निमित्ताश्रयी हैं, क्योंकि वे नित्य नहीं हैं। कितने ही लोग मुक्तिको नित्य मानते हैं, किन्तु उनका ऐसा सिद्धान्त मुक्तिका सच्चा-स्वरूप न जाननेके कारण होता है। आत्मा शुद्ध, नित्य और सनातन है। जड़ या मायाका संसर्ग ही जीवात्माके बन्धनका कारण या निमित्त है। उसे पूर्ण रूपसे छेदन करनेका नाम मुक्ति है। क्षणभरमें ही इस बन्धनका मोचन होता है। मोचन-कर्म नित्य नहीं है। मोचन होते ही मुक्तिकी बात वहीं समाप्त हो जाती है। निमित्तका नाश ही मुक्ति है। अतएव मुक्ति एक नैमित्तिक भावमात्र है। किन्तु भगवान्‌के चरणोंके प्रति जीवके हृदयमें जो रति होती है वह कभी स्थगित नहीं होती। इसीलिए वह नित्यधर्म है और उसके किसी अंश या अङ्गको शुद्ध-विचारसे नैमित्तिक नहीं कहा जा सकता। जो भक्ति मुक्तिको देकर वहीं समाप्त हो जाती है, वह नैमित्तिक कर्मके अन्तर्गत एक कर्ममात्र है। और जो भक्ति मुक्तिके पहलेसे वर्त्तमान है, मुक्तिके साथ वर्त्तमान है तथा मुक्तिके बाद भी वर्त्तमान रहेगी—वह भक्ति एक पृथक् नित्य-तत्त्व है और वही जीवका नित्यधर्म है। मुक्ति भक्तिके निकट एक अवान्तर फलमात्र है। मुण्डकोपनिषद् में कहा है—

परीक्ष्य लोकान् कर्म-चितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्॥[१२]

कर्म, योग, ज्ञानादि सभी नैमित्तिक सुकृत हैं। भक्तसङ्ग और भक्ति—क्रियाका सङ्ग ही नित्य सुकृत है। जिन्होंने जन्म-जन्मान्तरोंमें नित्य-सुकृत उपार्जन किया है उन्हींको श्रद्धा होती है। नैमित्तिक सुकृतके अन्यान्य फल होते हैं, किन्तु उससे अनन्य भक्तिमें श्रद्धा उत्पन्न नहीं होती।

चूड़ामणि—भक्तसङ्ग और भक्ति-क्रिया किसे कहते हैं, स्पष्ट बतलाइये। ये दोनों किन-किन सुकृतियोंसे होते हैं?

वैष्णवदास—शुद्ध भक्तोंके साथ कथोपकथन, उनकी सेवा और उनकी कथाएँ सुनना—इनको 'भक्तसङ्ग' कहते हैं। शुद्ध भक्तलोग नगर—सङ्कीर्त्तनादि भक्ति—क्रियाओंका अनुष्ठान

---

(११) भगवद्भक्तोंके सङ्ग—प्रभावसे भक्तिवृत्तिका प्रकाश होता है। जीव पूर्व—पूर्व जन्मोंके संचित सुकृतियोंके फलसे ही विशुद्ध भक्तोंका सङ्ग प्राप्त करते हैं।

(१२) कर्म द्वारा प्राप्त किये जानेवाले लोकोंकी परीक्षा करके अर्थात् कर्मके फलको लौकिक और अनित्यमात्र उपलब्धिकर तथा कर्मसे अतीत नित्यवस्तु भगवान् पार्थिव (सकाम) कर्मोंसे नहीं मिल सकते—ऐसा मानकर ब्राह्मणको कर्मसे सर्वथा विरक्त हो जाना चाहिए और उस भगवत्स्वरूपका तत्त्वज्ञान लाभ करनेके लिए हाथमें समिधा लेकर श्रद्धा और विनय भावके साथ तन, मन और वचनसे वेदज्ञ और भगवत्सेवा—निष्ठ ब्रह्मज्ञ सद्गुरुकी शरणमें जाना चाहिये।

करते हैं। भक्तिकी ऐसी क्रियाओंमें सम्मिलित होने अथवा स्वयं कोई भक्ति-क्रिया करनसे 'भक्ति-क्रिया-सङ्ग' होता है। शास्त्रोंमें हरि मन्दिर-मार्जन, तुलसीके पास प्रदीप-दान, हरिवासर (एकादशी, जन्माष्टमी, रामनवमी आदि) का पालन—इन्हें भक्ति-क्रिया कहते हैं। ये भक्ति-क्रियाएँ यदि शुद्ध श्रद्धाके साथ पालन न भी की जायें, तो भी उनसे भक्ति=पोषक सुकृत होता है। उस सुकृतके बलवान् होनेपर साधु-सङ्ग और अनन्य भक्तिमें जन्म-जन्मान्तर तक श्रद्धा होती रहती है। 'वस्तु-शक्ति' नामक एक शक्ति माननी चाहिये। भक्ति क्रिया मात्रमें भक्ति पोषक शक्ति होती है। श्रद्धाके साथ यदि किया जाये तो कहना ही क्या है, अवहेलनाके साथ करनेसे भी सुकृत होता है। प्रभास-खण्डमें लिखा है—

मधुरमधुरमेतन्मङ्गलं मङ्गलानां,
सकल निगमवल्लीसत्फलं चित्स्वरूपम्।
सकृदपि परिगीतं श्रद्धया हेलया वा,
भृगुवर नरमात्रं तारयेत् कृष्णनाम॥[१३]

इस तरह जितने प्रकारके भक्ति-पोषक सुकृत हैं, वे सभी नित्य-सुकृत हैं। क्रमशः इन सुकृतोंके बलवान होनेपर अनन्य भक्तिमें श्रद्धा होती है और साधुसङ्ग लाभ होता है। नैमित्तिक दुष्कृतके कारण किसी मनुष्यका जन्म मुसलमानके घर होता है, परन्तु फिर भी नित्य सुकृतके कारण अनन्य भक्तिमें उसकी श्रद्धा होती है। इसमें आश्चर्य क्या है?

चूड़ामणि—मेरे कहनेका तात्पर्य यह है कि यदि भक्ति-पोषक सुकृत नामक कोई वस्तु है तो वह भी किसी अन्य प्रकारके सुकृतसे ही उत्पन्न होती है। अन्य प्रकारका सुकृत मुसलमानोंमें नहीं है—अतएव उनमें भक्ति-पोषक सुकृतका होना भी सम्भव नहीं।

वैष्णवदास—ऐसा विश्वास करना उचित नहीं। नित्य-सुकृत और नैमित्तिक-सुकृत परस्पर निरपेक्ष हैं। दुष्कृतोंसे भरा हुआ एक दुराचारी व्याध शिवरात्रिके दिन दैवात् उपवास और जागरण करनेसे हरिभक्तिका अधिकारी हुआ था। **"वैष्णवानां यथा शंभुः"** (श्रीमद्भा०) इस वाक्यसे महादेव परमपूज्य वैष्णव हैं। उनके व्रतका पालन करनेसे हरिभक्ति लाभ होती है।

चूड़ामणि—तो क्या आप कहना चाहते हैं कि नित्य-सुकृत घटनाचक्रसे घटित होता है?

वैष्णवदास—सभी कुछ घटनाचक्रसे हुआ करता है। कर्म-मार्गमें भी ऐसा ही होता है। सर्वप्रथम जीवने जिसके द्वारा कर्म-चक्रमें प्रवेश किया है, वह आकस्मिक घटनाके अतिरिक्त और क्या है? यद्यपि मीमांसकोंने कर्मको अनादि बतलाया है, तथापि कर्मका एक मूल है। और वह मूल है—भगवत्-विमुखता। इस तरह नित्य सुकृत भी आकस्मिक घटना ही जान पड़ता है। श्वेताश्वतर उपनिषद्का कहना है—

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नो ह्यनीशया शोचति मुह्यमानः।

---

(१३) हरिनाम सब प्रकारके मङ्गलोंमें श्रेष्ठ मङ्गलस्वरूप है, मधुरसे भी सुमधुर है। वह निखिल श्रुति-लताओंका चिन्मय सुपक्वफल है। हे भार्गव श्रेष्ठ, श्रद्धासे हो अथवा अवहेलनासे, मनुष्य यदि स्पष्ट रूपसे एकबार भी निरपराध होकर 'कृष्ण' नामका उच्चारण करे, तो वह नाम उसी समय मनुष्यको तार देता है।

जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमेति वीतशोकः॥[१४]

(श्वे० उ० ४/७)

श्रीमद्भागवतमें भी—

भवापवर्गो भ्रमतो यदाभवेज्जनस्य तर्ह्यच्युतसत्समागमः।
सत्संगमो यर्हि तदैव सद्गतौ परावरेशे त्वयि जायते रतिः॥[१५]

(श्रीमद्भा० १०/५१/५३)

सतां प्रसङ्गान्मम वीर्यसम्विदो भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः।
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति॥[१६]

(श्रीमद्भा० ३/२५/२५)

चूड़ामणि—क्या आपके विचारसे हिन्दू और मुसलमानमें कोई भेद नहीं है?

वैष्णवदास—भेद दो प्रकारक होते हैं—पारमार्थिक और व्यवहारिक। हिन्दू और मुसलमान में पारमार्थिक भेद नहीं है, परन्तु व्यवहारिक भेद है।

चूड़ामणि—आप बारम्बार बागाडम्बर क्यों उपस्थित करते हैं? हिन्दू और मुसलमानका व्यवहारिक भेद किस प्रकार होता है?

वैष्णवदास—सांसारिक व्यवहारको व्यवहार कहते है। संसारमें मुसलमान अस्पृश्य हैं, अतएव व्यवहारिक दृष्टिसे मुसलमान अस्पृश्य अर्थात् व्यवहारके योग्य नहीं हैं। मुसलमानका छूआ हुआ जल हिन्दुओंके व्यवहार योग्य नहीं है। दुर्जातित्वके कारण मुसलमानोंका शरीर भी हेय है, अतः छूने योग्य नहीं है।

चूड़ामणि—फिर पारमार्थिक दृष्टिसे ये अभेद कैसे हो सकते हैं?

वैष्णवदास—शास्त्रोंमें इस बातकी स्पष्ट शब्दोंमें घोषणा की गयी है। "भृगुवर नरमात्रं तारयेत् कृष्णनाम"—इस वाणीके अनुसार मुसलमान आदि सभी मनुष्य परमार्थ-लाभ करनेके विषयमें समान हैं। जिनमें नित्य सुकृतका अभाव है, वे दो पैरके पशु हैं, क्योंकि कृष्णनाममें उनका विश्वास नहीं होता। अतः मनुष्य जन्म पाकर भी उनमें मनुष्यत्वका

---

(१४) जीव और अन्तर्यामी परमात्मा—ये दोनों तत्त्व एकही देहरूप वृक्षपर निवास करते हैं। जिनमें जीवतत्त्व माया द्वारा मोहित होकर देहात्मबुद्धिके वश होनेके कारण असमर्थ हुआ शोक करता है। जब सद्गुरुकी कृपासे वह अनन्य भक्तों द्वारा सेवित अपनेसे भिन्न परमेश्वरका दर्शन करता है तथा उनकी महिमा श्रवण करता है, तब सर्वथा शोकरहित हो जाता है।

(१५) अपने स्वरूपमें नित्य स्थित रहनेवाले भगवन्! जीव अनादिकालसे जन्म—मृत्युरूप संसारके चक्करमें भटक रहा है। उस चक्करसे छूटनेका समय आता है तब उसे सत्सङ्ग प्राप्त होता है। यह निश्चय है कि जिस क्षण सत्सङ्ग प्राप्त होता है, उसी क्षण सन्तोंके आश्रय, चित्-अचित्के ईश्वर! आपमें जीवकी बुद्धि अत्यन्त दृढ़तासे लग जाती है।

(१६) सत्पुरुषोंके समागमसे मेरे पराक्रमोंका यथार्थ ज्ञान करानेवाली तथा हृदय और कानोंको प्रिय लगनेवाली वीर्यवती कथाएँ होती हैं। उनका सेवन करनेसे शीघ्र ही अविद्या निवृत्तिके पथस्वरूप मुझमें श्रद्धा, रति और प्रेमभक्तिका क्रमशः विकास होता है।

अभाव होता है। महाभारतमें कहा गया है—

महाप्रसादे गोविन्दे नामब्रह्मणि वैष्णवे।
स्वल्पपुण्यवतां राजन् विश्वासो नैव जायते॥(१७)

नित्य-सुकृत, जीवको पवित्र करनेवाला महान् पुण्य है। नैमित्तिक सुकृत क्षुद्र—पुण्य है, इसके द्वारा चिन्मय विषयमें श्रद्धा उत्पन्न नहीं होती। महाप्रसाद, कृष्ण, कृष्णनाम और वैष्णव—ये चारों इस जगत् में चिन्मय और चित्-प्रकाशक हैं।

चूड़ामणिने मुस्कराते हुए कहा—फिर वही, अजीब बातें! दाल भात अथवा सब्जी भला चिन्मय कैसे हो सकती है? वैष्णवलोग सब कुछ कर सकते हैं।

वैष्णवदास—आप चाहें जो कुछ करें, किन्तु वैष्णवोंकी निन्दा न करें—मेरी यह प्रार्थना है। क्योंकि विचार-स्थलमें विषयके ऊपर विचार होना चाहिये, वैष्णव निन्दाकी आवश्यकता ही क्या है? महाप्रसादके अतिरिक्त संसारमें ग्रहण करने योग्य और कोई वस्तु है ही नहीं। क्योंकि वह चित्का उद्दीपक और जड़ताको दूर करनेवाला है। ईशोपनिषद् कहते हैं—

ईशावास्यमिदं सर्वं यत् किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्॥(१८)

(ईशोपनिषद्)

अखिल ब्रह्माण्ड भगवत्-शक्तिसे सम्बन्धयुक्त है। समस्त वस्तुओंमें चित्-शक्तिका सम्बन्ध दर्शन करनेसे बहिर्मुख भोग नहीं होता। अन्तर्मुख जीवको जगत्में अपने शरीरयात्राके निर्वाहके लिए जो कुछ ग्रहण करनेकी आवश्यकता है, उन सबको भगवत्—प्रसाद समझकर यदि वह ग्रहण करे, तो उसका अधःपतन नहीं होता, वरन् उसकी चिदुन्मुखी प्रवृत्ति विकसित होने लगती है। इसीका नाम महाप्रसाद है। बड़े दुःखकी बात है कि ऐसी अपूर्व वस्तुमें भी आपका विश्वास नहीं है।

चूड़ामणि—अच्छा, उस विषयको छोड़िये। अब मूल विषयपर आइये। मुसलमानोंके साथ आप लोगोंका व्यवहार कैसा होना उचित है?

वैष्णवदास—मनुष्य जब तक मुसलमान रहे, तब तक उसकी ओरसे हम लोग उदासीन रहते हैं। कोई पहले मुसलमान था, परन्तु अब नित्य सुकृतिके बलसे वैष्णव हो गया है, तब हम उसे मुसलमान नहीं मानते। इस विषयमें शास्त्रका सुस्पष्ट विचार है—

शूद्रं वा भगवद्भक्तं निषादं श्वपचं तथा।
वीक्ष्यते जातिसामान्यात् स याति नरकं ध्रुवम्॥(१९)

---

(१७) अल्प सुकृतिवान् मनुष्यको भगवान्के उच्छिष्ट महाप्रसाद, श्रीगोविन्द, नाम—ब्रह्म और वैष्णवोंमें श्रद्धा नहीं होती।

(१८) अखिल ब्रह्माण्डमें जो कुछ भी जड़-चेतन है, समस्त ईश्वरमें अवस्थित है तथा साथ ही उससे व्याप्त है, अतएव त्यागपूर्वक (इसे) भोगते रहो, किसीके धनमें आसक्त न होओ।

(१९) भगवद्भक्त चारों वर्णोंमें सबसे अधम शूद्र वर्णका हो अथवा वर्णसे बहिर्भूत व्याध या चाण्डाल किसी भी कुलका क्यों न हो, जो उसको उस कुलमें उत्पन्न होनेके कारण उसी जातिका व्यक्ति मानता है, वह निश्चय ही नरकमें गमन करता है।

(पद्मपुराण)

न मे प्रियश्चतुर्वेदी मद्भक्तः श्वपचः प्रियः।
तस्मै देयं ततो ग्राह्यं स च पूज्यो यथा ह्यहम्॥[२०]

(ह० भ० वि० धृत इतिहास समुच्चय वाक्य)

चूड़ामणि—समझा। गृहस्थ वैष्णव किसी मुसलमान वैष्णवके साथ वैवाहिक सम्बन्ध रख सकता है या नहीं?

वैष्णवदास—व्यवहारिक विषयमें मुसलमान जगत् के लिए मरने तक मुसलमान ही रहता है, किन्तु पारमार्थिक विषयमें भक्ति प्राप्त करनेके बाद वह मुसलमान नहीं रह जाता। स्मार्त्त-कर्म दस प्रकारके हैं—उनमें विवाह भी एक है। अतएव गृहस्थ वैष्णव यदि हिन्दू हो अर्थात् चारों वर्णोंके अन्तर्गत हो, तो उसे अपने वर्णमें ही वैवाहिक सम्बन्ध करना चाहिये। क्योंकि संसार-यात्राके निर्वाहके लिए वर्ण-धर्म नैमित्तिक होनेपर भी उनके लिए वही अच्छा है। इससे यह नहीं समझना चाहिये कि वर्ण-व्यवहार छोड़नेसे ही वैष्णव हुआ जाता है। भक्तोंका भक्तिके अनुकूल कार्योंको करना कर्त्तव्य है। वर्ण-धर्ममें वैराग्य होनेपर उसका त्याग किया जा सकता है। उस समय वर्ण-धर्मके साथ सबका परित्याग हो जाता है।

वर्ण-धर्म भजनके प्रतिकूल होनेपर अनायास ही उसका त्याग किया जा सकता है और मुसलमानी-समाज भी भजनके प्रतिकूल होनेपर श्रद्धालु मुसलमान भी उस समाजको त्याग करनेका अधिकारी है। अपने-अपने समाजको त्याग करनेके उपयुक्त अधिकारी हिन्दू और मुसलमान—दोनों यदि वैष्णव हो जायें, तो फिर उनमें भेद ही कहाँ रहा? क्योंकि दोनों ही अपने-अपने व्यवहार छोड़ चुके हैं। अब परमार्थ विषयमें दोनों भाई-भाई हैं। गृहस्थ-वैष्णवके लिए ऐसा नियम नहीं है। भजनके प्रतिकूल होनेपर भी समाजको त्याग करनेका पूरा अधिकार प्राप्त न होने तक गृहस्थ-वैष्णवोंको समाजका त्याग नहीं करना चाहिये। परन्तु जब उनके हृदयमें भजनके अनुकूल विषयोंके प्रति दृढ़ आदरका भाव पैदा हो जाये, तब वे सहज ही समाजका त्यागकर सकते हैं। श्रीमद्भागवतमें भी है—

आज्ञायैव गुणान् दोषान् मयादिष्टानपि स्वकान्।
धर्म्मान् सन्त्यज्य यः सर्वान् मां भजेत् स च सत्तमः॥[२१]

(श्रीमद्भा० ११/११/३२)

गीताके चरम सिद्धान्तके रूपमें भी यही प्रतिपादित हुआ है—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥[२२]

---

(२०) भक्तिहीन चतुर्वेदी ब्राह्मण मुझे प्रिय नहीं, परन्तु मेरा भक्त—चाण्डाल कुलमें जन्म ग्रहण करनेपर भी मुझे अधिक प्रिय है। वही दानका सत्पात्र है तथा उसीकी कृपा ग्रहण करनेके योग्य है। वह निश्चय ही मेरे समान पूज्य है।

(२१) स्वयं-भगवान् कहते हैं—मैंने स्वयं वेदोंमें जिन कर्मोंका उपदेश दिया है, उसका गुण-दोष विचारकर उन कर्मोंका सम्पूर्ण रूपसे परित्यागकर जो भक्त मेरे ही भजनमें लगा रहता है, वह परम सन्त है।

(२२) कर्म और ज्ञानादि समस्त नैमित्तिक धर्मोंका परित्यागकर एकमात्र मेरे (भगवान्

(गीता १८/६६)

पुनः भागवतमें इसकी पुष्टि की गयी है—

यदा यस्यानुगृह्णाति भगवानात्मभावितः।
स जहाति मतिं लोके वेदे च परिनिष्ठिताम्॥[२३]

(श्रीमद्भा० ४/२९/४६)

चूड़ामणि—मुसलमान यदि यथार्थ रूपमें वैष्णव हो, तो आप लोग उसके साथ एकत्र खानपानका व्यवहार कर सकते हैं या नहीं?

वैष्णवदास—निरपेक्ष वैष्णव उनके साथ बैठकर महाप्रसादका सेवन कर सकते हैं। किन्तु गृहस्थ वैष्णव उनके साथ एक जगह खानपान नहीं कर सकते। परन्तु जहाँ तक विष्णु और वैष्णवोंके प्रसादका प्रश्न है गृहस्थ वैष्णवको भी उनके साथ एक जगह खानेमें कोई अड़चन नहीं, प्रत्युत् उनका तो वह कर्त्तव्य है।

चूड़ामणि—तब वैष्णवोंके मन्दिरमें एक मुसलमान-वैष्णवको सेवा-पूजामें अधिकार क्यों नहीं दिया जाता?

वैष्णवदास—मुसलमान कुलमें उत्पन्न वैष्णवको मुसलमान कहनेसे अपराध होता है। वैष्णव मात्रका कृष्ण-सेवामें अधिकार है। यदि गृहस्थ वैष्णव देव-सेवामें वर्णाश्रमके विरुद्ध कोई कार्य करता है तो उसे व्यवहारिक दोष लगता है। निरपेक्ष वैष्णवोंके लिए मूर्त्ति पूजाकी व्यवस्था नहीं है। वे मूर्ति पूजा नहीं करते, क्योंकि मूर्ति सेवासे वैष्णवकी निरपेक्षतामें विशेष व्याघात पहुँचता है। वे लोग श्रीराधा-वल्लभकी मानसिक-सेवा करते हैं।

चूड़ामणि—समझ गया। अब यह बतलाइये कि ब्राह्मणोंके सम्बन्धमें आपलोगोंकी क्या धारणा है?

वैष्णवदास—ब्राह्मण दो प्रकारके हैं—स्वभाव-सिद्ध ब्राह्मण और केवल जातिसिद्ध ब्राह्मण। स्वभाव-सिद्ध ब्राह्मण प्रायः वैष्णव होते हैं। अतएव उनका सम्मान सर्वसम्मत है। जातिसिद्ध ब्राह्मणोंका व्यवहारिक सम्मान है। इसमें वैष्णवोंकी भी यही सम्मति है। इस विषयमें शास्त्रोक्त विचार यह है—

विप्राद् द्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभ—
पादारविन्द—विमुखात् श्वपचं वरिष्ठम्।
मन्ये तदर्पित मनोवचनेहितार्थ—
प्राणं पुनाति स्वकुलं न तु भूरिमानः॥[२४]

कृष्णके) शरणमें आ जा। मैं तुम्हें—धर्मत्यागसे उत्पन्न सारे पापोंसे मुक्त कर दूँगा। शोक न करो।

(२३) किसी जीवका अपने प्रति आत्मनिवेदन देखकर अथवा उसकी आत्मवृत्ति द्वारा अपनी सेवा होती देखकर जब भगवान् उस जीवके प्रति अनुग्रह करते हैं, उसी समय वह भक्त लौकिक अर्थात् पार्थिव और वैदिक समस्त कर्मोंकी आसक्तिका परित्याग कर देता है।

(२४) मेरी समझसे बारह गुणोंसे युक्त ब्राह्मण भी भगवान् पद्मनाभके चरणकमलोंसे विमुख हो, तो उससे चाण्डालकुलमें उत्पन्न वह भक्त श्रेष्ठ है, जिसने अपने मन, वचन, कर्म और धन कृष्णके चरणोंमें समर्पित कर रखे हैं, क्योंकि वह चाण्डाल तो अपने कुलके

(श्रीमद्भा० ७/९/१०)

चूड़ामणि—शूद्र आदिको वेद पाठमें अधिकार नहीं है। शूद्र वैष्णव होनेपर वेद पढ़ सकता है या नहीं?

वैष्णवदास—चाहे किसी भी वर्णका क्यों न हो, शुद्ध वैष्णव होनेसे पारमार्थिक ब्राह्मणता उसे स्वाभाविक रूपसे प्राप्त हो जाती है। वेद दो भागों में विभक्त हैं, अर्थात् कर्म प्रतिपादक वेद और तत्त्व प्रतिपादक वेद। व्यवहारिक ब्राह्मणोंका अधिकार कर्म प्रतिपादक वेदमें होता है और पारमार्थिक ब्राह्मणोंका तत्त्व-प्रतिपादक वेदमें। शुद्ध वैष्णव जिस किसी भी वर्णमें उत्पन्न क्यों न हुए हों, वे तत्त्व-प्रतिपादक वेदका अध्ययन और अध्यापन कर सकते हैं तथा ऐसा करते भी हैं। यथा बृहदारण्यकोपनिषद् (४/४/२१) में—

तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः॥

अर्थात्, धीर और स्थिर ब्रह्मज्ञ व्यक्ति परमब्रह्म भगवान्‌को विशेष रूपसे जानकर उनके प्रति प्रकृष्ट अर्थात् उत्तम ज्ञानस्वरूप प्रेमभक्ति करेंगे।

बृहदारण्यकोपनिषद् (३/८/१०) में और एक जगह कहा गया है—

यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वा-
अस्माल्लोकात् प्रेति सः कृपणः।
अथ य एतदक्षरं विदित्वा-
अस्माल्लोकात् प्रैति स ब्राह्मणः॥[२५]

व्यवहारिक ब्राह्मणोंके सम्बन्धमें मनुजीने कहा है—

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवनेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः॥[२६]

(मनुस्मृति २/१६८)

तत्त्व-प्रतिपादक वेदका अधिकार वेदोंमें इस प्रकार निरूपण किया गया है—

यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥[२७]

(श्वे० उ० ६/२३)

साथ अपने प्राण तक को पवित्र कर लेता है, किन्तु बड़प्पनका अभिमान रखनेवाला वह ब्राह्मण अपनेको भी पवित्र नहीं कर सकता है।

(२५) हे गार्गि! अक्षर ब्रह्म अर्थात् विष्णु वस्तुको न जानकर ही जो लोग इस लोकसे चले जाते हैं। वे अत्यन्त कृपण-नीच शूद्र हैं और जो उन अक्षर ब्रह्मको जानकर इस संसारसे प्रस्थान करते हैं, वे ब्रह्मज्ञ ब्राह्मण हैं।

(२६) जो द्विज अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य उपनयन संस्कारके बाद वेदका अध्ययन न कर अर्थ, विज्ञान और तर्क आदि दूसरे—दूसरे शास्त्रोंके अध्ययन आदिमें परिश्रम करते हैं, वे अपनी जीवित अवस्थामें ही वंशके साथ शीघ्र ही शूद्रत्वको प्राप्त होते हैं।

(२७) जिस साधकको श्रीभगवान् में पराभक्ति है तथा जिस प्रकार भगवान्‌में है उसी प्रकार अपने गुरुमें भी शुद्धाभक्ति है, उसी महात्माके सम्बन्धमें इन श्रुतियोंका रहस्यमय अर्थ सम्पूर्ण रूपसे प्रकाशित होता है।

'पराभक्ति' से शुद्धाभक्तिको समझना चाहिये। इस विषयमें मैं अधिक कुछ कहना नहीं चाहता, आप समझ लीजियेगा। संक्षेपमें यों कहा जा सकता है कि जिनकी अनन्य भक्तिमें श्रद्धा उत्पन्न हो चुकी है वे तत्त्व-प्रतिपादक वेद अध्ययनके अधिकारी हैं तथा जिन्हें अनन्यभक्ति प्राप्त हो चुकी है, वे तत्त्व-प्रतिपादक वेदोंके अध्यापक होनेके अधिकारी हैं।

चूड़ामणि—क्या आपलोगोंने यह सिद्धान्त कर रखा है कि तत्त्व-प्रतिपादक वेद केवल वैष्णवधर्मकी ही शिक्षा देता है, और किसी धर्मकी शिक्षा नहीं देता?

वैष्णवदास—धर्म एक है, दो नहीं, इसका नाम नित्यधर्म या वैष्णवधर्म है। इसी धर्मके सोपानके रूपमें समस्त नैमित्तिक धर्मोंका उपदेश दिया गया है। भगवान् एकादश-स्कन्धमें कहते हैं—

कालेन नष्टा प्रलये वाणीयं वेदसंज्ञिता।
मयादौ ब्रह्मणे प्रोक्ता धर्मो यस्यां मदात्मकः॥[२८]

कठोपनिषद् (१/३/९) का भी कथन है—

सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति***
तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि।[२९]

(श्रीमद्भा० ११/१४/४)

'तद्विष्णोः परमं पदम्'[३०] **इत्यादि**

यहाँ तक विचार होनेपर देवी विद्यारत्न और उनके साथियोंका मुख सूख गया। अध्यापक लोगोंका उत्साह बिलकुल जाता रहा। सन्ध्याके पाँच बज गये थे। सबने प्रस्ताव किया, आजका विचार यहीं स्थगित किया जाये। सर्वसम्मति से सभा भङ्ग हुई। ब्राह्मण पण्डित वैष्णवदासके पाण्डित्यकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए चले गये। वैष्णवलोग भी हरि-ध्वनि देकर अपने-अपने स्थानोंको चले गये।

॥छठा अध्याय समाप्त॥

---

(२८) भगवान् ने कहा—जिसमें मेरी वाणियोंका (भागवत धर्मका) वर्णन है, वही वेद वाणी समयके फेरसे प्रलयकालमें लुप्त हो गयी थी। फिर ब्रह्मकल्पके आदिमें—सृष्टिके समय मैंने उसका ब्रह्माको उपदेश किया था।

(२९) सम्पूर्णवेद जिस पदको बारम्बार परम प्राप्य बतलाते हैं, मैं उसे तुम्हारे निकट संक्षेपमें वर्णन कर रहा हूँ।

(३०) वही विष्णुका अर्थात् परम व्यापक परमात्मा वासुदेवका परमपद है इत्यादि।

सातवाँ अध्याय
नित्यधर्म और संसार

सरस्वती नदीके तटपर सप्तग्राम नामक एक बहुत ही प्राचीन नगर था। वहाँ बहुत दिनसे हजारों स्वर्णकार वास करते थे। श्रीउद्धारणदत्तके समयसे नित्यानन्द प्रभुकी कृपासे वे लोग श्रीहरिनाम सङ्कीर्त्तनमें मस्त रहा करते थे। उसी नगरमें एक बहुत ही कृपण स्वर्णकार रहता था। उसका नाम था—चण्डीदास। वह धन खर्च होनेके डरसे वहाँके नागरिकोंके हरि-सङ्कीर्त्तनमें शामिल नहीं होता। इस तरह उसने कंजूसीसे बहुत-सा धन जमा कर लिया था। उसकी पत्नी दमयन्ती भी पतिका स्वभाव पाकर अतिथियों और वैष्णवोंका तनिक भी आदर-सत्कार नहीं करती थी। युवावस्थामें ही उन्हें चार पुत्र और दो कन्याएँ पैदा हुईं। कन्याओंका क्रमशः विवाह देकर उन्होंने पुत्रोंके लिए प्रचुर धन जमा कर रखा था।

जिस घरमें सन्तोंका आना जाना नहीं होता, उस घरके लड़कोंमें दया-धर्म सहज ही कम होता है। लड़के जैसे-जैसे बड़े होने लगे, वे अधिकतर स्वार्थी होते गये, यहाँ तक कि रुपयोंके लोभसे माता-पिताकी मृत्युकी सर्वदा कामना करने लगे। वणिक दम्पतिके दुःखकी सीमा न रही। क्रमशः पुत्रोंका भी विवाह हो गया। वधुएँ क्रमशः बड़ी होने लगीं। वे भी अपने-अपने पतियों जैसा स्वभाव प्राप्तकर सास-ससुर के मरनेकी कामना करने लगीं। कुछ समय पश्चात् पुत्र समझदार हो गये। दुकानदारीका काम अच्छी तरह सँभालने लगे। लेन-देन काफी होने लगा। अब वे पिताके धनका आपसमें बँटवारा कर अपना व्यवसाय खूब अच्छी तरहसे चलाने लगे।

एक दिन चण्डीदासने सबको अपने पास बुलाकर कहा—देखो, मैंने बचपनसे कंजूसी करके तुम लोगोंके लिए कितना धन रख छोड़ा है। हमने कभी भी अपने लिए अच्छे खाने और अच्छे कपड़ोंकी परवाह नहीं की। तुम्हारी माताने भी इसी तरहसे जीवन बिताया है। अब हमलोग प्रायः वृद्ध हो चले हैं। ऐसी अवस्थामें हम दोनोंकी सेवा करना तुम लोगोंका धर्म है। किन्तु हमें दुःख है कि तुमलोग हम दोनोंका अत्यन्त अनादर किया करते हो। हमारे पास अब भी कुछ गुप्त धन है, उसे मैं उसीको दूँगा, जो हमारी अच्छी तरह सेवा करेगा।

पुत्रों और पुत्र-वधुओंने मौन होकर उनकी बातोंको सुना और अलग जाकर परस्पर परामर्श किया—पता नहीं, पिताजी अन्यायपूर्वक अपना गढ़ा हुआ धन किसे दे दें। क्यों न उनको तीर्थ करनेके लिए अन्य किसी स्थानपर भेज दिया जाये और उनकी अनुपस्थितिमें सारा धन चुराकर परस्पर बाँट लिया जाये। बात पक्की हो गयी। सबने मिलकर स्थिर किया कि हो-न-हो पिताजीने वह धन अपने शयन कक्षमें ही गाड़ रखा होगा।

बड़े पुत्रका नाम हरिचरण था। एक दिन प्रातःकाल वह बड़े ही नम्र शब्दोंमें अपने पिताके पास आकर कहने लगा—पिताजी! आप और माताजी एकबार श्रीनवद्वीपधामका दर्शनकर आवें तो मनुष्य जन्म सफल हो जायेगा। सुना है—कलिकालमें श्रीनवद्वीपधामके समान अन्य कोई भी तीर्थ फलदायक नहीं है। नवद्वीप जानेमें कोई कष्ट या खर्च भी नहीं है। यदि पैदल न जा सकें तो, गहनेवाली नाव पर ही चले जा सकते हैं। एक वैष्णवी भी आप लोगोंके साथ जाना चाहती हैं।

चण्डीदासने दमयन्तीके सामने पुत्रका प्रस्ताव रखा। दमयन्तीको पुत्रकी इच्छा जानकर

बड़ी प्रसन्नता हुई। दोनोंने आपसमें तय किया कि—उस दिनकी हमारी धमकीसे लड़कोंका दिमाग सही रास्तेपर आ गया है। रही तीर्थकी बात, सो हमलोग इतने कमजोर थोड़े ही हैं कि पैदल न चल सकेंगे। श्रीपाट कालना और शान्तिपुर होते हुए श्रीनवद्वीपधाम चले चलेंगे।

शुभ दिन देखकर दोनोंने यात्रा की। वैष्णवीको भी साथमें ले लिया। दूसरे दिन वे अम्बिका-कालनामें उपस्थित हुए। वहाँ दोनों एक दुकानमें रसोई बनाकर खानेके लिए बैठे। इसी समय सप्तग्रामके एक परिचित आदमीने उनको देखकर कहा—तुम्हारे लड़कोंने तुम्हारी कोठरीका ताला तोड़कर सारा धन ले लिया है। अब वे तुम्हें घरमें भी घुसने नहीं देंगे। तुम्हारा गुप्तधन चारोंने मिलकर बाँट लिया है।

इस समाचारसे चण्डीदास और दमयन्तीके हृदयमें जोरोंका धक्का लगा। वे धनके शोकमें कातर हो गये। भोजन भी न कर सके। सारा दिन रोते-रोते बीत गया। साथ की वैष्णवीने इन्हें खूब समझाया—घरमें आसक्ति न रखो। चलो, तुम दोनों साधु होकर कहीं आश्रम बनाकर वहीं पड़े रहना। जिसके लिए सब कुछ किया, जब वे ही शत्रु बन गये हैं, तब घर लौटनेकी कोई आवश्यकता नहीं। नवद्वीपमें ही रहना, वहाँ भिक्षा करके जीवन-निर्वाह करना भी अच्छा है।

दमयन्ती और चण्डीदास अपने पुत्रों और पुत्र-वधुओंका व्यवहार सुनकर बारम्बार कहने लगे—हम भले ही मर जायेंगे, किन्तु अब घर नहीं लौटेंगे। अन्तमें दोनों अम्बिका ग्राममें एक वैष्णवके यहाँ दो-चार दिन ठहरे। वहाँसे शान्तिपुरका दर्शन करते हुए श्रीनवद्वीपधाम पहुँचे। श्रीमायापुरमें एक वणिक परिवार रहता था। वे उन्हींके घर ठहरे। दो-चार दिन वहाँ रहकर वे लोग श्रीनवद्वीपके सप्तपल्ली, गङ्गाके उस पार तथा कुलिया ग्रामके सप्तपल्लीका दर्शन करते हुए भ्रमण करने लगे। कई दिन बाद पुत्र और वधुओंके प्रति फिर ममता उत्पन्न हुई।

चण्डीदासने पत्नीसे कहा—चलो हम लोग सप्तग्राम फिर लौट चलें, आखिर हमारे लड़के ही तो हैं न, क्या हम लोगोंसे तनिक भी स्नेह नहीं करेंगे?

शर्म नहीं आती! इस बार घर जानेसे वे तुम्हारी हत्या करके रहेंगे। वैष्णवीने चिढ़कर कहा।

वैष्णवीकी बातोंसे दोनों डर गये। उन्होंने कहा—देवी! तुम अब अपने आश्रमपर चली जाओ, हमलोग काफी समझदार हो गये हैं। किसी अच्छे व्यक्तिसे उपदेश ग्रहणकर अब हम लोग भिक्षा द्वारा जीवन-निर्वाहकर भगवान्का भजन करेंगे।

वैष्णवी चली गयी। दम्पति घरकी आशा छोड़कर कुलिया ग्राममें छकौड़ी चट्टोपाध्यायके मौहल्लेमें एक घर बनवानेकी चेष्टा करने लगे। कुछ भले आदमियोंसे चन्दा लेकर शीघ्र ही घर तैयार हो गया। अब दोनों वहीं स्थायी रूपसे रहने लगे। कुलिया ग्रामका दूसरा नाम अपराध भञ्जनपाट है। वहाँ वास करनेसे समस्त पूर्व अपराध दूर हो जाते हैं—ऐसा लोगोंका विश्वास है।

एक दिन चण्डीदासने कहा—हरियाकी माँ! लड़कोंका अब नाम न लो। उनको कभी याद भी मत करना। हमने बहुत-से अपराध किये हैं। इसीलिए हमने बनियेके घर जन्म पाया है। जन्म-दोषसे कृपण होकर हमलोगोंने कभी भी अतिथि-वैष्णवोंकी सेवा नहीं की।

अब यहाँ कुछ पैसे होनेपर अतिथि-सेवा अवश्य करेंगे, जिससे दूसरे जन्ममें हमारा कल्याण हो। सोचा है—एक मोदीखानाकी दुकान खोल दूँ। सज्जन व्यक्तियोंसे कुछ रुपये माँगकर यह रोजगार आरम्भ कर लूँ।

चण्डीदासने कुछ ही दिनोंमें एक दुकान खोल ली। उससे प्रतिदिन उन्हें कुछ न कुछ लाभ होने लगा। पति-पत्नीकी उदर-पूर्तिके अतिरिक्त प्रतिदिन एक अतिथिकी सेवा होने लगी। पहलेकी अपेक्षा उनका जीवन अच्छी तरह व्यतीत होने लगा।

चण्डीदास कुछ-कुछ पढ़ना-लिखना भी जानते थे। उन्हें जब अवसर मिलता दुकानमें बैठे-बैठे गुणराजखान कृत 'श्रीकृष्ण विजय' ग्रन्थ पढ़ा करते। ईमानदारीके साथ दुकानदारी करते और अतिथियोंका सत्कार करते। इस तरह पाँच-छह महीने बीत गये। कुलियाके सभी लोग चण्डीदासका परिचय जानकर उनपर श्रद्धा करने लगे।

उसी गाँवमें यादवदास नामक एक गृहस्थ ब्राह्मण रहते थे। वे प्रतिदिन श्रीचैतन्यमङ्गलका पाठ करते थे। चण्डीदास भी कभी-कभी उनका पाठ सुनने जाते। यादवदास और उनकी पत्नी सदा वैष्णव सेवामें लगे रहते। इसे देखकर चण्डीदास और दमयन्तीको भी वैष्णव सेवामें रुचि उत्पन्न हुई।

एक दिन चण्डीदासने यादवदाससे पूछा—संसार क्या चीज है? यादवदासने कहा—गङ्गाके पूर्वी तटपर श्रीगोद्रुमद्वीपमें बहुत-से तत्त्वज्ञ वैष्णव रहते हैं। चलो, वहीं चलकर यह प्रश्न करें। मैं भी कभी-कभी वहाँ जाकर बहुत-सी शिक्षाएँ लाभ करता हूँ। आजकल गोद्रुममें ब्राह्मण पण्डितोंकी अपेक्षा वैष्णव-पण्डित शास्त्रीय सिद्धान्तोंमें अधिक निपुण हैं। उस दिन श्रीवैष्णवदास बाबाजीके साथ शास्त्रार्थमें ब्राह्मण पण्डित पराजित हुए हैं। तुम्हारा जैसा गम्भीर प्रश्न है, उसकी उचित मीमांसा वहींपर हो सकती है।

तीसरे पहर यादवदास और चण्डीदास गङ्गा पार जानेके लिए तैयार हुए। दमयन्ती अब शुद्ध वैष्णवोंकी सेवा करती है, उसके हृदयकी कृपणता अब बिलकुल दूर हो गयी है। उसने कहा—मैं भी आप लोगोंके साथ चलूँगी।

यादवदासने कहा—वहाँके वैष्णव गृहस्थ नहीं हैं। वे अधिकतर निरपेक्ष और गृहत्यागी हैं। मुझे डर है, तुम्हें साथ ले जानेसे वे कहीं दुःखी न हों।

दमयन्तीने कहा—मैं दूरसे ही उन लोगोंको दण्डवत् प्रणाम कर लूँगी, उनके कुञ्जोंमें न जाऊँगी। मैं वृद्धा हूँ, मुझपर वे लोग कभी नाराज न होंगे।

यादवदासने कहा—वहाँ स्त्रियोंको जानेका नियम नहीं है। तुम वहीं समीप ही किसी स्थानमें बैठी रहना, हम लोग लौटते समय तुम्हें साथ ले लेंगे।

तीनों चल पड़े। धीरे-धीरे वे गङ्गाकी रेती पारकर प्रद्युम्न कुञ्जके निकट पहुँचे। दमयन्ती कुञ्जके दरवाजेसे ही साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम कर वहीं एक पुराने वट वृक्षके नीचे बैठ गयी। यादवदास और चण्डीदास कुञ्जके भीतर चले गये और मालती-माधवी मण्डपमें बैठी हुई वैष्णव-मण्डलीको भक्तिके साथ दण्डवत् प्रणाम किया।

यहाँ बीचमें परमहंस बाबाजी बैठे हैं। इनके चारों ओर श्रीवैष्णवदास, लाहिड़ी महाशय, बाबा अनन्तदास आदि बहुत से लोग बैठे हैं। यादवदास भी उनके निकट जाकर बैठ गये तथा उनके पास ही चण्डीदास भी बैठे।

ये नये व्यक्ति कौन हैं—अनन्तदास बाबाजीने यादवदासकी ओर देखा।

यादवदासने चण्डीदासका सारा वृत्तान्त कह सुनाया। अनन्तदास बाबाजीने हँसकर कहा—हाँ। संसार इसे ही कहते हैं! जो संसारको पहचानते हैं, वे बुद्धिमान हैं और जो संसार चक्रमें पड़ जाते हैं, उनकी स्थिति बड़ी शोचनीय होती है।

चण्डीदासका मन क्रमशः निर्मल हो रहा था। नित्य सुकृत करनेसे अवश्य कल्याण होता है। वैष्णवोंका सत्कार, वैष्णव ग्रन्थोंका पाठ और श्रवण द्वारा नित्य-सुकृतसे चित्त निर्मल होता है तथा अनन्य भक्तिमें सहज ही श्रद्धा होती है।

चण्डीदास श्री अनन्तदास बाबाजीके उपदेशोंको सुनकर बड़े ही कातर शब्दोंमें कहने लगे—मैं आपसे यह प्रार्थना करता हूँ कि मुझे यह स्पष्ट रूपसे बतलावें कि संसार क्या चीज है?

अनन्तदास बाबाजीने कहा—प्रश्न गम्भीर है। मेरी इच्छा यह है कि इस प्रश्नका उत्तर या तो परमहंस बाबाजी दें अथवा वैष्णवदास बाबाजी।

परमहंसदास बाबाजीने कहा—प्रश्न जैसा गम्भीर है, अनन्तदास बाबाजी भी वैसे ही योग्य उत्तरदाता हैं। आज हम सभी लोग बाबाजीका उपदेश सुनेंगे।

अनन्तदास-जब आपकी आज्ञा है, तब मैं जो कुछ जानता हूँ, अवश्य कहूँगा। सबसे पहले मैं भगवत् पार्षद-प्रवर श्रीप्रद्युम्न ब्रह्मचारी—श्रीगुरुदेवके चरणकमलोंका स्मरण करता हूँ।

जीवकी दो दशाएँ दिखलायी पड़ती हैं—मुक्त दशा और संसारबद्ध दशा। वे जीव, जो भगवान् कृष्णके शुद्ध भक्त हैं तथा जो कभी भी माया द्वारा बद्ध नहीं हुए अथवा माया द्वारा बद्ध होनेपर भी कृष्णकी कृपासे इस मायिक जगत्से मुक्त हो चुके हैं, उन्हें मुक्त जीव कहते हैं। ऐसे मुक्त जीवोंकी अवस्थाको मुक्त दशा कहते हैं। दूसरी तरफ, जो जीव भगवान् कृष्णसे विमुख होकर अनादि कालसे मायाके कवलमें पड़े हुए हैं, उन्हें बद्धजीव कहते हैं और ऐसे बद्धजीवोंकी अवस्थाको संसारबद्ध-दशा कहते हैं। मायामुक्त जीव चिन्मय होते हैं तथा कृष्णकी सेवा (कृष्णदास्य) ही उनका जीवन होता है। वे जड़ जगत्में नहीं रहते। वे जिस विशुद्ध चित्-जगत् में वास करते हैं उसका नाम है गोलोक, वैकुण्ठ, वृन्दावन इत्यादि। मायामुक्त जीवोंकी संख्या अनन्त है।

मायाबद्ध जीवोंकी भी संख्या अनन्त है। कृष्ण विमुखता ही जीवोंका दोष है। इसी दोषके कारण कृष्णकी छाया—शक्ति जिसे माया कहते हैं, जीवको अपने सत्, रज और तम्—इस त्रिगुणात्मक रज्जुसे आबद्ध करती है। गुणोंके तारतम्यसे बद्ध जीवोंकी अवस्थाएँ बड़ी विचित्र दीख पड़ती हैं। शरीरकी विचित्रता, भावकी विचित्रता, रूपकी विचित्रता, स्वभावकी विचित्रता, स्थानकी विचित्रता और गतिकी विचित्रतापर विचार करें। जीवने संसारमें प्रवेशकर एक नये 'आमित्व' का आश्रय लिया है। शुद्धावस्थामें जीवका "मैं कृष्णदास हूँ"—ऐसा आमित्व था। किन्तु बृद्धावस्थामें—मैं मनुष्य हूँ, मैं देवता हूँ, मैं पशु हूँ, मैं राजा हूँ, मैं ब्राह्मण हूँ, मैं चाण्डाल हूँ, मैं बीमार हूँ, मैं भूखा हूँ, मैं अपमानित हूँ, मैं दाता हूँ, मैं पति हूँ, मैं स्त्री हूँ, मैं पिता हूँ, मैं पुत्र हूँ, मैं शत्रु हूँ, मैं पण्डित हूँ, मैं रूपवान हूँ, मैं धनी हूँ, मैं दरिद्र हूँ, मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, मैं वीर हूँ, मैं कमजोर हूँ-ये नाना प्रकारके आमित्व पैदा हो जाते हैं। इसका नाम 'अहंता' है। इस अहंताके अतिरिक्त ममता नामक एक दूसरी चीज भी बद्ध जीवमें प्रवेश करती है। जैसे—मेरा घर, मेरी चीज, मेरा धन, मेरा शरीर, मेरी सन्तान, मेरी पत्नी, मेरे पति, मेरी माता, मेरा वर्ण, मेरी जाति, मेरा बल, मेरा

रूप, मेरा गुण, मेरी विद्या, मेरा वैराग्य, मेरा ज्ञान, मेरा विज्ञान, मेरा कर्म, मेरी सम्पत्ति, मेरे सेवक इत्यादि को 'ममता' कहते हैं। 'मैं' और 'मेरा' को लेकर जो प्रकाण्ड व्यापार दिखलायी पड़ता है, उसीका नाम संसार है।

यादवदास—हमलोग बद्धदशामें 'मैं' और 'मेरा' देखते हैं। क्या मुक्त अवस्थामें 'मैं' और 'मेरा' नहीं रहता?

अनन्तदास—रहता है। परन्तु मुक्त अवस्थामें 'मैं' और 'मेरा' चिन्मय और निर्दोष होता है। भगवान्‌ने जीवका जैसा स्वरूप बनाया है उसका शुद्ध परिचय मुक्त अवस्थामें ही ठीक प्रकारसे पाया जाता है। वहाँ भी 'मैं' अनेक प्रकारके होते हैं। वहाँ चित्-रस भी अनेक प्रकारका होता है। रसके जितने प्रकारके चिन्मय उपकरण होते हैं, वे सब 'मेरे' हैं।

यादवदास—तब बद्धावस्थामें ही अनेक प्रकारके 'मैं' और 'मेरा' होनेमें दोष क्या है?

अनन्तदास—दोष यह है कि शुद्ध अवस्थाका 'मैं' और 'मेरा' ही सत्य है और संसारमें जितने प्रकारके 'मैं' और 'मेरे' हैं—सभी कल्पित होते हैं, आरोपित होते हैं। अर्थात् जीवके सम्बन्धमें ये सत्य नहीं, बल्कि मिथ्या हैं अथवा इसे इस प्रकार भी कह सकते हैं कि जीवके लिए ये परिचय बिल्कुल मिथ्या हैं। अतः संसारके समस्त परिचय ही अनित्य, प्राकृत और क्षणिक सुख-दुखप्रद हैं।

यादवदास-क्या मायिक संसार मिथ्या है?

अनन्तदास—मायिक जगत मिथ्या नहीं है, बल्कि कृष्णकी इच्छासे यह जगत् सत्य है। किन्तु इस मायिक जगत्‌में प्रवेशकर जीव जिन्हें 'मैं' और 'मेरा' मानता है, सब मिथ्या हैं। जो लोग जगत्‌को मिथ्या मानते हैं, वे मायावादी हैं। ऐसे व्यक्ति अपराधी हैं।

यादवदास—हमलोग इस मिथ्या—सम्बन्धमें क्यों पड़े हुए हैं?

अनन्तदास-भगवान् पूर्ण चित्-वस्तु हैं और जीव चित्-कण है। जड़-जगत् और चित्-जगत्—दोनोंकी बीच सीमापर जीवका प्रथम अवस्थान है। जो जीव यहाँ पर कृष्णके साथ अपना सम्बन्ध नहीं भूले, वे चित्-शक्तिका बल पाकर चित्-जगत् के प्रति आकृष्ट हुए अर्थात् नित्य पार्षद होकर कृष्णसेवानन्दका भोग करने लगे और जो जीव कृष्णसे विमुख होकर मायाको भोग करनेकी कामना करने लगे, मायाने अपनी शक्तिसे उन्हें अपनी ओर आकृष्ट कर लिया। उसी समयसे हमें यह संसार-दशा प्राप्त हुई है। संसार-दशा प्राप्त होनेके साथ-साथ जीवका सत्य परिचय अन्तर्हित हो जाता है। "मैं मायाका भोक्ता हूँ", यह मिथ्या अभिमान जीवको विचित्र रूपसे आच्छादित कर देता है।

यादवदास—चेष्टा करनेपर भी हमलोगोंका सत्य स्वरूप क्यों नहीं प्रकाशित होता है?

अनन्तदास—चेष्टाएँ दो प्रकारकी होती हैं—उपयुक्त और अनुपयुक्त। उपयुक्त चेष्टा करनेसे मिथ्या अभिमान अवश्य दूर होता है। अनुपयुक्त चेष्टा द्वारा वैसा फल कैसे पाया जा सकता है?

यादवदास—अनुपयुक्त चेष्टा किसे कहते हैं?

अनन्तदास—कर्मकाण्डसे चित्तको शुद्धकर फिर ब्रह्मज्ञानका अवलम्बन कर "मायासे मुक्त हो जाऊँगा"—ऐसी चेष्टाका नाम अनुपयुक्त चेष्टा है। अष्टाङ्गयोग द्वारा समाधियोगमें चिन्मय हो जाऊँगा—यह भी अनुपयुक्त चेष्टा है। इसी तरह बहुत-सी अनुपयुक्त चेष्टाएँ हैं।

यादवदास—ये चेष्टाएँ अनुपयुक्त क्यों हैं?

अनन्तदास—इसलिए कि इन चेष्टाओंसे मनोवाञ्छित फल प्राप्त करनेमें बहुत-सी बाधाएँ हैं, तथा अभिलषित फल पानेकी सम्भावना भी कम है। बात यह है कि जिसके प्रति अपराध करनेसे हमारी यह अवस्था प्राप्त हुई है, उसीकी कृपासे हमारी यह दशा दूर हो सकती है, अन्यथा नहीं। अनुपयुक्त चेष्टाओंसे हम अपनी शुद्ध दशा प्राप्त नहीं कर सकते।

यादवदास—उपयुक्त चेष्टा क्या है?

अनन्तदास-"साधुसङ्ग और प्रपत्ति अर्थात् शरणागति।" सत्सङ्गके सम्बन्धमें श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

अत आत्यन्तिकं क्षेमं पृच्छामो भवतोऽनघाः।
संसारेऽस्मिन् क्षणार्धोऽपि सत्संगः सेवधिर्नृणाम्॥

(श्रीमद्भा० ११/२/३०)

अर्थात् हे निष्पाप महात्मागण! हम आपलोगोंसे जिज्ञासा करते हैं कि परम कल्याण क्या है? इस संसारमें आधे क्षणका सत्सङ्ग भी मनुष्यके लिए परम निधि है।

यदि पूछो—इस संसार-दशामें पड़े हुए जीवोंका परम कल्याण कैसे हो सकता है, तो मैं कहूँगा—आधे क्षणके सत्सङ्ग द्वारा ही परम कल्याण प्राप्त किया जा सकता है।

प्रपत्तिके सम्बन्धमें गीताके सातवें अध्यायमें कहा गया है—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥[१]

चण्डीदास—महात्मन्! मैं आपकी इन बातोंको अच्छी तरह समझ नहीं सका। मैं तो केवल इतना ही समझा हूँ कि हमलोग पवित्र वस्तु थे, कृष्णको भूलकर हमलोग मायाके हाथोंमें पड़ गये हैं और माया द्वारा ही इस जगत् में बँधे हुए हैं। कृष्णकी कृपा होनेसे हमलोगोंका फिर उद्धार हो सकता है, अन्यथा ऐसी अवस्थामें ही भटकते रहेंगे।

अनन्तदास—हाँ, तुम अभी इतना ही विश्वास करो। यादवदासजी इन बातोंको अच्छी तरह समझते हैं। उन्हींसे धीरे-धीरे इन बातोंको समझ लेना। श्रीजगदानन्दजीने 'प्रेम-विवर्त्त' में जीवोंकी विभिन्न अवस्थाओंका बहुत ही सुन्दर चित्र अङ्कित किया है—

चित्कण—जीव, कृष्ण—चिन्मय भास्कर।
नित्य कृष्णे देखि—कृष्णे करेन आदर॥

कृष्ण—बहिर्मुख हञा भोगवाञ्छा करे।
निकटस्थ माया तारे जापटिया धरे॥

पिशाची पाइले येन मतिच्छन्न हय।
मायाग्रस्त जीवेर हय से—भाव उदय॥

---

(१) इस त्रिगुणमयी मेरी दैवीमायाको मनुष्य अपनी चेष्टासे उत्तीर्ण नहीं हो सकता। अतएव मायासे पार पाना बहुत ही कठिन है। जो एकमात्र मेरी शरणमें आते हैं, वे मेरी मायासे तर जाते हैं।

'आमि सिद्ध कृष्णदास' एई कथा भुले।
मायार नफर हञा चिरदिन बुले॥

कभु राजा, कभु प्रजा, कभु विप्र, शूद्र।
कभु दुखी, कभु सुखी, कभु कीट क्षुद्र॥

कभु स्वर्गे, कभु मर्त्त्ये, नरके वा कभु।
कभु देव, कभु दैत्य, कभु दास, प्रभु॥

एइ रूपे संसार भ्रमिते कौन जन।
साधुसङ्गे निज तत्त्व अवगत हन॥

निज–तत्त्व जानि आर संसार ना चाय।
केन वा भजिनु माया करे हाय हाय॥

केंदे बले, 'ओहे कृष्ण, आमि तब दास।
तोमार चरण छाड़ि हैल सर्वनाश'॥

काकुति करिया कृष्णे डाके एक बार।
कृपा करि कृष्ण तारे छाड़ान छाड़ान संसार॥

मायाके पिछने राखि कृष्ण—पाने चाय।
भजिते भजिते कृष्ण–पादपद्म पाय॥

कृष्ण तारे देन निज चिच्छक्तिर बल।
तारे माया आकर्षण छाड़े हइया दुर्बल॥

'साधुसङ्गे कृष्णनाम' एइ मात्र चाइ।
संसार जिनिते आर कोन वस्तु नाइ॥

भावार्थ यह है कि पदार्थ दो तरहका होता है—चेतन और जड़। जिन पदार्थोंमें इच्छा और अनुभव–शक्ति होती है, वे चेतन पदार्थ हैं, जिनमें इन दोनोंका अभाव होता है, वे जड़ पदार्थ हैं। चेतन पदार्थ भी दो प्रकारके होते हैं—(१) पूर्ण या विराट् चेतन और (२) क्षुद्र चेतन। भगवान् पूर्ण या विराट् चेतन हैं और ये भगवान् हैं स्वयं कृष्ण—**"कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्"**। जीव—क्षुद्र चेतन हैं। ये भगवान्के विभिन्नांश तत्त्व तथा असंख्य हैं—"स चानन्ताय कल्पते" (श्वेताश्वतर) शास्त्रोंमें श्रीकृष्ण और जीवोंके पारस्परिक सम्बन्ध बतलानेके लिए सूर्य और उसकी किरणोंमें चमकनेवाले क्षुद्र कणोंके परस्पर सम्बन्धका उदाहरण दिया जाता है। भगवान् श्रीकृष्णको चिन्मय सूर्य और जीवोंको चित्कण कहा गया है। चित्कण

जीवका धर्म या स्वभाव ही कृष्णकी सेवा करना है। उनका यह धर्म उनके गठनके साथ-ही-साथ उत्पन्न होता है—ठीक आगमें दाहिका—शक्तिकी तरह। जैसे दाहिका—शक्तिके बिना आगकी सत्ता स्वीकार नहीं की जा सकती, वैसे ही कृष्ण-सेवासे रहित जीवोंका जीवत्व नहीं है। वस्तुको छोड़कर धर्म और धर्मको छोड़कर वस्तुका कोई अलग अस्तित्व नहीं रह सकता। तब तो वस्तु और धर्म विकृत हो जाता है। हाँ, तो जीवका धर्म कृष्णकी सेवा करना है; किन्तु स्वतन्त्र होनेके नाते जब वह कृष्णसेवासे विमुख होकर नानाप्रकारके भोगोंकी कामनाएँ करने लगता है, उसी समय भगवान्‌की बहिरङ्गा-शक्ति माया—जो निकट ही होती है, उसे झपटकर अपने जाल में आबद्ध कर लेती है। जैसे पिशाची द्वारा पकड़ लिये जानेपर मनुष्यकी मति आच्छादित हो जाती है, उसी प्रकार कृष्णविमुख जीवका धर्म माया द्वारा आच्छादित हो जाता है। अब वह अपना और भगवान्‌का स्वरूप भूल जाता है तथा मायाका दास होकर मायिक संसारमें इधर-उधर भटकने लगता है। वह कभी राजा होता है, कभी प्रजा, कभी विप्र, कभी शूद्र, कभी सुखी, कभी दुःखी और कभी स्वर्गलोकमें जाता है तो कभी मर्त्यलोकमें। इस तरह संसारमें भटकते-भटकते यदि सौभाग्यवश किसी साधु—पुरुषसे भेंट हो जाती है, तो उसका जीवन कृतार्थ हो जाता है। वह उनके सत्सङ्गसे अपना सच्चा स्वरूप जानकर संसारसे विरक्त हो पड़ता है। उसे अपनी वर्त्तमान अवस्था पर बड़ा ही खेद होता है। वह रोते-रोते भगवान्‌के चरणोंमें प्रार्थना करता है—"हे कृष्ण! मैं आपका नित्य-दास हूँ। किन्तु आपकी सेवा भूलकर मैं अभागा न जाने कितने दिनोंसे मायाकी सेवा करता हुआ भटक रहा हूँ। हे पतितपावन! दीनानाथ! मुझ दीनकी रक्षा करें। मुझे अपनी मायासे उद्धारकर अपनी सेवामें नियुक्त कर लें।" करुणावरुणालय भगवान् उसकी करुण पुकार सुनकर उसे शीघ्र ही अपनी दुस्तरा मायासे पार कर देते हैं। वे उसे अपनी चित्-शक्तिका बल प्रदान करते हैं, जिससे उसके प्रति मायाका आकर्षण धीरे-धीरे क्षीण होता जाता है, और वह मायाको पीछे छोड़ता हुआ कृष्णकी ओर अग्रसर होते-होते अन्तमें उनके चरणकमलोंको प्राप्त करनेमें समर्थ होता है। इस प्रकार सत्सङ्गमें लिया गया 'श्रीकृष्णनाम' इस दुरन्त संसारको पार करनेके लिए एकमात्र अचूक उपाय है।

यादवदास—बाबाजी! आप जिस साधु-सङ्गकी बात कर रहे हैं, वे साधु भी तो इसी संसारमें रहते हैं और नाना प्रकारकी सांसारिक पीड़ाओंसे जर्जरित हैं। फिर वे दूसरे जीवोंका उद्धार कैसे कर सकते हैं?

अनन्तदास—साधु भी इसी संसारमें रहते हैं, यह सत्य है, किन्तु साधु और मायाबद्ध जीवोंके संसारमें बहुत अन्तर है। दोनोंके संसार बाहरसे एक जैसे प्रतीत होते हैं, परन्तु भीतरसे उनमें बहुत अन्तर है। साधु सब समय जगत् में रहते हैं, किन्तु असाधु व्यक्ति उन्हें पहचान नहीं पाते। इसीलिए सत्सङ्ग दुर्लभ होता है। मायाके जालमें फँसे हुए मनुष्य भी दो भागोंमें विभक्त हैं। कुछ लोग संसारके तुच्छ भोगोंमें लिप्त होकर संसारका खूब आदर करते हैं, और कुछ लोग संसारके तुच्छ सुखोंसे तृप्त न होकर अधिकाधिक सुखके लिए विवेकका सहारा लेते हैं। एक विवेकरहित है और दूसरा विवेकयुक्त। कुछ लोग एकको विषयी और दूसरेको मुमुक्षु भी कहते हैं। यहाँ 'मुमुक्षु' शब्दका अर्थ—निर्भेद ब्रह्मज्ञानी नहीं समझना चाहिये। जो संसारके दुःखोंसे ऊबकर आत्म-तत्त्वका अनुसन्धान करते हैं, उन्हें शास्त्रोंमें 'मुमुक्षु' कहा गया है। 'मुमुक्षा' का अर्थ 'मुक्तिकी इच्छा' है। जब मुमुक्षु

मुमुक्षाका परित्यागकर भगवान्‌का भजन करता है, तब उस भजनको शुद्धभक्ति कहते हैं। शास्त्रोंमें मुक्तिको त्याग करनेका विधान नहीं है। कृष्णतत्त्व और जीवतत्त्वका ज्ञान होनेपर मुक्ति होती है। श्रीमद्भागवतमें कहते हैं—

रजोभिः समसंख्याताः पार्थिवैरिह जन्तवः।
तेषां ये केचनेहन्ते श्रेयो वै मनुजादयः॥
प्रायो मुमुक्षवस्तेषां केचनैव द्विजोत्तम।
मुमुक्षूणां सहस्रेषु कश्चिन्मुच्येत सिध्यति॥
मुक्तानामपि सिद्धानां नारायण–परायणः।
सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने॥

(श्रीमद्भा० ६/१४/३–५)

अर्थात्, इस जगत्‌की प्राणी पृथ्वीके धूलिकणोंके समान ही असंख्य हैं। उनमें से कुछ मनुष्य आदि श्रेष्ठ जीव ही अपने कल्याणकी चेष्टा करते हैं। उनमें भी संसारसे मुक्ति चाहनेवाले तो विरले ही होते हैं और मोक्ष चाहनेवाले हजारोंमेंसे मुक्ति या सिद्धि लाभ तो कोई—सा ही कर पाता है। करोड़ों सिद्ध और मुक्त पुरुषोंमें भी वैसे शान्तचित्त महापुरुषका मिलना तो बहुत ही कठिन है—जो एकमात्र भगवान्‌के ही परायण हों। ऐसे सुदुर्लभ नारायणके भक्तोंमें भी कृष्णभक्त अतीव दुर्लभ हैं। कृष्णभक्त उनमेंसे होते हैं जो मुमुक्षाका परित्यागकर मुक्त हो चुके हैं। शरीर रहने तक कृष्णभक्त संसारमें रहते तो हैं, किन्तु उन लोगोंका संसार विषयी लोगोंके संसारसे सर्वथा अलग होता है। कृष्णभक्तोंकी स्थिति दो प्रकारकी होती है।

यादवदास—आपने विवेकी मनुष्योंकी चार अवस्थाएँ बतलाई हैं, इनमें से किन-किन अवस्थाओंमें स्थित मनुष्योंके सङ्गको साधुसङ्ग कहते हैं?

अनन्तदास—विवेकी, मुमुक्षु, मुक्त और भक्त—ये विवेककी चार अवस्थाएँ हैं। इनमें विषयी लोगोंके लिए विवेकियों और मुमुक्षुओंका सङ्ग करना लाभदायक होता है। मुक्तोंके दो विभाग हैं—(१) चित्-रसके प्रति आग्रह रखनेवाले मुक्त और (२) निर्भेद मायावादी मुक्ताभिमानी। इनमें प्रथम प्रकारके मुक्तोंका ही सङ्ग करना अच्छा है। निर्भेद मायावादी (अपनेको मुक्त कल्पना करनेवाले) अपराधी हैं, इसलिए उनका सङ्ग करना सबके लिए अनुचित है। श्रीमद्भागवतमें ऐसे मुक्ताभिमानियोंको अत्यन्त हेय बतलाया गया है—

येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिन—
स्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः।
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः
पतन्त्यधोऽनादृत—युष्मदङ्घ्रयः॥[२]

चौथे, भगवद्भक्त दो प्रकारके होते हैं—ऐश्वर्यभावयुक्त और माधुर्यभावयुक्त। इस तरह तो सभी भगवद्भक्तोंके सङ्गसे कल्याण ही कल्याण है, पर विशेषकर मधुररसके भगवद्भक्तोंके सङ्गसे हृदयमें विशुद्ध भक्तिरसका आविर्भाव होता है।

यादवदास—आपने भक्तोंकी दो प्रकारकी अवस्थाएँ बतलायी हैं। कृपया इसे स्पष्टकर बतलावें, जिससे मुझ जैसे मोटी बुद्धिवाले मनुष्य भी सुगमतासे समझ सकें।

अनन्तदास—अवस्थितिके अनुसार भक्त दो प्रकारके होते हैं—गृहस्थभक्त और त्यागीभक्त।

यादवदास–गृहस्थभक्तोंका संसारसे क्या सम्बन्ध होता है?

अनन्तदास—केवल गृह निर्माणकर उसमें रहनेसे ही गृहस्थ नहीं हुआ जाता, बल्कि उपयुक्त पात्रोंके साथ विधिवत विवाहकर घरमें निवास करनेवाले ही 'गृहस्थ' माने जाते हैं। ऐसे गृहस्थोंमें जो भक्तिका आचरण करते हैं, उन्हें 'गृहस्थ-भक्त' कहा जाता है। मायाबद्ध जीव आँखोंसे रूप-रङ्ग देखते हैं, कानोंसे सुनते हैं, नाकसे सूँघते हैं, त्वचासे स्पर्श करते हैं तथा जीभसे रसास्वादन करते हैं। इन्हीं पाँच ज्ञानेन्द्रियों द्वारा वे जड़-जगत् में प्रविष्ट होकर विषयोंमें आसक्त हो जाते हैं। वे विषयोंके प्रति जितने ही अधिक आसक्त होते हैं, प्राणनाथ श्रीकृष्णसे उतने ही दूर हटते जाते हैं। इसीका नाम 'बहिर्मुख संसार' है। जो लोग इस तरह संसारमें लिप्त होते हैं, उन्हें विषयी कहते हैं।

गृहस्थभक्त विषयी लोगोंकी तरह विषयोंमें केवल सुखकी ही खोज नहीं करते। उनकी सहधर्मिणी कृष्णकी सेविका होती हैं, पुत्र और कन्याएँ कृष्णके परिचारक और परिचारिकाएँ होती हैं। उनकी आँखें श्रीकृष्णकी श्रीमूर्ति एवं तदीय वस्तुओंका दर्शनकर तृप्त होती हैं,

---

(२) हे कमलनयन! जो लोग आपके चरणकमलोंकी शरण नहीं लेते तथा आपके प्रति भक्तिभावसे रहित होनेके कारण जिनकी बुद्धि भी शुद्ध नहीं है, वे अपनेको झूठ-मूठ मुक्त मानते हैं। वास्तवमें तो वे बद्ध ही हैं। वे यदि बड़ी तपस्या और साधनका कष्ट उठाकर कल्पित परमपद प्राप्त कर भी लें, तो आपके चरणकमलोंका अनादर करनेके कारण वहाँसे नीचे गिर जाते हैं।

उनके कान हरिकथा और सन्त–चरित्रोंका श्रवण करते हैं, उनकी नासिका श्रीकृष्णके चरणोंमें समर्पित तुलसी और सुगन्धित–द्रव्योंका गन्ध लेती है, उनकी जिह्वा निरन्तर कृष्णनाम–सुधा और कृष्ण–नैवेद्यका आस्वादन करती है, उनकी त्वचा भक्तोंके अङ्गस्पर्शका सुख अनुभव करती है। उनकी आशा, क्रिया, कामना, अतिथि–सेवा और देवसेवा—सब कुछ कृष्णसेवाके अधीन होती है। उनका जीवन 'जीवोंपर दया', 'कृष्णनाम' और 'वैष्णव-सेवा' के लिए होता है। अनासक्त रहकर विषयोंका भोग करना केवल गृहस्थभक्तों द्वारा ही सम्भव है। कलियुगमें गृहस्थ–वैष्णव होना ही उचित है, क्योंकि इनमें पतनकी आशङ्का नहीं होती [३]।

---

(३) "कलियुगमें आशङ्का नहीं होती"—का तात्पर्य यह है कि अपतित होकर विष्णु और वैष्णवोंकी सेवा करना मनुष्य मात्रका कर्त्तव्य है, किन्तु सबको ही गृहस्थ होना पड़ेगा तथा कलिकालमें गृहस्थाश्रमके अतिरिक्त दूसरे आश्रम ग्रहणीय नहीं हैं—ऐसी शिक्षा देना ग्रन्थकारका उद्देश्य नहीं है। क्योंकि जो अतिशय राजसिक और तामसिक प्रवृत्तिवाले हैं, जो विषय भोगोंमें अत्यन्त आसक्त होते हैं और जिनकी प्रवृत्तिमार्गमें ही रुचि होती है, वे इन विषयोंकी निवृत्तिके लिए ही विवाह आदि द्वारा गृहस्थ धर्मका पालन करेंगे। किन्तु सात्त्विक स्वभावके व्यक्ति जो निवृत्ति—पथके पथिक हैं—उन्हें विवाहादि करके पतित नहीं होना चाहिये।

(अगले पृष्ठपर)

आश्रमके विषयमें पद्मपुराणके पाताल खण्डके ५३/४३ श्लोकमें कहते हैं —"वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्। विष्णुराराध्यते पन्थाः नान्यत् तत्तोष–कारणम्॥" अर्थात् वर्णाश्रमधर्मका पालन करनेसे ही विष्णुकी पूजा हो जाती है और इसीसे वे सन्तुष्ट रहते हैं। यहाँ इस श्लोक में 'आश्रम—धर्म' से केवलमात्र गृहस्थाश्रमका ही बोध नहीं होता, बल्कि उससे चारों आश्रमोंको लक्ष्य किया गया है। श्रीमद्भागवतमें आश्रमके सम्बन्धमें इस प्रकार कहा गया है—"गृहाश्रमो जघन्तो ब्रह्मचर्यं हृदो मम। वक्षस्थलाद्वने वासः संन्यासः शिरसि स्थितः॥"

अर्थात् विराट् पुरुष भगवान्‌की जंघा (उरुस्थल) से गृहस्थाश्रम, हृदयसे ब्रह्मचर्याश्रम, वक्षःस्थलसे वानप्रस्थाश्रम और मस्तकसे संन्यासाश्रमकी उत्पत्ति हुई है। ये ही चार शास्त्रीय आश्रम हैं। अपनी योग्यतानुसार उनमेंसे किसी भी एक आश्रमके अधीन रहकर विष्णुकी पूजा करना ही वैष्णवताका लक्षण है। आजकल इसके प्रत्यक्ष दृष्टान्तोंका अभाव नहीं है। यहाँ तक कि इसी ग्रन्थमें—प्रेमदास, वैष्णवदास, अनन्तदास आदि उपदेशक पात्र—सभी गृहत्यागी या संन्यासी अथवा ब्रह्मचारी हैं। दूसरी बात यह है कि ग्रन्थकर्त्ता श्रीभक्तिविनोद ठाकुरके अनुसरणकारी सभी गृहस्थ भक्त नहीं हैं, उनमें कोई ब्रह्मचारी हैं तथा गृहत्यागी सर्वश्रेष्ठ जगद्गुरु संन्यासी भी हैं। इसी पुस्तकके तीसरे अध्यायमें संन्यासको सर्वश्रेष्ठ आश्रम कहा गया है। सर्वशास्त्रशिरोमणि श्रीमद्भागवतका भी यही सिद्धान्त है—" वर्णानामाश्रमाणाञ्च जन्मभूम्यनुसारिणीः। आसन् प्रकृतयो नृणां नीचैर्नीचोत्तमोत्तमः॥" [जैवधर्म] इसका तात्पर्य यह है कि ये आश्रम अपने जन्मस्थानके अनुसार उत्तम और मध्यम हैं अर्थात् संन्यास सर्वोत्तम आश्रम है तथा गृहस्थाश्रम सबसे अधम आश्रम है। ब्रह्मचर्य और वानप्रस्थ क्रमशः बीचवाले आश्रम हैं। यह जीवोंकी अनित्य स्वभावभूत नैसर्गिक अवस्था है।

भगवद्भक्तिकी समृद्धि भी इसमें भलीभाँति हो सकती है। गृहस्थ वैष्णवोंमें अनेक तत्त्वज्ञ पुरुष (गुरु) भी हैं। गोसांइयोंकी सन्तान यदि शुद्ध वैष्णव हों तो वे भी गृहस्थ भक्तके अन्तर्गत हैं। अतएव उनका सङ्ग मनुष्योंके लिए बहुत ही लाभदायक है।

यादवदास—गृहस्थ वैष्णवोंको स्मार्त्त समाजके अधीन रहना पड़ता है, यदि अधीन न रहा जाये तो समाजमें उन्हें बहुत ही कष्ट सहना पड़ता है। ऐसी अवस्थामें शुद्धभक्तिका पालन कैसे किया जा सकता है?

अनन्तदास—पुत्र और कन्याके विवाह और पितृगणके श्राद्धके लिए क्रिया तथा

जीवोंके स्वभाव, वृत्ति और क्रियाके अनुसार वर्णकी तरह आश्रमका भी विभाग किया गया है। नीच स्वभाववाले मनुष्य, जिनकी रुचि प्रवृत्तिमार्गकी ओर होती है, गृहस्थ होनेके लिए बाध्य हैं। नैष्ठिक ब्रह्मचारी भगवान्के हृदय-धन हैं। भगवान्के वक्षःस्थलसे वानप्रस्थ त्यागियोंका आविर्भाव होता है और मस्तकसे समस्त सद्गुणोंके आधार संन्यासी उत्पन्न होते हैं। अतएव गृहस्थकी अपेक्षा ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी तथा संन्यासी, तीनों ही श्रेष्ठ हैं। जब तक निवृत्तिमार्गकी रुचि हृदयमें पैदा न हो जाये, तब तक इन तीनों उत्तम आश्रमोंमें प्रवेश करनेका अधिकार नहीं होता। मनुसंहिताका कहना है—"प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफलाः।" श्रीमद्भागवत भी उसका समर्थन करते हैं—"लोके व्यवायामिष—मद्यसेवा नित्या हि जन्तोर्नहि तत्र चोदना। व्यवस्थितिस्तेषु विवाह-यज्ञ—सुराग्रहैरासु निवृत्तिरिष्टा॥"

अन्यान्य अनेक शास्त्रोंमें निवृत्तिमार्गकी श्रेष्ठताका प्रतिपादन किया गया है। श्रीभक्तिविनोद ठाकुरने इसी पुस्तकसे १० वें अध्यायके अन्तमें श्रीमद्भागवतके उपर्युक्त श्लोकका अवलम्बन कर लिखा है—

"पशुवधके लिए प्रोत्साहित करना शास्त्रोंका तात्पर्य नहीं है। 'मा हिंस्यात् सर्वाणि भूतानि'—इस वेद—वाणी द्वारा पशु—हिंसाका निषेध किया गया है। मनुष्यका स्वभाव जब तक राजसिक और तामसिक रहता है, तब तक मैथुन, मांस और मद्यकी ओर उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति रहती है। वे लोग तत्तत्कार्योंके लिए वेदकी आज्ञाकी अपेक्षा नहीं रखते। वेदोंका तात्पर्य यह है कि मनुष्य सात्त्विक वृत्तिका अवलम्बनकर जब तक प्राणी-हिंसा, और मद्यका परित्याग नहीं करता, तब तक इन प्रवृत्तियोंको संकुचित करनेके लिए वह विवाह द्वारा स्त्रीसङ्ग, यज्ञमें पशुवध और विशेष—विशेष अवसरोंपर मद्यपान कर सकता है। इन उपायोंसे उसकी प्रवृत्ति संकुचित होनेपर वह क्रमशः इन क्रियाओंसे निवृत्त हो जायेगा। इसलिए कलिकालमें जीवोंको प्रवृत्तिमार्गसे हटाकर निवृत्तिमार्गकी ओर ले जानेके लिए गृहस्थाश्रमकी आवश्यकता है। ग्रन्थकारके उक्त वाक्यका अर्थ यह कदापि नहीं है कि उत्तम आश्रमोंके अधिकारी व्यक्तियोंको भी गृहस्थ होनेकी आवश्यकता है। भक्तिविनोद ठाकुरने विवाहका उद्देश्य इस प्रकार लिखा है—विवाहके समय सन्तानकी कामना या प्रजापतिकी उपासना न कर केवल ऐसी भावना करनी चाहिये कि—मैं एक ऐसी कृष्णदासीका संग्रह कर रहा हूँ, जो मुझे कृष्णकी सेवामें सहयोग दे सकेगी। ऐसी भावना भक्तिके अनुकूल होती है।" (जैवधर्म) अतएव सन्तानकी कामना न कर जो विवाह करेंगे, वे ही सच्चे गृहस्थ-—वैष्णव हो सकते हैं। जहाँ अपनी स्त्रीके प्रति कृष्णदासीकी भावना होती है, वहाँ उसके प्रति भोगकी कामनाका अवकाश नहीं होता, प्रत्युत् पूज्यभाव होता है। हाँ, यह बात

अन्यान्य कई बातोंमें गृहस्थ वैष्णवोंका समाजसे अवश्य ही सम्बन्ध रहता है। परन्तु जहाँ तक काम्यकर्मोंका प्रश्न है, उन्हें काम्यकर्म नहीं करने चाहिये। शरीर—यात्रा—निर्वाहके लिए तो सभी पराधीन हैं। जो अपनेको निरपेक्ष बतलाते हैं, वे भी पराधीन होते हैं। बीमार होनेपर औषध सेवन, भूख लगनेपर खाद्यसंग्रह, शीतसे बचनेके लिए वस्त्र—संग्रह तथा धूप और वर्षासे रक्षाके लिए घर-बार आदिकी अपेक्षा प्रत्येक देहधारीको होती है। निरपेक्ष होनेका तात्पर्य अपनी आवश्यकताओंको संकोच करना मात्र है। वास्तवमें शरीर रहते कोई भी निरपेक्ष नहीं रह सकता। जहाँ तक अधिक-से-अधिक निरपेक्ष रहा जाये, उतना ही

ठीक है कि "पुत्रार्थे क्रियते भार्या" आदि वचनोंसे सन्तान—कामनाकी भी विधि देखी जाती है। किन्तु यहाँ पुत्रके बदले 'कृष्णदास' के आविर्भावकी ही कामना समझनी चाहिये—प्राकृत पुत्र या सन्तानकी कामना नहीं। क्योंकि भगवन्नाम ग्रहण करनेवाले वैष्णवोंके लिए पुन्नामक नरकमें जानेकी कोई सम्भावना न होनेके कारण उन्हें कृष्णदासके अतिरिक्त पुत्रकी कामना नहीं होती।

(अगले पृष्ठपर)

साधारणतः बद्धजीव प्रवृत्तिमार्गमें विचरण करते समय अपनी काम—प्रवृत्तिको चरितार्थ करनेके लिए स्त्रीका सम्भोग करता है और फलस्वरूप सन्तान पैदा होती हैं। यही कारण है कि आजकल मनुष्य कामुक होते जा रहे हैं। " आत्मवत् जायते पुत्रः "—यही साधारण न्याय है। श्रीठाकुर भक्तिविनोदने जगत् के समस्त जीवोंके कल्याणकामनासे विशेषकर चण्डीदास और दमयन्ती जैसी मनोवृत्तिवाले लोगोंको लक्ष्य करके ही शिक्षा दी है। गृहस्थाश्रम सबसे अधम आश्रम है। वास्तवमें पूर्वजन्मकी सुकृतिके प्रभावसे जो महात्मालोग स्वभावसे ही निवृत्तिमार्ग में विचरण करते हैं, वे कभी भी विवाह द्वारा संसारमें प्रवेश कर पतित न होंगे। उन्नत व्यक्तियोंके लिए पतन होनेका अवकाश रहता है, किन्तु पतितोंको पतनका स्थान कहाँ? वे नैष्ठिक ब्रह्मचारी और संन्यासी जो उपर्युक्त उपदेशोंका रहस्य नहीं समझ पाते, उन्हीं वचनोंकी दुहाई देकर यदि ब्रह्मचर्य और संन्यासका परित्याग करके अवैध भावसे अपनी शिष्या, गुरु-भगिनी अथवा किसी दूसरी स्त्रीसे विवाह करें या ऐसे कार्योंके लिए परामर्श दें अथवा अनुमोदन करें, तो उनके जैसा शोचनीय, घृणित, नीच और पाखण्डी व्यक्ति विश्वके इतिहासमें बिरले ही मिलेंगे। दूसरी तरफ श्रीमद्भागवत, हरिवंश और चैतन्यभागवत आदि शास्त्रोंमें वर्णित श्रृगाल वासुदेव जैसे अनधिकारी व्यक्तिके लिए ब्रह्मचारी या त्यागी अथवा संन्यासीका बाना पहनकर—उनके आचरणका अनुकरणकर अपनेको उन आश्रमस्थ महापुरुषोंके समान समझना अत्यन्त घृणास्पद है। अतएव इन निम्नस्तरीय प्रवृत्तमार्गके लोगोंको पहले ही विवाहादि द्वारा वैधभावमें अपनी शोचनीय काम प्रवृत्तिका दमन करना ही श्रेयस्कर है। क्योंकि जीवमात्रको निवृत्ति मार्गपर ले जाना ही शास्त्रोंका एकमात्र उद्देश्य है।

(अगले पृष्ठपर)

कोई-कोई ब्रह्मवैवर्त्तपुराणके कृष्ण खण्डके 'अश्वमेधं गवालंभं संन्यासं पलपैतृकम्। देवरेण सुतोत्पत्ति कलौ पञ्च विवर्जयेत्।' श्लोकके आधारपर यह कहना चाहते हैं कि कलियुगमें संन्यास ग्रहण करना वर्जित है। किन्तु इस श्लोकका एक गूढ़ रहस्य है। इसके

अच्छा और भक्तिका पोषक है।

पूर्वोक्त सारे कर्मोंका सम्बन्ध कृष्णके साथ जोड़ देनेसे उनका दोष जाता रहता है। जैसे—विवाहके समय सन्तानकी कामना या प्रजापतिकी उपासना न कर यदि केवल ऐसी भावना करे कि मैं एक ऐसी कृष्णदासीका संग्रह कर रहा हूँ जो मुझे कृष्णकी सेवामें सहयोग दे सकेगी, तो ऐसी भावना भक्तिके अनुकूल होती है। विषयोंमें आसक्त आत्मीय या अपना पुरोहित आदि जो कुछ भी क्यों न कहें, मनुष्यको अपने ही सङ्कल्पोंका फल मिलता है। पितृ—श्राद्धके दिन श्रीकृष्णको भोग लगाये हुए प्रसादके पिण्डसे पितृगणका श्राद्ध करना और ब्राह्मण—वैष्णवोंको भोजन करवाना गृहस्थ वैष्णवोंके लिए भक्तिके अनुकूल होता है। समस्त स्मार्त्त क्रियाओंको भक्ति मिश्रित कर देनेसे कर्मका कर्मत्व जाता रहता है। शुद्धभक्तिके साथ वैधकर्म करनेसे वह भक्तिके प्रतिकूल नहीं होता। व्यवहारिक क्रियाओंको अनासक्त और विरक्त भावसे करना चाहिये। पारमार्थिक क्रियाओंको भक्तोंके साथ करना चाहिये। ऐसा होनेसे कोई दोष नहीं होता। देखिये, श्रीमन् महाप्रभुके अधिकांश पार्षद गृहस्थ भक्त ही थे। बहुत-से प्राचीन भक्त राजर्षि और देवर्षि थे। ध्रुव, प्रह्लाद और पाण्डव आदि गृहस्थ भक्त ही थे। गृहस्थ भक्तोंको भी जगत् में पूजनीय समझना चाहिये।

यादवदास-यदि गृहस्थ भक्त इतने पूज्य और प्रिय हैं, तब कोई-कोई गृहस्थ भक्त गृहत्याग क्यों करते हैं?

अनन्तदास—गृहस्थ भक्तोंमें ही कोई-कोई गृहत्यागी वैष्णव होनेके अधिकारी होते हैं। जगत्में उनकी संख्या खूब कम है। ऐसे त्यागी भक्तोंका सङ्ग दुर्लभ होता है।

यादवदास—कृपया यह बतलाइये कि गृहत्यागी होनेका अधिकार कैसे प्राप्त होता है?

अनन्तदास—मनुष्यमें दो तरहकी प्रवृत्तियाँ होती हैं—पहली बहिर्मुख—प्रवृत्ति और दूसरी अन्तर्मुख—प्रवृत्ति। वैदिक भाषामें इन्हें पराक् और प्रत्याक् प्रवृत्ति कहते हैं। शुद्ध चिन्मय आत्मा अपने स्वरूपको भूलकर लिङ्गदेहके अन्तर्गत मनको ही आत्मा मानती है। मन इन्द्रियोंके द्वारा बाह्य विषयोंकी ओर दौड़ता है, इसीका नाम 'बहिर्मुख-प्रवृत्ति' है। जब प्रवृत्तिकी गति जड़ विषयोंसे पलटकर मनकी ओर और मनसे आत्माके प्रति प्रवाहित होने

द्वारा सब संन्यासोंका निषेध नहीं किया गया है, क्योंकि समस्त शास्त्रोंके ज्ञाता श्रीरामानुज, श्रीमध्व, श्रीविष्णुस्वामी आदि आचार्यगण और आचार्यकुल मुकुटमणि गौरभक्त छह गोस्वामी ये सभी त्यागी या संन्यासी थे तथा कलिकालमें ही हुए हैं। आज भी संन्यासकी शुद्धधारा पूर्ववत् चलती आ रही है। तब कलियुगमें संन्यास-वर्जनकी जो बात कही गयी है, उसका तात्पर्य यह है कि—आचार्य शंकर द्वारा प्रवर्तित 'सोऽहं', 'ब्रह्मास्मि' आदि अवैध चिन्ता-प्रसूत 'एकदण्ड संन्यास' ग्रहण करना अनुचित है। अतः उसीका निषेध किया गया है। त्रिदण्ड संन्यास ही प्रकृत सनातन संन्यास है। यह सब समय ग्रहण किया जा सकता है। कहीं-कहीं त्रिदण्ड संन्यासको बाह्यतः एकदण्डके रूपमें भी देखा जाता है। इस श्रेणीके एकदण्डी यति-महाजन सेव्य, सेवक और सेवाके प्रतीक त्रिदण्ड संन्यासकी नित्यता स्वीकार कर शंकर द्वारा प्रवर्तित एकदण्ड संन्यासको सम्पूर्ण अवैध मानते हैं। अतएव स्मार्त्त आचार्य द्वारा संगृहीत उक्त श्लोकके आधारपर भी निवृत्तिमार्गीय साधकोंको संन्यास ग्रहण करना ही युक्तियुक्त प्रमाणित होता है।

लगे, तब उसे अन्तर्मुख-प्रवृत्ति कहते हैं। जब तक बहिर्मुख-प्रवृत्ति प्रबल रहे, तब तक सत्सङ्गमें रहने तथा कृष्ण-संसार स्थापनकर समस्त प्रवृत्तियोंको निरपराध भावसे संचालन करनेकी आवश्यकता है। कृष्णभक्तिका आश्रय करनेसे बहिर्मुख-प्रवृत्ति क्रमशः संकुचित होकर अन्तर्मुख हो जाती है। जब प्रवृत्ति सम्पूर्ण रूपसे अन्तर्मुख हो जाये, तभी गृहत्याग करनेका अधिकार होता है। ऐसी अवस्था प्राप्त होनेके पहले ही यदि गृहत्याग किया जाये, तो पतनकी विशेष आशङ्का रहती है। गृहस्थाश्रम जीवोंके लिए एक पाठशाला स्वरूप है, जहाँ वह परमार्थ तत्त्वकी शिक्षा प्राप्त करता है तथा आत्मतत्त्वको विकसित करनेका सुयोग पाता है। शिक्षा समाप्त हो जानेपर पाठशालाका परित्याग करना चाहिये।

यादवदास–गृहत्यागी भक्तोंका क्या लक्षण है?

अनन्तदास—स्त्रीसङ्गकी स्पृहाका न होना, प्राणिमात्रपर दयाभाव होना, अर्थ-व्यवहारको तुच्छ समझना, केवल जीवन—निर्वाहोपयोगी भोजन और वस्त्रके लिए यत्न करना, कृष्णके प्रति विशुद्ध प्रीति होना, बहिर्मुख लोगोंके संगसे दूर रहना और जीवन-मरण में राग-द्वेष न होना—गृहत्यागी भक्तोंके लक्षण हैं। श्रीमद्भागवतमें उनके लक्षण इस प्रकार दिये हैं—

सर्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः॥(४)

(श्रीमद्भा० ११/२/४५)

मय्यनन्येन भावेन भक्तिं कुर्वन्ति ये दृढाम्।
मत्कृते त्यक्तकर्माणस्त्यक्तस्वजनबान्धवाः॥(५)

(श्रीमद्भा० ३/२५/२२)

विसृजति हृदयं न यस्य साक्षाद् हरिरवशाभिहितोऽप्यघौघनाशः।
प्रणयरसनया धृताङ्घ्रिपद्मः स भवति भागवतप्रधान उक्तः॥(६)

(श्रीमद्भा० ११/२/५५)

जिन गृहस्थ भक्तोंमें ये लक्षणसमूह प्रकाशित हो पड़ते हैं, वे अब कर्म करनेके लायक नहीं रहते। इसलिए वे गृहत्यागी हो पड़ते हैं। ऐसे निरपेक्ष भक्त विरले होते हैं। सारे जीवनमें भी यदि कभी ऐसे भक्तोंका सङ्ग मिल जाये तो अपना परम सौभाग्य समझना

---

(४) जो समस्त भूतोंमें आत्माके आत्मास्वरूप श्रीकृष्णचन्द्रको देखते हैं और आत्माके आत्मास्वरूप श्रीकृष्णमें समस्त भूतोंको देखते हैं, वे उत्तम भागवत हैं।

(५) कपिलदेवजी यहाँपर साधुका स्वरूप-लक्षण बतला रहे हैं—जो लोग अन्यान्य देवदेवियोंकी पूजामें आस्था न रखकर मुझमें अनन्यभावसे सुदृढ़ भक्ति करते हैं, वे मेरे लिए सम्पूर्ण कर्म तथा स्त्री, पुत्र, बन्धु, बान्धव आदि अपने सगे-सम्बन्धियोंको भी त्याग देते हैं।

(६) विवशतासे भी जिनका नाम उच्चारण करते ही जीवोंके सब पाप दूर हो जाते हैं, उन श्रीहरिके चरणकमलोंको जिन्होंने प्रेमकी डोरसे अपने हृदयमें बाँध रखा है, वे पुरुष भगवान्‌के भक्तोंमें प्रधान हैं।

चाहिये।

यादवदास—आजकल प्रायः देखा जाता है कि कोई-कोई थोड़ी उम्र में ही गृहत्यागकर वेश ग्रहण कर लेते हैं। फिर अखाड़ा बाँधकर देव-सेवा करने लगते हैं। धीरे-धीरे उनमें स्त्रीसङ्गका दोष प्रवेश कर जाता है। फिर भी वे हरिनाम नहीं छोड़ते। जगह-जगहसे भीख माँगकर अखाड़ेका खर्च चलाते हैं। ऐसे लोगोंको त्यागी भक्त कहा जाये या गृहस्थ भक्त?

अनन्तदास—तुमने बहुत-सी बातें एक ही साथ पूछी हैं। मैं एक-एकका उत्तर दूँगा। गृहत्यागसे थोड़ी या अधिक उम्रका कोई सम्बन्ध नहीं है। पूर्व और वर्त्तमान संस्कारोंके बलसे कोई गृहस्थ भक्त कम उम्र में ही गृहत्यागका अधिकारी हो जाता है। शुकदेवजी पूर्व संस्कारोंके कारण जन्मसे ही गृहत्यागके अधिकारी थे। केवल इतना ही देखना चाहिये कि वह अधिकार कृत्रिम न हो। यथार्थ निरपेक्षता उत्पन्न होनेपर कम उम्र से कोई बाधा नहीं पड़ती।

यादवदास—यथार्थ निरपेक्षता और कृत्रिम निरपेक्षता किसे कहते हैं?

अनन्तदास—यथार्थ निरपेक्षता, उस दृढ़ निरपेक्षताको कहते हैं, जो किसी समय टूटती नहीं। कृत्रिम निरपेक्षता प्रतिष्ठाकी आशा, धूर्त्तता और शठतासे पैदा होती है। निरपेक्ष गृहत्यागी भक्तों—जैसा सम्मान पानेके लिए कोई-कोई कृत्रिम निरपेक्षताका स्वांग रचते हैं। किन्तु ऐसी निरपेक्षता बिलकुल निरर्थक और अमङ्गलजनक होती है। गृहत्याग करनेके साथ ही ऐसी निरपेक्षता दूर हो जाती है और उपद्रव उपस्थित हो जाते हैं।

यादवदास—क्या गृहत्यागी भक्तको वेश लेना आवश्यक है?

अनन्तदास—संसारकी माया ममतासे दूर हो जानेपर निरपेक्ष अकिञ्चन भक्त वनमें रहें अथवा घरमें, जगत्‌को पवित्र करते हैं। उनमें कोई-कोई भिक्षुक—आश्रमके चिह्नों द्वारा परिचित होनेके लिए कौपीन-कन्था आदि धारण करते हैं। कौपीन-कन्था ग्रहण करनेके समय कुछ लोग गृहत्यागी वैष्णवोंकी साक्षी देकर अपनी प्रतिज्ञा दृढ़ करते हैं। इसीका नाम 'भिक्षाश्रम प्रवेश' है। यदि तुम इसीको 'वेश-लेना' कहते हो तो कोई आपत्ति नहीं है।

यादवदास—भिक्षाश्रमोचित चिह्नों द्वारा परिचित होनेकी आवश्यकता ही क्या है?

अनन्तदास—जगत्‌में भिक्षाश्रमीके नामसे परिचित होनेमें बहुत लाभ है। परिवारके लोग उससे सम्बन्ध न रखेंगे, बल्कि सहज ही उसे छोड़ देंगे। स्वयं भी उसे फिरसे गृहमें प्रवेश करनेकी इच्छा न होगी। स्वाभाविक निरपेक्षताके साथ ही लोक—भय भी उसके हृदयमें उपस्थित होगा। परिपक्व निरपेक्ष गृहत्यागी भक्तोंके लिए वेश-ग्रहण, चाहे किसी कामका हो या न हो, किन्तु किसी-किसीके लिए वेशाश्रय कुछ-कुछ सहायक होता है। **"स जहाति मतिं लोके वेदे च परिनिष्ठिताम्।"** (श्रीमद्भा० ४/२९/४६) अर्थात् भगवत्कृपा प्राप्त भक्त लौकिक या वैदिक सभी प्रकारके कर्मोंके प्रति आसक्ति परित्याग करते हैं—ऐसे भक्तोंके लिए वेशाश्रयकी विधि नहीं है। उन्हें केवल लोक अपेक्षा तक की आवश्यकता होती है।

यादवदास—वेशाश्रय किससे ग्रहण करना चाहिये?

अनन्तदास—गृहत्यागी वैष्णवोंसे वेशाश्रय ग्रहण करना चाहिये। गृहस्थ भक्तोंको गृहत्यागी भक्तोंके व्यवहारोंका अनुभव नहीं होता, इसलिए उन्हें किसीको भी गृहत्यागीका वेश नहीं देना चाहिये। क्योंकि ब्रह्मवैवर्तका कथन है—

"अपरीक्ष्योपदिष्टं यत् लोकनाशाय तद् भवेत्।"

अर्थात् स्वयं आचरण न करके धर्मोपदेश करनेसे वह जगत्‌में उत्पातका कारण होता है।

यादवदास—भेष या वेशाश्रय प्रदान करनेके समय गुरुदेवको किन-किन विषयोंपर विचार करना चाहिये?

अनन्तदास—सर्वप्रथम गुरुदेव यह विचार करेंगे कि जिस व्यक्तिको वे वेश देने जा रहे हैं, वह उपयुक्त पात्र है या नहीं? उसने गृहस्थ भक्त होकर कृष्णभक्तिके बलसे शम-दमादि ब्रह्म-स्वभाव प्राप्त किया है कि नहीं? अर्थ-पिपासा और जिह्वाकी लालसा निर्मूल हुई है या नहीं? वे कुछ दिन तक शिष्यको अपने निकट रखकर उसकी अच्छी तरह परीक्षा करें। जब उसे उपयुक्त पात्र समझें तभी भिक्षाश्रमका वेश प्रदान करें। इससे पहले किसी तरह वेश देना उचित नहीं है। अनुपयुक्त पात्रको वेश देनेसे गुरुका पतन होना अवश्यम्भावी है।

यादवदास—अब मैं देख रहा हूँ कि वेशाश्रय ग्रहण करना कोई हँसी-खेलकी बात नहीं है। इस प्रथाको अयोग्य गुरुओंने अब व्यवहारिक करना आरम्भ कर दिया है। कहा नहीं जा सकता, अन्त तक कैसी अवस्था होगी।

अनन्तदास—श्रीचैतन्य महाप्रभुजीने इस पद्धतिको पवित्र रखनेके लिए नितान्त क्षुद्र दोष करनेपर भी छोटे हरिदासको कठोर दण्ड दिया था। हमारे प्रभुके अनुगत भक्तोंको महाप्रभु द्वारा छोटे हरिदासको दण्ड देनेकी बात सर्वदा स्मरण रखनी चाहिये।

यादवदास—वेश लेकर अखाड़ा बाँधना और देव-सेवा करना क्या उचित पद्धति है?

अनन्तदास—नहीं, उपयुक्त पात्रको भिक्षाश्रममें प्रवेशकर प्रतिदिन भिक्षा द्वारा जीवन-निर्वाह करना चाहिये। अखाड़े आदिका आडम्बर नहीं करना चाहिये। वह किसी जगह किसी एकान्त कुटीमें या किसी गृहस्थके देवालयमें रहे। जिन अनुष्ठानोंमें धनकी आवश्यकता होती हो, उन अनुष्ठानोंसे उन्हें दूर रहना चाहिये। इस प्रकार जीवन-यापन करते हुए निरपराध होकर निरन्तर कृष्णनाम करना चाहिये।

यादवदास—जो लोग अखाड़े जमाकर गृहस्थीकी तरह रहते हैं, उन्हें क्या कहा जाये?

अनन्तदास—ऐसे लोगोंको 'बान्तासी' कहते हैं। जिसे एक बार वमन (उल्टी) कर दिया, उसीको बारम्बार खाते हैं।

यादवदास—क्या, तब वे वैष्णव नहीं रहते?

अनन्तदास—जब उनके व्यवहार अवैध और वैष्णव—आचारके विरोधी हैं, तब उनका सङ्ग करनेसे लाभ ही क्या है? अब तो उन्होंने शुद्धभक्तिका परित्यागकर दुराचार करना आरम्भ कर दिया है, ऐसी दशामें उनके साथ वैष्णवोंका सम्बन्ध ही क्या रहा?

यादवदास–जब तक वे हरिनाम त्याग नहीं करते, तब तक यह कैसे कहा जा सकता है कि उन्होंने वैष्णवता छोड़ दी है?

अनन्तदास—'नाम' और 'नामापराध' एक चीज नहीं है, 'शुद्ध हरिनाम'—एक चीज है और बाहरसे हरिनामके ही समान दिखायी पड़नेवाला 'अपराधयुक्त नाम' पृथक् चीज है। जहाँ नामके सहारे पापाचार दिखलायी पड़े अर्थात् नाम भी करेंगे, पाप भी करेंगे, नामके प्रभावसे पापोंसे छुटकारा तो आखिर मिल ही जायेगा—ऐसी भावनासे जो हरिनाम किया जाता है वह 'नामापराध' होता है, शुद्ध हरिनाम नहीं होता। नामापराधसे सर्वदा दूर रहना चाहिये।

यादवदास—तब ऐसे व्यक्तियोंका संसार कृष्ण-संसार नहीं है?

अनन्तदास—कदापि नहीं। कृष्ण-संसारमें शठताका स्थान नहीं है। वहाँ तो सम्पूर्ण रूपसे सरलता विराजमान रहती है। वहाँ अपराध होनेकी सम्भावना नहीं रहती।

यादवदास—जब वे भक्त ही नहीं रहे, तब किसी भक्त के साथ उनके तारतम्यका कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

यादवदास—ऐसी दशामें उनके उद्धारका क्या कोई रास्ता है?

अनन्तदास—हाँ, है। यदि वे अपने समस्त दुराचारोंका परित्यागकर निरपराध होकर रोते-रोते निरन्तर हरिनाम करें तो फिर वे भक्तोंकी श्रेणीमें आ सकते हैं।

यादवदास—बाबाजी महाराज! गृहस्थ भक्त वर्णाश्रमकी विधियोंके अधीन होते हैं। क्या वर्णाश्रमधर्मको स्वीकार किये बिना एक गृहस्थ, वैष्णव नहीं हो सकता?

अनन्तदास—अहा! वैष्णवधर्म अत्यन्त उदार है। जीवमात्र इस धर्मके अधिकारी हैं, इसीलिए इसका नाम 'जैवधर्म' है। अन्त्यज जातिके मनुष्य भी वैष्णवधर्म ग्रहण करके गृहस्थ रह सकते हैं। इनका वर्णाश्रम नहीं होता। फिर वर्णाश्रमके अन्तर्गत पतित संन्यासी भी पीछेसे शुद्धभक्ति लाभकर गृहस्थ भक्त हो सकते हैं। इनकी भी कोई वर्णाश्रम-विधि नहीं होती अथवा जो लोग अपने दुराचारोंके कारण वर्णाश्रमधर्मसे पतित हो चुके हैं, वे और उनकी सन्तान आदि साधु-सङ्गके प्रभावसे शुद्धभक्तिका आश्रय करते हुए गृहस्थ भक्त होवें तो इनका भी वर्णाश्रम नहीं होता। अतएव गृहस्थ भक्त दो प्रकारके होते हैं—वर्णाश्रमधर्मयुक्त और वर्णाश्रमधर्म रहित।

यादवदास—इन दोनोंमें श्रेष्ठ कौन है?

अनन्तदास-जिनमें भक्ति अधिक है, वे ही श्रेष्ठ हैं। भक्तिहीन होनेपर व्यवहारिक दृष्टिसे वर्णाश्रमका पालन करनेवाला व्यक्ति ही श्रेष्ठ है। क्योंकि उसमें धर्म है और दूसरा अन्त्यज है। किन्तु पारमार्थिक दृष्टिसे दोनों ही अधम हैं, क्योंकि दोनों भक्तिहीन हैं।

यादवदास-क्या किसी गृहस्थ व्यक्तिको गृहत्यागीका वेष ग्रहण करनेका अधिकार है?

अनन्तदास—नहीं, ऐसा करनेसे आत्मवञ्चना और जगत् वञ्चना—दोनों प्रकारके दोष होते हैं। गृहस्थ व्यक्तिका कौपीन आदि धारण करना गृहत्यागी वेषाश्रयी सन्तोंकी हँसी उड़ाना और उनका अपमान करना है।

यादवदास—बाबाजी महाशय! क्या वेष ग्रहण करनेके लिए कोई शास्त्र-पद्धति भी है?

अनन्तदास—स्पष्ट रूपसे नहीं है। सभी वर्णोंके लोग वैष्णव हो सकते हैं, किन्तु शास्त्र के अनुसार द्विजोंके अतिरिक्त और काई भी संन्यास ग्रहण नहीं कर सकता। श्रीमद्भागवतमें प्रत्येक वर्णोंका पृथक्-पृथक् लक्षण बतलाते हुए अन्तमें नारदजी कहते हैं—

यस्य यल्लक्षणं प्रोक्तं पुंसो वर्णाभिव्यञ्जकम्।
यदन्यत्रापि दृश्येत तत्तेनैव विनिर्दिशेत्॥

(श्रीमद्भा० ७/११/३५)

अर्थात् जिसके जो लक्षण कहे गये हैं उन्हीं लक्षणोंके द्वारा वर्णका निरूपण करना चाहिये। इस शास्त्रीय विधिके अनुसार ही अन्य वर्णोंमें उत्पन्न व्यक्तिमें ब्राह्मणवर्णका लक्षण देखकर उसे संन्यास देनेकी प्रथा चली है। यदि ब्राह्मणके अतिरिक्त अन्यान्य वर्णके व्यक्तियोंमें ब्राह्मणवर्णके लक्षण पाये जायें और उन्हें संन्यास दिया जाये तो इस पद्धतिको अवश्य ही शास्त्रानुमोदित मानना होगा। यह कार्य केवल पारमार्थिक विषयमें ही बलवान है,

व्यवहारिक विषयमें नहीं।

यादवदास—भाई चण्डीदास! तुम्हारे प्रश्नका उत्तर मिल गया?

चण्डीदास—आज मैं धन्य हो गया। परम पूजनीय बाबाजी महाराजके उपदेशोंका मैंने यह भावार्थ समझा है कि—जीव कृष्णका नित्यदास है। किन्तु अपराधवश अपने इस नित्य कृष्णदासत्वको भूलकर स्थूल और लिङ्ग—इन दो मायिक शरीरोंका आश्रय करता हुआ मायाके गुणोंको अङ्गीकार कर वह जड़ वस्तुओंमें सुख-दुःख भोग रहा है। अपने कर्मोंका भोग करनेके लिए उसने अपने गलेमें जन्म-मृत्युकी माला पहन रखी है। कभी उच्च और कभी निम्न योनियोंमें जन्म लेकर कर्म-फलके अनुरूप नये-नये अहङ्कारोंमें नाना प्रकारकी अवस्थाएँ प्राप्त करता है क्षणभङ्गुर भौतिक शरीरमें भूख-प्यास आदिके द्वारा नाना प्रकारके कर्मोंको करनेके लिए बाध्य होता है। तरह-तरहके अभावोंकी कल्पना करके अत्यन्त दुःखी हो पड़ता है। भाँति-भाँतिके रोग शरीरको सर्वदा जर्जरित करते हैं। घरमें स्त्री-पुत्रोंके साथ कलहकर कभी-कभी आत्महत्या तक कर बैठता है। धनके लोभसे न जाने कितने ही पापोंको करता है। राजदण्ड, लोकापवाद, लोकापमान और कितने ही प्रकारके शारीरिक क्लेशोंको भोगता है। आत्मीय-वियोग, धननाश, चोरी और डकैती द्वारा अपहरण आदि तरह-तरहके दुःख तो नित्यप्रति लगे ही रहते हैं। वृद्ध होनेपर घरके लोग सेवा नहीं करते—इससे कितना दुःख होता है। कफकी अधिकता, वातके वेग और वेदनासे वृद्ध शरीर केवल दुःखका कारण हो पड़ता है। मरनेपर पुनः गर्भकी असह्य पीड़ा सहनी पड़ती है। फिर शरीर रहते-रहते काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य आदि प्रबल होकर विवेकको आच्छादित कर देते हैं। अब मैं संसारका वास्तविक अर्थ समझ गया। मैं बाबाजीके चरणोंमें बारम्बार दण्डवत्—प्रणाम करता हूँ। वैष्णव जगत्‌की गुरु हैं। वैष्णवोंकी कृपासे आज मैं संसारका यथार्थ ज्ञान लाभ कर सका हूँ।

अनन्तदास बाबाजी महाशयके सदुपदेशोंका श्रवणकर सभी लोग एक स्वरसे साधु! साधु!! कहने लगे। अब तक वहाँ बहुत-से वैष्णव एकत्रित हो चुके थे। सबने मिलकर लाहिड़ी महाशयका एक पद कीर्त्तन करना आरम्भ किया। चण्डीदास कीर्त्तन करते-करते आनन्दमें विभोर होकर नृत्य करने लगे। वे समस्त बाबाजी लोगोंके चरणोंकी धूलि लेकर अपने मस्तकपर धारणकर रोते-रोते जमीनपर लोटने लगे।

सभी लोग एक स्वरसे बोल उठे—चण्डीदास बड़े भाग्यवान हैं।

कुछ देर बाद यादवदास बाबाजीने कहा—चण्डीदास! चलो, हमलोग उस पार चलें।

चण्डीदासने हँसकर उत्तर दिया—आप पार करें, तो मैं भी पार होऊँ।

दोनों प्रद्युम्न कुञ्जको साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणामकर विदा हुए। कुञ्जसे बाहर निकलते ही दमयन्तीको प्रणाम करते देखा। वह इन लोगोंको प्रणाम कर कहने लगी—हाय! मैंने स्त्री-जन्म क्यों पाया? यदि मैं भी पुरुष होती तो अनायास ही इस कुञ्जमें जाकर वैष्णवोंका दर्शन करती तथा उनकी चरणरज मस्तकपर धारणकर पवित्र होती। काश! मैं जन्म-जन्म इस नवद्वीपमें वैष्णवोंकी दासी होती और उनकी सेवा कर जीवन सार्थक करती।

यादवदास—अहो! यह गोद्रुमधाम महान् पुण्य भूमि है। यहाँ आते ही जीव शुद्धभक्ति लाभ करते हैं। यह गोद्रुम हमारे प्राणेश्वर श्रीशचीनन्दनकी क्रीड़ा-स्थली—गोपपल्ली है। इस तत्त्वको हृदयङ्गम करके ही श्रीप्रबोधानन्द सरस्वतीने प्रार्थना की है—

न लोकवेदोदितमार्गभेदैराविश्य संक्लिश्यते रे विमूढाः।
हठेन सर्वं परिहृत्य गौडे श्रीगोद्रुमे पर्णकुटीं कुरुध्वम्॥

(श्रीनवद्वीपशतक–३६)

—अरे मूढ़ (जीव)! तू लोक और वेदका आश्रय कर नाना प्रकारके धर्मोंका आचरण करनेपर भी दुःखी हो रहा है। अब इन अनिश्चित मार्गोंको छोड़कर शीघ्रातिशीघ्र श्रीगोद्रुममें अपनी पर्णकुटी निर्माण कर।

इसी तरह परस्पर हरिकथा कहते–सुनते तीनों गङ्गाको पारकर धीरे–धीरे कुलिया लौट आये। उसी दिनसे चण्डीदास और उनकी पत्नीमें एक प्रकारका अद्भुत वैष्णव–भाव प्रकट होने लगा, मानो मायाका संसार उन्हें बिलकुल ही स्पर्श न कर रहा हो। वैष्णव–सेवा, सदा कृष्णनाम कीर्त्तन और सब जीवोंपर दया—उनका भूषण बन गया। धन्य वणिक दम्पति! धन्य वैष्णव कृपा!! और धन्य श्रीनवद्वीप भूमि!!!

॥सातवाँ अध्याय समाप्त॥

आठवाँ अध्याय
नित्यधर्म और व्यवहार

एक दिन गोद्रुमके वैष्णवगण श्रीगोराह्रदके दक्षिण-पूर्वी किनारे वनवासी वैष्णवोंके कुञ्जमें प्रसाद सेवनके उपरान्त एकत्रित हुए। लाहिड़ी महाशयने एक भक्तिपूर्ण पद सुनाकर वैष्णवोंके हृदयको व्रजभावसे ओत-प्रोत कर दिया।

पदकी समाप्तिपर कुछ वैष्णवजन गौरलीला और कृष्णलीलाकी एकतापर विचार करने लगे। उसी समय बड़गाछीसे कुछ वैष्णवलोग उपस्थित हुए। उन्होंने पहले गोराहदको और उसके उपरान्त वैष्णवोंको साष्टाङ्ग प्रणाम किया| वैष्णवोंने आगन्तुकोंका यथोचित सम्मान किया। उस कुञ्जमें एक बहुत ही पुराना वटका वृक्ष था, जिसके नीचे एक पक्का चबूतरा था। लोग इस वटवृक्षको बड़ी श्रद्धापूर्वक 'निताई वट' कहा करते थे, क्योंकि नित्यानन्द प्रभुजी इस वट-वृक्षके नीचे बैठना बहुत ही पसन्द करते थे।

वट-वृक्षके नीचे वैष्णव साधुओंकी एक खासी सभा जम गयी। धीरे-धीरे परस्पर हरिकथा होने लगी। इसी बीच बड़गाछीके एक नवागन्तुक जिज्ञासु युवक नम्रतापूर्वक बोल उठे—मैं कुछ पूछना चाहता हूँ। आप लोग उसका यथोचित उत्तर देकर मुझे अनुगृहीत करें।

निभृत कुञ्जके हरिदास बाबाजी विज्ञ एवं गम्भीर विद्वान थे। उनकी अवस्था भी लगभग १०० वर्ष की थी। इन बाबाजीने नित्यानन्द प्रभुको भी अपनी आँखोंसे उसी वट-वृक्षके नीचे बैठे हुए देखा था। उनकी स्वयंकी भी ऐसी ही हार्दिक इच्छा थी कि उनका निर्याण उसी वट-वृक्षके नीचे हो। उन्होंने नवागन्तुक युवककी बात सुनकर कहा—जहाँ परमहंस बाबाजीकी सभा बैठी हो, वहाँ तुम्हें अपने प्रश्नोंके उत्तरके लिए तनिक भी आशङ्का नहीं होनी चाहिये।

नवागन्तुकने बड़े ही नम्र शब्दोंमें जिज्ञासा की—वैष्णवधर्म नित्यधर्म है, जो लोग इस धर्मका आश्रय लेते हैं, उनका अन्य लोगोंके साथ कैसा व्यवहार होना उचित है?

नवागन्तुकका प्रश्न सुनकर हरिदास बाबाजीने वैष्णवदास बाबाजीकी ओर मुड़ते हुए कहा—वैष्णवदासजी! इस समय बङ्गभूमिमें तुम्हारे समान विद्वान और श्रेष्ठ वैष्णव कोई भी नहीं है। तुमने सरस्वती गोस्वामीका सङ्ग किया है तथा परमहंस बाबाजीसे शिक्षा प्राप्त की है। तुम बड़े सौभाग्यशाली और महाप्रभुके कृपापात्र हो। अतः इस प्रश्नका उत्तर तुम्हें ही देना चाहिये।

वैष्णवदास बाबाजीने विनीत भावसे कहा—महात्मन्! आपने साक्षात् बलदेवजीके अवतार श्रीनित्यानन्द प्रभुका दर्शन किया है और न जाने कितने ही लोगोंको शिक्षा देकर उन्हें परमार्थ राज्यमें प्रवेश कराया है। आज हमलोग भी आपकी मुखनिःसृत उपदेश-वाणीका श्रवण करना चाहते हैं।

सभी लोगोंने वैष्णवदास बाबाजीकी बातका समर्थन किया। हरिदास बाबाजी उन लोगोंका अनुरोध टाल न सके। आखिर वे ही उस प्रश्नका उत्तर देनेके लिए तैयार हो गये। उन्होंने वट-वृक्षके नीचे श्रीनित्यानन्द प्रभुको दण्डवत् प्रणामकर कहना आरम्भ किया—जगत्में जितने जीव हैं उन सबको मैं कृष्णदास समझकर प्रणाम करता हूँ। कोई माने अथवा न माने, सभी उनके दास हैं। यद्यपि निखिल जीव श्रीकृष्णके स्वतः सिद्ध दास हैं,

तथापि जो अज्ञानवश या भ्रमवश अपनेको कृष्णदास नहीं मानते, वे एक श्रेणीके लोग हैं, और जो उनकी दासता स्वीकार करते हैं वे दूसरी श्रेणीके। इस तरह जगत्‌में दो प्रकारके लोग हैं—एक बहिर्मुख और दूसरे अन्तर्मुख या कृष्णोन्मुख। संसारमें कृष्ण-बहिर्मुख लोग ही अधिक हैं। ये लोग धर्म स्वीकार नहीं करते। ऐसे लोगोंके सम्बन्धमें कुछ कहना या न कहना बराबर है। इनमें कर्त्तव्याकर्त्तव्यका तनिक भी विवेक नहीं होता। अपना सुख और स्वार्थ ही इनका सर्वस्व होता है। जो लोग धर्म स्वीकार करते हैं उनमें कर्त्तव्य अकर्त्तव्यका विवेक होता है। ऐसे कर्त्तव्यपरायण मनुष्योंके लिए मनुजीने (६/९२) कहा है—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्यासत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

अर्थात् धृति (सन्तोष), क्षमा (सामर्थ्य रहते हुए भी दूसरोंके द्वारा किये गये अपकारोंके बदले अपकार न करना), दम (विकारका कारण उपस्थित होनेपर भी मनकी अविकृत अवस्था), अस्तेय (चोरी), शौच, इन्द्रिय-निग्रह (इन्द्रियोंको विषयसे हटाना), धी (शास्त्र आदिका तत्त्वज्ञान), विद्या (आत्मज्ञान), सत्य, अक्रोध (क्रोधका कारण उपस्थित होनेपर भी क्रोध न करना)—ये दस धर्मके लक्षण हैं।

इनमें धृति, दम, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, धी और विद्या—ये छह तो अपने प्रति कर्त्तव्य हैं, बाकी क्षमा, अस्तेय, सत्य और अक्रोध—ये चार दूसरोंके प्रति कर्त्तव्य हैं। ये दसों प्रकारके धर्म साधारण लोगोंके लिए हैं। क्योंकि इनमेंसे किसी भी लक्षणमें हरि भजनका स्पष्ट निर्देश नहीं पाया जाता है। दूसरी बात यह है कि यह भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता है कि इन दस लक्षणात्मक-धर्मका पालन करनेसे ही मानव जीवन सम्पूर्ण रूपसे कल्याणमय हो जायेगा। विष्णुधर्मोत्तरमें कहा गया है—

जीवितं विष्णुभक्तस्य वरं पञ्चदिनानि च।
न तु कल्पसहस्राणि भक्तिहीनस्य केशवे॥ [(१)]

कृष्णभक्तिसे रहित मनुष्य, मनुष्य कहलानेका अधिकारी नहीं है। शास्त्रोंमें ऐसे भक्तिरहित मनुष्योंकी गणना दो पैर वाले पशुओंसे की गयी है—

श्वविड्वराहोष्ट्रखरैः संस्तुतः पुरुषः पशुः।
न यत्कर्णपथोपेतो जातु नाम गदाग्रजः॥ [(२)]

(श्रीमद्भा० २/३/१९)

यहाँ उपर्युक्त प्रकारके लोगोंका कर्त्तव्य अथवा अकर्त्तव्य नहीं पूछा गया है, बल्कि प्रश्नकर्ताके प्रश्नका भाव केवल ऐसे लोगोंके व्यवहार या कर्त्तव्य कर्मके निरूपण किये जानेसे है जो भगवद्भक्ति मार्गका अवलम्बन कर चुके हैं।

---

(१) इस संसार में विष्णुभक्तका पाँच दिन जीना भी मङ्गलकारी है जब कि विष्णु—भक्तिविहीन लोगोंकी इस जगत् में हजार कल्प तक विद्यमानता भी कल्याणप्रद नहीं, प्रत्युत् उससे जगत्‌का अमङ्गल ही होता है।

(२) जिसके कानोंमें भगवान् श्रीकृष्णका नाम कभी प्रवेश न किया हो, वह मनुष्य विष्ठाभोजी घृणित सूकर, संसाररूपी मरुभूमिमें विचरणकारी तथा कंटकभोजी ऊँट और स्त्रीपद-ताड़ित तथा बोझ ढोनेवाले गधेसे भी गया—बीता है।

जिन लोगोंने भक्तिपथका अवलम्बन कर लिया है, उन्हें तीन श्रेणियोंमें विभक्त किया गया है—कनिष्ठ, मध्यम और उत्तम। जिन्होंने अभी केवल भक्ति मार्गमें प्रवेशमात्र किया है, किन्तु भक्त नहीं हो पाये हैं, उन्हें कनिष्ठ भक्त कहते हैं। उनका लक्षण यह है—

अर्चायामेव हरये पूजां यः श्रद्धयेहते।
न तद्भक्तेषु चान्येषु स भक्तः प्राकृतः स्मृतः॥

(श्रीमद्भा० ११/२/४७)

अर्थात् जो भगवान्‌की अर्चा और श्रीमूर्तिकी श्रद्धापूर्वक पूजा तो करते हैं, परन्तु भगवान्‌के भक्तों और दूसरे-दूसरे जीवोंकी विशेष सेवा-शुश्रूषा नहीं करते, उन्हें प्राकृत अर्थात् कनिष्ठ भक्त कहते हैं।

सिद्धान्त यह है कि श्रद्धा ही भक्तिका बीज है श्रद्धापूर्वक भगवान्‌की पूजा करनेसे ही भक्ति होती है, यह बात ठीक है तथापि, भक्तकी सेवा शुश्रूषा किये बिना केवल भगवान्‌की पूजाको शुद्ध भक्ति नहीं कहा जा सकता है, उससे भक्तिके पूर्ण स्वरूपकी अभिव्यक्ति नहीं होती अर्थात् भक्तिकार्यका अभी थोड़ा-सा द्वार-प्रवेश मात्र हुआ है। श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

यस्यात्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके स्वधीः कलत्रादिषु भौम इज्यधीः।
यत्तीर्थबुद्धिः सलिले न कर्हिचित् जनेष्वभिज्ञेषु स एव गोखरः॥

(श्रीमद्भा० १०/८४/१३)

जो मनुष्य वात, पित्त और कफ—इन तीन धातुओंसे बने हुए शवतुल्य शरीरको ही आत्मा—'मैं', स्त्री-पुत्र आदिको ही 'मेरा' और मिट्टी, पत्थर, काष्ठ आदि पार्थिव विकारोंको ही इष्टदेव मानता है तथा जो केवल जलको ही तीर्थ समझता है—भगवद्भक्तोंको नहीं, वह मनुष्य होनेपर भी पशुओंमें नीच गधा ही है।

तात्पर्य यह है कि यद्यपि अर्चामूर्त्तिमें ईश्वरकी पूजाके अभावमें भक्तिका प्रादुर्भाव नहीं होता, केवल वितर्क द्वारा हृदय शुष्क होता है और भजनका विषय भी निर्दिष्ट नहीं होता तथापि श्रीमूर्त्तिकी सेवाके लिए शुद्ध-चिन्मयी बुद्धिकी आवश्यकता है। इस जगत् में जीव ही चिन्मय वस्तु हैं। इनमें भी कृष्णभक्त जीव ही शुद्ध-चिन्मय हैं। भगवान् कृष्ण भी शुद्ध चिन्मय वस्तु हैं। चिन्मय वस्तुकी उपलब्धि करनेके लिए जड़, जीव और कृष्णके सम्बन्धज्ञानका होना अनिवार्य है। इस सम्बन्धज्ञानके साथ श्रीमूर्तिकी पूजा करनेके लिए कृष्ण—पूजा और भक्तसेवा—दोनों एक साथ होनी चाहिये। जिस श्रद्धासे चिन्मय तत्त्वके प्रति ऐसा आदरका भाव होता है, उसे शास्त्रीय श्रद्धा कहते हैं। चिन्मय तत्त्वका यथार्थ सम्बन्ध न जानकर जो श्रीमूर्तिकी पूजा की जाती है उसका आधार लौकिक-श्रद्धा है। अतएव वह भक्तिका प्रथम द्वार होनेपर भी शुद्ध भक्ति नहीं है। शास्त्रोंमें भक्तिके द्वार तक पहुँचे हुए मनुष्योंका लक्षण इस प्रकार कहा गया है—

गृहीतविष्णुदीक्षाको विष्णुपूजापरो नरः।
वैष्णवोऽभिहितोऽभिज्ञैरितरोऽस्मादवैष्णवः॥

अर्थात् जो विष्णुमन्त्रसे विधिवत् दीक्षित होकर विष्णुकी पूजा करते हैं उन्हें शास्त्रविद् पण्डितजन 'वैष्णव' की संज्ञा देते हैं। उनके अतिरिक्त सभी अवैष्णव हैं।

वंशानुक्रमसे जो लोग कुलगुरुको मानकर या लोगोंकी देखा-देखी लौकिक श्रद्धासे

अनुप्राणित होकर विष्णुमन्त्रकी दीक्षा लेकर श्रीविष्णुकी अर्चामूर्तिकी पूजा करते हैं वे कनिष्ठ वैष्णव अर्थात् प्राकृत भक्त हैं। ये लोग शुद्धभक्त नहीं हैं। इन प्राकृत भक्तोंमें 'छाया-भक्त्याभास' प्रबल होता है। भक्त्याभास दो प्रकारका होता है—पहला प्रतिबिम्ब भक्त्याभास और दूसरा छाया भक्त्याभास। प्रतिबिम्ब भक्त्याभासकी गणना अपराधमें होनेके कारण इसमें वैष्णवता नहीं होती। छाया भक्त्याभासमें वैष्णवताका कुछ-कुछ आभास होता है। प्राकृत भक्त प्रतिबिम्ब भक्त्याभासकी अवस्थासे परे होता है। यह छाया भक्त्याभास भी बड़े सौभाग्यसे प्राप्त होता है, क्योंकि यह भक्तिकी पूर्व अवस्था है और इससे भी क्रमशः मध्यम और उत्तम वैष्णव हुआ जा सकता है।

परन्तु जैसा भी हो इन लोगोंको शुद्धभक्त नहीं कहा जा सकता है। ये लोग लौकिक श्रद्धाके साथ श्रीअर्चामूर्तिकी पूजा करते हैं और साधारण लोगोंके लिए कहे गये दस लक्षणात्मक धर्मके अनुरूप ही इन लोगोंका दूसरोंके प्रति व्यवहार होता है। भक्तोंके लिए शास्त्रोंमें जो निर्दिष्ट व्यवहार हैं, वे इनके लिए नहीं हैं। सबसे प्रमुख बात तो यह है कि कौन भक्त है कौन अभक्त है—यह समझ लेनेकी शक्ति या बुद्धि इन लोगोंमें नहीं होती। यह अधिकार मध्यम कोटिके वैष्णवोंका है। श्रीमद्भागवतमें मध्यम वैष्णवोंका व्यवहार निरूपण करते हुए कहते हैं—

ईश्वरे तदधीनेषु बालिशेषु द्विषत्सु च।
प्रेममैत्रीकृपोपेक्षा यः करोति स मध्यमः॥

(श्रीमद्भा० ११/२/४६)

यहाँपर जिस व्यवहारकी बात कही गयी है वह नित्यधर्मके अन्तर्गतका व्यवहार है। यहाँ नैमित्तिक और संसारी व्यवहारोंकी बातें नहीं कही गयी हैं। वैष्णव जीवनमें इसी व्यवहारकी आवश्यकता है। यदि अन्य व्यवहार इस नित्यधर्मगत व्यवहारके विरोधी न हों तो आवश्यकतानुसार ग्रहण किये जा सकते हैं।

वैष्णव व्यवहारके चार प्रकारके पात्र हैं—(१) ईश्वर, (२) ईश्वरके अधीन भक्त, (३) बालिश अर्थात् अतत्त्वज्ञ विषयी और (४) द्वेषी अर्थात् भक्तिका विरोध करनेवाले। इन चारों पात्रोंके प्रति क्रमशः प्रेम, मैत्री, कृपा और उपेक्षा करना ही वैष्णव-व्यवहार हैं, अर्थात् ईश्वरसे प्रेम, भक्तोंसे मित्रता, बालिशोंपर कृपा और द्वेषियोंके प्रति उपेक्षा ही वैष्णव व्यवहार है।

(१) ईश्वरके प्रति प्रेम—अर्थात् सर्वेश्वर कृष्णके प्रति प्रेम प्रेम शब्दका अर्थ 'शुद्धभक्ति' से है। भक्तिरसामृतसिन्धुमें शुद्धभक्तिका लक्षण इस प्रकार बतलाया गया है—

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥

अर्थात् श्रीकृष्णकी सेवाके अतिरिक्त अन्यान्य कामनाओंसे रहित होकर तथा ज्ञान और कर्म आदिके प्रति स्वाधीन चेष्टाओंका परित्यागकर समस्त इन्द्रियों द्वारा जो कृष्णका अनुशीलन किया जाता है—कृष्णकी सेवा की जाती है—उसे उत्तमाभक्ति कहते हैं।

यह उत्तमाभक्ति मध्यमकोटिके वैष्णवोंकी साधन, भाव और प्रेमदशा तक पायी जाती है। पहले कहे गये कनिष्ठाधिकारमें केवल श्रीमूर्त्तिकी श्रद्धापूर्वक पूजा करनेका लक्षण पाया जाता है। किन्तु उत्तमाभक्तिका उनमें कोई भी लक्षण नहीं पाया जाता। जिस दिन उनके

हृदयमें उत्तमाभक्तिके लक्षणसमूह प्रकाशित हो पड़ेंगे, उसी दिनसे उनकी गणना मध्यमाधिकारी वैष्णवोंमें होने लगेगी। इससे पूर्व उन्हें भक्ताभास या वैष्णवाभास ही कहा जायेगा। कृष्णानुशीलन ही प्रेम है, परन्तु 'आनुकूल्येन' शब्द द्वारा कृष्णप्रेमके अनुकूल भक्तोंके प्रति मित्रता, अतत्त्वज्ञोंपर कृपा तथा भक्ति-विरोधी व्यक्तियोंकी उपेक्षा करना भी मध्यम कोटिके वैष्णवोंके लक्षण हैं।

(२) भगवान् के अधीन भक्तोंके प्रति मित्रता—जिन लोगोंके हृदयमें शुद्धभक्तिका आविर्भाव हो चुका है, वे भगवान् के अधीन भक्त हैं। कनिष्ठाधिकारी स्वयं भगवान् के अधीन शुद्धभक्त नहीं हैं और वे शुद्धभक्तोंका आदर-सत्कार भी नहीं करते। इसलिए मध्यम और उत्तम भक्त ही मैत्रीके पात्र हैं। श्रीचैतन्यचरितामृतमें कुलीनग्रामके भक्तोंके प्रश्नोत्तरमें श्रीमन् महाप्रभुजीने जिन उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ वैष्णवोंके सम्बन्धमें उपदेश दिया है, उन सबको मध्यम और उत्तम कोटिका वैष्णव समझना चाहिये। उनमेंसे कोई भी केवल अर्चामूर्त्तिका पूजक कनिष्ठाधिकारी नहीं है। केवल अर्चापूजा करनेवालोंके मुखसे शुद्ध कृष्णनाम नहीं होता। उनका नाम छाया-नामाभास होता है। मध्यमाधिकारी गृहस्थ वैष्णवोंको महाप्रभुजीने तीन प्रकारके वैष्णवोंकी सेवा करनेकी आज्ञा दी है। जिनके मुखसे एकबार कृष्णनाम सुनायी दे, जिनके मुखसे निरन्तर कृष्णनाम सुनायी पड़े और जिन्हें देखते ही स्वतः कृष्णनाम उदित हो—इन तीनों प्रकारके वैष्णवोंकी सेवा करनी चाहिये। जिनके मुखसे शुद्ध कृष्णनाम नहीं निकलता, ऐसे नामाभास करनेवाले वैष्णवोंकी सेवा वैष्णव-सेवाके अन्तर्गत नहीं ली गयी है। केवल शुद्ध नामाश्रयी वैष्णवोंकी ही सेवा करने योग्य है।

वैष्णवोंके तारतम्यानुसार सेवाका भी तारतम्य है। 'मैत्री' शब्दसे सङ्ग, वार्त्तालाप और सेवा—सभी समझना चाहिये। शुद्ध वैष्णवोंको देखते ही उनकी अभ्यर्थना करनी चाहिये तथा आदरपूर्वक उनके साथ वार्त्तालाप करना चाहिये। उनकी आवश्यकताओंको भी जहाँ तक हो सके पूर्ण करना चाहिये। यह सब वैष्णव-सेवाके अन्तर्गत है। उनसे कभी विद्वेष नहीं करना चाहिये। भूलकर भी उनकी निन्दा नहीं करनी चाहिये। उनकी कुरूपतासे घृणा नहीं करनी चाहिये तथा बीमार देखकर अनादर नहीं करना चाहिये।

(३) बालिशोंपर कृपा—'बालिश' शब्दसे अतत्त्वज्ञ, मूढ़ या मूर्ख मनुष्य समझना चाहिये। किसी तरहकी शिक्षा न मिली हो, मायावाद आदि मत-मतान्तरोंमें प्रवेश न किया हो तथा भक्ति या भक्तोंके प्रति विद्वेष करना न सीखा हो, फिर भी अहंता और ममता प्रबल होकर जिसे ईश्वरमें श्रद्धा नहीं करने देती, ऐसे विषयी मनुष्यको 'बालिश' कहते हैं। पढ़-लिखकर केवल पण्डित होनेपर भी जिनमें ईश्वर विश्वासका अभाव है, वे भी बालिश हैं। कनिष्ठाधिकारी प्राकृत भक्त भक्ति के प्रवेशद्वार तक पहुँचनेपर भी सम्बन्धतत्त्वको न जाननेके कारण जब तक शुद्धभक्ति प्राप्त नहीं कर पाते वे भी बालिश ही कहलाने के योग्य हैं। सम्बन्धतत्त्वको जानकर शुद्ध भक्तोंकी कृपासे जब उनकी रुचि शुद्ध हरिनाममें होगी, तभी उनका बालिशपन दूर होगा और वे मध्यम कोटिके वैष्णवोंमें गिने जायेंगे। ऐसे बालिशोंके प्रति मध्यमवैष्णवोंके कृपारूप व्यवहारकी बहुत ही आवश्यकता है। अतिथि मानकर यथाशक्ति इनकी आवश्यकताओंको पूर्ण करना चाहिये। इतना ही नहीं, बल्कि जिससे इनकी अनन्य भक्तिमें श्रद्धा उत्पन्न हो तथा श्रीहरिनामके प्रति उनकी रुचि पैदा हो—वैसा प्रयत्न करनेका नाम ही यथार्थ 'कृपा' है। अतत्त्वज्ञ होनेके कारण बालिश व्यक्ति थोड़ा-सा कुसङ्ग पाकर ही

पतित हो पड़ता है। अतः उन्हें सर्वदा कुसङ्गसे बचाना चाहिये तथा उन्हें अपने साथ रखकर नाम माहात्म्य और सदुपदेश श्रवण कराना चाहिये। रोगी कभी अपनी चिकित्सा नहीं कर सकता। इसलिए उसकी चिकित्सा करनी चाहिये। जैसे रोगीका क्रोधपूर्ण व्यवहार क्षम्य है, बालिशोंके व्यवहार भी उसी प्रकार क्षम्य हैं। इसीका नाम कृपा है। बालिशोंमें बहुत-से भ्रम होते हैं, यथा—कर्मकाण्डमें विश्वास, कभी-कभी ज्ञानके प्रति झुकाव, ईश्वरकी अर्चामूर्त्तिकी कामनासहित पूजा, योगमें श्रद्धा, सत्सङ्गके प्रति उदासीनता, वर्णाश्रमके प्रति आसक्ति आदि अनेक प्रकारके भ्रम हैं। सङ्ग, कृपा और सदुपदेश द्वारा इन भ्रमोंके दूर होनेपर कनिष्ठाधिकारी भी मध्यम कोटिके वैष्णव हो सकते हैं। जब ऐसे लोग भगवान्‌की अर्चामूर्तिकी पूजा करना आरम्भ कर दें, तो समझना चाहिये कि इन्होंने अपने कल्याणका बीज बो दिया है, अब इनमें कोई मतवादका दोष नहीं है और शीघ्र ही इनका कल्याण होनेवाला है। मतवादका दोष न होनेके कारण उनमें थोड़ी-थोड़ी श्रद्धाकी गन्ध भी होती है। किन्तु जो लोग मायावादके विचारोंके अनुसार भगवान्‌की अर्चापूजा करते हैं, उनमें श्रीमूर्त्तिके प्रति तनिक भी श्रद्धा नहीं होती। वे लोग भगवान्‌के चरणोंमें अपराधी होते हैं। इसीलिए 'श्रद्धयेहते' पदका व्यवहार कनिष्ठाधिकारीके प्रति किया गया है। मायावादियोंका सिद्धान्त यह है कि—"परब्रह्मका कोई श्रीविग्रह नहीं होता, वे निराकर, निर्विशेष आदि हैं। निम्नाधिकारी साधकोंके लिए परब्रह्मकी काल्पनिक अर्चामूर्त्तिकी व्यवस्था की गयी है।" ऐसी अवस्थामें श्रीविग्रहके प्रति विश्वास ही कहाँ रहा? इसलिए मायावादियोंकी मूर्तिपूजा और कनिष्ठाधिकारी वैष्णवकी श्रीमूर्तिपूजामें विशेष अन्तर है। कनिष्ठाधिकारी वैष्णव भगवान्‌को सविशेष जानकर उनकी श्रीमूर्त्तिकी श्रद्धासे पूजा करता है किन्तु मायावादी भगवान्‌को निर्विशेष मानकर उनकी श्रीमूर्तिको काल्पनिक और अनित्य मानता है। यही कारण है कि वैष्णवताका कोई अन्य लक्षण न होते हुए भी, मायावाद—दोषसे रहित होनेके कारण ही कनिष्ठ अधिकारीको 'प्राकृत-वैष्णव' का पद दिया गया है। मायावादसे रहित होना ही उनकी वैष्णवता है। इसीके बलपर साधु-कृपा द्वारा उनकी अवश्य ही धीरे-धीरे ऊर्ध्वगति होगी। मध्यमाधिकारी वैष्णवोंको इनपर अवश्य कृपा करनी चाहिये। ऐसा होनेसे इनकी अर्चापूजा और हरिनाम शीघ्र ही विशुद्ध होकर (आभास धर्मत्व परित्यागकर) चिन्मयताको प्राप्त होंगे।

(४) द्वेषी मनुष्योंकी उपेक्षा—यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि द्वेषी मनुष्य किसे कहते हैं? और वे कितने प्रकारके होते हैं? द्वेष एक प्रकारकी प्रवृत्ति है जिसे मत्सरता भी कहते हैं। प्रेमके ठीक विपरीत प्रवृत्तिका नाम 'द्वेष' है। केवल ईश्वर ही प्रेमके पात्र हैं; इन ईश्वरके प्रति प्रेमके विपरीत जो प्रवृत्ति होती है उसे द्वेष कहते हैं। द्वेष पाँच प्रकारका होता है—

(क) ईश्वरमें अविश्वास।

(ख) ईश्वरको कर्मफलसे उत्पन्न स्वभाव—शक्ति मानना।

(ग) ईश्वरको विशेष स्वरूपमें विश्वास न करना।

(घ) जीवोंको ईश्वरके नित्यरूपके अधीन नहीं मानना।

(ङ) दयाशून्यता।

जिन लोगोंका हृदय इन द्वेष—प्रवृत्तियोंसे दूषित होता है, उन्हें शुद्धभक्ति कभी प्राप्त नहीं हो सकती है। वे शुद्धभक्तिके प्रवेश-द्वार स्वरूप—कनिष्ठाधिकारीकी अर्चाभक्तिसे भी

रहित होते हैं। विषयासक्तिके साथ उक्त पाँच प्रकारके द्वेष रह सकते हैं। तीसरे और चौथे प्रकारके द्वेषोंके साथ कभी-कभी आत्मघाती वैराग्य भी देखा जाता है। मायावादी संन्यासियोंका जीवन ही इनके उदाहरण हैं। इन द्वेषी व्यक्तियोंके प्रति शुद्ध भक्त कैसा व्यवहार करेंगे?—उनके प्रति उपेक्षा करना ही कर्त्तव्य है।

मनुष्यके प्रति मनुष्यका जो व्यवहार होता है, उसे परित्याग करना ही उपेक्षा है—ऐसा समझना भूल है। अथवा द्वेषी व्यक्तिपर कोई विपत्ति पड़नेपर उसका दुःख दूर करनेका प्रयत्न नहीं करना चाहिये—यह भी ठीक नहीं है। गृहस्थ वैष्णवोंको लोक-समाजमें रहना पड़ता है। दूसरे लोगोंके साथ एकत्र वास करनेसे परस्पर सम्बन्ध हो जाता है; विवाह द्वारा बहुतोंके साथ बन्धुत्व स्थापित हो जाता है; वाणिज्य-व्यवसायमें अनेक लोगोंसे सम्बन्ध पैदा होता है, विषय संरक्षण और पशु-पालन आदि कार्योंमें भी बहुतोंके साथ नाना प्रकारके सम्बन्ध जुड़ जाते हैं, एक दूसरेके प्रति सहानुभूति दिखलानेसे भी बहुतोंसे सम्बन्ध हो जाते हैं। इस प्रकार इन सम्बन्धित व्यक्तियोंमें यदि उपरोक्त द्वेषभाव पाये जायें तो इनके साथ गृहस्थ वैष्णवका कैसा व्यवहार होना उचित है? इन्हें उन लोगोंकी उपेक्षा करनी होगी। किन्तु उपेक्षाका अर्थ यह नहीं है कि इनके साथ अपना समस्त व्यवहार बन्द कर दिया जाये। बल्कि उपेक्षाका तात्पर्य यह है कि बहिर्मुख लोगोंके साथ व्यवहारिक कार्योंको तो पूर्ववत् चालू रखना चाहिये; परन्तु जहाँ तक पारमार्थिक-व्यवहारका प्रश्न है, इस विषयमें इनका सङ्ग नहीं करना चाहिये। मान लो, अपने ही परिवारका एक व्यक्ति अपने कर्मानुसार द्वेषी स्वभावका हो जाये, तो क्या उसे परित्याग कर देना होगा? कभी नहीं, अनासक्त होकर उसके साथ व्यवहारिक कार्योंको तो करना चाहिये, परन्तु पारमार्थिक विषयोंमें उसका सङ्ग नहीं करना चाहिये। यही उसकी उपेक्षा है। परमार्थके सम्बन्धमें मिलन, उसके सम्बन्धमें कथोपकथन, परस्पर उपकार और सेवा—ऐसे कार्य ही परमार्थिक सङ्ग है। ऐसा सङ्ग न करनेका नाम ही उपेक्षा है।

द्वेषी व्यक्ति नाना प्रकारके मतवादोंमें पड़कर शुद्धभक्तिकी प्रशंसा अथवा उसके सम्बन्धमें कोई सदुपदेश सुनते ही निरर्थक वाद-विवाद करेगा—इससे न तो तुम्हारा ही कोई उपकार होगा और न उसका ही कोई कल्याण होगा। इस प्रकार व्यर्थ तर्कसे दूर रहकर ऐसे लोगोंके साथ केवल व्यवहारिक सङ्गमात्र करना चाहिये। यदि कहो, द्वेषी व्यक्तियोंको भी बालिशोंके अन्तर्गत मानकर उनपर भी कृपा करनेसे अच्छा होता, तो ऐसा करनेसे कोई उपकार होना तो दूर रहा, उल्टे अपना भी अपकार होगा। उपकार अवश्य करो किन्तु सावधान होकर।

मध्यमाधिकारी शुद्ध भक्तोंको इन चार प्रकारके व्यवहारोंका अवश्य पालन करना चाहिये। ऐसा न करनेसे उन्हें अपने अधिकारके अनुसार अपने कर्त्तव्योंकी अवहेलनाके कारण भीषण दोष लगता है—

स्वे स्वेऽधिकारे या निष्ठा स गुणः परिकीर्त्तितः।
विपर्ययस्तु दोषः स्यादुभयोरेष निर्णयः॥

(श्रीमद्भा० ११/२१/२)

अर्थात्, अपने-अपने अधिकारके अनुसार धर्ममें दृढ़ निष्ठा रखना ही गुण कहा गया है और इसके विपरीत अनधिकार चेष्टा करना ही दोष है। तात्पर्य यह है कि गुण और

दोष दोनोंका निर्णय अधिकारके अनुसार किया जाता है, किसी वस्तुके अनुसार नहीं।

मध्यमाधिकारी शुद्ध भक्तोंका यह कर्त्तव्य है कि वह शास्त्रयुक्ति द्वारा ईश्वरके प्रति प्रेम, शुद्ध भक्तोंसे मित्रता, बालिश अर्थात् अतत्त्वज्ञ व्यक्तिके प्रति कृपा और द्वेषी मनुष्योंकी उपेक्षा करे। भक्तिके तारतम्यसे मित्रताका तारतम्य, बालिशोंकी मूर्खता और सरलताके तारतम्यसे उनपर कृपाका तारतम्य और द्वेषी व्यक्तियोंके द्वेषके तारतम्यसे उपेक्षाका तारतम्य उपयुक्त होता है। इन सबका विचार करते हुए मध्यम कोटिके भक्तजन पारमार्थिक व्यवहार करेंगे। लौकिक व्यवहारको पारमार्थिक व्यवहारके अधीन सरलरूपमें करना चाहिये।

बड़गाछीवाले नित्यानन्ददासने बीच ही में प्रश्न किया—प्रभो! उत्तम कोटिके वैष्णवोंका व्यवहार कैसा होता है?

भाई! तुमने एक प्रश्न तो कर ही रखा है, मैं अभी उसीका उत्तर दे रहा हूँ। मेरी बात तो समाप्त होने दो। मैं अब वृद्ध हो गया हूँ, स्मरण शक्ति भी कम हो गयी है। प्रसङ्गवशतः जो बातें अभी याद हैं, प्रसङ्ग बदलनेके बाद उसे भूल जाऊँगा। हरिदास बाबाजीने कुछ झिझकते हुए कहा।

बाबाजी कुछ कड़े मिजाजके सन्त हैं। यद्यपि वे किसीका कोई दोष नहीं लेते, फिर भी अन्यायपूर्ण बातोंका उत्तर उसी समय तपाकसे दे दिया करते हैं। उनकी बातोंको सुनकर सभी निस्तब्ध हो गये।

बाबाजीने पुनः वट वृक्षके नीचे नित्यानन्द प्रभुको एकबार पुनः दण्डवत् प्रणाम किया और कहने लगे—जब मध्य मकोटिके वैष्णवोंकी भक्ति साधन और भावावस्थाको पारकर प्रेमावस्थामें पहुँचकर अतिशय गाढ़ी हो जाती है, उस समय मध्यमाधिकारी भक्त उत्तम भक्तकी कोटिमें आ जाते हैं। श्रीमद्भागवतमें उत्तम वैष्णवोंका लक्षण इस प्रकार कहा गया है —

सर्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः॥ (३)

(श्रीमद्भा० ११/२/४५)

जो समस्त प्राणियोंमें भगवान् के साथ सम्बन्धजनित प्रेममयभावोंकी उपलब्धि करते हैं और साथ ही भगवान्में भी समस्त प्राणियोंके सम्बन्धजनित प्रेममय भावकी उपलब्धि करते हैं। वे उत्तम कोटिके वैष्णव हैं। इस प्रेममय भावके अतिरिक्त कोई भी दूसरा भाव इनमें नहीं पाया जाता। भगवान् के साथ सम्बन्धजनित दूसरे भाव भी कभी-कभी इनमें प्रकाशित हो पड़ते हैं। ऐसे भावोंको प्रेमका विकार समझना चाहिये। उदाहरण-स्वरूप, उत्तम भागवत होते हुए भी शुकदेव गोस्वामीने कंसके प्रति 'भोजपांशुल' आदि जिन शब्दोंका प्रयोग किया है, वे द्वेषपूर्ण जैसे प्रतीत होनेपर भी वास्तवमें द्वेषपूर्ण नहीं हैं—प्रेमके विकार हैं। इसी प्रकार जब भक्तोंका जीवन शुद्धप्रेममय हो जाता है तब उसे 'उत्तम भागवत' कहा जाता है। इस अवस्थामें मध्यमाधिकारके प्रेम, मैत्री, कृपा और उपेक्षारूप व्यवहारोंके तारतम्यका विचार नहीं रहता, प्रत्युत् उनके समस्त व्यवहार प्रेमाकार हो पड़ते हैं। इनकी दृष्टिमें उत्तम, मध्यम और

---

(३) जो समस्त भूतोंमें आत्माके आत्मा स्वरूप श्रीकृष्णचन्द्रको देखते हैं और आत्माके आत्मा स्वरूप कृष्णचन्द्रमें सर्वभूतको देखते हैं, वे उत्तम भागवत हैं।

कनिष्ठ वैष्णवका अथवा वैष्णव और अवैष्णवका कोई भेद नहीं रहता। ऐसी अवस्था अत्यन्त दुर्लभ है।

अब देखिये, कनिष्ठ वैष्णव तो वैष्णवोंकी सेवा ही नहीं करते एवं उत्तम वैष्णवोंकी दृष्टिमें वैष्णव—अवैष्णवका कोई विचार-भेद ही नहीं रहता, क्योंकि वे प्राणीमात्रको कृष्णदासके रूपमें देखते हैं। इसलिए वैष्णव-सेवा और वैष्णव-सम्मान—केवलमात्र मध्यमाधिकारी वैष्णवोंके ही व्यवहार हैं। मध्यम कोटिके वैष्णवोंके लिए—जो एकबार कृष्णनाम उच्चारण करते हैं, जो निरन्तर कृष्णनाम करते हैं और जिन्हें दर्शन करनेसे दर्शकके मुखमें कृष्णनाम स्वतः नृत्य करने लगे—इन तीन प्रकारके वैष्णवोंकी सेवा करना आवश्यक है। उन्हें वैष्णव, वैष्णवतर और वैष्णवतमके तारतम्यानुसार तीन प्रकारके वैष्णवोंकी सेवा करनी चाहिये। "ये उत्तम वैष्णव हैं, ये मध्यम वैष्णव हैं और ये कनिष्ठ वैष्णव हैं, ऐसा विचार नहीं करना चाहिये"—ऐसी बातें केवल उत्तम वैष्णवाधिकारमें ही सम्भव हैं। यदि मध्यमाधिकारी वैष्णव ऐसी बातें कहते हैं, तो वे इसके लिए अपराधी होंगे। इस विषयमें श्रीचैतन्य महाप्रभुने कुलिन ग्रामके भक्तोंको सङ्केत द्वारा समझा दिया था। मध्यमाधिकारी वैष्णवमात्रके लिए श्रीमन् महाप्रभुकी उपदेश-वाणियाँ वेदसे भी अधिक मान्य हैं। वेद या श्रुति किसे कहते हैं? उत्तर है— परमेश्वरकी आज्ञा ही वेद है। इतना कहकर हरिदास बाबाजी क्षणभरके लिए चुप हो गये।

क्या अब मैं कुछ पूछ सकता हूँ?—नित्यानन्ददासने हाथ जोड़कर बड़े ही नम्र शब्दोंमें कहा।

हरिदास बाबाजी ने उत्तर दिया—खुशीसे पूछ सकते हो।

नित्यानन्ददासने जिज्ञासा की—बाबाजी! आप मुझे किस श्रेणीका वैष्णव समझते हैं? अर्थात्, मैं कनिष्ठ वैष्णव हूँ अथवा मध्यम वैष्णव? उत्तम वैष्णव तो कदापि नहीं हूँ।

हरिदास बाबाजीने मुस्कराते हुए कहा—भैया! नित्यानन्ददास नाम ग्रहण करनेपर भी क्या उत्तम वैष्णव होना बाकी रहता है? मेरे निताई बड़े दयालु हैं, मार खाकर भी प्रेम दान करते हैं। फिर उनका नाम ग्रहण करनेपर तथा उनका दास होनेपर शेष ही क्या रह जाता है?

नित्यानन्ददास—प्रभो! मैं सरलतापूर्वक अपना अधिकार जानना चाहता हूँ।

हरिदास—तब तुम अपना पूरा ब्योरा सुनाओ, यदि निताई मुझसे कुछ कहलाना चाहेंगे तो अवश्य कहूँगा।

नित्यानन्ददास—पद्मावती नदीके किनारे एक छोटे-से गाँवमें मेरा जन्म हुआ था। माता—पिता नीच जातिके थे। बचपनसे ही मैं बहुत सीधा-साधा और नम्र स्वभावका था। असत् सङ्गसे सर्वदा दूर रहा करता था। थोड़ी उम्र में ही मेरा विवाह कर दिया गया। कुछ ही दिनोंमें माता-पिताका देहान्त हो गया। घरमें अब मैं और मेरी स्त्री—दो ही प्राणी थे। कोई विशेष सम्पत्ति तो थी नहीं, प्रतिदिन काम करते और खाते। इस प्रकार हमारे दिन सुखसे बीतते। किन्तु यह सुख अधिक दिनों तक न रहा। मेरी दुनियाको उजाड़ती हुई मेरी स्त्री मुझे अकेला छोड़कर चल बसी। स्त्री-वियोगसे मेरे हृदयमें संसारके प्रति कुछ वैराग्य हो आया। मेरे पूर्वाश्रमके निकट ही बड़गाछी ग्राम है। उस समय बहुत से गृहत्यागी वैष्णव वहाँ भजन करते थे। लोग उनका खूब सम्मान करते। मैं पहलेसे ही वहाँ अक्सर जाया

करता था। मेरे मनमें भी वैसा ही सम्मान पाने की तीव्र आकांक्षा थी। इधर पत्नी—वियोग होनेसे संसारके प्रति अब कोई आकर्षण भी न था। मैं सीधा बड़गाछी भागा और क्षणिक वैराग्यके आवेशमें वैष्णव-वेष भी ले लिया।

कुछ दिन बीतते न बीतते ही मेरा मन चञ्चल हो उठा। हृदयमें तरह—तरहके बुरे विचार मँडराने लगे। मेरा सँभलना अत्यन्त मुश्किल हो गया। परन्तु मेरा सौभाग्य ही कहिये, मुझे एक शुद्ध और सरल वैष्णवसङ्ग मिल गया। आजकल वे व्रजमें भजन कर रहे हैं। वे मुझपर बहुत ही स्नेह रखते थे। उन्होंने मुझे बहुत-से सदुपदेश प्रदान किये और अपने साथ रखकर मेरा चित्त शोधन कर दिया।

अब मेरे मनमें बुरे विचार नहीं आते। एक लाख हरिनाम करनेकी इच्छा होती है। नाम और नामीको अभेद और चिन्मय समझता हूँ। एकादशी आदि हरिवासरोंका विधिवत् पालन करता हूँ। तुलसीको जलदान आदि करता हूँ। जब वैष्णवजन कीर्त्तन करते हैं, तो मैं भी उनके साथ तनिक आवेशमें आकर कीर्त्तन करता हूँ। वैष्णवोंका चरणामृत पान करता हूँ, नित्य-प्रति थोड़ा-बहुत भक्ति-ग्रन्थोंका पाठ भी करता हूँ। उत्तम-उत्तम भोजन एवं उत्तम-उत्तम आच्छादनकी कोई कामना नहीं होती। ग्राम्य कथाएँ बुरी लगती हैं। वैष्णवोंको देखते ही उनके चरणोंमें लोटनेकी इच्छा होती है और बीच-बीचमें ऐसा करता भी हूँ, किन्तु प्रायः कुछ प्रतिष्ठाकी आशा लिये हुए। अब आप कृपाकर बतलाइये, मैं कौन-सी श्रेणीका वैष्णव हूँ तथा मेरा व्यवहार कैसा होना चाहिये?

हरिदास बाबाजीने वैष्णवदास बाबाजी महाराजकी ओर देखते हुए हँसकर कहा—कहिये, नित्यानन्ददास कौनसी श्रेणीके वैष्णव हैं?

वैष्णवदास—मैंने जो कुछ सुना, उससे जान पड़ता है कि वे कनिष्ठाधिकारको पारकर मध्यमाधिकारमें प्रवेश कर चुके हैं।

हरिदास—मैं भी ऐसा ही समझता हूँ।

नित्यानन्ददास—अच्छा हुआ, आज मैं वैष्णवोंके मुखसे अपना अधिकार जान सका। आप लोग कृपा करें, मैं क्रमशः उत्तम अधिकारी हो सकूँ।

वैष्णवदास—वेष लेनेके समय आपके हृदयमें प्रतिष्ठाकी कामना थी। उस समय आप वेषके अधिकारी न थे, इसलिए उस समय आपका वेष लेना अनाधिकार चर्चारूप दोषसे दूषित था। जैसा भी हो, वैष्णवोंकी कृपासे आपका यथेष्ट कल्याण हुआ है।

नित्यानन्ददास—मुझमें अब भी कुछ-कुछ प्रतिष्ठाकी आशा है। अब भी अपनी आँखोंके जल और तरह—तरहके भावोंसे लोगोंको आकर्षितकर उच्च सम्मान पानेकी इच्छा होती है।

हरिदास—यत्नपूर्वक इसका परित्याग करो, नहीं तो इससे भक्तिके क्षय होनेका डर है। याद रखो, यदि भक्ति क्षय हुई तो पुनः कनिष्ठ-अधिकारमें उतर जाना पड़ेगा। काम-क्रोध आदि षड्रिपुओंके दूर होनेपर भी प्रतिष्ठाकी आशा दूर नहीं होती। यह वैष्णवोंकी सबसे जबरदस्त शत्रु है। यह साधकको सहज ही छोड़ना नहीं चाहती, विशेषतः छाया भावाभासको छोड़कर सच्चे भावका एक बिन्दु होना भी कल्याणप्रद है।

आप कृपा करें। कहते-कहते नित्यानन्ददासने हरिदास बाबाजीके चरणोंकी धूलि लेकर अपने मस्तकपर धारण कर ली। पैरोंकी धूलि लेते हुए देखकर बाबाजी बड़े संकुचित हुए

और जल्दीसे उठकर उन्होंने उसे छातीसे लगा लिया तथा अपने पास बैठाकर उसकी पीठपर हाथ फेरने लगे। नित्यानन्दकी आँखोंसे झरझरकर आँसू गिरने लगे। हरिदास बाबाजी भी लाख कोशिश करके अपने आँसुओंको रोक न सके। एक अपूर्व भाव उदित हुआ। उपस्थित सभी वैष्णवोंकी आँखें उमड़ आयीं। नित्यानन्ददासका जीवन आज सार्थक हो गया। इन्होंने मन-ही-मन हरिदास बाबाजीको अपना गुरु मान लिया।

भावोंके शान्त होनेपर नित्यानन्ददासने फिर पूछा—भक्तिके सम्बन्धमें कनिष्ठ भक्तोंका मुख्य लक्षण क्या है? और गौण लक्षण क्या है?

हरिदास—भगवान्‌के नित्य-स्वरूपमें विश्वास और भगवान्‌की अर्चामूर्तिकी पूजा—ये कनिष्ठ वैष्णवोंके दो मुख्य लक्षण हैं। उनके श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण और वन्दनादि अनुष्ठानसमूह गौण लक्षण हैं।

नित्यानन्ददास—नित्य-स्वरूपमें विश्वास हुए बिना और अर्चामूर्त्तिकी विधियोंका अवलम्बन किये बिना वैष्णव नहीं हुआ जा सकता, इसीलिए ये दोनों मुख्य लक्षण हैं—इसे मैं अच्छी तरह समझ गया। किन्तु उनके श्रवण, कीर्त्तन आदि अनुष्ठान गौण लक्षण क्यों हैं?

हरिदास—कनिष्ठ वैष्णवको शुद्धभक्तिके स्वरूपका बोध नहीं होता। श्रवण, कीर्त्तन आदि शुद्धभक्तिके अङ्ग हैं। शुद्धभक्तिके स्वरूपबोधके अभावमें उनकी श्रवण और कीर्त्तन आदि क्रियाएँ मुख्य धर्मके रूपमें प्रकाशित नहीं होतीं, प्रत्युत् गौणरूपमें प्रकाशित होती हैं। विशेषतः सत्व, रज और तम—ये तीनों प्रकृतिके गुण हैं। इसलिए ये गुणसे उत्पन्न अर्थात् गौण कहलाती हैं। परन्तु यदि ये अनुष्ठानसमूह—निर्गुण रूपमें हों तो वे भक्तिके अङ्ग हैं। जिस समय ये अनुष्ठान निर्गुणताको प्राप्त कर लेते हैं, उसी समय मध्यमाधिकार उपस्थित हो पड़ता है।

नित्यानन्ददास—कनिष्ठ वैष्णवोंमें कर्म और ज्ञान-रूप दोष जब तक वर्त्तमान रहता है तथा भगवद्भक्तिसे इतर नाना प्रकारकी कामनाएँ उनके हृदयमें भरपूर रहती हैं, तब तक उन्हें भक्तकी संज्ञा कैसे दी जा सकती है?

हरिदास—भक्तिका मूल श्रद्धा है। जिनकी यह श्रद्धा उत्पन्न हो गयी, वे उसी समय भक्तिके अधिकारी हो गये। अतः इसमें कोई सन्देह नहीं कि वे भक्तिके द्वारपर उपस्थित हो गये हैं। 'श्रद्धा' शब्दका अर्थ 'विश्वास' से है। कनिष्ठ भक्तोंको जब श्रीमूर्त्तिके प्रति विश्वास पैदा हो गया है, तब वे भक्तिके अधिकारी हैं।

नित्यानन्ददास-वे कब भक्ति प्राप्त कर सकेंगे?

हरिदास—जब उनके ज्ञान और कर्मरूप दोष दूर हो जायेंगे, अनन्यभक्तिके अतिरिक्त दूसरी-दूसरी समस्त अभिलाषाओंका उनमें सर्वथा अभाव हो जायेगा, तथा भक्त-सेवाको अतिथि सेवासे पृथक् जानकर जब भक्तिके अनुकूलस्वरूपा भक्तसेवाके प्रति उनकी रुचि उत्पन्न होगी, तब वे मध्यमाधिकारी भक्तोंकी श्रेणीमें आ जायेंगे।

नित्यानन्ददास—शुद्धभक्ति, सम्बन्धज्ञानके साथ उत्पन्न होती है, उनमें सम्बन्धज्ञान पैदा ही कब हुआ, जिससे वे शुद्धभक्तिके अधिकारी बन गये?

हरिदास—मायावादरूप दूषित-ज्ञान दूर होनेपर यथार्थ सम्बन्धज्ञान और शुद्धभक्ति साथ प्रकाशित होते हैं।

नित्यानन्ददास—कब तक होते हैं?

हरिदास—जिनकी सुकृतिमें जितनी अधिक शक्ति होती है।

नित्यानन्ददास—सुकृति द्वारा सर्वप्रथम क्या होता है?

हरिदास—सत्सङ्ग प्राप्त होता है।

नित्यानन्ददास—सत्सङ्गके बाद क्या होता है?

हरिदास—श्रीमद्भागवतमें भक्तिके क्रम-विकासका सुन्दर विवेचन है—

सतां प्रसङ्गान्मम वीर्यसम्विदो
भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः।
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि
श्रद्धारतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति॥(४)

(श्रीमद्भा० ६/२५/२५)

सत्सङ्गमें हरिकथाका श्रवण करनेसे क्रमशः श्रद्धा, रति और भक्ति प्रकाशित होती है। है।

नित्यानन्ददास—सत्सङ्गकी प्राप्ति कैसे होती है?

हरिदास—पहले ही कह चुका हूँ कि सत्सङ्ग सुकृतिसे प्राप्त होती

भवापवर्गो भ्रमतो यदा भवे-
ज्जनस्य तर्ह्यच्युतसत्समागमः।
सत्सङ्गमो यर्हि तदैव सङ्गतौ
परावरेशे त्वयि जायते रति॥ (५)

(श्रीमद्भा० १०/५१/५३)

नित्यानन्ददास—यदि साधुसङ्ग द्वारा ही कनिष्ठ भक्तोंकी श्रीमूर्त्तिमें रुचि उत्पन्न होती है, तब इस कथनका तात्पर्य क्या है कि वे साधु—सेवा नहीं करते?

हरिदास—दैवयोगसे सत्सङ्ग प्राप्त होनेपर श्रीमूर्त्तिके प्रति विश्वास पैदा होता है, किन्तु भगवत्-पूजा एवं साधु-सेवा दोनों साथ-साथ होनी आवश्यक है। जब तक ऐसी श्रद्धा उत्पन्न नहीं होती, तब तक वैसी श्रद्धाको पूर्ण श्रद्धा नहीं कह सकते तथा तब तक अनन्य भक्तिमें भी अधिकार नहीं होता।

नित्यानन्ददास—कनिष्ठ भक्तोंकी उन्नतिका क्रम क्या है?

हरिदास—जिनकी श्रीमूर्त्तिके प्रति श्रद्धा तो उत्पन्न हो चुकी है, किन्तु कर्म और

---

(४) सत्पुरुषोंके समागमसे मेरे पराक्रमोंका यथार्थ ज्ञान करानेवाली तथा हृदय और कानोंको प्रिय लगनेवाली वीर्यवती कथाएँ होती हैं। उनका सेवन करनेसे शीघ्र ही अविद्यानिवृत्तिके पथ-स्वरूप मुझमें श्रद्धा, रति और प्रेमभक्तिका क्रमशः प्रकाश होता है।

(५) अपने स्वरूपमें नित्य स्थित रहनेवाले भगवन्! जीव अनादि कालसे जन्म—मृत्युरूप संसारके चक्करमें भटक रहा है। जब उस चक्करसे छूटनेका समय आता है तब उसे सत्सङ्ग प्राप्त होता है। यह निश्चय है कि जिस क्षण सत्सङ्ग प्राप्त होता है, उसी क्षण सन्तोंके आश्रय, चित् और अचित्के ईश्वर आपमें जीवकी बुद्धि अत्यन्त दृढ़तासे लग जाती है।

ज्ञानरूप दोष तथा कृष्णेतर अभिलाषाएँ दूर नहीं हो सकी हैं, वे प्रतिदिन भगवान्‌की अर्चा-पूजा करते हैं। घटनावश अतिथिके रूपमें कोई साधु उनके निकट उपस्थित होता है। वे अन्यान्य अतिथियोंकी तरह उस साधु-महात्माका भी सत्कार करते हैं। साथ ही वे उस साधुकी क्रियाओं और व्यवहारोंके प्रति लक्ष्य रखते हैं, तथा साधु द्वारा की गयी शास्त्र-चर्चाओंका श्रवण भी करते हैं। इस प्रकार देखते-सुनते कनिष्ठ भक्तोंके हृदयमें साधुओंके चरित्रके प्रति आदरका भाव पैदा हो जाता है।

ऐसी दशामें अपनी त्रुटियोंपर उनकी दृष्टि पड़ती है। वे उस साधु—चरित्रका अनुसरण करते हुए अपने चरित्रका सुधार करने लगते हैं। धीरे-धीरे उनके कर्म और ज्ञानरूप दोष क्षीण हो जाते हैं। हृदय जितना ही अधिक शुद्ध होता है, भक्तिसे इतर अभिलाषाएँ उतनी ही अधिक उसके हृदयसे दूर हो जाती हैं। भगवत्तत्त्व और भगवत्कथा सुनते-सुनते शास्त्र-चर्चा होती है। हरिकी निर्गुणता, हरिनामकी निर्गुणता और श्रवण, कीर्त्तन आदि भक्तिके अङ्गोंकी निर्गुणतापर वे जितना अधिक विचार करते हैं, उनका सम्बन्धज्ञान क्रमशः दृढ़तर होता जाता है एवं जिस समय उनका सम्बन्धज्ञान सम्पूर्ण हो जाता है, उनका मध्यमाधिकार भी उसी समय उपस्थित हो जाता है। इसी समय उनका वास्तविक रूपमें साधुसङ्ग आरम्भ होता है। अब वे साधुओंको साधारण अतिथियोंकी श्रेणीसे पृथक् कर—अत्यन्त श्रेष्ठ मानकर उनके प्रति गुरु बुद्धि रखने लगते हैं।

नित्यानन्ददास—बहुत-से कनिष्ठ भक्तोंकी उन्नति नहीं देखी जाती, इसका क्या कारण है?

हरिदास—द्वेषी—सङ्ग प्रबल रहनेसे कनिष्ठाधिकार क्रमशः क्षीण हो जाता है और उसके स्थानपर ज्ञान और कर्माधिकार प्रबल हो उठता है। किसी-किसी जगह अधिकार न तो क्षीण ही होता है, और न उन्नत ही होता है—बिलकुल स्थिर रहता है।

नित्यानन्ददास—ऐसा कब होता है?

हरिदास—जहाँ साधु-सङ्ग और द्वेषी—सङ्ग समान रूपसे चलते हैं। नित्यानन्ददास-किस अवस्थामें निश्चित रूपमें प्रगति होती है हरिदास-जहाँ सत्सङ्ग प्रबल और द्वेषी—सङ्ग दुर्बल होता है।

नित्यानन्ददास—कनिष्ठाधिकारियोंमें पाप-पुण्यकी प्रवृत्ति कैसी होती है।

हरिदास—प्रथमावस्थामें कर्मियों और ज्ञानियोंकी तरह, पीछे जैसे-जैसे उनकी भक्तिवृत्ति निर्मल होती जाती है, उनकी पाप-पुण्यकी प्रवृत्ति भी शिथिल होती जाती है।

नित्यानन्ददास—प्रभो! कनिष्ठाधिकारकी बातें मेरी समझमें आ गयी हैं, अब मध्यमाधिकारी भक्तोंका मुख्य लक्षण बतलाइये।

हरिदास—श्रीकृष्णके प्रति अनन्य भक्ति, भक्तोंके प्रति अपनेपनका भाव, उनके प्रति प्रगाढ़ ममत्व, उनके प्रति पूज्य और तीर्थ-बुद्धि रखते हुए मित्रता, अतत्त्वज्ञ व्यक्तियोंके प्रति कृपा एवं द्वेषीजनोंके प्रति उपेक्षा—ये मध्यमाधिकार, भक्तोंके मुख्य लक्षण हैं। सम्बन्धज्ञानके साथ साधन भक्तिरूप अभिधेय द्वारा कृष्णप्रेमरूप प्रयोजनकी सिद्धि ही इस अधिकारकी मुख्य प्रक्रिया है। साधारणतः इस अवस्थामें निरपराध रूपमें सत्सङ्गमें हरिनाम कीर्त्तन आदि परिलक्षित होते हैं।

नित्यानन्ददास—उनका गौण लक्षण क्या है?

हरिदास—जीवन यात्रा ही उनका गौण लक्षण है। उनका जीवन सम्पूर्ण रूपमें कृष्णकी इच्छाके अधीन और भक्तिके अनुकूल होता है।

नित्यानन्ददास—उनमें पाप अथवा अपराध रह सकता है या नहीं?

हरिदास—प्रथम अवस्थामें थोड़ा-बहुत अपराध रह सकता है, परन्तु वह धीरे-धीरे उसी प्रकार दूर हो जाता है जिस प्रकार चनेको पीसते समय सबसे पहले कुछ-कुछ छोटे-छोटे टुकड़े दीख पड़ते हैं, पर कुछ ही क्षणोंमें पिसनेके बाद उन टुकड़ोंका अस्तित्व तक मिट जाता है। युक्तवैराग्य उनका प्राण होता है।

नित्यानन्ददास—कर्म, ज्ञान और अन्याभिलाष (कृष्णेतर अभिलाष) उनमें थोड़े-बहुत होते हैं या नहीं?

हरिदास—प्रथम अवस्थामें उनका कुछ-कुछ आभास तो रहता है, परन्तु बादमें वह भी निर्मल हो जाता है। प्रथम अवस्थामें जो कुछ रहता है, बीच-बीचमें यदाकदा दृष्टिगोचर होता है किन्तु धीरे-धीरे पुनः अन्तर्हित हो जाता है।

नित्यानन्ददास—क्या उन्हें जीवित रहनेकी इच्छा होती है? यदि होती है तो क्यों?

हरिदास—यों तो उनमें जीने या मरने अथवा मुक्त होनेकी कोई इच्छा नहीं होती, फिर भी केवल भजनकी परिपक्वताके लिए वे जीवित रहना चाहते हैं।

नित्यानन्ददास—क्या, वे मरना भी नहीं चाहते? मरनेके बाद ही तो कृष्णकी कृपासे उनकी स्वरूपमें अवस्थिति होगी? इस भौतिक शरीरमें सुख ही क्या है?

हरिदास—उनकी कोई भी स्वतन्त्र इच्छा नहीं होती। उनकी सारी इच्छाएँ कृष्णकी इच्छाओंके अधीन होती हैं। वे ऐसा मानते हैं कि प्रत्येक घटना कृष्णकी इच्छासे ही होती है, जब उनकी जैसी इच्छा होगी, तब वैसी ही घटनाएँ होंगी। अतः उन्हें स्वयं कोई स्वतन्त्र इच्छा करनेकी आवश्यकता नहीं होती।

नित्यानन्ददास—मैं मध्यमाधिकारी भक्तोंके लक्षण भी समझ गया, अब मुझे उत्तमाधिकारी भक्तोंका गौण लक्षण बतलाइये।

हरिदास—केवल दैहिक क्रिया ही उनका गौण लक्षण है, वह भी निर्गुण प्रेमके इतने अधीन कि पृथक् रूपमें गौण भाव दिखलायी नहीं पड़ता।

नित्यानन्ददास—प्रभो! कनिष्ठाधिकारीके लिए तो गृहत्यागकी कोई विधि ही नहीं है, मध्यमाधिकारी गृही अथवा गृहत्यागी दोनोंमेंसे किसी भी अवस्थामें रह सकता है, किन्तु उत्तमाधिकारी भक्त क्या गृहस्थ रह सकते हैं?

हरिदास—भक्तिका तारतम्य ही अधिकार निर्णयकी कसौटी है। गृहस्थ या गृहत्यागी होनेसे ही कोई अधिकार प्राप्त नहीं किया जा सकता है। उत्तमाधिकारी भक्त गृहस्थ भी रह सकते हैं, इसमें कोई दोष नहीं है। व्रजके गृहस्थ भक्त सभी उत्तमाधिकारी हैं। हमारे श्रीचैतन्य महाप्रभुके अनेक गृहस्थ भक्त थे, जो उत्तमाधिकारी थे। राय रामानन्द उसके जाज्वल्यमान उदाहरण हैं।

नित्यानन्ददास—प्रभो! यदि कोई उत्तमाधिकारी भक्त गृहस्थ हो और मध्यमाधिकारी भक्त गृहत्यागी हो, तो उनका एक दूसरेके प्रति क्या कर्त्तव्य होगा?

हरिदास—निम्नाधिकारी उत्तमाधिकारीको दण्डवत् प्रणाम करेंगे। यह विधि केवल मध्यमाधिकारीके ऊपर लागू है, क्योंकि उत्तमाधिकारी भक्त प्रणाम आदिकी अपेक्षा नहीं

रखते। वे सब भूतोंमें भगवत्-भावका दर्शन करते हैं।

नित्यानन्ददास—क्या बहुत-से वैष्णवोंको एकत्रितकर प्रसाद-सेवा रूप महोत्सव करना कर्त्तव्य है?

हरिदास—यदि किसी कारणवश बहुतसे वैष्णव एक स्थानपर एकत्रित हुए हों और कोई मध्यमाधिकारी गृहस्थ भक्त उनकी प्रसाद-सेवा करना चाहते हैं, तो उसमें कोई पारमार्थिक आपत्ति नहीं है। किन्तु वैष्णव सेवाके लिए अधिक आडम्बर करना उचित नहीं, क्योंकि उससे राजस भाव हो जाता है। उपस्थित साधु-वैष्णवोंको यत्नपूर्वक प्रसाद—सेवा करानी चाहिये। इससे वैष्णवोंके प्रति आदरका भाव प्रदर्शित करना हो जाता है। इसलिए ऐसा करना कर्त्तव्य है। प्रसाद-सेवाके लिए केवल शुद्ध वैष्णवोंको ही निमन्त्रित करना चाहिये।

नित्यानन्ददास—हमारे बड़गाछीमें आजकल एक नयी जाति पैदा हुई है। ये लोग अपनेको वैष्णव सन्तान कहते हैं। गृहस्थ कनिष्ठाधिकारी लोग उन्हें निमन्त्रण देकर वैष्णव-सेवा (वैष्णव-भोजन) कराते हैं। उनका यह कार्य कैसा है?

हरिदास—क्या उन 'वैष्णव-सन्तानों' को शुद्धाभक्तिकी प्राप्ति हो चुकी हैं?

नित्यानन्ददास—नहीं तो, उन लोगोंमेंसे किसीमें भी शुद्धाभक्ति दिखलायी नहीं पड़ती। वे स्वयं अपनेको वैष्णव कहते हैं। उनमें कोई-कोई कौपीन भी धारण करते हैं।

हरिदास—कह नहीं सकता, ऐसी पद्धतिका प्रचलन कैसे हुआ? ऐसा न होना ही उचित है। जान पड़ता है, कनिष्ठ वैष्णवोंमें वैष्णव पहचाननेकी शक्तिका अभाव ही इसका कारण है?

नित्यानन्ददास—क्या वैष्णव-सन्तानोंके लिए कोई विशेष सम्मान है?

हरिदास—सम्मान वैष्णवताका ही है, यदि वैष्णव-सन्तान शुद्ध वैष्णव हों तो वे अपनी भक्तिके तारतम्यानुसार सम्मानके अधिकारी हैं।

नित्यानन्ददास—और यदि वैष्णव-सन्तान केवल व्यवहारिक मनुष्य हों?

हरिदास—तब उनके प्रति साधारण मनुष्योचित व्यवहार ही उचित है। वे वैष्णवोचित सम्मानके अधिकारी नहीं हैं। इस विषयमें श्रीमन् महाप्रभुकी शिक्षा सर्वदा स्मरण रखने योग्य है—

तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्त्तनीयः सदा हरिः॥

(शिक्षाष्टक-३)

तृणकी अपेक्षा अधिक दीन-हीन, वृक्षसे भी अधिक सहिष्णु तथा स्वयं मानशून्य होकर दूसरोंको मान प्रदान करते हुए श्रीहरिनाम-सङ्कीर्त्तन करना ही एकमात्र कर्त्तव्य है।

स्वयं मानशून्य होना चाहिये तथा दूसरोंका यथायोग्य सम्मान करना चाहिये। वैष्णवोंको वैष्णवोचित सम्मान देना चाहिये तथा जो वैष्णव नहीं हैं, उन्हें मानवोचित सम्मान देना ही उचित है। दूसरोंके प्रति मानद (मान देनेवाला) न होनेसे हरिनाममें अधिकार पैदा नहीं होता।

नित्यानन्ददास—स्वयं अमानी कैसे हुआ जाता है?

हरिदास—मैं ब्राह्मण हूँ, मैं धनी हूँ, मैं विद्वान हूँ, मैं संन्यासी हूँ—ऐसा अभिमान नहीं

करना चाहिये। लोग सम्मान करते हैं—करें, किन्तु ऐसे सम्मानोंकी कतई आशा नहीं रखनी चाहिये। अपनेको सदैव दीनहीन अकिञ्चन और तृणसे भी अधिक नीच समझना चाहिये।

नित्यानन्ददास—इससे तो जान पड़ता है कि दैन्य और दयाके बिना वैष्णव नहीं हुआ जा सकता।

हरिदास—बिलकुल ठीक।

नित्यानन्ददास—तो क्या भक्ति दैन्य और दयाके सापेक्ष है?

हरिदास—नहीं, भक्ति पूर्ण निरपेक्ष है। भक्ति स्वयं सौन्दर्य है, और स्वयं अलङ्कार है। वह किसी भी सद्गुणकी अपेक्षा नहीं रखती। दैन्य और दया कोई पृथक् गुण नहीं हैं—भक्तिके ही अन्तर्गत हैं। "मैं कृष्णका दास हूँ, अकिञ्चन हूँ—दीनहीन, कङ्गाल हूँ, कृष्ण ही मेरे सर्वस्व हैं"—यहाँ जो भक्ति दिखायी पड़ती है, वही दैन्य है। श्रीकृष्णके प्रति आर्द्रभाव ही भक्ति है, अन्य सभी जीव कृष्णके दास हैं, उनके प्रति आर्द्रभाव दया है। अतएव दया —कृष्णभक्तिके अन्तर्गत व्यापार है। दया और दैन्यके मध्यवर्ती भावका नाम क्षमा है। "मैं दीनहीन हूँ, क्या मैं दूसरोंका दण्डदाता हूँ?"—जब ये भाव दयाके साथ मिलित होते हैं, उस समय क्षमा अपने आप उपस्थित होती है, क्षमा भी भक्तिके अन्तर्गत व्यापार है। कृष्ण—सत्य हैं, जीवोंका कृष्णदास्य भी सत्य है, जड़-जगत् जीवोंका पान्थ-निवास है—यह भी सत्य है, अतएव भक्ति भी सत्य है, क्योंकि कृष्णके प्रति जीवोंके दास्यभावका नाम ही भक्ति है। सत्य, दैन्य, दया और क्षमा—ये चारों भक्तिके अन्तर्गत भाव विशेष हैं।

नित्यानन्ददास—अन्यान्य धर्मावलम्बियोंके प्रति वैष्णवोंका व्यवहार कैसा होना चाहिये?

हरिदास—श्रीमद्भागवतका उपदेश है—

नारायणकलाः शान्ताः भजन्ति ह्यनसूयवः।

(श्रीमद्भा० १/२/२६)

अर्थात्, अनिन्दक और शान्त स्वभाववाले सन्तजन नारायण तथा उनके अंश और कला स्वरूपोंकी आराधना करते हैं।

वैष्णवधर्मके अतिरिक्त और कोई भी धर्म नहीं है। इसके अतिरिक्त जितने भी धर्म प्रचारित हुए हैं अथवा आगे होंगे, वे सभी वैष्णव धर्मके या तो सोपान हैं अथवा विकृति। सोपान स्थानीय धर्मोंका यथायोग्य आदर करना चाहिये और विकृत धर्मोके प्रति द्वेषशून्य होकर स्वयं भक्तितत्त्वका अनुशीलन करना चाहिये। दूसरे धर्मावलम्बियोंके प्रति हिंसा-द्वेषका भाव नहीं रखना चाहिये। जब जिनके शुभ दिन आयेंगे, वे अनायास ही वैष्णव बन जायेंगे —इसमें सन्देह नहीं।

नित्यानन्ददास—वैष्णवधर्मका प्रचार करना कर्त्तव्य है या नहीं?

हरिदास—कर्त्तव्य है और अवश्य कर्त्तव्य है। हमारे श्रीचैतन्य महाप्रभुने सभीपर इस धर्मके प्रचारका भार दिया है—

नाचो गाओ भक्त-संगे कर संकीर्त्तन।
कृष्णनाम उपदेशि, तारो सर्वजन॥
अतएव माली आज्ञा दिल सबाकारे।
जाहाँ ताहाँ प्रेम फल देह जारे तारे॥

(श्रीचैतन्यचरितामृत)

हाँ, एक बात सर्वदा याद रखना वह यह कि कुपात्रको सुपात्र बनाकर नाम उपदेश करना, कुपात्रको नाम नहीं देना। जहाँ उपेक्षाकी आवश्यकता हो, वहाँ ऐसे शब्दोंका प्रयोग नहीं करना चाहिये जिससे प्रचार कार्यमें बाधा उपस्थित हो जाये।

हरिदास बाबाजीकी अमृतमयी मधुर वाणियोंको सुनकर नित्यानन्ददास प्रेममें विभोर होकर बाबाजीके चरणोंमें लोटने-पोटने लगे। वैष्णवोंकी बारम्बार हरिध्वनिसे सारा उपवन गूँज उठा। सभा भङ्ग हुई। बाबाजी महाशयको दण्डवत् प्रणामकर सभी अपने-अपने स्थानोंको लौट गये।

॥आठवाँ अध्याय समाप्त॥

नवाँ अध्याय

नित्य धर्म और प्राकृत विज्ञान तथा सभ्यता

लाहिड़ी महाशयको गोद्रुममें रहते तीन-चार वर्ष हो गये हैं। अब उनका हृदय बिलकुल पवित्र हो चुका है। खाते-पीते, चलते-फिरते, उठते-बैठते, सोते-जागते सब समय हरिनाम करते हैं, साधारण कपड़े पहनते हैं, जूता अथवा खड़ाऊँका व्यवहार बिलकुल नहीं करते, जातिका अभिमान तो इतना दूर हो गया है कि किसी वैष्णवको देखनेके साथ ही श्रद्धासे दण्डवत् प्रणाम करते हैं तथा बलपूर्वक उनकी चरणधूलि ग्रहण करते हैं। ढूँढ़—ढूँढ़कर वैष्णवोंका उच्छिष्ट भोजन करते हैं। कभी-कभी उनके पास उनके लड़के भी आते हैं, किन्तु पिताके मानसिक भावोंको लक्ष्यकर वहाँसे तुरन्त खिसक जाते हैं—घर चलनेका प्रस्ताव उपस्थित करनेका साहस नहीं होता। लाहिड़ी महाशयको देखनेसे जान पड़ता है कि कोई वेषधारी बाबाजी बैठे हैं। गोद्रुमके वैष्णवोंके सिद्धान्तोंको भलीभाँति समझ-बूझकर उन्होंने तय किया है कि बाहरी वेष लेनेसे कोई लाभ नहीं, बल्कि हृदयमें सच्चे वैराग्यकी आवश्यकता है। श्रीसनातन गोस्वामीकी भाँति अपनी आवश्यकताओंको संकुचित करनेके उद्देश्यसे वे एक धोतीको फाड़कर चार टुकड़े बना लेते हैं। उनके कन्धोंपर अब भी यज्ञोपवीत झूलता है। जब कभी उनके पुत्र उन्हें कुछ आर्थिक सहायता देने आते हैं, तब "मैं विषयी लोगोंकी एक कौड़ी भी ग्रहण नहीं कर सकता"—ऐसा कहकर टाल देते हैं। एक बार चन्द्रशेखरने किसी उत्सवमें खर्च करनेके लिए एक सौ रुपये देना चाहा था, किन्तु लाहिड़ी महाशयने श्रीरघुनाथदास गोस्वामीका चरित्र स्मरणकर उसे अस्वीकार कर दिया।

एक दिन परमहंस बाबाजीने कहा—लाहिड़ी महाशय! अब आपमें तनिक भी अवैष्णवता नहीं है। हमने तो केवल वेष ही लिया है, किन्तु आपसे हम वैराग्यकी शिक्षा भी ग्रहण कर सकते हैं। यदि आपका नाम भी वैष्णव नाम हो जाये तो अति सुन्दर हो जाये।

लाहिड़ी महाशयने बड़े ही विनम्र शब्दोंमें उत्तर दिया—आप मेरे दादागुरु हैं, आपकी जैसी इच्छा हो, कीजिये।

बाबाजीने कहा—आपका घर शान्तिपुर है, अतएव हम लोग आपको श्री अद्वैतदास कहेंगे।

लाहिड़ी महाशयने दण्डवत् प्रणाम करते हुए नाम-प्रसादको ग्रहण किया। उसी दिनसे सभी लोग उन्हें अद्वैतदास कहकर पुकारने लगे। वे जिस कुटियामें भजन करते, लोग उसे भी अद्वैतकुटी कहने लगे।

अद्वैतदासके एक बाल्यबन्धु थे। उनका नाम दिगम्बर चट्टोपाध्याय था। मुसलमानी राज्यके बड़े-बड़े औहदोंपर नौकरी करके उन्होंने प्रचुर धन और मान कमाया था। अधिक आयु होनेके कारण वे नौकरी छोड़कर अपने गाँव अम्बिकामें रहने लगे थे। गाँव पहुँचते ही उन्होंने कालिदासका पता लगाना आरम्भ किया। पता चला कालीदास घर-बार छोड़कर श्रीगोद्रुममें 'अद्वैतदास' नाम लेकर भजन कर रहे हैं।

दिगम्बर चट्टोपाध्याय कट्टर शाक्त हैं। 'वैष्णव' शब्द सुनते ही कानोंमें अँगुलियाँ देते हैं। अपने परम मित्रकी ऐसी अधोगतिकी बात सुनकर बड़े हैरान हुए। आखिर अपने सेवकको बुलाकर कहा—बामनदास! एक नावका तुरन्त प्रबन्ध करो, मैं अभी गोद्रुम

जाऊँगा।

बामनदासने शीघ्र ही एक नावका प्रबन्ध कर दिया। दिगम्बर चट्टोपाध्याय बड़े ही चतुर व्यक्ति हैं। वे जैसे तन्त्र-शास्त्रके बड़े पण्डित हैं, यवन सभ्यतामें भी वैसे ही दक्ष पुरुष हैं। अरबी और फारसीमें तो बड़े-बड़े मौलवी तक उनसे हार मानते हैं। तन्त्रसम्बन्धी तर्कोंमें उनके सामने बड़े-बड़े पण्डितोंकी बोलती बन्द हो जाती है। दिल्ली और लखनऊ आदि प्रसिद्ध शहरोंमें बड़ी ख्याति प्राप्त कर आये हैं। अवकाशके समयमें उन्होंने 'तर्क-संग्रह' नामक एक ग्रन्थकी रचना की है। अनेक श्लोकोंकी टीकाओंमें उन्होंने अपने प्रगाढ़ पाण्डित्यका परिचय दिया है।

'तन्त्र-संग्रह' को लेकर दिगम्बर बड़ी तेजीसे नावपर सवार हो गये। छह घण्टेमें ही नाव श्रीगोद्रुमघाटपर आ पहुँची। उन्होंने एक चतुर मनुष्यको कुछ सिखा-पढ़ाकर श्री अद्वैतदासके पास भेज दिया और स्वयं नावपर ही रह गये।

अद्वैतदास अपनी कुटीमें बैठे हरिनाम कर रहे थे। उसी समय दिगम्बर चट्टोपाध्यायके भेजे हुए आदमीने आकर उन्हें प्रणाम किया। अद्वैतदासने आगन्तुक व्यक्तिसे पूछा—तुम कौन हो और यहाँ तुम्हारे आनेका उद्देश्य क्या है?

आगन्तुकने हाथ जोड़कर उत्तर दिया—मुझे श्रीयुत दिगम्बर चट्टोपाध्यायने आपके पास भेजा है। उन्होंने पूछा है कि कालीदासको मेरा नाम स्मरण है या नहीं?

अद्वैतदासने कुछ उत्सुकतासे पूछा—दिगम्बर? कहाँ हैं वे? वह तो मेरे बाल्यबन्धु हैं। क्या मैं उन्हें भूल सकता हूँ? क्या उन्होंने अब वैष्णवधर्म ग्रहण कर लिया है?

आगन्तुकने कहा—वे इसी घाटपर नावमें हैं। वे वैष्णव हुए हैं या नहीं, यह मैं कह नहीं सकता।

अद्वैतदासने कहा—वे घाटपर क्यों हैं? इस कुटियापर क्यों नहीं पधारते?

अद्वैतदासकी बातोंको सुनकर आगन्तुक वहाँसे चला गया और एक घण्टा बीतते-न-बीतते ही तीन-चार सज्जनोंके साथ दिगम्बर चट्टोपाध्याय अद्वैतकुटीमें पहुँचे। दिगम्बर बचपनसे ही बड़े उदार चित्तके व्यक्ति हैं। पुराने मित्रको देखकर उनका अन्तःकरण आनन्दसे पुलकित हो उठा। उन्होंने अपना निम्नलिखित पद गाते हुए अद्वैतदासका आलिङ्गन किया।

काली!

कौन जानता जननि! तेरी लीलाओंको त्रिभुवनमें?
कभी पुरुष हो कभी प्रकृति हो कभी मत्त होती रणमें॥

रचती सृष्टि विधाता बनकर।
पुनः नाश करती बन शंकर।
बनकर विष्णु व्यस्त तुम रहती जीवोंके परिपालनमें।
कृष्णरूपसे वृन्दावनमें, मुरली बजायी थी उपवनमें॥

नवद्वीपमें गौर रूपसे सबहिं रमाया कीर्त्तनमें।
कौन जानता जननि! तेरी लीलाओंको त्रिभुवनमें॥

दिगम्बर चट्टोपाध्यायको अपने निकट बैठनेके लिए एक कुशासन देते हुए अद्वैतदासने कहा—आओ भाई! बहुत दिनोंके बाद भेंट हुई।

कुशासनपर बैठते हुए आँखोंके जलसे ममता दिखलाते हुए दिगम्बरने कहा—कालिदास! अब मैं कहाँ जाऊँ? तुम तो वैरागी बनकर 'न देवाय न धर्माय' हुए। पंजाबसे न जाने कितनी आशाओंको हृदयमें भरकर आया था। हमलोगोंके बाल्यबन्धुओंमेंसे पेशा पागला, खेंदा, गिरीश, ईशोपागला, धनुवा, कल्लू बढ़ई, कान्ति भट्टाचार्य—सब मर चुके हैं। तुम और मैं दो ही बचे हुए हैं। सोचा था, मैं एक दिन गङ्गा पारकर तुम्हारे यहाँ आऊँगा और तुम दूसरे दिन गङ्गा पारकर अम्बिका पधारोगे। जीवनकी शेष घड़ियाँ परस्पर गाने गाकर और तन्त्र पढ़कर बिता देंगे। किन्तु हाय रे दुर्भाग्य! तुम पूरे गोबर निकले। न इस लोकके हुए न परलोकके। अच्छा, यह तो बताओ कि तुमने यह क्या कर रखा है?

अद्वैतदासने देखा कि बड़े विकट आदमीसे पाला पड़ा है। किसी प्रकार बाल्यबन्धुके हाथसे छुटकारा मिले तभी कुशल है। ऐसा सोचकर उन्होंने कहा—दिगम्बर! क्या तुम्हें याद नहीं?—एक दिन हम लोग अम्बिकामें गुल्ली-डण्डा खेलते-खेलते एक पुराने इमलीके पेड़के नीचे जा पहुँचे थे?

दिगम्बर—हाँ, हाँ, खूब याद है। गौरीदास पण्डितके घरके निकट इमलीका पेड़ है न, जिसके नीचे गौर-निताई बैठे थे?

अद्वैतदास—हाँ, हाँ, भाई! खेलते-खेलते तुमने कहा था—इस इमलीके पेड़को छूना नहीं, फूफीका लड़का इसीके नीचे बैठा था। छूनेसे कहीं वैरागी न हो जाओ।

दिगम्बर—ठीक, ठीक! मुझे खूब याद है। वैष्णवोंके प्रति तुम्हारा तनिक झुकाव देखकर मैंने कहा था—तुम गौराङ्गके फन्देमें अवश्य पड़ोगे।

अद्वैतदास—भाई मेरा तो सदासे यही भाव रहा है, उस समय उनके फन्देमें अब पड़ा, तब पड़ा हो रहा था और अब तो पड़ ही गया हूँ।

दिगम्बर—मेरी बाँह पकड़कर निकल आओ। फन्देमें पड़ा रहना अच्छा नहीं।

अद्वैतदास—भाई! इस जालमें बड़ा ही सुख है। ईश्वरसे प्रार्थना है—मैं चिरदिन इसी जालमें पड़ा रहूँ। तनिक इस जालको छूकर देखो तो सही।

दिगम्बर—मेरा सब देखा हुआ है। उसमें दिखावटी सुख तो अवश्य है, किन्तु अन्तमें कुछ भी नहीं रहता।

अद्वैतदास—तुम जिस जालमें हो उसमें कभी सुख पाओगे? भूलकर भी ऐसा न सोचना।

दिगम्बर—देखो! हमलोग महाविद्याके उपासक हैं। हम अब भी सुखी हैं और तब भी सुखी रहेंगे। तुम भी अपने विचारसे सुखी हो सकते हो, परन्तु हम तो तुमलोगोंका कोई भी सुख नहीं देखते। लोग, न जाने वैष्णव क्यों होते हैं? देखो न, हमलोग मांस-मछलीका आस्वादन करते हैं, अच्छेसे अच्छा पहनते हैं, सभ्यतामें तुमलोगोंसे कहीं अधिक बढ़े चढ़े हैं। प्राकृत विज्ञानके सभी सुख-प्रसाधन हमें प्राप्त हैं, जिससे तुमलोग सर्वथा वंचित रहते हो और अन्तमें तो तुमलोगोंका निस्तार ही नहीं है।

अद्वैतदास—क्यों भाई! हमलोगोंका अन्तमें निस्तार क्यों नहीं है?

दिगम्बर—माँ निस्तारिणीसे विमुख होनेपर तुम्हारा क्या ब्रह्मा, विष्णु या महेश किसीका

भी निस्तार नहीं। माँ निस्तारिणी आद्या शक्ति हैं, वे ब्रह्मा, विष्णु और महेशको उत्पन्न करके पुनः कार्य-शक्ति द्वारा उनका पालन करती हैं। माँकी इच्छा होनेपर सभी फिरसे उसी ब्रह्माण्ड-भाण्डोदरीके उदरमें प्रवेश कर जाते हैं। तुमलोगोंने माँकी ऐसी कौन-सी उपासना की है जिससे माँ तुम्हारे ऊपर कृपा करेंगी?

अद्वैतदास—माँ निस्तारिणी चैतन्य वस्तु हैं अथवा जड़-वस्तु?

दिगम्बर—वे इच्छामयी चैतन्यरूपिणी हैं। उन्हींकी इच्छासे ही पुरुषकी सृष्टि होती है।

अद्वैतदास—पुरुष किसे कहते हैं? और प्रकृति किसे कहते हैं?

दिगम्बर—वैष्णव लोग तो केवल भजन करना जानते हैं, उनमें तत्त्वज्ञानका बिल्कुल अभाव होता है। प्रकृति और पुरुष चनेकी भाँति दो होकर भी एक हैं। छिलकेसे ढके रहनेपर एक; और छिलका निकलते ही दो। पुरुष—चैतन्य है और प्रकृति—जड़। जड़ और चैतन्यकी अभिन्नावस्था ही 'ब्रह्म' है।

अद्वैतदास—तुम्हारी माँ प्रकृति हैं या पुरुष?

दिगम्बर—कभी पुरुष हैं और कभी नारी हैं।

अद्वैतदास—चनेके छिलकेके भीतर प्रकृति और पुरुष जो दो दलकी भाँति रहते हैं, उनमेंसे कौन तुम्हारी माँ है और कौन तुम्हारा पिता है?

दिगम्बर—तुम तत्त्व जिज्ञासा कर रहे हो? अच्छी बात है, हम वह भी जानते हैं। वास्तवमें माँ—प्रकृति हैं और पिता—चैतन्य हैं।

अद्वैतदास—तुम कौन हो?

दिगम्बर—**"पाशबद्धो भवेज्जीवः पाशमुक्तः सदाशिवः।"** अर्थात् माया द्वारा आच्छादित होनेसे जीव और मायासे मुक्त होनेपर शिव।

अद्वैतदास—तुम पुरुष हो या प्रकृति?

दिगम्बर—मैं पुरुष हूँ और माँ प्रकृति हैं। जब तक मैं बद्ध हूँ, तब तक वह मेरी माँ हैं और जब मुक्त हूँ, तब मेरी वामा अर्थात् स्त्री हैं।

अद्वैतदास—वाह! तुमने अच्छा तत्त्व समझाया। आज जो तुम्हारी माँ है कल वे तुम्हारी स्त्री हो जायेंगी? अच्छा, पहले यह तो बतलाओ कि तुम्हें यह तत्त्व कहाँसे मिला है?

दिगम्बर—भाई! मैं तुम्हारी तरह वैष्णव, वैष्णव कहता हुआ यों ही घूमता नहीं था। कितने संन्यासी, ब्रह्मचारी, तान्त्रिक सिद्ध पुरुषोंका सत्सङ्ग करके और रात-दिन तन्त्रशास्त्रका अध्ययनकर मैंने इस तत्त्वज्ञानको प्राप्त किया है। यदि तुम चाहो तो मैं तुम्हें भी तैयार कर सकता हूँ।

अद्वैतदास—(मन-ही मन यह सोचकर कि बड़ी बुरी तरह कुसङ्गमें फँसा) अच्छी बात है। मुझे एक बात और समझा दो। वह यह कि सभ्यता क्या है और प्राकृत-विज्ञान किसे कहते हैं?

दिगम्बर—भद्र समाजमें भद्र ढङ्गसे बातें करना तथा अच्छे ढङ्गसे पेश आना, साधारण लोगोंका जिससे सन्तोष हो वैसे कपड़े पहनना, इस प्रकार भोजन करना जिससे किसीको किसी प्रकारकी घृणा न हो। तुमलोग इन तीनोंमेंसे एक भी नहीं करते।

अद्वैतदास—यह कैसे?

दिगम्बर—तुमलोग किसी दूसरे समाजमें नहीं जाते। नितान्त असामाजिक व्यवहार करते हो। मधुर भाषणसे लोकरञ्जन किसे कहते हैं—यह वैष्णव लोग जानते ही नहीं हैं। लोगोंको देखते ही कहते हैं—"हरिनाम करो।" क्यों जी! क्या इसके अतिरिक्त और कोई दूसरी सभ्य बातें नहीं हैं? तुमलोगोंकी वेशभूषा देखकर कोई सहज ही सभामें बैठने तक नहीं देता। सिरपर चुटियाकी गठरी, गलेमें एक टोकरी माला और एक लँगोटी—यही तो तुम्हारी वेशभूषा है? भोजन तो केवल आलू शकरकन्द तक ही सीमित है। वास्तवमें तुमलोगोंमें तनिक भी सभ्यता नहीं है।

अद्वैतदास—(आप-ही-आप—यदि थोड़ा-सा झगड़ा करनेसे यह खिसियाकर चला जाये तो अच्छा है—ऐसा सोचकर) सभ्यतासे क्या परलोकमें कुछ सुविधा होती है?

दिगम्बर—परलोकमें तो कुछ सुविधा नहीं होती, परन्तु सभ्य न होनेसे समाजकी उन्नति कैसे हो सकती है? समाजकी उन्नति होनेसे परलोककी चेष्टा की जा सकती है।

अद्वैतदास—भाई! यदि असन्तुष्ट न हो तो मैं कुछ कहूँ।

दिगम्बर—तुम मेरे लड़कपनके मित्र हो, तुम्हारे लिए मैं अपना जीवन तक भी न्यौछावर कर सकता हूँ, तो फिर क्या तुम्हारी एक बात भी न सह सकूँगा? हम सभ्यताके प्रेमी हैं, क्रोध होनेपर भी मीठी बातें करना जानते हैं। मानसिक भावोंको जितना ही छिपाकर रखा जाये, सभ्यता उतनी ही उच्चकोटिकी मानी जाती है।

अद्वैतदास—मनुष्य जीवन थोड़े दिनोंका है। तिसपर भी इसमें अनेक विघ्न हैं। अतएव इस क्षणिक जीवनमें सरलतासे हरिभजन करना ही मनुष्यका एकमात्र कर्त्तव्य है। सभ्यता सीखनेका तात्पर्य है—आत्माको धोखा देना। हम जानते हैं कि 'धूर्त्तता' का ही दूसरा नाम 'सभ्यता' है। मनुष्य-जीवन जब तक सन्मार्गपर रहता है, तभी तक वह सरल रहता है। किन्तु जैसे-जैसे वह कुमार्गपर अग्रसर होने लगता है, वह मीठी-मीठी वाणियोंसे लोकरञ्जन करता हुआ अपने कुकर्मोंपर पर्दा डालनेके लिए अधिक सभ्य बननेकी चेष्टा करता है। सभ्यता नामका कोई गुण नहीं, सच्चा व्यवहार और सरलता ही गुण हैं। अपनी दुष्टतापर पर्दा डालनेकी वर्त्तमान प्रथाका नाम ही 'सभ्यता' है। 'सभ्यता' शब्दका अर्थ है—सभामें बैठनेकी योग्यता अर्थात् सरल भद्रताके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। तुम धूर्त्तताको 'सभ्यता' कहते हो। यदि निष्पाप-सभ्यता कहीं मिल सकती है तो केवल वैष्णवोंके पास ही मिल सकती है और यदि सभ्यता पापपूर्ण है तो वह अवैष्णव समाजकी ही धरोहर हो सकती है। तुम जिस सभ्यताकी बात कह रहे हो, उससे जीवके नित्यधर्मका कोई सम्बन्ध नहीं है। जन-साधारणको मुग्ध करनेवाली वेशभूषा ही यदि सभ्यता है तो वेश्याएँ तुमलोगोंसे कहीं अधिक सभ्य हैं। वस्त्रके सम्बन्धमें तो केवल इतना ही माना जा सकता है कि उससे आवश्यकतानुसार शरीर ढका रहे, वह साफ-सुथरा रहे और कोई दुर्गन्ध न रहे। आहारके सम्बन्धमें पवित्रता और उपयोगिताका विचार होता है। परन्तु तुमलोगोंके मतानुसार आहार केवल स्वादिष्ट होना चाहिये, चाहे वह अपवित्र ही क्यों न हो। मद्य-मांस स्वभावसे ही अपवित्र हैं, अतएव उनका भोजन-पान करनेसे जो सभ्यता होती है, वह एक पाप-आचरणके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। वर्त्तमान सभ्यताको कलियुगी-सभ्यता भी कह सकते हैं।

दिगम्बर—क्या तुम बादशाही सभ्यताको भूल गये? देखो, बादशाही-दरबारोंमें लोग किस

अदब-कायदेसे बैठते हैं, बातें करते हैं?

अद्वैतदास—यह तो केवल सांसारिक व्यवहार मात्र है। यदि ऐसा न भी हो तो कोई हानि नहीं। भाई! बहुत दिनों तक यवनोंकी नौकरी करके तुम वैसी सभ्यताके पक्षपाती हो गये हो। वास्तवमें मनुष्यका निष्पाप जीवन ही सभ्य जीवन है। पाप वृद्धिके साथ-साथ कलियुगी सभ्यताकी उन्नति विडम्बना नहीं तो क्या है?

दिगम्बर—देखो, आधुनिक विद्वानोंके मतानुसार वर्त्तमान सभ्यता ही 'मनुष्यता' की कसौटी है। जो सभ्य नहीं, वह मनुष्य कहलानेका अधिकारी नहीं है। स्त्रियोंको सुन्दर-सुन्दर वस्त्रों और अलङ्कारोंसे सजाना तथा उनके दोषोंको छिपाना ही आधुनिक सभ्यताका मूल लक्षण है।

अद्वैतदास—यह सिद्धान्त भला है या बुरा—इसका विचार स्वयं कर सकते हो। तुम जिन लोगोंको विद्वान कहते हो, मेरी समझसे—वे केवल धूर्त हैं। कुछ तो कुसंस्कारोंके कारण और कुछ दोषोंको छिपानेकी सुविधा प्राप्तिके लिए असरल सभ्यताके पक्षपाती बन गये हैं। बुद्धिमान् व्यक्ति उनके समाजमें कौन-सा सुख प्राप्त करेंगे? धूर्तोंकी सभ्यताका गौरव केवल व्यर्थ-तर्क और शारीरिक बल द्वारा सुरक्षित होता है।

दिगम्बर—किसी-किसीका कहना है कि संसारमें क्रमशः ज्ञानकी समृद्धि हो रही है और इस ज्ञान—समृद्धिके साथ-साथ सभ्यता भी क्रमशः उन्नत हो रही है। इस प्रकार ज्ञानकी समृद्धि और सभ्यताकी उन्नति अपने शीर्ष बिन्दुपर पहुँचनेपर यह जगत् स्वर्ग हो जायेगा।

अद्वैतदास—यह चण्डूखानेकी गप है। जो ऐसी बातोंपर विश्वास करते हैं, उनके विश्वासकी बलिहारी है, और बलिहारी उनके साहसकी है जो ऐसी-ऐसी बातोंका अन्धविश्वासके साथ प्रचार करते हैं। ज्ञान दो प्रकारका होता है—लौकिक और पारलौकिक या पारमार्थिक। पारमार्थिक ज्ञानकी वृद्धि हो रही है—ऐसा तो विश्वास नहीं होता, प्रत्युत् पारमार्थिक ज्ञान अनेक स्थलोंपर विकृत होता जा रहा है। लौकिक ज्ञानकी वृद्धि होनेकी ही सम्भावना है। जीवोंका लौकिक ज्ञानसे नित्य सम्बन्ध ही क्या है? लौकिक ज्ञानकी वृद्धि होनेसे लोगोंका चित्त बहुधा नाना विषयोंकी ओर झुक रहा है। फल यह हो रहा है कि मूल तत्त्वकी ओर झुकाव कम होने लगा है। हाँ, मैं यह स्वीकार करता हूँ कि लौकिक ज्ञानकी जितनी वृद्धि हो रही है, असरल सभ्यता भी उतनी ही बढ़ती जा रही है—यह जीवोंके लिए दुर्गतिका विषय है।

दिगम्बर—दुर्गति क्यों?

अद्वैतदास—मैंने पहले ही बतलाया है कि मानव जीवन थोड़े ही दिनोंका है। इन्हीं थोड़े दिनोंमें पथिककी भाँति जीवको परमार्थके लिए सर्वदा प्रस्तुत रहना चाहिये। पान्थ-व्यवहारकी उन्नतिके लिए समय नष्ट करना मूर्खताका लक्षण है। लौकिक ज्ञानकी चर्चा जितनी ही अधिक बढ़ेगी, पारमार्थिक विषयके अनुशीलनके लिए समयका उतना ही अभाव होगा। मेरी धारणा तो यह है कि जीवन-निर्वाहकी आवश्यकताके अनुसार लौकिक ज्ञानका व्यवहार किया जाये, परन्तु उक्त प्रयोजनसे अधिक लौकिक ज्ञान और उसकी सहचरी सभ्यताको अपनानेकी तनिक भी आवश्यकता नहीं है। पार्थिव चकाचौंध कितने दिनोंके लिए रहेगी?

दिगम्बर—अच्छे वैरागीसे पाला पड़ा है। तो फिर समाज क्या किसी भी कामकी चीज नहीं है?

अद्वैतदास—मनुष्यको जैसा समाज मिलेगा, उससे उसे वैसा ही लाभ मिलेगा, यदि वैष्णव समाज मिला तो उसके सम्बन्धसे वह अच्छे कार्योंमें लगेगा और यदि अवैष्णव अर्थात् लौकिक समाज मिला, तो उससे जो जीवके अपनाने योग्य नहीं है—ऐसा कार्य मिलेगा। अच्छा, जाने दो इस बातको, यह तो बतलाओ कि प्राकृत विज्ञान किसे कहते हैं?

दिगम्बर—तन्त्रमें प्राकृत विज्ञान अनेक प्रकारका बतलाया गया है। प्राकृतिक जगत्में जितने भी प्रकारके ज्ञान, कौशल और सौन्दर्य हैं, वे समस्त प्राकृत विज्ञानके अन्तर्गत हैं। धनुर्विद्या, आयुर्वेद, गान्धर्व विद्या और ज्योतिष विद्या—ये चार विद्याएँ भी प्राकृत विज्ञानके अन्तर्गत हैं। प्रकृति आद्याशक्ति है। फिर तत्त्व-कथा कहनी पड़ी। उन्होंने इस जड़ ब्रह्माण्डको उत्पन्न और प्रकाशित करके अपनी शक्ति द्वारा इसे बड़ा ही विचित्र बनाया है। इस शक्तिका एक-एक रूप एक-एक विज्ञान है। इस विज्ञानको प्राप्त करके माँ निस्तारिणीके प्रति किये हुए पापोंसे जीव मुक्त होता है। वैष्णवलोग इसका कोई अनुसन्धान नहीं करते। हम इसी विज्ञानके बलसे मुक्ति प्राप्त करते हैं। देखो न, इसी विज्ञानके अनुसन्धानमें प्लेटो, अरिस्टाटल, सोक्रेटिज और लोकमान्य हातिम आदि महात्माओंने न जाने कितने ही ग्रन्थ लिखे हैं।

अद्वैतदास—तुमने अभी कहा है कि वैष्णवजन विज्ञानकी खबर नहीं रखते। किन्तु वास्तवमें ऐसी बात नहीं है क्योंकि वैष्णवोंका शुद्धज्ञान विज्ञानसे समन्वित होता है।

ज्ञानं परमगुह्यं मे यद्विज्ञानसमन्वितम्।
सरहस्यं तदङ्गं च गृहाण गदितं मया॥[(१)]

सृष्टिसे पहले ब्रह्माकी उपासनासे सन्तुष्ट होकर भगवान्ने उन्हें शुद्ध वैष्णवधर्मका इस प्रकार उपदेश दिया था—हे ब्रह्मन्! विज्ञानसे समन्वित मेरा जो अत्यन्त गोपनीय ज्ञान है, उसका रहस्य और उसके समस्त अङ्गोंको मैं तुमसे कह रहा हूँ—तुम उसे ग्रहण करो। ज्ञान दो प्रकारका होता है—शुद्धज्ञान और विषयज्ञान। विषयज्ञानको सभी मनुष्य इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण करते हैं। यह अशुद्ध ज्ञान है, अतएव चित्-वस्तुके सम्बन्धमें सर्वथा अनुपयोगी होता है। उसकी तो केवल जीवोंकी बद्ध दशामें जीवन-यात्रा निर्वाहके लिए आवश्यकता होती है।

चिदाश्रयी ज्ञानको शुद्धज्ञान कहते हैं, वही ज्ञान वैष्णवोंके भजनका मूलाधार और नित्य होता है। वह ज्ञान विषयज्ञानके विपरीत और विलक्षण होता है। विषयज्ञानको ही तुम विज्ञान कह रहे हो। वास्तवमें विषयज्ञान विज्ञान ही नहीं है। तुम्हारे आयुर्वेदादि विषयज्ञानको शुद्धज्ञानसे पृथक् करनेका नाम विज्ञान है। विषयज्ञानसे विलक्षण शुद्धज्ञानको विज्ञान कहते हैं। वस्तुका ज्ञान और विज्ञान एक ही चीज है। साक्षात् चित्-वस्तुकी उपलब्धिको ज्ञान

---

(१) भगवान्ने कहा—हे ब्रह्मन्! मेरा ज्ञान अद्वय है। अद्वय होकर भी वह नित्य चार प्रकारका है—ज्ञान, विज्ञान, रहस्य और तदङ्ग। तुम जीव-बुद्धिसे उसे नहीं समझ सकते, मेरी कृपासे उसकी उपलब्धि करो। ज्ञान—मेरा स्वरूप है, विज्ञान—मेरी शक्तिका सम्बन्ध है, जीव—मेरा रहस्य है, और प्रधान—मेरा ज्ञानाङ्ग है। (भागवतार्कमरीचिमाला १०/२)

कहते हैं। विषय-ज्ञानको हेय जानकर शुद्धज्ञानकी प्रतिष्ठाका नाम विज्ञान है। 'वस्तु' एक होनेपर भी प्रक्रियाओंकी भिन्नताके कारण 'ज्ञान' और 'विज्ञान'—ये दो पृथक्-पृथक् नाम हुए हैं। तुम विषयज्ञानको 'विज्ञान' कहते हो और वैष्णवजन विषयज्ञानको उसके सच्चे रूपमें संस्थापन करनेको 'विज्ञान' कहते हैं। वे धनुर्वेद, आयुर्वेद, ज्योतिष, रसायन—आदि विषयोंकी समीक्षा करके इस निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि ये सभी जड़ज्ञान हैं, इनके साथ जीवका कोई नित्य सम्बन्ध नहीं है। अतएव ये जीवके नित्यधर्मके सम्बन्धमें सर्वथा अनावश्यक हैं। जो जड़ प्रवृत्ति द्वारा चालित होकर जड़ज्ञानकी उन्नतिके लिए प्रयत्न करते हैं, उन्हें वैष्णवजन कर्मीकी संज्ञा देते हैं—उनकी निन्दा नहीं करते। क्योंकि वे भौतिक उन्नति द्वारा वैष्णवोंके परमार्थ अनुशीलनमें परोक्षरूपसे कुछ-न-कुछ उपकार ही करते हैं। तुमलोग अपने क्षुद्र जड़मय ज्ञानको 'प्राकृतिक विज्ञान' कहते हो, इसमें कोई आपत्ति नहीं है। नामको लेकर वाद-विवाद करना मूर्खता है।

दिगम्बर—अच्छा, यदि भौतिक विज्ञानकी उन्नति न हो तो तुम लोग किस तरह सुखसे जीवन-निर्वाह करते तथा भजन करते? अतएव तुमलोगोंको भी जड़ उन्नतिकी चेष्टा करनी चाहिये।

अद्वैतदास—प्रवृत्तिके अनुसार प्रत्येक मनुष्य भिन्न-भिन्न प्रकारकी चेष्टाएँ करता है, परन्तु सर्वनियन्ता ईश्वर उन चेष्टाओंके फलको यथायोग्य दूसरे मनुष्योंमें बाँट देते हैं।

दिगम्बर—प्रवृत्ति कहाँसे आती है?

अद्वैतदास—पूर्वकर्मजन्य संस्कारोंसे प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। जिनका भौतिक सम्बन्ध जितना अधिक गहरा होता है, वे भौतिक-ज्ञान और भौतिक-ज्ञानसे उत्पन्न शिल्प आदि कार्योंमें उतने ही निपुण होते हैं। वे जो कुछ निर्माण करते हैं—वह सब वैष्णवोंकी कृष्णसेवाका उपकरण बनकर उनका उपकार करते हैं, इस विषयमें वैष्णवोंको पृथक् सेवा करनेकी कोई भी आवश्यकता नहीं होती। देखो, बढ़ई आदि कारीगर धन उपार्जन करनेकी कामनासे सिंहासनका निर्माण करते हैं, गृहस्थ वैष्णव उसी सिंहासनपर श्रीविग्रहकी स्थापना करते हैं, शहदकी मक्खियाँ अपनी-अपनी प्रवृत्तिके अनुसार शहद इकट्ठा करती हैं। उसी शहदको भक्तजन भगवान्‌की सेवामें निवेदन करते हैं। संसारमें सभी परमार्थके लिए ही कर्म नहीं करते, बल्कि वे भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियों द्वारा चालित होकर कर्ममें प्रवृत्त होते हैं। मनुष्योंकी प्रवृत्तियाँ ऊँच-नीचके भेदसे नाना प्रकारकी होती हैं। नीच मनुष्य नीच प्रवृत्तिका अवलम्बनकर नाना प्रकारके कार्य करते हैं, वे समस्त कार्य उच्च प्रवृत्तिके कार्योंकी सहायता करते हैं। इस प्रकार श्रेणी विभागसे जगत्चक्र बड़ी सुन्दरतासे चल रहा है। जड़ीय विज्ञानको आश्रय करनेवाले कर्मी पुरुष जड़-प्रवृत्ति द्वारा चालित होकर जिन-जिन कर्मोंका अनुष्ठान करते हैं वे सारे कर्म वैष्णवोंके परमार्थ अर्थात् चित् प्रवृत्तिके सहायक होते हैं। भौतिक विज्ञानवादी यह नहीं जानते कि अपने इन अनुसन्धानोंसे वे वैष्णवोंका उपकार करेंगे, वे तो विष्णुमाया द्वारा मोहित होकर उन कर्मोंमें प्रवृत्त होते हैं। इसलिए सम्पूर्ण जगत् अज्ञात रूपमें वैष्णवोंका सेवक है।

दिगम्बर—विष्णुमाया किसे कहते हैं?

अद्वैतदास—मार्कण्डेयपुराणके अन्तर्गत चण्डीमाहात्म्यमें **"महामाया हरेः शक्तिर्यया सम्मोहितं जगत्"**, इत्यादि जिनके सम्बन्धमें कहे गये हैं, वे ही विष्णुमाया हैं।

दिगम्बर—हम जिन्हें 'माँ निस्तारिणी' कहते हैं, वे कौन हैं?

अद्वैतदास—वे विष्णुमाया हैं?

दिगम्बर—(अपनी तन्त्रकी पुस्तक खोलकर दिखाते हैं) यह देखो, मेरी माँ चैतन्यरूपिणी, इच्छामयी, त्रिगुणातीता और त्रिगुणधारिणीके रूपमें कही गयी हैं। तुम्हारी विष्णुमाया निर्गुणा नहीं हैं, फिर तुमने मेरी माँ और विष्णुमायाको एक कैसे कर दिया? वैष्णवोंकी ये सब बातें मुझे अच्छी नहीं लगतीं। तुमलोग बड़े ही अन्धविश्वासी होते हो।

अद्वैतदास—भाई दिगम्बर! बिगड़ो नहीं, बहुत दिनोंके बाद तुम मिले हो, मैं तुम्हें सन्तुष्ट करना चाहता हूँ। विष्णुमाया' कहनेसे क्या दोष है? भगवान् विष्णु परमचैतन्य और समस्त ईश्वरोंके भी ईश्वर हैं—और सभी उनकी शक्ति हैं। शक्ति कहनेसे किसी वस्तुका बोध नहीं होता, शक्ति वस्तुका धर्म है। शक्तिको सबका मूल मानना तत्त्वविरुद्ध है। शक्ति वस्तुसे कदापि पृथक् नहीं रह सकती, किसी चैतन्य-स्वरूप वस्तुको आगे स्वीकार किये बिना केवल शक्तिको मानना आकाश-कुसुमकी तरह निरर्थक होता है। वेदान्तभाष्यका कथन है—"**शक्ति-शक्तिमतोरभेदः**", अर्थात् शक्ति और शक्तिमान भिन्न नहीं है। शक्ति—कोई पृथक् वस्तु नहीं, वस्तु हैं—शक्तिमान पुरुष। शक्ति इसी शक्तिमान पुरुषकी इच्छाके अधीन गुण या धर्म है। जब तक यह शक्ति शुद्धचैतन्य वस्तुका आश्रय करके अपने कार्योंका परिचय देती है, तब तक उस शक्तिको शक्तिमान वस्तुसे अभेद मानकर चैतन्यरूपिणी, इच्छामयी और त्रिगुणातीता कहनेसे कोई भूल नहीं होती। 'इच्छा' 'चैतन्य' पुरुषके आश्रित हैं। शक्तिमें इच्छाका अभाव होता है—वह पुरुषकी इच्छासे कार्य करती है। मान लो, तुममें चलनेकी शक्ति तो है, किन्तु तुम्हारी इच्छा होनेसे ही शक्ति कार्य करती है। शक्ति चल रही है—कहनेसे शक्तिमानके चलनेका ही बोध होता है। शब्दका व्यवहार केवल रूपकमात्र है। भगवान्‌की शक्ति एक ही है। वही शक्ति भिन्न-भिन्न रूपोंमें प्रकाशित होती है। इन भिन्न-भिन्न प्रकाशोंके भिन्न-भिन्न नाम हैं। चित् कार्योंमें वह 'चित्-शक्ति' कही जाती है और अचित् अर्थात् जड़ कार्योंमें वही 'जड़शक्ति' या 'मायाशक्ति' के नामसे परिचित है—"**परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते**" (श्वे० उ०)।

सत्त्व, रज और तम—इन त्रिविध गुणोंको धारण करनेवाली शक्तिको जड़शक्ति कहते हैं, ब्रह्माण्डकी सृष्टि और लय करना—ये दोनों कार्य इसी जड़शक्तिके हैं। इसी शक्तिको पुराणों और तन्त्रों में 'विष्णुमाया' महामाया और माया आदि अनेक नामोंसे निर्देश किया गया है। रूपकके रूपमें इस शक्तिकी विविध क्रियाओंका वर्णन मिलता है। जैसे, विधि-हरि-हरका इनसे पैदा होना तथा इनके ही द्वारा शुम्भ और निशुम्भका वध किया जाना। जीव जब तक विषयोंमें निमग्न रहता है, तभी तक वह इस शक्तिके अधीन रहता है। जीवोंका शुद्धज्ञान उदय होनेपर उन्हें अपने स्वरूपका बोध होता है, साथ-ही-साथ वे मायाके बन्धन से मुक्त हो पड़ते हैं। उस समय जीव चित्-शक्तिके अधीन रहकर चिदानन्दका उपभोग करते हैं।

दिगम्बर—तुमलोग किसी शक्तिके अधीन हो या नहीं।

अद्वैतदास—हाँ हैं, हम जीवशक्ति हैं। मायाशक्तिके बन्धनसे मुक्त होकर अब चित्-शक्ति श्रीमती राधारानीके अधीन हैं।

दिगम्बर—तब क्या तुमलोग भी शाक्त हो?

अद्वैतदास—हाँ, वैष्णवजन ही सच्चे शाक्त होते हैं। हमलोग चित्-शक्ति-स्वरूपिणी श्रीराधिकाके अधीन हैं, उनके आश्रयमें रहकर ही हमलोग कृष्णका भजन करते हैं। अतः हमलोगोंके समान दूसरा कौन शाक्त है? यथार्थ शाक्त ही वैष्णव हैं। हमलोग इनमें परस्पर कोई भेद नहीं मानते। चित्-शक्तिका आश्रय करनेके बाद जिनकी केवल मायाशक्तिके प्रति श्रद्धा होती है, वे शाक्त होनेपर भी वैष्णव नहीं हैं अर्थात् वे केवल विषयी होते हैं। नारद पंचरात्रमें दुर्गादेवीका कथन है—"**तव वक्षसि राधाहं रासे वृन्दावने वने।**"—अर्थात् "वृन्दावन नामक वनमें मैं चित्-स्वरूपसे तुम्हारे वक्षःस्थलपर विहार करनेवाली श्रीराधिका हूँ।" दुर्गादेवीकी वाणियोंसे यह स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि शक्ति दो नहीं—एक है। वही शक्ति चित्-स्वरूपमें श्रीराधिका और जड़स्वरूपमें जड़शक्ति (महामाया) हैं। विष्णुमाया ही निर्गुण अवस्थामें चित्-शक्ति और सगुण अवस्थामें जड़शक्ति हैं।

दिगम्बर—तुमने कहा कि तुम जीवशक्ति हो, यह कैसे?

अद्वैतदास—श्रीगीताजीमें भगवान्ने कहा है—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा॥

(गीता ७/४-६)

अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहङ्कार—यह आठ प्रकारकी मेरी अपरा अर्थात् जड़ प्रकृति है। जड़मायाके अधिकारमें ये ही आठ विषय हैं। इस जड़-प्रकृतिसे श्रेष्ठ और पृथक् मेरी जीव-स्वरूपा एक और प्रकृति है, जिसके द्वारा यह जड़-जगत् समझा अथवा देखा जा सकता है। दिगम्बर! क्या तुमने भगवद्गीताका माहात्म्य सुना है? यह ग्रन्थ समस्त शास्त्रोंका सार और सभी प्रकारके विवादोंकी मीमांसा करनेवाला है। इसमें यह प्रतिपादन किया गया है कि जीवतत्त्व जड़ जगत्से तत्त्वतः एक पृथक् तत्त्व है और वह तत्त्व भी भगवान्की एक प्रकारकी शक्ति है। उसे तत्त्वविद् पुरुष तटस्थाशक्ति भी कहते हैं। यह तटस्था अर्थात् जीवशक्ति, जड़शक्तिसे श्रेष्ठ और चित्-शक्तिसे लघु है। अतएव जीवमात्र श्रीकृष्णकी शक्ति है।

दिगम्बर—कालीदास! तुमने क्या भगवद्गीता देखी है?

अद्वैतदास—हाँ, मैंने बहुत पहले इस ग्रन्थको पढ़ा है।

दिगम्बर—उसमें तत्त्वकथाएँ कैसी हैं?

अद्वैतदास—भाई दिगम्बर! मनुष्य जब तक मिश्री नहीं खाता तभी तक वह गुड़की अधिक प्रशंसा करता है।

दिगम्बर—भाई! यह तो तुम्हारा अन्धविश्वास है। देवी भागवत् और देवी गीताका ही सभी आदर करते हैं। केवल तुम्हीं लोग उन दो ग्रन्थोंका नाम तक भी सुनना नहीं चाहते।

अद्वैतदास—तुमने क्या 'देवीगीता' पढ़ी है?

दिगम्बर—झूठ क्यों बोलूँ, मैंने अभी तक नहीं पढ़ी है। मैं उन दोनों ग्रन्थोंकी प्रतिलिपि करने गया था, परन्तु वे मिले ही नहीं।

अद्वैतदास—तुमने जिस ग्रन्थको पढ़ा तक नहीं है—वह भला है या बुरा—यह तुम कैसे कह सकते हो? यह मेरा अन्धविश्वास है या तुम्हारा?

दिगम्बर—भाई! मैं बचपनसे ही तुमसे कुछ-कुछ डरता हूँ। तुम बड़े बातूनी तो थे ही, अब वैष्णव होकर और भी बातूनी हो गये हो। मैं जो कुछ कहता हूँ, तुम उसे काट देते हो।

अद्वैतदास—मैं तो दीन-हीन एक मूर्ख आदमी हूँ। किन्तु मैंने भलीभाँति समझ लिया है कि वैष्णवधर्मके अतिरिक्त कोई भी दूसरा शुद्धधर्म नहीं है। तुम सदा ही वैष्णवोंसे द्वेष करते रहे हो और इस तरह अपने कल्याणके पथको खो चुके हो।

दिगम्बर—[कुछ बिगड़कर] मैं इतना साधन-भजन करता हूँ फिर भी तुम कहते हो कि मैं अपने कल्याणके पथको खो बैठा हूँ? क्या मैं इतने दिनों तक घोड़ेकी घास ही खोदता रहा हूँ? इधर देखो—इस तन्त्र-संग्रहमें क्या कम परिश्रम करना पड़ा है? तुम तो सभ्यता और विज्ञानकी निन्दा करके वैष्णवपना बघारोगे। ऐसी दशामें मैं कर ही क्या सकता हूँ? सभ्य समाजमें चलो, देखना, लोग किसे भला कहते हैं?

अद्वैतदास—[आप-ही-आप] कुसङ्ग दूर हो तो अच्छा ही है। [प्रकट रूपमें] अच्छा भाई! तुम्हारे मरनेपर तुम्हारी सभ्यता और तुम्हारा विज्ञान तुम्हारे किस काम आयेंगे?

दिगम्बर—कालीदास! तुम भी अजीब आदमी हो। मरनेके बाद भी क्या कहीं कुछ रह जाता है? जब तक संसारमें जीवित हो, तब तक खूब खाओ, पीयो, और मौज उड़ाओ एवं यश प्राप्त करो। मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन—इन पंचमकारों द्वारा आनन्दका उपभोग करो, मृत्युके समय जहाँपर जिस अवस्थामें रहना चाहिये—माँ निस्तारिणी वहाँपर वैसा प्रबन्ध करेंगी। मृत्यु होगी—यह जानकर अभीसे ही क्यों कष्ट भोग रहे हो? जब पंचभूत पंचभूतोंमें मिल जायेंगे, उस समय तुम कहाँ रहोगे? यह संसार ही योगमाया, महामाया और माया है।

ये ही तुम्हें सुख देती हैं और मृत्युके पश्चात् भी ये ही तुम्हें मुक्ति प्रदान करेंगी। शक्तिके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है, शक्तिसे निकले हो शक्तिमें ही पुनः मिल जाओगे। अतएव शक्तिकी सेवा करो। विज्ञानमें शक्तिका बल देखो। प्रयत्न करके अपने योगबलकी उन्नति करो। अन्तमें उस अव्यक्त शक्तिके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। न जाने तुम लोगोंने कहाँसे चैतन्य पुरुषकी चण्डूखानेकी गप खोज निकाली है और उस गपमें विश्वास करके इस लोकमें तो कष्ट पा ही रहे हो, परलोकमें भी हमलोगोंसे अधिक सुखी हो सकोगे या नहीं—कह नहीं सकता। पुरुषसे क्या काम है? शक्तिकी आराधना करो। शक्तिमें ही लीन होकर नित्य अवस्थित रहोगे।

अद्वैतदास—भाई तुम तो जड़शक्तिको लेकर ही मुग्ध हो गये हो। यदि चैतन्य पुरुष हो तो फिर मरनेके बाद तुम्हारा क्या होगा? सुख किसे कहते हैं? उत्तर है—मनके सन्तोषका नाम ही सुख है। समस्त भौतिक सुखोंको त्यागकर मैं सन्तोषरूपी सुखका भोग कर रहा हूँ। इसके बाद भी कुछ रहता है तो वह भी मेरा ही है। तुम्हें सन्तोष नहीं है।

जितना ही भोग करते हो, भोगकी तृष्णा उतनी ही बढ़ती जाती है। सच बात तो यह है कि सुख क्या है—तुम अभी तक समझ नहीं पाये हो। केवल सुख-सुख, चिल्लाते-चिल्लाते एक दिन पतनके गर्तमें जा गिरोगे।

दिगम्बर—मेरा जो कुछ होना है, वह तो होकर ही रहेगा, किन्तु तुमने आखिर भद्र समाजको क्यों छोड़ दिया?

अद्वैतदास—मैंने भद्र समाजका त्याग नहीं किया है, प्रत्युत्, उसे प्राप्त किया है और अभद्र सङ्गका अब परित्याग करनेकी चेष्टा कर रहा हूँ।

दिगम्बर—अभद्र सङ्गका मतलब?

अद्वैतदास-क्रोध न करो। सुनो मैं कहता हूँ—

यावत्ते मायया स्पृष्टा भ्रमाम इह कर्मभिः।
तावद्भवत्प्रसंगानां सङ्गः स्यान्नो भवे भवे॥

(श्रीमद्भा० ४/३०/३३)

अर्थात्, हे भगवान्! जब तक आपकी मायासे मोहित होकर कर्म-मार्गमें भटकते रहेंगे, तब तक जन्म-जन्मान्तरोंमें हमें आपके प्रेमी भक्तोंका सङ्ग प्राप्त न हो सकेगा।

पुनः हरिभक्तिविलास (१०/२९४) में—

असद्भिः सह सङ्गस्तु न कर्त्तव्यः कदाचन।
यस्मात् सर्वार्थहानिः स्यादधः पातश्च जायते॥

कर्मियों और ज्ञानियोंकी तरह स्थितिहीन असत् पुरुषोंका सङ्ग नहीं करना चाहिये, क्योंकि ऐसे कुसङ्गसे सब प्रकारके पुरुषार्थ नष्ट हो जाते हैं तथा नीच गति प्राप्त होती है।

कात्यायनके वाक्य हरिभक्तिविलास (१०/२२४) से उद्धृत—

वरं हुतवहज्ज्वालापञ्जरान्तर्व्यवस्थितिः।
न शौरिचिन्ताविमुखजनसंवासवैशसम्॥

—चाहे आगमें जल मरूँ अथवा चाहे पिंजड़ेमें सदाके लिए बन्द पड़ा रहूँ, तो भी कृष्णचिन्ता-विमुखजनोंका सङ्ग नहीं चाहता।

पुनः श्रीमद्भागवतमें—

सत्यं शौचं दया मौनं बुद्धिर्ह्रीः श्रीर्यशः क्षमा।
शमो दमो भगश्चेति यत्संगाद्याति संक्षयम्॥
तेष्वशान्तेषु मूढेषु खण्डितात्मस्वसाधुषु।
सङ्गं न कुर्याच्छोच्येषु योषित्क्रीडामृगेषु च॥

(श्रीमद्भा० ३/३१/३३-३४)

—जिनके सङ्गसे सत्य, शौच (बाहर-भीतरकी पवित्रता), दया, वाणी संयम, बुद्धि, धन-सम्पत्ति, लज्जा, यश, क्षमा और इन्द्रियों का संयम तथा ऐश्वर्य आदि सभी सद्गुण नष्ट हो जाते हैं, इन अत्यन्त शोचनीय स्त्रियोंके क्रीड़ा-मृग (खिलौने), अशान्त, मूढ़ और देहात्मदर्शी असत् पुरुषोंका सङ्ग कभी नहीं करना चाहिये।

गरुड़पुराणमें—

अन्तर्गतोऽपि वेदानां सर्वशास्त्रार्थवेद्यपि।
यो न सर्वेश्वरे भक्तस्तं विद्यात् पुरुषाधमम्॥

(गरुड़पुराण पूर्व २३१/१७)

—सम्पूर्ण वेद-वेदान्तोंका अध्ययन करनेपर भी तथा अन्यान्य सम्पूर्ण शास्त्रोंका ज्ञाता होनेपर भी जो सर्वेश्वर श्रीकृष्णका भजन नहीं करता, उसे अत्यन्त नीच पुरुष समझना चाहिये।

श्रीमद्भागवत (६/१/१८) में—

प्रायश्चित्तानि चीर्णानि नारायणपराङ्मुखम्।
न निष्पुनन्ति राजेन्द्र सुराकुम्भमिवापगाः॥

—जिस प्रकार अनेक नदियोंके जलसे धोनेपर भी शराबका घड़ा पवित्र नहीं होता, उसी प्रकार बड़े-बड़े प्रायश्चित बारम्बार किये जानेपर भी भगवत्-विमुख मनुष्यको पवित्र नहीं कर सकते।

स्कन्दपुराणमें—

हन्ति निन्दति वै द्वेष्टि वैष्णवान्नाभिनन्दति।
क्रुध्यते जाति नो हर्षं दर्शने पतनानि षट्॥

—वैष्णवोंको मारना, उनकी निन्दा करना, उनसे विद्वेष करना, अभिनन्दन न करना, उनके प्रति क्रोध प्रकाश करना और उन्हें देखकर प्रसन्न न होना—ये छह अधःपतनके कारण हैं।

दिगम्बर! इन सब असत्-सङ्गोंसे जीवोंका कल्याण नहीं हो सकता। अतएव ऐसे समाजमें रहनेसे क्या लाभ है?

दिगम्बर—अच्छे भले आदमीसे बातें करने आया था। अच्छी बात है, तुम शुद्ध वैष्णवोंका सङ्ग करो, मैं अब घर चलता हूँ।

अद्वैतदास—(मन-ही-मन—ठीक रास्तेपर आ रहा है, अब इससे कुछ मीठी बातें करनी उचित हैं।) घर तो जाओगे ही किन्तु तुम मेरे बाल्य-बन्धु हो, इसलिए तुम्हें छोड़नेकी इच्छा नहीं होती। कृपाकर जब यहाँ आये हो तो थोड़ी देर और ठहरकर यहाँ प्रसाद आदि पाकर ही जाना।

दिगम्बर—कालीदास! तुम तो यह जानते हो कि मैं खाने-पीनेमें बहुत ही परहेज रखता हूँ। केवल एक बार थोड़ा-सा हविष्यान्न खाता हूँ। चलते समय खाकर ही आया हूँ। तुमसे मिलकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। अवकाश मिला तो फिर मिलूँगा। रातमें ठहर नहीं सकता, क्योंकि गुरुकी दी हुई पद्धतिके अनुसार कुछ क्रियाएँ करनी पड़ती हैं। अब मैं आज्ञा चाहता हूँ।

अद्वैतदास—अच्छी बात है, तो फिर चलो, नाव तक तुम्हें पहुँचा आऊँ।

दिगम्बर—नहीं नहीं, इसकी कोई आवश्यकता नहीं, तुम अपना काम करो, मेरे साथ कई एक आदमी हैं।

ऐसा कहकर दिगम्बर काली-सम्बन्धी गीत गाते-गाते चले गये। इधर अद्वैतदास एकाग्र होकर अपनी कुटीमें नाम-भजन करने लगे।

॥नवाँ अध्याय समाप्त॥

दसवाँ अध्याय
नित्यधर्म और इतिहास

अध्यापक हरिहर भट्टाचार्य अग्रद्वीपके रहनेवाले हैं। उनके मनमें एक दिन एक शङ्का पैदा हुई। बहुतों से पूछताछ करनेपर भी उनकी शङ्का दूर न हुई, बल्कि उनका चित्त और भी अधिक क्षुब्ध होता गया।

एक दिन उन्होंने अर्कटीला ग्रामके विख्यात अध्यापक श्रीचतुर्भुज न्यायरत्नसे पूछा—महाशय! क्या आप बतला सकते हैं कि वैष्णवधर्म कबसे प्रचलित हुआ है?

हरिहर भट्टाचार्य वैष्णवधर्ममें दीक्षित हैं। घरमें भगवान् श्रीकृष्णकी सेवा-पूजा करते हैं। चतुर्भुज भट्टाचार्य न्यायशास्त्रके प्रकाण्ड विद्वान् हैं। लगभग बीस वर्ष तक न्यायका गम्भीर अध्ययन करके अब धर्मके प्रति उदासीन हो गये हैं। धार्मिक पचड़ोंको तनिक भी पसन्द नहीं करते। केवल शक्ति-पूजाके समय थोड़ी-सी भक्ति अवश्य दिखाते हैं। उन्होंने हरिहरके प्रश्नोंका अर्थ यह लगाया कि हरिहर वैष्णवधर्मका पक्ष ले करके उन्हें विकट समस्यामें उलझा देगा इस व्यर्थके टन्टेसे दूर रहना ही अच्छा है।

ऐसा सोचकर न्यायरत्न महाशयने कैसा प्रश्न कर रहे हो? तुमने तो 'मुक्तिवाद' तक पढ़ा है। देखो, न्यायशास्त्रमें वैष्णवधर्मका कहीं भी कोई उल्लेख नहीं है। तुम ऐसा अजीब प्रश्न करके मुझे क्यों तङ्ग करते हो?

हरिहरने तनिक आवेशमें आकर कहा—महाशय! मैं वंश-परम्परासे वैष्णव-मन्त्रसे दीक्षित हूँ और वैष्णवधर्मके सम्बन्धमें मुझे कोई भी शङ्का न थी। आप विक्रमपुरके तर्क-चूड़ामणिको तो जानते हैं न, वे आजकल वैष्णवधर्मको उखाड़ फेंकनेके लिए देश-विदेशोंमें उसके विरुद्ध प्रचार कर रहे हैं और साथ-ही-साथ प्रचुर धन उपार्जन कर रहे हैं। उन्होंने किसी शाक्त-प्रधान सभामें ऐलान किया है कि "वैष्णवधर्म बिलकुल आधुनिक है और उसमें कोई भी सार-तत्त्व नहीं है। नीच जातिके लोग ही वैष्णव हुआ करते हैं—उच्च जातिके लोग वैष्णवधर्मका आदर नहीं करते हैं।" उनके जैसे एक माने हुए विद्वान् व्यक्तिके मुखसे ऐसा सिद्धान्त सुनकर पहले तो मेरे हृदयमें कुछ वेदना अवश्य हुई, किन्तु पीछे विचारकर मैंने देखा कि बङ्गालमें चैतन्यदेवके आविर्भावसे पूर्व कहीं भी वैष्णवधर्म न था। प्रायः सभी जगह शक्ति—मन्त्रसे ही उपासना होती थी। हम जैसे दो चार वैष्णव—मन्त्रके उपासक अवश्य थे। परन्तु अन्तमें सभी ब्रह्मतत्त्वको ही लक्ष्य करते और मुक्तिके लिए ही प्रयत्न करते। उक्त वैष्णवधर्मका पालन करनेमें पंचोपासकोंकी भी सम्मति थी। किन्तु चैतन्य महाप्रभुके बाद वैष्णवधर्मने एक नया ही रूप धारण कर लिया है। वैष्णवजन 'मुक्ति' या 'ब्रह्म' इन दोनों नामोंमें किसी एक को भी सुनना पसन्द नहीं करते। भक्तिको उन्होंने क्या समझ रखा है—मैं कह नहीं सकता। अन्धी गायोंका मार्ग भी भिन्न ही होता है—यही कहावत आजकलके वैष्णवोंमें पूर्ण चरितार्थ होती है। मेरा प्रश्न यह है कि इस प्रकारका वैष्णवधर्म क्या पहलेसे ही चला आ रहा है अथवा चैतन्यदेवके समयसे इसने ऐसा रूप धारण किया है?

न्यायरत्न महाशयने देखा कि हरिहरके मनका भाव एक दूसरे ही प्रकारका है अर्थात् हरिहर कट्टर वैष्णव नहीं हैं। यह जानकर उनका मुख प्रसन्नतासे खिल उठा। उन्होंने कहा

—हरिहर! तुम यथार्थ ही न्यायशास्त्रके पण्डित हो। तुमने जो कुछ सोचा है, मैं उसे बिलकुल ठीक समझता हूँ। आजकल नवीन वैष्णवधर्ममें जो लहरें उठ रही हैं, उनके विरुद्ध कुछ भी कहनेका साहस नहीं होता है। कलियुगका समय है। हमें कुछ सावधान रहना चाहिये। इस समय बहुत से धनी-मानी उच्च कुलके सज्जन भी चैतन्य मतमें प्रवेश कर रहे हैं। वे हम लोगोंका बड़ा अनादर करते हैं। यहाँ तक कि हमें अपना शत्रु समझते हैं मुझे तो ऐसा प्रतीत हो रहा है कि थोड़े ही दिनोंमें हम लोगोंका व्यवसाय भी नष्ट होनेवाला है। अब तो तेली, तमोली, बनिया—वक्काल आदि भी शास्त्रोंका पाठ करने लगे हैं। हमें यह देखकर बड़ा ही कष्ट होता है। देखो न, बहुत दिनोंसे ब्राह्मणोंने एक ऐसा धन्धा बना रखा था कि ब्राह्मणोंको छोड़कर दूसरे वर्णवाले शास्त्रका अध्ययन नहीं कर सकते। सभी हमारी बातें माननेके लिए बाध्य होते थे। परन्तु आजकल सभी जातियोंके लोग वैष्णव बनकर धर्म-तत्त्वोंका विवेचन करते हैं जगह-जगह उन लोगोंसे इस विषयमें हमें बड़ी मुँहकी खानी पड़ती है। निमाई पण्डितने ही ब्राह्मण धर्मका सर्वनाश किया है। हरिहर! तर्क चूड़ामणिने-चाहे पैसेके लोभसे हो अथवा देख-सुनकर ही हो—जो कुछ कहा है बिलकुल ठीक ही कहा है। वैष्णवोंकी बातें सुनकर शरीरमें आग लग जाती है। ये अब यहाँ तक कहने लगे हैं कि शङ्कराचार्यने भगवान्‌की आज्ञासे मायावाद नामक एक मिथ्यावादकी स्थापना की है और वैष्णवधर्म ही आदि सनातन वैदिक धर्म है। जिस धर्मको पैदा हुए अभी सौ वर्ष भी नहीं हुए, वही धर्म आज अनादि हो गया! आश्चर्य है!! पहले नवद्वीप जितना ही उन्नत था, अब उतना ही चौपट हो गया है। विशेषकर नवद्वीपके गादीगाछा नामक स्थानमें कुछ वैष्णव हैं, जो पृथ्वीको तिनकेकी भाँति देखते हैं। उन लोगोंमें दो एक अच्छे पण्डित भी हैं, जिनके उत्पातसे ही सारा देश चौपट हो गया। वर्णधर्म, नित्य मायावाद, देव—देवियोंकी पूजा आदि सभी लोप होते जा रहे हैं। आजकल लोग श्राद्ध और पिण्डदान आदि कर्म भी नहीं करते हैं। अध्यापकोंकी जीविका चले भी तो कैसे चले?

हरिहरने कहा—महात्मन्! क्या इसका कोई उपाय नहीं है? अब भी मायापुरमें छह-सात बड़े-बड़े ब्राह्मण पण्डित हैं। गङ्गाके उसपार कुलिया ग्राममें भी अनेकों बड़े-बड़े स्मार्त्त और नैयायिक पण्डित हैं यदि सब लोग मिलकर गादीगाछापर आक्रमण करें, तो क्या कुछ फल न निकलेगा?

न्यायरत्नने कुछ गम्भीर होकर उत्तर दिया—क्यो नहीं? खूब हो सकता है, किन्तु ब्राह्मण पण्डितोंमें एकता होनी चाहिये। इनमें आजकल बड़ी फूट है। सुना है, कई-एक पण्डितोंने कृष्ण चूड़ामणिको अग्रणी बनाकर गादीगाछा वाले वैष्णव पण्डितोंके साथ शास्त्रार्थ किया था, किन्तु वैष्णवोंकी पाण्डित्य-प्रतिभाके सामने वे ठहर नहीं सके और बुरी तरह परास्त होकर लौट आये।

हरिहरने कहा—श्रीमान्‌जी! आप हमारे अध्यापक हैं। बड़े-बड़े अध्यापक आपके छात्र हैं। आपकी लिखी हुई न्यायकी टीकाको पढ़कर बड़े-बड़े विद्वान् भी 'फाँकी' शिक्षा प्राप्त करते हैं। यदि आप चाहें तो इन बढ़े हुए वैष्णवोंको बात-की-बातमें परास्त कर सकते हैं। अतः आप एकबार गोद्रुममें चलकर इस बातको प्रमाणित कर दें कि वैष्णवधर्म बिलकुल आधुनिक और अवैदिक धर्म है। आपके इस कार्यसे ब्राह्मण समाजका बड़ा उपकार होगा। साथ ही—साथ लुप्त हो रही हमारी प्राचीन पंचोपासनाकी भी रक्षा हो जायेगी।

चतुर्भुज न्यायरत्न वैष्णवोंसे तर्क करनेमें मन-ही-मन डरते हैं। जहाँ कृष्ण चूड़ामणि जैसे पण्डित भी पराजित हो गयें हैं, वहाँ सम्भव है उनकी भी वही दशा हो। उन्होंने कहा—हरिहर! मैं छद्मवेशमें वहाँ चलूँगा, तुम अध्यापकके रूपमें ही गादीगाछामें तर्ककी अग्नि प्रज्वलित करो। पीछे जो कुछ करना होगा, मैं देख लूँगा।

हरिहरने कहा—मैं अवश्य ही आपकी आज्ञाका पालन करूँगा। अगले सोमवारको, "बम बम महादेव" कहकर उसपार धावा बोल दूँगा।

आखिर सोचते-सोचते सोमवार आ ही पहुँचा। हरिहर, कमलाकान्त और सदाशिव नामक अध्यापकोंको साथ लेकर श्रीचतुर्भुज न्यायरत्नके घर पहुँचे और वहाँसे उन्हें भी साथ लेकर गङ्गा पारकर गोद्रुममें पहुँचे। शामके चार बजे ये लोग "हरि बोल, हरि बोल" करते हुए दुर्वासाकी तरह माधवी-मण्डपमें उपस्थित हुए। अद्वैतदास उस समय अपनी कुटीमें हरिनाम कर रहे थे। वे उन लोगोंको देखकर कुटीसे बाहर आये और उन लोगोंको पृथक्-पृथक् आसन देकर बड़े प्रेमसे बैठाते हुए बोले—कहिये, हमारे लिए क्या सेवा है?

हरिहरने उत्तर दिया—हमलोग वैष्णवोंसे कई एक विषयोंपर विचार-विमर्श करनेके लिए आये हैं।

अद्वैतदासने कहा—यहाँके वैष्णव किसी भी विषयपर किसीसे वाद-विवाद करना पसन्द नहीं करते। हाँ, यदि आपलोग साधारण ढङ्गसे कुछ पूछें तो कुछ कहा जा सकता है। उस दिन एक अध्यापक कुछ जिज्ञासा करनेके छलसे बहुत ही तर्क-वितर्क करने लगे और अन्तमें बहुत ही दुखी होकर लौट गये। खैर, मैं परमहंस बाबासे पूछकर उत्तर दूँगा। इतना कहकर वे बाबाजीकी कुटीके भीतर चले गये और थोड़ी ही देरमें लौटकर मण्डपमें आसन बिछा दिये।

कुछ ही देरमें परमहंस बाबाजी अपनी भजन कुटीसे निकलकर मण्डपमें आये और सबसे पहले वृन्दादेवीको दण्डवत्‌कर आगन्तुक अध्यापकोंको प्रणामकर बड़ी ही नम्रतासे बोले—हम आपकी क्या सेवा करें?

न्यायरत्नने उत्तर दिया—हमें आपलोगोंसे दो-एक बातें पूछनी हैं, हम उसीका उत्तर चाहते हैं।

यह सुनकर परमहंस बाबाजीने श्रीवैष्णवदासको बुलवाया। वैष्णवदास बाबाजी उनकी आज्ञा पाकर तुरन्त वहाँ उपस्थित हुए और परमहंस बाबाजीको प्रणामकर उनके पास ही बैठ गये।

बात-की-बातमें एक छोटी-मोटी सभा जम गयी। सब लोगोंके बैठनेपर न्यायरत्नने पूछा—मैं जानना चाहता हूँ कि वैष्णवधर्म पुरातन है या आधुनिक?

परमहंस बाबाजीकी आज्ञा पाकर वैष्णवदासजी शान्त किन्तु बड़े ही गम्भीर शब्दोंमें बोले—वैष्णवधर्म सनातन और नित्य है।

न्यायरत्न—मैं दो प्रकारका वैष्णवधर्म देखता हूँ। एक प्रकारके वैष्णवधर्ममें ब्रह्मको निराकार और निर्विशेष माना जाता है। किन्तु निराकार वस्तुकी उपासना नहीं होती, इसलिए इसमें साधक सबसे पहले एक साकार रूपकी कल्पना करके उसकी उपासना करता है। इस उपासनाकी आवश्यकता केवलमात्र चित्तशुद्धिके लिए होती है तथा चित्तशुद्धि होनेपर जब निराकार ब्रह्मका ज्ञान उदित हो जाता है, तब पूर्वोक्त, साकार उपासनाकी आवश्यकता नहीं

रह जाती। राधाकृष्ण, राम अथवा नृसिंह आदि सभी रूप माया द्वारा कल्पित रूप हैं। इन कल्पित साकार रूपोंकी उपासनासे ब्रह्मज्ञान होता है—इस भावनासे जो लोग विष्णुकी पूजा करते हैं तथा विष्णु-मन्त्रसे उपासना करते हैं, वे पंचोपासकोंमें वैष्णव हैं। दूसरे प्रकारके वैष्णवधर्ममें भगवान् विष्णु अथवा राम या कृष्णको नित्य साकार परब्रह्म माना जाता है। इनमेंसे प्रत्येककी उपासना उनके निर्दिष्ट मन्त्रोंसे करनेपर साधक अपने उपास्य रूपका नित्यज्ञान और उनकी कृपा प्राप्त करता है। इस मतके अनुसार निराकार मत मायावाद है, मायावाद शङ्करकी भ्रान्ति है। अब आप यह बतलाइये कि उपरोक्त दोनों प्रकारके वैष्णवधर्मोमें कौन-सा सनातन और नित्य है?

वैष्णवदास—आपने अन्तमें जिसका उल्लेख किया है, वही वैष्णवधर्म है, वही सनातनधर्म है। पहला केवल नाममात्रका वैष्णवधर्म है। यह नित्य वैष्णवधर्मके प्रतिकूल अनित्यधर्म है, जिसका उद्गम स्थान मायावाद है।

न्यायरत्न—समझ गया, चैतन्यदेवने जिस मतको चलाया है—आपलोगोंके मतसे वही वैष्णवधर्म है। केवल राधाकृष्ण, राम, नृसिंह आदिकी उपासना करनेसे ही वैष्णव नहीं हुआ जाता है, चैतन्यमतके अनुसार राधाकृष्ण आदिकी उपासना करनेसे ही वैष्णव हुआ जाता है। यही आप लोगोंका विचार है न? अच्छी बात है, यही सही, किन्तु इस वैष्णवधर्मको आपलोग सनातन कैसे कह सकते हैं?

वैष्णवदास—वेदशास्त्रोंमें सब जगह इसी वैष्णवधर्मकी शिक्षा दी गयी समस्त स्मृतिशास्त्रोंमें इसी वैष्णवधर्मका उपदेश है। समस्त आर्य-इतिहास इसी वैष्णवधर्मका गुणगान करते हैं।

न्यायरत्न—चैतन्यदेवके जन्मके अभी डेढ़ सौ वर्ष भी पूरे नहीं हुए है। और जब वे ही इस मतके मूल प्रवर्तक हैं, तो यह मत सनातन कैसे हो सकता है?

वैष्णवदास—जीव जिस समयसे उत्पन्न हुआ है, यह वैष्णवधर्म भी उसी समयसे प्रकटित है। और चूँकि जीवका किसी जड़ीयकालमें आरम्भ नहीं है, इसलिए जीव अनादि है और उनका धर्म भी जिसे जैवधर्म अथवा वैष्णवधर्म कहते हैं, अनादि है। ब्रह्मा सबसे आदि जीव है, ब्रह्माके उत्पन्न होते ही उनसे ही वैष्णवधर्मकी आधारभूता वेदवाणीका प्रकाश होता है। उन वेदवाणियोंको चतुःश्लोकी भी कहते हैं। मुण्डकोपनिषद् में ऐसा लिखा हुआ है —

ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता।
स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठां अथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह॥ [१]

(मुण्डकोपनिषद् १/१/१)

यह ब्रह्मविद्या क्या शिक्षा देती है—उसे ऋग्वेद संहिता (१/२२/२०) में देखिये—

तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम्।[२]

---

(१) सम्पूर्ण जगत्की रचयिता और सब लोगोंकी रक्षा करनेवाले ब्रह्माजी समस्त देवताओंसे पहले प्रकट हुए। उन्होंने अपने सबसे बड़े पुत्र अथर्वको समस्त विद्याओंकी आधरभूता ब्रह्मविद्याका भलीभाँति उपदेश किया।

(२) जैसे आँख आकाशमें बिना किसी बाधाके सूर्यका दर्शन करती है, ज्ञानीजन भी वैसे ही भगवान् विष्णुके उस परम पदका नित्यकाल दर्शन किया करते हैं।

कठोपनिषद्‌में भी कहा गया है—

विष्णोर्यत् परमं पदम्॥ [३]

श्वेताश्वरोपनिषद् (५/४) में भी लिखा है—

एवं स देवो भगवान् वरेण्यो योनिस्वभावानधितिष्ठत्येकः॥[४]

तैत्तिरीयोपनिषद्में भी (२/२) कहा गया है—

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्। सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता॥[५]

न्यायरत्न—आप जिस **"तद् विष्णोः परमं पदम्"**—वेदवाणी द्वारा वैष्णवधर्मको इङ्गित कर रहे हैं, वह मायावादके अन्तर्गत वैष्णवधर्मके लिए नहीं है—इसे आप कैसे कह सकते हैं?

वैष्णवदास—मायावाद वाले वैष्णवधर्ममें नित्य आनुगत्य (सेवकभाव) नहीं है। ज्ञान प्राप्त होनेपर इससें साधक स्वयं ब्रह्म हो जाता है। ब्रह्म होजानेपर फिर आनुगत्य-धर्म रहा ही कहाँ? किन्तु शास्त्र कहते हैं—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्॥[६]

(कठ० उ० २/२३)

आनुगत्य धर्म ही एकमात्र धर्म है। उसके द्वारा परब्रह्मकी कृपा होनेपर परब्रह्मका नित्यरूप दर्शन किया जा सकता है। ब्रह्मज्ञानसे उस नित्यरूपका दर्शन नहीं मिलता। इसी सुदृढ़ वेदवाक्यसे ही शुद्ध वैष्णवधर्मका वेदमूलत्व आप समझ सकते हैं। जिस वैष्णवधर्मकी शिक्षा श्रीमन् महाप्रभुने दी है, वही वैष्णवधर्म है। इसमें सन्देह करनेका कोई कारण नहीं।

न्यायरत्न—समस्त शास्त्रोंका मूल तात्पर्य कृष्णका भजन है, ब्रह्मज्ञान नहीं—क्या वेदोंमें इस प्रकारके मन्त्र पाये जाते हैं?

वैष्णवदास—**रसो वै सः** (तै० आ० २/७) [७], **श्यामाच्छबलं प्रपद्ये शबलाच्छ्यामं**

---

(३) विष्णुके चरणकमल ही परम श्रेष्ठ हैं।

(४) जिस प्रकार यह सूर्य समस्त दिशाओंको ऊपर नीचे तथा इधर-उधर सब ओरसे प्रकाशित करता हुआ देदीप्यमान होता है, उसी प्रकार समस्त देवताओंके भी आदि और परम देवता भगवान् विष्णु समस्त कारणोंके कारणस्वरूप होकर भी निर्विकार स्वभावमें वर्त्तमान हैं तथा वही एकमात्र वरणीय और उपास्य हैं।

(५) ब्रह्म सत्यस्वरूप, ज्ञानस्वरूप और अनन्तस्वरूप है। जो मनुष्य परव्योममें रहते हुए भी प्राणियोंके हृदयरूप गुफाओंमें छिपे हुए उस ब्रह्मको जानता है, वह उस अन्तर्यामी सर्वज्ञ ब्रह्मके साथ समस्त भोगोंका अनुभव करता है।

(६) यह परब्रह्म परमात्मा तो न प्रवचनसे, न बुद्धिसे और न बहुत सुननेसे ही प्राप्त होता है, बल्कि जिसे यह कृपाकर स्वीकार कर लेता है, उसके द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है, क्योंकि यह परमात्मा उसके निकट ही अपने यथार्थ रूपको प्रकट करता है।

(७) परम पुरुष (कृष्ण) रसस्वरूप हैं।

प्रपद्ये (छा० उ० ८/१३/१)[८]। इस प्रकार अनेक वेदमन्त्रोंसे कृष्णभजनको ही निर्देश किया गया है।

न्यायरत्न—क्या वेदोंमें 'कृष्ण' नामका कहीं उल्लेख मिलता है?

वैष्णवदास—'श्याम' शब्दसे क्या कृष्णका बोध नहीं होता? **अपश्यं गोपामनिपद्यमानमा** (ऋग्वेद १/२२/१६४/३१) [९] इत्यादि वेदमन्त्रोंमें कृष्णका ही उल्लेख किया गया है।

न्यायरत्न—इन मन्त्रोंमें 'कृष्णका' नाम स्पष्ट रूपसे नहीं मिलता। आप खींचातानी कर ऐसा अर्थ लगाते हैं?

वैष्णवदास—आप यदि वेदोंका भलीभाँति अध्ययन करें तो देखेंगे कि सभी विषयोंके सम्बन्धमें वेद इसी प्रकारके वाक्योंका प्रयोग करते हैं। हमारे प्रधान-प्रधान ऋषियोंने इन वेदमन्त्रोंका जो अर्थ-निरूपण किया है, हमें उन अर्थोंको मान लेना चाहिये।

न्यायरत्न—अब वैष्णवधर्मका इतिहास बतलाइये।

वैष्णवदास—मैं कह चुका हूँ कि वैष्णवधर्म जीवोंकी उत्पत्तिके साथ ही उदित हुआ है। प्रथम वैष्णव हैं—ब्रह्मा। श्रीमहादेवजी वैष्णव हैं समस्त प्रजापति वैष्णव हैं। ब्रह्माके मानस पुत्र नारद मुनि वैष्णव हैं। अब इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वैष्णवधर्म सृष्टिके आदिकालसे ही चला आ रहा है। यह कोई आधुनिक धर्म नहीं है सच बात तो यह है कि सभी जीव निर्गुण प्रकृतिके नहीं होते; जिस जीवकी प्रकृति जितनी ही निर्गुण होगी, वह उतना ही उत्तम कोटिका वैष्णव होगा। महाभारत, रामायण और पुराण ही आर्य जातिके प्रारम्भिक इतिहास-ग्रन्थ हैं। इन समस्त ग्रन्थोंमें वैष्णवधर्मकी उत्कर्षता ही प्रतिपादित की गयी है। आपने सृष्टिके आदिकालमें वैष्णवधर्म देख लिया। इसके बाद ध्रुव और प्रह्लादको हम पाते हैं। ये दोनों शुद्ध वैष्णव हैं। इनके समयमें और भी हजारों-हजारों वैष्णव थे, जिनके सम्बन्धमें कहीं भी कोई उल्लेख नहीं मिलता। इसका कारण यह है कि इतिहासमें केवल प्रमुख-प्रमुख व्यक्तियोंके ही नाम दिये जाते हैं। साधारण लोगोंके नाम उसमें स्थान नहीं पाते। ध्रुव, मनुके पुत्र हैं, और प्रह्लाद कश्यप प्रजापतिके पौत्र हैं। ये सब अत्यन्त आदिकालके हैं—इसमें कोई सन्देह नहीं। अतः आप इतिहासके प्रारम्भिक कालसे ही वैष्णवधर्मको लक्ष्य कर रहे हैं। उसके बाद सूर्यवंशी और चन्द्रवंशी राजागण और अच्छे-अच्छे मुनिजन तथा ऋषिलोग सभी वैष्णव थे। सत्य, त्रेता और द्वापर—इन तीनों युगोंमें ही वैष्णवधर्मका उल्लेख पूर्ण रूपसे पाया जाता है। कलियुगमें भी दक्षिण भारतमें श्रीरामानुज, श्रीमध्वाचार्य और श्रीविष्णु स्वामी तथा पश्चिम भारतमें निम्बादित्य स्वामीने हजारों-हजारों मनुष्योंको विशुद्ध वैष्णवधर्ममें दीक्षित किया था।

जहाँ तक मेरा विचार है, उन्हीं लोगोंकी कृपासे भारतवर्षके अर्द्धसंख्यक मनुष्य माया-समुद्रसे पार होकर भगवद्भजनमें प्रवृत्त हुए हैं। बङ्ग देशमें ही देखिये, मेरे प्राणेश्वर श्रीशचीनन्दनने न जाने कितने ही दीन-हीन और पतितोंका उद्धार किया है। यह देख

---

(८) कृष्ण-सेवा द्वारा विचित्र विलासोंसे पूर्ण अप्राकृत चिदानन्दमय धामकी प्राप्ति होती है तथा विविध विचित्रताओंसे पूर्ण उस चित्-जगत्से कृष्णकी प्राप्ति होती है।

(९) गोपाल वंशमें उत्पन्न कृष्णको देखा, जिनका कभी पतन नहीं है अर्थात् वे अच्युत हैं।

सुनकर भी क्या वैष्णवधर्मका माहात्म्य आपलोगोंको दिखलायी नहीं पड़ता?

न्यायरत्न—ठीक है, परन्तु प्रह्लाद आदिको किस आधारपर वैष्णव कहा जा सकता है?

वैष्णवदास—शास्त्रोंके आधारपर कहा जा सकता है। षण्डामर्क प्रह्लादको मायावादसे दूषित ब्रह्मज्ञानकी शिक्षा देना चाहते थे, किन्तु प्रह्लादने उनकी शिक्षा न सीखकर भगवन्नामको ही समस्त शिक्षाओंका सार समझा था। इसलिए वे निरन्तर बड़े प्रेमसे भगवन्नाम किया करते थे। ऐसी अवस्थामें प्रह्लाद एक शुद्ध वैष्णव थे—इसमें सन्देह ही क्या रह जाता है? यथार्थ बात तो यह है कि जब तक बुद्धि थोड़ी निरपेक्ष और सूक्ष्म न हो, तब तक शास्त्रोंका गूढ़ तात्पर्य समझना कठिन है।

न्यायरत्न—यदि वैष्णवधर्म इसी प्रकार सदासे ही चला आ रहा है, तो चैतन्य महाप्रभुने ऐसी कौन-सी नई शिक्षा दी है, जिससे वे विशेष श्रद्धाके पात्र हैं?

वैष्णवदास—वैष्णवधर्म कमलके फूलकी भाँति समयानुसार क्रमशः खिलता हुआ आ रहा है। पहले कलीके रूपमें था, फिर कुछ विकसित-सा दिखायी पड़ा और अन्तमें पूर्ण रूपसे विकसित होकर अपने सौरभको चारों दिशाओंमें बिखेरकर जीवोंको आकृष्ट करने लगा। ब्रह्माके समय भगवत्-ज्ञान, मायाविज्ञान, भक्ति-साधन और प्रेम जीवोंके हृदयमें चतुःश्लोकीके रूपमें व्यक्त हुआ। वैष्णवधर्मका यह अङ्कुरित होनेका काल है। प्रह्लाद आदिके समयमें कलीके रूपमें व्यक्त हुआ है। क्रमशः वेदव्यास मुनिके समय इस धर्मकी पंखुड़ियाँ कुछ-कुछ विकसित रूपमें दिखायी पड़ीं। रामानुज, मध्व आदि आचार्योंके समय वह कुछ विकसित होकर पुष्पाकार दिखायी पड़ने लगा और श्रीमन् महाप्रभुके समय वह अर्द्ध-विकसित पुष्प पूर्ण विकसित होकर अपने सौरभसे सम्पूर्ण जगत्‌को आकृष्ट करने लगा है। नाम—प्रेम वैष्णवधर्मका अत्यन्त निगूढ़ भाव है, जिसे श्रीमन् महाप्रभुने जगत्‌के जीवोंके लिए प्रकाशित किया है। श्रीनामसङ्कीर्त्तन परम अमूल्य और अतिशय आदरकी वस्तु है—इस उपदेशको क्या और किसीने कभी प्रकाशित किया है? यद्यपि यह शास्त्रोंमें पहले भी वर्त्तमान था, फिर भी जीवोंके सामने ज्वलन्त आदर्शके रूपमें प्रकाशित नहीं था, जिससे साधारण जीव इसे अपने जीवनमें आचरण करनेकी प्रेरणा प्राप्त कर सके। श्रीमन् महाप्रभुसे पूर्व प्रेमरसका भण्डार क्या इस प्रकार साधारण जीवोंमें किसीने कभी भी लुटाया है?

न्यायरत्न—अच्छी बात है, यदि कीर्त्तन इतना ही उपकारी है तो पण्डित—मण्डलीमें इसका आदर क्यों नहीं है?

वैष्णवदास—आजकल 'पण्डित' शब्दका अर्थ विपरीत लगाया जाता है। सम्पूर्ण शास्त्रोंमें पारदर्शी (उज्ज्वला) बुद्धिको पण्डा कहते हैं। ऐसी बुद्धिसे युक्त व्यक्तियोंको पण्डित कह सकते हैं। 'पण्डित' शब्दका यही यथार्थ अर्थ है। किन्तु आजकल थोड़ा-बहुत संस्कृतका अध्ययनकर न्याय और स्मृति आदि शास्त्रोंका लोकरञ्जन अर्थ करनेवाले अथवा निरर्थक युक्ति-जालका विस्तार करनेवाले ही पण्डित कहे जाते हैं। ऐसे पण्डित भला किस प्रकार धर्मका तात्पर्य और शास्त्रोंका वास्तविक अर्थ समझ या समझा सकते हैं? निरपेक्ष होकर शास्त्रोंका अध्ययन करनेसे जो फल प्राप्त होता है, वह शुष्क तर्क-वितर्कोंसे थोड़े ही पाया जा सकता है? सच बात तो यह है कि व्यर्थके वितण्डावादसे जो अपनेको और दूसरोंको वञ्चित करनेमें पटु हैं, ऐसे वञ्चक ही कलियुगमें पण्डित हैं। ऐसी पण्डित-मण्डलीमें घट-पट सम्बन्धी तर्क ही सर्वदा हुआ करते हैं। वहाँ वस्तुज्ञान, सम्बन्धज्ञान-तत्त्व, जीवोंका चरम

प्रयोजन तथा उसकी प्राप्तिके उपाय—इन विषयोंके सम्बन्धमें कभी भी कोई चर्चा नहीं होती। जब तक तत्त्वका यथार्थ विवेचन न हो तब तक प्रेम और सङ्कीर्त्तन, क्या वस्तु हैं, कैसे जाना जा सकता है?

न्यायरत्न—अच्छी बात है। मैंने यह माना कि आजकल अच्छे पण्डित नहीं हैं। किन्तु उच्च श्रेणीके ब्राह्मण लोग वैष्णवधर्मको क्यों नहीं स्वीकार करते हैं? ब्राह्मण—सात्विक वर्णके हैं। सत्यपथ और उत्तम धर्मके प्रति ब्राह्मणोंकी स्वाभाविक ही रुचि होती है। फिर क्या कारण है कि अधिकांश ब्राह्मण वैष्णवधर्मके विरोधी होते हैं?

वैष्णवदास—जब आप पूछ रहे हैं तो मुझे बाध्य होकर कहना पड़ता है। वैष्णवजन स्वभावसे ही दूसरोंकी चर्चा नहीं किया करते। यदि आप कष्ट न मानें और सत्यको जाननेकी हार्दिक इच्छा रखते हैं, तो मैं आपके शेष प्रश्नका उत्तर देने की चेष्टा करूँ।

न्यायरत्न—जो कुछ हो, शास्त्रोंका अध्ययन करके हम शम, दम और तितिक्षाके पक्षपाती हैं। हम आपकी बातोंको सह न सकेंगे, ऐसी कोई बात नहीं है। आप बिना किसी हिचकिचाहटके स्पष्ट रूपसे कहिये। हम अच्छी बातोंका आदर करते हैं।

वैष्णवदास—देखिये, रामानुज, मध्व, विष्णुस्वामी और निम्बादित्य—ये सभी ब्राह्मण हैं। उनके हजारों-हजारों ब्राह्मण शिष्य थे। गौड़ देशमें हमारे श्रीचैतन्य महाप्रभुजी वैदिक ब्राह्मण हैं। हमारे नित्यानन्द प्रभु राढ़ीय ब्राह्मण हैं, हमारे अद्वैत प्रभु वारेन्द्र ब्राह्मण हैं तथा हमारे गोस्वामी और सन्तजन अधिकांश ही ब्राह्मण हैं। हजारों-हजारों उच्च श्रेणीके ब्राह्मण आजकल वैष्णवधर्म ग्रहणकर उसका समग्र विश्वमें प्रचार कर रहे हैं। ऐसी दशामें आप यह कैसे कह सकते हैं कि उच्च श्रेणीके ब्राह्मण वैष्णवधर्मका आदर नहीं करते हैं? हम जानते हैं, जो ब्राह्मण वैष्णवधर्मका आदर करते हैं वे अत्यन्त उच्च श्रेणीके ब्राह्मण हैं। किन्तु कुल और सङ्गके दोषसे तथा असत् शिक्षाके कारण कुछ लोग ब्राह्मण वंशमें जन्म ग्रहण करनेपर भी वैष्णवधर्मसे विद्वेष करते हैं। इससे उनके दुर्भाग्य और पतनका ही परिचय मिलता है। उनके ब्राह्मणत्त्वका नहीं। विशेषतः शास्त्रानुमोदित सब्राह्मण कलिकालमें बहुत ही अल्प हैं और वे अल्पसंख्यक ब्राह्मण ही वैष्णव हैं। ब्राह्मण जिस समय वेद माता गायत्रीको प्राप्त करता है, उसी समयसे वह दीक्षित वैष्णव हो जाता है। कलिके संसर्गसे उनमें कुछ लोग पुनः अवैदिकी दीक्षा ग्रहणकर वैष्णवधर्मका परित्याग कर देते हैं। अतएव वैष्णव-ब्राह्मणोंकी संख्या अल्प देखकर किसी प्रकारका भूल सिद्धान्त न कर लीजियेगा।

न्यायरत्न—नीच जातियोंके लोग ही अधिकांश रूपमें वैष्णवधर्म क्यों स्वीकार करते हैं?

वैष्णवदास—इसमें सन्देहका कोई कारण नहीं। नीच जातियोंमें अधिकांश व्यक्ति अपनेको दीन-हीन समझते हैं। इसीलिए वे वैष्णवोंके दयापात्र होते हैं। वैष्णवोंकी कृपाके अतिरिक्त वैष्णव नहीं हुआ जा सकता है। जातिमद और धनमद आदिमें उन्मत्त रहनेपर दीनता हृदयको स्पर्श नहीं कर पाती है। अतएव ऐसे लोगोंके लिए वैष्णवोंकी कृपा लाभ करना बड़ा ही दुर्लभ होता है।

न्यायरत्न—मैं इस विषयको और आगे नहीं बढ़ाना चाहता। मैं देखता हूँ कि आप क्रमशः शास्त्रोंके उन्हीं कठोर वचनोंको उद्धृत करेंगे जो कलियुगी ब्राह्मणके सम्बन्धमें कहे गये हैं। वाराहपुराणोक्त **"राक्षसाः कलिमाश्रित्य जायन्ते ब्रह्मयोनिषु"** आदि वचनोंको सुनकर हमें बहुत ही दुःख होता है। इसलिए इस विषयकी चर्चा न छेड़ुँगा। अच्छा, यह तो बतलाइये

कि आप लोग ज्ञानके अनन्त स्वरूप श्रीशङ्कराचार्यका आदर क्यों नहीं करते हैं?

वैष्णवदास—आप कह क्या रहे हैं? हमलोग श्रीशङ्कराचार्यको श्रीमहादेवका अवतार मानते हैं। श्रीमन् महाप्रभुने उन्हें आचार्यरूपमें सम्मान करनेकी शिक्षा दी है। हमलोग शङ्कराचार्यका आदर करते हैं। किन्तु उनके द्वारा प्रकाशित मायावादको स्वीकार नहीं करते। मायावाद वैदिकधर्म नहीं है, बल्कि प्रच्छन्न-बौद्धमत है। आसुरी प्रवृत्तिके मनुष्योंके लिए भगवान्‌की आज्ञासे शङ्कराचार्यने वेद-वेदान्त और गीतादिका विपरीत अर्थ करके अद्वैतवाद नामका एक असत् मत प्रकाशित किया है। इसमें आचार्यका दोष ही क्या है जिससे उनकी निन्दा की जाये? बुद्धदेव भगवान् के अवतार हैं। उन्होंने भी वेद-विरुद्ध बौद्धमतका प्रचार किया है। ऐसा होनेपर भी क्या कोई आर्य सन्तान उनकी निन्दा करती है? यदि कहिये, श्रीभगवान् और महादेवजीके ऐसे-ऐसे कार्य शोभा नहीं देते, क्योंकि इससे वैषम्य दोष आ पड़ता है, तो उत्तर यह है कि विश्वपालक भगवान् और उनके कर्म-सचिव महादेव सर्वज्ञ और सर्वमङ्गलमय हैं। उनमें वैषम्य दोष नहीं आ सकता। उनके कार्योंका गम्भीर अर्थ न समझनेके कारण ही अज्ञ और क्षुद्र जीव उनकी निन्दा करते हैं। भगवान् और उनके कर्म, मनुष्यके मन और बुद्धिकी पहुँचसे परे हैं। इसलिए बुद्धिमान मनुष्योंका यह कहना कि "ईश्वरका यह कार्य ठीक नहीं है, ऐसा होना उचित था"—ठीक नहीं है। असुर स्वभाववाले लोगोंको माया जालमें आबद्धकर रखनेका क्या प्रयोजन है—यह तो वही सर्वनियन्ता परमेश्वर ही जानते हैं। जीवोंकी सृष्टि करनेका और प्रलयकालमें फिर उन्हें ध्वंस करनेका तात्पर्य क्या है—इसे हमलोगोंके जाननेका कोई उपाय नहीं है। यह सब कुछ भगवान्‌की लीला है। भगवद्भक्तजन तो भगवान्‌की लीला-कथाओंके श्रवणमें ही आनन्द प्राप्त करते हैं, इनके सम्बन्धमें किसी प्रकारका तर्क-वितर्क करना पसन्द नहीं करते।

न्यायरत्न—आपलोग मायावादको वेद-वेदान्त और गीताके विरुद्ध क्यों कहते हैं।

वैष्णवदास—यदि आप उपनिषदों और वेदान्त-सूत्रोंको पढ़े हों, तो कृपया उन मन्त्रों और सूत्रोंको बतलावें जिससे मायावादकी पुष्टि होती है। मैं उनका यथार्थ और सरल अर्थ बतलाकर प्रमाणित कर दूँगा कि वे मायावादकी पुष्टि नहीं करते। किसी-किसी मन्त्रोंमें मायावादका आभास अवश्य पाया जाता है, किन्तु आगे और पीछेके मन्त्रोंकी विवेचना करनेपर उनका अर्थ स्पष्ट ही झलकने लगता है और मायावादकी पुष्टि करनेवाला अर्थ तत्क्षण तिरोहित हो जाता है।

न्यायरत्न—भाई! मैंने उपनिषद् और वेदान्त नहीं पढ़े हैं। न्यायशास्त्रका विषय होनेपर कमर कस सकता हूँ। घटको पट कर सकता हूँ और पटको घट बना सकता हूँ। गीताका थोड़ा-सा अध्ययन तो अवश्य किया है, किन्तु उसमें विशेष प्रवेश नहीं है। फलस्वरूप मुझे यहाँपर चुप हो जाना पड़ा। अच्छा, एक बात और पूछना चाहता हूँ। आप बड़े विद्वान् हैं, अतएव भलीभाँति समझा दीजियेगा। वैष्णवजन विष्णुके प्रसादके प्रति अत्यन्त श्रद्धा रखते हैं, किन्तु अन्य देवी-देवताओंके प्रसादके प्रति अश्रद्धा क्यों करते हैं? वे अन्य देवी-देवताओंका प्रसाद क्यों नहीं ग्रहण करते?

वैष्णवदास—मैं पण्डित नहीं, नितान्त मूर्ख हूँ। मैं जो कुछ बोल रहा हूँ, वह इन अपने गुरुदेव परमहंस महाराजकी कृपासे ही बोल रहा हूँ। शास्त्र अनन्त हैं। किसीने भी सम्पूर्ण शास्त्रोंका अध्ययन नहीं किया है। शास्त्ररूपी समुद्रका मन्थन करके गुरुदेवने मुझे जो

सार शिक्षा दी है, मैंने उसे ही समस्त शास्त्रोंके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तके रूपमें ग्रहण किया है। आपके प्रश्नका उत्तर यह है कि वैष्णवजन दूसरे—दूसरे देवी-देवताओंके प्रसादके प्रति अश्रद्धाका भाव नहीं रखते। श्रीकृष्ण समस्त ईश्वरोंके भी ईश्वर अर्थात् परमेश्वर हैं। देव-देवियाँ उनकी दास-दासियाँ अर्थात् भक्त हैं। भक्तोंके प्रसादके प्रति वैष्णवजन कभी भी अश्रद्धा प्रकट नहीं कर सकते हैं, क्योंकि भक्तोंके प्रसाद सेवासे शुद्धभक्तिकी प्राप्ति होती है। भक्तोंकी चरणधूलि, उनका चरणामृत और अधरामृत—ये तीनों ही भवरोगको दूर करनेमें महौषधि स्वरूप है। सच्ची बात तो यह है कि मायावादी चाहे जिस देवताकी पूजा करें अथवा अन्न आदि नैवेद्य अर्पण करें, मायावादकी निष्ठारूप दोषके कारण वे देवता उस नैवेद्य आदिको ग्रहण नहीं करते हैं। शास्त्रोंमें इसके भूरि-भूरि प्रमाण हैं। जिज्ञासा करनेपर बतला सकता हूँ। देवी-देवताओंके पुजारी अधिकतर मायावादी हुआ करते हैं। उनका दिया हुआ देवप्रसाद ग्रहण करनेसे भक्तिकी हानि होती है और भक्तिदेवीके निकट अपराधी बनना पड़ता है। यदि कोई शुद्ध वैष्णव कृष्णको अर्पित किया हुआ प्रसाद अन्य देव-देवियोंको अर्पण करता है, तो वे देव-देवियाँ बड़े प्रेमसे उसे ग्रहणकर नृत्य करने लगती हैं। फिर तो वैष्णवलोग भी उनका प्रसाद प्राप्तकर आनन्द लाभ करते हैं। और भी एक बात देखिये, शास्त्रोंकी आज्ञा ही बलवान है। योगशास्त्रमें योगाभ्यासी साधकको दूसरे-दूसरे देवी-देवताओंका प्रसाद ग्रहण करनेका निषेध किया गया है। इसका अर्थ यह नहीं है कि योगी अन्यान्य देवताओंके प्रसादके प्रति अश्रद्धाका भाव रखते हैं। क्योंकि योग-साधनमें प्रसादका त्याग करनेसे ध्यानको एकाग्र करनेमें बड़ा उपकार होता है। इसी प्रकार भक्ति-साधनमें भी उपास्य देवताके अतिरिक्त किसी भी दूसरे देवताका प्रसाद खानेसे अनन्य भक्ति सिद्ध नहीं होती। इसलिए ऐसा समझना भूल है कि वैष्णवजन अन्य देवी-देवताओंके प्रसादसे घृणा करते हैं। केवल शास्त्राज्ञानुसार अपने-अपने प्रयोजनकी सिद्धिके लिए प्रयत्न किया जाता है। बस यही समझियेगा।

न्यायरत्न—अच्छा, यह तो समझ गया, किन्तु आप लोग शास्त्र—सम्मत यज्ञमें पशुवधका विरोध क्यों करते हैं?

वैष्णवदास—पशुओंका वध करना शास्त्रोंका उद्देश्य नहीं है। वेदमें **"मा हिंस्यात् सर्वाणि भूतानि"**—इस मन्त्रके द्वारा पशुहिंसाका निषेध किया गया है। मानव स्वभाव जब तक तामसिक और राजसिक रहता है, तब तक मनुष्य स्वभावतः स्त्रीसङ्ग, मांस भक्षण और मद्यपानमें आसक्त रहता है। मनुष्योंको उपरोक्त कार्योंमें प्रवृत्त कराना वेदोंका उद्देश्य नहीं, बल्कि उनका उद्देश्य तो उन्हें उन-उन कार्योंसे निवृत्त कराना है। उपरोक्त प्रकारके उच्छृङ्खल प्रवृत्तियोंका क्रमशः दमन करनेके लिए वेदोंमें मद्य, मांस और मैथुनकी व्यवस्था दी गयी है, जैसे अनियमित समयमें मैथुन करनेवालोंके लिए विवाह द्वारा मैथुनकी व्यवस्था, निरन्तर पशुवध करके मांसभक्षण करनेवालोंके लिए केवल यज्ञके समय ही मांसभक्षणकी व्यवस्था और विशेष-विशेष अवसरोंपर विशेष क्रियाओंमें ही मद्यपानकी व्यवस्था है। इन व्यवस्थाओंका विधिवत् पालन करनेसे मनुष्योंकी कुप्रवृत्तियाँ क्रमशः संकुचित होते-होते अन्तमें सम्पूर्ण रूपसे निवृत्त हो जाती हैं। वेदोंमें पशुओंका वध करनेकी आज्ञा नहीं दी गयी है, बल्कि उसका तात्पर्य इन शब्दोंमें देखिये—

लोके व्यवायामिषमद्यसेवा नित्यास्तु जन्तोर्न हि तत्र चोदना।

व्यवस्थितिस्तेषु विवाहयज्ञसुराग्र है रासु निवृत्तिरिष्टा॥[१०]

(श्रीमद्भा० ११/५/११)

इस विषयमें वैष्णवलोगोंका सिद्धान्त यह है कि यदि तामसिक और राजसिक प्रवृत्तिवाले मनुष्य पशुवध करें, तो कोई आपत्ति नहीं, किन्तु सात्त्विक प्रवृत्तिवाले मनुष्यों द्वारा प्राणिहिंसा करना कर्त्तव्य नहीं है। जीवहिंसा पशु-वृत्ति है—

अहस्तानि सहस्तानामपदानि चतुष्पदाम्।
फल्गूनि तत्र महतां जीवो जीवस्य जीवनम्॥[११]

(श्रीमद्भा० १/१३/४७)

मनुस्मृतिका निर्णय भी सुस्पष्ट है—

प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला॥[१२]

(मनुस्मृति ५/५६)

न्यायरत्न—अच्छा, पितृ ऋणसे उद्धार होनेके लिए जो श्राद्धादि कर्म किये जाते हैं, उसमें वैष्णवलोग आपत्ति क्यों करते हैं?

वैष्णवदास-कर्मोंमें आसक्त पुरुष जो कर्मकाण्डके अनुसार श्राद्ध करते हैं, उसमें वैष्णवोंकी कोई आपत्ति नहीं है। शास्त्र तो केवल इतना ही निर्देश करते हैं—

देवर्षिभूताप्तनृणां पितॄणां न किंकरो नायमृणी च राजन्।
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम्॥

(श्रीमद्भा० ११/५/४१)

अर्थात् जो मनुष्य सब प्रकारसे भगवान्‌की शरणमें आ चुका है, वह देवताओं, ऋषियों, पितरों, प्राणियों, कुटुम्बियों और अतिथियोंके ऋणसे मुक्त हो जाता है। वह किसीके अधीन, किसीका सेवक अथवा किसीके बन्धनमें नहीं रहता। अतएव पितृऋणसे उद्धार पानेके लिए कर्मकाण्डीय श्राद्ध आदि कर्मोंका विधान भगवान् के शरणागत भक्तोंके लिए नहीं है। उनके लिए भगवान्‌की पूजाकर पितरोंको भगवत्-प्रसाद अर्पण करके बन्धु-बान्धवोंके साथ भगवत्-प्रसाद पाना ही एकमात्र विधि है।

न्यायरत्न—ऐसी अवस्था और अधिकार कबसे माना जाये?

---

(१०) संसारमें देखा जाता है कि मद्य, मांस और मैथुनकी ओर प्राणियोंकी स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है तब उन्हें उनमें प्रवृत्त करनेके लिए विधान तो हो ही नहीं सकता। ऐसी स्थितिमें विवाह, यज्ञ और शौत्रामणि यज्ञके द्वारा ही उनके सेवनकी व्यवस्था दी गयी है, उसका अर्थ है—लोगोंकी उच्छृङ्खल प्रवृत्तिका नियन्त्रण। उनका मर्यादामें स्थापन। वास्तवमें उनकी ओरसे लोगोंको हटाना ही वेदोंका गूढ़ तात्पर्य है।

(११) हाथवालोंके बिना हाथवाले, पैरोंवाले पशुओंके बिना पैरवाले (तृणादि) और बड़े-बड़े जीवोंके छोटे-छोटे जीव आहार हैं। इस प्रकार एक जीव दूसरे जीवके जीवनका कारण हो रहा है।

(१२) (मैथुन, मांस और मद्यमें मनुष्योंकी स्वाभाविक प्रवृत्ति होनेपर भी) इन विषयोंसे निवृत्त होना ही महाफलदायक होता है।

वैष्णवदास—जिस समयसे हरिनाम और हरिकथामें श्रद्धा उत्पन्न हो जाये, उसी समयसे वैष्णवका यह अधिकार उत्पन्न होता है—

तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता।
मत्कथा श्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते॥[१३]

(श्रीमद्भा० ११/२०/९)

न्यायरत्न—मुझे आपके विचारोंको सुनकर बड़ी खुशी हुई। अगाध पाण्डित्य और विचारोंकी सूक्ष्मता देखकर मुझे वैष्णवधर्ममें आज श्रद्धा उत्पन्न हो गयी। भाई हरिहर! शुष्क तर्कसे कोई लाभ नहीं है। ये महामहोपाध्याय पण्डित हैं। शास्त्रोंके विवेचनमें अतिशय निपुण हैं। अपने व्यवसायकी रक्षाके लिए हम लोग जो कुछ भी क्यों न कहें, किन्तु निमाई पण्डित जैसा प्रतिभाशाली पण्डित और उत्तम वैष्णव इस बङ्गभूमिमें ही क्यों समस्त भारतमें कभी पैदा हुआ है या नहीं—सन्देह है। चलो, अब उस पार चलें। दिन डूब रहा है। अन्धकार होनेसे नदी पार होनेमें कष्ट होगा।

इतना सुनकर अध्यापकोंके दलने "हरि बोल, हरि बोल" कहकर प्रस्थान किया। इधर वैष्णवलोग भी भगवान् श्रीशचीनन्दन गौरहरिकी जय देकर नृत्य करने लगे।

॥दसवाँ अध्याय समाप्त॥

---

(१३) कर्मके सम्बन्धमें जितने भी विधि-निषेध हैं उनके अनुसार तभी तक कर्म करना चाहिये जब तक कर्ममय जगत् और उससे प्राप्त होनेवाले स्वर्ग आदि सुखोंसे वैराग्य न हो जाये अथवा जब तक मेरी लीला-कथाओंके श्रवण-कीर्त्तन आदिमें श्रद्धा न हो जाये।

ग्यारहवाँ अध्याय
नित्यधर्म और पौत्तलिकता

भागीरथीके पश्चिमी तटपर कुलिया पहाड़पुर नामक एक ग्राम है। यह ग्राम श्रीनवद्वीपके अन्तर्गत कोलद्वीपमें अवस्थित है। श्रीमन् महाप्रभुजीके समय उसी गाँवमें श्रीमाधवदास चट्टोपाध्याय (नामान्तर छकौड़ी चट्टोपाध्याय) नामक एक वैष्णव रहते थे। श्रीवंशीवदनानन्द ठाकुर इन्हींके पुत्र थे। श्रीचैतन्य महाप्रभुजीकी कृपासे वंशीवदनानन्दजीमें विशेष प्रभुताका आविर्भाव हुआ था। सभी लोग उन्हें कृष्णकी वंशीका अवतार मानकर उन्हें वंशीवदनानन्द प्रभु ही कहते थे। श्रीविष्णुप्रियाजीके वे बड़े ही कृपापात्र थे। श्रीप्रियाजीके अप्रकट होनेके बाद इन्होंने श्रीप्रियाजी द्वारा सेवित श्रीमूर्तिको श्रीधाममायापुरसे कुलिया पहाड़पुरमें पधराया था। तबसे कुछ दिनों तक तो उस श्रीमूर्त्तिकी सेवा उनके वंशधर ही करते रहे। किन्तु जब ये लोग श्रीजाह्नवीमाताकी कृपा पाकर कुलिया-पहाड़पुरसे श्रीपाट बाघनापाड़ा चले गये, तब मालञ्चवासी सेवायितोंने श्रीमूर्तिको कुलियामें ही रखकर सेवा करना आरम्भ किया।

प्राचीन नवद्वीपके दूसरे पारमें कुलिया गाँव है। कुलियामें चिनाडाङ्गा आदि अनेक प्रसिद्ध पल्लियाँ थीं। चिनाडाङ्गामें एक भक्त वणिक थे। उन्होंने कुलिया पहाड़पुरके मन्दिरमें एक बार एक पारमार्थिक महोत्सव किया था। उस उत्सवमें बहुत-से ब्राह्मण-पण्डितों और सोलह कोस नवद्वीपके अन्तर्गत समस्त वैष्णवोंको निमन्त्रण दिया गया था। महोत्सवके दिन चारों ओरसे वैष्णवगण पधारे। श्रीनृसिंहपल्लीसे श्री अनन्तदास आदि, श्रीमायापुरसे श्रीगौराचाँददास बाबाजी आदि, श्रीविल्व पुष्करिणीसे श्रीनारायणदास बाबाजी प्रभृति, श्रीमोदद्रुमके प्रसिद्ध नरहरिदास, श्रीगोद्रुमसे श्रीपरमहंस बाबाजी और श्रीवैष्णवदास तथा श्रीसमुद्रगढ़से श्रीशचीनन्दनदास आदि वैष्णवजन पधारे। सबके ललाटपर ऊर्ध्वपुंड्र तिलक, गलेमें तुलसीकी माला और समस्त अङ्गोंपर श्रीगौरनित्यानन्दकी मुद्रा (छाप) शोभा पा रही थी। सबके हाथोंमें श्रीहरिनामकी माला थी। कोई-कोई जोर-जोरसे "हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥" इस महामन्त्रका गान कर रहे थे। कोई-कोई मृदङ्ग और करतालके साथ सङ्कीर्त्तन करते हुए आ रहे थे। कोई-कोई "श्रीकृष्णचैतन्य प्रभु नित्यानन्द। श्री अद्वैत गदाधर श्रीवासादि गौर भक्तवृन्द॥" कीर्त्तन करते हुए नाचते-नाचते चले आ रहे थे।

अनेकोंकी आँखोंसे आँसुओंकी धारा बह रही थी। किसी-किसीके अङ्ग पुलकित थे। कोई-कोई बढ़े ही कातर होकर क्रन्दन करते-करते कह रहे थे—"हा गौरकिशोर! तुम्हारे नवद्वीपकी नित्यलीलाका दर्शन कब होगा।" कोई-कोई वैष्णवजन मृदङ्ग आदि वाद्योंके साथ 'नाम' गान करते-करते चले आ रहे थे। कुलियाकी सुन्दरियाँ वैष्णवोंके परमोच्चभावका दर्शनकर अपने भाग्यकी प्रशंसा कर रही थीं। इस प्रकार चलते-चलते जब वैष्णववृन्द श्रीमन् महाप्रभुके नाट्यमन्दिरमें उपस्थित हुए तो, भक्तवणिक अपने गलेमें वस्त्र डालकर वैष्णवोंके चरणोंमें गिरकर तरह-तरहसे अपनी दीनता प्रकट करने लगे। वैष्णवजनोंके नाट्यमन्दिरमें बैठ जानेपर मन्दिरके सेवायितोंने उनके गलेमें भगवान्‌की प्रसादी माला पहनायी। उसके बाद श्रीचैतन्यमङ्गलका कीर्त्तन होने लगा। श्रीचैतन्यदेवकी अमृतमयी लीलाओंका श्रवणकर वैष्णवोंमें नाना प्रकारके सात्त्विक भाव प्रकट होने लगे। जिस समय ये लोग इस

प्रकार प्रेमानन्दमें विभोर हो रहे थे, एक द्वारपालने अधिकारियोंको सूचना दी कि सातसाईका परगनाके प्रधान मौलवी साहब दलबल के साथ मण्डपके बाहर आकर बैठे हैं। वे वैष्णव-पण्डितोंके साथ कुछ बातचीत करना चाहते हैं। अधिकारियोंने समागत पण्डित बाबाजी—मण्डलीमें मौलवी साहबके आगमन और उनकी अभिलाषाकी बात कही। ऐसा सुनते ही वैष्णव-मण्डलीमें रस-भङ्ग हो जानेके कारण कुछ विषाद-सा छा गया।

मौलवी साहबका अभिप्राय क्या है?—मध्यद्वीपके कृष्णदास बाबाजीने अधिकारियोंसे पूछा।

"मौलवी साहब पण्डित वैष्णवोंके साथ पारमार्थिक विषयपर बातचीत करना चाहते हैं। मौलवी साहब मुसलमानोंमें एक अद्वितीय पण्डित हैं तथा दूसरे धर्मोके प्रति इनके हृदयमें ईर्षा-द्वेषकी तनिक भी भावना नहीं है। दिल्लीके सम्राट्के दरबारमें इनका बड़ा सम्मान है। हमारी प्रार्थना है कि दो चार पण्डित-वैष्णव उनके साथ शास्त्रार्थ करें, क्योंकि इसमें पवित्र वैष्णवधर्मकी जय होनेकी सम्भावना है।" मन्दिरके अधिकारियोंने बड़ी ही नम्रतासे उत्तर दिया।

वैष्णवधर्मका प्रचार हो सकता है—सुनकर कुछ वैष्णवोंके मनमें मौलवी साहबसे बातचीत करनेकी इच्छा उत्पन्न हुई। अन्तमें सबने मिलकर निश्चय किया कि—मायापुरके गौराचाँददास पण्डित बाबाजी, गोद्रुमके वैष्णवदास बाबाजी, जह्नुनगरके प्रेमदास बाबाजी और चम्पाहटके कलिपावनदास बाबाजी—ये लोग मौलवी साहबके साथ बातचीत करें और बाकी सभी श्रीचैतन्यमङ्गल-गीत समाप्त होनेपर वहाँ जायें। परामर्श हो जानेपर उक्त चारों बाबाजी "जय नित्यानन्द" की ध्वनि देकर मौलवी साहबके पास चले।

मन्दिरके बाहर एक प्रशस्त मण्डप है। पास ही एक बहुत बड़ा पीपलका पेड़। इसीकी घनी और शीतल छायामें मौलवी साहब अपने दलके साथ बैठे थे। वैष्णवोंको आते देखकर वे सभी लोग उठ खड़े हुए और उनकी अभ्यर्थनाकर सबको सम्मानके साथ बैठाया। वैष्णवगण सबको कृष्णका दास जानकर मौलवियोंके हृदयमें विराजमान वासुदेवको दण्डवत् कर एक पृथक् आसनपर बैठ गये। उस समय एक अपूर्व शोभा हुई। एक ओर श्वेत दाढ़ियोंसे युक्त पचास मुसलमान पण्डित सजधज कर बैठे हैं। उनके पीछे कुछ सुसज्जित घोड़े बँधे हुए हैं। दूसरी ओर दिव्य-दर्शनधारी चार वैष्णव विनीत भावसे बैठे हुए हैं इनके पीछे बहुत-से हिन्दू अत्यन्त उत्सुक होकर बैठे हैं और बहुत-से और भी आ आकर बैठते चले जा रहे हैं।

पण्डित गोराचाँदने पहले ही पूछा—महोदयगण, आपलोगोंने हम अकिंचनोंको क्यों बुलवाया है?

मौलवी बदरुद्दीन साहबने विनयपूर्वक उत्तर दिया—पहले आप हमारा सलाम ग्रहण करें। हमलोग आपलोगोंसे कुछ प्रश्न करना चाहते हैं?

पण्डित गोराचाँदने कहा—हमलोग क्या जानते हैं जो आपके पाण्डित्यपूर्ण प्रश्नोंका उत्तर देंगे?

बदरुद्दीन साहबने कुछ आगे बढ़कर कहा—हिन्दूसमाजमें प्राचीन कालसे देव-देवियोंकी पूजा चली आ रही है। हम 'कुरान शरीफ' में देखते हैं कि "अल्ला दो नहीं—एक हैं। वे निराकार हैं उनकी प्रतिमा पूजनेसे अपराध होता है।" मुझे इस विषयमें सन्देह है तथा इस

सन्देहको दूर करनेके लिए अनेक ब्राह्मण-पण्डितोंसे जिज्ञासा भी की है। वे कहते हैं—अल्ला निराकार है, परन्तु निराकार वस्तुका चिन्तन असम्भव है, इसलिए अल्लाके एक आकारकी कल्पनाकर पूजा करनी होती है परन्तु इस बातसे हमें सन्तोष नहीं होता। क्योंकि कल्पित आकार शैतान द्वारा निर्मित होता है जिसे बुत कहते हैं। ऐसी बुत-पूजा नितान्त निषिद्ध है। इससे अल्लाको सन्तुष्ट करना तो दूर रहा, उलटे दण्डका भागी बनना पड़ता है। हमने सुना है आपलोगोंके आदि प्रचारक श्रीचैतन्यदेवने हिन्दू-धर्मको निर्दोष बताया है। फिर भी इनके सम्प्रदायमें 'बुत-परस्त' अर्थात् भूत-पूजाकी व्यवस्था दीख पड़ती है। हमलोग जानना चाहते हैं कि शास्त्र-विचारमें इतना निपुण होनेपर भी आपलोग भूत-पूजाका परित्याग क्यों नहीं करते?

मौलवी साहबका प्रश्न सुनकर पण्डित-वैष्णवजन मन-ही-मन हँसने लगे। फिर परस्पर परामर्शकर पण्डित गोराचाँदको मौलवी साहबके प्रश्नोंका उत्तर देनेके लिए कहा। पण्डित गोराचाँदजीने "जैसी आज्ञा" कहकर प्रश्नोंका उत्तर देना प्रारम्भ किया—

आपलोग जिन्हें अल्ला कहते हैं, हम उन्हें भगवान् कहते हैं। परमेश्वर एक ही हैं। कुरान तथा पुराणोंमें देश और भाषाके भेदसे परमेश्वरके अनेक नाम हैं। विचार यह है कि जो नाम परमेश्वरके समस्त भावोंको व्यक्त करता है, वह विशेष रूपसे आदरणीय है। इसीलिए हम लोग 'अल्ला', 'ब्रह्म', 'परमात्मा'—इन नामोंमेंसे 'भगवान्' नामके प्रति अधिक श्रद्धा रखते हैं। जिससे बड़ा और कुछ भी नहीं है, उस पदार्थका नाम ही अल्ला है। अत्यन्त बृहत् भावको ही हम परम भाव नहीं मानते। जिस भावमें सबसे अधिक चमत्कारिता है, मधुरता है, वही भाव अधिक आदरणीय है। अत्यन्त बृहत् कहनेसे एक प्रकारकी चमत्कारिता तो होती है, किन्तु उसके विपरीत भाव—अत्यन्त 'सूक्ष्म भाव' में भी एक प्रकारकी चमत्कारिता है। अतएव 'अल्ला' नाम द्वारा चमत्कारिताकी सीमाका बोध नहीं होता अर्थात् 'अल्ला' में बृहत्व तो है, किन्तु सूक्ष्मत्व नहीं। किन्तु 'भगवान्'—इस शब्दसे मानव-चिन्तामें जितनी प्रकारकी चमत्कारिताएँ हैं, उन सबका बोध होता है।

समग्र 'ऐश्वर्य' अर्थात् बृहत्ता और सूक्ष्मताकी सीमा भगवान्का पहला लक्षण है। सर्वशक्तिमत्ता भगवान्का दूसरा लक्षण है। मानव बुद्धिके परेके व्यापार अचिन्त्यशक्तिके अधीन होते हैं। भगवान् अपनी अचिन्त्यशक्ति द्वारा युगपत् साकार और निराकार दोनों हैं। वे साकार नहीं हो सकते—ऐसा माननेसे उनकी अचिन्त्यशक्तिको अस्वीकार करना होता है। उसी शक्तिद्वारा अपने भक्तोंके निकट भगवान् नित्य-लीला-मूर्तिमय हैं। 'अल्ला', अथवा 'ब्रह्म', या 'परमात्मा' केवल निराकार होनेके कारण विशेष चमत्कारितासे रहित हैं। (तीसरा लक्षण) भगवान् सर्वदा मङ्गलमय और यशपूर्ण हैं। अतएव उनकी लीला अमृतमयी है। (चौथा लक्षण) भगवान् 'सौन्दर्यपूर्ण' हैं। समस्त जीवगण अपने अप्राकृत नेत्रोंसे उन्हें अतीव सुन्दर पुरुषके रूपमें दर्शन करते हैं। (पाँचवाँ लक्षण) भगवान् 'अशेष-ज्ञान' अर्थात् विशुद्ध, पूर्ण, चित्-स्वरूप जड़ातीत वस्तु हैं। उनका चित्-स्वरूप ही उनकी मूर्ति है। उनकी वह मूर्त्ति 'बुत' या भूतोंसे परे होती है। (छठवाँ लक्षण) भगवान् सबके स्वामी (कर्त्ता) होकर भी स्वतन्त्र और निर्लेप हैं—ये छह लक्षण भगवान्में लक्षित होते हैं।

उन भगवान्के दो प्रकाश हैं अर्थात् ऐश्वर्यप्रकाश और माधुर्यप्रकाश। माधुर्यप्रकाश ही जीवोंका परम बन्धु है। वही हमारे हृदयनाथ 'कृष्ण' या 'चैतन्य' हैं। भगवान्की कल्पित

मूर्त्ति पूजाको बुत-परस्त या भूत पूजा कहनेसे हम लोगोंके मतके विरुद्ध नहीं होता। भगवान्‌के नित्य विग्रहकी (जो सम्पूर्ण चिन्मय होता है) पूजा करना वैष्णवोंका धर्म है। इसलिए वैष्णवोंकी विग्रह-पूजा बुत-परस्त नहीं होती। किसी पुस्तकमें बुत-परस्तका निषेध होनेसे ही वह निषिद्ध नहीं हो सकती। जो व्यक्ति पूजा करता है, उसके हृदयकी निष्ठाके ऊपर ही सब कुछ निर्भर करता है। उसका हृदय भूत-पूजासे जितना ही परे होता है, वह उतने ही शुद्ध रूपमें विग्रहकी पूजा करता है। आप मौलवी हैं, परम पण्डित हैं, आपका हृदय भूतातीत हो सकता है, किन्तु आपके जो सब अपण्डित चेले हैं, क्या उनका हृदय भूत—चिन्तासे रहित हो गया है? जितनी दूर तक भूत-चिन्ता है, वे उतनी ही दूर तक भूत-पूजा किया करते हैं। मुखसे निराकार तो कहते हैं, किन्तु हृदय भूत—चिन्तासे भरा है। शुद्ध-विग्रह-पूजा सामाजिक होनी कठिन है। वह केवल अधिकारीके अनुसार व्यक्तिगत चीज है। अर्थात् जो भूत-चिन्तासे ऊपर उठ गये हैं, वे ही शुद्ध रूपमें विग्रहकी सेवा-पूजा कर सकते हैं। मैं आपसे विशेष अनुरोध करूँगा कि आप इस विषयपर गौरसे विचारकर देखें।

मौलवी साहब—मैंने खूब गौरसे विवेचन कर देखा है कि आप लोगोंने 'भगवान्' शब्दमें जिन छह चमत्कारिताओंको संयुक्त किया है, कुरान शरीफ में 'अल्ला' शब्दमें भी वही चमत्कारिताएँ बतलायी गयी हैं। 'अल्ला' शब्दका अर्थ लेकर तर्क-वितर्क करनेकी आवश्यकता नहीं, अल्ला ही भगवान् हैं।

गोराचाँद—अच्छी बात है, यदि ऐसा ही है, तो आपने परमवस्तुका सौन्दर्य और ऐश्वर्य स्वीकार किया। अतएव इस जड़ जगत्‌से पृथक् चित्-जगत्‌में उनका सुन्दर स्वरूप स्वीकृत हुआ। यही हमलोगोंके श्रीविग्रह हैं।

मौलवी—परम वस्तुके चित्-स्वरूप-श्रीविग्रहकी बात हमारे कुरानमें भी लिखी गयी है—अतएव हमलोग उसे माननेके लिए बाध्य हैं। किन्तु उस चित्-स्वरूपकी कोई प्रतिमूर्ति तैयार करनेसे वह जड़स्वरूप हो पड़ती है। इसीको हमलोग भूत (बुत) कहते हैं। भूत-पूजा करनेसे परम वस्तुकी पूजा नहीं होती। इस विषयमें अपना विचार व्यक्त कीजिये।

गौराचाँद—वैष्णव—शास्त्रोंमें भगवान्‌की विशुद्ध-चिन्मय-मूर्तिकी पूजाकी व्यवस्था है। उच्चश्रेणीके भक्तोंके लिए पार्थिव वस्तु अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि आदि भूतोंसे उत्पन्न वस्तुकी पूजा करनेका विधान नहीं है—

यस्यात्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके स्वधीः कलत्रादिषु भौम इज्यधीः।
यत्तीर्थबुद्धिः सलिले न कर्हिचिज्जनेष्वभिज्ञेषु स एव गोखरः॥[१]

(श्रीमद्भा० १०/८४/१३)

भूतानि यान्ति भूतेज्या।[२]

(गीता ९/२५)

---

(१) जो मनुष्य वात, पित्त और कफ—इन तीन धातुओंसे बने हुए शवतुल्य शरीरको ही आत्मा—'मैं', स्त्री-पुत्र आदिको ही 'मेरा' और मिट्टी, पत्थर, काष्ठ आदि पार्थिव विकारोंको ही इष्टदेव मानता है तथा जो केवल जलको ही तीर्थ समझता है—भगवद्भक्तोंको नहीं, वह मनुष्य होनेपर भी पशुओंमें नीच गधा ही है।

(२) भूत-पूजक भूत-लोकमें गमन करता है।

इत्यादि सिद्धान्त वाणियोंसे भूत–पूजाकी अप्रतिष्ठा ही सूचित होती है। किन्तु इसमें एक विशेष बात है। मनुष्य ज्ञान और संस्कारके तारतम्यसे अधिकारभेद प्राप्त होता है। जिन्होंने शुद्ध चिन्मय भावको समझ लिया है, केवल वे ही चिन्मय—विग्रहकी उपासना करनेमें समर्थ हो सकते हैं। उस विषयमें जो जितने ही नीचे हैं, वे उतने ही कम समझ सकते हैं। अत्यन्त निम्नाधिकारी व्यक्तिको चिन्मय भावकी उपलब्धि नहीं होती। इसलिए ये लोग मनसे भी ईश्वरका ध्यान करनेपर जड़ीय मूर्त्तिकी ही कल्पना किया करते हैं। मृन्मयी—मूर्त्तिको ईश्वर—मूर्ति समझना और मनके द्वारा जड़मयी—मूर्त्तिका ध्यान करना एक ही बात है। अतएव उस अधिकारीके लिए प्रतिमाकी पूजा करना कल्याणजनक है। वास्तवमें प्रतिमापूजा न करनेसे साधारण जीवोंका अमङ्गल होता है। साधारण जीव जब ईश्वरके प्रति उन्मुख होता है, तब अपने सामने ईश्वरकी प्रतिमा न देखकर वह हताश हो पड़ता है।

जिन धर्मोंमें प्रतिमा–पूजा नहीं है उस धर्मके निम्नाधिकारी व्यक्ति नितान्त विषयी और ईश्वर–विमुख होते हैं। अतएव मूर्तिपूजा मानव–धर्मकी आधार–शिला है। महाजनोंने विशुद्ध ज्ञान–योग द्वारा परमेश्वरकी जिस मूर्त्तिका दर्शन किया है, वे भक्ति द्वारा पवित्र हुए अपने चित्तमें उसी शुद्ध चिन्मय मूर्त्तिकी भावना करते हैं। भावना करते–करते जब भक्तका चित्त जगत्‌की प्रति प्रसारित होता है तभी जड़–जगत्‌में उस चित्–स्वरूपका प्रतिफलन अङ्कित होता है। भगवत्–मूर्ति इसी प्रकार महापुरुष (महाजन) द्वारा प्रतिफलित होकर प्रतिमा हुई है। वही प्रतिमा उच्च अधिकारियोंके लिए सर्वदा चिन्मय–विग्रह है, मध्यमाधिकारीके लिए मनोमय विग्रह है तथा निम्नाधिकारीके लिए पहले–पहले जड़मय विग्रह होनेपर भी क्रमशः भाव द्वारा शोधित बुद्धिके ऊपर चिन्मय–विग्रहके रूपमें उदित होती है अतएव समस्त अधिकारियोंके लिए श्रीविग्रहकी प्रतिमा भजनीय और पूजनीय है। कल्पित मूर्त्तिकी पूजाकी आवश्यकता नहीं, किन्तु नित्य मूर्त्तिकी प्रतिमा अतिशय मङ्गलमय होती है। वैष्णव सम्प्रदायोंमें इस प्रकार विभिन्न अधिकारियोंके लिए प्रतिमा–पूजाकी व्यवस्था दी गयी है। इसमें तनिक भी दोष नहीं है। क्योंकि इसी व्यवस्थासे जीवोंका उत्तरोत्तर कल्याण होता है। श्रीमद्भा० (११/१४/२६) में कहते हैं—

यथा यथात्मा परिमृज्यतेऽसौ मत्पुण्यगाथाश्रवणाभिधानैः।
तथा तथा पश्यति वस्तु सूक्ष्मं चक्षुर्यथैवाञ्जनसम्प्रयुक्तम्॥[३]

जीवात्मा इस जगत्‌की जड़ीय मन द्वारा आवृत है। ऐसी आत्मा अपनेको जाननेमें तथा परमात्माकी सेवा करनेमें समर्थ नहीं होती। श्रवण और कीर्त्तनरूप भक्तिका साधन करते–करते क्रमशः आत्माकी शक्ति बढ़ती है। शक्ति वृद्धि होनेपर जड़ीय बन्धन ढीला पड़ जाता है। जड़–बन्धन जितना ही ढीला होता जाता है, आत्माकी अपनी वृत्ति भी उसी परिमाणमें प्रबल होती जाती है एवं साक्षात् दर्शन और साक्षात् क्रिया उन्नति लाभ करती है। कोई–कोई कहते हैं—"अतत्–वस्तुको दूरकर तत्–वस्तु लाभ करनेका प्रयत्न करो।" इसे शुष्क—

---

(३) उद्धवजी! मेरी परम पवित्र लीला–कथाके श्रवण–कीर्त्तनसे ज्यों–ज्यों चित्तका मैल धुलता जाता है, त्यों–त्यों उसे मेरे जड़ातीत चिन्मय सूक्ष्म–स्वरूपका दर्शन होने लगता है—जैसे अञ्जनके द्वारा नेत्रोंका दोष मिटनेपर उनमें सूक्ष्म वस्तुओंको देखनेकी शक्ति आने लगती है।

ज्ञान कहा जा सकता है। जीवोंमें अतत्—वस्तुको परित्याग करनेकी शक्ति कहाँ है? कारागारमें बन्द कैदी अपने अपराधोंकी सजा भोगता है। निश्चित सजा भोगे बिना समयके पहले ही यदि वह जेलसे मुक्त होनेकी अभिलाषा करे तो क्या वह मुक्त हो सकता है? जिस अपराधमें वह बंदी किया गया है, उस अपराधको क्षय करना ही तात्पर्य है। जीवात्मा भगवान्‌का नित्यदास है। इसे भूल जाना ही उसका अपराध है। इसी अपराधके कारण वह माया द्वारा बद्ध हो पड़ता है। संसारमें सुख-दुःख और पुनः-पुनः जन्म-मरणका भोग करता है। फिर संसार भोग करते-करते सर्वप्रथम जिस किसी कारणसे क्यों न हो, ईश्वरकी तरफ थोड़ी-सी भी रुचि होनेपर श्रीमूर्तिका दर्शन करते-करते और भगवान्‌की लीला-कथा सुनने-सुनते उसका पूर्वस्वभाव (नित्य कृष्ण-दास्य) बल प्राप्त करता है। उसका यह स्वभाव जितना ही दृढ़ होता है, वह उतना ही चित्-साक्षात्कारके योग्य होता है। श्रीमूर्तिका सेवन तथा उसके सम्बन्धमें श्रवण और कीर्त्तन ही अति निम्नाधिकारीके लिए एकमात्र उपाय है। इसलिए महाजनोंने श्रीमूर्त्तिसेवाकी व्यवस्था की है।

मौलवी—जड़वस्तु द्वारा एक मूर्ति कल्पना करनेकी अपेक्षा क्या मन-ही-मन ध्यान करना अच्छा नहीं है?

गोराचाँद—दोनों ही एक समान हैं। मन जड़के अनुगत होता है। अतएव वह जो कुछ भी चिन्तन करता है, जड़वस्तुका ही चिन्तन करता है। जैसे "ब्रह्म सर्वव्यापी है"—कहनेसे हमारा मन ब्रह्मके सर्वव्यापित्वकी चिन्ता कैसे करेगा?

वह बेचारा तो उसे आकाशकी तरह ही मानेगा। इससे ऊपर वह जा ही कैसे सकता है? "ब्रह्मकी चिन्ता कर रहा हूँ"—ऐसा कहनेसे कालगत ब्रह्मका उदय अवश्य ही होगा। देश और काल जड़ीय वस्तुएँ हैं। यदि मानस ध्यान देश और कालसे परे न हुआ, तब जड़ातीत वस्तु कहाँ मिली? मिट्टी जल आदिको परित्याग कर दिक और देशादिमें ईश्वरकी कल्पना की गयी। यह सब भूत-पूजा है। जड़ पदार्थोंमें एक भी ऐसा पदार्थ नहीं, जिसे अवलम्बनकर चित्-वस्तु पायी जा सके। वह पदार्थ है केवलमात्र-ईश्वरके प्रति भाव, जो केवलमात्र जीवात्मामें निहित है। ईश्वरका नामोच्चारण, लीला-गान और प्रतिमा (श्रीमूर्ति) में उद्दीपन प्राप्त होनेपर ही वह भाव क्रमशः बलवान होकर भक्ति हो पड़ता है। ईश्वरका चिन्मय-स्वरूप केवल भक्ति द्वारा ही अनुभूत होता है, ज्ञान और कर्म द्वारा नहीं।

मौलवी—जड़वस्तु ईश्वरसे पृथक् है। कहते हैं, जीवोंको जड़में बाँध रखनेके लिए शैतानने जड़-पूजाकी व्यवस्था कर दी है। अतएव मेरे विचारसे जड़-पूजा न करना ही अच्छा है।

गोराचाँद—ईश्वर अद्वितीय हैं। उनके समान और कोई नहीं है। जगत्‌में जो कुछ है, सब उनके द्वारा निर्मित है तथा उनके अधीन है। अतएव किसी भी वस्तुका अवलम्बनकर उनकी उपासना क्यों न की जाये, उनकी परितुष्टि हो सकती है। ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है, जिसकी उपासना करनेसे उनकी हिंसा हो। वे परम मङ्गलमय हैं। इसलिए यदि शैतान नामका कोई रहे भी, तो ईश्वरकी इच्छाके विरुद्ध उसमें कुछ भी करनेकी शक्ति नहीं हो सकती। यदि शैतान हो भी तो वह ईश्वरके अधीन एक जीव ही होगा। परन्तु हमारे विचारसे ऐसा प्रकाण्ड जीव सम्भव नहीं। क्योंकि ईश्वरकी इच्छा के विरुद्ध इस जगत्‌में कोई भी कार्य नहीं हो सकता है, तथा ईश्वरसे स्वतन्त्र कोई भी व्यक्ति नहीं है। "पाप

कहाँसे उत्पन्न हुआ?"—आप यह पूछ सकते हैं। हम उत्तर देंगे—जीवमात्र भगवान्‌का दास है। इस ज्ञानको विद्या कहा जा सकता है और इस ज्ञानको भूल जाना ही अविद्या है। किसी कारणसे जो सब जीव उस अविद्याका आश्रय लिए हैं, उन सबने अपने हृदयमें पाप बीज बोया है। जो नित्य पार्षद जीव हैं, उनके हृदयमें वह पाप बीज नहीं होता। शैतान नामक एक विचित्र व्यापारकी कल्पना न कर उपरोक्त अविद्या तत्त्वको भलीभाँति समझना आवश्यक है। अतएव भौतिक विषयोंमें ईश्वरकी उपासना करनेसे अपराध नहीं लगता। निम्न अधिकारीके लिए यह नितान्त आवश्यक है तथा उच्चाधिकारीका भी इससे विशेष कल्याण होता है। हमारे विचारसे "श्रीमूर्तिकी पूजा करना अनुचित है"—यह कथन एक मतवादमात्र है। इस कथनकी पुष्टिकी न तो कोई युक्ति है और न कोई शास्त्रीय प्रमाण।

मौलवी—श्रीमूर्तिकी पूजा करनेसे ईश्वरका भाव प्रशस्त नहीं होता। उपासकके मनमें सर्वदा भौतिक भावनाएँ ही प्रबल रहती हैं।

गोराचाँद—प्राचीन इतिहासोंके अनुशीलनसे आपके सिद्धान्तके दोषोंका पता लग सकता है। बहुत-से व्यक्ति अति निम्न-अधिकारसे श्रीमूर्तिकी पूजा आरम्भ करते हैं और सत्सङ्गके प्रभावसे उनका भाव जितना ही उच्च होता जाता है, वे उतना ही श्रीमूर्तिका चिन्मयत्व, उपलब्धिकर प्रेम-सागरमें निमग्न होते हैं। अटल सिद्धान्त यह है कि—सत्सङ्ग ही सबका मूल है। चिन्मय भगवद्भक्तका सङ्ग होनेपर चिन्मय भगवद्भाव उदित होता है और भौतिक भाव दूर हो जाता है। क्रमशः उन्नत होना सौभाग्यकी बात है। दूसरी तरफ आर्यधर्मके अतिरिक्त समस्त धर्मोंके साधारण लोग श्रीमूर्तिपूजाके विरोधी हैं किन्तु विचारपूर्वक देखिये, उनमें से कितने लोग चिन्मय भावको प्राप्त हुए हैं? वितर्क और हिंसामें ही दिन व्यतीत करते हैं, भगवद्भक्तिका उन्होंने अनुभव ही कब किया?

मौलवी—यदि आन्तर भावसे भगवद्भजन होता है, तो मूर्तिपूजा स्वीकार करनेमें कोई दोष नहीं है। मैं इसे मानता हूँ। किन्तु कुत्ता, बिल्ली, सर्प, लम्पट पुरुष आदिकी पूजा करनेसे भला भगवद्भजन कैसे हो सकता है? पूज्यपाद पैगम्बर साहबने ऐसी भूत-पूजा (बुतपरस्त) का विशेष तिरस्कार किया है।

गोराचाँद—प्रत्येक मनुष्य ईश्वरके प्रति कृतज्ञ है। वह जितना भी पाप क्यों न करे, बीच-बीचमें ईश्वर एक परम वस्तु है—इसे विश्वासकर जगत्‌की अद्भुत वस्तुओंको नमस्कार किया करता है। सूर्य, नदी, पर्वत, बड़े-बड़े जीव-जन्तु—इन सबको मूढ़-जीव ईश्वरकी कृतज्ञतासे उत्तेजित होकर स्वभावतः नमस्कार करता है एवं उनके निकट अपने हृदयकी बातोंको व्यक्तकर आत्मनिवेदन करता है। चिन्मय भगवद्भक्ति और इस प्रकारकी भूत-पूजामें विशेष अन्तर रहनेपर भी ईश्वरके प्रति कृतज्ञता स्वीकारकर जड़वस्तुओंको नमस्कार करनेका फल क्रमशः अच्छा ही होता है। अतएव युक्तिपूर्वक विचार करनेसे उन्हें दोष नहीं दिया जा सकता। सर्वव्यापी निराकार ईश्वरका ध्यान और उसके प्रति नमाज आदि भी शुद्ध चिन्मय भावसे रहित है, यदि ऐसा ही हुआ तो बिल्ली-पूजक आदिसे उनका पार्थक्य ही क्या रहा? हम लोगोंके विचारसे किसी प्रकारसे भी क्यों न हो, ईश्वरके प्रति भावोदय और भावालोचना होनेकी नितान्त आवश्यकता है। यदि उन निम्नाधिकारियोंका तिरस्कार किया जाये अथवा उनकी दिल्लगी उड़ायी जाये तो जीवोंकी क्रमोन्नतिका द्वार एकदम बन्द करना होगा। मतवादोंके चक्कर में पड़कर जो लोग साम्प्रदायिक हो पड़ते हैं, उनमें उदारताका

अभाव होता है। इसलिए वे अपनेसे भिन्न उपासकोंका तिरस्कार करते हैं। उनका ऐसा करना नितान्त भूल है।

मौलवी—फिर क्या ऐसा कहना होगा कि सारी वस्तुएँ ईश्वर हैं और उन सबकी पूजा ईश्वरकी पूजा है? पाप-वस्तुओंकी पूजा करना भी क्या ईश्वरकी पूजा है। क्या ईश्वर इस प्रकारकी पूजाओंसे सन्तुष्ट होता है?

गोराचाँद—हमलोग सभी वस्तुओंको ईश्वर नहीं कहते। इन सारी वस्तुओंसे ईश्वर एक पृथक् वस्तु है। सारी वस्तुएँ ईश्वर द्वारा सृष्ट और उसके अधीन हैं। इन सभी वस्तुओंसे ईश्वरका सम्बन्ध है। इसी सम्बन्धके कारण सारी वस्तुओंमें ही ईश्वर-जिज्ञासा हो सकती है समस्त वस्तुओंमें ईश्वर-जिज्ञासा होते-होते 'जिज्ञासा-आस्वादनावधि'—इस सूत्रके अनुसार चिन्मय-वस्तुका आस्वादन होता है। आपलोग परम पण्डित हैं। थोड़ा उदार दृष्टिकोणसे इस विषयपर विचार करेंगे। हमलोग अकिञ्चन वैष्णव हैं। अधिक तर्क-वितर्कमें प्रवेश करना नहीं चाहते। आज्ञा हो तो हमलोग श्रीचैतन्यमङ्गल-गीत सुनने जायें।

मौलवी साहबने इन सब बातोंको सुनकर क्या निश्चय किया, समझमें नहीं आता। वे कुछ देर तक मौन रहकर बोले—आपलोगोंके विचारोंसे मैं बड़ा खुश हुआ। किसी दिन और आकर फिर कुछ जिज्ञासा करूँगा। आज बड़ी देर हो गयी है, जाना चहता हूँ।

ऐसा कहकर मौलवी साहब दल-बलके साथ घोड़ोंपर चढ़कर 'सातसाईका' परगनाकी ओर चल पड़े। बाबाजी लोगोंके दलने भी आनन्दसे हरि-ध्वनि देकर श्रीचैतन्यमङ्गल-गानमें प्रवेश किया।

॥ग्यारहवाँ अध्याय समाप्त॥

बारहवाँ अध्याय
नित्यधर्म और साधन

जगत् के समस्त तीर्थोंमें श्रीनवद्वीपमण्डल प्रधान तीर्थस्थान है। श्रीवृन्दावनकी तरह श्रीनवद्वीपकी भी परिधि १६ कोस है। १६ कोस नवद्वीप अष्टदल कमल है। श्रीअन्तर्द्वीप इस कमलकी कर्णिकास्वरूप विराजमान है। इसी अन्तर्द्वीपके ठीक बीचों-बीचमें श्रीमायापुर स्थित है। श्रीमायापुरके उत्तरमें श्रीसीमन्तद्वीप है। सीमन्तद्वीपमें श्रीसीमन्तिनी देवीका मन्दिर है। मन्दिरके उत्तरमें बिल्वपुष्करिणी और दक्षिणमें ब्राह्मणपुष्करिणी नामक दो ग्राम हैं। साधारणतः बिल्वपुष्करिणी और ब्राह्मणपुष्करिणीको मिलाकर सिमुलिया कहते हैं। अतएव नवद्वीपके उत्तरमें सिमुलिया ग्रामकी स्थिति है। श्रीमन् महाप्रभुके समय यहाँपर बड़े-बड़े पण्डितोंका वास था। श्रीशचीदेवीके पिता श्रीनीलाम्बर चक्रवर्तीका इसी ग्राममें निवासस्थान था। इनके घरके निकट ही ब्रजनाथ भट्टाचार्य नामक एक वैदिक ब्राह्मण रहते हैं। बचपनसे ही ब्रजनाथकी बुद्धि तीक्ष्ण है। कुछ ही दिनोंमें वे न्यायशास्त्रके प्रकाण्ड विद्वान् हो गये तथा बिल्वपुष्करिणी, मायापुर, गोद्रुम, मध्यद्वीप, आम्रघट्ट, समुद्रगढ़, कुलिया, पूर्वस्थली आदिके बड़े-बड़े पण्डित ब्रजनाथके न्याय सम्बन्धी तर्क-वितर्कोंका लोहा मानने लगे। जहाँ कहीं भी पण्डितगण एकत्रित होते, ब्रजनाथ न्यायपंचानन अपने न्यायके तीक्ष्ण तर्क-वाणोंसे उन्हें बिद्धकर जर्जरित कर देते। एक दिन उनमेंसे एक नैयायिक पण्डित उनके तीक्ष्ण तर्कोंके आघातसे घायल होकर मन-ही-मन बड़ा दुःखी हुआ और उसने तन्त्र-शास्त्रोक्त 'मारणविद्या' द्वारा न्यायपंचाननको मार डालनेका सङ्कल्प किया। वह रुद्रद्वीपके श्मशानमें दिन-रात मारण मन्त्रका जप करने लगा।

अमावस्याकी रात है। चारों ओर गहरा अन्धकार है। आधी रातके समय नैयायिक पण्डित श्मशानके बीचमें आसन लगाकर अपने इष्टदेवका आवाहनकर कहने लगे—माँ! कलियुगमें केवलमात्र तू ही उपास्या है। सुना है, तू अत्यन्त अल्प जप द्वारा ही सन्तुष्ट होकर वर दिया करती हो। करालवदनि! तेरा दास बहुत दुःखी होकर अनेक दिनोंसे तेरा मन्त्र जप रहा है। तू एक बार दया कर। माँ मुझमें बहुत-से दोष हैं, फिर भी तू मेरी माँ है। मेरे सारे दोषोंको क्षमा कर आज दर्शन दे।

इस प्रकार आर्त्तनाद करते-करते नैयायिक पण्डितने ब्रजनाथ न्यायपंचाननके नामसे मन्त्र उच्चारणकर अग्निमें आहुति प्रदान की। आश्चर्य है मन्त्रकी शक्तिका! आहुतिका देना था कि आकाशमें काली-काली घटायें घिर आयीं। जोरोंकी हवा चलने लगी। रह-रहकर बिजली चमचम कर उठती। गड़गड़ाहट इतने जोरोंकी हुई मानो पास ही वज्रपात हो गया हो। उस समय बिजलीकी चमकमें एकसे एक विकट आकारवाले भूत-प्रेत दिखायी पड़ने लगे।

नैयायिक पण्डित कुछ डरे अवश्य, फिर भी अपनी सारी स्नायवीय शक्तिका सञ्चालन कर बोले—माँ! अब और देर न करो।

उसी समय आकाशमें दैववाणी हुई—चिन्ता न करो। ब्रजनाथ न्यायपंचानन अब अधिक दिनों तक तर्क-वितर्क न करेंगे। थोड़े ही दिनोंमें वे तर्क-वितर्क छोड़कर शान्त हो जायेंगे। तुम शान्त होकर घर लौट जाओ।

दैववाणी सुनकर नैयायिक पण्डित बड़े सन्तुष्ट हुए और तन्त्रकर्त्ता देवदेव महादेवको बारम्बार प्रणाम करते हुए अपने घर लौटे।

ब्रजनाथ न्यायपंचानन इक्कीस वर्षकी उम्रमें ही दिग्विजयी पण्डित हो गये। वे दिनरात 'श्रीगङ्गेशोपाध्यायकी' ग्रन्थावलीका अध्ययन करते रहते थे। काणभट्ट द्वारा रचित 'दीधिति' नामक न्यायके टिप्पणीग्रन्थमें अनेक दोष दिखाकर वे स्वतन्त्र रूपमें एक टिप्पणी—ग्रन्थकी रचना भी कर रहे थे। विषयकी तनिक भी चिन्ता नहीं थी अथच 'परमार्थ' शब्द भी कभी उनके कानोंमें नहीं पड़ा था। 'घट-पट' और 'अवच्छेद' व्यवच्छेद आदि लेकर तर्क करना ही उनका एकमात्र कार्य था। चलते-फिरते, उठते-बैठते दिन-रात पार्थिव—विशेष और द्रव्यकाल आदिकी चिन्तासे उनका हृदय भरपूर रहता था।

एक दिन शामको ब्रजनाथ भागीरथीके तटपर बैठे-बैठे गौतमके सोलह पदार्थोंका चिन्तन कर रहे थे। उसी समय एक न्यायशास्त्रके विद्यार्थीने आकर उनसे कहा—न्यायपंचानन महाशयजी! क्या आपने निमाई पण्डितकी 'परमाणु-खण्डन' सम्बन्धी फक्किका(१) को सुना है? न्यायपंचाननने सिंहकी तरह गर्जकर कहा—निमाई पण्डित कौन? क्या तुम जगन्नाथ मिश्रके पुत्रकी बात कह रहे हो? क्या उनकी कुछ फक्किका बतला सकते हो?

विद्यार्थी—कुछ दिन पहले इसी नवद्वीपमें निमाई पण्डित नामक एक महापुरुष हुए हैं। उन्होंने न्यायसम्बन्धी अनेक नयी-नयी फक्किकाओंकी रचनाकर 'काणभट्ट शिरोमणि' को तन कर दिया था। वे न्यायशास्त्रके तत्कालीन एक अद्वितीय विद्वान् थे। परन्तु न्यायशास्त्रमें पारङ्गत होकर भी वे न्यायशास्त्रको अत्यन्त तुच्छ समझते थे। केवल न्यायको ही नहीं, बल्कि समस्त संसारको अत्यन्त तुच्छ मानकर उन्होंने परिव्राजकका (संन्यास) पद ग्रहण किया था। आजकलके वैष्णवजन उन्हें पूर्णब्रह्म मानते हैं, तथा 'श्रीगौरहरि मन्त्र' द्वारा उनकी पूजा करते हैं। न्यायपंचानन महाशयजी! आप एक बार उनकी युक्तियोंको अवश्य देखें।

निमाई पण्डितकी न्यायसम्बन्धी फक्किकाओंकी प्रशंसा सुनकर ब्रजनाथ न्यायपञ्चाननको उन फक्किकाओंको जाननेके लिए कौतूहल पैदा हुआ। उन्होंने बहुत परिश्रमकर कहीं-कहींसे उनकी कुछ फक्किकाओंका संग्रह किया। मनुष्यका स्वभाव ही ऐसा होता है कि जिस विषयके प्रति उसकी श्रद्धा होती है उस विषयके अध्यापकोंपर वह स्वाभाविकरूपमें श्रद्धा करता है। खासकर जीवित महापुरुषोंके प्रति नाना कारणोंसे साधारण लोगोंकी श्रद्धा सहज ही नहीं हुआ करती। परलोक-प्राप्त महाजनोंके प्रति लोगोंकी अधिक श्रद्धा होती है। इसीलिए निमाई पण्डितकी फक्किकाओंका अनुशीलनकर ब्रजनाथके हृदयमें निमाई पण्डितके लिए दृढ़ श्रद्धा हुई।

वे कहने लगे—हा निमाई पण्डित! यदि मैं उस समय पैदा हुआ होता, तो तुमसे न जाने कितना ज्ञान अर्जन किया होता। निमाई पण्डित! तुम एक बार मेरे हृदयमें प्रवेश करो। तुम सचमुच ही पूर्ण ब्रह्म हो। यदि ऐसा न होता, तो क्या न्यायकी ऐसी-ऐसी सुन्दर फक्किकायें तुम्हारे मस्तिष्कसे निकल सकती थीं? तुम सचमुच ही गौरहरि हो, क्योंकि तुमने इन विचित्र फक्किकाओंकी सृष्टि करके अज्ञानरूप अन्धकारका विनाश किया है। अज्ञान = अन्धकार अर्थात् काला है। तुमने 'गौर' होकर उस 'कालिमाको' दूर किया है। तुम 'हरि' हो, क्योंकि जगत्का चित्त हरण कर सकते हो। तुम्हारी न्यायकी युक्तियों (फांकियों) ने मेरे

---

(१) फक्किका—कूट प्रश्न, न्याय शास्त्रमें प्रचलित अति सूक्ष्म, पूर्व-पक्ष। बँगला भाषामें इसे 'फाँकी' कहते हैं।

चित्तको हर लिया है।

ऐसा कहते-कहते ब्रजनाथ कुछ उन्मत्त होकर "हे निमाई पण्डित! हे गौर हरि! दया करो!" कहकर जोर-जोर से चिल्लाने लगे। "मैं कब तुम्हारे समान फक्किका सृष्टि कर सकूँगा? तुम्हारी दया होनेपर न्याय-शास्त्रका न जाने कितना बड़ा विद्वान् बन जाऊँगा?"

ब्रजनाथने मन-ही-मन सोचा—जो लोग गौरहरिकी पूजा करते हैं, ऐसा प्रतीत होता है कि वे मेरे ही जैसे निमाई पण्डितके प्रति न्याय-पाण्डित्यके कारण ही आकृष्ट हुए हैं। देखा जाये, गौरहरिके कौन-कौनसे न्याय-ग्रन्थ उनके निकट हैं? ऐसा सोचकर उन्होंने इसका अनुसन्धान करनेके लिए गौर-भक्तोंके साथ सत्सङ्ग करना आरम्भ किया। 'निमाई पण्डित', 'गौरहरि' आदि शुद्ध भगवन्नामोंका बारम्बार उच्चारण करनेसे तथा गौरभक्तोंके सङ्गकी इच्छा होनेसे ब्रजनाथकी एक बड़ी सुकृति हो गयी।

ब्रजनाथ एक दिन भोजन कर रहे थे। उनकी पितामही पास ही बैठकर उन्हें खिला रही थी। उन्होंने पितामहीसे पूछा—दादी! क्या तुमने गौरहरिको देखा था?

श्रीगौराङ्गका नाम सुनते ही ब्रजनाथकी पितामहीको अपने बाल्य-जीवनकी सारी बातें स्मरण हो आयीं। उन्होंने कहा—अहा! क्या ही मनोहर रूप था उनका? क्या उस मधुर मूर्तिको फिर देख सकूँगी? उस भुवनमोहन सुन्दर रूपको देखकर क्या कोई संसारी रह सकता है? जब वे भावावेशमें हरिसङ्कीर्त्तन करते, नवद्वीपके पशु-पक्षी, वृक्ष, लता आदि सभी प्रेममें मत्त होकर तन-मनकी सुध-बुध खो बैठते थे। आज भी जब वे भाव हमारे स्मरण-पथपर उदित होते हैं, तो आँखें अपने आप बरसने लगती हैं।

ब्रजनाथने फिर पूछा—दादी! क्या तुम उनके जीवनकी कोई घटना जानती हो?

पितामहीने उत्तर दिया—क्यों नहीं जानती हूँ, बेटा! जब वे शची-माताके साथ अपने मामाके घर आते, तब हमारे घरकी वृद्धाएँ उन्हें शाक और अन्न खिलाया करतीं। वे शाककी खूब प्रशंसा करते-करते बड़े प्रेमसे भोजन करते। उसी समय ब्रजनाथकी माताने उनके थालमें शाक परोसा। शाक देखकर उन्हें बड़ा आनन्द हुआ, वे नैयायिक निमाई पण्डितका अत्यन्त प्रिय शाक मानकर बड़े प्रेमसे भोजन करने लगे। परमार्थ—ज्ञानसे रहित ब्रजनाथ निमाई पण्डितकी पाण्डित्य-प्रतिभाके प्रति बड़े ही आकृष्ट हुए। निमाई पण्डित उनको बड़े अच्छे लगते। निमाईका नाम उनके कानोंको बड़ा ही प्रिय लगता। "जय शचीनन्दन" की आवाज देकर भिक्षा माँगनेवालोंको बड़े आदरके साथ भिक्षा देते। कभी-कभी मायापुर चले जाते, वहाँ बाबाजी लोगोंके निकट गौराङ्गका नाम श्रवण करते तथा उनके विद्याध्ययनके सम्बन्धमें अनेकों प्रश्न करते। इसी तरह दो चार महीने बीते। ब्रजनाथ, पहलेके ब्रजनाथ न रहे। सब बातोंमें अब उन्हें निमाई ही अच्छे लगते। न्यायके अध्ययन और अध्यापन तथा शुष्क तर्क-वितर्कोंमें अब उनकी तनिक भी रुचि न रही। धीरे-धीरे नैयायिक निमाईके बदले भक्त निमाईने उनके हृदय-राज्यपर अधिकार कर लिया। मृदङ्ग और करतालका शब्द सुनते ही उनका हृदय नाच उठता है। शुद्धभक्तोंको देखकर मन-ही-मन प्रणाम करते हैं। श्रीनवद्वीप भूमिको श्रीगौराङ्गदेवकी आविर्भावभूमि मानकर भक्ति करते हैं। उनके प्रतिद्वन्द्वी पण्डित उनकी ऐसी दशा लक्ष्यकर बड़े प्रसन्न हुए। अब वे निडर होकर घर से निकलने लगे। नैयायिक पण्डितने सोचा—उनके इष्टदेवने ही ब्रजनाथको निकम्मा बना दिया है। अब कोई डरकी बात नहीं है।

एक दिन ब्रजनाथ भागीरथीके किनारे एक निर्जन-स्थानमें बैठे-बैठे सोच रहे हैं यदि निमाई जैसा न्यायशास्त्रका प्रकाण्ड विद्वान् न्यायका परित्यागकर भक्तिपथका अवलम्बन कर सकता है, तब हमलोगोंको ही वैसा करनेमें क्या दोष है? जब तक मैं न्यायके घेरेमें बन्द था, तब तक न तो भक्तिके साथ मेरा कोई सम्बन्ध था और न मैं निमाईका नाम ही जानता था। उस समय मुझे खाने-पीने और सोनेके लिए भी समय नहीं मिलता था। किन्तु अब तो सम्पूर्ण विपरीत देख रहा हूँ। अब न्यायशास्त्रके विषय स्मरण नहीं रहते, बल्कि सर्वदा 'गौराङ्ग' नाम ही स्मरण होता रहता है। वैष्णवोंके भावपूर्ण नृत्य अत्यन्त मनोहर प्रतीत होते हैं। सब कुछ ठीक है, परन्तु मैं एक वैदिक ब्राह्मणकी सन्तान हूँ, कुलीन हूँ तथा समाजमें सम्मानित व्यक्ति हूँ। मानता हूँ—वैष्णवोंके समस्त व्यवहार अच्छे हैं, किन्तु मुझे उसमें प्रवेश करना उचित नहीं जान पड़ता। श्रीमायापुरके खोल-भाङ्गा-डाङ्गा तथा वैरागी-डाङ्गाके वैष्णवोंके दर्शनसे हृदय पवित्र हो जाता है। विशेषकर श्रीरघुनाथदास बाबाजीको देखनेसे हृदय श्रद्धासे भर जाता है। मन चाहता है—सर्वदा उनके निकट बैठकर भक्तिशास्त्रका अनुशीलन करता रहूँ। वेद भी परमार्थ-तत्त्वका दर्शन, श्रवण, मनन और अनवरत चिन्तन करनेके लिए उपदेश करते हैं—

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।

(बृ० उ० ४/५/६)

इस मन्त्रमें 'मन्तव्यः' शब्दसे न्यायशास्त्रके अनुशीलन द्वारा ज्ञान प्राप्त करनेके लिए उपदेश रहनेपर भी 'श्रोतव्य' शब्दसे कुछ और विषयोंकी भी आवश्यकता प्रतीत होती है। मैंने अपना बहुत-सा समय तर्क-वितर्कमें व्यर्थ ही गँवाया है। अब अधिक समय नष्ट न कर श्रीगौरहरिका भजन करना ही अच्छा है। आज शामके बाद श्रीरघुनाथदास बाबाजीका दर्शन करना श्रेयस्कर है।

भगवान् अंशुमाली बड़ी तीव्र गतिसे पश्चिम क्षितिजकी ओर बढ़ रहे हैं। उनकी लाल-लाल किरणें पृथ्वीतलको छोड़ वृक्षोंके शिखरोंमें खेल रही हैं। पक्षीगण भिन्न-भिन्न दिशाओंसे उड़-उड़कर अपने-अपने घोंसलोंमें प्रवेश करने लगे। शीतल-मन्द समीर प्रवाहित होने लगा था। धीरे-धीरे दो एक तारे भी आकाशमें दिखायी पड़ने लगे। उसी समय मायापुर श्रीवास-अङ्गनमें भगवान्‌की सन्ध्या-आरती आरम्भ हुई। वैष्णवगण मधुर स्वरसे आरती-कीर्त्तन करने लगे। उस समय ब्रजनाथ धीरे-धीरे श्रीवास-अङ्गनमें पहुँचे और बकुल वृक्षके नीचे चबूतरेपर बैठ गये। गौरहरिका आरती-कीर्त्तन सुनकर उनका चित्त अतिशय आर्द्र हो गया। आरती-कीर्त्तन समाप्त होनेपर वैष्णवगण उसी चबूतरेपर आकर क्रमशः बैठने लगे। वृद्ध रघुनाथदास बाबाजी भी "जय शचीनन्दन", "जय नित्यानन्द", "जय रूप-सनातन", "जय दासगोस्वामी" उच्चारण करते-करते उसी चबूतरेपर आकर बैठे। सबने उठकर उन्हें दण्डवत्-प्रणाम किया। ब्रजनाथ भी उन्हें प्रणाम किये बिना रह न सके। ब्रजनाथके मुखमण्डलका अपूर्व सौन्दर्य दर्शनकर बाबाजीने उन्हें गलेसे लगाकर अपने निकट बैठाया और पूछा—बेटा! तुम कौन हो?

ब्रजनाथने उत्तर दिया—मैं एक तत्त्व-पिपासु हूँ। आपसे कुछ शिक्षा ग्रहण करना चाहता हूँ।

पास ही बैठे एक वैष्णव ब्रजनाथका परिचय जानते थे। उन्होंने कहा—इनका नाम

ब्रजनाथ न्यायपंचानन है। सारे नवद्वीपमें इनके समान न्यायका विद्वान् और दूसरा नहीं है। आजकल इनकी शचीनन्दनके प्रति कुछ श्रद्धा हुई है।

ब्रजनाथकी विद्वत्ताकी बात सुनकर बाबाजीने बड़े ही नम्र शब्दोंमें कहा—बाबा! तुम तो बड़े भारी विद्वान् हो। हमलोग मूर्ख और अकिञ्चन हैं। तुम हमारे शचीनन्दनके धामवासी हो। हमलोग तुम्हारी कृपाके पात्र हैं। अतएव हमलोग तुम्हें क्या शिक्षा देंगे, तुम अपने गौराङ्गकी पवित्र कथाएँ सुनाकर हमारे जलते हुए प्राणोंको शीतल करो।

इस प्रकार बाबाजी महाराज और ब्रजनाथमें बातें होने लगीं। दूसरे-दूसरे वैष्णवजन वहाँसे उठकर अपने-अपने सेवा कार्योंमें चले गये। अब वे केवल दोनों ही उस जगह रह गये।

ब्रजनाथने कहा—बाबाजी महाराज! हमलोग ब्राह्मण कुलमें उत्पन्न हुए हैं, तिसपर भी विद्याका बड़ा अहङ्कार है। उच्च जाति और विद्याके अहङ्कारसे मत्त होकर पृथ्वीको गोष्पद तुल्य देखते हैं। साधुसन्तोंका सम्मान करना नहीं जानते। कह नहीं सकता, किस सौभाग्यके फलसे आपलोगोंके चरित्र और आचरणोंके प्रति मेरी कुछ श्रद्धा उत्पन्न हुई है। मैं आपसे दो-एक बातें पूछना चाहता हूँ, कृपाकर इनका उत्तर प्रदान करेंगे। मैं निष्कपट होकर आपके पास आया हूँ। आप सबसे पहले मुझे जीवोंके साध्य और साधनका उपदेश करें। न्यायशास्त्रका अध्ययनकर मैंने स्थिर किया है कि जीव ईश्वरसे नित्य पृथक् है तथा ईश्वरकी कृपा ही जीवोंकी मुक्तिका कारण है। जिस उपासनाका अवलम्बन करनेसे ईश्वरकी कृपा प्राप्त होती है, उसे साधन कहते हैं। साधन द्वारा जिस फलकी प्राप्ति होती है, उसे साध्य कहते हैं। मैंने न्यायशास्त्रसे अनेकों बार जिज्ञासा की है कि साध्य और साधन क्या हैं? परन्तु न्यायशास्त्र इस विषयमें बिलकुल मौन रहता है—कोई उत्तर नहीं देता है। आप साध्य-साधनके सम्बन्धमें अपना सिद्धान्त बतलानेकी कृपा करें।

श्रीरघुनाथदास बाबाजी श्रीरघुनाथदास गोस्वामीके शिष्य हैं तथा एक प्रकाण्ड विद्वान् एवं अनुभवी सन्त हैं। अनेक दिनों तक राधाकुण्डमें रहे हैं। वहाँ रहते समय प्रतिदिन तृतीय प्रहरके समय दास गोस्वामीके निकट श्रीचैतन्यदेवकी लीला कथाएँ श्रवण किया करते। श्रीरघुनाथदास बाबाजी और कृष्णदास कविराज गोस्वामीमें परस्पर तत्त्वकी चर्चाएँ चलती रहतीं। जहाँ कहीं भी इन्हें सन्देह होता, वे दासगोस्वामीके निकट जिज्ञासा करके अपना सन्देह दूर कर लेते। इस समय श्रीगौरमण्डलमें श्रीरघुनाथदास बाबाजी ही प्रधान विद्वान् बाबाजी हैं। श्रीगोद्रुमके प्रेमदास परमहंस बाबाजी के साथ इनकी बड़े प्रेमसे हरिचर्चाएँ होती रहती हैं।

ब्रजनाथका प्रश्न सुनकर रघुनाथदास बाबाजी खूब आनन्दित होकर बोले—न्याय पंचाननजी! न्यायशास्त्र पढ़कर जिसे साध्य-साधनके सम्बन्धमें जिज्ञासा उत्पन्न होती है, वे जगत् में धन्य हैं। क्योंकि न्यायशास्त्रका प्रधान उद्देश्य ही है—न्याय-विषयोंका संग्रह करना। जिन लोगोंने न्यायशास्त्रका अध्ययन करके केवल शुष्क तर्क करना ही सीखा है, उनका न्याय-पाठ व्यर्थ है। उनका परिश्रम ही सार हुआ। उनका जीवन व्यर्थ है।

साधन करनेपर जिस तत्त्वकी प्राप्ति होती है उसे 'साध्य' कहते हैं। उस साध्यको पानेके लिए जिस उपायका अवलम्बन किया जाता है, उसे साधन कहते हैं। मायामें फँसे हुए जीव अपनी-अपनी प्रवृत्तियों और अपने-अपने अधिकारोंके अनुसार साध्य विषयको

पृथक्-पृथक् रूपमें दर्शन करते हैं। वास्तवमें सारे जीवोंका साध्य-तत्त्व एक है।

प्रवृत्ति और अधिकारके अनुसार साध्य वस्तु तीन प्रकारकी है—भुक्ति, मुक्ति और भक्ति। जो लोग सांसारिक कर्मोंमें फँसे हुए हैं और सांसारिक कामनामें ही व्यस्त हैं, वे भुक्तिको अपना साध्य मानते हैं। शास्त्र कामधेनु हैं। जो मनुष्य जिस वस्तुको पानेकी कामना करता है, वह शास्त्रोंसे वही पाता है। कर्मकाण्डीय शास्त्रमें कर्माधिकारी व्यक्तियोंके लिए भुक्तिको अर्थात् सांसारिक सुख-भोगको ही साध्य कहा गया है। प्रापञ्चिक जगत्में जितने प्रकारके भावी सुखोंकी कामनाकी जा सकती है, वे सभी कर्मकाण्डीय शास्त्रोंमें निर्दिष्ट हैं। इस संसारमें जीव प्रापञ्चिक शरीर धारणकर इन्द्रिय सुखोंका ही विशेष आदर करता है। जड़ जगत् प्राकृत इन्द्रियोंके सुख भोगनेके लिए ही बनाया गया है। जन्मसे लेकर मृत्यु तक इन्द्रियों द्वारा विषय-सुखोंको भोग करनेका नाम 'ऐहिक सुख है। मृत्युके बादकी अवस्थामें इन्द्रिय सुखके भोगको 'आमुत्रिक सुख' कहते हैं। आमुत्रिक सुख अनेक प्रकारके होते हैं। स्वर्ग और इन्द्रलोकमें अप्सराओंका नृत्य दर्शन, अमृत भोजन, नन्दन-काननमें सुन्दर-सुन्दर पुष्पोंका सुगन्ध लेना, इन्द्रपुरी और नन्दन-काननकी शोभा देखना, गन्धर्वोंका गान सुनना और विद्याधरियोंके साथ संगम—इन्हें स्वर्गीय सुख कहते हैं। इसी प्रकार मह और जन लोकमें भी कुछ अल्प परिमाणमें सुख हैं। तप लोक और ब्रह्मलोकमें किञ्चित् परिमाणमें इन्द्रिय सुखोंका वर्णन किया गया है। भूलोक (पृथ्वी) में इन्द्रिय सुख अत्यन्त स्थूल होते हैं। ऊपरके लोकोंमें इन्द्रियाँ और उनके विषयसमूह क्रमशः सूक्ष्म होते जाते हैं। इन सारे लोकोंमें पाये जानेवाले सारे सुख ही इन्द्रिय सुख हैं। वहाँ चित् सुख नहीं है। बल्कि चिदाभास अर्थात् लिङ्गशरीर (सूक्ष्मशरीर) द्वारा भोगे जानेवाले सुख ही इन लोकोंमें विद्यमान होते हैं। इन सब सुखोंके भोगका नाम ही भुक्ति है। कर्मचक्रमें फँसे हुए जीवसमूह भुक्ति प्राप्त करनेकी आशासे उपायस्वरूप जिस कर्मका आश्रय करते हैं, उसे ही वे साधन कहते हैं। **'स्वर्गकामोऽश्वमेधं यजेत'** [२] (यजु. २/५/५) 'अग्निष्टोम', 'विश्वदेव-बलि', 'इष्टापूर्त्त', 'दर्श—पौर्णमासी' आदि अनेक प्रकारके भुक्तिके साधन शास्त्रोंमें निरूपित हुए हैं। भोग-प्रवृत्तिवाले पुरुषोंके लिए भुक्ति ही साध्य वस्तु है।

कुछ लोग संसारमें नाना प्रकारके दुःख-क्लेशोंसे तङ्ग आकर प्रापञ्चिक सुखोंको (चौदह लोकोंमें पाये जानेवाले ऐन्द्रिक सुखोंको) तुच्छ समझकर कर्मचक्रसे बाहर होनेकी कामना करते हैं। इनके विचार से मुक्ति ही एकमात्र साध्य-वस्तु है। वे लोग भुक्तिको बन्धन समझते हैं। इनका कहना है—जिन लोगोंकी भोगप्रवृत्ति दूर नहीं हुई है, वे लोग कर्मकाण्डका आश्रय करें अर्थात् कर्ममार्गको अपना साधन मानें, भुक्तिरूप साध्यको प्राप्त करनेका प्रयत्न करें और प्राप्त भी कर लें, परन्तु **"क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति"** [३] (गीता ९/२१)—इस श्लोकसे यह निश्चित रूपसे जाना जाता है कि भुक्ति कदापि नित्य नहीं होती अर्थात् अनित्य होती है।

अनित्य अथवा क्षयिष्णु वस्तु—प्रापञ्चिक होती हैं—आध्यात्मिक नहीं; नित्य-वस्तुकी प्राप्तिके लिए ही साधन करना कर्त्तव्य है। मुक्ति नित्य होती है। अतएव जीवोंके लिए वही

---

(२) स्वर्गकी अभिलाषा करनेवाले अश्वमेध यज्ञ करेंगे।

(३) पुण्यका क्षय होनेपर पुनः मर्त्य लोकमें प्रवेश करता है।

साध्य है। उसे वैराग्यादि साधन-चतुष्टयोंसे पाया जा सकता है। अतएव साधन-चतुष्टय ही यथार्थ साधन हैं। ज्ञानकाण्डीय शास्त्रोंमें साध्य-साधनका ऐसा ही विचार देखा जाता है।

शास्त्र—कामधेनु हैं। जीव जब जैसा अधिकार प्राप्त करता है, शास्त्र उस जीवके लिए उसके अधिकारके उपयोगी वैसी ही व्यवस्था देते हैं। यदि मुक्ति होनेपर भी जीवकी सत्ता विद्यमान रहे, तो ऐसी अवस्थामें मुक्ति ही चरम साध्य नहीं है। इसीलिए वे निर्वाण तक ही मुक्तिकी सीमा रखते हैं। वास्तवमें जीव नित्य है, अतः जीवोंके सम्बन्धमें वैसा निर्वाण सम्पूर्ण असम्भव है। **"नित्यो—नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्"** [(४)] (श्वे० उ० ६/१३) आदि वेदमन्त्रों द्वारा जीवोंकी नित्यता स्वीकृत है। नित्य-वस्तुकी निर्वाण-गति असम्भव है। मुक्त होनेपर भी जीवोंकी सत्ता अवश्य विद्यमान रहती है। जो लोग ऐसा विश्वास करते हैं, वे भुक्ति और मुक्तिको चरम साध्य नहीं मानते। मुक्ति और भुक्ति—ये दोनों अवान्तर साध्य वस्तु हैं। समस्त कार्योंमें ही साध्य और साधन हैं। जिस कार्यको उद्देश्य किया जाता है, उसे साध्य कहते हैं और जिस कार्यके द्वारा साध्य साधित होता है, उसे साधन कहते हैं। विचारपूर्वक देखनेपर साध्य और साधन जीवोंके लिए एक श्रृंखलमय तत्त्व है। अभी जो साध्य है, पीछे वही अगले साध्यके लिए साधन होता है। इस प्रकार साध्य-साधनरूप श्रृंखलका अवलम्बनकर इस श्रृंखलाके अन्तिम छोरपर जो साध्य प्राप्त होता है, वही अन्तिम और सर्वश्रेष्ठ साध्य है। वह पुनः साधन नहीं होता। क्योंकि उसके आगे और कोई भी साध्य तत्त्व नहीं है। इसलिए भक्ति ही चरम साध्य है। क्योंकि भक्ति ही जीवोंका नित्य-सिद्ध-भाव है।

मानव-जीवनका प्रत्येक कार्य साध्य—साधनरूप श्रृंखलाकी एक कड़ी है। ऐसी-ऐसी बहुत-सी कड़ियाँ मिलकर क्रमशः कर्म विभागका निर्माण करती हैं। फिर उससे आगे बहुत-सी कड़ियाँ मिलकर ज्ञानरूप विभागका निर्माण करती हैं। कर्मविभागका अन्तिम उद्देश्य भुक्ति है।

ज्ञान-विभागका अन्तिम लक्ष्य—मुक्ति है और भक्ति-विभागका चरम उद्देश्य—प्रेमभक्ति है। जीवोंकी सिद्ध सत्ताका विवेचन करनेपर ऐसा दृढ़ निश्चय होता है कि भक्ति ही साधन है तथा भक्ति ही साध्य है। कर्म और ज्ञान अन्तिम साध्य और साधन नहीं हैं। बल्कि मध्यवर्ती साध्य-साधन हैं।

ब्रजनाथ—**'केन कं पश्येत्'** [(५)] (बृ० उ० ४/५/१५ और २/४/२४) इत्यादि श्रुति मन्त्रोंसे तथा **'अहं ब्रह्मास्मि'** [(६)] (बृ० उ० १/४/१०), **'प्रज्ञानं ब्रह्म'** [(७)] (ऐत० उ० १/५/३), **'तत्त्वमसि श्वेतकेतो'** [(८)] (छा० उ० ६/८/७) आदि महावाक्योंके द्वारा भक्तिकी श्रेष्ठता और चरम साध्यता प्रमाणित नहीं होती। अतएव मुक्तिको चरम साध्य माननेमें क्या

---

(४) वे सारी नित्य वस्तुओंमें परम नित्य हैं अर्थात् सर्वश्रेष्ठ नित्य वस्तु और समस्त चेतन वस्तुओंमें वे चैतन्यदाता मूल चेतन हैं।

(५) कौन किस प्रकारसे किसे देखेगा?

(६) मैं ब्रह्म हूँ (बृहदारण्यकोपनिषद् १/४/१०)

(७) प्रज्ञान ब्रह्म है (ऐतरेयोपनिषद् २/४)

(८) तुम भी वही हो (छान्दोग्योपनिषद् ६/२५/३)।

दोष है?

बाबाजी—मैंने पहले ही बतलाया है कि प्रवृत्तिके अनुसार साध्य अनेक प्रकारके हैं। जब तक भुक्तिकी (भोगकी) कामना वर्त्तमान रहती है, तब तक मुक्ति नामक कोई भी तत्त्व स्वीकृत नहीं हो सकता। उसके अधिकारियोंके लिए—"**अक्षयं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः**"(९) (आपस्तम्ब श्रौतसूत्र २/१/१) इत्यादि अनेक वाक्य लिखे गये हैं। तब क्या 'मुक्ति' बुरी चीज है? कर्मीगण भुक्ति अर्थात् इन्द्रिय सुख ही चाहते हैं—मुक्तिका अनुसन्धान नहीं करते। तो क्या इसका अर्थ यह है कि वेदादि शास्त्रोंमें 'मुक्ति' का उल्लेख ही नहीं है? कतिपय कर्मी ऋषियोंका कथन है—समर्थ व्यक्तियोंके लिए कर्म करना ही कर्त्तव्य है, वैराग्य तो दुर्बल व्यक्तियोंके लिए है। ये सभी व्यवस्थाएँ निम्नाधिकारियोंको उनके अपने-अपने अधिकारोंके प्रति निष्ठा उत्पन्न करवानेके लिए दी गयी हैं। अधिकारसे च्युत होनेपर जीवोंका कल्याण नहीं हो सकता। अपने-अपने वर्त्तमान अधिकारमें पूर्ण निष्ठा रखते हुए कर्त्तव्य पालन करनेसे अगले उन्नत अधिकारमें सहज ही प्रवेश हो जाता है। अतएव वेदोंमें इस प्रकारकी निष्ठा उत्पन्न करानेवाली व्यवस्थाओंकी निन्दा नहीं की गयी है। यदि कोई ऐसी व्यवस्थाओंकी निन्दा करे, तो वह अधोगतिको प्राप्त होता है। संसारमें जितने भी उन्नत जीव हैं, वे सभी अपनी-अपनी अधिकार-निष्ठाका अवलम्बन करके ही उन्नत हुए हैं। कर्माधिकारमें कर्मोंकी ही अधिकतर प्रशंसा देखी जाती है। उनमें कर्मोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ मुक्ति-साधक-ज्ञानकी श्रेष्ठताका प्रतिपादन नहीं देखा जाता। उसी प्रकार ज्ञानाधिकारमें मुक्तिकी प्रशंसाके रूपमें उल्लिखित वेद-मन्त्रोंकी प्रतिष्ठा दृष्टिगोचर होती है।

जैसे कर्माधिकारके ऊपर ज्ञानाधिकार अवस्थित है, उसी प्रकार ज्ञानाधिकारके ऊपर भक्ति अधिकार अवस्थित है। 'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि' आदि मन्त्रों द्वारा ब्रह्मनिर्वाणकी प्रशंसासे मुमुक्षु व्यक्तियोंको उनके अपने-अपने अधिकारमें निष्ठा उत्पन्न करायी गयी है। इसलिए ज्ञानकी उत्कर्षता स्थापन करनेमें कोई दोषकी बात नहीं है। तथापि वही चरम नहीं है। जहाँ तक सिद्धान्तकी बात है, वेदमें भक्तिको ही साधन और प्रेमभक्तिको ही साध्यके रूपमें वर्णन किया गया है।

ब्रजनाथ—क्या महावाक्यमें अवान्तर साध्य और साधनकी बात रह सकती है?

बाबाजी—आप जिन वेद-वाक्योंको बतला रहे हैं, उन्हें वेदमें कहीं भी न तो महावाक्य ही कहा गया है और न उन्हें दूसरे-दूसरे वाक्योंसे श्रेष्ठ ही बतलाया गया है। ज्ञानाचार्योंने अपने मतकी प्रधानता स्थापित करनेके लिए इन वाक्योंको महावाक्य बतलाया है। वास्तवमें प्रणव ही (ॐ या ओंकार ही) महावाक्य है और उसके अतिरिक्त सारे वेदवाक्य प्रादेशिक वाक्य हैं। यों तो प्रत्येक वेदवाक्य को ही महावाक्य कहनेमें दोष नहीं है, परन्तु वेदका एक मन्त्र महावाक्य है और दूसरे मन्त्र साधारण वाक्य हैं—ऐसा कहनेसे मतवाद उठ खड़ा होता है और वेदके निकट अपराधी होना पड़ता है। वेदमें कहीं कर्मकाण्डकी प्रशंसा की गयी है, तो कहीं मुक्ति की। इस प्रकार वेदमें नाना प्रकारके अवान्तर साध्य-साधनोंका वर्णन देखा जाता है। परन्तु सिद्धान्त-स्थलमें चरम मीमांसाके रूपमें एकमात्र भक्तिको ही साध्य-साधन माना गया है।

---

(९) चातुर्मास्य व्रतका अनुष्ठान करनेवाला अक्षय स्वर्ग लाभ करता है।

वेद-शास्त्र गाय-स्वरूप हैं। इस गायका दोहन करनेवाले श्रीनन्दनन्दनने सिद्धान्त-स्थलमें वेदोंका चरम तात्पर्य इस प्रकार बतलाया है—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥(१०)

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥(११)

(गीता ६/४६-४७)

यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥(१२)

(श्वे० उ० ६/२३)

भक्तिरस्य भजनं तदिहामुत्रोपाधिनैरास्येनामुस्मिन् मनसः कल्पनम् (१३)

(गोपालतापनी पूर्व २/२)

आत्मानमेव प्रियमुपासीत (१४)

(बृ० उ० १/४/८)

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।(१५)

(बृ. उ. ४/५/६)

—इन वेदवाणियोंका अनुशीलन करनेसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ साधन है।

ब्रजनाथ-कर्मकाण्डमें कर्मफल-दाता ईश्वरके प्रति भक्ति करनेकी विधि है। ज्ञानकाण्डमें

---

(१०) अर्जुन! समस्त प्रकारके कर्मियों, तपस्वियों तथा ज्ञानियोंसे योगी श्रेष्ठ होता है। इसलिए तू योगी हो अर्थात् मेरे साथ योगयुक्त हो जा।

(११) सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो दृढ़ श्रद्धासे मुझमें लगे हुए अन्तरात्मासे मुझे निरन्तर भजता है, वही योगी मुझे परम श्रेष्ठ मान्य है।

(१२) जिस साधककी भगवान्में पराभक्ति है तथा जिस प्रकार भगवान में है उसी प्रकार अपने गुरुमें भी शुद्धाभक्ति है, उसी महात्माके सम्बन्धमें श्रुतियोंका रहस्यमय अर्थ सम्पूर्ण रूपसे प्रकाशित होता है।

(१३) श्रीकृष्णके प्रति भक्ति ही भजन है। लौकिकी और पारलौकिकी समस्त कामनाओंका परित्यागकर कृष्णके प्रति मनको समर्पणपूर्वक प्रेमकी अधिकता से तन्मय हो जाना ही भजन है।

(१४) आत्माकी ही (परमात्मा श्रीकृष्णकी ही) प्रीतिपूर्वक उपासना करो।

(१५) मैत्रेयि! परमात्माका ही दर्शन करना होगा, श्रवण करना होगा तथा अनवरत चिन्तन करना होगा।

भी भगवद्भक्तिकी व्यवस्था दीख पड़ती है। भक्ति यदि भुक्ति और मुक्ति प्राप्त करनेका साधन है, तब उसे साध्य कैसे कहा जा सकता है? वह भुक्ति और मुक्तिरूप साध्यको देकर स्वयं निरस्त हो जायेगी—यह साधारण बात है। आप कृपाकर इस विषयकी यथार्थ शिक्षा प्रदान करें।

बाबाजी—कर्मकाण्डमें भक्तिरूप साधन द्वारा भोगकी प्राप्ति होती है और ज्ञानकाण्डमें भक्तिरूप साधनसे मुक्तिकी प्राप्ति होती है—यह सत्य है। क्योंकि परमेश्वरके सन्तुष्ट हुए बिना कोई भी फल नहीं होता और परमेश्वर एकमात्र भक्तिसे ही सन्तुष्ट होते हैं। ईश्वर शक्तियोंके आश्रय हैं। जीवोंमें अथवा जड़वस्तुओंमें जो कुछ शक्ति है, वह ईश्वरकी ही शक्तिका अणु-प्रकाशमात्र है। कर्म अथवा ज्ञान ईश्वरको सन्तुष्ट नहीं कर सकता है। भगवद्भक्तिकी सहायतासे ही कर्म और ज्ञान फल प्रदान करते हैं, वे स्वतन्त्र रूपमें कोई फल प्रदान करनेमें असमर्थ हैं।

इसीलिए कर्म और ज्ञानमें भक्तिके आभासकी कुछ-कुछ व्यवस्था दिखलायी पड़ती है। इनमें जो भक्ति दिखलायी पड़ती है, वह शुद्धभक्ति नहीं, बल्कि भक्तिका आभासमात्र होता है।

भक्ति-आभास दो प्रकारका होता हैं—शुद्धभक्ति-आभास और विद्ध भक्ति-आभास। शुद्धभक्ति-आभासके सम्बन्धमें आगे आगे बतलाऊँगा। विद्धभक्ति-आभास तीन प्रकारके होते हैं—(१) कर्मविद्ध भक्त्याभास, (२) ज्ञानविद्ध भक्त्याभास और भक्त्याभास और (३) कर्म—ज्ञान उभय-विद्ध भक्त्याभास। यज्ञ आदिके समय, "हे इन्द्र! हे पूषन! आपलोग कृपा कर हमें यज्ञका फल दान करें।" इस प्रकारकी कामनाओंसे युक्त होकर जो सब भक्ति-आभासकी क्रियाएँ परिलक्षित होती हैं, वे सब कर्मविद्ध भक्त्याभास हैं। कर्मविद्ध भक्त्याभासको कोई-कोई महात्मा 'कर्ममिश्रा भक्ति' और कोई-कोई 'आरोप-सिद्धा' भी कहते हैं।

"हे यदुनन्दन! मैं संसारसे डरकर तुम्हारे पास आया हूँ तथा मैं दिनरात तुम्हारा 'हरे कृष्ण' नाम लेता रहता हूँ। तुम कृपाकर मुझे भक्ति प्रदान करो, हे परमेश्वर! तुम्हीं ब्रह्म हो, मैं मायाजालमें फँसा हुआ हूँ। तुम इस मायाजालसे मेरा उद्धारकर अपनेमें मिला लो, अभेद कर दो"—ये सब भावनाएँ ज्ञानविद्ध भक्त्याभास हैं। महात्मा लोग इसे ज्ञानमिश्रा भक्ति भी कहते हैं। यह भी आरोप—सिद्धा भक्ति ही है। ये सभी शुद्धाभक्तिसे पृथक् हैं।

"श्रद्धावान् भजते यो माम्"—गीतामें इस वाक्यसे भगवान्ने जिस भक्तिका उद्देश्य किया है वही शुद्धभक्ति है। वही शुद्धभक्ति हमारा साधन है और सिद्धावस्थामें वही प्रेम है। कर्म और ज्ञान—ये दोनों क्रमशः भुक्ति और मुक्तिके साधन हैं। ये जीवोंके नित्य सिद्ध-भावके साधन नहीं हैं।

ब्रजनाथ इन सब तत्त्वोंका श्रवणकर उस दिन और कोई प्रश्न न कर सके। वे मन-ही-मन कहने लगे—न्यायशास्त्रकी फक्किकायें अन्वेषण करनेकी अपेक्षा इन सब सूक्ष्म तत्त्वोंका विचार करना कहीं अधिक उत्तम है। बाबाजी इस विषयमें पारङ्गत हैं। मैं क्रमशः इस विषयमें इनसे जिज्ञासाकर ज्ञान अर्जन करूँगा। आज अधिक रात हो गयी है, अब घर चलना चाहिये।

ऐसा सोचकर बोले—बाबाजी महाशय! आज मुझे आपसे बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त हुआ। मैं बीच-बीचमें आपके पास आकर शिक्षा प्राप्त किया करूँगा। आप बड़े अनुभवी और

प्रकाण्ड विद्वान् हैं; मुझपर कृपा करेंगे। आज मैं एक और बात पूछना चाहता हूँ, आज देर हो गयी है, इसीका उत्तर सुनकर घर चला जाऊँगा। क्या श्रीशचीनन्दन गौराङ्गने कोई ग्रन्थ लिखा है, जिसमें उनकी समस्त शिक्षाएँ पायी जा सकें? यदि है तो मैं उसे पढ़ना चाहता हूँ।

बाबाजी—श्री श्रीमहाप्रभुजीने स्वयं कोई ग्रन्थ नहीं लिखा है। उनके भक्तोंने उनकी आज्ञासे अनेकों ग्रन्थ लिखे हैं। महाप्रभुजीने स्वयं सूत्रके रूपमें 'शिक्षाष्टक' नामक आठ श्लोक लिखकर जीवोंको दिया है। यह 'शिक्षाष्टक' भक्तोंका कण्ठहार है। इन आठ श्लोकोंमें ही उन्होंने वेद-वेदान्त, उपनिषद् और पुराणोंकी सारी शिक्षाएँ गागरमें सागरकी भाँति भर दी हैं। भक्तोंने उनकी इन गूढ़ शिक्षाओंके आधारपर 'दसमूल' की रचना की है। इस दसमूलमें सम्बन्ध, अभिधेय, प्रयोजनका विचार साध्य और साधनके सूत्र रूपमें कहा गया है। आप सबसे पहले उसे ही समझिये।

ब्रजनाथ—जैसी आज्ञा। कल फिर शामके बाद आऊँगा। आप मुझे दसमूलकी शिक्षा दीजियेगा। आप मेरे शिक्षा गुरु हैं—ऐसा कहकर ब्रजनाथने बाबाजी महाराजको दण्डवत् प्रणाम किया। बाबाजीने स्नेहसे गद्गद होकर उन्हें अपने गलेसे लगा लिया और कहा—बाबा! तुमने ब्राह्मणकुलको पवित्र कर दिया। कल शामको आकर मुझे आनन्द प्रदान करना।

॥बारहवाँ अध्याय समाप्त॥

॥प्रथम खण्ड समाप्त॥

सम्बन्ध अभिधेय और प्रयोजन—मूलक द्वितीय खण्ड

तेरहवाँ अध्याय

प्रमाण-विचार और प्रमेय आरम्भ

दूसरे दिन गोधूलिके समय ब्रजनाथ श्रीवास-अङ्गनमें पहुँचे और एक सघन बकुल वृक्षके नीचे चबूतरेपर बैठकर वृद्ध बाबाजी महाराजकी प्रतीक्षा करने लगे। इधर न जाने क्यों बाबाजीके हृदयमें ब्रजनाथके प्रति वात्सल्य भाव उमड़ पड़ा था, वे भी ब्रजनाथकी प्रतीक्षा कर रहे थे। ब्रजनाथके आनेकी आहट पाते ही वे अपनी भजन कुटीसे बाहर निकले और उन्हें बड़े प्रेमसे गले लगाया। तत्पश्चात् उन्हें अपने साथ लेकर कुटीमें आये और उन्हें बैठनेका स्थान देकर आप भी बैठे।

ब्रजनाथने बाबाजीके चरणोंकी धूलि अपने सिरपर लगाकर बड़ी ही नम्रतासे कहा—महात्मन्! आपने कल मुझे निमाई पण्डितके मूल-सिद्धान्त-दशमूलकी शिक्षा देनेके लिए कहा था। कृपया मुझे उसकी शिक्षा प्रदान करें।

ब्रजनाथके इस प्रकार सुन्दर प्रश्नको सुनकर बाबाजी बड़े प्रसन्न हुए और बड़े प्रेमसे बोले—बेटा! मैं तुम्हें पहले दशमूलका सूत्र-श्लोक बतला रहा हूँ। इस श्लोकमें दशमूलके दसों तत्त्वोंका सूत्रके रूपमें निरूपण किया गया है। तुम पण्डित हो, इस श्लोकका तात्त्विक अर्थ विवेचनपूर्वक धारण करो—

आम्नायः प्राह तत्त्वं हरिमिह परमं सर्वशक्तिं रसाब्धिम्
तद्भिन्नांशांश्च जीवान् प्रकृतिकवलितान् तद्विमुक्तांश्च भावाद्।
भेदाभेदप्रकाशं सकलमपि हरेः साधनं हरेः साधनं शुद्ध भक्तिम्
साध्यं तत्प्रीतिमेवेत्युपदिशति जनान् गौरचन्द्रः स्वयं सः॥

अर्थात्, गुरु-परम्परा द्वारा प्राप्त वेद-वाणियोंको आम्नाय कहते हैं वेद और वेदानुगत श्रीमद्भागवत आदि स्मृतिशास्त्र तथा वेदानुगत प्रत्यक्षादि प्रमाण ही प्रमाण स्वीकार किये गये हैं। इन प्रमाणोंसे यह सिद्ध है कि—(१) हरि ही परमतत्त्व हैं, (२) वे सर्वशक्तिमान् हैं, (३) वे अखिल रसामृत-सिन्धु हैं, (४) मुक्त और बद्ध दोनों प्रकारके जीव ही उनके विभिन्नांश तत्त्व हैं, (५) बद्धजीव मायाके अधीन होते हैं, (६) मुक्तजीव मायासे मुक्त होते हैं, (७) चित् अचित् अखिल जगत् श्रीहरिका अचिन्त्यभेदाभेद प्रकाश है, (८) शुद्धभक्ति ही एकमात्र साधन है और (९) कृष्ण-प्रीति ही एकमात्र साध्य वस्तु है।

स्वयं-भगवान् श्रीगौराङ्गदेवने श्रद्धालु जीवोंको दस प्रकारके तत्त्वोंका उपदेश दिया है। उनमें पहला है—प्रमाणतत्त्व। शेष नौ, प्रमेयतत्त्व हैं। तुम पहले प्रमाण और प्रमेयका अर्थ समझ लो। जिस विषयको प्रमाणके द्वारा सिद्ध किया जाता है, उसे प्रमेय कहते हैं। और जिसके द्वारा प्रमेय वस्तुको प्रमाणित किया जाता है, उसे प्रमाण कहते हैं। उपरोक्त श्लोकमें मूल दसों तत्त्व अर्थात् सम्पूर्ण दशमूल तत्त्व आ गया है। अगला श्लोक दशमूलका पहला श्लोक होगा, जिसमें दशमूलके पहले तत्त्वका विवेचन है। दूसरेसे लेकर ८वें श्लोक पर्यन्त सम्बन्ध-तत्त्व, ९वें में अभिधेय (साधन)-तत्त्व और १० वें श्लोकमें प्रयोजन (साध्य)-तत्त्वका वर्णन है।

श्लोकका अर्थ सुनकर ब्रजनाथने कहा—बाबाजी महाशय! मुझे अभी कुछ भी नहीं पूछना है। अगले श्लोकको सुनकर यदि कुछ पूछना होगा तो आपके श्रीचरणोंमें निवेदन

करूँगा, आप कृपया दशमूलका पहला श्लोक सुनायें।

बाबाजी—बहुत अच्छा, मैं तुम्हें दशमूलका पहला श्लोक सुना रहा हूँ। ध्यानपूर्वक सुनो—

स्वतः सिद्धो वेदो हरिदयितवेधः प्रभृतितः
प्रमाणं सत् प्राप्तं प्रमिति विषयान् तान्नव विधान्।
तथा प्रत्यक्षादिप्रमितिसहितं साधयति नः
न युक्तिस्तर्काख्या प्रविशति तथा शक्तिरहिता॥

(दशमूल १)

अर्थात् श्रीहरिके कृपापात्र ब्रह्मा आदिके द्वारा परम्पराक्रमसे सम्प्रदायमें जो स्वतः सिद्ध वेद पाये जाते हैं, वे आम्नाय-वाक्य कहे जाते हैं। वे आम्नायवाक्य अपने अनुगत प्रत्यक्षादि प्रमाणोंकी सहायतासे नौ प्रकारके प्रमेयतत्त्वोंका साधन करते हैं। जिस युक्तिका तात्पर्य केवल तर्क-ही-तर्क होता है, वैसी युक्ति अचिन्त्य विषयोंका विवेचन करनेमें सर्वदा पङ्गु होती है। अतः अचिन्त्य तत्त्वके व्यापारमें तर्कका प्रवेश नहीं है।

ब्रजनाथ—ब्रह्माने शिष्य-परम्पराके द्वारा शिक्षा दी है—इसका क्या वेदमें कोई प्रमाण है?

बाबाजी—हाँ है। मुण्डकोपनिषद् (१/१/१) में कहते हैं—

ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता।
स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठां अथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह॥ [१]

और भी (१/२/१३) में कहते हैं—

येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं
प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्॥[२]

ब्रजनाथ—ऋषियोंने स्मृतिशास्त्रोंमें वेदका अर्थ ठीक-ठीक ही किया है, इसका क्या कोई प्रमाण है?

बाबाजी—सर्वशास्त्र चूड़ामणि श्रीमद्भागवत (११/१४/३-४) में इस बातका प्रमाण है—

कालेन नष्टा प्रलये वाणीयं वेदसंज्ञिता।
मयादौ ब्रह्मणे प्रोक्ता धर्मो यस्यां मदात्मकः॥[३]

---

(१) सम्पूर्ण जगत्की रचयिता तथा सबकी रक्षा करनेवाले ब्रह्माजी समस्त देवताओंसे पहले प्रकट हुए और अपने बड़े पुत्र अथर्वाको समस्त विद्याओंकी आधारभूता ब्रह्मविद्याका भलीभाँति उपदेश किया।

(२) ब्रह्मविद्या उसे कहते हैं जिससे अविनाशी परब्रह्म पुरुषोत्तमका सत्यस्वरूप तत्त्वतः जाना जाता है।

(३) भगवान् ने कहा—जिसमें मेरी वाणियोंका (भागवत धर्मका) वर्णन है, वही वेद-वाणी समयके फेरसे प्रलयकालमें लुप्त हो गई थी। फिर ब्राह्मकल्पके अदिमें—सृष्टिके समय मैंने उसे ब्रह्माको उपदेश किया था।

तेन प्रोक्ता च पुत्राय मनवे पूर्वजाय सा।[४] इत्यादि।

ब्रजनाथ—सम्प्रदायें क्यों बनीं?

बाबाजी—संसारमें ऐसे लोगोंकी गणना ही अधिक है, जो मायावादका आश्रयकर भक्तिसे रहित कुपथपर चलते हैं। मायावाद-दोषसे रहित शुद्ध भक्तजनोंका यदि कोई अलग सम्प्रदाय न हो, तो संसारमें सत्सङ्ग मिलना दुर्लभ हो जायेगा। इसीलिए पद्मपुराणमें कहते हैं—

सम्प्रदायविहीना ये मन्त्रास्ते विफला मताः।
श्रीब्रह्मरुद्रसनका वैष्णवाः क्षितिपावनाः॥

अर्थात्—श्री (रामानुज), ब्रह्म (मध्व), रुद्र (विष्णु स्वामी) और चतुःसन (निम्बादित्य) —इन चार सम्प्रदायोंके वैष्णवजन जगत्को पवित्र करनेवाले हैं। इन चारों सम्प्रदायोंके आचार्यों द्वारा दीक्षित मन्त्रोंके अतिरिक्त अन्यान्य समस्त मन्त्र निष्फल हैं।

इनमें ब्रह्म-सम्प्रदाय सबसे प्राचीन है। ब्रह्मासे लेकर आज तक यह सम्प्रदाय शिष्य-प्रशिष्य-क्रमसे चला आ रहा है। गुरु परम्पराको मानकर चलनेवाली इन सम्प्रदायोंमें वेदान्त आदि परम कल्याणकारी ग्रन्थ जिस रूपमें अत्यन्त प्राचीन कालसे चले आ रहे हैं, उससे उनमें कहीं भी कुछ परिवर्तन अथवा कोई अंश प्रक्षिप्त होनेकी तनिक भी सम्भावना नहीं है। अतएव सम्प्रदायके द्वारा मान्यता प्राप्त ग्रन्थोंमें तनिक भी सन्देहकी आवश्यकता नहीं है। सम्प्रदाय एक बड़ी ही सुन्दर और आवश्यक व्यवस्था है। यही कारण है कि साधु-सन्तोंमें सत्-सम्प्रदायकी प्रणाली अत्यन्त प्राचीनकालसे चलती आ रही है।

ब्रजनाथ—क्या सम्प्रदाय प्रणालीमें क्रमशः एकके बाद दूसरे समस्त आचार्योंके नाम मिलते हैं?

बाबाजी—सम्प्रदाय प्रणालीमें बीच-बीचमें होनेवाले प्रधान-प्रधान आचार्योंके नाम ही उल्लिखित हैं।

ब्रजनाथ—मैं ब्रह्म-सम्प्रदायकी गुरु-परम्परा सुनना चाहता हूँ।

बाबाजी—सुनो—

परव्योमेश्वरस्यासीच्छिष्यो ब्रह्मा जगत्पतिः।
तस्य शिष्यो नारदोऽभूद्व्यासस्तस्याप शिष्यताम्॥

शुको व्यासस्य शिष्यत्वं प्राप्तो ज्ञानावरोधनात्।
व्यासाल्लब्धकृष्णदीक्षो मध्वाचार्यो महायशाः॥

तस्य शिष्यो नरहरिस्तच्छिष्यो माधवो द्विजः।
अक्षोभ्यस्तस्य शिष्योऽभूत्तच्छिष्यो जयतीर्थकः॥

तस्य शिष्यो ज्ञानसिन्धुस्तस्य शिष्यो महानिधिः।
विद्यानिधिस्तस्य शिष्यो राजेन्द्रस्तस्य सेवकः॥

---

(४) ब्रह्माने अपने पुत्र मनुको और मनुने भृगु आदि सप्तर्षियोंको वेद-विद्याका उपदेश किया था।

जयधर्मा मुनिस्तस्य शिष्यो यद्गणमध्यतः।
श्रीमद्विष्णुपुरी यस्तु 'भक्तिरत्नावली कृतिः॥'[५]

जयधर्मस्य शिष्योऽभूद् ब्रह्मण्यः पुरुषोत्तमः।
व्यासतीर्थस्तस्य शिष्यो यश्चक्रे 'विष्णु-संहिताम्॥

श्रीमल्लक्ष्मीपतिस्तस्य शिष्यो भक्ति-रसाश्रयः।
तस्य शिष्यो माधवेन्द्रो यद्धर्मोऽयं प्रवर्तितः॥[६]

ब्रजनाथ—दशमूलके प्रथम श्लोकमें वेदको एकमात्र प्रमाण स्वीकार किया गया है तथा प्रत्यक्षादि प्रमाणोंको वेदानुगत होनेपर उन्हें भी प्रमाण माना गया है। परन्तु न्याय और सांख्यादि दर्शनोंमें कुछ अधिक प्रमाण देखे जाते हैं। पौराणिकोंने तो आठ प्रकारके प्रमाण स्वीकार किये हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, अपमान, शब्द, ऐतिह्य, अनुपलब्धि, अर्थापत्ति और सम्भव। प्रमाणके सम्बन्धमें भिन्न-भिन्न मत होनेका क्या कारण है? और यदि प्रत्यक्ष और अनुमानको सिद्ध-प्रमाणकी कोटिमें नहीं रखा जाये, तो यथार्थ ज्ञानका बोध (ज्ञान-व्याप्ति) भी कैसे हो सकता है?—मुझे समझानेकी कृपा करें।

बाबाजी—प्रत्यक्षादि प्रमाणसमूह इन्द्रियोंके परतन्त्र हैं और बद्धजीवोंकी इन्द्रियोंमें भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा और करणापाटव—ये चार दोष सर्वदा वर्त्तमान रहते हैं। इन्द्रियोंके द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है, उसे सत्य और निर्भूल कैसे माना जा सकता है। पूर्ण समाधिकी अवस्थामें स्थित, बड़े-बड़े महर्षि और सन्त-आचार्योंके निर्मल हृदयमें सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र और सर्वशक्तिमान भगवान् स्वयं उदित होकर वेदके रूपमें सिद्ध-ज्ञान प्रकट करते हैं। अतः इस

---

(५) परमेश्वर श्रीनारायणके शिष्य ब्रह्मा हैं, ब्रह्माके शिष्य नारदजी हुए। व्यासदेव नारदजीके शिष्य हुए। (शुष्क) ज्ञानके अवरोधन (अर्थात् श्रीलवेदव्यासके शिष्योंके मुखसे भगवान् के नाम, रूप, गुण और लीला सम्बन्धी श्लोकोंको श्रवण करनेके उपरान्त पालन किये जा रहे पथमें बाधा पड़ने अर्थात् उसके प्रति अरुचि उत्पन्न होने) के कारण शुकदेवने श्रीव्यासदेवका शिष्यत्व स्वीकार किया। प्रख्यात मध्वाचार्यने श्रीव्यासदेवजीसे कृष्ण—दीक्षा प्राप्त की थी। मध्वाचार्यके नरहरि और नरहरिके माधव-द्विज शिष्य हुए। अक्षोभ्यने माधवकी शिष्यता स्वीकार की। अक्षोभ्यके जयतीर्थ, जयतीर्थके ज्ञानसिन्धु, ज्ञानसिन्धुके महानिधि, महानिधिके विद्यानिधि और विद्यानिधिके शिष्य राजेन्द्र हुए। राजेन्द्रके शिष्य जयधर्म मुनि हैं। जयधर्मके अनुगत शिष्योंमें श्रीविष्णुपुरीजी एक प्रधान आचार्य हुए हैं, जिन्होंने 'भक्तिरत्नावली' नामक ग्रन्थकी रचना की है।

(६) जयधर्मके शिष्य पुरुषोत्तम और पुरुषोत्तमके शिष्य ब्रह्मण्य तीर्थ हुए। ब्रह्मण्य तीर्थके शिष्य व्यासतीर्थ हुए, जिन्होंने 'विष्णुसंहिता' की रचना की है। व्यासतीर्थके शिष्य श्रीलक्ष्मीपति हुए। इन्हीं लक्ष्मीपतिके शिष्य हैं—प्रेमभक्तिके रसमें डूबे हुए श्रीमाधवेन्द्र पुरीजी, जो प्रेमभक्ति रूप धर्मके प्रवर्तक हैं।

स्वतः सिद्ध ज्ञानस्वरूप वेदकी प्रामाणिकता सर्वथा निर्भूल और निर्भरयोग्य है।

ब्रजनाथ—भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा और करणापाटवका अर्थ पृथक्-पृथक् स्पष्ट करके समझाइये।

बाबाजी—बद्धजीव अपनी असम्पूर्ण इन्द्रियोंके द्वारा किसी विषयका जो भूल-ज्ञान संग्रह करता है, उसे भ्रम कहते हैं। जैसे—रेगिस्तानमें गर्मी के दिनोंमें सूर्यकी किरणोंमें (मरीचिकामें) जलका भ्रम होता है। जीवकी प्राकृत बुद्धि स्वभावतः ससीम होती है। इस ससीम बुद्धिके द्वारा असीम परतत्त्वके सम्बन्धमें जो सिद्धान्त किये जाते हैं, उनमें भूल रहना स्वाभाविक है। ऐसी भूलका नाम प्रमाद है। जैसे—देश और कालकी सीमा सीमित बुद्धिसे युक्त किसीका देशकालसे अतीत ईश्वरका कर्तृत्व जिज्ञासा करना। सन्देहको विप्रलिप्सा कहते हैं। घटना-चक्रसे इन्द्रियोंकी असमर्थता अपरिहार्य है। अकस्मात् किसी एक वस्तुको देखकर उसमें अन्य वस्तु होनेका भ्रम होनेके कारण जो भूल-सिद्धान्त हो पड़ता है, उसे करणापाटव कहते हैं।

ब्रजनाथ—क्या प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंका कोई मूल्य नहीं है?

बाबाजी—जड़-जगत्का ज्ञान प्राप्त करनेके लिए प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंके अतिरिक्त और उपाय ही क्या है? परन्तु चित्-जगत् के सम्बन्धमें प्रत्यक्ष आदि प्रमाण सर्वथा अनुपयुक्त हैं। इनका चित्-जगत् में प्रवेश नहीं है। चित्-जगत् सम्बन्धी ज्ञानमें वेद ही एकमात्र प्रमाण है। यदि प्रत्यक्षादि प्रमाणोंके द्वारा प्राप्त ज्ञान स्वतः सिद्ध वेद-प्रमाणके अनुगत हो, तो वह आदरणीय है अन्यथा परित्यज्य है। अतएव स्वतः सिद्ध वेद ही एकमात्र प्रमाण हैं। हाँ, प्रत्यक्षादि प्रमाणोंको भी प्रमाण माना जा सकता है, यदि वे वेदानुगत हों।

ब्रजनाथ—क्या गीता और भागवतादि ग्रन्थ प्रमाणकी कोटिमें नहीं हैं?

बाबाजी—गीताको भगवान्‌की वाणी होनेसे उपनिषद् (गीतोपनिषद्) कहा गया है। अतः गीता-'वेद' है। उसी प्रकार 'दशमूलतत्त्व' श्रीचैतन्य महाप्रभुकी शिक्षा होनेके कारण भगवत्-वाणी है। इसलिए वह भी 'वेद' है। सम्पूर्ण वेदार्थोंके सारसंग्रह स्वरूप श्रीमद्भागवत सर्वश्रेष्ठ प्रमाण हैं। दूसरे-दूसरे शास्त्रोंकी वाणियाँ वेदके अनुगत होनेपर ही प्रमाणके रूपमें ग्रहण करने योग्य हैं। तन्त्रशास्त्र तीन प्रकारके हैं—सात्त्विक, राजसिक और तामसिक। इनमें पंचरात्र आदि सात्विक तन्त्रसमूह ('तन्'-धातुसे विस्तारके अर्थमें वेदार्थ विस्तारक तन्त्र शब्द-निष्पन्न होकर) वेदका गूढार्थ विस्तारक शास्त्र होनेके कारण प्रमाण कोटिमें मान्य हैं।

ब्रजनाथ—वेदके अन्तर्गत बहुत-से ग्रन्थ हैं, उनमें कौन-कौनसे ग्रन्थ प्रमाणके रूपमें ग्रहण करने योग्य हैं और कौन-कौन ग्रहण करनेके अयोग्य हैं?

बाबाजी—समय-समयपर कुछ असत् व्यक्ति अपने स्वार्थोंकी पूर्तिके लिए वेदमें अनेक अध्याय, मण्डल और मन्त्र जोड़ते आ रहे हैं। इन पीछेसे जोड़े गये अंशोंको 'प्रक्षिप्त' अंश कहते हैं। जैसे-तैसे वेदग्रन्थोंकी भी प्रामाणिकता स्वीकार करनी ही पड़ेगी, ऐसी बात नहीं है। बल्कि सत् सम्प्रदायके आचार्योंने जिन-जिन वेद-ग्रन्थोंको समय-समयपर प्रामाणिक माना है, वे ही वेद हैं और वे ही प्रामाणिक हैं किन्तु; जिन ग्रन्थोंको अथवा उनके जिन अंशोंको प्रामाणिक नहीं माना है, वे त्याज्य हैं।

ब्रजनाथ—सत्-सम्प्रदायके आचार्योंने किन-किन वेद-ग्रन्थोंको स्वीकार किया है?

बाबाजी—ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डुक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य,

बृहदारण्यक और श्वेताश्वतर—ये ग्यारह सात्त्विक उपनिषद्, एवं गोपालोपनिषद् और नृसिंहतापनी आदि कतिपय उपासनामें सहायक तापनी एवं ब्राह्मण, मण्डल आदि ऋक्, साम, यजुः और अथर्वके अन्तर्गत काण्ड विस्तारक वेद-ग्रन्थोंको आचार्योंने स्वीकार किया है। समस्त वेद-ग्रन्थ हमें साम्प्रदायिक आचार्योंसे ही मिले हैं। अतः इन्हें सत्-प्राप्त प्रमाण कहा जा सकता है।

ब्रजनाथ—चित्-विषयोंमें युक्तिका प्रवेश नहीं है—इसका वेदमें क्या कोई प्रमाण है?

बाबाजी—**"नैषा तर्केण मत्तिरापनेया"** (७) (कठ० उ० १/२/९) इत्यादि प्रसिद्ध वेद वाणियों और **"तर्काप्रतिष्ठानात्"** (८) (ब्रह्मसूत्र २/२/११) आदि वेदान्त—सूत्रों द्वारा यह बात प्रमाणित होती है। और भी देखो—

अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्।
प्रकृतिभ्यः परं यत्तु तदचिन्त्यस्य लक्षणम्॥(९)

(महाभारत भी० प० ५/१२)

महाभारतके इस श्लोकमें युक्तिकी सीमा निर्धारित कर दी गयी है। अतएव भक्तिमार्गके आचार्य श्रीरूप गोस्वामीने भक्तिरसामृतसिन्धुमें (पू० वि० १/३२) लिखा है—

स्वल्पापि रुचिरेव स्याद् भक्तितत्त्वावबोधिका।
युक्तिस्तु केवला नैव यदस्या अप्रतिष्ठता॥(१०)

युक्ति द्वारा सत्यका यथार्थ निरूपण नहीं होता—यह प्राचीन उक्तियोंसे सिद्ध है—

यत्नेनापादितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः।
अभियुक्ततरैरन्यैरन्थैवोपपाद्यते॥(११)

तुमने आज एक युक्ति द्वारा एक सिद्धान्त स्थापित किया, कल तुमसे अधिक बुद्धिमान और प्रतिभाशाली दूसरा व्यक्ति उसका खण्डन कर सकता है। अतएव युक्तिका

---

(७) नचिकेता! तुमने आत्मतत्त्व—सम्बन्धी जो बुद्धि प्राप्त की है, उसे तर्क द्वारा नष्ट करना उचित नहीं।

(८) तर्ककी प्रतिष्ठा नहीं है। इसके द्वारा कोई वस्तु स्थापित नहीं की जा सकती है, क्योंकि आज एक व्यक्ति तर्क और युक्तिसे जिसकी स्थापना करता है, कल उससे अधिक प्रतिभाशाली मनुष्य उसका खण्डन कर देता है। इसलिए तर्ककी अप्रतिष्ठा कही गयी है।

(९) प्रकृति से अतीत तत्त्वसमूह अचिन्त्य होते हैं। तर्क प्राकृत विषयोंमें ही लागू हो सकता है; क्योंकि वह स्वयं प्रकृतिके अन्तर्गत है। इसलिए वह प्रकृतिसे अतीत तत्त्वको स्पर्श भी नहीं कर पाता। अतएव जहाँ तक अचिन्त्य भावोंका प्रश्न है, शुष्क तर्कका प्रयोग अवांछनीय और व्यर्थ है।—(श्रीचैतन्यचरितामृत, अमृतप्रवाह भाष्य)

(१०) भक्तितत्त्व-प्रतिपादक श्रीमद्भागवत आदि शास्त्रोंके प्रति थोड़ी-सी रुचि पैदा होनेपर भी भक्तितत्त्व बोधगम्य हो सकता है। परन्तु केवल शुष्क तर्कों द्वारा उसे जाना नहीं जा सकता। क्योंकि तर्ककी कोई प्रतिष्ठा अथवा अन्त नहीं है।

(११) कोई तार्किक व्यक्ति तर्क द्वारा अति सतर्कतासे एक विषयको स्थापित करता है। उससे भी अधिक तर्कपटु दूसरा व्यक्ति उसका सहज ही खण्डन कर सकता है।

भरोसा ही क्या है?

ब्रजनाथ—बाबाजी! वेद जो स्वतः सिद्ध प्रमाण हैं—इसे अच्छी तरह समझ गया। कुछ तार्किक लोग व्यर्थ ही वेदके विरुद्ध तर्क-वितर्क किया करते हैं। अब कृपा करके दशमूलका दूसरा श्लोक बतलाइये।

बाबाजी—

हरिस्त्वेकं तत्त्वं विधिशिवसुरेशप्रणमितः
यदेवेदं ब्रह्म प्रकृतिरहितं तत्त्वनुमहः।
परात्मा तस्यांशो जगदनुगतो विश्वजनकः
स वै राधाकान्तो नवजलदकान्तिश्चिदुदयः॥

(दशमूल २)

अर्थात् ब्रह्मा, शिव और इन्द्र आदि देववृन्द जिनको निरन्तर प्रणाम किया करते हैं। वे हरि ही एकमात्र परमतत्त्व हैं। शक्तिरहित निर्विशेष ब्रह्म उन श्रीहरिकी अङ्गकान्ति हैं और जगत् की सृष्टिकर उसमें अपने एक अंशसे प्रविष्ट रहनेवाले सर्वान्तर्यामी परम पुरुष परमात्मा—उन श्रीहरिके अंशमात्र हैं। वे श्रीहरि ही नव-जलधर-कान्तिसे युक्त चित्-स्वरूप श्रीश्रीराधावल्लभ हैं।

ब्रजनाथ—उपनिषदोंमें प्रकृतिसे अतीत ब्रह्मको ही सर्वश्रेष्ठ तत्त्व बतलाया गया है। परन्तु श्रीगौरहरिने किस युक्ति या प्रमाणके आधारपर उस ब्रह्मको श्रीहरिकी अङ्गज्योति बतलाया है?
बाबाजी—"श्रीहरि ही भगवान् हैं।" विष्णुपुराणमें भगवत्स्वरूप निरूपण करते हुए कहते हैं—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः।
ज्ञान वैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीङ्गना॥

(वि० पु० ६/५/७४)

अर्थात् सम्पूर्ण ऐश्वर्य, सम्पूर्ण वीर्य, सम्पूर्ण यश, सम्पूर्ण श्री अर्थात् सौन्दर्य, सम्पूर्ण ज्ञान और सम्पूर्ण वैराग्य—इन छः अचिन्त्य गुणोंसे युक्त परमतत्त्व ही भगवान् हैं।

उपरोक्त गुणोंमें परस्पर अङ्ग अङ्गीका सम्बन्ध है। प्रश्न होता है—इनमें से कौन गुण अङ्गी है और कौन-कौन गुण अङ्ग हैं। अङ्गी उसे कहते हैं जिसमें अन्यान्य अङ्गोंका समावेश होता है। उदाहरणके लिए वृक्ष अङ्गी है और डाल, पत्ते अङ्ग हैं, शरीर अङ्गी हैं, हाथ, पैर उसके अङ्ग हैं। अतः अङ्गी-गुण वह है जिसमें शेष गुणसमूह अङ्गके रूपमें न्यस्त रहते हैं। भगवान्के चिन्मय-विग्रहकी श्री (रूप) ही-अङ्गी-गुण हैं और ऐश्वर्य, वीर्य तथा यश—ये तीन गुण अङ्ग हैं। शेष ज्ञान और वैराग्य ये दो यश नामक गुणके अन्तर्गत ज्योति-स्वरूपमें अवस्थित हैं। क्योंकि ज्ञान और वैराग्य स्वयं गुण नहीं हैं, बल्कि गुणके गुण हैं। यही ज्ञान-वैराग्य-निर्विकार ज्ञान अर्थात निर्विशेष निराकार ब्रह्मका स्वरूप है। अतएव ब्रह्म-चिन्मय ब्रह्माण्डकी अङ्गकान्ति अर्थात् ज्योति हैं। निर्विकार, निष्क्रिय, अवयवरहित निर्विशेष ब्रह्म—स्वयं कोई सिद्ध तत्व नहीं, प्रत्युत् भगवान्के श्रीविग्रहका आश्रित-तत्त्व है अर्थात् ब्रह्म वस्तु नहीं—वस्तुका गुण है। भगवान् ही वह वस्तु हैं और ब्रह्म उनका गुण है; जैसे—अग्निका प्रकाश सिद्ध-तत्त्व नहीं है—वह अग्निके अधीन एक गुणमात्र है।

ब्रजनाथ—वेदोंमें जगह-जगह ब्रह्मके निर्विशेष गुणका उल्लेख कर अन्तमें सब जगह

"ॐ शान्तिः शान्तिः, हरिः ॐ"—इस मन्त्रसे जिस श्रीहरिको सर्वोत्तम तत्त्व बतलाया गया है, वे श्रीहरि कौन हैं?

बाबाजी—चिल्लीला-मिथुन राधाकृष्ण ही वे हरि हैं।

ब्रजनाथ—इस विषयमें मैं पीछे पूछूंगा; अभी यह बतलाइये कि जगत्-पिता परमात्मा भगवान् के अंश कैसे हैं?

बाबाजी—भगवान् अपने ऐश्वर्य और वीर्य इन दो गुणोंसे व्याप्त होकर अखिल विश्वकी रचना करते हैं और अपने एक अंशसे विष्णुके रूपमें प्रविष्ट हो जाते हैं। भगवान्का प्रत्येक अंश सर्वदा पूर्ण ही रहता है, उनका कोई भी अंश अपूर्ण नहीं होता—

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥(१२)

(बृ. उ० ५/१)

अतएव जगत्में प्रविष्ट, पूर्णस्वरूप, जगन्नियन्ता विष्णु ही परमात्मा हैं। इन विष्णुके तीन रूप हैं—कारणोदशायी विष्णु, क्षीरोदशायी विष्णु और गर्भोदशायी विष्णु। चित् और मायिक दोनों जगत्की बीचमें कारणसमुद्र अर्थात् विरजा फैला हुआ है। इसी कारणसमुद्रमें भगवदंश कारणोदशायी (कारणसमुद्रमें शयन करनेवाले) विष्णु विराजमान होकर दूर स्थित मायाके प्रति ईक्षण (दृष्टि) कर उससे मायिक जगत्की रचना करवाते हैं। श्रीगीतामें (९/१०) भगवान् श्रीकृष्णने जगत् सृष्टिके विषयमें इस प्रकार वर्णन किया है—

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्। (१३)

वेदोंमें भी ऐसा ही कहा गया है—

स ऐक्षत (ऐत० उ० १/१/१)(१४)

स इमान लाकान् असृजत् (ऐत॰ उ॰ १/१/२)(१५)

मायामें प्रविष्ट कारणोदशायी विष्णुकी ईक्षण-शक्ति ही गर्भोदशायी विष्णु हैं। उन्हीं महाविष्णुके चिदीक्षणगत किरण-परमाणुसमूह ही बद्धजीव हैं। इनमेंसे प्रत्येक जीवके हृदयमें महाविष्णु अपने एक अंशसे अँगूठेके बराबर रूपसे विराजमान हैं। गर्भोदशायी विष्णुके इस अंशका नाम क्षीरोदशायी हिरण्यगर्भ ईश्वर या परमात्मा है। श्वेताश्वतरोपनिषद् (४/६) में **"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया"** मन्त्रके द्वारा जीवोंके हृदयमें प्रविष्ट इन्हीं परमात्मा और जीवकी स्थितिकी तुलना एक ही डालपर बैठे हुए दो पक्षियोंसे की गयी है, जिनमें ईश्वररूप पक्षी—कर्मफलका दाता है और जीवरूप पक्षी—कर्मफलका भोक्ता है। गीतोपनिषद् में भगवान्ने इस तत्त्वकी अभिव्यक्ति इस प्रकार की है—

---

(१२) यह अवतारी पुरुष पूर्ण हैं और उससे निकला यह अवतार भी पूर्ण है। पूर्णसे पूर्ण ही आविर्भूत होता है तथा पूर्णसे पूर्ण निकाल लेनेपर पूर्ण ही अवशेष रहता है। परमेश्वरकी पूर्णताको किसी प्रकार भी हानि नहीं पहुँचती है।

(१३) मुझ अधिष्ठाताकी अध्यक्षतामें मेरी मायाशक्ति चराचर विश्वकी सृष्टि करती है।

(१४) उसी परमात्माने ईक्षण किया था।

(१५) उस परमात्माने ही अपनी मायाके प्रति ईक्षण कर चराचर जगत्की सृष्टि की है।

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम्॥
अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥[१६]

(गीता १०/४१-४२)

अतएव परमपुरुष भगवान् के अंशस्वरूप परमात्माके एक अंशमें विश्वजनकत्व, विश्वपालकत्व आदि ईश्वरता प्रकाशित है।

ब्रजनाथ—मैं पूर्ण रूपसे समझ गया कि ब्रह्म श्रीहरिकी अङ्गकान्ति है और परमात्मा—उनके अंश हैं। किन्तु वे भगवान् श्रीहरि ही स्वयं कृष्ण हैं—इसका क्या प्रमाण है?

बाबाजी—भगवान् सर्वदा ऐश्वर्य और माधुर्य इन दो रूपोंमें नित्य प्रकाशित हैं। ऐश्वर्य प्रकाशका नाम नारायण है, जो महाविष्णुके अंशी और परव्योम-वैकुण्ठके पति हैं। भगवान् के माधुर्य प्रकाशका नाम श्रीकृष्ण है। ये श्रीकृष्ण अखिल माधुर्यकी सीमा हैं। उनमें माधुर्यकी इतनी अधिकता है कि उनका सम्पूर्ण ऐश्वर्य उनके माधुर्यकी किरणोंसे ढका रहता है। सिद्धान्ततः नारायण और कृष्णमें कोई भेद नहीं है, परन्तु चित्-जगत्की रसास्वादनका जहाँ विचार उपस्थित होता है, वहाँ कृष्ण समस्त रसोंके आधार तो हैं ही, अधिकन्तु वे स्वयं रसरूप होनेके कारण परम उपादेय तत्त्व भी हैं।

श्रीकृष्ण स्वयं—भगवान् श्रीहरि हैं—इसका प्रमाण वेद, उपनिषद् और पुराण हैं। जैसे—ऋग्वेद (१/१२/१६४/३१ऋक्) में—

अपश्यं गोपामनिपद्यमानमा च परा च पथिभिश्चरन्तम्।
स सध्रीचीः। स विषुचीर्वसान आवरीवर्तिभुवनेष्वन्तः॥[१७]

छान्दोग्योपनिषद् (८/१३/१) में—

श्यामाच्छबलं प्रपद्ये शबलाच्छ्यामं प्रपद्ये। [१८]

---

(१६) अर्जुन! ऐश्वर्य, सम्पत्ति, बल और पराक्रम आदिके प्रभावसे जो-जो श्रेष्ठ वस्तुएँ हैं, उनको मेरे तेजके अंशसे निकली हुई विभूति ही समझो। अथवा हे अर्जुन! तुम्हें मेरी इन सम्पूर्ण विभूतियोंको पृथक्-पृथक् जाननेकी आवश्यकता ही क्या है, तुम केवलमात्र इतना जान लो कि मैं अपने अंशके द्वारा इस सम्पूर्ण विश्वको धारण करके पूर्ण रूपसे व्याप्त होकर स्थित हूँ।

(१७) गोपवंशमें उत्पन्न एक बालकको देखा, जिसका कभी भी पतन (विनाश) नहीं है। वह कभी अत्यन्त निकट और कभी दूर नाना पथोंमें विचरण करता है। कभी-कभी वह भिन्न-भिन्न प्रकारके वस्त्रोंसे सुसज्जित रहता है, तो कभी पृथक्-पृथक् (एक रङ्गके) वस्त्रोंसे आवृत रहता है। इस प्रकार वह बारम्बार अपनी प्रकट और अप्रकट लीलाओंको प्रकाश करता है।

(१८) कृष्ण-सेवा द्वारा विचित्र विलासोंसे पूर्ण अप्राकृत चिदानन्दमय धामकी प्राप्ति होती है तथा विविध विचित्रताओंसे पूर्ण उस चित्-जगत्से कृष्णकी प्राप्ति होती है। 'श्याम' शब्दका अर्थ कृष्णसे है। तात्पर्य यह है कि 'कृष्ण' अर्थात् 'काला' कहनेसे रङ्गहीन-निर्गुण परतत्त्वका बोध होता है एवं 'शबल' शब्दका अर्थ 'गौर' है अर्थात् नाना प्रकारके रङ्गोंसे

मन्त्रोंमें मुक्तिके अनन्तर भी शुद्ध जीवोंकी क्रियाका उल्लेख है।

श्रीमद्भागवत (१/३/२८) में

एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्! (१९)

श्रीगीतोपनिषद् (७/७) में—

मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चदस्ति धनञ्जय (२०)

गोपालतापनी (पूर्व २/८) में—

एको वशी सर्वगः कृष्ण इड्य एकोऽपि सन् बहुधा योऽवभति। (२१)

ब्रजनाथ—श्रीकृष्ण तो मध्यमाकार (मनुष्यके समान आकारवाले) हैं, वे सर्वाव्यापी कैसे हो सकते हैं? उनका शरीर माननेसे उन्हें एक ही जगह आबद्ध करना है तथा ऐसा होनेसे अनेक दोष आ जाते हैं। पहला यह कि उनका शरीर होनेसे वे सर्वव्यापी तत्त्व नहीं हो सकते। दूसरा यह कि उन्हें गुणोंके अधीन होना पड़ेगा। फिर वे स्वेच्छामय सर्वतन्त्र कहाँ रहे? अतः इसका समाधान क्या है?

बाबाजी—बेटा! तुम अभी मायिक गुणोंसे बँधे होनेके कारण ऐसा सोच रहे हो। बुद्धि जब तक मायिक गुणों द्वारा बँधी हुई रहती है, तबतक वह शुद्धसत्त्वको स्पर्श नहीं कर सकती। यदि वैसी बुद्धि अपनी सीमाका उल्लंघनकर शुद्धतत्त्व विवेचन करनेका प्रयास करती है, तो शुद्धतत्त्वमें मायिक आकार और मायिक गुणका आरोपकर उसकी एक प्राकृत मूर्ति गढ़ लेती है। फिर कुछ समयके बाद उस मूर्त्तिको अनित्य विकारी तथा गुणोंके अधीन जानकर उसे त्याग देती है और निराकार निर्विशेष ब्रह्मकी कल्पना करती है। इस प्रकार परमतत्त्व तक वह पहुँच नहीं पाती। तुमने चिन्मय 'मध्यमाकार' के सम्बन्धमें जो दोष बतलाये हैं, वास्तवमें वे सब सर्वथा निराधार हैं। निराकार, निर्विकार और निष्क्रय—ये सब गुण मायिक गुणोंके विपरीत भाव हैं। परन्तु ये भी एक प्रकारके गुण ही हैं। और सुन्दर, प्रसन्नवदन, कमलनयन, शान्तिप्रद-चरणकमल, कला और विलासके उपयोगी अङ्ग-प्रत्यङ्गादि शुद्ध चिन्मय-स्वरूपात्मक चित्-विग्रहत्व भी एक प्रकारके गुण हैं। इन दोनों प्रकारके गुणोंके आधारस्वरूप 'मध्यमाकार' श्रीविग्रह अतिशय उपादेय होते हैं। नारदपंचरात्रमें श्रीविग्रहका अत्यन्त मनोरम और सुसिद्धान्तपूर्ण विवेचन किया गया है—

निर्दोषगुणविग्रह आत्मतन्त्रो निश्चेतनात्मकशरीरगुणैश्च हीनः।

युक्त अथवा समस्त रङ्गोंके मिश्रणका नाम 'गौर' है। इसे दूसरे शब्दोंमें इस प्रकार कह सकते हैं कि समस्त अप्राकृत गुणोंसे युक्त परतत्त्वका नाम 'गौर' है। अतएव उपरोक्त मन्त्रका गूढ़ आशय यह है कि कृष्णभजनसे गौरकी और गौरभजनसे कृष्णकी प्राप्ति होती है।

(१९) राम, नृसिंह आदि अवतारसमूह परम पुरुष भगवान् के अंश या कला हैं, किन्तु कृष्ण ही स्वयं-भगवान् हैं।

(२०) अर्जुन! मुझसे श्रेष्ठ और कुछ भी नहीं है ।

(२१) एकमात्र सबको वशमें करनेवाले सर्वव्यापी अद्वितीय परब्रह्म श्रीकृष्णदेव, मनुष्य आदि प्राणिमात्रके पूजनीय हैं। वे एक होते हुए भी अपनी अचिन्त्यशक्तिके प्रभावसे अनेक रूपोंमें प्रकाशित होते हैं तथा नाना प्रकारसे विलास करते हैं।

आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिः सर्वत्र च स्वगतभेदविवर्जितात्मा॥

अर्थात्—श्रीकृष्णका विग्रह सच्चिदानन्दमय है। उसमें जड़ीय गुणोंका गन्ध तक भी नहीं है।

वे जड़ीय देश और कालके अधीन नहीं हैं। बल्कि वे सब समय सर्वत्र समान रूपसे विराजमान हैं, वे अखण्ड और अद्वयज्ञान-स्वरूप वस्तु हैं। जड़-जगत्में 'दिक' असीम वस्तु है। पार्थिव विचारसे निराकार वस्तु ही असीम या सर्वव्यापी हो सकती है। 'मध्यमाकार' (आकारयुक्त) वस्तु सर्वव्यापी नहीं हो सकती। यह विचार केवल जड़ जगत्में ही लागू हो सकता है। चित्-जगत्में सभी वस्तुएँ—सभी धर्म असीम होते हैं। अतः 'मध्यमाकार' श्रीविग्रह भी सर्वव्यापी हैं। सर्वव्यापकता एक प्रकारका गुण है जो जड़-जगत् के 'मध्यमाकार' वस्तुमें नहीं होती। किन्तु वही सर्वव्यापकता श्रीकृष्णके मध्यमाकार विग्रहमें सुन्दर रूपमें वर्त्तमान रहती है—उनके विग्रहका यह अलौकिक धर्म है। यही उस चित्-विग्रहका माहात्म्य है। क्या यह माहात्म्य सर्वव्यापी ब्रह्मभावमें पाया जा सकता है? जड़ पदार्थ—देश और कालके अधीन होते हैं। कालधर्मसे स्वभावतः मुक्त पदार्थको यदि दिग्देश और कालके अधीन सर्वव्यापी आकाशके समान ही माना गया, तो कालातीत पदार्थका महत्व ही क्या रहा? कृष्णका व्रजधाम ही छांदोग्योपनिषद्का 'ब्रह्मपुर' है। वह व्रजधाम सम्पूर्ण चित्-वस्तु (अप्राकृत तत्त्व) है, उसमें सब तरह की चिद्गत विचित्रताएं वर्त्तमान हैं। वहाँकी मिट्टी, जल, नद, नदी, पर्वत, वृक्ष, लता, पशु, पक्षी, आकाश, सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र आदि सारी वस्तुएँ चिन्मय हैं वहाँपर जड़ीय दोष बिलकुल नहीं हैं। वहाँपर सर्वत्र और सर्वदा चित्-सुख परिपूर्ण रूपमें विराजमान रहता है। बेटा! यह मायापुर-नवद्वीप भी वही चिन्मय धाम है। परन्तु तुमलोग माया-जालके ऊपर खड़े होनेके कारण इस चिन्मय धामको स्पर्श नहीं कर पा रहे हो। साधु-सन्तोंकी कृपासे जब तुम्हारे हृदयमें चिद्भाव उदित हो जायेगा, तब तुमलोग भी इस भूमिको चिन्मय धामके रूपमें दर्शनकर सकोगे और तभी तुम लोगोंका व्रजवास सिद्ध होगा। मध्यमाकार होनेसे पार्थिव गुण और दोष रहेंगे ही—ऐसा तुम्हें किसने बतलाया? जब तक तुम्हारी बुद्धि जड़ीय संस्कारोंके बन्धनमें बँधी हुई है, तुम 'चिन्मय मध्यमाकार' श्रीविग्रहके यथार्थ महत्त्वकी उपलब्धि नहीं कर सकते।

ब्रजनाथ—बाबाजी महाशय! जब श्रीराधाकृष्णका विग्रह, उनकी कान्ति, शरीर, लीला, सहचर, गृह, कुञ्ज, वन और उपवन आदि सारी वस्तुएँ चिन्मय हैं, तब कोई भी बुद्धिमान मनुष्य उनके सम्बन्धमें सन्देह नहीं कर सकता। परन्तु मैं जानना चाहता हूँ कि कृष्णका चिन्मय विग्रह, उनका धाम और उनकी लीला कब, कहाँ और किस प्रकार प्रकाशित होती हैं?

बाबाजी—सर्वशक्तिमान श्रीकृष्णके लिए सारी असम्भव बातें भी सम्भव हैं—इसमें आश्चर्यकी बात नहीं है। वे सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र, स्वेच्छामय, लीलामय और सर्वशक्तिमान पुरुष हैं। इच्छा होनेसे वे अपने चिन्मय धामके साथ अपना स्वप्रकाश चिन्मय विग्रह इस प्रपञ्चमें प्रकाश कर सकते हैं—इसमें सन्देह ही क्या है?

ब्रजनाथ—इच्छा करनेसे वे सब कुछ कर सकते हैं, अपने चिन्मय विग्रहको इस प्रपञ्चमें प्रकाश कर सकते हैं—यह ठीक है। परन्तु सन्देह तो यह है कि संसारी लोग उस स्वप्रकाश चिन्मय धामको जड़ विश्वका एक खण्ड भाग और व्रजलीलाको साधारण मायिक

व्यवहार जैसा देखते हैं—इसका क्या कारण है? यदि कृष्णने कृपा करके अपनेको संसारमें प्रकाशित ही किया है, तब संसारी लोग उस स्वप्रकाश विग्रहको सच्चिदानन्द क्यों नहीं दर्शन करते?

बाबाजी—कृष्णके अनन्त चित्-गुणोंमें 'भक्तवात्सल्य' एक गुण है। इसी गुणसे द्रवित होकर भगवान् अपनी ह्लादिनीशक्ति द्वारा भक्तोंको एक प्रकारकी चिन्मयी शक्ति प्रदान करते हैं, जिससे भक्तजन स्वप्रकाश भगवत्-स्वरूपका तथा उनकी सम्पूर्ण चिन्मयीलीलाका साक्षात् दर्शन करनेमें समर्थ होते हैं। किन्तु अभक्तोंके नेत्र और कर्णादि इन्द्रियसमूह मायिक होनेके कारण ये लोग भगवान्की चिल्लीला और मानव इतिहासमें कुछ अन्तर नहीं देख पाते।

ब्रजनाथ—तो क्या भगवान् श्रीकृष्ण समस्त जीवोंके प्रति कृपा करनेके लिए अवतीर्ण नहीं होते?

बाबाजी—निस्सन्देह भगवान्का अवतार सम्पूर्ण जगत्की कल्याणके लिए होता है। उस अवतार-लीलाको भक्तजन शुद्ध चिल्लीलाके रूपमें दर्शन करते हैं। अभक्तजन उसीको साधारण मानव चरित्र जैसा (जड़-तत्त्वके रूपमें) दर्शन करते हैं, फिर भी वस्तु शक्तिके प्रभावसे उनमें एक प्रकारकी सुकृति पैदा होती है। वही सुकृति क्रमशः पुष्ट होनेपर कृष्णभक्तिके प्रति अनन्य श्रद्धा उत्पन्न करा देती है। अतः भगवत्-अवतारसे अखिल विश्वके जीवोंका उपकार होता है, क्योंकि वही श्रद्धालु जीव अनन्य भक्तिका साधन करते-करते एक दिन भगवान्के चिन्मयस्वरूप और उनकी चिल्लीलाको देखनेमें समर्थ होता है।

ब्रजनाथ—वेदोंमें कृष्णलीलाका सर्वत्र स्पष्ट उल्लेख क्यों नहीं है?

बाबाजी—वेदोंमें यत्र-तत्र—सर्वत्र ही श्रीकृष्णलीलाका वर्णन है। वह वर्णन कहीं-कहीं मुख्यवृत्तिका अवलम्बन करके किया गया है, तो कहीं-कहीं गौणवृत्तिका अवलम्बन करके। शब्दोंकी दो प्रकारकी वृत्तियाँ (शक्तियाँ) होती हैं, जिनसे शब्दोंका अर्थ निर्णय होता है—अभिधावृत्ति और लक्षणावृत्ति। इनको मुख्यवृत्ति और गौणवृत्ति भी कहते हैं। अभिधावृत्तिका अवलम्बनकर 'श्यामाच्छबलं प्रपद्ये' इत्यादि मन्त्रोंमें तथा छान्दोग्योपनिषद्के अन्तिम भागमें रसकी नित्यता तथा मुक्त जीवोंकी उनके अपने-अपने रसके अनुसार कृष्ण सेवाका वर्णन किया गया है। शब्दोंकी लक्षणावृत्ति ही गौणवृत्ति है। याज्ञवल्क्य गार्गी और मैत्रेयी-संवादके प्रारम्भमें लक्षणावृत्ति द्वारा कृष्णलीलाका वर्णन है और अन्तमें मुख्यवृत्ति द्वारा अर्थात् अभिधावृत्ति द्वारा कृष्णकी श्रेष्ठता स्थापित की गयी है। वेदोंमें कहीं-कहीं अन्वय पद्धतिके द्वारा भगवान्की नित्य लीलाको लक्ष्य किया गया है और अनेक स्थानोंपर व्यतिरेक पद्धतिका अवलम्बनकर ब्रह्म और परमात्माकी महिमाका वर्णन किया गया है। वस्तुतः श्रीकृष्णका वर्णन करना ही वेदोंकी प्रतिज्ञा है।

ब्रजनाथ—बाबाजी महाशय! भगवान् ही परमतत्त्व हैं—इसमें सन्देह नहीं; किन्तु ब्रह्मा, शिव, इन्द्र, सूर्य, गणेश आदि देवताओंकी वास्तविक स्थिति क्या है?—बतलानेकी कृपा करें। कुछ ब्राह्मण लोग महादेवको ही सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मतत्त्व मानकर उनकी उपासना करते हैं। हम ऐसे ही ब्राह्मण कुलमें पैदा हुए हैं, जन्मसे लेकर अबतक वैसी ही बातें कहते और सुनते आये हैं। मैं इनका यथार्थ तत्त्व जानना चाहता हूँ।

बाबाजी—साधारण जीव, उपास्य देव-देवी और भगवान्के गुणोंको मैं तुम्हें पृथक्-पृथक् बतला रहा हूँ। इन गुणोंके तारतम्यके अनुसार तुम आसानीसे सर्वश्रेष्ठ उपास्य-तत्त्वको जान

सकते हो—

अयं नेता सुरम्याङ्गः सर्वसल्लक्षणान्वितः।
रुचिरस्तेजसा युक्तो बलीयान् वयसाऽन्वितः॥
विविधाद्भुतभाषावित् सत्यवाक्यः प्रियंवदः।
वावदूकः सुपाण्डित्यो बुद्धिमान् प्रतिभाऽन्वितः॥
विदग्धश्चतुरो दक्षः कृतज्ञः सुदृढव्रतः।
देशकालसुपात्रज्ञः शास्त्रचक्षुः शुचिर्वशी॥
स्थिरोदान्तः क्षमाशीलो गम्भीरो धृतिमान् समः।
वदान्यो धार्मिकः शूरः करुणो मान्यमानकृत्॥
दक्षिणो विनयी ह्रीमान् शरणागतपालकः।
सुखी भक्तसुहृत् प्रेमवश्यः सर्वशुभङ्करः॥
प्रतापी कीर्तिमान् रक्तलोकः साधुसमाश्रयः।
नारीगणमनोहारी सर्वाराध्यः समृद्धिमान्॥
वरीयानीश्वरश्चेति गुणास्तस्यानुकीर्तिताः।
समुद्रा इव पञ्चाशद् दुर्विगाहा हरेरमी॥
जीवेष्वेते वसन्तोऽपि बिन्दुबिन्दुतया क्वचित्।
परिपूर्णतया भान्ति तत्रैव पुरुषोत्तमे॥
अथ पञ्च गुणा ये स्युरंशेन गिरिशादिषु॥
सदास्वरूपसम्प्राप्तः सर्वज्ञो नित्यनूतनः।
सच्चिदानन्दसान्द्राङ्गः सर्वसिद्धिनिषेवितः॥ (२२)

---

(२२) नायक स्वरूप श्रीकृष्णके गुण ये हैं—(१) अत्यन्त मनोहर अङ्ग, (२) सर्व सुलक्षणोंसे युक्त, (३) सुन्दर, (४) महातेजस्वी, (५) बलवान, (६) किशोर वयसयुक्त, (७) विविध प्रकारके अद्भुत भाषाविद्, (८) सत्यवाणी बोलनेवाले, (९) मृदुभाषी, (१०) वाक्पटु, (११) बुद्धिमान्, (१२) सुपण्डित, (१३) प्रतिभाशाली, (१४) विदग्ध अर्थात् रसिक, (१५) चतुर, (१६) निपुण, (१७) कृतज्ञ, (१८) सुदृढ़-व्रत, (१९) देश-कालपात्रके सम्बन्धमें सुविज्ञ, (२०) शास्त्रदृष्टिसे युक्त, (२१) पवित्र, (२२) जितेन्द्रिय, (२३) स्थिर, (२४) संयमी, (२५) क्षमाशील, (२६) गम्भीर, (२७) धीर, (२८) सम, (२९) वदान्य अर्थात् उदार, (३०) धार्मिक, (३१) शूर, (३२) करुण, (३३) मानद अर्थात् दूसरोंको मान देनेवाला, (३४) दक्षिण अर्थात् अनुकूल, (३५) विनयी, (३६) लज्जायुक्त, (३७) शरणागत पालक, (३८) सुखी, (३९) भक्तसुहृद, (४०) प्रेमके अधीन, (४१) मङ्गलकारी, (४२) प्रतापी, (४३) कीर्त्तिशाली, (४४) सबका प्रिय, (४५) सज्जनोंका पक्ष ग्रहणकारी, (४६) नारी-मनोहारी, (४७) सबका आराध्य, (४८) ऐश्वर्यशाली, (४९) श्रेष्ठ, (५०) ईश्वर। ये ५० गुण भगवान् श्रीकृष्णमें समुद्रकी तरह अगाध और असीम रूपमें वर्त्तमान हैं। ये उपरोक्त ५० गुण जीवोंमें बिन्दु-बिन्दु रूपमें वर्त्तमान हैं, किन्तु पुरुषोत्तम भगवान में पूर्णमात्रामें हैं। श्रीकृष्णके अन्य ५ गुण जो ब्रह्मा, शिवादि देवताओंमें वर्तमान हैं, वे ये हैं—(१) सदा स्वरूपमें स्थिति, (२) सर्वज्ञ, (३) नित्य-नवीन, (४) सच्चिदानन्द-घनीभूत-स्वरूप, (५) सर्वसिद्धियोंसे सेवित। उपरोक्त

अथोच्यन्ते गुणाः पञ्च ये लक्ष्मीशादिवर्तिनः।
अविचिन्त्यमहाशक्तिः कोटिब्रह्माण्डविग्रहः॥
अवतारावलीबीजं हतारिगतिदायकः।
आत्मारामगणाकर्षीत्यमी कृष्णेत किलाद्भुताः॥[२३]

सर्वाद्भुतचमत्कारलीलाकल्लोलवारिधिः।
अतुल्यमधुरप्रे ममण्डितप्रियमण्डलः॥
त्रिजगन्मानसाकर्षीमुरलीकलकूजितैः।
असमानोर्द्धरूपश्रीः विस्मापितचराचरः॥[२४]

लीलाप्रेम्णा प्रियाधिक्यं माधुर्य्यं वेणुरूपयोः।
इत्यसाधारणं प्रोक्तं गोविन्दस्य चतुष्टयम्॥[२५]

(भ० र० सि० २/१/२३-३०, ३७-४३)

ये ६४ गुण सच्चिदानन्द श्रीकृष्णमें पूर्णमात्रामें शुद्ध चित्—भावमें नित्य प्रकाशित हैं। शेषोक्त चार गुण श्रीकृष्णस्वरूपको छोड़कर उनकी किसी भी दूसरी विलास—मूर्तियोंमें नहीं होते। इन चारों गुणोंको छोड़कर अवशिष्ट ६० गुण पूर्णमात्रामें और पूर्णचित् रूपमें चित्—घनविग्रहयुक्त नारायणमें शोभा पाते हैं। शेषोक्त नौ गुणोंको छोड़कर बाकी ५५ गुण आंशिक रूपमें ब्रह्मा और शिव आदि देवताओंमें पाये जाते हैं। पहले के ५० गुण समस्त जीवोंमें बिन्दु रूपमें होते हैं। शिव, ब्रह्मा, सूर्य, गणेश और इन्द्र—ये देवतागण भगवान्के आंशिक गुणोंसे युक्त होते हैं तथा संसाररूप व्यापारको चलानेके लिए अधिकार प्राप्त भगवत्—विभूतिरूप एक प्रकारके अवतार विशेष हैं। ये सब देवता स्वरूपतः भगवान्के दास हैं। उनकी कृपासे बहुतोंने भगवद्भक्ति प्राप्त की है। जीवोंके अधिकार भेदसे ये देवता भी जीवोंकी उपास्य-कोटिमें आते हैं। भगवद्भक्तिके अङ्गस्वरूप इनकी पूजा करना विधिके अन्तर्गत है। वे कृपाकर अनन्य कृष्णभक्ति दान करनेपर जीवोंके गुरुके रूपमें नित्य पूजित

५०+५=५५ गुण देवताओंमें आंशिक परिमाणमें वर्त्तमान हैं।

(२३) लक्ष्मीपति नारायणमें उपरोक्त ५५ गुणोंके अलावा और भी ५ गुण होते हैं—(१) अचिन्त्य महाशक्तिशाली, (२) कोटि ब्रह्माण्ड-विग्रहत्व, (३) समस्त अवतारोंके मूल बीज या कारण, (४) अपने हाथोंसे मारे गयेको गतिदायक, (५) आत्माराम जीवोंके भी आकर्षक। ये पाँच गुण ब्रह्मा, शिव आदिमें नहीं होते, किन्तु श्रीकृष्णमें अत्यन्त अद्भुत भावसे पूर्ण रूपमें वर्त्तमान हैं।

(२४) उपरोक्त ५०+५+५ गुणोंके अतिरिक्त श्रीकृष्णमें और भी ४ गुण अधिक हैं। ये ४ गुण हैं—(१) सर्वाधिक चमत्कारपूर्ण लीलारूप तरङ्गोंके अगाध समुद्र, (२) अतुलनीय मधुरप्रेम द्वारा सुशोभित तथा अपने प्रियपात्रोंके मङ्गलस्वरूप, (३) तीनों लोकोंको आकर्षित करनेवाली मुरलीकी तान, (४) चराचर विश्वको चकित और मुग्ध कर देनेवाली अतुलनीय रूप-श्री।

(२५) (१) लीलामाधुरी, (२) प्रेममाधुरी, (३) रूपमाधुरी, और (४) वेणुमाधुरी—ये श्रीकृष्णके असाधारण गुण हैं। इन चारोंको लेकर श्रीकृष्णके ६४ गुण और लक्षण बतलाये गये हैं।

होते हैं। देव–देव महादेव भगवद्भक्तिमें इतने पूर्ण होते हैं कि वे भगवत्–तत्त्वसे अभेद जैसे प्रतीत होते हैं। यही कारण है कि मायावादी महादेवको चरम ब्रह्मतत्त्व मानकर उनकी आराधना करते हैं।

॥तेरहवाँ अध्याय समाप्त॥

चौदहवाँ अध्याय
प्रमेयके अन्तर्गत शक्ति-विचार

ब्रजनाथ वृद्ध बाबाजीके कल रातवाले विचारोंसे बड़े ही प्रभावित हुए हैं। आज दिन भर उन्हीं सब विचारोंपर गम्भीर चिन्तनकर बड़े आनन्दका अनुभव कर रहे हैं। बीच-बीचमें मन-ही-मन कहते—अहा! श्रीगौराङ्गदेवकी शिक्षाएँ क्या ही अपूर्व हैं? सुननेके साथ ही मानो हृदयमें अमृतका समुद्र लहराने लगता है। जितना ही सुनता हूँ, सुननेकी पिपासा और भी बढ़ती जाती है। बाबाजी महाराजके मुखसे मानो तत्त्वका अमृत बरसता है, जिसे सुनकर मन तृप्त नहीं होता। सिद्धान्त क्या होते हैं पूरे नपे-तुले हुए होते हैं, उनका कोई भी अंश असङ्गत नहीं होता। लगता है, उन सिद्धान्तोंके पीछे-पीछे समस्त शास्त्र दौड़ते हुए आ रहे हों—उनके एक-एक अक्षरका प्रतिपादन करनेके लिए। समझमें नहीं आता, आखिर ब्राह्मण समाज इनकी निन्दा क्यों करता है? मालुम होता है, मायावादके प्रति पक्षपातित्व ही ब्राह्मण मण्डलीके असैद्धान्तिक होनेका कारण है।

ऐसा सोचते-सोचते वे रघुनाथदास बाबाजीकी कुटीपर पहुँचे। उन्होंने पहले कुटीको और अनन्तर बाबाजी महाशयको दर्शनकर दण्डवत् प्रणाम किया। बाबाजीने उन्हें बड़े प्रेमसे गले लगाकर अपने निकट ही बैठा लिया।

ब्रजनाथने बैठते-बैठते उत्कण्ठित होकर कहा—प्रभो! कल आपने मुझे श्रीदशमूलका तृतीय मूल-श्लोक सुनानेको कहा था। उसे सुननेके लिए मेरी बड़ी इच्छा हो रही है। कृपाकर उसे सुनाइये।

ब्रजनाथकी बात सुनकर बाबाजी बड़े आनन्दित हुए और पुलकित होकर कहने लगे —

पराख्यायाः शक्तेरपृथगपि स स्वे महिमनि
स्थितो जीवाख्यां स्वामचिदभिहितां तां त्रिपदिकाम्।
स्वतन्त्रेच्छः शक्तिं सकलविषये प्रेरणपरो
विकाराद्यैः शून्यः परम-पुरुषोऽयं विजयते॥

(दशमूल ३)

अर्थात्, अपनी अचिन्त्य पराशक्तिसे अभिन्न होते हुए भी भगवान् स्वतन्त्र इच्छामय हैं, वे परमपुरुष स्व-महिम-स्वरूपमें नित्य स्थित होते हैं। चित्-शक्ति, जीवशक्ति और मायाशक्ति रूप तीन पदोंसे युक्त अपनी पराशक्तिको उपयुक्त विषयोंके व्यापारमें सर्वदा प्रेरणा करते हैं। ऐसा करते हुए भी स्वयं निर्विकार रहकर वे परमतत्त्वरूप भगवान् अपने पूर्ण स्वरूपमें नित्य विराजमान होते हैं।

ब्रजनाथ—ब्राह्मण-मण्डलीका कथन यह है कि—परमतत्त्व ब्रह्मावस्थामें लुप्तशक्ति है और ईश्वरावस्थामें वही व्यक्तशक्ति है। मैं इस विषयमें वेदोंका सिद्धान्त सुनना चाहता हूँ।

बाबाजी—समस्त अवस्थाओंमें ही परमतत्त्वकी शक्तिका परिचय पाया जाता है। वेद कहते हैं—

न तस्य कार्यं करणञ्च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।

परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च॥[१]

(श्वे० उ० ६/८)

चित्-शक्तिके सम्बन्धमें—

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।
यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः॥[२]

(श्वे० उ० १/३)

जीवशक्तिके सम्बन्धमें—

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां वह्वीः प्रजाः सृजमानां स्वरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥ [३]

(श्वे० उ० ४/५)

मायाशक्तिके सम्बन्धमें—

छन्दांसि यज्ञाः क्रतवो व्रतानि
भूतं भव्यं यच्च वेदा वदन्ति।
अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्
तस्मिंश्चान्यो मायया सन्निरुद्धः॥[४]

---

(१) उन परब्रह्म परमात्माकी कोई भी क्रिया प्राकृत नहीं होती, क्योंकि उनका कोई भी करण—हस्तपादादि इन्द्रिय प्राकृत नहीं होता। प्राकृत करणके बिना ही उनकी अप्राकृत लीलाका कार्य होता है। वे अप्राकृत शरीरसे एक ही समय सब जगह विराजमान रहते हैं। इसलिए उनसे बड़ा तो दूर रहे, उनके समान भी कोई दूसरा नहीं दीखता। उन परमेश्वरकी अलौकिकी शक्ति नाना प्रकारकी सुनी जाती है, जिनमें ज्ञानशक्ति, बलशक्ति और क्रियाशक्ति—ये तीन प्रधान हैं इन तीनोंको क्रमशः चित्-शक्ति या सम्वित्-शक्ति, सत्-शक्ति या सन्धिनीशक्ति और आनन्दशक्ति या ह्लादिनीशक्ति भी कहते हैं।

(२) तत्त्वज्ञ ऋषियोंने समाधि योगमें स्थित होकर परब्रह्मके गुणोंसे विभावित होकर अपने गुणोंके द्वारा उन भगवान्‌की अत्यन्त रहस्यपूर्ण दिव्य और स्वकीय (स्वरूपभूत) शक्तियोंका साक्षात्कार किया, जो निखिल कारणसमूहके एवं जीव, प्रकृति, काल और कर्मके एकमात्र अधिष्ठाता या नियामक हैं।

(३) लाल, सफेद और कालेरङ्गकी अर्थात् रज, सत्त्व और तम—इन तीनों गुणोंसे युक्त बहुत-से भूत-समुदायको प्रकाशित करने वाली 'स्वरूपा' अर्थात् भगवान्‌के समान एक अजाका (अजन्मा, अनादि प्रकृतिका) एक श्रेणीके अज (अज्ञानी जीव) भजन करते हैं, परन्तु दूसरे प्रकारके अज (ज्ञानी) पुरुष उस भोगी हुई प्रकृतिका सम्पूर्ण रूपसे त्याग कर देते हैं।

(४) जो सब वेदोंके उपदेश हैं, घृत आदि द्वारा होनेवाले याग, यज्ञ, क्रतु अर्थात् ज्योतिष्टोम आदि विशेष यज्ञ हैं, नाना प्रकारके व्रत तथा और भी जो कुछ भूत, भविष्य और वर्त्तमान पदार्थ अर्थात् सम्पूर्ण विश्व है, जिनका वेदोंमें वर्णन पाया जाता है, इन सबको माया-प्रकृतिके अधीश्वर परमात्माने रचा है। इस प्रकार रचे हुए इस जगत् में अज जीव-समुदाय उनकी (परमात्माकी) माया द्वारा बँधा हुआ है।

(श्वे० उ० ४/९)

‘**परास्य शक्ति**’—इस वेद-मन्त्रमें परमतत्त्वकी श्रेष्ठतम अवस्थामें भी एक पराशक्तिको स्वीकार किया गया है। वेदमें कहीं भी परमतत्त्वकी निःशक्तिक अवस्थाका वर्णन नहीं पाया जाता। उस परमतत्त्वके सविशेष-आविर्भावका नाम भगवान् और निर्विशेष-आविर्भावका नाम ब्रह्म है। इस निर्विशेष गुण (ब्रह्म) को भी पराशक्ति ही प्रकाशित करती है। अतएव निर्गुण निर्विशेष ब्रह्ममें भी शक्तिका परिचय पाया जाता है। उस पराशक्तिको वेदों और उपनिषदोंमें कहीं स्वरूपशक्ति, कहीं चिच्छक्ति और कहीं अन्तरङ्गशक्ति कहा गया हैं। लुप्तशक्ति—ब्रह्म वास्तवमें कोई वस्तु नहीं—मायावादियोंका एक काल्पनिक तत्त्व है। निर्विशेष ब्रह्म वस्तुतः मायावादसे परे होता है। वेदमें सविशेष ब्रह्मके सम्बन्धमें इस प्रकार वर्णन आया है—

य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगाद्
वर्णाननेकान् निहितार्थो दधाति॥[५]

(श्वे० उ० ४/१)

य एको जालवानीशत ईशनीभिः
सर्वांल्लोकानीशत ईशनीभिः॥ [६]

(श्वे० उ० ३/१)

अब देखो, परम तत्त्वकी शक्ति कभी लुप्त नहीं होती। परमतत्त्व सर्वदा स्वप्रकाश तत्त्व है। उस स्वप्रकाश तत्त्वकी तीन प्रकारकी शक्तियोंका वर्णन इस वेद मन्त्रमें पाया जाता है—

स विश्वकृद् विश्वविदात्मयोनिर्ज्ञः
कालकालो गुणी सर्वविद् यः।
प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः
संसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुः॥[७]

(श्वे० उ० ६/१६)

इस मन्त्रमें पराशक्तिके तीन पदोंको बतलाया गया है। ‘प्रधान’ शब्दसे मायाशक्तिको, ‘क्षेत्रज्ञ’ शब्दसे जीवशक्तिको और ‘क्षेत्रज्ञपति’ शब्दसे चित्-शक्तिको लक्ष्य किया गया है। मायावादमें जो ब्रह्म-अवस्थाको लुप्त-शक्तिका तथा ईश्वरावस्थाको व्यक्त-शक्तिका प्रकाश बतलाया जाता है, वह एक काल्पनिक मतवाद मात्र है। वास्तवमें भगवान् सर्वदा

---

(५) जो एक वर्ण (रङ्ग) होकर भी अपनी विविध शक्तियोंके प्रभावसे अनेक भावोंको (रङ्गोंको) धारण करता है एवं जिसमें अनेक वर्ण अर्थात् विविध प्रकारकी शक्तियाँ अथवा सम्पूर्ण विश्व निहित है। (वे सम्पूर्ण विश्वके सृष्टिकर्त्ता हैं।)

(६) जो एक अद्वितीय जगत्‌रूप जालके ईश्वर हैं अर्थात् मायापति हैं, वे अपनी ऐसी— शक्ति द्वारा सम्पूर्ण जगत्‌को नियमित करते हैं।

(७) वे (परमात्मा) विश्वके रचयिता, सर्वज्ञ, आत्मयोनि अर्थात् स्वयं ही अपने प्राकट्यके हेतु, कालके भी महाकाल, सम्पूर्ण दिव्य गुणोंसे सम्पन्न, सबको जाननेवाले; प्रधान (माया) के अधीश्वर, क्षेत्रज्ञपति, समस्त गुणोंके ईश्वर अर्थात् गुणोंसे अतीत या उनके नियन्ता तथा जन्म-मृत्यु रूप संसारमें बाँधने, स्थित रखने तथा उससे मुक्त करनेवाले हैं।

सर्वशक्तिमान हैं। उनकी सभी अवस्थाओंमें उनकी शक्तिका परिचय पाया जाता है।

वे नित्यकाल अपने स्वरूपमें स्थित रहते हैं तथा वे उसी स्वरूपमें समस्त शक्तियोंसे युक्त होकर भी स्वयं स्वेच्छामय परमपुरुष हैं।

ब्रजनाथ—यदि वे शक्तिसे युक्त हैं तो शक्ति द्वारा परिचालित होकर ही वे कार्य करते हैं। फिर उनकी स्वतन्त्रता और स्वेच्छामयता कहाँ रही?

बाबाजी—"**शक्ति शक्तिमतोरभेदः**"—वेदान्तके इस सूत्रसे शक्ति और शक्तिमान पुरुषको परस्पर अभिन्न माना गया है। कार्य-शक्तिका परिचय है अर्थात् शक्ति द्वारा ही कोई कार्य सम्पन्न होता है। परन्तु कार्य करनेकी इच्छा शक्तिमानका परिचय है। जड़ जगत्—मायाशक्तिका कार्य है; जीवसमूह—जीवशक्तिका कार्य है और चित्-जगत् चित्-शक्तिका कार्य है। चित्-शक्ति, जीवशक्ति और मायाशक्तिको उनके अपने-अपने कार्यों में प्रवृत्त होनेकी प्रेरणा देकर भी भगवान् स्वयं कार्यसे निर्लिप्त और निर्विकार हैं।

ब्रजनाथ—स्वेच्छासे कार्य करके भी वे स्वयं निर्विकार कैसे रह सकते हैं? क्योंकि स्वेच्छामय होना ही तो विकार हो गया।

बाबाजी—निर्विकार कहनेका तात्पर्य मायिक विकारसे शून्य होना है। माया-स्वरूपशक्तिकी छाया है। मायाका कार्य सत्य होनेपर भी नित्य सत्य नहीं होता। अतएव परमतत्त्वमें मायाका विकार नहीं होता। उसमें इच्छा और विलासरूप जो विकार होता है, वह चिद्वैचित्र्य अर्थात् चिन्मय प्रेमका विकास विशेष है। उसे किसी प्रकारकी जड़ीय अपवित्रता आदि स्पर्श नहीं कर सकती। वैसी चिद्विचित्रता अद्वयज्ञान (भगवान्) में होती है। स्वेच्छापूर्वक मायिक शक्ति द्वारा जड़ जगत्‌की उत्पन्न करके भी उनकी चित् स्वरूपता अखण्ड रूपसे वर्त्तमान रहती है। चिद्वैचित्र्य (भगवान्‌की लीला आदि चित्-जगत्‌की किसी भी व्यापार) से मायाका कुछ भी सम्बन्ध नहीं होता। जिनकी बुद्धि मायिक होती है, वे जीव चिन्मय जगत्‌की विचित्रताओंको मायिक व्यापारके समान देखते हैं। जैसे पीलिया रोगके रोगीको सभी पदार्थ पीले दिखायी देते हैं तथा जिस प्रकार मेघ द्वारा आच्छादित आँखें सूर्यको मेघाच्छन्न देखती हैं। उसी प्रकार मायिक बुद्धिवाले जीव चिन्मय नाम, चिन्मय रूप, चिन्मय गुण तथा चिन्मयी लीलाको भी मायिक रूपमें देखते हैं। तात्पर्य यह कि मायाशक्ति-चित्-शक्तिकी छाया है। अतएव चित् कार्योंमें जो-जो विचित्रताएँ होती हैं, वे सब मायाके कार्योंमें भी प्रतिफलित होती हैं। अतः मायाशक्तिमें दिखायी देनेवाली विचित्रताएँ चित्-शक्तिगत विचित्रताओंका हेय (अशुद्ध) प्रतिफलन अर्थात् छाया मात्र है। बाह्य दृष्टिसे दोनोंमें समानता रहनेपर भी ये दोनों विचित्रताएँ एक दूसरेके सम्पूर्ण विपरीत हैं। जैसे एक बड़े काँचके आइनेमें पड़ी मनुष्यकी छाया और उसकी कायामें स्थूल दृष्टिसे साम्य होनेपर भी सूक्ष्म दृष्टिसे दोनों परस्पर विपरीत हैं, एक काया है—दूसरी उसीकी छाया है; कायाके अङ्ग-प्रत्यङ्ग छायामें उलटे दिखायी देते हैं अर्थात् बाँया हाथ दाहिनी ओर और दाहिना हाथ बाँयी ओर, बाँयीं आँख दाहिनी ओर तथा दाहिनी आँख बाँयी ओर दीख पड़ती है। उसी प्रकार चित्-जगत्‌की विचित्रता और मायिक जगत्‌की विचित्रता स्थूलतः एक समान दिखायी पड़ने पर भी सूक्ष्म दृष्टिसे दोनों परस्पर विपरीत हैं। मायिक विचित्रता-चित् विचित्रताका ही विकृत प्रतिफलन है। इसलिए दोनोंके वर्णनोंमें यद्यपि साम्य-सा है, तथापि वस्तुगत पार्थक्य है। मायिक विकारसे रहित वे स्वेच्छामय पुरुष मायाके अध्यक्ष-स्वरूप होकर माया द्वारा अपना

कार्य करवाते हैं।

ब्रजनाथ—श्रीमती राधिका श्रीकृष्णकी कौन-सी शक्ति हैं?

बाबाजी—श्रीकृष्ण जैसे पूर्ण शक्तिमान तत्त्व हैं, श्रीमती राधिका भी वैसे ही उनकी पूर्ण शक्ति हैं। श्रीमती राधिकाको पूर्ण स्वरूपशक्ति भी कहा जा सकता है। जैसे कस्तूरी और उसकी गन्ध परस्पर अविच्छिन्न हैं, जैसे अग्नि और उसकी दाहिका शक्ति परस्पर अपृथक् है, उसी प्रकार श्रीमती राधिका और कृष्ण भी लीलारस आस्वादनके स्थलमें नित्य पृथक् होते हुए भी सर्वदा अपृथक् हैं। उन स्वरूपशक्ति (श्रीमती राधिका) की तीन प्रकारकी क्रिया-शक्तियाँ हैं—चित्-शक्ति, जीवशक्ति और मायाशक्ति। चित्-शक्तिका दूसरा नाम 'अन्तरङ्गाशक्ति', जीवशक्तिका दूसरा नाम 'तटस्थाशक्ति' और मायाशक्तिका दूसरा नाम 'बहिरङ्गाशक्ति' है। स्वरूपशक्ति एक होनेपर भी उक्त तीन रूपोंमें कार्य करती है। स्वरूपशक्तिके जो सब नित्य लक्षण हैं, वे चित्-शक्तिमें पूर्ण रूपमें, जीवशक्तिमें अणु रूपमें तथा मायाशक्तिमें विकृत रूपमें प्रकाशित हैं। इन उपरोक्त तीन प्रकारकी क्रिया-शक्तियोंके अतिरिक्त स्वरूपशक्तिकी और भी तीन प्रकारकी वृत्तियाँ हैं। उनके नाम हैं—ह्लादिनी, सन्धिनी और सम्वित्, दशमूलमें उनका इस प्रकार वर्णन है—

स वै ह्लादिन्यायाः प्रणयविकृतेर्ह्लादनरत—
स्तथा सम्विच्छक्तिप्रकटितरहो भावरसितः।
तया श्रीसन्धिन्या कृतविशद तद्धामनिचये
रसाम्भोधौ मग्नो व्रजरसविलासी विजयते॥

(दशमूल ४)

अर्थात् स्वरूपशक्तिकी तीन प्रकारकी वृत्तियाँ हैं—ह्लादिनी, सन्धिनी और सम्वित्। ह्लादिनीके प्रणय विकारमें कृष्ण सदा अनुरक्त रहते हैं, सम्वित्-शक्ति द्वारा प्रकटित अन्तरङ्ग भावोंके द्वारा वे सर्वदा रसिक-स्वभाव हैं तथा सन्धिनीशक्ति द्वारा प्रकटित निर्मल वृन्दावन आदि धामोंमें स्वेच्छामय व्रजरस विलासी कृष्ण नित्य-रससमुद्रमें निमग्न रहते हैं।

तात्पर्य यह है कि स्वरूपशक्तिकी ह्लादिनी, सन्धिनी और सम्वित्—इन तीनों वृत्तियोंका प्रभाव चित्-शक्ति, जीवशक्ति और मायाशक्तिके प्रत्येक कार्योंमें ओतप्रोत रहता है। स्वरूपशक्तिकी ह्लादिनी वृत्ति वृषभानुनन्दिनी श्रीमती राधिकाके रूपमें कृष्णको सम्पूर्ण चिदाह्लाद अर्थात् चिन्मय आनन्द प्रदान करती है। वे महाभाव स्वरूपा (सम्पूर्ण भावोंकी समष्टि रूपा) श्रीमती राधिका स्वयं श्रीकृष्णको सब प्रकारसे आनन्द प्रदान करती तो हैं ही, अपने कायव्यूह स्वरूप आठ प्रकारके भावोंको अष्ट सखी और चार प्रकारके सेवाभावोंको प्रियसखी, नर्मसखी, प्राणसखी और परमप्रेष्ठसखी—इन चार श्रेणीकी सखियोंके रूपमें नित्य प्रकटित रखती हैं। ये समस्त सखियाँ चित्-जगत्रूप व्रजकी नित्यसिद्ध-सखियाँ हैं। स्वरूपशक्तिकी सम्वित्-वृत्ति व्रजके समस्त प्रकारके सम्बन्ध भावोंका प्रकाश करती है। सन्धिनी व्रजके पृथ्वी और जल आदिसे युक्त ग्राम, वन, उपवन, गिरिगोवर्धन आदि विलास-पीठ तथा श्रीराधिका, श्रीकृष्ण, सखी, सखा, गोधन और दास-दासियोंके चिन्मय कलेवर और विलासके समस्त प्रकारके चिन्मय उपकरणोंको प्रकाशित करती है। श्रीकृष्ण ह्लादिनीके प्रणय-विकार रूप परमानन्दमें सर्वदा विभोर रहते हैं तथा सम्वित्-वृत्ति द्वारा प्रकटित भिन्न-भिन्न भावोंसे युक्त होकर प्रणय-रसका आस्वादन करते हैं। वंशी बजाकर उससे गोपियोंको आकर्षण, गोचारण

और रास आदि लीला—ये सब क्रियाएँ कृष्ण अपनी पराशक्तिकी सम्वित्–वृति द्वारा सम्पादित करते हैं। सन्धिनी द्वारा प्रकटित धाममें व्रजविलासी श्रीकृष्ण सर्वदा रसमें निमग्न रहते हैं। कृष्णके लीलाधामोंमें व्रजलीला धाम ही सर्वोत्तम है।

ब्रजनाथ—आपने अभी बतलाया है कि सन्धिनी, सम्वित् और ह्लादिनी ये तीनों स्वरूपशक्तिकी वृत्तियाँ हैं तथा स्वरूपशक्तिके एक अणु–अंशको जीवशक्ति और उसके छाया–अंशको मायाशक्ति कहते हैं। अब कृपया इसका एक आभास दीजिये कि इन दोनों शक्तियोंके ऊपर उपरोक्त सन्धिनी, सम्वित् और हादिनी वृत्तियाँ किस प्रकारसे कार्य करती हैं।
बाबाजी—जीवशक्ति स्वरूपशक्तिकी अणु–शक्ति है, इस शक्तिमें स्वरूपशक्तिकी तीनों वृत्तियाँ अणु–अणु मात्रामें विद्यमान हैं। अर्थात् जीवमें ह्लादिनी–वृत्ति—ब्रह्मानन्दके रूपमें, सम्वित्–वृत्ति—ब्रह्मज्ञानके रूपमें तथा सन्धिनी–वृत्ति—अणु चैतन्य रूपमें नित्य वर्त्तमान हैं। इस विषयको जीवतत्त्व विचारमें और भी स्पष्ट रूपसे समझा दूँगा। मायाशक्तिमें ह्लादिनी–वृत्ति जड़ानन्दके रूपमें; सम्वित्–वृत्ति भौतिक–ज्ञानके रूपमें तथा सन्धिनीशक्ति चौदह लोकोंके सम्पूर्ण जड़ ब्रह्माण्ड तथा जीवोंके जड़ शरीरके रूपमें प्रकाशित हैं।

ब्रजनाथ—यदि शक्तिके समस्त कार्य इसी प्रकार चिन्तनीय हैं, तब उसे अचिन्त्य क्यों कहा जाता है?

बाबाजी—इन विषयोंका पृथक्–पृथक् रूपसे तो चिन्तन किया जा सकता है, परन्तु सम्बन्धके क्षेत्रमें सभी अचिन्त्य हैं। इस जड़–जगत्में परस्पर विरुद्ध–धर्मसमूह एक दूसरेको नष्ट कर देनेवाले होते हैं। श्रीकृष्णकी शक्ति ऐसी अचिन्त्य प्रभावयुक्त होती है कि वह चित्–जगत्में सम्पूर्ण विरुद्ध धर्मोंको भी अत्यन्त अद्भुत और सुन्दर रूपमें एक ही समय एक साथ प्रकाश करती है। श्रीकृष्ण रूपवान होते हुए भी अरूप हैं। सर्वव्यापक होते हुए भी मूर्त्तिमान हैं, निर्लेप होते हुए भी सक्रिय हैं, अज होते हुए भी नन्दनन्दन हैं, सर्वाराध्य होते हुए भी गोपकुमार हैं, सर्वज्ञ होते हुए भी नर–भाव प्राप्त हैं। इसी प्रकार वे सविशेष और निर्विशेष हैं, अचिन्त्य और रसमय हैं, असीम और ससीम हैं, अत्यन्त दूरस्थ और अत्यन्त निकटस्थ हैं, निर्विकार होते हुए भी गोपियोंके मानसे भयभीत हैं, कहाँ तक गिनाया जाये, इसी प्रकारके असंख्य परस्पर विरोधी धर्मसमूह श्रीकृष्णस्वरूपमें, कृष्णधाममें तथा कृष्ण–सम्बन्धी उपकरणोंमें नित्यकाल सुन्दर रूपसे निर्विरोध रूपसे एकसाथ अवस्थित हैं। यही शक्तिका अचिन्त्यत्व है।

ब्रजनाथ—क्या वेद ऐसा स्वीकार करते हैं?

बाबाजी—सर्वत्र ही ऐसा स्वीकृत है, श्वेताश्वतरोपनिषद् (३/१९) में कहा गया है—

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स श्रृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति वेद्यं न य तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्रयं पुरुषं महान्तम्॥

ईशोपनिषद् में (५ और ८ म०) भी—

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥[९]

---

(९) वे परमेश्वर चलते भी हैं और नहीं भी चलते, वे दूरसे भी दूर हैं और अत्यन्त समीप भी हैं, वे इस समस्त विश्वके भीतर और बाहर सर्वत्र परिपूर्ण हैं। यही चित्–

स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं
शुद्धमपापविद्धम्। कविर्मनीषी परिभूः।
स्वयंभूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः। (१०)

ब्रजनाथ—क्या वेदमें स्वच्छन्द-शक्तिसे युक्त सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र भगवान्के संसारमें अवतीर्ण होनेका उल्लेख है?

बाबाजी—हाँ, अनेक स्थानोंपर इसका उल्लेख है। तलवकार (केनोपनिषद्) में उमा और महेन्द्र संवादमें कहा गया है कि एक बार देवता और दानवोंमें भयङ्कर युद्ध छिड़ गया। दानवोंकी इस बार करारी हार हुई। वे सिरपर पैर रखकर रण-स्थलसे भाग खड़े हुए। देवता विजयी हुए। यह विजय वस्तुतः भगवान्की ही थी। देवता तो केवल निमित्त मात्र थे। परन्तु देवता इसे भूलकर गर्वसे फूलकर अपने-अपने बल पौरुषकी डींग हाँकने लगे। इसी बीच करुणावरुणालय परब्रह्म भगवान्ने अत्यन्त आश्चर्य रूपसे वहाँ अवतीर्ण होकर उनके गर्वका कारण पूछा और क्रमशः उन्हें एक तिनका देकर उसे ध्वंस करनेके लिए कहा। परन्तु जब अपनी सारी शक्ति लगाकर भी उस तिनकेको न तो अग्निदेव ही जला सके और न वायुदेव ही उसे उड़ा सके, तो देवता बड़े विस्मित हुए। उन्हें भगवान् के अत्यन्त सुन्दर रूप और अद्भुत सामर्थ्यको देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ—

तस्मै तृणं निदधावैतद्दहेति तदुप प्रेयाय।
सर्वजवेन तन्न शशाक दग्धुं स तत एव निववृते,
नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद्यक्षमिति॥

(के० उ० ३/६)

अर्थात् उस यक्षने (भगवान्ने) अग्निदेवके सामने एक तिनका रखकर कहा—"आप इस सूखे तिनकेको जला दीजिये तो आपकी शक्ति देखें।" अग्निदेव उस तिनकेके समीप पहुँचे और पूरी शक्ति लगा दी, किन्तु उसे जला न सके। तब लज्जित होकर वहाँसे लौटकर देवताओंसे बोले—"मैं तो भलीभाँति नहीं जान सका कि यह यक्ष कौन है?"

वेदका गूढ़ तात्पर्य यह है कि भगवान् अचिन्त्य सुन्दर पुरुष हैं तथा वे स्वेच्छासे अवतीर्ण होकर जीवोंके साथ लीला करते हैं।

ब्रजनाथ—भगवान्को रससमुद्र कहा गया है। क्या वेदोंमें कहीं ऐसा वर्णन आया है?

बाबाजी—तैत्तिरीय उपनिषद् (२/७) में ऐसा स्पष्ट वर्णन मिलता है—

यद्वैतत्सुकृतम्। रसो वै सः।
रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति। को ह्येवान्यात्कः प्राण्यात्।
यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्। एष ह्येवानन्दयति॥(११)

ब्रजनाथ—यदि वे रसस्वरूप हैं, तब उन्हें बहिर्मुख लोग क्यों नहीं देख पाते?

जगत् में समस्त विरुद्ध धर्मोंका युगपत् सामंजस्य है।

(११) (पूर्व मन्त्रमें) जिसे सुकृत ब्रह्म कहा गया है, वे परब्रह्म परमात्मा ही रसस्वरूप हैं। जीव इस रसस्वरूप परब्रह्मको प्राप्तकर आनन्दित होता है। हृदयाकाशमें आनन्द-स्वरूप ब्रह्म नहीं रहते तो कौन जीवित रह सकता? अर्थात् कौन जीवन धारण करनेमें समर्थ होता? परमात्मा ही जीवोंको आनन्द प्रदान करता है।

बाबाजी—मायाबद्ध जीवकी स्थिति दो प्रकारकी होती है। पराक् स्थिति और प्रत्यक् स्थिति। पराक् स्थितिमें अवस्थित जीव कृष्णसे विमुख होता है। अतएव वह कृष्णका सौन्दर्य देखनेमें असमर्थ होता है। वह केवल मायिक विषयोंका चिन्तन और दर्शन करता है। प्रत्यक् स्थितिमें अवस्थित जीव मायासे पराङ्मुख और कृष्णके प्रति उन्मुख होता है। अतः वह कृष्णको रसस्वरूप दर्शन करनेमें समर्थ होता है। कठोपनिषद्में कहा गया है—

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमै क्षदावृत्तचक्षुरमृतत्त्वमिच्छन्॥(१२)

ब्रजनाथ—**'रसो वै सः'** इस वेद-मन्त्रमें जिसे रसमूर्ति कहा गया है, वे कौन हैं?

बाबाजी—गोपालतापनी (पूर्व भाग, १२-१३) में कहा गया है—

गोपवेशं (अभ्राभं तरुणं कल्पद्रुमाश्रितम्)
सत्पुण्डरीकनयनं मेघाभं वैद्युताम्बरम्।
द्विभुजं मौनमुद्राढ्यं वनमालिनमीश्वरम्॥(१३)

ब्रजनाथ—अब मैं समझ गया कि श्रीकृष्णस्वरूप ही चित्-जगत्की नित्य—सिद्धस्वरूप हैं, वे ही सर्वशक्तिमान हैं, स्वयं रसस्वरूप हैं तथा सम्पूर्ण रसके आश्रयस्वरूप हैं। ब्रह्मज्ञान आदिके द्वारा उनको प्राप्त नहीं किया जा सकता, अष्टाङ्गयोग द्वारा उनके आंशिक तत्त्व-परमात्माको प्राप्त हुआ जाता है। निर्विशेष ब्रह्म इन्हीं श्रीकृष्णकी अङ्गकान्ति मात्र हैं। नित्य चित्-सविशेषसे युक्त वे श्रीकृष्ण ही जगत्की परमाराध्य हैं, परन्तु उन्हें पानेके लिए कोई उपाय नहीं दीख पड़ता, क्योंकि वे चिन्तासे अतीत हैं। और चिन्ताके अतिरिक्त मनुष्यके पास और दूसरा उपाय ही क्या है? ब्राह्मण अथवा चाण्डाल—कोई भी हो, उसके लिए चिन्तनके सिवाय और उपाय ही क्या है? अतः उनकी कृपा प्राप्त करना बहुत ही कठिन है।

बाबाजी—कठोपनिषद् (२/२/१३) में कहा गया है—

तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्। (१४)

ब्रजनाथ—उन्हें आत्मस्थकर निरन्तर देख पानेसे शाश्वती शान्ति पायी जा सकती है,

---

(१२) स्वयं प्रकट होनेवाले परमेश्वरने समस्त इन्द्रियोंको बाहरकी ओर जानेवाली बनाया है, इसलिए जीव इन्द्रियों द्वारा प्रायः बाहरकी वस्तुओंको ही देखता है, वह अपने हृदयमें अवस्थित भगवान्को नहीं देख पाता। कोई-कोई धीर व्यक्ति ही कृष्णप्रेमरूप अमरत्व पानेकी इच्छासे नेत्र आदि इन्द्रियोंको बाह्य विषयोंसे हटाकर प्रत्यक् आत्मा श्रीभगवान्को देख पाते हैं।

(१३) ग्वालबाल-सा उनका वेश है, (नूतन जलधरके समान श्याम वर्ण है, किशोर अवस्था है तथा वे दिव्य कल्पबृक्षके नीचे विराजमान हैं) विकसित श्वेत कमलके समान उनके नेत्र हैं, उनके श्रीअङ्गोंकी कान्ति नवीन मेघके समान श्याम है, वे विद्युतसदृश तेजोमय पीताम्बर धारण किये हुए हैं, उनकी द्विभुज मूर्ति है, ज्ञानकी मुद्रामें स्थित हैं, गलेमें पैरों तक लम्बी वनमाला शोभा पा रही है, वे श्रीकृष्ण ही सबके ईश्वर हैं।

(१४) जो बुद्धिमान व्यक्ति परमात्माको आत्मस्थ अर्थात् अपने अन्दर दर्शन करता है, वही नित्य और शाश्वती शान्तिको प्राप्त कर सकता है—दूसरा नहीं।

परन्तु उन्हें किस उपायसे देखा जाये—यही तो समझमें नहीं आता।

बाबाजी—कठोपनिषद् (१/२/२३) में कहा गया है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्॥(१५)

श्रीमद्भागवत (१०/१४/२९) में भी कहते हैं—

अथापि ते देव पदाम्बुजद्वयप्रसादलेशानुग्रहीत एव हि।
जानाति तत्त्वं भगवन्महिम्नो न चान्य एकोऽपि चिरं विचिन्वन्॥(१६)

बेटा! मेरे प्रभु बड़े दयालु हैं। उन समस्त आत्माओंके भी आत्मा श्रीकृष्णको अनेक शास्त्रोंको पढ़-सुनकर अथवा तर्क-वितर्क द्वारा नहीं पाया जा सकता। तीक्ष्ण बुद्धि द्वारा अथवा अनेक गुरु करनेसे ही वे प्राप्त हो सकेंगे—ऐसा भी नहीं है। वे तो उसीको प्राप्त होते हैं और उसीके सामने अपना सच्चिदानन्द-घन-स्वरूप प्रकाश करते हैं, जो उन्हें (श्रीकृष्णको) 'मेरा श्रीकृष्ण'—ऐसा स्वीकार कर लेता है। इन विचारोंको तुम अभिधेय तत्त्वके विवेचनके समय सहज ही समझ सकोगे।

ब्रजनाथ—क्या वेदमें कहीं कृष्णके धामोंका नाम लिखा है?

बाबाजी—अनेक स्थलोंपर उल्लेख है। कहीं 'परव्योम' कहीं 'ब्रह्मगोपालपुरी' और कहीं 'गोकुल' आदि अनेक नाम वेदोंमें पाये जाते हैं। जैसे श्वेताश्वतरोपनिषद (४/८) में—

ऋचोऽक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधिविश्वे निषेदुः।
यस्तत्र वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते॥ (१७)

मुण्डकोपनिषद् (२/२/७)—

दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्न्यात्मा प्रतिष्ठितः। (१८)

पुरुषबोधिनी श्रुतिमें—

गोकुलाख्ये माथुरमण्डले द्वेपार्श्वे चन्द्रावलि राधिका च। (१९)

---

(१५) यह परब्रह्म परमात्मा न तो प्रवचनसे, न बुद्धिसे और न अनेक शास्त्रोंके अध्ययनसे ही प्राप्त हो सकता है, परन्तु जिसे वे स्वयं कृपाकर स्वीकार कर लेते हैं, उसीके निकट अपना स्वरूप विशेष रूपसे प्रकट करते हैं।

(१६) हे देव! जो व्यक्ति आपके युगल चरणकमलोंका तनिक सा भी कृपाप्रसाद प्राप्त कर लेता है—उससे अनुगृहीत हो जाता है—वही आपकी सच्चिदानन्दमयी महिमाका तत्त्व जान सकता है। दूसरा कोई भी ज्ञान-वैराग्य आदि अपने साधनोंके द्वारा बहुत समय तक भी अनुसन्धान क्यों न करता रहे, वह आपकी महिमाका यथार्थ तत्त्व नहीं जान सकता।

(१७) ऋक मन्त्रोंके प्रतिपाद्य जिस परव्योम-धाममें विराजमान अक्षर ब्रह्मको आश्रय कर समस्त देवता स्थित हैं, उस परमपुरुषको जो मनुष्य नहीं जानता, वह वेदों द्वारा क्या प्रयोजन सिद्ध करेगा? अर्थात् कुछ भी सिद्ध नहीं कर सकेगा। परन्तु जो उस परमात्माको तत्त्वसे जान लेते हैं, वे कृतार्थ हो जाते हैं।

(१८) वे परमात्मा परव्योमरूप दिव्य ब्रह्मपुरमें नित्य विराजमान हैं।

(१९) 'गोकुल' नामक मथुरामण्डलमें भगवान्की एक ओर श्रीमती राधिका और दूसरी ओर चन्द्रावली विराजमान हैं।

गोपालोपनिषद्में—

तासां मध्ये साक्षात् ब्रह्मगोपालपुरी हि। (२०)

ब्रजनाथ—तान्त्रिक ब्राह्मणगण शिवशक्तिको दुर्गा क्यों कहते हैं? बाबाजी—मायाशक्तिको ही शिवशक्ति कहते हैं। इस मायाके तीन गुण हैं—सत्त्व, रज और तम। सत्त्वगुण सम्पन्न ब्राह्मण सत्त्वगुणकी अधिष्ठात्री मायाकी पूजा कुछ अधिक शुद्ध रूपमें करता है। रजोगुणसे युक्त ब्राह्मण रजोगुण विशिष्ट मायाकी आराधना करता है और तमोगुणका आश्रय करनेवाला ब्राह्मण अन्धकार—तमोगुणकी अधिष्ठात्री मायाको ही विद्या मानकर पूजता है। वास्तवमें भगवान्‌की पराशक्तिकी छायारूप विकारका नाम ही 'मायाशक्ति' है—वह पृथक् रूपमें कोई स्वतन्त्र शक्ति नहीं है। माया ही जीवोंके बन्धन और मोक्षका कारण है। कृष्णसे विमुख होनेपर माया जीवको संसार—बन्धनमें डालकर दण्ड देती है, और कृष्णके प्रति उन्मुख होनेपर वही माया सत्त्वगुणका प्रकाशकर जीवको कृष्णज्ञान प्रदानकर उसे संसारसे मुक्तकर कृष्णप्रेमका अधिकारी बनाती है। इसलिए मायिक-गुणोंसे बँधे हुए जीव मायाका शुद्ध स्वरूप अर्थात् भगवान्‌की स्वरूपशक्तिको देखनेमें असमर्थ होकर छायाशक्तिको (माया) ही आद्याशक्ति मानते हैं। माया-मोहित जीव किसी सौभाग्यसे ही सुकृतिके बलसे इन उच्च सिद्धान्तोंको हृदयंगम करनेमें समर्थ होता है। अन्यथा माया द्वारा मोहित होकर कुसिद्धान्तोंके चक्करमें पड़कर यथार्थ ज्ञानसे वञ्चित रहता है।

ब्रजनाथ—गोकुल उपासनामें दुर्गादेवीकी पार्षदोंमें गणना की गयी है। ये गोकुलवाली दुर्गा कौन है?

बाबाजी—ये गोकुलकी दुर्गा ही योगमाया हैं। चित्-शक्तिके विकारके बीज रूपमें उनकी स्थिति है। इसलिए जब वे चित्-धाममें वर्त्तमान होती हैं। तब वे अपनेको स्वरूपशक्तिसे अभिन्न मानती हैं।

उन्हीं योगमायाका विकारही जड़माया है। जड़मायामें अवस्थित दुर्गा चित्-जगत्‌में स्थित स्वरूपशक्तिगत दुर्गाकी सेविका हैं, स्वरूपशक्तिगत दुर्गा कृष्णकी लीला-पोषणशक्ति हैं। उसी योगमाया द्वारा प्रदत्त पारकीय भावको अवलम्बन करके गोपियाँ नित्यजगत्‌में श्रीकृष्णके रस—विलासकी पुष्टि करती हैं। रासलीलाके **'योगमायामुपाश्रितः'** (२१) (श्रीमद्भा० १०/२९/१) वाक्यका तात्पर्य यह है कि स्वरूपशक्ति द्वारा चिद्विलासमें बहुत से ऐसे कार्य होते हैं, जो अज्ञान जैसे प्रतीत होते हैं, किन्तु वास्तवमें वे कार्य अज्ञान नहीं हैं। महा रसकी पुष्टिके लिए योगमाया अज्ञान जैसे प्रतीत होनेवाले कार्योंकी सृष्टि करती है। इस विषयका विस्तृत विवेचन आगे रस-विचारके प्रसङ्गमें किया जायेगा।

ब्रजनाथ—धामतत्त्वके सम्बन्धमें एक बात जानना चाहता हूँ। वह यह कि वैष्णवजन नवद्वीपको 'श्रीधाम' क्यों कहते हैं?

बाबाजी—श्रीनवद्वीपधाम और श्रीवृन्दावनधाम—दोनों अभिन्न तत्त्व हैं, उस नवद्वीपधाममें मायापुर सर्वोपरि तत्त्व है। व्रजमें जो स्थान गोकुलका है, श्रीनवद्वीपमें वही स्थान श्रीमायापुरका है। मायापुर—नवद्वीपधामका महा योगपीठ है। श्रीमद्भागवत (७/९/३८) के **"छन्नः कलौ"**

---

(२०) अप्राकृत धामसमूहके बीचमें साक्षात् ब्रह्म-गोपालपुरी विराजमान हैं।

(२१) अपनी योगमायाका आश्रयकर श्रीकृष्णने रासलीला करनेकी अभिलाषा की।

श्लोकके अनुसार कलिके पूर्ण अवतार जैसे प्रच्छन्न हैं, उसी प्रकार उनका धाम भी प्रच्छन्न धाम हैं। कलियुगमें नवद्वीपके समान कोई तीर्थ नहीं है। जो इस धामकी चिन्मयता उपलब्धि कर लेता है, वही व्यक्ति व्रजरसका यथार्थ अधिकारी है। ब्रज ही कहिये या नवद्वीप ही कहिये, बहिर्मुख दृष्टिसे दोनों ही प्रपञ्चमय दिखायी देंगे। सौभाग्यसे जिनके चिन्मय नेत्र खुल जाते हैं, केवल वे ही धामका यथार्थ दर्शन करनेमें समर्थ होते हैं।

ब्रजनाथ—इस नवद्वीपधामका स्वरूप जानना चाहता हूँ।

बाबाजी—गोलोक वृन्दावन और श्वेतद्वीप—ये तीनों परव्योमके अन्तःपुर हैं। गोलोकमें श्रीकृष्णकी स्वकीय लीला होती है। वृन्दावनमें पारकीय लीला और श्वेतद्वीपमें उसी लीलाकी परिशिष्ट-लीला होती है। इन तीनोंमें तत्त्वतः कुछ भी भेद नहीं है। नवद्वीप वस्तुतः श्वेतद्वीप होकर भी वृन्दावनसे अभिन्न है। नवद्वीपवासी बड़े सौभाग्यवान हैं—वे सब गौराङ्गदेवके पार्षद हैं। अनेक पुण्य-पुञ्जके फलसे नवद्वीप वास प्राप्त होता है। वृन्दावनमें कोई रस अप्रकाशित है, वही अप्रकाशित रस नवद्वीपधाममें परिशिष्ट रूपमें प्रकाशित है। उस रसका अधिकारी होनेपर ही उसका अनुभव किया जा सकता है।

ब्रजनाथ—नवद्वीपधामका आयतन क्या है?

बाबाजी—श्रीनवद्वीपधामकी परिधि सोलह कोस है। इसका आकार अष्टदल कमलकी भाँति है। सीमन्तद्वीप, गोद्रुमद्वीप, मध्यद्वीप, कोलद्वीप, ऋतुद्वीप, जहुद्वीप, मोदद्रुमद्वीप और रुद्रद्वीप—ये आठ द्वीप आठ दल हैं; इन सबके मध्यमें स्थित अन्तर्द्वीप पुष्पकी कर्णिका है। इस अन्तद्वपके बीचों-बीचमें श्रीमायापुर स्थित है। नवद्वीपधाममें विशेषतः मायापुरमें, भजन—साधन करनेसे अत्यन्त शीघ्र ही कृष्णप्रेमकी सिद्धि हो जाती है। मायापुरके मध्यभागमें महा योगपीठ रूप श्रीजगन्नाथ मिश्रका भवन (मन्दिर) है। सौभाग्यशाली जीव इसी योगपीठमें श्रीगौराङ्गदेवकी नित्य लीलाका नित्य दर्शन करते हैं।

ब्रजनाथ—क्या गौरलीला स्वरूपशक्तिका कार्य है?

बाबाजी—श्रीकृष्णलीला जिस शक्तिकी क्रिया है; गौरलीला भी उसी शक्तिकी क्रिया है। श्रीकृष्ण और गौराङ्गदेवमें कुछ भी भेद नहीं है। श्रीस्वरूप गोस्वामी कहते हैं—

राधाकृष्णप्रणय विकृतिर्ह्लादिनीशक्तिरस्मा-
देकात्मानावपि भूवि पुरा देहभेदं गतौ तौ।
चैतन्याख्यं प्रकटमधुना तद्द्वयं चैक्यमाप्तं
राधाभावद्युतिसुवलितं नौमि कृष्णस्वरूपम्॥[२२]

बाबा! कृष्ण और चैतन्य—ये दोनों नित्यप्रकाश हैं। इनमें कौन आगे है और कौन पीछे, कहा नहीं जा सकता। पहले चैतन्य थे, पीछेसे राधाकृष्ण हुए हैं, फिर दोनों एकत्र होकर अब चैतन्यदेवके रूपमें प्रकटित हैं—इस कथनका तात्पर्य यह है कि इनमें से एक आगे था और दूसरा पीछे हुआ है-ऐसी बात नहीं है। दोनों प्रकाश ही नित्य है, सब समय

---

(२२) राधाकृष्णकी प्रणय-विकृतिरूप ह्लादिनी शक्तिके द्वारा राधाकृष्ण स्वरूपतः एकात्मा होकर भी विलास तत्त्वकी नित्यताके कारण राधा और कृष्ण—दो रूपों में नित्य विराजमान हैं। वे दोनों तत्त्व अब इस समय एक स्वरूपमें अर्थात् चैतन्य तत्त्वके रूपमें प्रकटित हैं। अतएव श्रीमती राधिकाके भाव और कान्तिसे युक्त इस कृष्णस्वरूपको प्रणाम करता हूँ।

हैं और सब समय रहेंगे। परमतत्त्वकी समस्त लीलाएँ नित्य होती हैं। जो इन दोनों लीलाओंमेंसे किसी एकको गौण और दूसरीको मुख्य मानते हैं, वे नितान्त अतत्त्वज्ञ और नीरस हैं।

ब्रजनाथ—यदि श्रीगौराङ्गदेव साक्षात् परिपूर्ण तत्त्व हैं तो उनकी पूजाकी विधि क्या है?

बाबाजी—'गौरनाम-मन्त्र' द्वारा गौरकी पूजा करनेसे वही फल होता है, जो फल 'कृष्णनाम-मन्त्र' द्वारा कृष्णकी पूजा करनसे होता है कृष्ण-मन्त्र द्वारा गौरपूजा अथवा गौर-मन्त्र द्वारा कृष्णपूजा—एक ही बात है। जो लोग गौर और कृष्णमें भेद मानते हैं, वे नितान्त मूर्ख और कलिके दास हैं।

ब्रजनाथ—छन्नावतारका मन्त्र कहाँ पाया जा सकता है?

बाबाजी—जिन तन्त्रोंने प्रकाश्य अवतारोंके मन्त्र लिखे हैं, उन्हीं तन्त्रोंने छन्नावतारका भी मन्त्र छन्न रूपमें लिख रखा है। जिनकी बुद्धि कुटिल नहीं है, वे उसे समझ सकते हैं।

ब्रजनाथ—गौराङ्गका युगल किस प्रणालीसे होता है?

बाबाजी—गौराङ्गका युगल दो प्रकारसे बनता है। अर्चन-मार्गमें एक प्रकारसे और भजन-मार्गमें दूसरे प्रकारसे। अर्चन-मार्गमें श्रीगौर-विष्णुप्रियाकी पूजा होती है और भजन-मार्गमें श्रीगौर-गदाधरकी सेवा होती है।

ब्रजनाथ—श्रीविष्णुप्रिया श्रीगौराङ्गकी कौन-सी शक्ति हैं?

बाबाजी—साधारणतः भक्त लोग उन्हें भू-शक्ति कहते हैं; वास्तवमें वे ह्लादिनीकी सार-समवेत सम्वित्-शक्ति हैं अर्थात् भक्ति-स्वरूपिणी हैं—जो गौरावतारमें 'श्रीनाम' प्रचार रूप कार्यके सहायक रूपमें अवतीर्ण हुई थीं। नवद्वीपधाम जैसे नवधा भक्तिका स्वरूप है, उसी प्रकार विष्णुप्रिया भी नवधा-भक्तिका स्वरूप हैं।

ब्रजनाथ—तो क्या विष्णुप्रिया देवीको स्वरूपशक्ति कहा जा सकता है?

बाबाजी—इसमें क्या सन्देह है? स्वरूपशक्तिकी ह्लादिनीसार-समवेत सम्वित्-शक्ति क्या स्वरूपशक्ति नहीं है?

ब्रजनाथ—प्रभो! मैं जल्दी ही गौर-अर्चन सीखूँगा। अभी मुझे एक बात और स्मरण हो आयी है, कृपाकर उसे अच्छी तरहसे समझा दें। आपने बतलाया है कि चित्-शक्ति, जीवशक्ति और मायाशक्ति—ये तीनों स्वरूपशक्तिके प्रभाव हैं; ह्लादिनी, सम्वित् और सन्धिनी—ये तीनों स्वरूपशक्तिकी तीन वृत्तियाँ; तथा उपरोक्त तीनों प्रभावोंके ऊपर ह्लादिनी, सम्वित् और सन्धिनी—इन तीन वृत्तियोंका जो कुछ कार्य अनुभव किया जाता है—वह सब शक्तिका ही कार्य है। इसके अतिरिक्त चित्-जगत, चित्-शरीर और चित्-लीला—यह सब कुछ शक्तिका ही परिचय है। तब शक्तिमान श्रीकृष्णका परिचय कहाँ है?

बाबाजी—यह तो बड़ी कठिन समस्या है। क्या अपने तर्कके तीक्ष्ण बाणोंसे इस वृद्धका वध करोगे? बेटा! प्रश्न जैसा सरल है, इसका उत्तर भी वैसा ही सरल है। परन्तु कठिन है, इसके उत्तरको समझने वाले अधिकारीका मिलना। मैं बतला रहा हूँ, तुम समझ लो। कृष्णका नाम, रूप, गुण और लीला—यह सबकुछ शक्तिका ही परिचय है, मानता हूँ, परन्तु 'स्वतन्त्रता' और 'स्वेच्छामयता' तो शक्तिके कार्य नहीं हैं। ये दोनों परम पुरुषके स्वरूपगत कार्य हैं, कृष्ण इच्छामय तथा शक्तिके आश्रय रूप परम पुरुष हैं। शक्ति भोग्या

है, कृष्ण भोक्ता हैं। शक्ति अधीन होती है, कृष्ण स्वाधीन हैं, शक्तिने स्वाधीन पुरुषको सब तरहसे घेर रखा है, तथापि स्वाधीन पुरुष सर्वदा पूर्ण रूपसे अनुभूत हैं—स्वाधीन पुरुष शक्ति द्वारा आच्छादित रहनेपर भी शक्तिके अध्यक्ष हैं। मनुष्य शक्तिके आश्रयसे ही उस परम पुरुषका अनुभव कर सकता है। अतएव बद्धजीव शक्तिके परिचयके बिना शक्तिमानके परिचयका अनुभव नहीं कर पाता। परन्तु जब भक्तजन उस शक्तिमानसे प्रेम करते हैं, तब वे शक्तिसे अतीत शक्तिमान नेता (पुरुष) का साक्षात्कार करते हैं। भक्ति—शक्तिमयी होती है, अतएव वे स्त्री स्वरूपा हैं। इसीलिए वे श्रीकृष्णकी स्वरूपशक्तिके अनुगत होकर इच्छामय कृष्णके पुरुषत्व परिचायक पौरुष विलासका अनुभव करती हैं।

ब्रजनाथ—यदि शक्तिसे परे कोई परिचयरहित तत्त्व स्वीकार किया जाता है, तो वह तत्त्व उपनिषद्का 'ब्रह्म' हो जाता है।

बाबाजी—उपनिषद्का ब्रह्म इच्छारहित होता है, किन्तु उपनिषद्-पुरुष कृष्ण स्वेच्छामय हैं। दोनोंमें बहुत अन्तर है। ब्रह्म निर्विशेष होता है और कृष्ण शक्तिसे पृथक् होकर भी सविशेष हैं, क्योंकि कृष्णमें पुरुषत्व, भोक्तृत्व, अधिकार और स्वतन्त्रता है। वस्तुतः कृष्ण और कृष्णशक्ति अभिन्न हैं। वह शक्ति भी जो कृष्णका परिचय देती हैं, साक्षात् कृष्ण ही हैं, क्योंकि कृष्ण-कामिनी शक्ति श्रीराधाके रूपमें अपना परिचय स्त्रीके रूपमें दिया करती हैं। कृष्ण सेव्य हैं, परमाशक्ति श्रीमतीजी उनकी सेवादासी हैं। अपना-अपना अभिमान ही परस्परका भेद-तत्त्व है।

ब्रजनाथ-कृष्णकी इच्छा और भोक्तृत्व यदि पुरुषरूपी कृष्णका ही परिचय है, तब श्रीमतीकी इच्छा क्या है?

बाबाजी—श्रीमतीकी इच्छा कृष्णकी इच्छाके अधीन होती है—कृष्णकी इच्छासे स्वाधीन उनकी कोई भी इच्छा अथवा चेष्टा नहीं होती। इच्छा कृष्णकी ही होती है, उस इच्छाके अधीन कृष्ण सेवाकी इच्छा ही श्रीमती राधिकाकी इच्छा है। श्रीमती राधिका—पूर्णशक्ति या आद्याशक्ति हैं। कृष्ण—पुरुष अर्थात् शक्तिके अधीश्वर प्रवर्तक हैं।

इस कथोपकथनके उपरान्त अधिक रात हुई देखकर बाबाजीने ब्रजनाथको घर जानेकी आज्ञा दी। ब्रजनाथ बाबाजी महाराजको दण्डवत्-प्रणामकर आनन्दसे गद्गद होकर बिल्वपुष्करिणीकी ओर चल पड़े।

ब्रजनाथके भाव दिन-प्रति-दिन बदलते जा रहे हैं। इससे इनके घरवालोंको बड़ी चिन्ता हुई। उनकी पितामहीने जल्दी-से-जल्दी उनका विवाह कर देनेका निश्चय कर लिया। योग्यपात्रीका अनुसन्धान कार्य आरम्भ हो गया, परन्तु ब्रजनाथ इन बातोंसे सर्वथा उदासीन रहते हैं। विवाह-सम्बन्धी बातोंपर तनिक भी कान नहीं देते। दिन-रात बाबाजी महाराजसे श्रवण किये हुए तत्त्वोंके चिन्तनमें डूबे रहते हैं। सुने हुए तत्त्वोंको हृदयंगम कर लेने और पुनः नये-नये अमृतमय उपदेशोंको सुननेके लोभसे श्रीवास अंगनमें बाबाजीके पास स्वतः खिंचे चले जाते हैं।

॥चौदहवाँ अध्याय समाप्त॥

पन्द्रहवाँ अध्याय
प्रमेयके अन्तर्गत जीवतत्त्वका विचार

आज ब्रजनाथ और दिनोंसे पहले ही श्रीनिवास-अङ्गनमें पहुँचे। सन्ध्या-आरति दर्शन करनेके लिए आज गोद्रुमके भक्तजन भी वहाँपर सन्ध्या होनेके पूर्व ही उपस्थित थे। श्रीप्रेमदास परमहंस बाबाजी, वैष्णवदास और अद्वैतदास आदि सभी आरति-मण्डपमें बैठे थे। ब्रजनाथ गोद्रुमवासी वैष्णवोंके भावोंको देखकर ठगेसे रह गये। उन्होंने मन-ही-मन सोचा—मैं भी जितना जल्दी हो सकेगा, इनका सङ्ग लाभकर जीवन सार्थक करूँगा। ब्रजनाथकी सुनम्र और भक्तिमयी मूर्ति देखकर सबने उन्हें आशीर्वाद दिया। कुछ ही देरमें उन लोगोंको दक्षिणकी ओर श्रीगोद्रुम यात्रा करते देखकर वृद्ध बाबाजीने ब्रजनाथके नेत्रोंसे निरन्तर आँसुओंकी धारा बहते देखा। रघुनाथदास बाबाजीको ब्रजनाथके प्रति अपूर्व स्नेह हो गया। उन्होंने बड़े प्रेमसे पूछा—बाबा! तुम क्यों रो रहे हो?

ब्रजनाथने रोते-रोते कहा—प्रभो! आपके मधुर उपदेशोंका स्मरणकर मेरा चित्त विकल हो रहा है—सारा संसार जैसे सारहीन-सा प्रतीत हो रहा है, श्रीगौराङ्गदेवके चरणोंमें आश्रय लेनेके लिए हृदय व्याकुल हो रहा है। आज आप कृपाकर यह बतलाइये कि मैं तत्त्वतः कौन हूँ और किस लिए मैं इस जगत् में आया हूँ?

बाबाजी—बेटा! तुमने इस प्रश्नके द्वारा मुझे धन्य कर दिया। जिस दिन जीवका सौभाग्यसे शुभ दिन उदय होता है, वह सबसे पहले यही प्रश्न करता है। तुम दशमूलका पाँचवाँ श्लोक सुनो, तुम्हारे सारे सन्देह दूर हो जायेंगे।

स्फुलिङ्गाः ऋद्धाग्नेरिव चिदणवो जीवनिचयाः
हरेः सूर्यस्यैवापृथगपि तु तद्भेदविषयाः।
वशे माया यस्य प्रकृतिपतिरेवेश्वर इह
स जीवो मुक्तोऽपि प्रकृतिवशयोग्यः स्वगुणतः॥

(दशमूल ५)

जलती हुई अग्निसे जैसे अनेकों क्षुद्र चिनगारियाँ उड़ती हैं, ठीक उसी प्रकार चित्-सूर्यस्वरूप श्रीहरिके किरण-कण स्थानीय चित्-परमाणु-स्वरूप अनन्त जीव हैं। श्रीहरिसे अभिन्न होते हुए भी ये जीव उनसे नित्य भिन्न हैं। ईश्वर और जीवमें नित्य भेद यह है कि ईश्वर मायाशक्ति अर्थात् प्रकृतिके अधीश्वर हैं और जीव मुक्त अवस्थामें भी अपने स्वभावके अनुसार माया-प्रकृतिके अधीन होने योग्य होता है।

ब्रजनाथ—अपूर्व सिद्धान्त है। इनके सम्बन्धमें वेद-प्रमाण जानना चाहता हूँ। यद्यपि प्रभु-वाक्य ही वेद हैं, तथापि उपनिषदों द्वारा इस सिद्धान्तका प्रतिपादन होनेसे लोग प्रभुकी (महाप्रभुकी) वाणी स्वीकार करनेके लिए बाध्य होंगे।

बाबाजी—वेदोंमें अनेक जगह इस तत्त्वका वर्णन पाया जाता है। मैं उनमेंसे दो एक मन्त्रोंको बतला रहा हूँ—

यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्ति।
एवमेवास्मदात्मनः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति॥ [१]

---

(१) जैसे अग्निसे अनेकों क्षुद्र चिनगारियाँ उड़ती हैं, उसी प्रकार समस्त आत्माओंके भी

(बृ० उ० २/१/२०)

तस्य वा एतस्य पुरुषस्य द्वे एव स्थाने भवत
इदं च परलोकस्थानं च सन्ध्यं तृतीयं स्वप्नस्थानं
तस्मिन् सन्ध्ये स्थाने तिष्ठन्नेते उभे स्थाने
पश्यतीदं च परलोकस्थानं च। [२]

(बृ० उ० ४/३/९)

इस मन्त्रमें जीवशक्तिका तटस्थलक्षण बतलाया गया है। पुनः बृहदारण्यकोपनिषद् (४/३/१८) में कहा गया है—

तद्यथा महामत्स्य उभे कुलेऽनुसञ्चरति पूर्वं चापरं चैवमेवायं
पुरुषएतावुभावन्तावनुसञ्चरति स्वप्नान्तं च बुद्धान्तं च॥ [३]

ब्रजनाथ—'तटस्थ' शब्दका वैदान्तिक अर्थ क्या है?

बाबाजी—जल और भूमिके बीच स्थानको 'तट' कहा जाता है। परन्तु जलसे लगा हुआ स्थान ही भूमि है। फिर 'तट' कहाँ रहा? 'तट'—जल और भूमिके बीच दोनोंको विभक्त करनेवाली रेखा विशेष है। यह तट रेखा स्थूल नेत्रोंसे दिखायी नहीं पड़ती। चित्-जगत्की जल और मायिक जगत्को भूमि मान लेनेपर दोनोंको विभक्त करनेवाली सूक्ष्म रेखा ही 'तट' है। सन्ध्य स्थानपर जीवशक्तिकी स्थिति है। सूर्यकी किरणोंमें जैसे अगणित परमाणु उड़ा करते हैं, उसी प्रकार भगवान्में जीवोंकी स्थिति है। जीव मध्यस्थानमें स्थित होकर एक ओर चित्—जगत्को और दूसरी ओर माया—रचित ब्रह्माण्डको देखता है। भगवान्की चित्-शक्ति एक ओर जैसे असीम है, दूसरी ओर मायाशक्ति भी वैसे ही प्रकाण्ड है। इन दोनोंके बीचमें अनन्त सूक्ष्म जीव स्थित हैं। कृष्णकी तटस्थाशक्तिसे जीव उत्पन्न हुए हैं, इसलिए जीवोंका स्वभाव भी तटस्थ होता है।

ब्रजनाथ—तटस्थ स्वभाव कैसा होता है?

बाबाजी—जिसके द्वारा दोनों जगत्की मध्य स्थित होकर दोनों ओर देखा जा सके। दोनों शक्तियोंके अधीन होनेकी योग्यता ही 'तटस्थ स्वभाव' है। तट जलसे कटकर नदी हो जाता है और पुनः नदीकी धारा बदल जानेसे भूमि खण्डके साथ एक होकर भूमि हो जाता है। जीव यदि कृष्णकी तरफ अर्थात् चित्-जगत् की ओर देखता है, तब वह कृष्णशक्तिसे प्रभावित होकर चित्-जगत् में प्रवेशकर शुद्ध चेतन आत्माके रूपमें भगवान्की

आत्मा-स्वरूप श्रीकृष्णसे समस्त जीव उत्पन्न हुए हैं।

(२) उस जीव-पुरुषके दो स्थान हैं—यह जड़-जगत् और अनुसन्धेय चित्-जगत्। जीव इन दोनोंके मध्य सन्ध्य स्थानरूप तृतीय स्वप्न-स्थानमें स्थित है। वह उस सन्ध्य स्थानमें स्थित होकर जड़-जगत् और चित्-जगत्—दोनों स्थानोंको देखता है।

(३) जिस प्रकार कोई बड़ा भारी मत्स्य नदीके पूर्व और अपर दोनों तीरोंपर क्रमशः विचरण करता है, उसी प्रकार यह जीव पुरुष जड़-जगत् और चित्-जगत्की मध्यवर्ती कारण-जलमें स्थित होकर इसके दोनों तीरोंपर अर्थात् स्वप्न स्थान और जागरित स्थान, इन दोनों स्थानोंमें क्रमशः विचरण करता है।

सेवा करता है और यदि मायाके प्रति दृष्टि करता है, तब कृष्ण-विमुख होकर मायाजालमें आबद्ध हो पड़ता है। इस उभयनिष्ठ स्वभावका नाम ही 'तटस्थ-स्वभाव' है।

ब्रजनाथ—क्या जीवके स्वरूपगत गठनमें कोई मायिक तत्त्व भी है?

बाबाजी—नहीं, जीव चित् वस्तुसे ही रचित है। नितान्त क्षुद्र स्वरूप होनेके कारण चित्-बलकी कमी होनेसे वह माया द्वारा पराजित अर्थात् आच्छादित किया जा सकता है। जीवोंकी सत्तामें मायाकी गंध तक नहीं है।

ब्रजनाथ—मैंने अपने अध्यापकसे सुना था कि ब्रह्मका चित्-खण्ड माया द्वारा आवृत होकर जीव हुआ है। आकाश जैसे सदा महाकाश है, अखण्ड है, परन्तु उसका कुछ अंश आवृत होकर घटाकाश हो जाता है, उसी प्रकार जीव भी स्वरूपतः ब्रह्म ही है, ब्रह्म ही मायासे आवृत होकर अपनेको जीव अभिमान करता है। यह विचार कैसा है?

बाबाजी—यह विचार केवल मायावाद है। ब्रह्मवस्तुको माया कैसे स्पर्श कर सकती है? ब्रह्मको यदि लुप्तशक्ति भी माना जाये, तब भी लुप्तशक्तिके साथ मायाका सान्निध्य कैसे सम्भव है? जहाँ मायाशक्ति ही लुप्त है, वहाँ मायाकी क्रिया कैसे सम्भव हो सकती है? अतः मायाके आवरणसे ब्रह्मकी ऐसी दुर्दशा कभी सम्भव नहीं। और यदि ब्रह्मकी पराशक्तिको स्वीकार किया जाता है, तब माया जो अत्यन्त तुच्छ शक्ति है—किस प्रकारसे चित्-शक्तिको पराजित करके ब्रह्मसे जीवकी सृष्टि कर सकती है? ब्रह्म तो अखण्ड है, फिर ऐसे ब्रह्मका खण्ड ही कैसे किया जा सकता है? ब्रह्मके ऊपर मायाकी क्रिया स्वीकार नहीं की जा सकती है। जीवोंकी सृष्टिमें मायाका कोई अधिकार या हाथ नहीं—जीव अणु होनेपर भी मायासे परतत्त्व है।

ब्रजनाथ—एक समय एक अध्यापकने कहा था कि जीव और कुछ नहीं—ब्रह्मका ही प्रतिबिम्ब है, सूर्य जिस तरह जलमें प्रतिबिम्बित होते हैं, उसी प्रकार ब्रह्म भी मायामें प्रतिबिम्बित होकर जीव हुए हैं। यह विचार कैसा है?

बाबाजी—यह भी मायावादका ही दूसरा नमूना है। ब्रह्मकी सीमा नहीं, असीम वस्तु कभी भी प्रतिबिम्बित नहीं हो सकती। ब्रह्मको सीमाविशिष्ट करना वेद विरुद्ध मत है, इसलिए 'प्रतिबिम्ब वाद' नितान्त हेय है।

ब्रजनाथ—और एक समय किसी दिग्विजयी संन्यासीने बतलाया था कि—"वास्तवमें जीव नामक कोई पदार्थ नहीं है, केवल भ्रमके कारण जीवबुद्धि होती है, भ्रम दूर होनेपर एकमात्र अखण्ड ब्रह्म ही हैं।" इस विचारमें कहाँ तक सत्यता है?

बाबाजी—यह भी एक प्रकारका मायावाद है तथा सम्पूर्ण निराधार है। 'एकमेवाद्वितीयं' (छा० उ० ६/२/१)—इस वेद-वाक्य द्वारा ब्रह्मके अतिरिक्त और रहता ही क्या है? यदि ब्रह्मके अतिरिक्त और कुछ नहीं है, तब यह भ्रम कहाँसे टपक पड़ा? दूसरी बात यह भ्रम किसका है? यदि कहो कि ब्रह्मका भ्रम है, तब तो तुमने ब्रह्ममें भ्रम आदि दोषोंकी स्थिति बतलाकर ब्रह्मको ब्रह्म ही नहीं रखा। और यदि भ्रमको स्वतन्त्र रूपमें एक पृथक् तत्त्व माना जाता है, तब ब्रह्मके अद्वयत्त्वकी हानि होती है।

ब्रजनाथ—एक समय एक प्रकाण्ड ब्राह्मण-पण्डित नवद्वीप पधारे थे। उन्होंने एक पण्डित-सभामें यह विचार स्थापित किया था—केवल जीव ही है। वह स्वप्नमें सब कुछ सृष्टिकर उससे सुख-दुख भोगता है, स्वप्न दूर होनेपर ब्रह्मस्वरूप है—यह विचार कहाँ तक

ठीक है?

बाबाजी—यह भी मायावाद है। ब्रह्म अवस्थासे 'जीव अवस्था' और 'स्वप्न'—यह सब कैसे सम्भव हो सकता है? शुक्तिमें 'रजत-भ्रम' और रज्जूमें 'सर्पभ्रम'—इन उदाहरणोंकी सहायतासे मायावादी कभी भी अद्वय ज्ञानका पक्ष मजबूत नहीं कर सकते। ये सब तर्क जीवोंको मोहित करनेके लिए जालस्वरूप हैं।

ब्रजनाथ—जीवोंके स्वरूपमें मायाका कार्य नहीं है—इसे स्वीकार करना ही पड़ेगा तथा जीवोंके स्वभावपर मायाका प्रभाव पड़ सकता है—इसे भी मैं पूरी तरहसे समझ गया। अब मैं यह जानना चाहता हूँ कि क्या चित्-शक्तिने जीवको तटस्थ-स्वभाव देकर निर्माण किया है।

बाबाजी—नहीं, चित्-शक्ति कृष्णकी परिपूर्ण शक्ति हैं—वे जो कुछ उत्पन्न करती हैं, वह सब कुछ नित्यसिद्ध वस्तुएँ होती हैं। जीव नित्यसिद्ध नहीं है, वह साधनके द्वारा साधनसिद्ध होकर नित्यसिद्धके समान आनन्द भोग करता है। श्रीमतीजीकी चारों प्रकारकी सखियाँ नित्यसिद्ध हैं तथा चिच्छक्ति श्रीमती राधिकाकी कायव्यूह हैं। समस्त जीव श्रीकृष्णकी 'जीवशक्ति' से प्रकाशित हुए हैं। जैसे चित्-शक्ति कृष्णकी पूर्णशक्ति है, उसी प्रकार जीवशक्ति कृष्णकी अपूर्ण शक्ति है। पूर्ण शक्तिसे जिस तरह समस्त पूर्ण-तत्त्व रूपान्तरित हैं, अपूर्ण शक्तिसे भी उसी प्रकार अणु-चैतन्यस्वरूप अनन्त जीवसमूह रूपान्तरित हैं। श्रीकृष्ण अपनी एक-एक शक्तिमें अधिष्ठित होकर उसके अनुरूप अपना स्वरूप प्रकाश करते हैं। चित्-स्वरूपमें अधिष्ठित होकर वे कृष्ण और परव्योमनाथ नारायण स्वरूप प्रकाश करते हैं, जीवशक्तिमें अधिष्ठित होकर व्रजके अपनी विलासमूर्तिरूप बलदेवस्वरूपका प्रकाश करते हैं और मायाशक्तिमें अधिष्ठित होकर कारणोदकशायी, क्षीरोदकशायी और गर्भोदकशायी—इन तीन विष्णुस्वरूपोंका प्रकाश करते हैं। व्रजमें अपने कृष्णस्वरूपसे सम्पूर्ण चित्-व्यापारको प्रकट करते हैं, बलदेवस्वरूपमें शेषतत्त्व होकर शेषीतत्त्वस्वरूप कृष्णकी आठ प्रकारसे सेवा करनेके लिए नित्यमुक्त पार्षदजीवोंको प्रकट करते हैं, पुनः परव्योममें शेषरूप सङ्कर्षण होकर शेषि रूपमें नारायणकी आठ प्रकारकी सेवाओंके लिए नित्यपार्षदस्वरूप आठ प्रकारके सेवक प्रकट करते हैं। सङ्कर्षणके अवताररूप महाविष्णु जीवशक्तिमें अधिष्ठित होकर परमात्मस्वरूपमें जगत्गत जीवात्माओंको प्रकट करते हैं—ये सब जीव माया-प्रवण होते हैं। जब तक ये भगवान्की कृपासे चित्-शक्तिगत ह्लादिनीशक्तिका आश्रय नहीं पा लेते, तब तक उनकी माया द्वारा पराजित होनेकी सम्भावना बनी रहती है। मायाबद्ध अनन्त जीव माया द्वारा पराजित होकर मायाके त्रिगुणोंके अधीन हैं। अतएव, सिद्धान्त यह है कि जीवशक्ति ही जीवको प्रकट करती है—चित्-शक्ति नहीं।

ब्रजनाथ—आपने पहले बतलाया है कि चित्-जगत् नित्य है, साथ ही जीव भी नित्य है। यदि यह बात ठीक है, तो नित्य वस्तुकी सृष्टि अथवा उद्भव या प्राकट्य कैसे सम्भव है? यदि वे किसी समय प्रकट होते हैं, तो इसका तात्पर्य यह होता है कि प्रकट होनेसे पूर्व वे अप्रकट थे, फिर उनकी नित्यता कैसे मानी जा सकती है?

बाबाजी—इस जड़—जगत् में तुम जिस देश और कालका अनुभव कर रहे हो, चित्-जगत्की देश और काल इससे सर्वथा विलक्षण हैं। जड़ीय-काल तीन भागों में विभक्त है—भूत, वर्त्तमान और भविष्यत्। किन्तु चित्-जगत् में केवल एक अखण्ड वर्त्तमान काल

होता है। चित्-जगत्‌की प्रत्येक घटना नित्य वर्त्तमान होती है।

हम जड़-जगत्‌में जो कुछ भी कहते हैं, या वर्णन करते हैं, वह सब कुछ जड़ देश और जड़ कालके अधीन होता है। इसलिए जब हम ऐसा कहते हैं कि "जीव उत्पन्न हुए", "जीवकी सृष्टि हुई", "चित्-जगत् प्रकट हुआ", "जीवके स्वरूप-गठनमें मायाका कार्य नहीं है", इत्यादि, तब हमारी भाषाके ऊपर, हमारे वाक्योंके ऊपर जड़ीय कालका प्रभाव हुआ करता है। हमारी बद्धावस्थामें ऐसा होना अनिवार्य है। इसलिए अणुचित् जीवों एवं समस्त चित्-वस्तुओंके वर्णनमें मायिक कालका प्रभाव दूर नहीं किया जा सकता। उसमें भूत, वर्त्तमान और भविष्यत् कालका भाव आ ही जाता है। अतः चित्-जगत्‌की वर्णनोंका तात्पर्य अनुभव करनेके समय शुद्ध विचार परायण व्यक्ति नित्य वर्त्तमान कालका प्रयोग अनुभव कर लिया करते हैं। बाबा! इस विषयमें जरा सावधान रहना। वाक्योंकी अनिवार्य हेयताका परित्यागकर चिदनुभव ही करना।

जीव नित्य कृष्ण-दास है। कृष्ण दास्य ही उसका नित्यस्वरूप है। जीव अपने इसी नित्यस्वरूपको भूलकर मायाके द्वारा बँधा हुआ है—ऐसा समस्त वैष्णवजन कहते हैं, परन्तु सभी जानते हैं कि जीव नित्य वस्तु होकर भी दो प्रकारके होते हैं। एक नित्य-मुक्त और दूसरा नित्य-बद्ध। इस विषयमें मानव-बुद्धि प्रमादके वशीभूत होनेके कारण ही ऐसा कहा जाता है। परन्तु धीर व्यक्ति चित्-समाधिके द्वारा अप्राकृत 'सत्यका अनुभव' करते हैं। हमारी वाणी मायिक दोषोंसे युक्त होती है। इसलिए हम जो कुछ भी बोलेंगे, उसमें मायिक दोष रहेगा ही, किन्तु बेटा! तुम इस विषयमें सर्वदा निर्मल सत्य अनुभव करनेका प्रयत्न करना। इस विषयमें तर्क तनिक भी सहायता नहीं करता। अचिन्त्य भावोंके सम्बन्धमें तर्कको नियुक्त करना व्यर्थ है। मैं जानता हूँ कि तुम इन भावोंको अभी इतना शीघ्र हृदयंगम नहीं कर सकोगे। तुम्हारे हृदयमें ज्यों-ज्यों चित्-अनुशीलन बढ़ता जायेगा, त्यों-त्यों अधिक रूपमें चिन्मय भावोंकी उपलब्धि करते जाओगे अर्थात् चिन्मय भावसमूह तुम्हारे पवित्र अन्तःकरणपर स्वतः उदित होने लगेंगे। तुम्हारा शरीर जड़मय है, तुम्हारे शरीरकी समस्त क्रियाएँ जड़मय हैं, परन्तु वास्तवमें तुम जड़मय नहीं—अणु-चैतन्य पदार्थ हो। तुम अपने आपको जितना ही अधिक जान सकोगे, अपने स्वरूपको मायिक जगत्‌से उतना ही अधिक श्रेष्ठ तत्त्व अनुभव कर सकोगे। मेरे बतला देनेपर भी तुम इसकी उपलब्धि नहीं कर सकोगे अथवा तुम इसे सुनकर भी प्राप्त नहीं कर सकोगे। हरिनामका अधिक-से-अधिक अनुशीलन करो। ऐसा करते-करते तुम्हारे हृदयमें चिन्मय भावसमूह स्वतः उदित होने लगेंगे। तुम चिन्मय भावोंको जितना ही अधिक रूपमें उदय कराओगे, चित्-जगत्‌की प्रतीति भी तुम्हें उतनी ही अधिक होगी। मन और वाणी—ये दोनों जड़-सम्बन्धसे उत्पन्न होते हैं। अतः वे अधिक प्रयत्न करनेपर भी चित्-वस्तुका अनुभव नहीं कर पाते। वेदका कथन है—**यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।** [४] (तै० ब्र० २/९)

मेरा उपदेश यह है, कि तुम इस विषयमें किसीसे सिद्धान्त मत पूछना, अपने आप अनुभव करनेका प्रयत्न करना। मैंने इसका आभासमात्र दिया है।

ब्रजनाथ—आपने बतलाया है कि जीव ज्वलन्त-अग्निकी चिनगारी-स्वरूप अथवा चित्-

---

(४) वाणी मनके साथ जिसे पानेमें असमर्थ होकर लौट आती है।

सूर्यकी किरणगत परमाणु-स्थानीय तत्त्व है। तो इसमें जीवशक्तिका क्या कार्य है?

बाबाजी—कृष्ण-ज्वलन्त अग्नि या सूर्यस्वरूप स्वप्रकाश-तत्त्व हैं। कृष्णरूप ज्वलन्त अग्निकी जितनी दूर तक अपनी सीमा होती है उसके बीचका सब कुछ सम्पूर्ण चित्-व्यापार होता है, उसके बहिर्मण्डलमें उसकी किरणें फैली हुई होती हैं। किरण स्वरूपशक्तिका अणुकार्य है। उस अणुकार्यमें किरणसमूह चित्-सूर्यके परमाणु हैं। जीव—वही परमाणु-स्थानीय-तत्त्व है। स्वरूपशक्ति मण्डलवर्ती जगत्‌की प्रकटयित्री है, बहिर्मण्डलकी क्रिया-चित्-शक्तिकी अणु-अंशरूपी जीवशक्तिकी क्रिया है। अतएव जीव सम्बन्धी क्रियाएँ जीवशक्तिकी होती हैं। **"परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते"** [(५)] (श्वे० उ० ६/८) के अनुसार पराशक्ति-स्वरूप चित्-शक्ति ही अपने मण्डलसे बाहर निकल कर जीवशक्तिके रूपमें चिन्मण्डल और माया-मण्डलके बीच—तटभूमिके ऊपर चित्-सूर्यके किरण—परमाणुरूप अनन्त नित्य जीवोंको प्रकट करती है।

ब्रजनाथ—ज्वलन्त अग्नि या सूर्य और स्फुलिङ्ग या परमाणु—ये सब जड़ पदार्थ हैं। चित्-तत्त्वके विषयमें इन जड़ पदार्थोंकी तुलनाका प्रयोग क्यों किया गया है?

बाबाजी—मैंने पहले ही कहा है कि जड़-वाक्यों द्वारा चित्-तत्त्वके सम्बन्धमें जो कुछ भी कहा जाता है, उसमें जड़-मल अवश्य ही स्पर्श करेगा। परन्तु दूसरा उपाय ही क्या है, बाध्य होकर ऐसा उदाहरण देना पड़ता है। इसलिए तत्त्ववेत्ता पुरुष चित् वस्तुकी अग्नि या सूर्यसे तुलना कर उस विषयको समझानेकी चेष्टा करते हैं। वास्तवमें कृष्ण सूर्यसे बहुत ही श्रेष्ठ वस्तु हैं। कृष्णका चिन्मण्डल भी सूर्यके तेजोमण्डलसे अत्यन्त श्रेष्ठ है एवं कृष्णकी किरण (जीवशक्ति) तथा किरणगत-परमाणु सूर्यकी किरणों और किरणगत परमाणुओंसे अतिशय श्रेष्ठ हैं। किन्तु ऐसा होनेपर भी अनेक विषयोंमें सादृश्य लक्ष्य करके ही इन उदाहरणोंका प्रयोग किया गया है। उदाहरण केवल प्रादेशिक गुणोंको ही व्यक्त करते हैं, सार्वदेशिक गुणोंको नहीं। सूर्यका स्वप्रकाश-सौन्दर्य गुण तथा उनकी किरणोंका पर-प्रकाश गुण—ये दोनों गुण चित्-तत्त्व के स्व-प्रकाशत्व और पर-प्रकाशत्व गुणोंको लक्ष्य करते हैं। किन्तु सूर्यके दाहकत्व और जड़त्व आदि गुण चित्-वस्तुमें उदाहरणके स्थल नहीं हैं। "यह दूध जल जैसा है"—ऐसा कहनेसे जलका तारल्य गुण ही ग्रहण करने योग्य है। नहीं तो उस दूधमें जलके सारे गुण पाये जानेसे वह दूध न होकर जल नहीं हो पड़ेगा? अतएव उदाहरण किसी वस्तुके प्रादेशिक भावोंको ही व्यक्त करते हैं, सार्वदेशीय भावोंकी तुलनाके क्षेत्र नहीं होते।

ब्रजनाथ—चित्-सूर्यकी चिन्मय किरणें और उनमें स्थित चित्-परमाणुसमूह चित्-सूर्यसे अभिन्न होकर भी नित्य भिन्न हैं—ये दोनों बातें एक ही साथ कैसे सत्य हो सकती हैं?

बाबाजी—जड़-जगत्‌में किसी वस्तुसे दूसरी वस्तु उत्पन्न होनेपर उत्पन्न हुई वस्तु उस मूल वस्तुसे या तो बिलकुल ही भिन्न हो जाती है या उससे मिली हुई अभिन्न होती है। यह जड़धर्मका स्वभाव है। पक्षीके अण्डा देनेपर अण्डा पक्षीसे अलग हो पड़ता है। मनुष्यके नख और केश जितने दिन तक काटे नहीं जाये, तब तक मनुष्य-शरीरसे पैदा

---

(५) उस अचिन्त्यशक्तिका नाम पराशक्ति है। यह स्वाभाविकी शक्ति एक होकर भी ज्ञान, बल और क्रिया भेदसे विविध प्रकारकी है।

होकर भी शरीरके साथ मिले हुए होते हैं। परन्तु चित्–वस्तुका धर्म कुछ विलक्षण होता है। चित्–सूर्यसे जो कुछ निकला है, वह सब कुछ युगपत् भेदाभेद व्यापार है; जैसे, किरण और किरण–परमाणु सूर्यसे निकलकर भी सूर्यसे अलग नहीं है, उसी प्रकार कृष्णकी किरण (जीवशक्ति) और किरण–परमाणुरूप जीवसमूह कृष्ण–सूर्यसे उत्पन्न होकर भी कृष्णसे अपृथक् होते हैं और अपृथक् होकर भी पृथक्–पृथक् जीव स्वतन्त्र इच्छाकण लाभकर कृष्णसे नित्य पृथक् हैं। इसीलिए जीवका कृष्णसे अभेद और भेद—यह तत्त्व नित्यसिद्ध है। यही चित्–व्यापारका विलक्षण परिचय है। जड़के सम्बन्धमें पण्डितजन एक प्रादेशिक उदाहरण देते हैं, वह यह कि सोनेका एक बड़ा टुकड़ा लीजिये। उसमेंसे छोटा–सा टुकड़ा काटकर कङ्गन बनाइये। अब सोनेकी दृष्टिसे तो कङ्गनका सोनेके टुकड़ेसे कोई भेद नहीं है अर्थात् दोनों अभिन्न हैं, परन्तु कङ्गनकी दृष्टिसे दोनों भिन्न हैं। परन्तु यह उदाहरण चित्–तत्त्वके सम्बन्धमें सम्पूर्ण रूपसे ठीक नहीं बैठता, बल्कि एकदेशीय उदाहरण है। चित्–तत्त्वकी दृष्टिसे ईश्वर और जीवमें अभेद है और अवस्था तथा परिमाणकी दृष्टिसे दोनोंमें नित्य भेद है। ईश्वर पूर्ण चित् है, जीव—अणुचित है, ईश्वर विभु है, जीव क्षुद्र है। कुछ लोग इस विषयमें घटाकाश और महाकाशका उदाहरण देते हैं, परन्तु यह उदाहरण चित्–तत्त्वके सम्बन्धमें सर्वदा असङ्गत है।

ब्रजनाथ—यदि चित् और जड़—ये दोनों भिन्न–भिन्न जातीय वस्तुएँ हैं, तो चित्–वस्तुके लिए किसी जड़वस्तुका उदाहरण क्यों कर सङ्गत हो सकता है?

बाबाजी—जड़वस्तुमें जैसे पृथक्–पृथक् जातियाँ होती हैं, जिस जातिको नैयायिक पण्डित 'नित्य' मानते हैं, चित् और जड़के बीच वैसा कोई जाति–भेद नहीं है। मैंने पहले ही कहा है कि 'चित्' ही एकमात्र वस्तु है और जड़ उसीका विकार है। विकृत वस्तुका शुद्धवस्तुके साथ अनेक विषयोंमें सादृश्य रहता है। विकृत–वस्तु शुद्धवस्तुसे भिन्न होती है, परन्तु अनेक विषयोंमें उसका सादृश्य लोप नहीं हो पाता है—जैसे, जल और ओला (हिम–उपल)। ओला जलका विकार है, विकार होनेके कारण वह जलसे भिन्न हो पड़ता है, परन्तु फिर भी शीतलता आदि कई गुणोंका दोनोंमें सादृश्य होता है। गर्म जल और ठण्डे जलमें शीतलता आदि गुणोंका सादृश्य तो नहीं रहता, परन्तु तारल्य गुणका सादृश्य रहता है। अतएव विकृत पदार्थमें शुद्ध पदार्थका थोड़ा–बहुत सादृश्य अवश्य ही पाया जाता है। इस सिद्धान्तके आधारपर जड़ीय उदाहरणोंके द्वारा चित्–जगत्के सम्बन्धमें कुछ–कुछ अनुशीलन किया जा सकता है। पुनः 'अरुन्धती–दर्शन'–न्याय' [६] करनेसे जड़तत्त्वके स्थूल और विपर्यस्त तत्त्वालोचनासे चित्–तत्त्वके सूक्ष्म धर्मकी उपलब्धि की जा सकती है।

—

(६) 'अरुन्धती–दर्शन'–न्याय—अरुन्धती एक बहुत ही छोटा तारा है, जो सप्तर्षिमण्डलस्थ वशिष्ठके पास है। उसका दर्शन करनेके लिए जिस प्रकारसे पहले स्थूल दृष्टिसे एक बड़े तारेके सहारे उसका स्थान निर्णय किया जाता है और फिर सूक्ष्म दृष्टिसे ध्यानपूर्वक देखनेसे उसका दर्शन होता है, उसी प्रकार मध्यमाधिकारी वैष्णवजन अप्राकृत राज्यकी बातें जड़ जगत्की भाषा और इन्द्रियोंके सहारे ग्रहण करके भी भक्ति–नेत्रोंमें प्रेम रूप अञ्जन लगाकर उसके अप्राकृतत्त्वका दर्शन और अनुभव करते हैं।

कृष्णलीला—सम्पूर्ण रूपसे चित् लीला है। उसमें तनिक भी जड़ीय भाव नहीं होता। श्रीमद्भागवतमें वर्णित व्रजलीला सम्पूर्ण अप्राकृत है, परन्तु वही वर्णन जब श्रोतृ-मण्डलीको पढ़कर सुनाया जाता है, तब श्रोताओंके अधिकार भेदसे उसका भिन्न-भिन्न प्रकारका फल होता है। जड़ विषयोंके भोगमें आसक्त श्रोता जड़ विषयालङ्कारोंका अवलम्बन करके साधारण नायक-नायिकाकी कथा सुनता है। मध्यमाधिकारी श्रोता 'अरुन्धती-दर्शन'-न्यायका सहारा लेकर जड़ीय वर्णनसे मिलते-जुलते चित्-विलासका दर्शन करता है और उत्तम अधिकारी उस लीला-वर्णनका श्रवणकर जड़से परे शुद्ध चित्-विलास-रसमें निमग्न हो पड़ते हैं। इन सब पूर्वोक्त न्यायोंका अवलम्बन करनेके सिवाय जीवोंको अप्राकृत तत्त्वके सम्बन्धमें शिक्षा देनेके लिए दूसरा उपाय ही क्या है? जिस विषयमें वाणी मूक हो पड़ती है, और मनकी गति रुक जाती है, उस विषयको बद्धजीव किस प्रकार समझ सकता है? इस विषयमें सादृश्ययुक्त उदाहरणों और 'अरुन्धती-दर्शन'-न्यायके अतिरिक्त कोई भी दूसरा उपाय नहीं दिखायी देता। जड़ पदार्थोंमें भेद और अभेद एक साथ नहीं दिखलायी देता। उनमें या तो केवल भेद या अभेद ही हो सकता है, किन्तु परमतत्त्वके सम्बन्धमें ऐसी बात नहीं है। कृष्णके साथ कृष्णकी जीवशक्तिका और जीवशक्ति-परिणत जीवसमूहका युगपत् भेद और अभेद—दोनों अवश्य ही स्वीकार करने पड़ेंगे। यह भेदाभेद तत्त्व मानव बुद्धिकी सीमासे परे होनेके कारण 'अचिन्त्य' कहा जाता है।

व्रजनाथ—ईश्वर और जीवमें क्या भेद है?

बाबाजी—पहले ईश्वर और जीवका अभेद समझ लो, पीछे उनका नित्य-भेद दिखलाऊँगा। ईश्वर—ज्ञान-स्वरूप, ज्ञाता-स्वरूप, भोक्तृ-स्वरूप, मन्तृ-स्वरूप, स्व-प्रकाश और पर-प्रकाश तत्त्व हैं। वे समस्त क्षेत्रज्ञ और इच्छामय पुरुष हैं। जीव भी ज्ञान-स्वरूप, ज्ञाता-स्वरूप, भोक्तृ-स्वरूप, मन्तृ-स्वरूप, स्व-प्रकाश और पर-प्रकाश तत्त्व है। वह भी क्षेत्रज्ञ और इच्छामय होता है। इस दृष्टिसे दोनोंमें अभेद है। परन्तु ईश्वर पूर्णशक्तिमान हैं। वे पूर्णशक्तिके प्रभावसे उपर्युक्त समस्त गुणोंके आधार हैं, वे समस्त गुण ईश्वरमें पूर्ण मात्रामें होते हैं। अणु-चित् जीवमें वे समस्त गुण होते तो हैं, किन्तु अणु मात्रामें। पूर्णता और अणुताके भेदसे ईश्वर और जीवके स्वभाव और स्वरूपमें नित्य भेद विद्यमान रहनेपर भी उपर्युक्त हेतुसे ईश्वर और जीवमें भेदका अभाव है। आत्मशक्तिकी पूर्णताके कारण ईश्वर—स्वरूपशक्ति, जीवशक्ति और मायाशक्तिके अधीश्वर हैं, शक्ति उनकी दासी है, वे शक्तिके प्रभु हैं, उनकी इच्छासे शक्ति क्रियावती है—यही ईश्वरका स्वरूप है। जीवमें ईश्वरके गुण बिन्दु रूपमें होनेपर भी जीव शक्तिके वशमें होता है। 'दशमूल' में 'माया' शब्दका तात्पर्य केवल जड़-मायासे ही नहीं है, अपितु स्वरूप शक्तिसे भी है। **"मीयते अनया इति माया"**(७)—इस व्युत्पत्तिके अनुसार माया उस शक्तिको कहते हैं, जो चित्, अचित् और जीव—इन तीनों जगत्में कृष्णका परिचय प्रकाश करती है। अतएव 'माया' शब्दसे यहाँ केवल जड़शक्तिका ही नहीं, अपितु स्वरूपशक्तिका भी बोध होता है, कृष्ण मायाके अधीश्वर हैं और जीव मायाके अधीन होता है। अतः श्वेताश्वतर उपनिषद् में कहते हैं—

अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्तस्मिंश्चान्यो मायया संनिरुद्धः॥

---

(७) इससे मापा—तौला जा सकता है, इसलिए इसे माया कहते हैं।

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्॥(८)

(श्वे० उ० ४/९-१०)

उपरोक्त मन्त्रमें 'मायी' शब्दसे मायाधीश कृष्णको और प्रकृतिसे सम्पूर्ण शक्तिको लक्ष्य किया गया है। यह महान् गुण और स्वभाव ईश्वरका विशेष धर्म है, जो जीवात्मामें नहीं होता। जीव मुक्त होनेपर भी इस महान गुणको प्राप्त नहीं कर सकता है। **"जगत् व्यापार वर्ज्जम्"**(९)—ब्रह्मसूत्रके इस सिद्धान्त वचन द्वारा जीवका ईश्वरसे नित्यभेद स्थापन किया गया है—इस विचारका समर्थन सारी विद्वन्मण्डली करती है।

इस जगत् व्यापार कार्यको छोड़कर दूसरे-दूसरे समस्त कार्य मुक्त जीवोंके लिए सम्भव हैं। **"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते"** (तै॰ उ॰ ३/१) (जिससे समस्त भूत-समुदाय उत्पन्न होता है, जीवित रहता है तथा प्रलयकालमें जिसमें प्रवेश कर जाता है और विलीन हो जाता है) आदि वाक्यसमूह ब्रह्मके सम्बन्धमें ही कहे गये हैं। यहाँ तक कि ये सब वचन अनेक तोड़-मरोड़कर भी जीवके सम्बन्धमें लागू नहीं किये जा सकते हैं। क्योंकि यहाँपर मुक्त जीवका कोई प्रसङ्ग ही नहीं है। शास्त्रोंमें केवलमात्र भगवान्को ही सृष्टि, स्थिति और प्रलयका कर्त्ता बतलाया गया है, मुक्तजीवको नहीं। यदि जीवको भी इन कार्योंका कर्त्ता माना जाता है, तो बहु-ईश्वरवादका दोष उपस्थित हो जाता है। अतः जगत् व्यापारमें मुक्तजीवका अधिकार नहीं है—यही सिद्धान्त सङ्गत है।

यह नित्यभेद काल्पनिक नहीं—नित्यसिद्ध है। यह भेद जीवकी किसी भी अवस्थामें लोप नहीं होता। अतएव जीव कृष्णका नित्यदास है—इस वाक्यको महावाक्य समझना।

ब्रजनाथ—ईश्वरसे जीवका यदि नित्यभेद ही सिद्ध हुआ तो अभेद कब माना जायेगा? तो क्या 'निर्वाण' नामक एक अवस्था है—इसे स्वीकार करना होगा

बाबाजी—बिलकुल नहीं। किसी भी अवस्थामें कृष्णके साथ जीवका अभेद नहीं है।

ब्रजनाथ—फिर आपने अचिन्त्यभेदाभेद क्यों कहा है?

बाबाजी—कृष्णके साथ जीवका चित्-धर्मकी दृष्टिसे अभेद है और स्वरूपतः दोनोंमें नित्य भेद है। नित्य अभेद होनेपर भी भेद प्रतीति ही नित्य है। अभेद स्वरूपकी सिद्धि होनेपर भी उसका अवस्थागत कोई परिचय नहीं है। अवस्थागत परिचयकी जगह नित्य-भेद-प्रकाश ही प्रबल होता है अर्थात् जहाँ नित्य अभेद और नित्य भेद दोनों होते हैं, वहाँ भेद प्रतीति ही प्रबल होती है। जैसे एक गृहको यदि अ-देवदत्त और स-देवदत्त दोनों ही कहा जाये तो किसी विचारसे अ-देवदत्तत्व होनेपर भी स-देवदत्तत्वका ही नित्य परिचय रहेगा।

---

(८) मायाके अधीश्वर परमेश्वरने जिससे सम्पूर्ण जगत्को रचा है, उसीके द्वारा जीवसमूह भी प्रपञ्चमें भलीभाँति बँधा हुआ है। मायाको ही प्रकृति समझना चाहिये एवं मायी अर्थात् मायाधीशको महेश्वर समझना चाहिये। उसी महेश्वरके अङ्गोंसे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त हो रहा है।

(९) **"जगत् व्यापार व प्रकरणासन्निहितत्वात्"** (ब्रह्मसूत्र ४/४/१७)—निखिल चित् और अचित् जगत्की सृष्टि, स्थिति और उसका नियमन रूप जगत् व्यापार केवलमात्र ब्रह्मका ही कार्य है—दूसरेका नहीं।

जड़-जगत्‌में और भी एक उदाहरण देता हूँ—आकाश एक जड़ द्रव्य है। यदि उस आकाशका भी कुछ आधार हो, तो उस आधारके रहनेपर भी जैसे केवल आकाशका ही परिचय मिलता है, उसी प्रकार अभेद सत्तामें जिस नित्य भेदका परिचय पाया जाता है वही उस वस्तुका एकमात्र परिचय है।

ब्रजनाथ—ऐसा होनेपर जीवका नित्य स्वभाव और भी स्पष्ट करके बतलानेकी कृपा करें।

बाबाजी—जीव अणु-चैतन्य, ज्ञान-गुणसे युक्त, 'अहं' शब्द वाच्य, भोक्ता, मन्ता और बोद्धा है। जीवका एक नित्य-स्वरूप है। वह नित्य-स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म होता है। जिस प्रकार स्थूल शरीरमें हाथ, पैर, नाक और आँख आदि अङ्ग सुन्दर रूपसे अपने-अपने स्थानपर न्यस्त होकर एक सुन्दर रूपको प्रकाशित करते हैं, उसी प्रकारसे चित्-रूपकणमय शरीरमें भी चितकणमय अङ्ग-प्रत्यङ्गोंसे गठित सर्वाङ्ग सुन्दर एक चित्-कण स्वरूप प्रकाशित है—वही स्वरूप जीवका नित्य स्वरूप है। माया बद्ध होनेपर उसी नित्य-स्वरूपको ऊपरसे और भी दो औपाधिक शरीर आच्छादित करते हैं। औपाधिक शरीरोंमेंसे एकका नाम लिङ्गशरीर है और दूसरेका स्थूलशरीर। चित्-कण-स्वरूप शरीरके ऊपर लिङ्गशरीरकी उपाधि है। यह लिङ्गशरीर जीवोंकी बद्धदशा प्रारम्भ होनेके समयसे लेकर मुक्त होने तक अपरिहार्य होता है। जन्मान्तरके समय स्थूलशरीरका परिवर्तन होता है, परन्तु लिङ्गशरीरका परिवर्तन नहीं होता। लिङ्गशरीर एक स्थूलशरीरको छोड़ते समय उस शरीरकी समस्त कर्म-वासनाओंको साथ लेकर दूसरे शरीरमें प्रवेश करता है। वैदिक-पञ्चाग्नि विद्याके द्वारा जीव देहान्तर और अवस्थान्तर सिद्ध होता है। छान्दोग्य उपनिषद् और ब्रह्मसूत्रमें चिताग्नि, वृष्ट्याग्नि, भोजनाग्नि, रेतोहवनाग्नि आदि पञ्चाग्निकी प्रणालीका वर्णन किया गया है। पिछले जन्मोंके संस्कारोंके अनुसार नये शरीरको प्राप्त हुए जीवका स्वभाव बनता है और उस स्वभावके अनुसार वर्ण प्राप्त करता है। वर्णाश्रममें प्रवेशकर पुनः कर्म करने लगता है और मृत्यु होनेपर पुनः वैसी ही गतिको प्राप्त होता है। नित्यस्वरूपका पहला आवरण लिङ्गशरीर है और दूसरा स्थूलशरीर है।

ब्रजनाथ—नित्यशरीर और लिङ्गशरीरमें क्या अन्तर होता है?

बाबाजी—नित्यशरीर—चित्-कणमय, निर्दोष और 'अहं' पदार्थका यथार्थ वाच्य वस्तु है। लिङ्गशरीर—जड़ सम्बन्धसे पैदा होता है, जो मन, बुद्धि और अहङ्कार—इन तीन विकारोंसे गठित होता है।

ब्रजनाथ—मन, बुद्धि और अहङ्कार—ये क्या प्राकृत वस्तु हैं? यदि ये प्राकृत हैं, तो इनमें ज्ञान और क्रिया कैसे सिद्ध है?

बाबाजी—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥[१०]

---

(१०) पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश—ये पाँच स्थूल—जड़ और मन, बुद्धि, अहङ्कार—ये तीन सूक्ष्म—जड़, सब मिलाकर आठ प्रकारकी यह मेरी अपरा या माया प्रकृति है।

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥[११]

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयतस्था॥[१२]

(गीता ७/४-६)

गीतोपनिषद्के इन श्लोकोंमें चित्-शक्तिमान भगवान्की दो प्रकारकी प्रकृतिका वर्णन किया गया है। एकका नाम परा प्रकृति और दूसरीका नाम अपरा-प्रकृति है। परा-प्रकृतिको जीवशक्ति और अपरा-शक्तिको जड़ या मायाशक्ति भी कहते हैं। जीवशक्ति—चित् कणमय होती है। इसलिए इसका नाम परा अर्थात् श्रेष्ठा शक्ति है। मायाशक्ति जड़ होती है, इसलिए इसका नाम अपरा (श्रेष्ठ नहीं) है। अपराशक्तिसे जीव बिलकुल पृथक् तत्त्व है। अपराशक्तिमें आठ स्थूल तत्त्व होते हैं—पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और आकाश—ये पञ्चमहाभूत एवं मन, बुद्धि और अहङ्कार। जड़-प्रकृतिके अन्तर्गत मन, बुद्धि और अहङ्कार—तीनों जड़द्रव्य विशेष हैं। इनका जो ज्ञानाकार दिखलायी पड़ता है, वह ज्ञान चित्-स्वरूप न होकर जड़-स्वरूप होता है। 'मन' जड़ विषयोंसे जो सब प्रतिच्छाया ग्रहण करता है, उसके ऊपर वह ज्ञानकाण्डरूप एक व्यापार स्थापन करता है, यह ज्ञानकाण्डरूप व्यापार जड़मूलक होता है, चित्-मूलक नहीं। इस ज्ञानकाण्डके ऊपर जो वृत्ति सत्-असत् का विवेचन करती है, उसे बुद्धि कहते हैं। यह बुद्धि भी जड़मूलक होती है। उक्त ज्ञानको अङ्गीकारकर जिस 'अहं' भावका प्रादुर्भाव होता है, वह भी जड़मूलक होता है, चित्-मूलक नहीं। ये तीनों मिलकर जीवके जड़-सम्बन्धमूलक द्वितीय स्वरूपको प्रकाश करते हैं। इसी द्वितीय स्वरूपका नाम लिङ्गशरीर है। जड़बद्ध जीवके लिङ्गशरीरकी 'अहंता' प्रबल होकर नित्यस्वरूप की 'अहंता' को ढक लेती है। नित्यस्वरूपमें चित्-सूर्य (कृष्ण) के सम्बन्धसे जो 'अहंता' उत्पन्न होती है, वही नित्य और शुद्ध अहंता होती है।

मुक्तावस्थामें वही अहङ्कार फिरसे प्रकट होता है। जब तक नित्यशरीर लिङ्गशरीरसे ढका रहता है, तब तक स्थूल और लिङ्गशरीरगत जड़ाभिमान ही प्रबल होता है। अतः उस समय तक चित्-सम्बन्धाभिमान लुप्तप्राय होता है। लिङ्गशरीर सूक्ष्म होता है, इसलिए स्थूलशरीर उसे आच्छादित कर कार्य करता है। स्थूलशरीर द्वारा ढका होनेके कारण स्थूलशरीरगत वर्ण (जाति) आदिका अहङ्कार उत्पन्न होता है। यद्यपि मन, बुद्धि और

---

(११) इसके अतिरिक्त मेरी एक तटस्था—प्रकृति भी है, जिसे परा-प्रकृति भी कहा जा सकता है। वह प्रकृति चैतन्यरूपा और जीवरूपा है। उसीसे समस्त जीव प्रकाशित होकर जड़—जगत्कीी चैतन्यमय किये हुए हैं। मेरी अन्तरङ्गाशक्ति द्वारा प्रकटित चित्-जगत् और बहिरङ्गाशक्तिसे उत्पन्न जड़-जगत्—इन दोनों जगत्की लिए उपयोगी होनेके कारण जीवशक्तिको 'तटस्थ' शक्ति कहा जाता है।

(१२) चित्-अचित् सम्पूर्ण जड़ और तटस्थ जगत्—इन दो प्रकारकी प्रकृतियोंसे उत्पन्न हुआ है। अतएव भगवत्स्वरूप मैं ही चराचर जगत्की उत्पत्ति और प्रलयका मूल कारण हूँ।

अहङ्कार ये तीनों प्राकृत हैं, फिर भी आत्मवृत्तिका विकार होकर वे ज्ञानका अभिमान करते हैं।

ब्रजनाथ—मैं समझ गया कि जीवका नित्यस्वरूप चित्—कणमय है और उस स्वरूपमें चित्-कणमय अङ्गोंसे गठित एक सुन्दर शरीर भी है। बद्धावस्थामें वह चित्—कणमय सुन्दर शरीर लिङ्गशरीरके द्वारा आच्छादित रहता है। जड़शरीर द्वारा आच्छादित होनेसे जीव-स्वरूपमें भी जड़-विकार उत्पन्न होता है। अब मैं यह जानना चाहता हूँ कि—मुक्तावस्थामें क्या जीव बिलकुल निर्दोष होता है?

बाबाजी—चित्-कणस्वरूप निर्दोष होनेपर भी असम्पूर्ण होता है, क्योंकि अत्यन्त अणु-स्वरूप होनेके कारण उसमें दुर्बलता होती है। उस अवस्थामें केवलमात्र यही दोष दिखलायी पड़ता है कि बलवती मायाशक्तिके संसर्गसे जीवका चित्-स्वरूप लुप्त होने योग्य होता है। श्रीमद्भागवतका कथन है—

येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिनस्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः।
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः॥(१३)

(श्रीमद्भा० १०/२/३२)

अतएव मुक्तजीव जितना भी ऊँचा पद प्राप्त क्यों न कर ले, उसके गठनकी असम्पूर्णता सब समय उनके साथ लगी रहेगी। इसीका नाम जीवतत्त्व है, इसलिए वेदमें कहा गया है कि ईश्वर मायाधीश हैं और जीव अपनी सब दशाओंमें मायाके अधीन होने योग्य बना रहता है।

॥पन्द्रहवाँ अध्याय समाप्त॥

(१३) हे कमलनयन! आपके भक्तोंके अतिरिक्त ज्ञानी, योगी और तपस्वी आदि जो लोग अपनेको झूठ-मूठका मुक्त मानते हैं, वास्तवमें उनकी बुद्धि बिलकुल ही शुद्ध नहीं होती। क्योंकि उनमें भक्तिका अभाव होता है। वे अत्यन्त कठोर क्लेश सहकर नाना प्रकारके कष्टपूर्ण साधनोंके द्वारा कल्पित परम पद प्राप्त होनेपर भी आपके चरणकमलोंका अनादर करनेके कारण अत्यन्त नीचे गिर जाते हैं।

सोलहवाँ अध्याय

प्रमेयके अन्तर्गत माया-ग्रसित जीवतत्त्वका विवेचन

ब्रजनाथ जीवतत्त्वके सम्बन्धमें दशमूलका उपदेश श्रवणकर घर लौटे। आज उन्हें नींद नहीं आ रही थी। वे बिस्तरेपर लेटे-लेटे गम्भीरतासे विचार करने लगे कि, "मैं कौन हूँ?" इस प्रश्नका जो उत्तर मैंने पाया है उससे मैं जान सका हूँ कि मैं श्रीकृष्णरूप चित्-सूर्यकी किरणगत एक कणमात्र हूँ। अणु होनेपर भी मुझमें अस्मदर्थ, ज्ञान-गुण और एक बिन्दु चिद्गत आनन्द है। मेरा चित्कणसे बना हुआ एक स्वरूप है। अत्यन्त अणु होनेपर भी वह स्वरूप श्रीकृष्णके मध्यमाकार स्वरूपके अनुरूप है। इस समय मुझे वह स्वरूप दिखायी नहीं दे रहा है—यही मेरा दुर्भाग्य है। बड़े भाग्यसे उस स्वरूपकी प्रतीति होती है। हमारा ऐसा दुर्भाग्य क्यों हुआ—इसे अच्छी तरहसे जाननेकी आवश्यकता है। मैं कल इस विषयमें श्रीगुरुदेवसे जिज्ञासा करूँगा। ऐसा सोचते-सोचते लगभग आधी रातके समय उन्हें कहीं नींद आयी। शेष रातमें उन्होंने स्वप्न देखा कि उन्होंने संसारको छोड़कर वैष्णव-वेष ले लिया है। जागनेपर सोचा कि मालुम होता है, प्रभु! संसारसे मुझे जल्दी ही बाहर निकालेंगे।

प्रातः काल बरामदे में बैठे थे। उसी समय कुछ विद्यार्थी उनके पास आये और उनके चरणोंमें प्रणामकर कहने लगे—आपने हमें बहुत दिनों तक खूब अच्छी तरह पढ़ाया है। आपके निकट हमने न्याय-सम्बन्धी तरह-तरहकी गूढ़ शिक्षाएँ प्राप्त की हैं। आशा है कि अब आप हमें 'न्याय-कुसुमाञ्जलि' भी पढ़ावेंगे।

ब्रजनाथने बड़ी ही नम्रतासे उत्तर दिया—भाई! अब मुझसे अध्यापनका कार्य नहीं होता। मेरा मन उधर बिलकुल ही नहीं लग रहा है। मैंने कोई दूसरा मार्ग अपनानेकी बात सोची है। ऐसी दशामें आपलोग किसी दूसरे अध्यापकके पास जाकर पढ़ें।

विद्यार्थियोंको यह सुनकर बड़ा दुःख हुआ, किन्तु वे कर ही क्या सकते थे? आखिर वे धीरे-धीरे वहाँसे उठकर चलने लगे। इसी समय श्रीचतुर्भुज मिश्र घटक उनके घर आये। उन्होंने ब्रजनाथकी पितामहीके निकट ब्रजनाथके विवाहके सम्बन्धमें एक प्रस्ताव किया—विजयनाथ भट्टाचार्यको तो आप जानती हैं न? कुलीनवंश है, अवस्था भी अच्छी है। आपलोगोंके उपयुक्त घर है। और सबसे बड़ी बात यह है कि कन्या जैसी सुन्दरी है, वैसी सुशीला भी है। भट्टाचार्य, ब्रजनाथसे अपनी कन्याकी शादी करनेमें अपनी ओरसे कोई शर्त नहीं रखेंगे। आप जैसा चाहेंगी उसी रूपमें कन्या देनेके लिए प्रस्तुत है।

ब्रजनाथकी पितामही विवाहके प्रस्तावसे बड़ी आनन्दित हुई। किन्तु ब्रजनाथ मन-ही-मन बड़े असन्तुष्ट हुए। सोचने लगे—कहाँ माताजी विवाह करनेकी तैयारी कर रही हैं और कहाँ मैं घरबार छोड़नेकी बात सोच रहा हूँ, क्या मुझे इस समय विवाहकी बातें अच्छी लगती हैं?

विवाहकी बातको लेकर घरमें काफी तर्क-वितर्क होने लगा। एक तरफ ब्रजनाथकी माँ, पितामही और अन्यान्य कुल-वृद्धाएँ तथा दूसरी तरफ अकेले ब्रजनाथ। ब्रजनाथ किसी प्रकार भी विवाह करनेके लिए राजी नहीं हो रहे थे और वृद्धाएँ विवाहके लिए ब्रजनाथपर नाना प्रकारसे दबाब डाल रही थीं। दिन भर यही चर्चा होती रही। इधर शामसे जो वर्षा आरम्भ हुई, सारी रात रुकनेका नाम ही नहीं लिया। इसलिए उस दिन ब्रजनाथका मायापुर

जाना न हो सका। दूसरे दिन विवाहकी बातको लेकर काफी गरमा-गरमी हो जानेके कारण ब्रजनाथका भोजन भी अच्छी तरहसे न हो सका। शाम होते ही वे वृद्ध बाबाजीकी कुटियापर पहुँचे और बाबाजी महाशयको दण्डवत् प्रणामकर उनके समीप बैठे।

बाबाजीने कहा—कल रातमें बड़ी वर्षा हो रही थी। इसलिए आ नहीं सके। आज तुम्हें देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हो रही है।

ब्रजनाथ—प्रभो! मेरे ऊपर कुछ सङ्कट आ गये हैं। खैर; उस विषयमें आपको पीछे बताऊँगा। अभी तो मुझे यह बतलानेकी कृपा करें कि जीव जब शुद्ध चित् पदार्थ है, तब उसकी संसाररूप दुर्गति क्यों होती है?

बाबाजी मुस्कराते हुए कहने लगे—

स्वरूपार्थैर्हीनान् निजसुखपरान् कृष्णविमुखान्
हरेर्माया दण्ड्यान् गुणनिगडजालैः कलयति।
तथा स्थूलैर्लिङ्गैर्द्विविधावरणैः क्लेशनिकरै-
र्महाकर्मालानैर्नयति पतितान् स्वर्गनिरयौ॥

(दशमूल ६)

जीव स्वरूपतः कृष्णका नित्यदास है। कृष्णदास्य ही उसका स्वरूपधर्म है। उस स्वरूपधर्मसे रहित, निज सुखपर कृष्ण-विमुख जीवोंको दण्ड देनेके लिए भगवान्‌की मायाशक्ति उन्हें सत्त्व, रज और तमोगुण रूप जंजीरसे बाँध देती है और स्थूल तथा लिङ्गशरीरसे जीव-स्वरूपको आच्छादितकर तथा दुखपूर्ण कर्म-बन्धनमें डालकर स्वर्ग और नरकमें उन्हें सुख और दुखको भोगाती फिरती है।

गोलोक वृन्दावनमें वृन्दावनबिहारी श्रीकृष्णकी सेवाके लिए श्रीबलदेव प्रभु द्वारा और परव्योम वैकुण्ठमें वैकुण्ठाधिपति नारायणकी सेवाके लिए श्रीसङ्कर्षण द्वारा प्रकटित नित्यपार्षद जीव अनन्त हैं। वे नित्यकाल तक उपास्यकी सेवामें रसिक होते हैं, सर्वथा स्वरूपमें स्थित रहते हैं, उपास्यको सुखी रखनेमें सदा तत्पर रहते हैं, उपास्यके प्रति सर्वदा उन्मुख रहते हैं, चित्-शक्तिका बल प्राप्तकर सदा बलवान होते हैं। उनका जड़ मायाके साथ कोई सम्बन्ध नहीं रहता। वे लोग यह भी नहीं जानते हैं कि माया नामक कोई शक्ति भी है या नहीं। क्योंकि वे चिन्मण्डलमें वास करते हैं। माया उनसे बहुत ही दूर होती है। वे सब समय उपास्यकी सेवा-सुखमें निमग्न रहते हैं। वे जड़ दुःख-सुखसे अतीत तथा नित्य मुक्त होते हैं। प्रेम ही उनका जीवन होता है; शोक, मरण और भय—यह सब क्या चीज है—उन्हें इसकी तनिक भी खबर नहीं होती।

कारणाब्धिशायी महाविष्णुके मायाके प्रति ईक्षण-रूप किरणगत अणुचैतन्य जीव भी अनन्त हैं। मायाके बगलमें स्थित होनेके कारण जीव मायाकी विचित्रताको देखते हैं। साधारण जीवोंके समस्त लक्षण जो पहले बतलाये गये हैं—इनमें पाये तो जाते हैं, तथापि इनका स्वभाव अत्यन्त अणु-क्षुद्र होनेके कारण वे तटस्थ भावसे कभी चित्-जगत्‌की ओर और कभी मायिक जगत् की ओर दृष्टिपात करते हैं। तटस्थावस्थामें जीव बहुत ही दुर्बल होता है। क्योंकि उस समय तक उसे सेव्य वस्तुकी कृपासे चित्-बल प्राप्त नहीं होता है। इन अनन्त जीवोंमेंसे जो जीव मायाको भोग करना चाहते हैं, वे विषयोंमें आसक्त होकर माया द्वारा नित्य बद्ध हो पड़ते हैं और जो जीव सेव्य वस्तुका चित्-अनुशीलन करते हैं,

वे सेव्यतत्त्वकी कृपासे चित्-शक्तिका बल पाकर चिद्धाममें गमन करते हैं। बाबा! हमारा बड़ा दुर्भाग्य है कि हमलोग कृष्णकी सेवा भूलकर मायाके बन्धनमें पड़े हुए हैं। अतएव स्वरूपार्थसे रहित होनेके कारण ही हमारी यह दुर्दशा है।

ब्रजनाथ—प्रभो! तटस्थ स्वभावस्थित सन्धिस्थानसे कुछ जीव मायिक जगत्में क्यों चले गये और कुछ चित् जगत्में क्यों चले गये?

बाबाजी—कृष्ण-स्वरूपके लक्षणसमूह जीव-स्वरूपमें भी अणु मात्रामें पाये जाते हैं। कृष्णकी स्वेच्छामयताका अणु लक्षण अर्थात् स्वतन्त्र वासना जीवोंमें नित्य सिद्ध है। उस स्वतन्त्र वासनाका सत् व्यवहार करनेसे जीवका कृष्ण-सान्मुख्य ठीक रहता है, किन्तु उसका असत् व्यवहार करनेसे जीव कृष्णसे विमुख हो जाता है। यही विमुखता जीव हृदयमें मायाको भोग करनेकी कामना पैदा कर देती है। फलस्वरूप जिस समय जीव मायाको भोग करनेकी आकांक्षा करता है, उसी समय उसमें यह तुच्छ अहङ्कार आ जाता है कि "मैं जड़ विषयोंका भोक्ता हूँ" और अविद्या, अस्मिता आदि पञ्चपर्वा अविद्यागुण(१) जीवके शुद्ध-चित्-कणस्वरूपको आच्छादित कर लेते हैं। स्वतन्त्र वासनाका सत् व्यवहार अथवा असत् व्यवहार ही हमारे मुक्त अथवा बद्ध होनेका एकमात्र कारण है।

ब्रजनाथ—कृष्ण परम करुणामय हैं। फिर उन्होंने जीवको ऐसा दुर्बल क्यों बनाया, जिससे वह मायामें फँस गया?

बाबाजी—कृष्ण करुणामय हैं, यह ठीक है, तथापि वे लीलामय भी हैं। भिन्न-भिन्न अवस्थाओंमें भिन्न-भिन्न प्रकारकी लीलाएँ होंगी—ऐसा सोचकर भगवान् श्रीकृष्णने जीवको तटस्थावस्थासे लेकर परमोच्च महाभावादि तक उन्नत पदके लिए उपयोगी बनाया है तथा इस उपयोगिताकी सुविधा और दृढ़ताके लिए अत्यन्त नीचे मायिक जड़से लेकर अहङ्कार तकको परमानन्दकी प्राप्तिमें अनन्त बाधा-स्वरूप मायिक निम्नस्तरोंकी भी सृष्टि की है। मायाबद्ध जीव स्वरूपसे विच्युत, निजसुखकर और कृष्णसे विमुख होते हैं। जीव इस अवस्थामें जितना अधिक नीचे गिरता जाता है, करुणावरुणालय श्रीकृष्ण अपने धाम और पार्षदोंके साथ उनके सामने आविर्भूत होकर उन्हें उच्चगति प्राप्त करनेका उतना ही अधिक सुयोग प्रदान करते हैं। जो जीव इस सुविधाको ग्रहणकर उच्चगतिको प्राप्त होनेका प्रयास करते हैं, वे क्रमशः चिन्मयधाम तक पहुँच जाते हैं और वहाँ नित्य पार्षदोंकी अवस्था जैसी अवस्था प्राप्त करते हैं।

ब्रजनाथ—ईश्वरकी लीलाके लिए दूसरे दूसरे जीव क्यों कष्ट पाते हैं?

बाबाजी—जीवोंमें स्वतन्त्र वासनाका होना उनके ऊपर भगवान्‌की विशेष कृपाका परिचय है। क्योंकि स्वतन्त्र-वासनाके अभावमें जड़वस्तु नितान्त हेय और तुच्छ होती है। स्वतन्त्र-वासनाके कारण ही जीवने जड़-जगत्‌की प्रभुता पायी है। 'क्लेश' और 'सुख' मनकी गतियाँ हैं। हम जिसे क्लेश मानते हैं, उसमें आसक्त व्यक्ति उसीको 'सुख' कहता है। समस्त प्रकारके विषय-सुखोंका अन्तिम परिणाम दुःखके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। विषयासक्त मनुष्य अन्तमें दुःख पाता है।

वही दुःख अत्यधिक होनेपर सुख पानेकी वासनाको जन्म देता है। फिर वासनासे

---

(१) पञ्चपर्वा अविद्या—तमः, मोह, महामोह, तमिश्र और अन्धतमिश्र।

विवेक और विवेकसे जिज्ञासा पैदा होती है। जिज्ञासाकी भावना उत्पन्न होनेसे साधुसङ्ग प्राप्त होता है। साधुसङ्गमें श्रद्धा उन्पन्न होती है। श्रद्धा उत्पन्न होनेपर जीव उन्नत सोपानपर (भक्तिमार्गपर) आरूढ़ होता है। जिस प्रकार सोना आगमें तपाकर हथौड़ीसे पीटनेपर निर्मल होता है, उसी प्रकार जीव भी माया भोग और कृष्ण-विमुखता रूपी मलसे युक्त होनेपर मायिक जगत्‌रूप पीठ अर्थात् आधारके ऊपर क्लेशरूप हथौड़ी द्वारा पीट-पीट कर शुद्ध किया जाता है। अतएव बहिर्मुख जीवका क्लेश अन्तमें सुखदायी होता है। इसलिए क्लेश भगवान्‌की करुणाका निदर्शन स्वरूप है। अतः कृष्णलीलामें जीवोंका जो क्लेश दिखलायी पड़ता है, वह दूरदर्शी व्यक्तियोंको मङ्गलप्रद प्रतीत होता है तथा अदूरदर्शी व्यक्तियोंको क्लेशप्रद होता है।

ब्रजनाथ—जीवकी बद्धावस्थाका क्लेश यद्यपि अन्तमें शुभदायक होता है, तथापि वर्त्तमान अवस्थामें अत्यन्त कष्टदायक होता है, क्या सर्वशक्तिमान कृष्ण इस कष्टप्रद मार्गके अतिरिक्त कोई दूसरा पथ नहीं निकाल सकते थे?

बाबाजी—कृष्णलीला बड़ी विचित्र और अनेक प्रकारकी होती है, यह भी उनकी अनेक प्रकारकी लीलाओंमेंसे एक प्रकारकी लीला है। स्वेच्छामय पुरुष जब सब प्रकारकी लीलाएँ कर रहे हैं, तब इसी लीलाको क्यों छोड़ दें? सब प्रकारकी विचित्रताओंको जारी रखनेसे कोई भी लीला छोड़ी नहीं जा सकती। इसके अतिरिक्त दूसरी प्रकारकी लीलाएँ करनेपर भी उस लीलाके उपकरणोंको किसी-न-किसी प्रकार कष्ट अवश्य ही स्वीकार करना होगा। श्रीकृष्ण पुरुष और कर्त्ता हैं। समस्त उपकरण पुरुषकी इच्छाके अधीन होते हैं तथा कर्त्तारूप पुरुषके कर्मरूप विषय हैं। कर्त्ताकी इच्छाके अधीन होनेसे कुछ-न-कुछ कष्ट पाया जाना स्वाभाविक है। किन्तु वह कष्ट यदि अन्तमें सुखदायक हो, तब वह कष्ट-कष्ट नहीं है। तुम उसे कष्ट क्यों कह रहे हो? कृष्णलीलाकी पोषकताके लिए जो कष्ट दिखलायी पड़ता है, वह जीवके लिए परम सुखमय होता है। श्रीकृष्णमें जो सुखका अंश है, उसे छोड़कर स्वतन्त्र-वासनासे युक्त जीवने मायाभिनिवेशजन्य क्लेश स्वीकार किया है—इसमें यदि किसीका कुछ दोष है तो वह स्वयं जीवका ही है—कृष्णका नहीं।

ब्रजनाथ—यदि जीवको स्वतन्त्र वासना न दी गयी होती तो हानि क्या थी? कृष्ण सर्वज्ञ हैं, अतएव वे यह जानते थे कि जीवको स्वतन्त्रता देनेसे ही वह कष्ट पायेगा। फिर भी उन्होंने जान-बूझकर भी उसे स्वतन्त्रता दे दी। ऐसी दशामें जीवोंके कष्टके लिए कृष्ण दायी हैं या नहीं?

बाबाजी—स्वतन्त्रता एक अमूल्य रत्न है। इस स्वतन्त्रताके अभावमें जड़पदार्थ तुच्छ और हेय हैं। यदि जीवको भी यह अमूल्य स्वतन्त्रता न मिली होती, तो यह भी जड़पदार्थोंकी तरह एक हेय और तुच्छ पदार्थ होता। जीव चित्-कण पदार्थ है। अतएव चित्-पदार्थके समस्त धर्म अणुचित् जीवमें अवश्य ही पाये जायेंगे, किन्तु अन्तर यह है कि पूर्ण चित्-पदार्थमें जो सब धर्म पूर्ण रूपमें पाये जाते हैं, अणुचित्-पदार्थ जीवमें वे अत्यन्त क्षुद्र परिमाणमें होते हैं। चित्-पदार्थमें एक विशेष धर्म होता है, जिसे 'स्वतन्त्रता' कहते हैं। पदार्थके उस धर्मको पदार्थसे अलग नहीं किया जा सकता है। इसलिए जीव जिस परिमाणमें अणु होता है, उसीके अनुपातसे उसमें 'स्वतन्त्रता' रूप धर्म भी अवश्य होता है। इसी स्वतन्त्रताके कारण जीव जड़ जगत् में सबसे श्रेष्ठ पदार्थ है और समस्त जड़-जगत्‌का प्रभु

है। ऐसी स्वतन्त्रतासे युक्त जीव कृष्णका प्रिय सेवक है। जीव जब अपनी स्वतन्त्रताका अपव्यवहार कर मायाके प्रति अभिनिविष्ट होता है तब करुणामय कृष्ण जीवका अमङ्गल होता देखकर रोते-रोते उसके पीछे-पीछे उसका उद्धार करनेके लिए जड़-जगत् में पधारते हैं। जीव कृष्णकी अमृतमयी लीलाको जड़-जगत् में प्राप्त नहीं कर पायेगा, इसलिए श्रीकृष्ण दया करके अपनी अचिन्त्य लीलाको प्रपञ्चमें उदित कराते हैं। इतनी दयाके उपरान्त भी जब जीव उस लीलातत्त्वको भी समझनेमें असमर्थ होता है तब वे (श्रीकृष्ण) श्रीनवद्वीपमें अवतीर्ण होकर गुरुके रूपमें परम उपाय-स्वरूप अपने नाम, रूप, गुण और लीला-कथाओंकी स्वयं व्याख्या करते हैं तथा स्वयं आचरणकर जीवोंको वैसा करनेके लिए प्रेरणा और शिक्षा देते हैं। बाबा! ऐसे दयामय कृष्णको क्या तुम किसी प्रकारसे दोषारोपण कर सकते हो? उनकी करुणा अपार है, परन्तु हमारा दुर्दैव अत्यन्त शोचनीय है।

ब्रजनाथ—तब क्या मायाशक्ति ही हमारी दुर्दशाका कारण है? यदि सर्वशक्तिमान और सर्वज्ञ श्रीकृष्ण मायाको जीवोंसे दूर रखते तो जीवोंको ऐसा कष्ट क्यों होता

बाबाजी—माया स्वरूपशक्तिकी छाया है। अतएव वह स्वरूपशक्तिका विकार है। अनुपयुक्त जीवोंका संस्कार करनेके लिए वह भाथी-स्वरूप है। अर्थात् उनको उपयुक्त बनानेका उपाय है। माया कृष्णकी दासी है। वे कृष्ण—विमुख जीवोंको दण्ड देकर तथा उनकी चिकित्सा कर शुद्ध करती है। "मैं कृष्णका नित्य दास हूँ"—इसे भूलना ही चित्कण-स्वरूप जीवका अपराध है। इसी अपराधके लिए माया पिशाची जीवको दण्ड देती है। यह मायिक जगत् कारागार है। इस कारागारकी रक्षयित्री माया है। माया इस कारागारमें कृष्ण-विमुख जीवोंको बन्दकर दण्ड प्रदान करती है। जैसे राजा प्रजाकी भलाई के लिए कारागारका निर्माण करता है, वैसे ही भगवान्ने जीवोंके प्रति अपार करुणा प्रकाश करते हुए जड़-जगत् रूपी कारागारकी स्थापना की है तथा जड़-मायाको इस कारागारकी रक्षयित्री नियुक्त कर रखा है।

ब्रजनाथ-यदि जड़-जगत् कारागार है, तब उसके उपयुक्त जञ्जीर (बेड़ी—हथकड़ी) भी तो चाहिये। वह जञ्जीर क्या है?

बाबाजी—मायिक जञ्जीर तीन प्रकारकी होती है—सत्त्वगुणसे बनी हुई जञ्जीर, रजोगुणसे बनी हुई जञ्जीर और तमोगुणसे बनी हुई जञ्जीर। माया अपराधी जीवोंको अपनी इन्हीं तीन प्रकारकी जञ्जीरोंसे जकड़े हुए है। प्रत्येक जीव चाहे वह तामसिक हो या राजसिक अथवा सात्विक ही क्यों न हो, मायाकी जञ्जीरोंमें बँधा हुआ है। जञ्जीर सोनेकी हो अथवा चाँदी या लोहेकी हो—भिन्न-भिन्न धातुओं द्वारा बनी होनेपर भी, इनसे बँधनेपर जो कष्ट होता है, उनमें कोई अन्तर नहीं होता।

ब्रजनाथ—मायाकी जञ्जीर चित्कण-विशेष जीवको किस प्रकार बाँध सकती है?

बाबाजी—मायिक वस्तु चित्-वस्तुको स्पर्श करनेमें असमर्थ होती है। परन्तु "मैं मायाका भोक्ता हूँ"—जीव जब ऐसा अभिमान करता है, उसी समय जीवका अणुचित्-स्वरूप जड़-अहङ्काररूप लिङ्ग (सूक्ष्म) शरीरसे आवृत हो जाता है। सूक्ष्मशरीर द्वारा आवृत जीवके दोनों पैरोंमें मायिक जञ्जीरें पड़ जाती हैं। सात्त्विक अहङ्कारसे युक्त उच्चतर लोकोंमें वास करनेवाले जीव देवता कहलाते हैं, उनके पैरोंमें सोनेकी अर्थात् सात्त्विक जञ्जीर होती है। राजस-जीव देवता और मानव भाव मिश्र होते हैं। उनके पैरोंमें चाँदीकी अर्थात् राजस

जञ्जीर होती है और तामस जीव पंच-म-कारगत जड़ानन्दमें मत्त रहते हैं। उनके पैरोंमें लोहेकी अर्थात् तामस जञ्जीर होती है। इन जञ्जीरोंमें जकड़े हुए जीव कारागारसे बाहर नहीं निकल सकते—नाना प्रकारकी यन्त्रणाओंको भोगते हुए भी उसीमें आबद्ध रहते हैं।

ब्रजनाथ—मायाके कारागारमें बद्धजीव क्या-क्या कर्म करते हैं?

बाबाजी—सबसे पहले जीव अपनी मायिक भोग प्रवृत्तिके अनुसार ऐसे-ऐसे कर्मोंको करता है, जिससे वह अपने मनोवाञ्छित भोगोंको प्राप्त कर सके और दूसरे मायिक जञ्जीरसे बँधे होनेके कारण उसे जो कष्ट प्राप्त होते हैं, उन्हें दूर करने की वह चेष्टा करता है।

ब्रजनाथ—कृपया पहले प्रकारके कर्मोंको विस्तारपूर्वक बतलाइये।

बाबाजी—जड़ीय स्थूल शरीर ही स्थूल आवरण है। स्थूल आवरणकी छह अवस्थाएँ होती हैं—जन्म, उसका अस्तित्व, ह्रास, वृद्धि, परिणाम और क्षय। यह छह प्रकारका विकार स्थूलशरीरका धर्म है। क्षुधा, प्यास—यह सब जड़शरीरका अभाव है। जड़शरीरमें स्थित जीव अपनी भोग-वासनाओंके द्वारा परिचालित होकर आहार, निद्रा और सङ्ग आदिके वशीभूत होता है। मायिक विषयोंका भोग करनेके लिए जीव नाना प्रकारके काम्य कर्मोंको करता है। स्थूलशरीरके जन्मसे लेकर चितारोहण तक दस प्रकारके कर्मोंका अनुष्ठान करता है। वेद—विहित अठारह प्रकारके और भी कर्मोंका आचरण करता है। वह इन कर्मों द्वारा पुण्य संचयकर स्वर्गमें देवभोग्य भोगोंको और मर्त्यलोकमें ब्राह्मण आदि उच्चकुलमें जन्म लेकर सांसारिक सुखोंको भोग करनेकी आशासे कर्म मार्गमें प्रवृत्त होता है। दूसरी तरफ बद्धजीव अधर्मका आश्रयकर नाना प्रकारके पाप कर्मों द्वारा इन्द्रिय-सुखोंका भोग करता है। पहले प्रकारके जीव पुण्यजनक कर्मोंके द्वारा स्वर्गादिमें गमनकर देवभोग्य विषयोंका भोग करते हैं तथा भोग काल समाप्त होनेपर पुनः मृत्युलोकमें मनुष्यादि शरीर प्राप्त करते हैं। शेषोक्त प्रकारके जीव पाप आचरणसे नरकमें नाना प्रकारकी यन्त्रणाओंका भोगकर पुनः मृत्युलोकमें जन्म लेते हैं। इस प्रकार मायाबद्ध जीव विषय-सुखोंको भोग करनेके लिए कर्म-चक्रमें फँसकर इधर-उधर चक्कर लगाता रहता है। बीच-बीचमें अपने पुण्यजनक कर्मोंके फलसे कुछ नश्वर सुख भोग और पाप कर्मोंके फलसे दुख भोग भी करता रहता है।

ब्रजनाथ—दूसरे प्रकारके कर्मोंको भी स्पष्ट करें।

बाबाजी—स्थूलशरीरमें स्थित जीव स्थूलशरीरगत नाना प्रकारके अभावोंके जालमें पड़कर बहुत कष्ट पाता है। वह इन कष्टोंको दूर करनेके लिए नाना प्रकारके कर्म करता है। क्षुधा और तृष्णाके कष्टको दूर करनेके लिए खाद्य और पेय पदार्थोंका संग्रह करता है। ये द्रव्य अत्यन्त सहज ही मिल सकें—इसके लिए वह जी-तोड़ परिश्रमकर अर्थ संग्रह करता है। शीतसे बचनेके लिए गर्म वस्त्रोंका संग्रह करता है, इन्द्रिय-सुखकी वासना मिटानेके लिए विवाह करता है, कुटुम्ब और सन्तान आदिका भरण-पोषण करनेके लिए, उनके अभावोंको दूर करनेके लिए अथक परिश्रम करता है, स्थूलशरीरमें रोग पैदा होनेपर उसे दूर करनेके लिए औषधिका प्रयोग करता है, विषयोंकी रक्षाके लिए दूसरोंसे लड़ाई झगड़ा करता है और न्यायालयमें उपस्थित होता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य—इन षड्रिपुओंके अधीन होकर युद्ध, कलह, हिंसा और चोरी आदि दुष्कर्मोंमें प्रवृत्त होता है। सुखपूर्वक रहनेके लिए सुन्दर-सुन्दर भवनोंका निर्माण करता है—यह सब कर्म अभावकी निवृत्तिके

लिए हैं। भोगकी प्रवत्ति और अभावकी निवृत्तिके कार्योंमें ही मायाबद्ध जीवकी सारी आयु निकल जाती है।

ब्रजनाथ–यदि मायादेवी जीव-स्वरूपको केवल सूक्ष्मशरीर द्वारा ही आच्छादित करती, तो क्या उनका उद्देश्य पूरा नहीं होता?

बाबाजी—सूक्ष्मशरीरसे कार्य नहीं होता। इसलिए स्थूल आवरणकी आवश्यकता होती है। स्थूलशरीरसे जो कार्य किये जाते हैं, उनसे सूक्ष्मशरीरमें वासनाएँ पैदा होती हैं। पुनः उन वासनाओंको भोग करनेके लिए उपयोगी स्थूलशरीरकी प्राप्ति होती है।

ब्रजनाथ—कर्म और फल—ये दोनों एक साथ कैसे संयुक्त हैं? मीमांसकों का कहना है कि वास्तवमें फलदाता 'ईश्वर' नामक कोई पदार्थ नहीं है, ईश्वर एक कल्पित पदार्थ है। किये गये कर्मोंसे एक तत्त्व उत्पन्न होता है, जिसे अपूर्व कहते हैं, यह 'अपूर्व' ही समस्त कर्मोंका फल दान करता है। क्या यह सत्य है?

बाबाजी—कर्म-मीमांसक वेदके वास्तविक सिद्धान्तसे परिचित नहीं होते। उन्होंने वेदमें मोटे तौरपर यज्ञादि कर्मोंका भाव देखकर एक जैसा-तैसा सिद्धान्त गढ़ लिया है। वास्तवमें जहाँ तक सिद्धान्तका प्रश्न है, वेदोंमें कहीं भी ऐसा सिद्धान्त नहीं पाया जाता। वेदोंमें ईश्वरको स्पष्ट रूपसे कर्म-फलदाता स्थिर किया गया है। इस विषयमें वेदका यह स्पष्ट मत है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषष्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति॥[२]

(श्वे० उ० ४/६, मु० उ० ३/१/१, ऋग्वेद १/१६४/२१)

इस वेद मन्त्रका भावार्थ यह है कि संसाररूपी पीपलके वृक्षपर दो पक्षी बैठे हुए हैं—एक बद्धजीव, दूसरा उसके सखाके रूपमें—ईश्वर। बद्धजीवरूपी पक्षी संसाररूपी वृक्षके फलोंको चखते हैं और ईश्वररूपी पक्षी उन फलोंका स्वयं उपभोग न कर जीवरूपी पक्षीके आस्वादन कार्यको देखते हैं। तात्पर्य यह है कि जीव माया द्वारा बद्ध होकर कर्म करते हैं और कर्मका फल भोग करते हैं। मायाधीश ईश्वर जीवको उसके कर्मानुसार फल देते हैं। उनकी वैसी लीला तब तक चलती रहती है, जब तक जीव भगवत्—सान्मुख्य प्राप्त नहीं कर लेता। अब तुम्हीं सोचो, यहाँ मीमांसकोंका अपूर्व कहाँ गया? निरीश्वर सिद्धान्त कभी भी सर्वांग सुन्दर नहीं होता।

ब्रजनाथ—आपने कर्मको अनादि क्यों कहा है?

बाबाजी—समस्त कर्मोंकी जड़ कर्म वासना है और कर्मवासनाकी जड़ अविद्या है। "मैं कृष्णका दास हूँ"—इसके विस्मृत होनेका नाम ही 'अविद्या' है, इस अविद्याकी उत्पत्ति जड़-कालमें नहीं है। यह 'तटस्थ'—सन्धि स्थानपर उदित हुई थी। इसीलिए जड़-कालमें कर्मका आदि नहीं पाया जाता। यही कारण है कि कर्मको अनादि कहा गया है।

---

(२) क्षीरोदशायी पुरुष और जीव इस अनित्य संसाररूप पीपलके वृक्षके ऊपर सखाकी तरह वास करते हैं। उन दोनोंमेंसे एक अर्थात् जीव अपने कर्मके अनुसार उस वृक्षके फलोंको चख रहा है और दूसरा अर्थात् परमात्मा उन फलोंका उपभोग न कर साक्षी स्वरूप केवल देख रहा है।

ब्रजनाथ—माया और अविद्यामें क्या अन्तर है?

बाबाजी—माया कृष्णकी शक्ति है, श्रीकृष्णने उस मायाशक्तिके द्वारा जड़ ब्रह्माण्डकी सृष्टि की है और बहिर्मुख जीवको शुद्ध करनेके लिए मायाशक्तिको क्रियावती बनाया है। मायाकी दो प्रकारकी वृत्तियाँ हैं—अविद्या और प्रधान। 'अविद्या' वृत्ति—जीवनिष्ठ है और 'प्रधान'—जड़निष्ठ है। प्रधानसे समस्त जड़-जगत् उत्पन्न हुआ है तथा अविद्यासे जीवकी कर्म-वासना पैदा हुई है। मायाके और भी दो प्रकारके विभाग हैं—विद्या और अविद्या। इन दोनोंका सम्बन्ध जीवसे है अर्थात् ये जीवनिष्ठ हैं। अविद्या-वृत्तिसे जीवका बन्धन होता है और विद्या-वृत्ति द्वारा जीवकी मुक्ति होती है। अपराधी जीव जिस समय कृष्णोन्मुख होता है, उस समय उसके अन्दर विद्या-वृत्तिकी क्रिया आरम्भ होती है, परन्तु जब तक वह श्रीकृष्णको भूला हुआ होता है, तब तक उसके अन्दर अविद्या-वृत्तिकी ही क्रिया चलती रहती है। ब्रह्मज्ञान आदि विद्या-वृत्तिकी ही क्रिया-विशेष हैं। विवेकके प्रथम भागमें जीवकी शुभ चेष्टाओंका प्रादुर्भाव होता है और अन्तिम भागमें सुज्ञानका उदय होता है। अविद्या जीवको आवृत करती है और विद्या—उस आवरणको दूर करती है।

ब्रजनाथ—प्रधानकी क्रिया कैसे होती है?

बाबाजी—ईश्वर-चेष्टारूप कालके द्वारा माया-प्रकृति क्षोभित होनेपर सर्वप्रथम महत्तत्त्व उत्पन्न होता है। मायाकी जिस वृत्तिका नाम 'प्रधान' है, वह क्षोभित होनेपर द्रव्यकी सृष्टि होती है। महत्तत्त्वका विकार उत्पन्न होनेपर 'अहङ्कार' होता है। अहङ्कारके तामस विकारसे 'आकाश' पैदा होता है। आकाश विकृत होनेपर 'वायु' और वायुके विकारसे 'तेज' पैदा होता है। पुनः तेजके विकारसे जल और जल विकृत होकर पृथ्वी होता है। जड़-द्रव्योंकी इसी प्रकार सृष्टि हुई है। इनका नाम पंच-महाभूत है।

अब पंचतन्मात्राओंकी सृष्टि प्रणाली सुनो—काल प्रकृतिकी सृष्टि-प्रणाली अविद्यारूप वृत्तिको क्षोभित करके महत्तत्त्वके 'ज्ञान' और 'कर्म' भावको पैदा करता है। महत्तत्त्वका कर्म भाव विकृत होकर सत्त्व और रजोगुणसे ज्ञान एवं क्रियाकी सृष्टि करता है। उसी प्रकार महत्तत्त्व भी विकृत होकर अहङ्कार होता है। अहङ्कारके विकार प्राप्त होनेपर बुद्धि उत्पन्न होती है। बुद्धि विकृत होकर आकाशका 'शब्द' गुण पैदा करती है। शब्द गुणके विकारसे स्पर्श गुण उत्पन्न होता है। इसमें वायुका स्पर्श गुण और आकाशका शब्द-गुण दोनों ही होते हैं। इससे प्राण, ओज और बलकी सृष्टि होती है। स्पर्श गुण विकृत होनेपर तेजः पदार्थमें रूप, स्पर्श और शब्द गुण उत्पन्न होते हैं, उस गुणके काल द्वारा विकार होनेपर जलमें रस, रूप, स्पर्श और शब्द गुणोंका प्रादुर्भाव होता है। उस विकारसे पृथ्वीमें गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द गुण पैदा होते हैं। इस विकार क्रियामें चैतन्यरूप पुरुषकी यथायोग्य सहायता होती है।

अहङ्कार तीन प्रकारका होता है—वैकारिक, तैजस और तामस। वैकारिक अहङ्कारसे द्रव्योंकी उत्पत्ति होती है, तैजस अहङ्कारसे दस इन्द्रियाँ पैदा होती हैं। इन्द्रियाँ दो प्रकारकी होती हैं—ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ। चक्षु, कर्ण, नासिका, जिह्वा और त्वचा—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं; वाणी, हाथ, पैर, गुदा और उपस्थ—ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। इस प्रकार महाभूत और सूक्ष्म भूत, ये सब एकत्रित होनेपर भी कोई कार्य नहीं होता, जब तक कि उनमें अणुचित् जीव प्रवेश नहीं करता। किन्तु महाभूत और स्थूल भूतसे बने हुए शरीरमें अणुचित्

जीव ज्योंही प्रवेश करता है, त्योंही सारे कार्य होने लगते हैं। वैकारिक तैजस गुण, 'प्रधान' विकृत तामस वस्तुके साथ मिलकर कार्य करनेके लिए उपयुक्त होता है। इसी प्रकारसे अविद्या, और प्रधानकी क्रियाएँ होती हैं।

मायिक तत्त्व २४ प्रकारके होते हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश—ये पाँच महाभूत; गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द—ये पाँच तन्मात्राएँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ; मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार—ये २४ तत्त्व प्राकृत तत्त्व हैं। इन चौबीस तत्त्वोंसे गठित शरीरमें प्रविष्ट अणुचैतन्य जीव पच्चीसवाँ तत्त्व है तथा परमात्मा ईश्वर ही २६वें तत्त्व हैं।

ब्रजनाथ—साढ़े तीन हाथ लम्बे इस शरीरमें सूक्ष्मशरीरका भाग कितना है और स्थूलशरीरका भाग कितना है एवं इस शरीर के किस भाग में जीव चैतन्य वास करता है?

बाबाजी—पंचमहाभूत, पंचतन्मात्राएँ, दस इन्द्रियाँ—यह सब स्थूल शरीर है। मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार—यह सब सूक्ष्म अर्थात् लिङ्ग शरीरमें जो 'मैं' और 'मेरा' ऐसा मिथ्याभिमान करते हैं तथा उस मिथ्याभिमानके कारण जो स्वरूपार्थसे च्युत हो गये हैं, वे जीव-चैतन्य हैं। वे अत्यन्त सूक्ष्म और जड़ीय देश, काल और गुणोंसे अतीत होते हैं। इसीलिए अत्यन्त सूक्ष्म होनेपर भी सारे शरीरमें उनकी सत्ता व्याप्त होती है। जैसे 'हरिचन्दन बिन्दु' [३] शरीरके किसी एक देशमें व्यवहार करनेसे सारे शरीरमें ही सुख व्याप्त हो जाता है। उसी प्रकार अणुमात्र जीव भी समस्त शरीरका क्षेत्रज्ञ और सुख-दुःखका अनुभवकर्ता है।

ब्रजनाथ—यदि जीव कर्मका और सुख-दुःखोंका अनुभवकर्ता ठहरता है, तो ईश्वरका कर्तृत्व कहाँ रहा?

बाबाजी—जीव-हेतुकर्ता है एवं ईश्वर—प्रयोजककर्ता है। जीव अपने कर्मोंका कर्ता होकर जिन फलोंको भोगनेका अधिकारी होता है तथा जिन अगले कर्मोंके लिए वह उपयोयी बनता है, उन फलोंको भोगने में तथा कार्योंको करानेमें ईश्वर प्रयोजक कर्ता है। ईश्वर—फलदाता है, जीव—फलभोक्ता है।

ब्रजनाथ—मायाबद्ध जीवोंकी कितनी प्रकारकी अवस्थाएँ हैं।

बाबाजी—पाँच प्रकारकी अर्थात् आच्छादित चेतन, संकुचित चेतन, मुकुलित चेतन, विकसित चेतन और पूर्ण विकसित चेतन।

ब्रजनाथ—कौन-कौन जीव आच्छादित चेतन हैं?

बाबाजी—वृक्ष, लता, तृण, पत्थरकी योनिको प्राप्त हुए जीवोंको आच्छादित चेतन कहते हैं। ये जीव कृष्णदास्यको भूलकर मायाके जड़ीय गुणोंमें इतने दूर तक अभिनिविष्ट होते हैं कि इनके चिद्धर्मका परिचय लुप्तप्राय होता है। केवल छः विकारोंके[४] द्वारा इनके चिद्धर्मका नाममात्रका परिचय पाया जाता है। यह अवस्था जीवके पतनकी चरम सीमा है। अहल्या[५],

---

(३) 'अविरोधश्चन्दनवत्' (ब्रह्मसूत्र २/३/२२) है। इस सूत्रके बलदेवकृत 'गोविन्द भाष्य' की व्याख्या—एकदेशस्थस्यापि हरिचन्दनविन्दोः सकलदेहाह्लादवदनभूतस्यापीत्यर्थः।

(४) छः विकार—जन्म, स्थिति, वृद्धि, परिणाम, क्षय और विनाश।

(५) अहल्या—सत्ययुगकी बात है। अपने पतिदेव श्रीगौतम ऋषिके अभिशापसे अहल्याको पाषाणका शरीर प्राप्त हुआ था। पतिके अभिशापको सुनकर वे बड़ी दुःखी हुईं और

यमलार्जुन [६] और सप्तताल [७] की पौराणिक गाथाओं पर विचार करनेपर उक्त कथनकी पुष्टि होती है। किसी विशेष प्रकारके अपराध होनेपर ही वैसी गति प्राप्त होती है एवं कृष्णकी कृपासे ही उस अवस्थासे मुक्ति मिलती है।

ब्रजनाथ—संकुचित चेतन कौन हैं?

बाबाजी—पशु, पक्षी, सर्प, मछली, जल-जन्तु, कीट-पतङ्ग—ये संकुचित चेतन हैं। आच्छादित चेतनकी चेतनाका परिचय प्रायः लुप्त होता है। परन्तु संकुचित चेतनकी चेतनता कुछ अंशोंमें अनुभूत होती है। आहार, निद्रा, भय, इच्छानुसार गमनागमन, अपना अधिकार

गौतम ऋषिके चरणोंमें गिरकर रोते-रोते अपनी मुक्तिके लिए प्रार्थना करने लगीं। पत्नीको इस प्रकार रोते देखकर बड़ी दया आयी। उन्होंने अहल्याको धीरज देते हुए कहा कि त्रेतायुगमें भगवान् रामचन्द्र पृथ्वीका भार उतारनेके लिए अवतार लेंगे। तब उनके चरणोंके स्पर्शसे पत्थर योनिसे तुम्हारी मुक्ति हो जायेगी। इसपर अहल्याने कहा—देव! अभी तो सत्ययुग चल रहा है। इसके बादमें द्वितीय युग द्वापर आयेगा और द्वापरके बीतनेपर त्रेतायुग प्रारम्भ होगा। अतएव त्रेतायुग आनेमें बड़ी देर है। मैं इतने दिनों तक कैसे कष्ट भोगूँगी? आप दया करें, जिससे मेरा यथाशीघ्र उद्धार हो।

गौतमने प्रसन्न होकर उत्तर दिया—घबड़ाओ नहीं। तुम्हारे लिए इस चतुर्युगमें सत्ययुगके बाद ही त्रेतायुग प्रारम्भ होगा और द्वितीय युग द्वापर—तृतीय युग त्रेताके पश्चात् तीसरे युगके रूपमें प्रकाशित होगा। गौतमकी इच्छासे वर्त्तमान चतुर्युगमें युगका क्रम बदल गया। सत्यके बाद ही त्रेताका आगमन हुआ। श्रीरामचन्द्रने त्रेतामें अवतार लेकर अपने चरणोंके स्पर्शसे पाषाणी अहल्याका उद्धार किया। अहल्या, आच्छादित चेतनरूप पाषाण शरीरसे उद्धार लाभकर पुनः पतिदेवके निकट चली गयीं।

(६) यमलार्जुन—एक समय कुबेरजीके पुत्र नलकुबर और मणिग्रीव मन्दाकिनीके तटपर कामोन्मत्त होकर नग्न अवस्थामें स्त्रियोंके साथ विहार कर रहे थे। सयोगवश देवर्षि नारद घूमते-घामते असी रास्तेसे गुजरे। परन्तु नलकुबर और मणिग्रीव मतवाले और कामोन्मत्त हो रहे थे। उन्होंने देवर्षिकी तनिक भी परवा नहीं की। देवर्षिका सम्मान करना तो दूर रहा, जब रमणियाँ लज्जा और भयसे काँपती हुई अपने-अपने वस्त्रोंको पहनकर देवर्षि नारदके पास पहुँचकर उनके चरणोंमें गिरकर क्षमा माँगने लगीं, तब वे दोनों भाई उन पर विगड़ने लगे। उनकी वैसी ज्ञानशून्य अवस्थाको लक्ष्यकर नारदजीने उन्हें वृक्ष योनिमें जन्म ग्रहण करनेके लिए अभिशाप दिया। फलस्वरूप वे गोकुलमें यमलार्जुन वृक्ष (आच्छादित चेतन) के रूपमें जन्मे। द्वापर युगमें भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलोंके स्पर्शसे उनका उद्धार हुआ था।

(७) सप्तताल—त्रेतायुगमें कपिपति बालिको एक समय कहींसे बड़े मीठे-मीठे सात ताल-फल मिले। वे उन्हें किसी जगह रखकर स्नान करने चले गये। सोचा—"अभी स्नानसे लौटकर इन फलोंको खायेंगे।" किन्तु स्नानसे लौटकर देखा कि एक विषधर सर्प उन सातों फलोंको नष्ट कर चुका है। इस पर बालिको बड़ा क्रोध आया। उन्होंने सर्पको अभिशाप दिया कि यह वृक्षयोनि लाभ करे। शापके प्रभावसे सर्प तुरन्त ही 'सप्तताल' वृक्षोंके रूपमें आच्छादित चेतन जन्मको प्राप्त हुआ। बालिके इस कार्यसे सर्प-पिता बड़े दुःखित और

जानकर दूसरोंसे लड़ाई-झगड़ा, अन्याय देखकर क्रोध—यह सब संकुचित चेतनमें पाया जाता है। इनमें केवल परलोकका ज्ञान नहीं होता। बानरोंकी दुष्ट बुद्धिमें कुछ हद तक विज्ञान—विचार भी देखा जाता है। पीछे क्या होगा, क्या नहीं होगा—वे इन विषयोंकी भावना करते हैं। कृतज्ञता आदि गुण भी इनमें देखे जाते हैं। किसी-किसी जानवरमें द्रव्य-गुण सम्बन्धी ज्ञान भी अच्छा होता है। परन्तु इतना होनेपर भी इनमें ईश्वर—जिज्ञासाकी प्रवृत्ति नहीं होती। अतएव इनका चेतन धर्म संकुचित होता है। भरत महाराजको मृग शरीरकी प्राप्ति होनेपर भी उनमें भगवन्नामका ज्ञान था—शास्त्रोंसे ऐसा जाना जाता है, किन्तु यह साधारण

क्रोधित हुए। उन्होंने भी बालिको शाप दिया—"जो इन सात तालवृक्षोंको एक ही बाणसे बींध देगा, वह बालिका वध करेगा।" श्रीरामचन्द्रजीने 'सप्तताल' वृक्षोंको एक बाणसे बींधकर सुग्रीवको विश्वास दिलाया था कि वे बालि का वध करनेमें समर्थ हैं। कलियुगमें भगवान् श्रीचैतन्य महाप्रभुजी जीवोंका उद्धार करनेके लिए दक्षिण भारतमें भ्रमण करते समय 'सप्तताल' वृक्षको देखकर प्रेमसे गद्गद हो गये और उनके आलिङ्गन करनेके साथ-साथ वे वृक्ष अन्तर्द्धान हो गये। वे श्रीमन् महाप्रभुजीका स्पर्श पाते ही आच्छादित चेतन जन्मसे मुक्त हो गये। उस आश्चर्यजनक लीलाको देखकर वहाँके आदिवासियोंने श्रीचैतन्यमहाप्रभुको साक्षात् श्रीरामचन्द्र माना था। 'श्रीचैतन्यचरितामृत' में इसका इस प्रकार वर्णन है—

सप्तताल वृक्ष देखे कानन भीतर। अति वृद्ध, अति स्थूल, अति उच्चतर॥
सप्तताल देखि प्रभु आलिंगन कैल। सशरीरे सप्तताल अन्तर्द्धान हैल॥
शून्यस्थल देखि लोकेर हैल चमत्कार। लोके कहे ए संन्यासी—राम अवतार॥
सशरीरे ताल गेल, श्रीवैकुण्ठ धाम। ऐछे शक्ति कार हय, बिना एक राम॥

विधि नहीं है, स्थल विशेषमें ऐसा होता है। भरत [८] और नृगराज [९] को उनके अपराधके लिए पशु योनिमें जन्म लेना पड़ा था। भगवान्‌की कृपासे अपराधके क्षय होनेपर उनकी सद्‌गति हुई थी।

ब्रजनाथ—मुकुलित चेतन कौन हैं?

बाबाजी—मनुष्य शरीरमें बद्धजीवोंकी तीन प्रकारकी अवस्थाएँ लक्षित होती हैं। वे अवस्थाएँ हैं—मुकुलित चेतन, विकसित चेतन और पूर्ण विकसित चेतन-अवस्था। मानव जातिको साधारणतः पाँच भागोंमें विभक्त किया जा सकता है—(१) नीति-रहित मानव, (२)

---

(८) भरत—शक्त्यावेशावतार ऋषभदेवके १०० पुत्र थे। उनमें भरत सबसे बड़े थे। पिता ब्राह्मण होनेपर भी भरतके गुण और कर्म क्षत्रिय जैसे थे, इसलिए ये क्षत्रिय हुए थे। पिताकी इच्छासे भरत ससागरा समस्त पृथ्वीके सम्राट् पदपर अभिषिक्त हुए थे। इतना होनेपर भी महाराज भरत बड़े भवगवद्भक्त थे। बहुत दिनों तक राज्य करनेके पश्चात् संसारसे विरक्त होकर उन्होंने अपना सारा राज्य और सारी सम्पत्ति अपने योग्य पुत्रोंमें बाँट दी और अकेले राजमहलसे निकलकर पुलहाश्रम हरिहर क्षेत्रमें जाकर भगवान्‌की आराधनामें तत्पर हो गये। एक दिन वे अपने आश्रमके पास ही पुण्यतोया गण्डकी नदीमें स्नानकर उसके पवित्र तटपर भगवन्नामका जप करने लगे। उसी समय उनकी दृष्टि एक प्यासी हरिनीके ऊपर पड़ी, जो चौकन्नी होकर इधर-उधर देखती हुई जल पी रही थी। इतनेमें पास ही एक सिंहका भयङ्कर गर्जन सुनकर उसने भयवश एकाएक नदीको पार करनेके लिए छलाङ्ग मारी। उसके पेटमें गर्भ था; अतः हठात् उछलनेसे उसके गर्भका बच्चा योनि-द्वारसे निकलकर नदीके प्रवाहमें गिर पड़ा। उधर हरिनी उस पार जाकर मर गयी। भरतको बड़ी दया आयी। उन्होंने दौड़कर नदीके प्रवाहमें डूबते हुए मातृहीन मृग—शावकको उठा लिया और आश्रमपर लाकर बड़े लाड़से उसका पालन-पोषण करने लगे। मृग-छौनेके प्रति उनकी ममता उत्तरोत्तर बढ़ने लगी। जैसे-जैसे उनकी ममता बढ़ती गयी, तैसे-तैसे उनका साधन भजन भी छूटता गया और अन्तमें वे सम्पूर्ण रूपसे भगवद्भजनसे च्युत हो गये। एक दिन अकस्मात् उस मृग—छौनेको कहींपर भी न देखकर उन्होंने शोकसे अधीर होकर 'हा मृग' 'हा मृग' पुकारते हुए अपने प्राणोंको छोड़ दिया। तदनन्तर अन्तकालकी भावनाके अनुसार भरतको मृग-जन्म मिला। परन्तु पूर्व जन्मकी भगवदाराधनाके प्रभावसे अपने पतनका कारण स्मरणकर उन्हें बड़ा पश्चाताप हुआ। वे अपने हिरण शरीरके माता-पिताको छोड़कर पुनः पुलहाश्रममें चले गये और वहाँ भगवन्नामका श्रवणकर मुक्त हुए। यह संकुचित चेतनका दृष्टान्त है। इसी प्रकार त्यागी और संन्यासी होनेपर भी यदि कोई स्त्री आदिके प्रति आसक्त होता है, तो वह अवश्यमेव अधोगतिको प्राप्त होगा। कुछ लोग ऐसा सोचते हैं कि "क्रमोन्नति द्वारा मनुष्य जन्म ही सर्वोत्तम जन्म है और इससे पुनः पतन नहीं होता"—ऐसा मत नितान्त हेय और भ्रान्त है। वासनानुसार ही जन्म होगा। इसमें परिवर्तनकी सम्भावना नहीं है। भरतने अपने जीवन-चरित्र द्वारा यही शिक्षा दी है।

(९) राजानृग—ये महाराज इक्ष्वाकुके पुत्र थे। ये बड़े दानी थे। इन्होंने अगणित ब्राह्मणोंको अगणित सुलक्षणा गौवें दान दी थीं। एक बार उनकी दान दी हुई एक गाय ब्राह्मणके

निरीश्वर-नैतिक मानव, (३) सेश्वर-नैतिक मानव, (४) साधन भक्त मानव और (५) भाव-भक्त मानव। जो मनुष्य जाने या अनजानेमें निरीश्वर हैं, वे या तो 'नीति शून्य' होते हैं अथवा 'निरीश्वर-नैतिक'। नीतिके साथ थोड़ा-सा ईश्वर विश्वासयुक्त होनेपर मनुष्य 'सेश्वर-नैतिक' कहलाता है।

शास्त्रीय विधिके अनुसार साधन-भक्तिमें रुचि उत्पन्न होनेपर उन्हें 'साधन-भक्त' कहा जाता है। और ईश्वरके प्रति थोड़ा-सा अनुराग उत्पन्न होनेपर वैसे मानवको 'भाव-भक्त' कहते हैं। नीति शून्य और निरीश्वर-नैतिक, दोनों प्रकारके मानव मुकुलित चेतन हैं, सेश्वर-नैतिक और साधन-भक्त विकसित चेतन हैं तथा भाव-भक्त मानव पूर्ण-विकसित चेतन हैं।

ब्रजनाथ—भाव भक्तोंके लिए कितने दिनों तक मायाबद्ध रहना सम्भव है?

बाबाजी—इस प्रश्नका उत्तर सातवें श्लोककी व्याख्यामें दूँगा। आज रात अधिक हो गयी है घर जाओ।

ब्रजनाथ श्रवण किये हुए तत्त्वोंका मनन करते हुए घर लौटे।

॥सोलहवाँ अध्याय समाप्त॥

घरसे राज भवनमें लौट आयी और राजाने अनजानेमें उसे किसी दूसरे ब्राह्मणको दान कर दिया। दान पानेवाले ब्राह्मण जब उस गायको लेकर घर जाने लगे तो रास्तेमें उस गायके पूर्व स्वामी उस गायको अपनी बताने लगे। इसपर दोनों ब्राह्मण परस्पर झगड़ पड़े और न्यायके लिए राजा नृगके पास आये। झगड़ेको दूर करनेके लिए राजाने उन विप्रोंको गायके बदले अलग-अलग एक-एक लाख उत्तम गौएँ ग्रहण करनेके लिए अनुरोध किया, परन्तु वे दोनों विप्र असन्तुष्ट होकर घर लौट गये। इधर काल उपस्थित होनेपर राजा नृगका देहान्त हो गया। यमराजके दूतोंने उन्हें यमपुरीमें यमराजके सामने उपस्थित किया। यम महाराज ने पूछा—तुम पहले अपने पुण्यका फल भोगना चाहते हो या पापका? राजाने उत्तर दिया—पापका। इतना कहनेके साथ-ही-साथ वे नीचे गिरे और गिरगिटका शरीर पाकर एक जलशून्य कुँएमें वास करने लगे। द्वापर युगमें एक दिन यादव कुमारोंको उपवनमें खेलते-खेलते बड़ी प्यास लगी। वे जल ढूँढ़ते-ढूँढ़ते उसी कुँएके पास पहुँचे और उसमें एक बड़े जानवरको पड़े हुए देखा। उन्होंने वहाँसे लौटकर श्रीकृष्णसे उस विचित्र जानवरके कुँएमें गिरनेकी बात कही। श्रीकृष्णने उसे अपने बाँये हाथसे खेल-ही-खेलमें कुँएसे बाहर निकाल दिया। कृष्णके करकमलोंका स्पर्श होते ही नृगराजा गिरगिट योनिसे मुक्त हो गये। इससे यह शिक्षा मिलती है कि ब्राह्मण और देवताओंका थोड़ा-भी धन अपहरण करनेपर जीवकी चेतनता संकुचित हो जाती है और उसे गिरगिट आदि आच्छादित चेतनका जन्म लेकर उसका फल भोगना पड़ता है।

सत्रहवाँ अध्याय

प्रमेयके अन्तर्गत मायासे मुक्त जीवोंका विचार

ब्रजनाथकी पितामहीने ब्रजनाथके विवाहकी सारी व्यवस्था पूरी करा ली है। रातमें ब्रजनाथको उन्होंने सारी बातें बतायी। ब्रजनाथने उस दिन कुछ भी उत्तर नहीं दिया। वे खा-पीकर लेटे हुए शुद्धजीवकी अवस्थाके सम्बन्धमें बड़ी रात तक चिन्तन करते रहे। उधर उनकी वृद्धा पितामही इस बातकी चिन्तामें मग्न हो रही थीं कि ब्रजनाथको विवाहके लिए कैसे तैयार किया जाये। उसी समय ब्रजनाथके मौसेरे भ्राता वेणीमाधव उपस्थित हुए। जिस लड़कीके साथ विवाहकी बातचीत चल रही है वह वेणीमाधवकी फुफेरी बहन है। विजय विद्यारत्नने कन्याका सम्बन्ध पक्का करनेके लिए उन्हें भेजा है।

वेणीमाधवने कहा—दादी! आखिर बात क्या है? ब्रज भैयाके विवाहमें देर क्यों कर रही हो?

पितामहीने कुछ दुःखित होकर कहा—बेटा! तू बड़ा समझदार लड़का है, जरा ब्रजनाथको समझा-बुझाकर विवाहके लिए राजी कर ले। मैं जितना भी समझाती हूँ, वह बात ही नहीं सुनता।

वेणीमाधवका ठिगना कद, छोटी गर्दन, काला रङ्ग और मिचमिची आखें उसके स्वरूपको प्रकट कर देती हैं। वे सभी बातोंमें हैं अथच किसी भी बातमें नहीं हैं। वृद्धाकी बात सुनकर वे जरा माथेपर बल देते हुए बोले—कुछ परवाह नहीं। तुम्हारी आज्ञा भरकी देर है, वेणीमाधव क्या नहीं कर सकता? तुम तो मुझे खूब जानती हो—लहरोंको गिन-गिन कर पैसा वसूल करता हूँ। अच्छी बात है, मैं एक बार ब्रजनाथसे बातचीत करके तो देखूँ। किन्तु दादी! कार्य हो जानेपर मुझे भर पेट पूड़ी-कचौड़ी खिलाओगी न?

दादी बोली—ब्रजनाथ तो खा-पीकर सो गया है।

अच्छी बात है, मैं कल सवेरे आकर सब कुछ ठीक कर लूँगा—ऐसा कहकर वेणीमाधव घर चले गये।

दूसरे दिन बड़े सवेरे ही हाथमें एक लोटा लेकर वे वहाँ उपस्थित हुए। ब्रजनाथ शौच आदि से निवृत्त होकर बाहर चण्डी-मण्डपमें बैठे हैं। उन्होंने वेणीमाधवको देखकर कहा—भाई, आज इतने सवेरे कैसे?

वेणीमाधवने कहा—दादा! तुमने तो अनेक दिन तक न्यायशास्त्र पढ़ा और पढ़ाया; तुम पण्डित हरिनाथ चूड़ामणिके पुत्र हो—तुम्हारा नाम देश भरमें विख्यात हो गया है; घरमें तुम्हीं एकमात्र पुरुष हो—यदि सन्तान-सन्तति न हो तो तुम्हारे इतने बड़े घरकी कौन रक्षा करेगा? भाई! हमलोगोंका अनुरोध है—तुम विवाह कर लो।

ब्रजनाथ बोले—भाई! मुझे व्यर्थ ही मत जलाओ। आजकल मैं श्रीगौरसुन्दरके भक्तोंका आश्रय ग्रहण कर रहा हूँ, मुझे संसार करनेकी इच्छा नहीं है। मायापुरमें वैष्णवोंके निकट बैठकर बड़ी शान्ति मिलती है। मुझे संसार अच्छा नहीं लगता—मैं या तो संन्यास ग्रहण करूँगा अथवा वैष्णवोंके पदाश्रित होकर रहूँगा। तुम्हें अन्तरङ्ग जानकर अपने हृदयकी बात कह रहा हूँ। तुम इस बातको कहीं प्रकाश मत करना।

वेणीमाधवने मन-ही-मन सोचा कि इन्हें सीधे रास्तेसे नहीं पाया जायेगा—इनके साथ एक चाल चलनी पड़ेगी। ऐसा सोचकर चालाकीसे अपने मनके भावोंको दबाकर वे बोले—

मैं तुम्हारे प्रत्येक कार्यमें सदासे ही सहायक रहा हूँ; जब तुम संस्कृत पाठशालामें पढ़ते थे, मैं तुम्हारी पुस्तकोंको वहनकर पाठशाला ले जाया करता था, अब जब तुम संन्यास लोगे तो मैं तुम्हारा दण्ड-कमण्डलु भी वहन करूँगा।

धूर्त्त लोगोंकी दो जिह्वाएँ होती हैं। एकसे वे एक प्रकारकी बात करते हैं और दूसरीसे अन्य प्रकारकी बातें करते हैं। उनके हृदयकी बातोंका पता लगाना कठिन होता है; मुखमें राम बगल में छुरी।

वेणीमाधवकी मीठी बातोंको सुनकर ब्रजनाथने कहा—भाई! मैंने तुम्हें सदैव अपना परम बन्धु समझा है। स्त्री होनेके नाते दादी गम्भीर विषयोंमें प्रवेश नहीं कर पातीं। किसी लड़कीको मेरे गलेमें बाँधकर मुझे संसार-समुद्रमें डुबो देनेके लिए वे बड़ी लालायित हैं। तुम यदि समझा-बुझाकर उन्हें इस कार्यसे रोको, तो मैं तुम्हारा चिरऋणी रहूँगा।

वेणीमाधवने कहा—शर्मारामके रहते-रहते कोई भी तुम्हारी इच्छाके विरुद्ध कुछ भी नहीं कर सकता। दादा! एक बात जरा खुलकर बतलाओ तो, इसके बाद देखो तो मैं क्या करता हूँ। मैं पूछता हूँ, संसारके प्रति तुम्हारी घृणा क्यों हो रही है? किसके परामर्शसे तुममें इस प्रकारकी विरक्तिका भाव पैदा हो रहा है?

ब्रजनाथने अपने वैराग्यकी सारी घटना वेणीमाधवको सुनायी और यह भी बतला दिया कि—मायापुरमें एक बड़े-बूढ़े और अनुभवी बाबाजी हैं, उनका नाम रघुनाथदास बाबाजी है। वे ही मेरे उपदेशक हैं—प्रतिदिन सन्ध्याके पश्चात्मैं उनके चरणोंमें उपस्थित होकर संसारकी ज्वालासे शान्ति लाभ करता हूँ। वे मुझपर बड़ी कृपा करते हैं।

दुष्ट वेणीमाधवने मन-ही-मन सोचा—हाँ, ब्रजदादाकी दुर्बलता कहाँ है, अब समझा; अब छल-बल और कौशलसे इन्हें सीधे रास्तेपर लाना है। प्रकाश्य रूपमें कहा—दादा! अभी घर जा रहा हूँ, कोई चिन्ता नहीं, मैं चुपके-चुपके दादीका मन बदल दूँगा।

वेणीमाधव अपने घरकी तरफ चले गये। परन्तु घर न जाकर थोड़ी देर बाद ही दूसरे रास्तेसे वे मायापुर श्रीवास-अङ्गनमें उपस्थित हुए। वहाँ बकुल वृक्षके नीचे चबूतरेपर बैठकर मन ही मन कहने लगे—ये वैष्णव बेटे ही संसारका मजा लूट रहे हैं—कितने सुन्दर घर हैं, कैसे कुञ्ज हैं, कितना सुन्दर चबूतरा है और क्या ही मनोरम प्राङ्गण है। एक-एक भजन कुटीमें एक-एक वैष्णव बैठकर माला सटका रहे हैं। धर्मके साँढ़की तरह ये पूरे निश्चिन्त हैं। पल्ली गाँवोंकी नारियाँ गङ्गा स्नानकर इन्हें बिना माँगे फल-मूल, जल और नाना प्रकारकी फल-मूल, भोज्यसामग्रियाँ दे जाती हैं। ब्राह्मणोंने कर्मकाण्डकी व्यवस्था करके ऐसे ही लाभोंके लिए मार्ग प्रस्तुत किया था, परन्तु उसका सारभाग आजकल बाबाजी-दल ही भोग कर रहा है। धन्य कलिकाल! कलिके इन चेलोंका आजकल पौ-बारह है। हाय! मेरा कुलीन ब्राह्मणके घरमें जन्म लेना व्यर्थ हुआ। आजकल हमें कोई पूछता तक नहीं—जल देना और फल देना तो दूर रहे। आज स्थिति यह है कि वैष्णव-बेटे नैयायिक पण्डितोंको 'घटपटिया' मूर्ख बतलाते हैं। यह बात ब्रजदादाके ऊपर ठीक बैठती है। वे इतना पढ़ लिखकर भी लंगोटधारी दुष्टोंके हाथमें बिकसे गये हैं। मैं 'वेणीमाधव'—दादाको भी दुरुस्त करूँगा और इन बेटोंकी भी मरम्मत करूँगा—ऐसा सोचते-सोचते वे एक कुटीके भीतर प्रविष्ट हुए।

घटनाचक्रसे उस कुटीमें श्रीरघुनाथदास बाबाजी केलेके पत्तोंसे बने हुए आसनपर बैठकर हरिनाम कर रहे थे। मनुष्यका स्वभाव उसके चेहरे से झलकता है। वृद्ध बाबाजीने देखा, उस ब्राह्मण-कुमारके वेषमें साक्षात् कलिका आगमन हुआ है। वैष्णवजन अपनेको स्वभावतः तृणसे भी अधिक हीन समझते हैं, वे शत्रुके अत्याचारोंको सहन करके भी उनके कल्याणकी कामना करते हैं। वे स्वयं अमानी होकर दूसरोंको मान दिया करते हैं। अतः बाबाजीने वेणीमाधवको आदरपूर्वक बैठाया।

वेणीमाधव नितान्त अवैष्णव होनेके कारण वैष्णव मर्यादाका उल्लंघन करके वृद्ध बाबाजीको आशीर्वाद देते हुए बैठे।

बाबाजी महाशयने पूछा—बाबा! तुम्हारा क्या नाम है? तुम यहाँपर किसलिए आये हो?

अपने लिए 'तुम' शब्दका व्यवहार सुनकर वेणीमाधव जरा क्रुद्ध हो उठे। उन्होंने वक्रताके साथ कहा—अरे बाबाजी! क्या कौपीन पहन लेनेसे ही ब्राह्मणोंके समान हुआ जा सकता है? खैर, जैसा भी हो, मैं तुमसे पूछता हूँ—तुम लोग ब्रजनाथ न्याय पञ्चाननको जानते हो?

बाबाजी—कृपा करके अपराध क्षमा करें, मुझ वृद्धका वाग्दोष न धरें। ब्रजनाथ कभी-कभी कृपा करके यहाँ पधारते हैं।

वेणीमाधव—वह आदमी सरल स्वभावका नहीं है, दो चार दिन आकर विनयादिके द्वारा तुम्हें अपने वशमें करके जो करना होगा, करेगा। बेलपुकुरके ब्राह्मण तुम्हारे व्यवहारसे अत्यन्त क्षुब्ध हैं। उन लोगोंने परामर्श करके ब्रजनाथको तुम्हारे पास भेजा है। तुम बूढ़े हो —जरा सावधान रहना। बीच-बीच में मैं तुम्हारे पास आकर उनके षड़यन्त्रकी खबर देता रहूँगा। मेरे सम्बन्धमें तुम उससे कुछ भी मत कहना, नहीं तो तुम्हारा और भी अधिक अनिष्ट होगा। आज मैं जा रहा हूँ। ऐसा कहकर वेणीमाधव अपने घर चले गये।

दोपहरका समय है। ब्रजनाथ भोजन करके बरामदेमें बैठे हैं। इसी बीच वेणीमाधव कहींसे आकर उनके पास बैठ गये और बातों-बातों में बोले—दादा! आज मैं कार्यवश मायापुर गया था। वहाँ एक बुड्ढेको देखा—शायद वही रघुनाथदास बाबाजी होगा। उसके साथ बातचीत होते-होते तुम्हारा प्रसङ्ग भी छिड़ गया। उसने तुम्हारे सम्बन्धमें एक ऐसी घृणित बात कही है कि वैसी बात कोई भी किसी ब्राह्मणके प्रति नहीं कह सकता। अन्तमें बोले —"ब्रजनाथको छत्तीस जातिका जूठन खिलाकर उसकी बामनाई ही निकाल दूँगा।" छिः! तुम जैसे विद्वान व्यक्तिको ऐसे आदमीके पास जाना किसी भी प्रकारसे उचित नहीं है इससे ब्राह्मण पण्डितोंकी प्रतिष्ठा धूलमें मिल जायेगी।

वेणीमाधवकी बात सुनकर ब्रजनाथ बड़े आश्चर्यान्वित हुए। वैष्णवोंके प्रति उनके हृदयमें जो श्रद्धाका भाव था एवं वृद्ध बाबाजीके प्रति जो भक्ति थी, न जाने क्यों वह दूनी हो उठी। वे कुछ गम्भीर होकर बोले—भाई! आज मैं व्यस्त हूँ, तुम जाओ, कल तुम्हारी बात सुनकर विचार करूँगा |

वेणीमाधव चले गये। ब्रजनाथ वेणीमाधवके दोमुखी स्वभावसे अच्छी तरह परिचित हो गये थे, प्रचुर न्याय पढ़े हुए थे तथापि वे स्वभावतः दुष्टता पसन्द नहीं करते थे। संन्यासमें सहायता करेगा, यह सोचकर उन्होंने वेणीमाधवके प्रति बन्धुत्वका भाव दिखलाया था। परन्तु

इन्हें पता चल गया कि वेणीमाधवने अपना कोई मतलब गाँठनेके लिए कुछ चिकनी-चुपड़ी बातें की थीं। सोचते-सोचते उन्हें स्मरण हो आया कि जिस कन्याकी मेरे साथ विवाहकी बात चल रही है, उसमें वेणीमाधवका कुछ स्वार्थ है। इसीलिए वह मायापुरमें किसी दुरभिसन्धिका बीज बोने गया होगा। ऐसा सोचकर वे मन-ही-मन बोले—हे भगवन्! गुरु और वैष्णवोंके चरणोंमें मेरी दृढ़ श्रद्धा बनी रहे, दुर्जन व्यक्तियोंके उत्पातसे कभी कम न हो जाये। इस प्रकार सोचते-सोचते शाम हो गयी। शाम होनेके पश्चात् वे बड़े ही व्याकुल चित्तसे श्रीवास-अङ्गनमें पहुँचे।

इधर वेणीमाधवके चले जानेके बाद बाबाजीने मन-ही-मन सोचा—यह आदमी निश्चय ही ब्रह्मराक्षस है—

राक्षसाः कलिमाश्रित्य जायन्ते ब्रह्मयोनिषु। [१]

(चै० भा० आ० १६/३०१ धृत वराहपुराणे महेश वाक्य)

यह शास्त्र-वाणी इस व्यक्तिके विषयमें ठीक बैठती है। वर्णाहङ्कार, व्यर्थका अहङ्कार, वैष्णव-विद्वेष और धर्म-ध्वजित्वकी छाप इसके मुख-मण्डलपर स्पष्ट रूपसे अङ्कित हैं। कोताही गर्दन, मिचमिची आँखें और बातोंमें चतुरता इसके अन्तरका परिचय देती है। अहा! ब्रजनाथ कैसा मधुरस्वभावका व्यक्ति है और कहाँ यह व्यक्ति असुरस्वभावका है। हे कृष्ण! हे गौराङ्ग! ऐसे दुर्जन व्यक्तियोंका कुसङ्ग कभी न मिले। आज ब्रजनाथको भी सावधान कर दूँगा।

ब्रजनाथके कुटीमें पहुँचते ही बाबाजीने बड़े प्यारसे "आओ बाबा, आओ" कहकर उन्हें छातीसे लगा लिया। ब्रजनाथकी आँखोंसे भी आँसुओं की धारा बहने लगी, गला रुद्ध हो आया। वे बाबाजीके चरणोंमें गिर पड़े।

बाबाजीने ब्रजनाथको बड़े स्नेहसे उठाते हुए कहा—आज सवेरे एक काले रङ्गके ब्राह्मण आये थे। वे कुछ उद्वेगजनक बातें सुना गये हैं। क्या तुम उन्हें जानते हो?

ब्रजनाथ—प्रभो! आप ही ने बतलाया है कि संसारमें अनेक प्रकारके जीव हैं। उनमेंसे कुछ लोग मत्सरतावश दूसरे जीवोंको व्यर्थ ही उद्वेग देकर सुखी होते हैं। हमारे वेणीमाधव भैया ऐसे-ऐसे लोगोंमें एक प्रधान पण्डा हैं। यदि उनकी कोई चर्चा न हो तो बड़ी खुशी होगी। यथार्थ बात तो यह है कि आपसे मेरी निन्दा करना, मुझसे आपकी निन्दा करना और झूठ-मूठका दोषारोपणकर परस्पर झगड़ा करा देना ही उनका स्वभाव है। उनकी बातोंको सुनकर आपने कुछ बुरा तो नहीं माना?

बाबाजी—हा कृष्ण! हा गौराङ्ग! मैं अनेक दिनोंसे वैष्णव-सेवामें नियुक्त हूँ—मैं उनकी कृपासे वैष्णव—अवैष्णव पहिचाननेकी शक्ति प्राप्त कर चुका हूँ। मुझे सब कुछ पता है—इस विषयमें मुझे कुछ भी कहना नहीं होगा।

ब्रजनाथ—उन सब बातोंको भूलकर आप कृपया यह बतलाइये कि मायासे बँधा हुआ जीव कैसे मुक्त होता है?

बाबाजी—श्रीदशमूलके सातवें श्लोकमें तुम्हें अपने प्रश्नका उत्तर मिलेगा—

यदा भ्रामं भ्रामं हरिरसगलद्वैष्णवजनं

---

(१) राक्षसगण कलियुगका आश्रयकर ब्राह्मण कुलमें जन्म ग्रहण करते हैं।

कदाचित् संपश्यन् तदनुगमने स्याद् रुचियुतः।
तदा कृष्णवृत्त्यात्यजति शनकैर्मायिकदशां
स्वरूपं विभ्राणो विमलरसभोगं स कुरुते॥

(दशमूल ७)

अर्थात् संसारमें ऊँच-नीच योनियोंमें भ्रमण करते-करते जब हरि—रसमें मत्त वैष्णवका दर्शन प्राप्त होता है, तब मायाबद्ध जीवको वैष्णव—मार्गके प्रति रुचि उत्पन्न होती है। कृष्णनामका उच्चारण करते-करते धीरे-धीरे उनकी मायिक दशा दूर हो जाती है—जीव क्रमशः स्व-स्वरूप प्राप्त करता हुआ विमल कृष्ण-सेवा-रस आस्वादन करनेके योग्य होता है।

ब्रजनाथ—इस विषयमें दो-एक वेदका प्रमाण सुनना चाहता हूँ। बाबाजी—वेदमें कहा है —

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमेति वीतशोकः॥[२]

(मु० उ० ३/१/२, श्वे० उ० ४/७)

ब्रजनाथ—जब सेवनीय ईश्वरको देख पाता है, तब जीव सर्वदा शोकरहित होकर उनकी महिमाको प्रत्यक्ष देख लेता है—इस वाक्यसे क्या मुक्तिको समझना होगा?

बाबाजी—मायाके बन्धनसे छुटकारा पानेका नाम ही 'मुक्ति' है। यह मुक्ति साधुसङ्गप्राप्त पुरुषको ही सुलभ है, परन्तु मुक्ति होनेके बाद जीवको जो महिमा प्राप्त होती है, वही अन्वेषण करने योग्य है ।

मुक्तिर्हित्वान्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः[३]

(श्रीमद्भा० २/१०/६)

इस अर्द्धश्लोकमें यह बतलाया गया है कि—अन्यथा रूपका परित्यागकर स्वरूपमें अवस्थिति ही जीवका प्रयोजन (मुक्ति) है। जिस क्षण बन्धनसे छुटकारा होता है, उसी क्षण मुक्तिका कार्य समाप्त हो जाता है; परन्तु स्वरूपमें अवस्थित होकर जीवकी अनन्त क्रियाएँ प्रारम्भ हो जाती हैं—यही जीवका मूल प्रयोजन है। आत्यन्तिक दुःख निवृत्तिको 'मुक्ति' कहा जा सकता है; परन्तु मुक्ति होनेके बाद चित्-सुखकी प्राप्ति रूप एक और भी अवस्था है। छान्दोग्योपनिषद् में उस अवस्थाका वर्णन है—

एवमेवैष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय
परं ज्योतिरूपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते

---

(२) पूर्वोक्त एक ही वृक्षपर अवस्थित जीव माया द्वारा मोहित होकर शोक करते-करते पतित हो गया। जब कभी जीव सेवनीय वस्तु परमेश्वरका दर्शन करता है, तब शोकरहित होकर अपनी कृष्णदास्यरूप महिमाको प्राप्त कर लेता है।

(३) जीव चित्-स्वरूप—शुद्ध कृष्णदास है। अविद्यामें प्रवेश करना ही उसके लिए विरूप है। (यह विरूप ही अन्यथारूप है) इसका परित्यागकर स्वरूपमें स्थितिका नाम ही—मुक्ति है।—(श्रीमन् महाप्रभुकी शिक्षा)।

स उत्तमपुरुषः स तत्र पर्येति जक्षन् क्रीडन् रममाणः॥[(४)]

(छा० उ० ८/१२/३)

ब्रजनाथ—मायासे मुक्त हुए पुरुषोंके क्या लक्षण हैं? बाबाजी—छान्दोग्योपनिषद् में माया मुक्त पुरुषोंके आठ प्रकारके लक्षण बतलाये गये हैं—

आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्प सोऽन्वेष्टव्यः॥[(५)]

ब्रजनाथ—मूलमन्त्रमें कहा गया है कि संसारमें भ्रमण करते-करते जीव जब हरि-रस रसिक-वैष्णवका सङ्ग प्राप्त करता है, तभी उसका कल्याण उदय होता है—इस बातमें मेरा पूर्वपक्ष है कि क्या ब्रह्मज्ञान, अष्टाङ्गयोग आदि शुभ कर्मोंके द्वारा अन्तमें हरिभक्तिकी प्राप्ति होती है?

बाबाजी—श्रीभगवान्ने श्रीमुखसे कहा है—

न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्म एव वा।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्त्तं न दक्षिणा॥
व्रतानि यज्ञाश्छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः।
यथावरुन्धे सत्संगः सर्वसंगापहो हि माम्॥

(श्रीमद्भा० ११/१२/१-२)

तात्पर्य यह कि योग, सांख्य-ज्ञान, स्मार्त्तधर्म, वेदाध्ययन, तपस्या, संन्यास, इष्टापूर्त, दक्षिणा, व्रत, यज्ञ, तीर्थ-भ्रमण और यम-नियम—यह सब कुछ मुझे वैसे वशमें नहीं करते, जैसा समस्त प्रकारकी आसक्तियोंको नष्ट करनेवाला सत्सङ्ग मुझे वशमें कर लेता है। कहाँ तक कहूँ, अष्टाङ्गयोग मुझे गौण रूपमें ही सन्तुष्ट कर सकता है; परन्तु सत्सङ्ग तो मुझे सम्पूर्ण रूपसे वशमें कर लेता है। हरिभक्तिसुधोदय (८/५१) में कहते हैं—

यस्य यत्संगतिः पुंसो मणिवत् स्यात् स तद्गुणः।
स्वकुलर्द्धयैततो धीमान् स्वयूथान्येव संश्रयेत्॥

अर्थात्, जिस व्यक्तिका जैसा सङ्ग होता है, उसमें भी ठीक वैसा ही गुण पैदा हो

---

(४) जीव मुक्ति प्राप्त करके इस स्थूल और सूक्ष्म शरीरसे समुत्थानकर चिन्मय ज्योति-सम्पन्न अपने चिन्मय अप्राकृत स्वरूपमें स्थित हो जाता है, वह उत्तम पुरुष है। वह उसी चिद्धाममें भोग, क्रीड़ा और आनन्द रूप सम्भोगादिमें मग्न हो जाता है। (श्रीमन् महाप्रभुकी शिक्षा)।

(५) आत्मामें आठ गुण होते हैं। आत्मा पापशून्य अर्थात् मायाकी अविद्या आदि पाप-प्रवृत्तियोंसे सम्बन्धशून्य है। 'विजर' शब्दका तात्पर्य जराधर्मरहित अर्थात् नित्यनूतन होता है। विमृत्यु—जिसका पतन न हो अर्थात् मृत्युशून्य। विशोक अर्थात् शोकरहित। 'विजिघत्स' अर्थात् भोगवासनारहित, अपिपास अर्थात् अन्याभिलाषशून्य, केवलमात्र प्रियतमकी सेवाके अतिरिक्त अन्यकामनारहित। सत्यकाम शब्दसे कृष्ण-सेवाकी उपयुक्त कामनाका बोध होता है, वैसी समस्त कामनाएँ निर्दोष होती हैं। सत्यसङ्कल्प अर्थात् जो कामनाएँ करते हैं, वे सिद्ध हो जाती हैं। बद्धजीवमें इन आठ धर्मोंका अभाव होता है। (श्रीमन् महाप्रभुकी शिक्षा)।

जाता है, जैसे मणिका जिस वस्तुसे स्पर्श होता है, उसी वस्तु जैसा रङ्ग मणिका भी दीखने लगता है। इसलिए शुद्ध साधुपुरुषोंके सङ्गसे शुद्ध साधु हुआ जा सकता है। साधुसङ्ग समस्त कल्याणोंका मूल है। शास्त्रोंमें जो 'निःसङ्ग' होनेका उपदेश दिया गया है, वहाँ 'निःसङ्ग' शब्दका तात्पर्य साधुसङ्ग हैं। साधुसङ्गको ही निःसङ्ग कहा गया है। यदि अनजानमें भी सत्सङ्ग हो जाये, तो उससे जीवका परम कल्याण होता है—

संगो यः संसृतेर्हेतुरसत्सु विहितोऽधिया।
स एव साधुषु कृतो निःसंगत्वाय कल्पते॥

(श्रीमद्भा० ३/२३/५५)

अर्थात् अज्ञानवश असत्पुरुषोंके साथ किया हुआ जो सङ्ग संसार-बन्धनका कारण होता है, वही सङ्ग अनजानमें भी यदि सत्पुरुषोंके साथ हो तो वही निःसङ्ग कहलाता है। जैसे श्रीमद्भागवत (७/५/३२) में कहते हैं—

नैषां मतिस्तावदुरुक्रमाङ्घ्रिं स्पृश्यत्यनर्थापगमो यदर्थः।
महीयसां पादरजोभिषेकं निष्किञ्चनानां न वृणीत यावत्॥

अर्थात्, जब तक जीव अकिञ्चन, भगवत्प्रेमी, महात्मा, भगवद्भक्तोंके चरणोंकी धूलमें स्नान नहीं कर लेता, तब तक समस्त अनर्थोंका नाश करनेवाले भगवत्—चरणोंमें उसकी मति नहीं लगती। और भी—

न ह्यम्मयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामयाः।
ते पुनन्त्युरुकालेन दर्शनादेव साधवः॥

(श्रीमद्भा० १०/४८/३१)

अर्थात्, गङ्गा आदि जलमय तीर्थों और मृत्तिका तथा शिलामय देवताओंकी तो बहुत दिनों तक श्रद्धासे सेवाकी जाये, तब वे पवित्र करते हैं, परन्तु सन्तपुरुष तो दर्शनमात्रसे पवित्र कर देते हैं। अतएव भागवतमें पुनः कहते हैं—

भवापवर्गो भ्रमतो यदा भवेज्जनस्य तर्ह्यच्युत सत्समागमः।
सत्सङ्गमो यर्हि तदैव सद्गतौ परावरेशे त्वयि जायते मतिः॥[६]

(श्रीमद्भा० १०/५१/५३)

बाबा! अनादि-मायाबद्ध जीव संसारमें कभी देव योनिमें और कभी पशु आदि नाना योनियोंमें अनादि कालसे कर्मचक्रमें भ्रमण कर रहे हैं। यदि कभी पूर्व सुकृतिके प्रभावसे साधुसङ्ग होता है, तब उसी समय से निखिल कार्य-कारणके नियन्ता भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें जीवकी मति दृढ़तासे लग जाती है।

ब्रजनाथ—जिस सुकृतिसे साधुसङ्ग मिलता है; वह सुकृति क्या है? कर्म है अथवा ज्ञान?

बाबाजी—शास्त्रमें शुभकर्मको 'सुकृति' कहा गया है। शुभ कर्म दो प्रकारके हैं—भक्ति-

---

(६) हे अच्युत! जीव अनादिकालसे जन्म—मृत्युरूप संसारके चक्कर में भटक रहा है। जब उस चक्करसे छूटनेका समय आता है, तब सत्सङ्ग प्राप्त होता है; और जिस क्षण सत्सङ्ग प्राप्त होता है, उसी क्षण सन्तोंके परम आश्रय और निखिल कार्य-कारणके नियन्ता आपमें जीवकी बुद्धि अत्यन्त दृढ़तासे लग जाती है।

प्रवर्तक और अवान्तर फल-प्रवर्तक। नित्य नैमित्तिक कर्म, सांख्यादि ज्ञान यह सब कुछ अवान्तर फलको देनेवाली सुकृति है। सत्सङ्ग और भक्तिजनक देश, काल और द्रव्यका सङ्ग ही—भक्तिप्रद सुकृति है भक्तिप्रद सुकृति अधिक परिमाणमें इकट्ठी होनेपर वह कृष्णभक्तिको पैदा करती है। अवान्तर-फलप्रद सुकृति अपने बदले में फल देकर निवृत्त हो जाती है। संसारमें जितने भी प्रकारके दान आदि शुभ कर्म हैं, वे भोगरूप फल प्रदान करते हैं। ब्रह्मज्ञान-सम्बन्धी सुकृति मुक्ति-फल देती है। उक्त दोनों प्रकारकी सुकृतियाँ भक्ति-फल दान करनेमें समर्थ नहीं हैं। सन्त पुरुषोंका सङ्ग, एकादशी, जन्माष्टमी, गौरपूर्णिमा आदि साधुभावको पैदा करनेवाले काल, तुलसी, श्रीमन्दिर, महाप्रसाद, तीर्थ और साधु-वस्तुओंका दर्शन एवं स्पर्श—ये सब क्रियाएँ भक्तिप्रद सुकृति हैं।

ब्रजनाथ—यदि कोई व्यक्ति सांसारिक दुःखोंसे मर्माहत होकर उससे छुटकारा पानेके लिए विवेकपूर्वक हरिके चरणोंमें शरणागत होता है, तो क्या उसे भक्ति प्राप्त नहीं होगी?

बाबाजी—यदि मायाके दुःखोंसे पीड़ित होकर विवेक बुद्धि द्वारा वह यह जान ले कि सांसारिक-धर्म—सभी बुरे हैं, भगवान्‌के चरणकमल तथा शुद्धभक्तजन ही उसके एकमात्र आश्रय हैं और ऐसा जानकर अनन्य गति होकर जब वह भगवान्‌के चरणकमलोंके प्रति धावित होता है, तब वह सबसे पहले भगवद्भक्तोंके चरणोंका आश्रय लेता है। उससे उसकी भक्तिप्रद मुख्य सुकृति होती है—उसीसे वह भगवान्‌के चरणकमलोंको प्राप्त करता है। पहले उसने जो वैराग्य और विवेक प्राप्त किये थे, वे भक्तिकी प्राप्तिमें गौण उपाय थे। अतएव सत्सङ्गके अतिरिक्त भक्ति प्राप्त करनेके लिए दूसरा कोई भी मुख्य उपाय नहीं है।

ब्रजनाथ—गौण भक्तिसाधक होनेपर भी कर्म, ज्ञान, वैराग्य और विवेकको भक्तिप्रद-सुकृति कहनेमें अड़चन क्या है?

बाबाजी—हाँ, इसमें विशेष अड़चन है। वे प्रायः जीवको एक अवान्तर फलमें आबद्ध कर देते हैं—अर्थात् कर्म जीवको भोगरूपी फलमें बाँधकर शान्त हो जाता है। वैराग्य और विवेक—ये जीवको अभेदब्रह्म ज्ञानमें डुबोकर निवृत्त हो जाते हैं। साधारणतः ब्रह्मज्ञान जीवको भगवान्‌के चरणकमलोंकी प्राप्तिसे दूर रखता है। इसलिए इन्हें विश्वासपूर्वक भक्तिप्रद-सुकृति नहीं कहा जा सकता है। ये कदाचित् किसीको भक्ति तक ले भी जाते हैं, परन्तु वह साधारण विधि नहीं है। शुद्धभक्तोंके सङ्गका कोई अवान्तर फल नहीं है—वह जीवको प्रेम तक अवश्य ही ले जायेगा। जैसे श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

सतां प्रसङ्गान्मम वीर्यसम्विदो भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथा।
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि श्रद्धारतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति॥[(७)]

(श्रीमद्भा० ३/२५/२५)

ब्रजनाथ—सत्सङ्ग ही एकमात्र भक्तिप्रद-सुकृति है, साधुजनोंके मुख विगलित हरिकथाका श्रवण और तत्पश्चात् भक्तिकी प्राप्ति क्या इसे ही भक्तिका क्रम-विकास कहते हैं?

बाबाजी—मैं भक्तिके क्रम विकासको यथोचित रूपसे बतला रहा हूँ। ध्यान देकर सुनो।

---

(७) सत्पुरुषोंके समागमसे मेरे पराक्रमका यथार्थ ज्ञान करानेवाली तथा हृदय और कानोंको प्रिय लगनेवाली कथाएँ होती हैं। उनका सेवन करनेसे शीघ्र अविद्या निवृत्तिके पथ स्वरूप मुझमें सबसे पहले श्रद्धा, पीछे रति और अन्तमें प्रेमभक्तिका उदय होता है।

संसारमें भ्रमण करते-करते जीवको सौभाग्यवश भक्तिप्रद-सुकृति होती है। शुद्धभक्तिके जो सब अङ्ग बतलाये गये हैं उनमेंसे कोई एक अङ्ग दैवात् मानव जीवनमें घट जाता है। जैसे-घटनावश एकादशीके दिन उपवास, भगवान्‌की लीलास्थली—तीर्थोंका दर्शन या उनका स्पर्श, अतिथिके बहाने किसी शुद्धभक्तका उपकार, अकिञ्चन साधुओंके श्रीमुख विगलित हरिनाम या हरिकथा आदिका श्रवण। उक्त कार्योंसे जो लोग भोग-मोक्षकी वासना कामना करते हैं, उन लोगोंके लिए उक्त क्रियाएँ भक्तिप्रद-सुकृति नहीं होती। अतत्त्वज्ञ व्यक्ति यदि संयोगवश अथवा लौकिक रूपमें भुक्ति-मुक्तिकी कामनासे रहित होकर इन सब कार्योंको करता है, तभी ये समस्त कार्य भक्तिप्रद-सुकृति होते हैं।

वही भक्तिप्रद-सुकृति अनेक जन्मोंमें एकत्रित एवं सञ्चित होकर अनन्य भक्तिके प्रति श्रद्धा उत्पन्न करती है। जब अनन्य भक्तिमें श्रद्धा हो जाती है, तब शुद्धभक्तों—सच्चे सन्तोंका सङ्ग प्राप्त करनेके लिए लालसा उत्पन्न होती है। सत्सङ्गसे साधन और भजन क्रमशः होने लगते हैं। भजन जितना ही शुद्ध होता है, अनर्थ उसी परिमाणमें दूर होने लगते हैं। अनर्थ दूर होनेपर पिछली श्रद्धा निर्मल होकर निष्ठाके रूपमें बदल जाती है, निष्ठा भी क्रमशः निर्मल होकर रुचि हो पड़ती है। रुचि भक्तिके सौन्दर्यसे अधिक दृढ़ होनेपर आसक्तिके रूपमें बदल जाती है, वही आसक्ति क्रमशः पूर्णता लाभ करनेपर भाव या रति होती है। रति सामग्री के साथ मिलकर रस हो पड़ती है—यही 'प्रेमोत्पत्ति' का क्रम विकास है।

मूल कथा यह है कि शुद्ध साधु पुरुषोंका दर्शन होनेपर सुकृतिशाली व्यक्तियोंको सन्मार्ग (भक्तिपथ) पर चलनेकी प्रवृत्ति जन्म लेती है। सिद्धान्त यह है कि घटनावश सबसे पहले साधुसङ्ग होता है, उसके पश्चात् श्रद्धा और श्रद्धा होनेपर द्वितीय साधुसङ्ग होता है। प्रथम साधुसङ्गका फल श्रद्धा है। श्रद्धाका दूसरा नाम शरणागति है। भगवत्—प्रिय देश, काल, द्रव्य और पात्र—इनके सम्पर्कसे प्रथम साधुसङ्ग प्राप्त होता है, प्रथम साधुसङ्गसे जिस शरणापत्तिरूप श्रद्धाका उदय होता है, गीतामें उसका लक्षण इस प्रकार बतलाया गया है—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(गीता १८/६६)

अर्थात्, स्मार्त्त-धर्म, अष्टाङ्गयोग, सांख्य, ज्ञान और वैराग्य ये सभी धर्म 'सर्वधर्म' शब्दसे उक्त हुए हैं। इन सब धर्मोंसे जीवका प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता। इसीलिए इनके त्यागकी बात कही गयी है। भगवान कहते हैं—सच्चिदानन्द-घनस्वरूप मैं व्रज-विलासी कृष्ण ही जीवोंकी एकमात्र गति हूँ, ऐसा जानकर भोग-मोक्ष आदिकी कामनाओंसे रहित होकर अनन्यभावसे मेरे शरणागत होना ही प्रवृत्तिरूप श्रद्धा है। वैसी श्रद्धा उदित होनेसे जीव रोते-रोते वैष्णव-साधुके अनुगमनमें प्रवृत्त हो जाते हैं इस बार वे जिस साधुका आश्रय ग्रहण करते हैं, उनका नाम ही गुरु है।

ब्रजनाथ—जीवके अनर्थ कितने प्रकारके होते हैं?

बाबाजी—अनर्थ चार प्रकारके होते हैं—(१) स्वरूपकी अप्राप्ति, (२) असत्-तृष्णा, (३) अपराध, (४) हृदय-दौर्बल्य। "मैं शुद्ध चित्-कण, कृष्णदास हूँ"—इसे भूलकर जीव अपने स्व-स्वरूपसे बहुत दूर हो गया है, स्व-स्वरूपकी अप्राप्ति ही जीवका प्रथम अनर्थ

है। जड़ पदार्थोंमें 'मैं' और 'मेरा' की बुद्धि करनेसे जो असत्-विषय-सुखोंकी तृष्णा होती है, उसे असत्-तृष्णा कहते हैं। पुत्रकी कामना, धनकी कामना और स्वर्गकी कामना—यह तीन प्रकारकी असत्-तृष्णा होती है। अपराध दस प्रकारके होते हैं उन्हें पीछे बतलाऊँगा। हृदय-दौर्बल्यसे शोक आदि पैदा होते हैं। ये चार प्रकारके अनर्थ अविद्या द्वारा बँधे हुए जीवोंके नैसर्गिक फल हैं। सत्सङ्गमें शुद्ध कृष्णानुशीलन करनेसे ये सब अनर्थ क्रमशः दूर हो जाते हैं। योग आदि दूसरे-दूसरे मार्गों में प्रत्याहार, यम, नियम, वैराग्य आदि साधन-चतुष्टयोंकी जो व्यवस्था है वह उद्वेगरहित होनेका उपाय नहीं है, उसमें पतनकी बहुत ही आशङ्का होती है और उससे चरममें कल्याण होना अत्यन्त कठिन होता है। उद्वेगरहित होनेका एकमात्र उपाय है—सत्सङ्गमें कृष्णका शुद्ध रूपसे अनुशीलन होना। अनर्थ जितने ही अधिक दूर होते हैं, मायिक दशा उतनी ही अधिक तिरोहित होती है और मायिक दशा जिस परिमाणमें तिरोहित होती है, जीवका स्व-स्वरूप उसी परिमाणमें उदित होता है।

ब्रजनाथ—क्या अनर्थरहित व्यक्तियोंको 'मुक्त' पुरुष कहा जा सकता है?

बाबाजी—इस विषयमें श्रीमद्भागवतके (६/१४/३-५) निम्नलिखित श्लोक विवेचनीय हैं—

रजोभिः समसंख्याताः पार्थिवैरिह जन्तवः।
तेषां ये केचनेहन्ते श्रेयो वै मनुजादयः॥
प्रायो मुमुक्षवस्तेषां केचनैव द्विजोत्तम।
मुमुक्षुणां सहस्रेषु कश्चिम्मुच्यते सिध्यति॥
मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः।
सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने॥(८)

अनर्थमुक्त पुरुष ही शुद्धभक्त हैं—भक्त अत्यन्त दुर्लभ हैं, कोटि-कोटि मुक्त पुरुषोंमेंसे मुश्किलसे एक कृष्णभक्त पाये जाते हैं। अतएव कृष्णभक्तोंसे बढ़कर दूसरा दुर्लभ सङ्ग जगत् में मिल नहीं सकता है।

ब्रजनाथ—'वैष्णवजन' कहनेसे क्या गृहत्यागी वैष्णवका बोध होता है?

बाबाजी—शुद्ध कृष्णभक्त ही वैष्णव हैं—चाहे वे गृहस्थ हों अथवा गृहत्यागी, ब्राह्मण हों या चाण्डाल, धनी हों या दरिद्र। जिनकी जिस परिमाणमें शुद्ध कृष्णभक्ति है, वे उसी परिमाणमें कृष्णभक्त हैं।

ब्रजनाथ—मायामें बँधे हुए जीव पाँच प्रकारके होते हैं, इसे आपने पहले ही बतलाया है। आपने साधन-भक्त और भाव-भक्तोंकी गणना भी मायाबद्ध जीवके अन्तर्गत की है। किस अवस्था तक पहुँचनेपर भक्तजन 'मायामुक्त' श्रेणीमें परिगणित होते हैं?

बाबाजी—यों तो भक्त-जीवन प्रारम्भ होते ही जीव माया-मुक्त कहलाने लगते हैं, परन्तु

---

(८) भगवन्! इस जगत्में पृथ्वीके धूलिकणोंके समान ही असंख्य जीव हैं। उनमें से कुछ ही जीव अपने कल्याणकी चेष्टा करते हैं। (अधिकांश जीव विषयी, जड़ीभूत और तुच्छ इन्द्रिय-सुखोंमें प्रमत्त रहते हैं)। जो थोड़े-से जीव अपने कल्याणकी चेष्टा करते हैं, उनमेंसे भी संसारसे मुक्ति या सिद्धि लाभ तो कोई सा ही कर पाता है। करोड़ों सिद्ध एवं मुक्त पुरुषोंमें भी कोई शान्तचित्त महापुरुष ही भगवान् नारायणका भक्त होता हैं। अतएव नारायणभक्त अतीव दुर्लभ हैं।

'वस्तुगत मुक्ति' भक्ति-साधनकी परिपक्व अवस्था उपस्थित होनेपर ही हो सकती है।

उससे पूर्व केवल 'स्वरूपगत-मुक्ति' होती है। जीवके स्थूल और लिङ्गशरीरके सम्पूर्ण रूपसे विच्छिन्न होनेपर ही वस्तुगत-माया-मुक्ति होती है। साधनभक्तिका अनुशीलन करते-करते भावभक्तिका उदय होता है। भावभक्तिमें दृढ़ रूपसे अवस्थित होनेपर जीव जड़शरीरका परित्याग करनेके अनन्तर लिङ्गशरीरको भी छोड़कर चित्-शरीरमें अवस्थित होता है। इसलिए साधनभक्ति-कालमें मायिक दशा रहती है, भावभक्तिके प्रारम्भमें भी वह दशा सम्पूर्ण रूपसे दूर नहीं होती है—इन दोनों अवस्थाओंका विवेचनकर साधनभक्ति और भावभक्तिको मायामें बँधे हुए पाँच प्रकारके जीवोंके बीच रखा गया है। विषयी और मुमुक्षु लोग तो इन पाँच प्रकारके जीवोंकी श्रेणीमें अवश्य ही परिगणित हैं। मायासे छुटकारा एकमात्र हरिभक्ति द्वारा ही सिद्ध होता है। जीव अपराधी होकर मायाबद्ध हुए हैं। "मैं कृष्णदास हूँ" इसे भूलना ही मूल अपराध है। कृष्णकृपाके बिना अपराध दूर नहीं होते। अतएव उनकी कृपाके अतिरिक्त मायासे मुक्ति पानेकी सम्भावना नहीं है। ज्ञानी सम्प्रदायका विश्वास है—केवल ज्ञानसे ही मुक्ति मिलती है। परन्तु यह सम्पूर्ण निराधार विश्वास है। भगवत्-कृपाके बिना मायासे कदापि छुटकारा नहीं मिल सकता। इसलिए श्रीमद्भागवतमें (१०/२/३२-३३) कहते हैं—

येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिनस्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः।
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः॥[९]
तथा न ते माधव तावकाः क्वचिद् भ्रश्यन्ति मार्गात् त्वयि बद्धसौहृदाः।
त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया विनायकानीकपमूर्द्धसु प्रभो॥[१०]

ब्रजनाथ—मायामुक्त जीव कितने प्रकारके हैं?

बाबाजी—मायामुक्त जीव दो प्रकारके हैं—नित्यमुक्त और बद्धमुक्त। जो जीव कभी भी माया द्वारा बद्ध नहीं हुए हैं, वे नित्यमुक्त जीव हैं।

नित्यमुक्त जीव भी दो प्रकारके हैं—ऐश्वर्यगत-नित्यमुक्त जीव और माधुर्यगत-नित्यमुक्त जीव। ऐश्वर्यगत-नित्यमुक्त जीव वैकुण्ठपति नारायणके पार्षद हैं तथा परव्योमस्थ (वैकुण्ठस्थ) मूलसङ्कर्षणके किरण-कण हैं। माधुर्यगत-नित्यमुक्त जीव गोलोक-वृन्दावननाथ श्रीकृष्णके पार्षद हैं। वे गोलोक-वृन्दावनस्थ श्रीबलदेवके किरणकण हैं।

बद्धमुक्त-जीव तीन प्रकारके हैं—ऐश्वर्यगत, माधुर्यगत और ब्रह्मज्योतिर्गत। जो साधनकालमें ऐश्वर्य-प्रिय होते हैं, वे परव्योमनाथके नित्य पार्षदोंके साथ सालोक्य प्राप्त करते हैं; साधनकालमें जो लोग माधुर्य-प्रिय होते हैं, वे मोक्ष प्राप्त करनेके अनन्तर नित्य-वृन्दावन

---

(९) हे कमलनयन! जो लोग "मैं मुक्त हो गया हूँ"—ऐसा अभिमान करते हैं और आपके प्रति भक्तिशून्य हैं, उनकी बुद्धि शुद्ध नहीं है। वे अनेक क्लेश उठाकर मायातीत परमपद स्वरूप ब्रह्म तकको प्राप्त होकर भी भगवद्भक्तिका अनादर करनेके कारण अधःपतित हो जाते हैं।

(१०) हे माधव! जो आपके निजजन-भक्त हैं, जिन्होंने आपके चरणोंमें अपनी सच्ची प्रीति जोड़ रखी है, वे कभी उन ज्ञानाभिमानियोंकी भाँति अपने साधनमार्गसे अर्थात् भक्तिमार्गसे गिरते नहीं। प्रभो! वे आपके द्वारा सुरक्षित होनेके कारण विघ्न डालने वालोंके सिरपर पैर रखकर निर्भय विचरते हैं, कोई भी बाधा उनके मार्गमें रुकावट नहीं डाल सकती।

आदि धामोंमें सेवा सुखका भोग करते हैं। और जो जीव साधनकालमें अभेद अनुसन्धानमें तत्पर होते हैं, वे मोक्ष प्राप्तकर ब्रह्म-सायुज्यरूप सर्वनाशको प्राप्त करते हैं।

ब्रजनाथ—जो श्रीगौरकिशोरके अनन्य भक्त हैं, उनकी चरम गति क्या होती हैं?

बाबाजी—श्रीकृष्ण और श्रीगौरकिशोर—ये पृथक् तत्त्व नहीं हैं। ये दोनों ही मधुर रसके आश्रय हैं। थोड़ा-सा केवलमात्र भेद यह है कि माधुर्यरसके दो प्रकोष्ठ होते हैं, अर्थात् माधुर्य और औदार्य; उनमें जहाँ माधुर्य प्रबल होता है, वहाँ श्रीकृष्ण-स्वरूप विराजमान रहते हैं और जहाँ औदार्य प्रबल होता है, वहाँ श्रीगौराङ्ग-स्वरूप विराजमान रहते हैं। मूल वृन्दावनमें भी दो पृथक् प्रकोष्ठ हैं—एक कृष्णपीठ और दूसरा गौरपीठ। कृष्णपीठमें जो सब नित्यसिद्ध और नित्यमुक्त पार्षद माधुर्य-प्रधान-औदार्य भाव प्राप्त किये हैं, ये कृष्णगण हैं; श्रीगौरपीठमें ये समस्त नित्यसिद्ध और नित्यमुक्त पार्षदगण ही औदार्य-प्रधान-माधुर्य भोग करते हैं। किसी-किसी क्षेत्रमें कोई-कोई पार्षद स्वरूप-व्यूहके द्वारा दोनों ही पीठोंमें वर्त्तमान रहते हैं, पुनः कोई-कोई एक ही स्वरूपमें एक ही पीठमें वर्त्तमान रहते हैं, दूसरे पीठमें नहीं। जो साधनकालमें केवल गौर उपासक होते हैं, वे सिद्धिकालमें केवल गौरपीठमें सेवा करते हैं, जो साधनकालमें केवल कृष्ण उपासक हैं, वे सिद्धिकालमें कृष्णपीठमें सेवा करते हैं। और जो साधनकालमें कृष्ण और गौर, दोनों स्वरूपोंके उपासक होते हैं, सिद्धिकालमें वे दो शरीर धारणकर दोनों ही पीठोंमें एक ही समय वर्त्तमान रहते हैं। यही गौर-कृष्णके अचिन्त्य-भेदाभेदका परम रहस्य है।

यहाँ तक मायामुक्त-अवस्था सम्बन्धी उपदेश श्रवणकर ब्रजनाथ और अधिक स्थिर न रह सके। वे भावावेशमें वृद्ध वैष्णव बाबाजीके चरणप्रान्तमें गिर पड़े। बाबाजी महाशयने रोते-रोते ब्रजनाथको उठाकर गलेसे लगा लिया। रात बहुत हो गयी थी। ब्रजनाथ बाबाजी महाशयसे विदा होकर घर लौटे। सारा रास्ता बाबाजीके उपदेशोंके चिन्तनमें विभोर रहे।

घर पहुँचकर भोजन करते-करते पितामहीसे बोले—दादी! यदि तुम लोग मुझे देखना चाहते हो, तो मेरे विवाहकी बात बन्द रखो और वेणीमाधवके साथ कोई सम्बन्ध न रखो —वह मेरा परम शत्रु है, मैं कलसे उसके साथ कभी भी बातचीत नहीं करूँगा और तुमलोग भी इस विषयमें कोई चेष्टा मत करना।

ब्रजनाथकी पितामही बड़ी बुद्धिमती हैं, उन्होंने ब्रजनाथके भावोंको समझकर मन-ही-मन कहा—विवाहका प्रस्ताव अभी स्थगित रखना ही अच्छा है, ब्रजका जैसा भाव देख रही हूँ, उससे ऐसा प्रतीत होता है कि यदि विवाहके लिए उसपर अधिक दबाव डाला जाये, तो हो सकता है कि वह वाराणसी या वृन्दावन चला जाये। भगवान्‌की जैसी इच्छा है वैसा ही होगा।

॥सत्रहवाँ अध्याय समाप्त॥

अठारहवाँ अध्याय
प्रमेयके अन्तर्गत भेदाभेद-विचार

वेणीमाधव बड़ा ही दुष्ट व्यक्ति था। ब्रजनाथ द्वारा तिरस्कृत होनेपर उसने सोचा—ब्रजनाथने मेरा तिरस्कार किया है; अच्छी बात है, मैं ब्रजनाथको और साथ ही बाबाजी—दलको भी इसका मजा चखाऊँगा। उसने कुछ दुष्ट लोगोंसे मिलकर ब्रजनाथको अच्छी तरहसे पीटनेके लिए षड़यन्त्र रचा। तय यह हुआ कि जब ब्रजनाथ रातमें मायापुरसे लौटें—तब रास्तेमें लक्ष्मण टीलेके पास निर्जन स्थानमें उन्हें बुरी तरहसे पीटा जाये। ब्रजनाथको भी किसी प्रकार इस बातकी भनक लग गयी। उन्होंने बाबाजीके साथ परामर्शकर तय किया कि वे प्रतिदिन मायापुर नहीं आवेंगे और जिस दिन आवेंगे, दिनमें ही आवेंगे तथा साथमें एक बलिष्ठ व्यक्ति भी रखेंगे।

ब्रजनाथकी कुछ प्रजाएँ थीं। उनमें हरीश डोम एक पक्का लठैत था। एक दिन ब्रजनाथने हरीशको बुलाकर कहा—हरीश! आजकल मैं कुछ विपदमें पड़ गया हूँ। यदि तुम मेरी कुछ सहायता करो, तो मेरी रक्षा हो सकती है।

हरीशने कहा—ठाकुर! मैं आपके लिए प्राण दे सकता हूँ। यदि आदेश हो तो आपके शत्रुको अभी मार डालूँ।

ब्रजनाथने कहा—वेणीमाधव बड़ा दुष्ट है। वह मेरा अनिष्ट करना चाहता है। मैं उसके उत्पातसे श्रीवास-अङ्गनमें वैष्णवोंके निकट जानेका साहस नहीं कर पाता। उसने मुझे रास्तेमें मारनेके लिए कुछ दुष्ट लोगोंसे मिलकर युक्ति की है।

हरीश बोला—ठाकुर! हरीशके जिन्दा रहते आपको कोई भय नहीं। मालुम पड़ता है, मेरी यह लाठी वेणीमाधव ठाकुरके सिरपर पड़कर ही रहेगी। जैसा भी हो, जब आप श्रीवास-अङ्गनमें जाओ, तब मुझे अपने साथ रखना, फिर देखूँगा, कौन बेटा क्या करता है। मैं अकेले ही सौको देख लूँगा।

हरीश डोमके साथ इस प्रकार परामर्शकर ब्रजनाथ दो-चार दिनोंके अन्तरपर श्रीवास-अङ्गन जाने लगे, परन्तु वहाँ अधिक देर तक ठहर नहीं पाते। तत्त्वसम्बन्धी चर्चा न होनेके कारण मन-ही-मन बड़े दुःखी रहते। इसी प्रकार दस-बीस दिन बीतते ही दुष्ट वेणीमाधवको सर्पने डस लिया और उसकी मृत्यु हो गयी। वेणीमाधवके मरनेकी खबर सुनकर ब्रजनाथने मन-ही-मन सोचा—"क्या वैष्णव-विद्वेषके कारण ही उसकी यह गति हुई?" पुनः सोचा—**"अद्य वाब्दशतान्ते वा मृत्युर्वै प्राणिनां ध्रुवः"** [१] (श्रीमद्भा० १०/१/३८) परमायु समाप्त हो गयी, मर गया। अब मेरे श्रीवास-अङ्गन आने-जानेका कण्टक दूर हुआ।

ब्रजनाथ उसी दिन सन्ध्याके पश्चात् श्रीवास-अङ्गनमें पहुँचे और बाबाजी महाशयको प्रणाम कर बोले—आजसे मैं पुनः प्रतिदिन आपके चरणोंमें उपस्थित हो सकूँगा। बाधा-स्वरूप वेणीमाधव आज इस संसारको छोड़कर चला गया।

परम कारुणिक बाबाजी महाशय इस अनुदित-विवेक-जीवकी मृत्युकी खबरसे पहले

---

(१) आज हो या सौ वर्ष पीछे ही हो, प्राणियोंकी अवश्य ही मृत्यु होगी, यह ध्रुव सत्य है।

बड़े दुःखित हुए। तदनन्तर कुछ स्थिर होकर बोले—**"स्वकर्मफलभुक् पुमान्"**, पुरुष अपने कर्मोंका फल भोग करते हैं। जीव कृष्णका है, कृष्ण उसे जहाँ भेजेंगे वह वहीं जायेगा। बाबा! तुम्हें और कोई कष्ट तो नहीं है?

ब्रजनाथ—मुझे तो केवल यही कष्ट है कि मैं कई दिनों तक आपके उपदेशामृत से वञ्चित रहा। आज पुनः श्रीदशमूलके बचे हुए उपदेशोंको सुनना चाहता हूँ।

बाबाजी—मैं तुम्हारे लिए सर्वदा प्रस्तुत हूँ, तुमने कहाँ तक सुना था और उसे सुनकर तुम्हारे हृदयमें क्या प्रश्न उठा है, बोलो।

ब्रजनाथ—श्री श्रीगौरकिशोरने जगत्‌को जो अमूल्य शिक्षा दी है, उस शुद्ध मतका नाम क्या है? अद्वैतवाद, द्वैतवाद, शुद्धद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद, द्वैताद्वैतवाद—इन सब मतोंकी हमारे पूर्व-पूर्व आचार्योंने स्थापना की है। श्रीगौराङ्गदेवने क्या इन्हीं मतोंमेंसे किसी एकको ग्रहण किया है अथवा कोई पृथक् मत चलाया है? आपने सम्प्रदाय-प्रणालीके प्रसङ्गमें कहा है कि श्रीगौराङ्गदेव ब्रह्म-सम्प्रदायके अन्तर्गत हैं। यदि ऐसी बात है तो उन्हें मध्वाचार्य द्वारा प्रकाशित द्वैतवादका आचार्य माना जाये या और कुछ?

बाबाजी—बाबा! तुम श्रीदशमूलका आठवाँ श्लोक सुनो—

हरेः शक्तेः सर्वं चिदचिदखिलं स्यात् परिणतिः
विवर्त नो सत्यं श्रुतिमितिविरुद्धं कलिमलम्।
हरेर्भेदाभेदौ श्रुतिविहिततत्त्वं सुविमलं
ततः प्रेम्नः सिद्धिर्भवति नितरां नित्यविषये॥

(दशमूल ८)

अर्थात्—चित्-अचित् समस्त जगत् कृष्ण-शक्तिकी परिणति है। विवर्तवाद सत्य नहीं है, बल्कि वह कलिकालका मल और वेद-विरुद्ध मत है। अचिन्त्यभेदाभेद-तत्त्व ही वेद-सम्मत विशुद्ध मत है अचिन्त्यभेदाभेद-तत्त्वसे ही नित्य तत्त्वके प्रति प्रेम-सिद्धि होती है।

उपनिषद्‌की वाणियोंको 'वेदान्त' कहते हैं। वेदान्तका यथार्थ अर्थ प्रकाशित करनेके लिए व्यासदेवने विषयोंका विभागपूर्वक चार अध्यायोंसे युक्त 'ब्रह्मसूत्र' के नामसे जिन सूत्रोंकी रचनाकी है, उन्हींको 'वेदान्तसूत्र' भी कहते हैं। विद्वन्मण्डलीमें वेदान्तसूत्रोंका बड़ा आदर है। साधारण रूपमें सिद्धान्त यह है कि वेदान्तसूत्रोंमें जो कुछ कहा गया है, वही वेदोंका यथार्थ अर्थ है। प्रत्येक मतके आचार्यगण वेदान्तसूत्रसे अपना-अपना मत-पोषक सिद्धान्त बाहर करते हैं।

श्रीशङ्कराचार्यने इन सूत्रोंसे 'विवर्तवाद' का उपदेश दिया है। वे कहते हैं—ब्रह्मकी परिणति स्वीकार करनेसे ब्रह्मका ब्रह्मत्व नहीं रहता। इसलिए परिणामवाद अच्छा नहीं है—विवर्तवाद ही युक्तिसङ्गत सुन्दर मत है। विवर्तवादका दूसरा नाम 'मायावाद' है। उन्होंने वेद-मन्त्रोंका आवश्यकतानुसार संग्रहकर विवर्तवादकी पुष्टि की है। इससे प्रतीत होता है कि परिणामवाद प्राचीन कालसे ही प्रचलित है। श्रीशङ्करने विवर्तवाद स्थापनकर परिणामवादकी गतिको रोक दिया था। विवर्तवाद एक मतवाद है।

श्रीमन् मध्वाचार्य विवर्तवादसे सन्तुष्ट न हो सके। उन्होंने द्वैतवादकी सृष्टि की। इन्होंने भी अपने प्रयोजनके वेद-मन्त्रोंका संग्रहकर उनसे द्वैतवादका प्रतिपादन किया है। उसी प्रकार श्रीमद्रामानुजाचार्यने विशिष्टाद्वैतवादका, श्रीनिम्बादित्याचार्यने द्वैताद्वैतवादका और श्रीविष्णुस्वामीने

शुद्धाद्वैतवादका प्रचार किया है। श्रीशङ्कराचार्यका मायावाद भक्तितत्त्वके प्रतिकूल है। चारों वैष्णव आचार्योंने पृथक्-पृथक् मतका प्रचार करके भी अपने-अपने सिद्धान्तोंको भक्तिमूलक बनाया है। श्रीमन् महाप्रभुजीने समस्त श्रुति-वाणियोंको आदरपूर्वक ग्रहणकर उनसे जैसा सिद्ध होता है, वैसा ही उपदेश दिया है। महाप्रभुके प्रचारित उपदेश अर्थात् सिद्धान्तका नाम 'अचिन्त्यभेदाभेद-तत्त्व' है। श्रीमन् महाप्रभुजीने श्रीमन् मध्वाचार्यके सम्प्रदायके अन्तर्भूत होकर भी उनके मतका सारमात्र ग्रहण किया है।

ब्रजनाथ—परिणामवाद किसे कहते हैं?

बाबाजी—परिणामवाद दो प्रकारका होता है—'ब्रह्म-परिणामवाद' और 'तत्-शक्ति-परिणामवाद'। ब्रह्म-परिणामवादकी शिक्षा यह है—अचिन्त्य और निर्विशेष ब्रह्म परिणत होकर एक अंशसे जीव और दूसरे अंशसे जड़-जगत् हुए हैं। इस मतके अनुसार **'एकमेवाद्वितीयम्'** [२] (छा० ६२/१) श्रुति मन्त्रके द्वारा ब्रह्म नामक केवल एक वस्तु स्वीकृत है, इस मतको भी 'अद्वैतवाद' कहा जा सकता है। देखो, विकारको ही परिणाम कहा गया है।

शक्ति—परिणामवादी कहते हैं—ब्रह्मका विकार कदापि सम्भव नहीं है, बल्कि ब्रह्मकी अचिन्त्यशक्ति परिणत होकर जीवशक्ति अंशसे जीवसमूह और मायाशक्ति अंशसे जड़-जगत्की रूपमें प्रकाशित है। ऐसा माननेसे परिणामवादमें भी ब्रह्म विकृत नहीं होते।

सतत्त्वतोऽन्यथा—बुद्धिर्विकार इत्युदाहृतः।[३]

(सदानन्द-कृत 'वेदान्तसार' संख्या-५९)

विकार क्या है? यह सत्य तत्त्वसे एक अन्यथा बुद्धिमात्र है। दूध दधिके रूपमें विकृत होता है। दधिमें दूध-रूपकत्व है। दूध विकृत होनेपर अर्थात् जमनेपर उस विकृत अर्थात् जमी हुई वस्तुको दूध नहीं—दधि कहा जाता है, इस अन्यथा अर्थात् दूसरी बुद्धिको उसका 'विकार' कहते हैं। ब्रह्म-परिणामवादमें जगत् और जीव ब्रह्मके विकार हैं। यह विचार अत्यन्त अशुद्ध है—इसमें तनिक भी सन्देह नहीं; निर्विशेष ब्रह्म ही केवल एकमात्र वस्तु हैं, उसके अतिरिक्त जब कोई भी दूसरी वस्तु स्वीकृत नहीं, तब उसका 'विकार' यह दूसरी वस्तु कहाँसे आ गयी? अतः ब्रह्ममें विकारका कोई स्थान दिखायी नहीं पड़ता।

उन्हें विकारी माननेसे वस्तु सिद्धि नहीं होती। इसलिए ब्रह्म परिणामवाद किसी भी हालतमें युक्तिसङ्गत नहीं है। 'शक्ति-परिणामवाद' में इस प्रकारका कोई दोष स्पर्श नहीं करता। ब्रह्म अविकृत ही रहते हैं, उनकी अघटन-घटन-पटीयसी शक्ति कहींपर अणु अंशसे जीव रूपमें परिणत हुई है और कहीं छाया अंशसे जड़ ब्रह्माण्डके रूपमें परिणत हुई है। ब्रह्मकी इच्छा हुई कि 'जीव-जगत् हो' और झट उनकी पराशक्तिगत जीवशक्तिने अनन्त जीवोंको प्रकट कर दिया। ब्रह्मकी इच्छा हुई—जड़-जगत् हो और उसी समय पराशक्तिकी

---

(२) इस विश्वकी सृष्टिसे पूर्व एक अद्वितीय और सत्य तत्त्वमात्र थे।

(३) किसी एक सत्य तत्त्वसे कोई दूसरा तत्त्व उत्पन्न होनेपर उत्पन्न वस्तुमें जो अन्य वस्तु उत्पन्न होनेकी बुद्धि होती है, उसे विकार अर्थात् परिणाम कहते हैं। जैसे—ब्रह्म एक सत्यवस्तु है, उससे जीवरूप एक सत्यवस्तु तथा मायिक ब्रह्माण्डरूप एक और सत्यवस्तु पृथक् रूपसे उत्पन्न हुई है—ऐसी बुद्धिको विकार या परिणाम कहते हैं। (अमृत प्रवाह भाष्य)

छायारूप-मायाशक्तिने असीम जड़-जगत्‌को प्रकट कर दिया। इसमें ब्रह्म स्वयं विकृत नहीं होते। यदि कहा जाये कि इच्छाका होना ही उनका विकार है और यह विकार ब्रह्ममें कैसे रहता है? इसका उत्तर यह है—तुम जीवकी इच्छाको लक्ष्यकर ब्रह्मकी इच्छाको भी विकार बतला रहे हो, जीव क्षुद्र है, उसकी जो इच्छा होती है, वह दूसरी शक्तिके संस्पर्शसे पैदा होती है। इसलिए जीवकी इच्छा 'विकार' है, परन्तु ब्रह्मकी इच्छा वैसी नहीं है।

ब्रह्मकी निरंकुश इच्छा ही ब्रह्मका स्वरूप-लक्षण है—वह ब्रह्मकी शक्तिसे अपृथक् होकर भी पृथक् है। इसलिए ब्रह्मकी इच्छा ही ब्रह्मका स्वरूप है, उसमें विकारका स्थान नहीं है। उसकी परिणति भी नहीं है, इच्छा होनेके साथ-साथ शक्ति क्रियावती हो पड़ती है। परिणाम शक्तिका ही होता है। यह सूक्ष्म विवेचन या विभाग जीवकी क्षुद्र बुद्धिसे परे है—केवल वेद-प्रमाणके द्वारा ही इसे जाना जाता है।

अब शक्तिका परिणाम कैसा होता है? यही विवेचनीय है। दूध जैसे दधि हुआ है, शक्ति-परिणामवादका यह सर्वांश उपमा स्थल नहीं है। यद्यपि प्राकृत वस्तुओंसे अप्राकृत तत्त्वका उदाहरण सम्पूर्ण रूपसे ठीक नहीं बैठता है, तथापि प्राकृत उदाहरण अप्राकृत तत्त्वके किसी एक अंशको स्पष्ट कर सकता है। ऐसा कहा गया है—"प्राकृत चिन्तामणि नाना प्रकारके रत्नोंकी ढेरी प्रसव करके भी अविकृत रहती है" (४) अप्राकृत तत्त्वके सृष्टि-व्यापारको उसी प्रकार समझना चाहिये। परमेश्वर अपनी अचिन्त्यशक्ति द्वारा इच्छा होते ही अनन्त जीवमय जैवजगत् एवं चौदह लोकोंवाले अनन्त ब्रह्माण्डोंकी रचना करके भी सम्पूर्ण रूपसे विकार शून्य रहते हैं। 'विकारशून्य' शब्द द्वारा कोई ऐसा न समझ ले कि तत्त्व-वस्तु निर्विशेष हैं, बल्कि बृहत्-वस्तु ब्रह्म सर्वदा षडैश्वर्यपूर्ण भगवत्-स्वरूप हैं, केवलमात्र निर्विशेष कहनेसे उनकी चित्-शक्ति स्वीकृत नहीं होती। परतत्त्व अपनी अचिन्त्यशक्ति द्वारा नित्य सविशेष और निर्विशेष दोनों हैं, केवल निर्विशेष माननेसे उनका अर्द्ध स्वरूप ही मानना होता है और इससे पूर्णताकी हानि होती है। परतत्त्वमें 'अपादान' 'करण' और 'अधिकरण' रूप तीन कारकत्त्व श्रुतियोंने वर्णन किये हैं—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति।
यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म।

(तै० भृगु०, १ अनु०)

अर्थात् "ये सब प्राणी जिनसे उत्पन्न होते हैं"—इस वाक्यसे ईश्वरका अपादन-कारकत्त्व सिद्ध होता है, उत्पन्न होकर जिनसे यह सब जीवित हैं,—इस वाक्यसे उनका करण-कारकत्व लक्षित होता है, 'जिनमें गमन और प्रवेश करते हैं'—इस वाक्यसे ईश्वरका

---

(४)

वस्तुतः परिणामवाद सेइत प्रमाण। देहे आत्मबुद्धि हय विवर्त्तेर स्थान॥
अविचिन्त्य शक्तियुक्त श्रीभगवान्। इच्छाय जगत्-रूपे पाय परिणाम॥
तथापि अचिन्त्य शक्त्ये हय अविकारी। प्राकृत चिन्तामणि ताहे दृष्टान्त धरि॥
नाना रत्नराशि हय चिन्तामणि हइते। तथापिह मणि रहे स्वरूपे अविकृते॥
प्राकृत वस्तुते यदि अचिन्त्यशक्ति हय। ईश्वरेर अचिन्त्य-शक्ति-इथे कि विस्मय॥

(चै० च० आ० ७/१२३-२७)

अधिकरण कारकत्त्व सिद्ध होता है।

इन तीन लक्षणोंसे परतत्त्व विशिष्ट हैं—यही उनका विशेष है। इसलिए भगवान् सर्वदा सविशेष हैं (जिनका विषय जिज्ञासा कर रहे हो—वे ही ब्रह्म हैं।) श्रीजीव गोस्वामी भगवत्तत्त्वका विवेचन करते हुए लिखते हैं—

एकमेव परमं तत्त्वं स्वाभाविकाचिन्त्यशक्त्या
सर्वदैव स्वरूपतद्रूपवैभवजीवप्रधानरूपेण
चतुर्द्धावतिष्ठते सूर्यान्तरमण्डलस्थित तेज इव
मण्डल तद्वहिर्गततद्रश्मितत्प्रतिच्छविरूपेण।

अर्थात् परमतत्त्व एक हैं। वे स्वाभाविक अचिन्त्यशक्तिसम्पन्न हैं, उसी शक्तिके सहारे वे सर्वदा स्वरूप, तद्रुप-वैभव, जीव और प्रधान—इन चार रूपोंमें प्रकाशित हैं। इस विषयमें सूर्यमण्डलस्थ तेज, मण्डल, उस मण्डलसे बाहरकी सूर्यरश्मियाँ और उनकी प्रतिच्छवि अर्थात् दूरगत प्रतिफलन—ये किञ्चित् उदाहरण हैं।

सच्चिदानन्दमात्र विग्रह ही उनका स्वरूप है। चिन्मय नाम, धाम, सङ्गी और उनके व्यवहारमें आनेवाले समस्त उपकरण ही स्वरूप-वैभव हैं। नित्यमुक्त, नित्यबद्ध, अनन्त जीव ही अणुचित आश्रय हैं एवं मायाप्रधान और उससे उत्पन्न समस्त जड़ीय स्थूल और सूक्ष्म जगत् ही 'प्रधान' शब्दवाच्य है। ये चारों प्रकाश जिस प्रकार नित्य हैं, परम तत्त्वका एकत्व भी उसी प्रकार नित्य है। ये दोनों परस्पर नित्य विरुद्ध व्यापार एक ही साथ किस प्रकार सम्भव हैं? उत्तर यह है कि—जीवकी बुद्धिसे यह असम्भव है; क्योंकि जीवकी बुद्धि ससीम है। परमेश्वरकी अचिन्त्यशक्ति द्वारा यह असम्भव नहीं है।

व्रजनाथ—'विवर्तवाद किसे कहते हैं?

बाबाजी—वेदोंमें विवर्तके सम्बन्धमें उल्लेख पाया जाता है, परन्तु वह विवर्तवाद नहीं है। श्रीशंकराचार्यने 'विवर्त' शब्दका जैसा अर्थ किया है, उससे 'विवर्तवाद' और 'मायावाद' एक हो गये हैं।

'विवर्त' शब्दका वैज्ञानिक अर्थ इस प्रकार है—

अतत्त्वतोऽन्यथाबुद्धिर्विवर्त्त इत्युदाहृतः।

(सदानन्द कृत 'वेदान्तसार' ४९ संख्या)

अर्थात् एक वस्तुमें दूसरी वस्तुकी प्रतीति (भ्रम) होनेका नाम 'विवर्त' है। जीव चित्-कण वस्तु है, परन्तु जड़ीय स्थूल और लिङ्गदेहमें आबद्ध होकर भ्रमवशतः स्थूल और लिङ्गशरीरको ही 'मैं' कहकर जो परिचय प्रदान करते हैं, वही तत्त्व-ज्ञान-शून्य अन्यथाबुद्धि है—यही वेद प्रतिपादित एकमात्र विवर्तका उदाहरण है। जैसे—कोई ऐसा समझते हैं कि मैं 'सनातन पाण्डेय' का पुत्र रमानाथ पाण्डेय हूँ और कोई ऐसा समझ रहे हैं कि मैं 'हरखुआ' डोमका पुत्र 'मधुआ' डोम हूँ। ऐसी बुद्धि नितान्त भ्रमपूर्ण है। चित्-कण जीव न तो रमानाथ पाण्डेय है और न मधुआ डोम ही है, फिर भी देहमें आत्मबुद्धि होनेके कारण ऐसा प्रतीत हो रहा है। 'रज्जुमें सर्प-भ्रम' और 'शुक्तिमें रजत-भ्रम' ऐसे ही उदाहरण हैं। अतएव इन सब उदाहरणों द्वारा मायिक शरीरमें आत्मबुद्धिरूप विवर्त-भ्रमको दूर करनेके लिए वेदोंमें परामर्श है। मायावादी वेदका यथार्थ तात्पर्य त्यागकर एक प्रकारके हास्यास्पद विवर्तवादका स्थापन करते हैं। "मैं ब्रह्म हूँ"—यही तात्त्विक बुद्धि है और "मैं जीव हूँ"—

यही अन्यथाबुद्धि या विवर्त है—यह मायावादियोंका मत है। वास्तवमें ऐसे विवर्तवादसे सत्यका निर्णय नहीं होता। विवर्तवाद वास्तवमें शक्ति-परिणामवादका विरोधी नहीं है, परन्तु मायावादियोंका विवर्तवाद नितान्त हास्यास्पद है। मायावादियोंका विवर्तवाद अनेक प्रकारका है। उनमें ब्रह्मका जीवभ्रम द्वारा जीवत्व, ब्रह्मका प्रतिबिम्ब होकर जीवत्व और स्वप्नमें ब्रह्मसे पृथक्-पृथक् जीव और जड़-जगत्की ब्रह्मसे अतिरिक्त बुद्धि—ये तीन प्रकारके विवर्तवाद अधिक प्रचलित हैं। ये समस्त विवर्तवाद सत्य नहीं हैं, साथ ही वेद-प्रमाणके विरुद्ध भी हैं।

ब्रजनाथ—मायावाद क्या चीज है, मैं इसे समझ नहीं पाया।

बाबाजी—जरा ध्यान देकर सुनना। मायाशक्ति स्वरूपशक्तिकी छायामात्र है, चित्-जगत् में उसका प्रवेश नहीं है, यह जड़-जगत्की अधिकर्त्री है। जीव अविद्याग्रस्त होकर भ्रमसे जड़ जगत् में प्रविष्ट हुआ है। चित् वस्तुकी स्वतन्त्र सत्ता और स्वतन्त्र शक्ति है, परन्तु मायावाद वस्तुतः इसे मानता नहीं है। मायावादका कथन है—जीव ही ब्रह्म है—मायाके कारण भेद प्रतीत होता है, जब तक मायाके साथ सम्बन्ध है, तभी तक जीवका जीवत्व है, माया सम्बन्ध दूर होते ही जीव-ब्रह्म है। मायासे पृथक् होकर चित्कणकी स्थिति नहीं है, अतएव जीवका मोक्ष ही उसका ब्रह्मके साथ निर्वाण है। इस प्रकार मायावाद शुद्ध-जीवकी सत्ता स्वीकार नहीं करता। वे और भी कहते हैं—भगवान् मायाके आश्रित तत्त्व होनेके कारण जब जड़-जगत् में आते है, तब उन्हें मायाका आश्रय लेना पड़ता है। वे एक मायिक-स्वरूप ग्रहण किये बिना संसारमें आविर्भूत नहीं हो सकते, क्योंकि ब्रह्मावस्थामें वे निराकार हैं—उनका कोई विग्रह नहीं है। ईश्वरावस्थामें उनका मायिक शरीर होता है। अवतारगण मायिक शरीर ग्रहणकर जगत् में अवतीर्ण होते हैं और बड़े-बड़े कार्य करते हैं। अनन्तर मायिक शरीरको इस जगत् में रखकर स्वधाममें गमन करते हैं। मायावादी भगवान्के प्रति कुछ अनुग्रह प्रकाशपूर्वक जीव और ईश्वरके अवतारमें कुछ भेद स्वीकार करते हैं। वह भेद यह है कि जीव कर्म-परतन्त्र होकर स्थूलशरीर धारण करते हैं एवं इच्छाके विरुद्ध भी कर्मके प्रवाहमें जरा, मरण और जन्म प्राप्त होनेके लिए वे बाध्य हैं। परन्तु ईश्वर स्वेच्छासे मायिक शरीर, मायिक उपाधि, मायिक नाम और मायिक गुणोंको ग्रहण करते हैं और उनकी इच्छा होनेपर वे उन सबका परित्यागकर शुद्धचैतन्य हो सकते हैं, ईश्वर कर्म तो करते हैं, परन्तु कर्मफलके अधीन नहीं होते—यह सब मायावादियोंके असत् सिद्धान्त हैं।

ब्रजनाथ-क्या वेदमें कहीं ऐसे मायावादका उपदेश पाया जाता है?

बाबाजी—नहीं! वेदमें कहीं भी मायावाद नहीं है। मायावाद बौद्धधर्म है, पद्मपुराणमें लिखा है—

मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नबौद्धमुच्यते।
मयैव विहितं देवि कलौ ब्राह्मणमूर्तिना॥

(उत्तरखण्ड ४३/६)

(अर्थात्) श्रीमहादेव उमादेवीके प्रश्नका उत्तर देते हुए कह रहे हैं—देवि! मायावाद अत्यन्त असत्-शास्त्र है। यह बौद्धमत है, वैदिक-वाणियोंकी आड़में प्रच्छन्न रूपसे आर्योंके धर्ममें प्रवेश कर गया है। मैं कलिकालमें ब्राह्मण-मूर्ति धारणकर इस मायावादका प्रचार करूँगा।

ब्रजनाथ—प्रभो! देवदेव महादेव तो वैष्णवोंमें अग्रगण्य हैं, उन्होंने ऐसा बुरा कर्म क्यों किया?

बाबाजी—श्रीमहादेव भगवान्के गुणावतार हैं। असुरगण भक्तिपथको ग्रहणकर सकाम भावसे भगवान्की उपासनाकर अपना-अपना दुष्ट उद्देश्य सफल करनेकी चेष्टा करने लगे। इसे देखकर परम करुणामय भक्तवत्सल भगवान् ने सोचा कि असुरगण भक्तिपथको भ्रष्टकर भक्तोंको कष्ट प्रदान कर रहे हैं। इसलिए भक्तिपथको भ्रष्ट होनेसे बचाना चाहिये। ऐसा सोचकर उन्होंने श्रीमहादेवको बुलाकर कहा—"हे शम्भो! तामस प्रवृत्तियुक्त असुरोंमें मेरी शुद्ध भक्तिका प्रचार करनेसे जीव जगत्का कल्याण नहीं हो सकता है। इसलिए दैत्योंको मोहित करनेके लिए एक ऐसे शास्त्रका प्रचार करो, जिससे ऐसा मायावाद प्रकाशित हो जो मुझे दैत्योंसे गोपन रखे। आसुर-प्रवृत्तिके लोग शुद्धभक्तिपथ त्यागकर उस मायावादका आश्रय ग्रहण करेंगे तथा सहृदय भक्तजन बिना किसी प्रकारकी बाधा प्राप्तिके शुद्धभक्तिका आस्वादन करेंगे।" परम वैष्णव श्रीमहादेवने इस कठिन कार्यका भार ग्रहण करनेमें सर्वप्रथम दुःख प्रकट किया परन्तु भगवान्की आज्ञा मानकर मायावादका प्रचार किया। अतएव जगद्गुरु श्रीमन् महादेवका इसमें दोष ही क्या है? जिन परमेश्वरके कौशलसे सम्पूर्ण जगत्-चक्र सुन्दर रूपसे चल रहा है, जो जगत्के सम्पूर्ण जीवोंके कल्याणके लिए अपने हाथमें कौशलरूप सुदर्शन चक्र धारण किये हुए हैं, उनकी आज्ञामें न जाने कौन-सा कल्याण निहित है, उसे वे ही जानें। अधीन सेवक-वृन्दका एकमात्र कर्त्तव्य तो प्रभुकी आज्ञाका पालन करना है। इसलिए शुद्धवैष्णवजन मायावाद-प्रचारक शिवके अवतार शङ्कराचार्यका कोई भी दोष नहीं देखते। इस कथनका शास्त्रीय प्रमाण सुनो—

त्वमाराध्य तथा शंभो ग्रहिष्यामि वरं सदा।
द्वापरादौ युगे भूत्वा कलया मानुषादिषु॥
स्वागमैः कल्पितैस्त्वञ्च जनान् मद्विमुखान् कुरु।
माञ्च गोपय येन स्यात् सृष्टिरेषोत्तरोत्तरा॥[(५)]

(पद्मपुराण, उत्तरखण्ड, ४२/१०९-११० और
नारदपञ्चरात्र ४/२/२९-३०)

और भी—

एष मोहं सृजाम्याशु यो जनान् मोहयिष्यति।
त्वञ्च रुद्र महाबाहो मोहशास्त्राणि कारय॥

अतथ्यानि वितथ्यानि दर्शयस्व महाभुज।

---

(५) श्रीविष्णुने कहा—हे शम्भो! स्वयं भगवान् होकर भी मैंने जिस प्रकारसे असुर-मोहन कार्यके लिए दूसरे दूसरे देवी देवताओंकी आराधना की है, उसी प्रकार तुम्हारी भी आराधना करके सर्वदा वर प्राप्त करूँगा। तुम कलियुगमें मनुष्य आदि जीवोंके बीच अंशरूपमें अवतीर्ण होओ और आगमादि शास्त्रोंसे कल्पित मतका प्रचारकर उससे मानव समुदायको मुझसे विमुखकर मुझे छिपा दो। उसके द्वारा मेरी लीला पुष्टिके लिए जगत् में उत्तरोत्तर बहिर्मुख-सृष्टि बढ़ती जायेगी।

प्रकाशं कुरु चात्मानमप्रकाशञ्च मां कुरु॥[६]

(वराहपुराण)

ब्रजनाथ—मायावादके विरुद्ध क्या वेद-प्रमाण उपलब्ध हैं?

बाबाजी—अखिल वेदशास्त्र ही मायावादके विरुद्ध प्रमाण हैं। समस्त वेदोंको ढूँढ़कर मायावादियोंने उनमेंसे चार वाक्योंको अपने पक्षमें बाहर किया है। इन चार वाक्योंको वे महावाक्य कहते हैं। वे चार वेद-वाक्य ये हैं—(१) **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** [७] (छा० उ० ३/१४/१), **'नेह नानास्तिकिञ्चन'** [८] (बृ० उ० ४/४/१९, कठ० उ० २/१/११), (२) **'प्रज्ञानं ब्रह्म'** [९] (ऐत० ५/३), (३) **'तत्त्वमसि श्वेतकेतो'** [१०] (छा० उ० ६/८/७), (४) **'अहं ब्रह्मास्मि'** [११] (बृ० उ० १/४/१०)।

पहले महावाक्यमें क्या पाया जाता है? यह जीव और जड़ात्मक समस्त विश्व ही ब्रह्म है, ब्रह्मके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। उस ब्रह्मका परिचय क्या है? इसे दूसरी जगह कहते हैं—

न तस्य कार्यं करणञ्च विद्यते न तत् समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च॥

(श्वे० उ० ६/८)

अर्थात् उन परब्रह्म परमात्माकी कोई भी क्रिया प्राकृत नहीं होती, क्योंकि उनका कोई भी करण-हस्त-पदादि प्राकृत नहीं होता। प्राकृत करणके बिना ही उनकी अप्राकृत लीलाका कार्य होता है। वे अप्राकृत शरीरसे एक ही समय सर्वत्र विराजमान रहते हैं। इसलिए उनसे बड़ा तो दूर रहे, उनके समान भी कोई दूसरा नहीं दिखायी देता। उन परमेश्वरकी अलौकिकी शक्ति नाना प्रकारकी सुनी जाती है, जिसमें ज्ञानशक्ति, बलशक्ति और क्रियाशक्ति—ये तीन प्रधान हैं। इन तीनोंको क्रमशः चित्-शक्ति या सम्वित्-शक्ति, सत् या सन्धिनीशक्ति और आनन्द या ह्लादिनीशक्ति भी कहते हैं।

उन ब्रह्म और ब्रह्मकी शक्तिको अभिन्न माना गया है। उस शक्तिको स्वाभाविकी शक्ति कहा गया है, उस शक्तिमें विचित्रता है। शक्ति और शक्तिमानको अभिन्न माननेसे ब्रह्मका नानात्त्व नहीं होता, परन्तु ब्रह्म और शक्तिको पृथक् मानकर जगत् के प्रति दृष्टिपात करनेसे नानात्व सिद्ध होता है।

---

(६) मैं ऐसे मोहकी सृष्टि कर रहा हूँ जो जनसमुदायको मोहित करेगा। हे महाबाहो रुद्र! तुम भी मोह-शास्त्रकी रचना करो। हे महाभुज! अतथ्यको तथ्य और तथ्यको अतथ्यके रूपमें प्रकाश करो। तुम अपने आत्म-विध्वंसक रुद्ररूपका प्रकाश करो और मेरे नित्य भगवत्-स्वरूपको आवृत करो।

(७) समस्त जगत् ही ब्रह्म है।

(८) ब्रह्ममें किसी प्रकारका नानात्त्व नहीं है।

(९) प्रज्ञान ही ब्रह्म है।

(१०) हे श्वेतकेतो! तुम वही हो।

(११) मैं ब्रह्म हूँ।

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्॥ [१२]

(कठ० उ० ५/१३, श्वे० उ० ६/१३)

इस श्रुतिवाक्यमें वस्तुका नानात्त्व और अनेक नित्य-वस्तुओंको स्वीकार किया गया है। इस प्रकारके वाक्यमें शक्तिको शक्तिमानसे पृथक् कर उनके ज्ञान, बल और उनकी क्रियाका विचार किया गया है।

(२) **'प्रज्ञानं ब्रह्म'** (ऐत० उ० १/५/३)[१३]—इस वाक्यमें जिस प्रज्ञानको ब्रह्मके साथ एक कहा गया है, उस 'प्रज्ञा' शब्दका व्यवहार बृहदारण्यक श्रुतिमें प्रेमभक्तिके लिए हुआ है—"**तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः**"[१४] (४/४/२१)।

(३) **'तत्त्वमसि श्वेतकेतो'** [१५] (छा० उ० ६/८/ ७)—इस वाक्यमें जिस ब्रह्मके साथ ऐक्यकी शिक्षा दी गयी है, उसके सम्बन्धमें बृहदारण्यकोपनिषद्में इस प्रकार कहा गया है—

यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वास्माल्लोकात्प्रेति स कृपणोऽथ।
य एतदक्षरं गार्गि विदित्वास्माल्लोकात्प्रेति स ब्राह्मणः॥ [१६]

(बृ. उ. ३/८/१०)

'तत्त्वमसि'—ज्ञान प्राप्त व्यक्ति अन्तमें भगवद्भक्ति प्राप्तकर ब्राह्मण होते हैं।

(४) **'अहं ब्रह्मास्मि'** [१७] (बृ० उ० १/४/१०)—इस वाक्यमें जिस विद्याकी प्रतिष्ठा है, वह विद्या यदि अन्तमें भक्तिरूपिणी न हो, तो ऐसी विद्याको ईशोपनिषद् में हेय बतलाया गया है—

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः॥[१८]

(ईशोपनिषद् ९म०)

अर्थात् अविद्याकी उपासना करके जो आत्माका चिन्मयत्व नहीं जानते, वे घोर अन्धकारमें प्रवेश करते हैं। जो अविद्याका परित्याग तो करते हैं किन्तु जीवको चित्कण न जानकर ब्रह्म मानते हैं, वे उससे भी अधिक अन्धकारमें प्रवेश करते हैं।

---

(१२) वे समस्त नित्य वस्तुओंमें परम नित्य हैं अर्थात् श्रेष्ठ नित्य वस्तु हैं, एवं समस्त चेतन वस्तुओंमें वे चैतन्यदाता मूल-चेतन हैं। वे एक होकर भी सबकी कामना पूर्ण करते हैं।

(१३) प्रज्ञान ही ब्रह्म है।

(१४) धीर-स्थिर ब्रह्मज्ञ व्यक्ति परब्रह्म भगवान्को विशेष रूपसे जानकर उनके प्रति प्रकृत ज्ञान-स्वरूपा प्रेमभक्ति करेंगे।

(१५) हे श्वेतकेतो! तुम वही हो।

(१६) गार्गि! अक्षर ब्रह्मको (विष्णुको) बिना जाने जो इस जगत्से महाप्रस्थान करते हैं, वे अत्यन्त कृपण या नीच शूद्र हैं और जो उन अक्षर पुरुषको जानकर इस संसारसे प्रस्थान करते हैं, वे ब्रह्मज्ञ ब्राह्मण हैं।

(१७) मैं ब्रह्म हूँ।

(१८) जो अविद्यामें स्थित हैं, वे गहन अन्धकारमें प्रवेश करते हैं और जो विद्यामें रत हैं, वे उससे भी अधिक घोरतर अन्धकारमें प्रवेश करते हैं।

बाबा! वेदशास्त्र अपार हैं। प्रत्येक उपनिषद् के प्रत्येक मन्त्रका पृथक्-पृथक् विचारकर पुनः उन सबका समष्टिगत विवेचन करनेपर वेदका यथार्थ अर्थ जाना जा सकता है। प्रादेशिक वाक्यको लेकर खींचातानी करनेसे एक-न-एक कुमत बाहर होगा ही। इसीलिए श्रीचैतन्यमहाप्रभुजीने वेदका सर्वांगीण विवेचनकर जीव और जड़का श्रीहरिसे युगपत् 'भेदाभेद रूप अचिन्त्य-परमतत्त्व' का उपदेश दिया है।

ब्रजनाथ—अचिन्त्यभेदाभेद-तत्त्व वेद—विहित मत है, इसे वेद—प्रमाणके साथ भलीभाँति समझानेकी कृपा करें।

बाबाजी—

सर्वं खल्विदं ब्रह्म [१९] (छा० उ० ३/१४/१)

आत्मैवेदं सर्वमिति [२०] (छा० उ० ७/२५/२)

सदेव सौम्येदमग्र आसीद् एकमेवाद्वितीयम् [२१] (छा० उ० ६/२/१)

एवं स देवो भगवान् वरेण्यो योनिस्वभावानधितिष्ठत्येकः [२२](२२) (श्वे० उ० ५/४)

इत्यादि बहुत-से वेद मन्त्र हैं, जिनसे अभेदका प्रतिपादन होता है। अब भेद-समर्थक मन्त्रोंको भी सुनो—**ॐ ब्रह्मविद्याप्नोति परम्** [२३] (तै० ब्र० २/१)

महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति [२४]

(कठ० उ० १/२/२२)

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। यो वेद निहितं
गुहायां परमे व्योमन्। सोऽश्नुते सर्वान्
कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता॥[२५]

(तै० ब्र० २/१ अनु०)

यस्मात् परं नापरमस्ति किञ्चिद् यस्मान्नाणीयो न

---

(१९) यह समस्त जगत् निश्चय ही ब्रह्म है।

(२०) यह दीख पड़नेवाला सभी कुछ आत्मा है।

(२१) हे सौम्य! पहले यह संसार एक अद्वितीय सत्स्वरूपमें वर्तमान था एवं इस विश्व सृष्टिके पूर्व एक, अद्वितीय, सत्-वस्तुमात्र थे।

(२२) जिस प्रकार यह सूर्य एक जगह स्थित होकर भी समस्त दिशाओंको प्रकाशित करते हैं, उसी प्रकार समस्त देवताओंके भी परमदेव स्वयं भगवान् समस्त कारणोंके कारण-स्वरूप होकर भी निर्विकार स्वभावमें अधिष्ठित हैं एवं वे ही एकमात्र वरणीय और उपास्य हैं।

(२३) ब्रह्मविद पुरुष परब्रह्मको प्राप्त होते है।

(२४) धीर और विद्वान पुरुष आत्माको परिच्छिन्न शरीरमें स्थित देखकर भी उस आत्माको महान् और सर्वव्यापी जानकर तनिक भी शोक नहीं करता।

(२५) ब्रह्म—सत्य, ज्ञान और अनन्त-स्वरूप हैं। जो उन परव्योमस्थ ब्रह्मको प्राणियोंके हृदयरूप गुफामें विराजमान जानता है, वह उस अन्तर्यामी सर्वज्ञ ब्रह्मके साथ समस्त कामनाओंकी सिद्धि लाभ कर लेता है।

ज्यायोऽस्ति कश्चित्। ** तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् [२६] (श्वे० उ० ३/९)

प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः [२७] (श्वे० उ० ६/१६)

तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् [२८] (कठ० उ० २/२३)

तमाहुरग्र्य पुरुषं महान्तम् [२९] (श्वे० उ० ३/१९)

यथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात् [३०] (ईश० ८म०)

नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद्यक्षमिति [३१] (के० उ० ३/६)

असद्वा इदमग्र–आसीत्। ततो वै सदजायत।

तदात्मानं स्वयमकुरुत। तस्मात् तत् सुकृतमुच्यत इति [३२] (तै० २/७)

नित्यो नित्यानाम् [३३] (कठ० उ० २/१३, श्वे० उ० ६/१३)

सर्वं ह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात् [३४] (मा० उ० २)

अयं आत्मा सर्वेषां भूतानां मधु [३५] (बृ० उ० २/५/१४)

इत्यादि असंख्य वेद–वाणियोंसे नित्यभेद सिद्ध है। वेदशास्त्र सर्वाङ्ग–सुन्दर हैं। वेदका कोई भी अङ्ग परित्याग नहीं किया जा सकता है। नित्यभेद सत्य है और नित्य–अभेद भी सत्य है—युगपत् उभय तत्त्व ही सत्य होनेके कारण भेद और अभेद—उभयनिष्ठ श्रुतियाँ विद्यमान हैं। यह युगपत् भेदाभेद अचिन्त्य है अर्थात् मानव चिन्तासे परे है। इस विषयमें तर्क–वितर्क करनेसे प्रमाद उपस्थित होता है। वेदोंमें जहाँ भी जो कुछ कहा गया है, वह

---

(२६) जिनसे श्रेष्ठ दूसरा कुछ भी नहीं है, जिससे बढ़कर कोई भी न तो अधिक सूक्ष्म है और न अधिक बृहत् है, जो अकेले ही वृक्षकी भाँति निश्चल होकर ज्योतिर्मय मण्डलमें स्थित हैं, उस एक परमपुरुषमें यह सम्पूर्ण जगत् परिपूर्ण है।

(२७) प्रधानके अधीश्वर, क्षेत्रज्ञके पति और समस्त गुणोंके ईश्वर अर्थात् त्रिगुणोंसे अतीत हैं।

(२८) उनके निकट ही वे परमात्मा अपना शरीर विशेष प्रकारसे प्रकाश करते हैं।

(२९) ब्रह्मविद् पण्डित पुरुष उन्हें ही आदि अर्थात् सर्व कारणोंका आदि कारणस्वरूप महान् पुरुष जानकर कीर्त्तन करते हैं।

(३०) उन्होंने स्वयं अचिन्त्यशक्ति द्वारा दूसरे–दूसरे नित्य पदार्थोंको उनके विशेष—विशेष गुणोंके साथ अलग–अलग रखा है।

(३१) अग्निदेव देवताओंसे बोले—मैं तो भलीभाँति नहीं जान सका कि यह यक्ष कौन है?

(३२) पहले यह जगत् एकमात्र ब्रह्म—स्वरूपमें अव्यक्त था, वही (अव्यक्त) ब्रह्मसे व्यक्त हुआ है। उन ब्रह्मने अपनेको पुरुष रूपमें प्रकाशित किया, इसीलिए उन पुरुष रूपको 'सुकृति' कहा गया है।

(३३) जो समस्त नित्य–वस्तुओंमें परम नित्य अर्थात् श्रेष्ठ नित्य वस्तु हैं।

(३४) यह सब कुछ अवर ब्रह्म है अर्थात् ब्रह्मशक्तिसे उत्पन्न तत्त्व विशेष है। आत्म–स्वरूप कृष्ण ही परमब्रह्म हैं। वे ही चारपदवाले अर्थात् एक होकर भी अपनी अचिन्त्यशक्ति द्वारा नित्य चार स्वरूपोंमें महा रसमय हैं।

(३५) श्रीकृष्णको लक्ष्य करके उनके गुणोंके वर्णन द्वारा वेद गौण रूपमें कहते हैं कि कृष्ण ही सम्पूर्ण भूतसमुदायके मधु हैं।

सभी सत्य है—हमारी बुद्धि अत्यन्त क्षुद्र होनेके कारण उसका सम्यक् अर्थ समझनेमें असमर्थ है, इसलिए वेदार्थोंकी अवज्ञा नहीं करनी चाहिये।

नैषा तर्केण मतिरापनेया [३६] **(कठ० उ० १/२/९)**

नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च [३७] **(केन० उ० २/२)**

इन श्रुति-मन्त्रों द्वारा यह स्पष्ट ही कह रहे हैं कि परमेश्वरकी शक्ति अचिन्त्य है, उसमें युक्तिको नहीं लगाना चाहिये। श्रीमहाभारतमें कहते हैं—

पुराणं मानवो धर्मः सांगवेदं चिकित्सितम्।
आज्ञासिद्धानि चत्वारि न हन्तव्यानि हेतुभिः॥[३८]

अतएव अचिन्त्य-भेदाभेद सिद्धान्त ही वेद-विहित सुविमल तत्त्व है। जीवोंके चरम-प्रयोजनके दृष्टिकोणसे भी अचिन्त्य-भेदाभेदके अतिरिक्त कोई भी सत्य सिद्धान्त दिखायी नहीं देता। अचिन्त्य-भेदाभेद स्वीकार करनेसे भेद-प्रतीति नित्य होगी। इस प्रतीतिके बिना जीवका चरम प्रयोजन-प्रीति किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं हो सकती।

ब्रजनाथ—प्रीति ही चरम-प्रयोजन है, इसका प्रमाण या युक्ति क्या है?

बाबाजी—वेदमें कहा गया है (मु० उ० ३/१/४)-

प्राणो ह्येष यः सर्व भूतैर्विभाति विजानन् विद्वान् भवते नातिवादी।
आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः॥[३९]

अर्थात्, ब्रह्मविदोंमें श्रेष्ठ पुरुष आत्मरति और आत्मक्रीड़ होकर प्रेमकी क्रिया द्वारा लक्षित होते हैं, वह रति ही प्रीति है। बृहदारण्यकोपनिषद् (२/४/५, ४/५/६) में कहते हैं—

न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं।
भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति॥[४०]

---

(३६) नचिकेता! तुमने आत्मतत्त्व सम्बन्धी जो बुद्धि प्राप्तकी है, उसे तर्क द्वारा नष्ट करना उचित नहीं है।

(३७) मैं ऐसा नहीं समझता कि मैं ब्रह्मको भलीभाँति जान गया हूँ। (मैं उन्हें जानता नहीं —ऐसी बात नहीं और उन्हें मैं जानता हूँ—ऐसी बात भी नहीं है। अर्थात् हममें जो उन्हें जानते हैं, वे ही उन्हें जानते हैं।)

(३८) सात्त्वत पुराण, मनु द्वारा उपदिष्ट धर्म, षड़ङ्ग वेद और चिकित्सा शास्त्र—ये चारों भगवान्‌के आज्ञा-सिद्ध अर्थात् आप्तवाक्य हैं। तर्क द्वारा इन चारोंकी हत्या करना या ध्वंस करना उचित नहीं है।

(३९) जो प्राणियोंके मुख्य प्राण हैं, जो समस्त भूतसमुदायमें आत्माके रूपमें प्रकाशित हैं, उन्हें जो जानते हैं, वे विद्वान पुरुष प्रेमभक्ति रूप विज्ञानके द्वारा परम पुरुषको जानकरके अतिवादी नहीं होते (अर्थात् जीवन्मुक्त पुरुषोंके लिए भगवान्‌के गुण-कीर्त्तनके अतिरिक्त और कुछ भी श्रेष्ठ कीर्त्तनका विषय नहीं होता) ऐसे-ऐसे जीवन-मुक्त पुरुष भगवान्‌के प्रति रतियुक्त और उनकी प्रेमलीलामें अवस्थित होते हैं—ऐसे पुरुष ही ब्रह्मविद् पुरुषोंमें श्रेष्ठ हैं।

(४०) याज्ञवल्क्यने कहा—मैत्रेयि! सबके प्रयोजनके लिए सब प्रिय नहीं होते, अपने ही प्रयोजनके लिए सब प्रिय होते हैं।

उक्त मन्त्र द्वारा यह जाना जाता है कि प्रीति ही जीवका मुख्य प्रयोजन है। बाबा! वेद और श्रीमद्भागवत आदि पुराणोंमें ऐसे-ऐसे अनेक प्रमाण हैं।

को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात्। यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्। एष ह्येवानन्दयति॥(४१)

(तैत्तिरीयोपनिषद्)

'आनन्द' प्रीतिका पर्यायवाची शब्द है। जीवमात्र आनन्दके लिए चेष्टा करता है, मुमुक्षु व्यक्ति मोक्षको ही आनन्द मानते हैं। इसीलिए वे मोक्षके लिए पागल होते हैं। भोगी (भुभुक्षु) व्यक्ति विषय-भोगको आनन्द समझते हैं। इसीलिए ये लोग विषय-भोगोंके पीछे-पीछे ही दौड़ते रहते हैं। आनन्द प्राप्तिकी आशा ही उन्हें उन-उन कार्योंमें प्रवृत्त करती है। भक्त भी कृष्ण-सेवानन्दके लिए प्रयत्नशील हैं। अतएव सभी प्रकारके लोग प्रीतिकी ही खोज करते हैं, यहाँ तक कि वे प्रीतिके लिए शरीर तक छोड़नेके लिए प्रस्तुत होते हैं। सिद्धान्त यह है कि—प्रीति ही सबका मुख्य प्रयोजन है। इसे कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता। चाहे नास्तिक हो अथवा आस्तिक, कर्मी हो या ज्ञानी, सकाम हो या निष्काम—सभी एकमात्र प्रीतिकी ही खोज करते हैं; परन्तु अन्वेषण करनेसे ही प्रीति मिल जायेगी, ऐसी बात नहीं है।

कर्मवादी स्वर्गसुखको प्रीतिप्रद समझते हैं, परन्तु **"क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोक लोकं विशन्ति"** (४२) (गीता ९/२१) के अनुसार जब स्वर्गसे च्युत होते हैं, तब वे अपनी भूल समझते हैं। मनुष्यलोकमें धन, पुत्र, यश और बल पाकर भी उनमें प्रीतिका अभाव देखकर पुनः स्वर्गसुखकी कल्पना करते हैं, स्वर्गसे अधोपतित होते समय वे स्वर्गकी अपेक्षा उन्नत सुखोंकी ओर सम्मानकी दृष्टिसे देखते हैं।

जब वे जान जाते हैं कि मर्त्यलोक, स्वर्गलोक या ब्रह्मलोक तकके सारे सुख अस्थायी और अनित्य हैं, तब वे इन सुखोंसे विरक्त होकर ब्रह्मनिर्वाणके अनुसन्धानमें तत्परता से लगे रहते हैं। परन्तु ब्रह्मनिर्वाणमें भी जब आनन्दका अभाव देखते हैं, तब वे तटस्थ होकर कोई दूसरे पथकी खोज करते हैं, जिससे प्रीति या आनन्दको पा सकें। निर्भेद—ब्रह्मनिर्वाणमें आनन्द या प्रीतिकी सम्भावना कहाँ? वहाँ आनन्दका अनुभव करेगा कौन? जब मेरा 'मैं' ही नहीं रहा, तब ब्रह्मका अनुभव कौन करेगा? ब्रह्म आनन्द होनेपर भी भोक्ताके अभावमें निरर्थक हैं, उस दशामें आनन्द है या नहीं—इस विषय-सम्बन्धी सिद्धान्तका प्रयोजन ही क्या रहा? 'मैं' के नाशके साथ-साथ मेरा भी अस्तित्व लोप हो गया। मेरा और रहा ही क्या, जिससे सुख या आनन्द है या नहीं, यह अनुभूत हो सके, मैं नहीं तो कुछ भी नहीं। यदि यह कहें कि ब्रह्मरूप मैं रहा, तो ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ब्रह्मरूप 'मैं' नित्य ही हूँ, उसके लिए साधन और सिद्धि सब कुछ बेकार है। अतः ब्रह्म-

---

(४१) परब्रह्म परमात्मा ही रस-स्वरूप हैं। जीव उस रस-स्वरूप परब्रह्मको पाकर आनन्दित होता है; हृदयाकाशमें आनन्दस्वरूप ब्रह्म नहीं रहते, तो कौन जीवित रह सकता था? परमात्मा ही जीवोंको आनन्द प्रदान करते हैं।

(४२) स्वर्गवासीजन विशाल स्वर्गलोकको भोगकर पुण्य क्षीण होनेपर पुनः मर्त्यलोकमें प्रवेश करते हैं। इस प्रकार भोगोंकी कामना वाले कर्मीजन आवागमन करते रहते हैं।

निर्वाणमें प्रीति सिद्ध नहीं है, यदि है भी तो आकाश–कुसुमकी तरह अनुभूत है।

भक्तिमें ही केवल प्रयोजन–सिद्धि दिखायी देती है। भक्तिकी चरमावस्था ही प्रीति है, वही प्रीति नित्य है। शुद्ध जीव नित्य हैं, शुद्धकृष्ण भी नित्य हैं और शुद्ध प्रीति भी नित्य है। अतएव अचिन्त्य–भेदाभेद स्वीकृत होनेसे ही प्रेमकी नित्यता सिद्ध होती है, अन्यथा जीवकी चरम प्रयोजनरूप प्रीति अनित्य हो जाती है तथा उसकी सत्ता भी लुप्त हो जाती है। इसलिए समस्त शास्त्रोंमें अचिन्त्य–भेदाभेद रूप सत्य–सिद्धान्तकी पुष्टि की गयी है। इसके अतिरिक्त सभी वाद केवल मतवाद हैं।

ब्रजनाथ प्रेमतत्त्वका चिन्तन करते–करते परमानन्दमें विभोर होकर घर लौटे।

॥अठारहवाँ अध्याय समाप्त॥

उन्नीसवाँ अध्याय
प्रमेयके अन्तर्गत अभिधेय—विचार

ब्रजनाथ खा-पीकर बिस्तरपर लेट गये; उनके हृदयमें अचिन्त्य-भेदाभेद-तत्त्वके सम्बन्धमें तरह-तरहके विचार उठने लगे। कभी सोचते—अचिन्त्यभेदाभेद-तत्त्व भी एक प्रकारका मायावाद ही है, पुनः गम्भीर रूपसे विचार करने लगते—परन्तु इस मतके विरुद्ध कोई शास्त्र नहीं है। इसमें समस्त शास्त्रोंकी मीमांसा पायी जाती है। श्रीमद् गौरकिशोर साक्षात् पूर्ण भगवान् हैं। उनकी गम्भीर शिक्षाओंमें तनिक भी दोष रहनेकी सम्भावना नहीं है। मैं उन परम प्रेममय श्रीगौरकिशोरके चरणकमलोंका कदापि परित्याग नहीं करूँगा। किन्तु हाय! आखिर मैंने पाया क्या? अचिन्त्यभेदाभेद-तत्त्व ही सत्य है, इसे तो जान लिया; परन्तु इस ज्ञानसे मुझे लाभ क्या हुआ? बाबाजीने बतलाया है—प्रीति ही जीवोंके जीवनका चरम तात्पर्य है। कर्मी और ज्ञानी भी प्रीतिकी खोज करते हैं, परन्तु शुद्ध प्रीति क्या चीज है, वे नहीं जानते। अतएव प्रीतिकी विशुद्ध अवस्थाको प्राप्त करना आवश्यक है; अब प्रश्न यह है कि किस उपायसे उसे प्राप्त किया जाये? बाबाजी महाशयसे इस विषयमें पूछकर सिद्धान्त ग्रहण करूँगा। इस प्रकार सोचते-सोचते सो गये।

अधिक रात बीतनेपर नींद आनेके कारण ब्रजनाथ आज कुछ अधिक देर तक सोते रहे। दिन निकल आया था। बिस्तरसे उठकर अभी शौच आदिसे निवृत्त हुए ही थे कि उनके मामा विजय कुमार भट्टाचार्य महाशय उपस्थित हुए। अनेक दिनोंके बाद श्रीमोदद्रुमसे मामाको आये हुए देखकर ब्रजनाथको बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने उनको दण्डवत्-प्रणामकर बड़े आदरसे बैठाया।

विजयकुमार भट्टाचार्य श्रीमद्भागवतके बड़े पण्डित और कथाकार हैं। श्रीमन्नारायणकी कृपासे श्रीगौराङ्गके प्रति उनके हृदयमें बड़ी श्रद्धा उत्पन्न हुई है। वे बहुत दूर-दूर तक श्रीमद्भागवतका पाठ करने जाया करते हैं। कुछ दिन पहले इन्होंने देनुड़ नामक गाँवमें श्रीवृन्दावनदास ठाकुरका दर्शन पानेका सुयोग पाया था। श्रीवृन्दावनदास ठाकुर महाशयने उन्हें श्रीधाममायापुरके अचिन्त्य योगपीठ दर्शन करनेकी आज्ञा दी थी। उन्होंने और भी कहा था कि कुछ ही दिनोंमें श्रीमन् महाप्रभुकी लीलास्थलियाँ लुप्तप्राय हो जायेंगी और चारसौ वर्षोंके पश्चात् पुनः प्रकट होंगी और गौरलीला-स्थल श्रीकृष्णलीला स्थल श्रीवृन्दावनसे अभिन्न-तत्त्व है, जो श्रीमायापुरका चिन्मयत्व दर्शन करनेमें समर्थ होते हैं, केवल वे ही श्रीवृन्दावनका दर्शनकर सकते हैं। व्यासावतार श्रीवृन्दावनदास ठाकुरकी बातोंको सुनकर विजयकुमार श्रीमायापुरके दर्शनोंके लिए बड़े व्याकुल हो गये। उन्होंने निश्चय किया कि वे बिल्वपुष्करिणीमें अपनी बहन और भानजेसे मिलकर श्रीमायापुर जायेंगे। उस समय बिल्वपुष्करिणी और ब्रह्मपुष्करिणी परस्पर मिले हुए गाँव थे—आजकलकी तरह ये दोनों गाँव एक-दूसरेसे दूर न थे। श्रीमायापुर योगपीठसे एक मीलके भीतर ही बिल्वपुष्करिणीकी सीमा मिलती थी। परित्यक्त बिल्वपुष्करिणीको आजकल 'टोटा' और 'तारणवास' के नामसे पुकारते हैं।

परस्पर कुशल जिज्ञासाके पश्चात विजयकुमार बोले—मैं श्रीमायापुरका दर्शनकर अभी आ रहा हूँ, दादीसे कह देना कि मैं मायापुरसे लौटकर यहींपर दोपहरमें भोजन करूँगा।

ब्रजनाथ बोले—मामा! आप मायापुरका दर्शन क्यों करेंगे?

विजयकुमार ब्रजनाथकी वर्त्तमान अवस्थासे परिचित न थे। उन्होंने सुना था, ब्रजनाथ आजकल न्यायशास्त्रका अनुशीलन छोड़कर वेदान्त अध्ययन कर रहे हैं। इसलिए उन्होंने अपने भजनकी बात उनसे कहना उचित नहीं समझा। अतः अपना यथार्थ उद्देश्य उनसे छिपाकर बोले—मायापुरमें एक आदमीसे भेंट करनी है।

ब्रजनाथको इस बातका पता था कि उनके मामा गौरभक्त हैं तथा श्रीमद्भागवतके बड़े पण्डित हैं। अतः उन्होंने अनुमान कर लिया कि मामाजी किसी पारमार्थिक अनुसन्धानके लिए श्रीमायापुर जा रहे हैं। ऐसा सोचकर वे प्रकट रूपमें बोले—मामा! श्रीमायापुरमें श्रीरघुनाथदासजी एक उच्चकोटिके परम श्रद्धास्पद वैष्णव हैं, उनके साथ आप कुछ वार्त्तालाप अवश्य करना।

ब्रजनाथकी बात सुनकर विजयकुमार ने कहा—क्या तुम अब वैष्णवोंके प्रति श्रद्धा रखने लगे हो? सुना था—तुम न्यायशास्त्रको छोड़कर वेदान्त अध्ययन कर रहे हो, इधर देख रहा हूँ—तुम भक्तिमार्गमें प्रवेश कर रहे हो, अतएव अब तुम्हारे निकट मुझे कोई भी बात छिपानेकी जरूरत नहीं है। बात यह है कि श्रीवृन्दावनदास ठाकुर महाशयने मुझे श्रीमायापुरके श्रीयोगपीठका दर्शन करनेके लिए आज्ञा दी है। अतः मैंने सोचा है कि श्रीमायापुरके घाटपर गङ्गास्नानकर श्रीयोगपीठका दर्शन और परिक्रमाकर श्रीवास-अङ्गनमें वैष्णवोंकी चरणधूलिमें एक बार जी भरकर लोटूँगा।

ब्रजनाथ बोले—मामा! कृपया मुझे भी अपने साथ ले चलें। चलिये, माताजीसे मिलकर हम दोनों मायापुर चलेंगे।

इस प्रकार बातचीत होनेके बाद दोनों ब्रजनाथकी माताको बतलाकर श्रीमायापुरके लिए रवाना हुए। सबसे पहले दोनोंने गङ्गास्नान किया।

स्नान करते-करते विजयकुमारने कहा—अहा! आज मेरा जन्म सार्थक हुआ, जिस घाटपर श्रीशचीनन्दन गौरहरि ने जाह्नवीदेवीके प्रति अपार करुणा दर्शाते हुए चौबीस वर्षों तक जलक्रीड़ा की है, परम दुर्लभ उसी जलमें स्नानकर आज मुझे परम आनन्दका अनुभव हो रहा है।

विजयकुमारके उद्दीपनमय वचनोंको सुनकर ब्रजनाथ आर्द्र होकर बोले—मामा! आज आपके चरणोंकी कृपासे मैं भी धन्य हो गया।

स्नान करनेके पश्चात् दोनों श्रीजगन्नाथ मिश्रके भवनमें (श्रीमहाप्रभुके जन्मस्थान) पहुँचकर महाप्रेममें विभोर हो गये। अश्रुजलसे उनका सारा शरीर तर-बतर हो गया।

विजयकुमार बोले—जिसने गौड़ भूमिमें जन्म लेकर इस महायोगपीठका दर्शन नहीं किया, उसका जन्म व्यर्थ ही गया। देखो, देखो, जड़ नेत्रोंसे यह धाम साधारण भूमिकी भाँति दिखायी दे रही है और सर्वत्र फूसके घर ही दिखायी दे रहे हैं, किन्तु गौराङ्गकी कृपासे आज हमलोग कितना सुन्दर वैभव देख रहे हैं। देखो! कितनी ऊँची और भव्य रत्नमय अट्टालिकाएँ हैं, क्या ही रमणीय उद्यान हैं, वन्दनवारोंकी शोभा तो देखते ही बनती है। यह देखो, घरके भीतर श्रीगौराङ्ग विष्णुप्रियाजी खड़े हैं। क्या ही मनोहर रूप है! क्या ही मनोहर रूप है!!

ऐसा कहते-कहते दोनों अचेत होकर गिर पड़े। बहुत देर बाद दूसरे भक्तोंकी

सहायतासे उठकर श्रीवास-अङ्गनमें प्रविष्ट हुए। आँखोंसे आँसुओंकी धारा बह रही थी। दोनों श्रीवास-अङ्गनमें लोट-पोट करते हुए कहने लगे—हा श्रीवास! हा अद्वैत! हा नित्यानन्द! हा गदाधर-गौराङ्ग! आप सब हमपर दया करो—हमें अभिमानरहित कर अपने श्रीचरणोंमें स्थान प्रदान करें।

इन दोनों ब्राह्मणोंका ऐसा भाव देखकर वहाँके वैष्णवगण बड़े आनन्दित हुए और "मायापुरचन्द्रकी जय!" "अजित गौराङ्गकी जय!!" "नित्यानन्द प्रभुकी जय!!!" बोलकर नृत्य करने लगे। क्षणभरमें ही ब्रजनाथने इष्टदेव श्रीरघुनाथदास बाबाजीके चरणोंमें अपनी देहको समर्पित कर दिया। वृद्ध बाबाजी उन्हें उठाकर गलेसे लगाते हुए बोले—बाबा! आज इस समय कैसे आये? तुम्हारे साथके ये महाजन कौन हैं? ब्रजनाथने विनीत शब्दोंमें उन्हें सारी बातें बतलायीं। तदनन्तर वैष्णवोंने दोनोंको बड़े आदरपूर्वक बैठाया।

विजयकुमारने बड़ी ही नम्रतासे श्रीमद् रघुनाथदास बाबाजीसे पूछा—प्रभो! प्रयोजन प्राप्तिका उपाय क्या है। कृपाकर यह बतलाइये कि हम प्रयोजन कैसे प्राप्त करें।

बाबाजी—आपलोग परम भक्त हैं। आप लोगोंने सब कुछ पा लिया है, तथापि जब आप अनुग्रहकर मुझसे जिज्ञासा कर रहे हैं, तब मैं जो कुछ जानता हूँ, बतला रहा हूँ। ज्ञान और कर्मसे शून्य कृष्णभक्ति ही जीवोंका चरम प्रयोजन है और वही प्रयोजन—सिद्धिका उपाय भी है। साधनावस्थामें उसे साधनभक्ति और सिद्धावस्थामें उसीको प्रेमभक्ति कहते हैं।

विजय—भक्तिका स्वरूप लक्षण क्या है?

बाबाजी—श्रीमन् महाप्रभुकी आज्ञासे श्रीरूपगोस्वामीने 'भक्तिरसामृतसिन्धु' में भक्तिका स्वरूप—लक्षण निरूपण किया है—

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥[१]

(भ० र० सि०, १/१/११)

इस सूत्र भक्तिके स्वरूप और तटस्थ दोनों लक्षणोंका विषद् रूपसे विवेचन किया गया है। 'उत्तमाभक्ति' शब्दसे शुद्धा भक्तिका तात्पर्य है। कर्ममिश्रा भक्ति या ज्ञानमिश्रा भक्ति शुद्धभक्ति नहीं है। कर्ममिश्रा भक्तिका उद्देश्य—भोग है तथा ज्ञानमिश्रा भक्तिका उद्देश्य—मुक्ति है। भुक्ति और मुक्ति स्पृहारहित भक्ति ही उत्तमाभक्ति है। भक्तिसे प्रेमफल प्राप्त होता है। वह भक्ति क्या है? तन, मन और वचन द्वारा कृष्णानुशीलन रूप चेष्टा और प्रीतिमय मानस भाव भक्तिके 'स्वरूपलक्षण' हैं। चेष्टा और भाव—ये दोनों आनुकूल्यके साथ सर्वदा क्रियाशील रहते हैं। जीवकी जो अपनी शक्ति है, उसपर कृष्ण-कृपा और भक्त-कृपासे भगवान्‌की स्वरूपशक्तिकी वृत्ति विशेषके उदय होनेपर भक्तिका स्वरूप उदित होता है।

वर्त्तमान दशामें जीवका तन, मन और वचन—सब कुछ जड़-भावापन्न है।

जीव जब अपनी विवेक शक्ति द्वारा उन्हें चलाता है, जड़सम्बन्धीय ज्ञान और वैराग्यरूप शुष्क व्यवहार ही उदित होते हैं—उनसे भक्ति वृत्तिका उदय नहीं होता। कृष्णकी

---

(१) कृष्ण-सेवाके अतिरिक्त अन्यान्य कामनाओंसे रहित, निर्भेद ब्रह्मज्ञान, नित्य नैमित्तिक आदि कर्म, योग, तपस्या आदिसे सर्वथा अनावृत एवं अनुकूल भावसे कृष्णानुशीलन अर्थात् श्रीकृष्णकी सेवाको उत्तमाभक्ति कहते हैं।

स्वरूपशक्तिकी वृत्ति जब उनमें कुछ-कुछ क्रियावती होती है उसी समय शुद्धभक्तिवृत्ति प्रकाशित होती है। श्रीकृष्ण ही भगवत्ताकी सीमा हैं। अतएव कृष्णानुशीलन ही भक्तिचेष्टा है। ब्रह्मका अनुशीलन और परमात्माका अनुशीलन रूप चेष्टाएँ ज्ञान और कर्मके अङ्ग हैं—भक्तिके नहीं। चेष्टा दो प्रकारकी होती है—अनुकूल और प्रतिकूल। अनुकूल चेष्टासे ही भक्ति सिद्ध होती है।

'आनुकूल्येन' शब्दसे कृष्णके प्रति रोचमान प्रवृत्तिको समझना चाहिये। यह अवस्था साधनकालमें कुछ स्थूल सम्बन्ध रखती है, परन्तु सिद्धिकालमें स्थूल जगत्से सब प्रकारसे सम्बन्धरहित होनेके कारण पूर्ण निर्मल होती है। इन दोनों अवस्थाओंमें भक्तिका लक्षण एक ही प्रकारका होता है। अतएव अनुकूल भावोंके साथ कृष्णानुशीलन ही भक्तिका 'स्वरूपलक्षण' है।

'स्वरूपलक्षण' के सम्बन्धमें कुछ बतलानेके लिए 'तटस्थलक्षण' भी बतलाना आवश्यक होता है। श्रीमद् रूपगोस्वामीने भक्तिके दो तटस्थलक्षण बतलाये हैं—एक अन्याभिलाषिता—शून्यता और दूसरा ज्ञानकर्म आदिसे अनावृतता। भक्तिकी उन्नतिकी अभिलाषाके अतिरिक्त समस्त प्रकारकी अभिलाषाएँ भक्ति-विरोधी हैं और अन्याभिलाषिताके अन्तर्गत हैं। ज्ञान, कर्म, योग और वैराग्य आदि प्रबल होकर हृदयको आवृत करनेपर भक्ति-विरोधी कहलाते हैं। अतएव उक्त दोनों विरोधी लक्षणोंसे रहित होनेपर ही अनुकूल भावसे जो कृष्णानुशीलन होता है, उसे ही 'शुद्धभक्ति' (२) कहा जा सकता है।

विजय—भक्तिकी क्या-क्या विशेषताएँ हैं?

बाबाजी—श्रीमद् रूपगोस्वामीने 'भक्तिरसामृतसिन्धु' में भक्तिकी छह विशेषताओंका वर्णन किया है—

अर्थात्

क्लेशघ्नी शुभदा मोक्षलघुताकृत् सुदुर्लभा।
सान्द्रानन्दविशेषात्मा श्रीकृष्णाकर्षिणी च सा॥

(भ० र० सि० १/१/१७)

(१) क्लेशघ्नी—सब प्रकारके दुःखोंका नाश करती है।
(२) शुभदा—सम्पूर्ण कल्याणको देनेवाली है।
(३) मोक्ष-लघुताकृत्—मोक्षको भी तुच्छ उपलब्धि करा देती है।
(४) सुदुर्लभा—अत्यन्त ही दुर्लभ है।
(५) सान्द्रानन्द-विशेषात्मा—घनीभूत आनन्दस्वरूपा है।
(६) श्रीकृष्णाकर्षणी—श्रीकृष्णको आकर्षित करती है।

---

(२) शुद्धभक्ति' हैते हय 'प्रेमा' उत्पन्न। अतएव शुद्ध-भक्तिर कहिये 'लक्षण'॥
अन्य-वांछा, अन्य-पूजा छाड़ि 'ज्ञान' 'कर्म'। आनुकूल्ये सर्वेन्द्रिये कृष्णानुशीलन॥
एइ 'शुद्धिभक्ति', इहा हैते 'प्रेमा' हय। पंचरात्रे 'भागवते' एइ लक्षण कय॥
(चै० च० म० १९/१६६, १६८-१६९)

विजय—भक्ति क्लेशघ्नी कैसे है?

बाबाजी—क्लेश तीन प्रकारके हैं—पाप, पाप-बीज और अविद्या। पातक, महापातक और अतिपातक आदि क्रियाएँ 'पाप' हैं। जिनके हृदयमें शुद्धाभक्ति आविर्भूत होती है, वे स्वभावतः पाप कार्य नहीं करते। पाप करनेकी वासनाको 'पाप-बीज' कहते हैं। भक्तिपूर्ण हृदयमें पाप-वासना नहीं रहती। जीवके स्वरूपभ्रमका नाम अविद्या है। शुद्धभक्तिके उदय होनेपर "मैं कृष्ण दास हूँ" ऐसी बुद्धि सहज ही उदित होती है। अतएव ऐसी दशामें स्वरूप-भ्रम रूप अविद्या नहीं रहती। भक्ति देवीका प्रकाश फैलते ही हृदयसे पाप, पाप-बीज और अविद्यारूप अन्धकार दूर हो जाता है। भक्तिके शुभागमनसे सब प्रकारके दुःख दूर हो जाते हैं। इसलिए भक्ति क्लेशघ्नी है।

विजय—भक्ति शुभदा कैसे है?

बाबाजी—सम्पूर्ण जगत्‌का अनुराग, सद्गुण और जितने प्रकारके अन्य सुख हैं, वे सभी 'शुभ' शब्दके अर्थ हैं। जिसके हृदयमें शुद्ध भक्तिका उदय हो चुका है, वह दैन्य, दया, मानशून्यता और मानद—इन चार गुणोंसे अलंकृत होता है। इसलिए समस्त जगत् उसके प्रति अनुराग प्रकट करता है। समस्त प्रकारके सद्गुण भक्तिमान पुरुषोंमें अनायास ही प्रकाशित होते हैं। भक्ति समस्त प्रकारके सुखोंको दे सकती हैं—इच्छा करनेसे वे विषय-सुख, निर्विशेष ब्रह्म-सुख, समस्त सिद्धि, भुक्ति, मुक्ति आदि सब कुछ दे सकती हैं। परन्तु भक्त चतुवर्गका कुछ भी लेना नहीं चाहते। इसलिए भक्तिदेवी उनको नित्य परमानन्द प्रदान करती हैं।

विजय—भक्ति मोक्षको भी तुच्छ उपलब्धि करा देती हैं कैसे?

बाबाजी—भगवत्-रति थोड़ी मात्रामें भी यदि हृदयमें उदित हो जाये, तो धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष सहज ही तुच्छ प्रतीत होने लगते हैं।

विजय—भक्तिको सुदुर्लभा क्यों कहा गया है?

बाबाजी—इस विषयको अच्छी तरहसे समझना चाहिये। लाख साधन करनेपर भी भजन-कुशलताके अभावमें भक्ति प्राप्त करना कठिन है। भक्तिदेवी अधिकांश लोगोंको मुक्ति देकर ही सन्तुष्ट कर देती हैं—उच्च अधिकार देखे बिना भक्ति नहीं देतीं। इन्हीं दो कारणोंसे भक्ति सुदुर्लभा हैं। ज्ञान-साधनमें अभेद-ब्रह्म-ज्ञानरूप मुक्ति अवश्य ही मिलती है; यज्ञ आदि पुण्य कर्मोंसे भुक्ति भी सहज ही मिल सकती है, परन्तु भक्तियोगके बिना लाख साधन किये जानेपर भी 'हरिभक्ति' नहीं पायी जा सकती है।

विजय—भक्तिको घनीभूत आनन्दस्वरूपा क्यों कहा गया है?

बाबाजी—भक्ति चित्-सुख है—अतएव आनन्द-समुद्र है। जड़-जगत्‌में जितने प्रकारके सुख हैं अथवा जड़-जगत्‌के विपरीत चिन्तामय जगत्‌में जो ब्रह्मानन्द है, उन सबको मिलाकर करोड़ गुणित करनेपर जो सुख होगा, उससे भी भक्तिसुख-समुद्रकी एक बूँदसे तुलना नहीं की जा सकती है। जड़-सुख नितान्त तुच्छ होता है। जड़-विपरीत सुख नितान्त शुष्क होता है। ये दोनों प्रकारके सुख ही चित्-सुखसे विजातीय और विलक्षण होते हैं। विजातीय वस्तुओंकी परस्पर कोई तुलना ही नहीं है। इसलिए जिन्होंने भक्ति-सुखका आस्वादन पा लिया है, उनके निकट ब्रह्म-सुख गोष्पद-तुल्य प्रतीत होता है। उस सुखको वे ही जान सकते हैं, जो उसे पा चुके हैं, दूसरे उस सुखको कह या समझ नहीं सकते।

विजय—भक्ति श्रीकृष्णाकर्षणी कैसे है?

बाबाजी—जिनके हृदयमें भक्तिदेवीका आविर्भाव होता है, श्रीकृष्ण अपने समस्त प्रियजनोंके साथ वशीभूत होकर उनके प्रति आकृष्ट हो पड़ते हैं। अन्य किसी भी उपायसे कृष्णको वशीभूत या आकृष्ट नहीं किया जा सकता है।

विजय—यदि भक्ति ऐसी ही उपादेय है, तब जो लोग अधिक शास्त्र पढ़ते हैं, वे भक्ति प्राप्त करनेके लिए क्यों नहीं प्रयत्न करते?

बाबाजी—यथार्थ बात यह है कि मानव-बुद्धि ससीम है, अतः ऐसी ससीम और जड़-बुद्धि, जड़ातीत भक्तितत्त्व और कृष्णतत्त्व तक पहुँच नहीं पाती। परन्तु पूर्व-संचित सुकृतिके प्रभावसे जिनके हृदयमें थोड़ी भी रुचि उत्पन्न होती है, वे भक्तितत्त्वको सहज ही समझ सकते हैं—सौभाग्यवान जीवके अतिरिक्त दूसरे भक्तितत्त्वको समझ नहीं सकते

विजय—युक्तिकी प्रतिष्ठा क्यों नहीं है?

बाबाजी—चित्-सुखमें युक्तिका अधिकार नहीं है। इसलिए **'नैषातर्केण'** [३] (कठ० उ० १/२/९) और **'तर्काप्रतिष्ठानात्'** [४] (ब्रह्मसूत्र २/१/११) आदि वचनों द्वारा वेदान्तमें चित्-विषयमें युक्तिकी अकर्मण्यता दिखलायी गयी है।

ब्रजनाथ—साधनभक्ति और प्रेमभक्तिके बीच कोई भक्ति है या नहीं?

बाबाजी—हाँ है! अवस्थाभेदसे भक्ति तीन प्रकारकी होती है—साधनभक्ति, भावभक्ति और प्रेमभक्ति।

ब्रजनाथ—साधनभक्तिका लक्षण क्या है?

बाबाजी—भक्ति एक ही है। भेद केवल अवस्थाका है। बद्धजीवकी इन्द्रियोंद्वारा जबतक वह साधित होती है, तबतक उसे साधन-भक्ति कहते हैं।

ब्रजनाथ—आपने बतलाया है कि प्रेम-भक्ति नित्यसिद्ध भाव है, फिर नित्यसिद्ध भावकी साधना कैसी?

बाबाजी—नित्य-सिद्धभाव वास्तवमें साध्य नहीं है, हृदयमें उसे प्रकट करनेका नाम ही 'साधन' है [५]। अभी तक हृदयमें प्रकाशित नहीं होनेके कारण (आच्छादित रहनेके कारण) कुछ दिनोंके लिए उसकी साध्यता है—स्वरूपतः वह नित्यसिद्ध भाव है।

---

(३) नचिकेता! तुमने आत्मतत्त्व सम्बन्धी जो बुद्धि प्राप्तकी है, उसे तर्क द्वारा नष्ट करना उचित नहीं।

(४) तर्ककी प्रतिष्ठा नहीं है। इसके द्वारा कोई वस्तु स्थापित नहीं की जा सकती है, क्योंकि आज एक व्यक्ति तर्क और युक्तिसे जिसे स्थापित करता है, कल उससे अधिक प्रतिभाशाली व्यक्ति उसे रद्द कर देता है। इसलिए तर्ककी अप्रतिष्ठा कही गयी है।

(५)

कृतिसाध्या भवेत् साध्यभावा सा साधनाभिधा।
नित्यसिद्धस्य भावस्य प्राकट्यं हृदि साध्यता॥

(भ० र० सि० १/२/२)

नित्यसिद्ध कृष्णप्रेम 'साध्य' कभु नय। श्रवणादि शुद्धचित्ते करये उदय॥
श्रवणादि क्रिया तार स्वरूप लक्षण। तटस्थ लक्षणे उपजय प्रेमधन॥

(चै० च० म० २२/१०४-१०३)

ब्रजनाथ—कृपया इस सिद्धान्तको कुछ अधिक स्पष्ट कीजिये।

बाबाजी—प्रेमभक्ति स्वरूपशक्तिकी एक वृत्ति है—अतः वह अवश्य ही नित्यसिद्ध है। जड़बद्ध जीवके हृदयमें वह प्रकट नहीं है। तन, मन और वचनसे उसे हृदयमें प्रकट करनेके लिए जो चेष्टा की जाती है, वही उसकी 'साधना' है।

जब तक वह साधित होती है, तब तक उसमें साध्यभाव है; परन्तु प्रकट होते ही उसकी नित्यसिद्धता स्पष्ट है।

ब्रजनाथ—साधनाका लक्षण क्या है?

बाबाजी—जिस किसी भी उपायसे कृष्णमें मन लगाया जाये, वही साधनभक्तिका लक्षण है।

ब्रजनाथ—साधनभक्ति कितने प्रकारकी होती है?

बाबाजी—दो प्रकारकी होती है—वैधी और रागानुगा।

ब्रजनाथ—वैधीभक्ति किसे कहते हैं?

बाबाजी—जीवकी प्रवृत्ति दो प्रकारसे उदित होती है। विधिके अनुसार जो प्रवृत्ति उत्पन्न होती है, उसे वैधी—प्रवृत्ति कहते हैं। शास्त्र ही विधि हैं। शास्त्रके शासनमें रहकर जिस भक्तिका उदय होता है, वह वैधी—प्रवृत्तिसे उत्पन्न होनेके कारण 'वैधीभक्ति' कही जाती है।

ब्रजनाथ—'राग' के लक्षणकी पीछे जिज्ञासा करूँगा, अभी यह बतलायें कि विधिका लक्षण क्या है?

बाबाजी—शास्त्रोंमें जिसे कर्त्तव्यके रूपमें निरूपण किया गया है—उसे 'विधि' कहते हैं। शास्त्रोंमें जिसे अकर्त्तव्य बतलाया गया है, उसका नाम 'निषेध' है। विधियोंका पालन और निषेधोंका वर्जन करना ही जीवोंका वैध-धर्म है।

ब्रजनाथ—आपने जैसा बतलाया है उससे ऐसा प्रतीत होता है कि समस्त धर्मशास्त्रोंके विधान ही वैध-धर्म हैं। समस्त धर्मशास्त्रोंके विधि-निषेधोंको पढ़कर कलियुगके अल्पायु और दुर्बल जीवोंके लिए वैध-धर्मका निर्णय करना असम्भव है। अतः संक्षेपमें विधि-निषेधका निर्णय करनेके लिए शास्त्रोंमें कोई सङ्केत पाया जाता है या नहीं?

बाबाजी—पद्मपुराण (उत्तरखण्ड, ४२ अ०, १०३ श्लोकमें तथा नारदपञ्चरात्र ४/२/२३) में लिखते हैं—

स्मर्त्तव्यः सततं विष्णुर्विस्मर्त्तव्यो न जातुचित्।
सर्वे विधिनिषेधाः स्युरेतयोरेव किङ्कराः॥ (६)

भगवान् विष्णुको जीवनभर सर्वदा स्मरण रखो—यही मूल विधि है; जीवके जीवन—

---

(६) विष्णुको सर्वदा स्मरण रखो, उन्हें कभी मत भूलो। अन्यान्य समस्त विधि-निषेध इन दोनोंके ही अनुगत हैं। तात्पर्य यह है कि शास्त्रोंमें जितनी प्रकारकी विधियोंकी व्यवस्था है तथा निषेधका निर्धारण है, वे समस्त उक्त दो मूल विधि और निषेध वाक्योंके आधारपर ही प्रतिष्ठित हैं। जिससे भगवान्का निरन्तर स्मरण होता रहे, उसे कर्त्तव्य माना गया है; यही विधि है और जिससे भगवान्का विस्मरण हो जाये, ऐसा कार्य ही 'निषेध' है। (अमृतप्रवाह भाष्य)

निर्वाहके लिए वर्णाश्रमादि व्यवस्थाएँ इसी विधिके अधीन हैं। भगवान्‌को कभी मत भूलो—यही मूल निषेध है। पाप और बहिर्मुखता-वर्जन तथा पापोंके प्रायश्चित्त, ये सभी इसी मूल निषेध—विधिके अनुगत हैं। अतएव शास्त्रोक्त समस्त विधि और निषेध भगवत्—स्मरण—विधि और विस्मरण निषेधके चिर किङ्कर हैं। इससे यह समझना होगा कि वर्णाश्रमादि समस्त प्रकारकी विधियोंमें भगवत्-स्मरण-विधि ही नित्य है।

मुखबाहूरुपादेभ्यः पुरुषस्याश्रमैः सह।
चत्वारो जज्ञिरे वर्णा गुणैर्विप्रादयः पृथक्॥
य एषां पुरुषं साक्षादात्मप्रभवमीश्वरम्।
न भजन्त्यवजानन्ति स्थानाद्भ्रष्टाः पतन्त्यधः॥[७]

(श्रीमद्भा० ११/५/२-३)

ब्रजनाथ—वर्णाश्रमकी विधियोंका पालन करनेवाले सभी लोग कृष्णभक्तिका साधन क्यों नहीं करते?

बाबाजी—श्रीरूप गोस्वामीने कहा है—शास्त्र-विधियोंका पालन करनेवालोंके बीच जिन लोगोंकी भक्तिके प्रति श्रद्धा उत्पन्न होती है, केवल उनका ही भक्तिमें अधिकार होता है। वैसे लोगोंकी वैध-जीवनके प्रति आसक्ति नहीं होती। वे वैराग्य भी नहीं करते। जीविका निर्वाहके लिए सांसारिक विधियोंका पालन करते हैं और श्रद्धालु होकर शुद्धभक्तिके साधनमें प्रवृत्त होते हैं। अनेक जन्मोंकी सुकृतिके फलस्वरूप ही वैध-जीवोंमें ऐसा अधिकार उदित होता है। श्रद्धावान भक्ति अधिकारी तीन प्रकारके होते हैं—उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ।

ब्रजनाथ—श्रीगीतामें ऐसा कहा गया है कि आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी—ये चार प्रकारके लोग भजन करते हैं; वे किस भक्तिके अधिकारी हैं?

बाबाजी—आर्त्ति, जिज्ञासा, अर्थार्थिता और ज्ञान—ये चारों जब साधुसङ्गके प्रभावसे दूर हो जाते हैं और अनन्या-भक्तिमें श्रद्धा उत्पन्न होती है, उसी समय वे भक्तिके अधिकारी

---

(७) आदि पुरुष विष्णुके मुखसे ब्राह्मण, भुजाओंसे क्षत्रिय, जाँघोंसे वैश्य और चरणोंसे शूद्र—ये चारों वर्ण अलग-अलग आश्रमोंके साथ और अपने वर्णगत गुणों सहित पैदा हुए हैं। इसलिए इन चार वर्ण और आश्रमोंमें रहनेवाला जो मनुष्य अपने प्रभु भगवान् विष्णुका भजन नहीं करता है, बल्कि उल्टा अपने वर्ण और आश्रमके अहङ्कारमें मत्त होकर उनका अनादर करता है, वह अपने स्थान, वर्ण, आश्रम और मनुष्य योनिसे भी च्युत हो जाता है—उसका अधःपतन हो जाता है।

होते हैं। गजेन्द्र [८], शौनकादि महर्षि [९], ध्रुव [१०] और चारों कुमार[११] इसके उदाहरण हैं।

ब्रजनाथ—क्या भक्तजनोंकी मुक्ति नहीं होती?

बाबाजी—सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य—इन पाँच प्रकारकी मुक्तियोंमें सायुज्यमुक्ति भक्तितत्त्वकी नितान्त विरोधिनी है। अतएव भगवद्भक्त इसे कदापि स्वीकार नहीं करते। सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य और सारूप्य—ये चार मुक्तियाँ पूर्ण भक्ति-विरोधी न होनेपर भी आंशिक रूपमें इनमें भक्ति-प्रतिकूलता है। कृष्णभक्त नारायण-धामगत इन चारोंको भी कदापि ग्रहण नहीं करते। ये मुक्तियाँ कहीं-कहीं सुख-ऐश्वर्य प्रदान करती हैं और कहीं-

---

(८) गजेन्द्र—बात चौथे मन्वन्तरकी है। पर्वतराज त्रिकुटकी तराईके घोर जङ्गलमें बहुत-सी हथिनियोंके साथ एक गजेन्द्र निवास करता था। वह बड़े-बड़े बलवान हाथियोंका सरदार था। पर्वतकी तलहटीमें एक सुवृहत् और रमणीय सरोवर था। एक दिन गजेन्द्र उस सरोवरमें अपनी हथिनियों और बच्चोंके साथ निर्भय होकर क्रीड़ामें मत्त था। उसी समय अकस्मात् एक बलवान ग्राहने क्रोधमें भरकर उसका पैर पकड़ लिया। बलवान गजेन्द्रने भी अपनी शक्तिके अनुसार अपनेको छुड़ाने की बड़ी चेष्टा की। एक हजार वर्ष बीत गये उन दोनोंको लड़ते-लड़ते। परन्तु गजेन्द्र अपनेको छुड़ा न सका। धीरे-धीरे गजेन्द्र शिथिल होने लगा। अब वह अपनी रक्षाका कोई दूसरा उपाय न देखकर श्रीभगवान्‌की अनन्य शरणमें आया और आर्त्त होकर उन्हें पुकारने लगा। चक्रधारी भगवान् गरुड़पर सवार होकर उसी समय वहाँ उपस्थित हुए और चक्रसे ग्राहका मुँह फाड़कर गजेन्द्रको छुड़ा लिया। गजेन्द्र पूर्व जन्ममें पाण्ड्यदेशीय राजा था। उसका नाम इन्द्रद्युम्न था। एक समय वह ध्यानमग्न होकर पूजा कर रहा था। उसी समय महर्षि अगस्त्य वहाँ पधारे। परन्तु राजाने ध्यानमग्न होनेके कारण उनका सत्कार न किया। इस पर महर्षि अगस्त्यने क्रोधमें भरकर राजाको गजयोनि प्राप्त करनेका शाप दे दिया। यह संकुचित—चेतन और आर्त्तका उदाहरण है।

(९) शौनकादि—एक बार शौनकादि ऋषियोंने चरमकल्याण प्राप्तिकी आशासे श्रीहरितीर्थ नैमिषारण्यमें एक हजार वर्ष तक यागयज्ञ आदिके अनुष्ठान किये। परन्तु उससे अपने अभीष्ट पूर्तिकी कहीं आशा न देखकर उन्होंने श्रीकृष्णद्वैपायन वेदव्यासके अत्यन्त प्रिय शिष्य श्रीसूत गोस्वामीके निकट छः प्रश्न किये और अपने प्रश्नोंके उत्तर प्राप्तकर यथार्थ सिद्धिको प्राप्त हुए। वे छह प्रश्न ये हैं—(१) प्राणियोंका परम कल्याण क्या है? (२) आत्माओंके आत्मा परमात्मा श्रीहरि जिससे प्रसन्न हों, वह श्रवणीय विषय क्या है? (३) वासुदेव श्रीकृष्ण भगवान् देवकीके गर्भसे क्या-क्या करनेकी इच्छासे अवतीर्ण हुए थे? (४) भगवान् वासुदेवने किन-किन अवतारोंमें कौन-कौन-सी लीलाएँ की थीं? (५) श्रीहरिके गुणोंका तथा उनकी महिमाका वर्णन कीजिये। (६) श्रीकृष्णके स्वधाम गमन करनेपर धर्मने किनका आश्रय लिया था? ब्राह्मण कुलमें पैदा होकर भी वे ऋषिगण ब्राह्मणेतर कुलमें उत्पन्न श्रीसूत गोस्वामीको गुरुके रूपमें वरणकर उनके निकट सरल भावसे 'जिज्ञासु' हुए थे। श्रीव्यासदेवके अतिशय प्रियपात्र श्रीसूत गोस्वामीने बड़े स्नेहसे उनके प्रश्नोंके उत्तर दिये थे, जिसे सुनकर वे परमसिद्धिको प्राप्त हुए थे। जिज्ञासु भक्तका यही उदाहरण है।

कहीं चरमावस्थामें प्रेम सेवाकी ओर अग्रसर कराती हैं। जहाँ सुख ऐश्वर्य ही उनका चरम फल होता है, वहाँ वे भक्तजनोंके लिए त्याज्य हैं। मुक्तिकी बात तो अलग रहे, नारायणका प्रसाद भी श्रीकृष्णके अनन्य भक्तोंके चित्तको लुभा नहीं सकता। क्योंकि श्रीनारायण और श्रीकृष्ण स्वरूपमें सिद्धान्तकी दृष्टिसे कोई भेद न होनेपर भी रसकी दृष्टिसे श्रीकृष्णरूपका उत्कर्ष नित्यसिद्ध है।

ब्रजनाथ—क्या आर्यकुलमें पैदा होकर वर्णाश्रमकी विधियोंका पालन करनेवाले व्यक्ति ही भक्तिके अधिकारी हैं?

बाबाजी—भक्ति में मनुष्यमात्रको अधिकार प्राप्त करनेकी योग्यता है

ब्रजनाथ—यदि ऐसी बात है, तब वर्णाश्रममें स्थित व्यक्तियोंके दो कर्त्तव्य दिखायी देते हैं—एक वर्णाश्रमकी विधियोंका पालन करना और दूसरा शुद्धभक्ति-धर्मका पालन करना। परन्तु वर्णाश्रमके बहिर्भूत व्यक्तियोंका केवल एक ही कर्त्तव्य है—भक्तिके अङ्गोंका पालन करना। ऐसी दशामें वर्णाश्रमधर्ममें स्थित व्यक्तियोंको अधिक कष्ट झेलने पड़ते हैं, क्योंकि उन्हें कर्माङ्ग और भक्त्यङ्ग—दोनोंका पालन करता पड़ता है। ऐसा क्यों?

बाबाजी—शुद्धभक्त्याधिकारी व्यक्ति वर्णाश्रमधर्ममें स्थित होनेपर भी केवल भक्त्यङ्ग पालन करनेके लिए बाध्य है। भक्त्यङ्गका पालन करनेसे कर्माङ्गका पालन अपने आप हो जाता है। जहाँ कर्माङ्ग भक्तिसे स्वतन्त्र है अथवा भक्तिका विरोधी है, वहाँपर कर्माङ्गका पालन नहीं करनेसे कोई दोष नहीं होता। भक्ति-अधिकारीको अकर्म और विकर्मसे स्वभावतः ही रुचि नहीं होती। परन्तु यदि दैववश कोई पाप कर्म हो भी जाये, तो उसे प्रायश्चित्तके रूपमें कर्माङ्गोंके अनुष्ठानकी कोई आवश्यकता नहीं होती। जिनके हृदयमें भक्ति है, उनसे

---

(१०) ध्रुव—बात सृष्टिके प्रारम्भकी है। स्वायंभुव मनुके वंशमें उत्पन्न सम्राट् उत्तानपादकी दो रानियाँ थीं। बड़ीका नाम सुनीति और छोटीका नाम सुरुचि था। राजा छोटी रानीके वशमें थे। सुनीतिके पुत्र ध्रुव हुए। विमाताके अत्याचारोंसे बालक ध्रुव पितृस्नेहसे वञ्चित होकर राज्य-प्राप्तिकी आशासे माताके उपदेशानुसार गम्भीर वनमें जाकर पद्मपलासलोचन श्रीहरिकी आराधनामें तन्मय हो गये। बड़ी कठोर आराधना थी। परन्तु यह कठोर आराधना थी—राज्य प्राप्ति रूप अर्थके लिए—परमार्थके लिए नहीं। श्रीनारदजीकी कृपासे वे भगवदनुग्रहको प्राप्त हुए। भगवान्‌की कृपासे उनकी राज्य-प्राप्तिकी आकांक्षा भी दूर हो गयी और उन्होंने शुद्धभक्तिको भी प्राप्त किया। पार्थिव वर-प्राप्तिकी आशासे अर्थार्थी होकर अनन्य मनसे भगवान्‌का भजन करनेसे अन्तमें नित्यमङ्गलकी प्राप्ति होती है—इसके ध्रुव उदाहरण हैं।

(११) चारों कुमार—सनक, सनातन, सनन्दन और सनत्कुमार ये चारों कुमार हैं। सृष्टिके प्रारम्भमें ब्रह्माने ध्यानमग्न होकर इनकी मानस सृष्टि की थी। इसीसे ये ब्रह्माके मानस—पुत्र कहलाते हैं। चारों कुमार अत्यन्त ज्ञानके प्रभावसे संसार-आसक्तिसे सर्वथा परे थे। वे अपने पिता ब्रह्माके सृष्टि-कार्योंमें सहायक न होकर ब्रह्मज्ञानकी ओर झुक पड़े। इससे ब्रह्माको बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने चारों कुमारोंके कल्याणके लिए भगवान् श्रीहरिके निकट प्रार्थना की। ब्रह्माकी प्रार्थनासे भगवान्‌ने हंसरूपमें अवतीर्ण होकर चारों कुमारोंके चित्तको शुष्क अद्वैत-ज्ञानसे हटाकर भक्तितत्त्व-ज्ञानकी ओर लगा दिया। इसीलिए सनकादि ऋषियोंको ज्ञानी भक्त कहा जाता है। ये ही निम्बादित्य सम्प्रदायके आदि प्रवर्तक हैं।

संयोगवश कोई पापकर्म बन जानेपर भी वह पाप उनके हृदयमें स्थिर नहीं होता, शीघ्र ही अनायास विनष्ट हो जाता है। इसलिए उन्हें प्रायश्चित्तकी कोई आवश्यकता नहीं होती।

ब्रजनाथ–भक्त्याधिकारी पुरुष देवऋण आदिसे कैसे उऋण हो सकते हैं?

बाबाजी—श्रीमद्भागवतमें ऐसा कहा गया है कि भगवान्‌के शरणागत व्यक्ति किसीके भी ऋणी नहीं होते—

देवर्षिभूताप्त नृणां पितॄणां न किङ्करो नायमृणी च राजन्।
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्त्तम्॥ [१२]

(श्रीमद्भा० ११/५/४१)

सम्पूर्ण गीताका चरम (१८/६६) तात्पर्य यह है कि जो लोग समस्त धर्मोंका भरोसा छोड़कर भगवान् के शरणागत होते हैं। भगवान् उन्हें समस्त पापोंसे मुक्त कर देते हैं। गीताका तात्पर्य यह है कि जब अनन्य भक्तिके प्रति अधिकार पैदा हो जाता है, तब वह अधिकारी व्यक्ति ज्ञानशास्त्र और कर्मशास्त्रकी विधियोंको पालन करनेके लिए बाध्य नहीं होता। केवल भक्तिके अनुशीलनसे ही उसकी सर्वसिद्धि हो जाती है। अतएव, **"न मे भक्तः प्रणश्यति"** (गीता ९/३१)—भगवान् की इस प्रतिज्ञाको ही सर्वोपरि समझना।

इतना सुनकर ब्रजनाथ और विजयकुमार दोनों एक साथ बोले—हमारे हृदयमें भक्तिके सम्बन्धमें और किसी प्रकारका सन्देह नहीं है। हमारी समझमें यह बात आ गयी है कि ज्ञान और कर्म अत्यन्त तुच्छ हैं; भक्तिदेवीकी कृपा बिना जीवका किसी प्रकार भी मङ्गल नहीं हो सकता। प्रभो! कृपाकर शुद्धभक्तिके अङ्गोंको बतलाइये, जिससे हमलोग कृतार्थ हो सकें।

बाबाजी—ब्रजनाथ! तुमने श्रीदशमूलके आठवें श्लोक तकका श्रवण किया है, तुम उसे समयानुसार अपने मामाजीको सुनाना। तुम्हारे मामाजीको देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हो रही है। अब तुम नवाँ श्लोक सुनो—

श्रुतिः कृष्णाख्यानं स्मरणनतिपूजाविधिगणाः
तथा दास्यं सख्यं परिचरणमप्यात्मददनम्।
नवाङ्गान्येतानीह विधिगतभक्तेरनुदिनं
भजन् श्रद्धायुक्तः सुविमलरति वै स लभते॥

(दशमूल ९)

अर्थात् श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण, वन्दन, पादसेवन, अर्चन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन —इस नवधा वैधीभक्तिका जो लोग श्रद्धापूर्वक प्रतिदिन अनुशीलन करते हैं, वे विमल कृष्णरति प्राप्त करते हैं।

श्रीकृष्णके नाम, रूप, गुण और लीला सम्बन्धी अप्राकृत वर्णन आदिका कर्णेन्द्रियसे स्पर्श 'श्रवण' कहलाता है। श्रवणकी दो अवस्थाएँ होती हैं—श्रद्धा उत्पन्न होनेके पहले साधुओंके निकट जो कृष्णके गुणानुवादका श्रवण किया जाता है, वह एक प्रकारका श्रवण

---

(१२) जो सब प्रकारसे शरणागतवत्सल भगवान् मुकुन्दकी शरणमें आ गया है, वह देवताओं, पितरों, प्राणियों, कुटुम्बियों और अतिथियोंके ऋणसे उऋण हो जाता है, वह किसीके अधीन या किसी अन्यका सेवक नहीं रहता।

है।

उस श्रवणसे श्रद्धा उदित होती है, श्रद्धा उत्पन्न होनेपर प्रगाढ़ उत्कण्ठाके साथ कृष्णनामादि श्रवण करनेकी प्रवृत्ति होती है। तदनन्तर गुरु वैष्णवोंके निकट जो कृष्णनामादि सुना जाता है, उसीका नाम है—द्वितीय श्रवण—जो शुद्धभक्तिका ही एक अङ्ग है। साधनकालमें गुरु-वैष्णवोंके निकट श्रवण करते-करते सिद्धिकालका श्रवण उदित होता है; श्रवण भक्तिका पहला अङ्ग है।

भगवन्नाम, रूप, गुण और लीला सम्बन्धी शब्दोंका जिह्वासे स्पर्श कीर्त्तन कहलाता है। है। कृष्णकथा और कृष्णनामादिका वर्णन, शास्त्र—पाठकर दूसरोंको सुनाना, गीत द्वारा लोगोंको कृष्णके प्रति आकर्षित करना तथा दैन्योक्ति, विज्ञप्ति, स्तवपाठ और प्रार्थना आदि—ये सब कीर्त्तनके भेद हैं। नवधा भक्तिमें कीर्त्तनको सर्वश्रेष्ठ अङ्ग बतलाया गया है; विशेषतः कलियुगमें कीर्त्तन ही सबका कल्याण करनेमें समर्थ है—ऐसा समस्त शास्त्रोंमें कहा गया है। पद्मपुराण (उत्तरखण्ड, अ० ४२, श्लोक २५) में कहते हैं—

ध्यायन् कृते यजन् यज्ञैस्त्रेतायां द्वापरेऽर्चयन्।
यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ संकीर्त्य केशवम्॥

हरिकीर्तनसे चित्त जितना निर्मल होता है, उतना और किसी भी उपायसे नहीं होता। जब बहुत से भक्त एकसाथ मिलकर कीर्त्तन करते हैं, तब उसे सङ्कीर्तन कहते हैं।

कृष्णके नाम, रूप, गुण और लीलाके स्मरणका नाम 'स्मरण' है। स्मरण पाँच प्रकारका होता है। किसी देखी-सुनी या अनुभव की हुई बातका फिरसे मनन करनेका नाम 'स्मरण' है; पूर्व—विषयसे चित्तको खींचकर साधारण रूपमें मनसे किसी विषयको धारण करनेका नाम—'धारणा' है; रूप आदिका विशेष रूपसे चिन्तन करनेका नाम 'ध्यान' है; तैल धारावत् अविच्छिन्न ध्यानका नाम 'ध्रुवानुस्मृति' है एवं ध्येयमात्रकी स्फूर्तिका नाम 'समाधि' है।

श्रवण, कीर्त्तन और स्मरण—भक्तिके ये तीन प्रधान अङ्ग हैं। दूसरे समस्त अङ्ग इन तीनोंके अन्तर्भूत हैं। श्रवण, कीर्त्तन और स्मरण—इन तीनोंमें कीर्त्तन ही सर्वप्रधान अंग है; क्योंकि श्रवण और स्मरण कीर्त्तनके अन्तर्भुक्त रह सकते हैं।

श्रीमद्भागवत (७/५/२३) के **"श्रवणं कीर्त्तनं विष्णोः"** श्लोकके अनुसार 'पादसेवा' या 'परिचर्या' भक्तिका चतुर्थ अङ्ग है। श्रवण-कीर्त्तन और स्मरणके साथ 'पादसेवा' करना कर्तव्य है। पादसेवन कार्यमें अपना अकिञ्चनत्व, सेवामें अपनी अयोग्यता-बुद्धि तथा सेव्यमें सच्चिदानन्दत्व-बुद्धिका होना नितान्त आवश्यक है। पादसेवा कार्यमें श्रीमुख—दर्शन, स्पर्शन, परिक्रमा, अनुव्रजन, भगवन्मन्दिर-गङ्गा-पुरुषोत्तम-द्वारका-मथुरा-नवद्वीप आदि तीर्थस्थानोंके दर्शन आदि अन्तर्भूत है। श्रीरूप गोस्वामीने भक्तिके ६४ अङ्गोंका वर्णन करते समय इनका बड़ा स्पष्ट और मार्मिक विवेचन प्रस्तुत किया है। श्रीतुलसी सेवा और साधुसेवा दोनों इसी अङ्गके अन्तर्भूत हैं।

पञ्चम अङ्ग है—अर्चन। अर्चन-मार्गमें अधिकार और प्रक्रिया सम्बन्धी अनेक विचार हैं। श्रवण, कीर्त्तन और स्मरणमें नियुक्त होनेपर भी यदि अर्चन-मार्गमें श्रद्धा हो, तो श्रीगुरुदेवसे मन्त्र-दीक्षा लेकर अर्चन-क्रिया करनी चाहिये।

ब्रजनाथ—नाम और मन्त्रमें क्या भेद है?

बाबाजी—श्रीभगवन्नाम ही मन्त्रके प्राण हैं। नाममें 'नमः' आदि शब्दोंको लगाकर

भगवान्‌से कोई एक सम्बन्ध स्थापनकर ऋषियोंने नामसे किसी विशेष प्रकारकी शक्तिका उद्घाटन किया है [१३]। नाम ही निरपेक्ष तत्त्व है, तथापि देहादि मायिक उपाधियोंके कारण जीव जड़ विषयोंमें फँस गया है। अब उसके चित्तको विषयोंसे हटानेके लिए मर्यादा-मार्गमें अर्चनकी विधियोंका निरूपण हुआ है। विषयी लोगोंके लिए दीक्षा ग्रहण करना नितान्त आवश्यक है। श्रीकृष्ण मन्त्रमें 'सिद्ध-साध्य-सुसिद्ध-अरि' [१४]—विचारकी आवश्यकता नहीं होती। कृष्णमन्त्र-दीक्षा ही जीवके लिए अत्यन्त कल्याणकारी है। संसारमें जितने प्रकारके मन्त्र हैं, उनमें कृष्णमन्त्र सबसे अधिक शक्तिशाली है। सद्गुरुके निकट यह मन्त्र प्राप्त करनेके साथ-ही-साथ सत्शिष्य कृष्ण-बल प्राप्त करता है।

श्रीगुरुदेव जिज्ञासुको अर्चनकी शिक्षा देते हैं। संक्षेपमें यही ज्ञानव्य है कि श्रीकृष्णजन्म, कार्त्तिक-व्रत, एकादशी-व्रत, माघ-स्नान आदि अर्चन—मार्गके अन्तर्गत हैं। अर्चनके विषयमें यह जान लेना आवश्यक है कि कृष्णके साथ कृष्णभक्तोंका भी अर्चन होना नितान्त आवश्यक है।

वन्दन ही वैधीभक्तिका छठवाँ अङ्ग है। पादसेवा और कीर्त्तन आदिमें वन्दन अन्तर्भुक्त होनेपर भी इसे पृथक् अङ्ग बतलाया गया है। नमस्कारको ही वन्दन कहते हैं। नमस्कार दो प्रकारका होता है—एकाङ्ग नमस्कार और अष्टाङ्ग नमस्कार। एक हाथसे किया गया नमस्कार, वस्त्रोंसे ढके हुए शरीरसे नमस्कार, भगवान्‌के आगे पीछे और बायेंसे किया गया नमस्कार तथा गर्भ-मन्दिरमें किया गया नमस्कार—ये सब नमस्कार अपराध माने गये हैं।

दास्य सातवाँ अङ्ग है—मैं कृष्णका दास हूँ, ऐसा अभिमान ही दास्य है। दास्य—भावसे युक्त होकर जो कृष्णका भजन होता है, वही भजन श्रेष्ठ है | नमः, स्तुति, समस्त कर्मोंका अर्पण, परिचर्या, आचरण, स्मृति और 'कथा-श्रवण' [१५] ये सभी दास्यके अन्तर्भाव्य हैं अर्थात् उसमें समाहित हैं।

सख्य आठवाँ अङ्ग है—कृष्णके प्रति हित-चेष्टासे युक्त बन्धुभाव लक्षण ही सख्य है। सख्य दो प्रकारका होता है। एक वैधाङ्ग सख्य और दूसरा रागाङ्ग-सख्य। यहाँपर सख्यका

---

(१३) 'कृष्णमन्त्र' जप सदा—एइ मन्त्रसार॥ कृष्णमन्त्र हैते हबे संसार—मोचन। कृष्णनाम हैते पावे कृष्णेर चरण॥ नाम बिना कलिकाले नाहि आर धर्म। सर्वमन्त्रसार नाम—एई शास्त्रमर्म॥ (चै० च० आ० ७/७२-७४)

(१४) गुरुदेव शिष्यको दीक्षा देनेके समय सिद्ध, साध्य, सुसिद्ध और अरि (शत्रु) इन चार दोषोंका शोधन करनेके पश्चात् दीक्षा देंगे। चारों दोषों और उनके शोधनके सम्बन्धमें हरिभक्तिविलासमें प्रथम विलासके ५२ अनुच्छेदसे १०३ अनुच्छेद तक द्रष्टव्य है। परन्तु अष्टादश अक्षरके मन्त्रराज अर्थात् कृष्णमन्त्रमें इन चार दोषोंके विवेचनकी आवश्यकता नहीं होती। यह मन्त्र इतना शक्तिशाली है कि यह सिद्ध—साध्य—सुसिद्ध—अरि—इन दोषोंकी अपेक्षा नहीं रखता। त्रैलोक्य-सम्मोहन तन्त्रमें महादेवने कहा है—"अष्टादशाक्षर मन्त्रमधिकृत्य श्रीशिवेनोक्तम्। न चात्र शात्रवा दोषा वर्णष्वादि—विचारणा॥" और बृहद्गौतमीयमें भी देखा जाता है—"सिद्ध-साध्य-सुसिद्धारि-रूपा नात्र विचारणा। सर्वेषां सिद्ध-मन्त्रानां यतो ब्रह्माक्षरो मनुः॥" इस मन्त्रका प्रत्येक अक्षर ही ब्रह्म है।

(१५) कथा-श्रवण अर्थात् आज्ञा-पालन।

तात्पर्य वैधाङ्ग सख्यसे है। अर्चा मूर्त्तिकी सेवामें जो सख्य भाव होता है, वह वैध—सख्य है।

आत्मनिवेदनको नवाँ अङ्ग कहते हैं—शरीरसे लेकर शुद्ध आत्मा तक सब कुछ कृष्णको अर्पण करनेका नाम आत्मनिवेदन है। अपने लिए चेष्टारहित होना तथा कृष्णके लिए चेष्टायुक्त होना ही आत्मनिवेदन है। जैसे विक्रीत गायको अपने पालन-पोषणकी चिन्ता नहीं रहती, उसी प्रकार कृष्णकी इच्छाके अधीन रहना तथा अपनी इच्छाको उनके अधीन रखना भी आत्मनिवेदनका लक्षण है। वैध-आत्मनिवेदनका उदाहरण नीचे दिया जा रहा है—

स वै मनः कृष्णपदारविन्दयोर्वचांसि वैकुण्ठगुणानुवर्णने।
करौ हरेर्ममन्दिरमार्जनादिषु श्रुतिञ्चकाराच्युतसत्कथोदये॥

मुकुन्दलिङ्गालयदर्शने दृशौ तद्भृत्यगात्रस्पर्शेऽङ्गसङ्गमम्।
घ्राणञ्च तत्पादसरोजसौरभे श्रीमत्तुलस्यां रसनां तदर्पिते॥

पादौ हरेः हरेः क्षेत्रपदानुसर्पणे शिरोहृषीकेशपदाभिवन्दने।
कामञ्च दास्ये न तु कामकाम्यया यथोत्तमः श्लोकजनाश्रया रतिः॥ (१६)

बाबाजीके मधुर उपदेशको सुनकर ब्रजनाथ और विजयकुमार आनन्दसे गद्गद होकर बाबाजी महाशयको दण्डवत् प्रणाम करते हुए बोले—प्रभो! आप साक्षात् भगवत्-पार्षद हैं; आपके उपदेशामृतका पानकर हम दोनों आज कृतार्थ हुए। जाति-कुल और विद्याके अहङ्कारमें हमारे दिन व्यर्थ ही बीत रहे थे। जन्म-जन्मान्तरोंकी सञ्चित सुकृति राशिके प्रभावसे ही हमने आपकी कृपा पायी है।

विजयकुमारने कहा—हे भागवत प्रवर! श्रीवृन्दावनदास ठाकुरने मुझे श्रीमायापुर—योगपीठका दर्शन करनेकी आज्ञा दी थी। उनकी कृपासे ही आज मुझे भगवद्धाम और भगवत्-पार्षदका दर्शन सम्भव हो सका है। यदि कृपा होगी तो कल शामको यहाँपर फिर आऊँगा।

श्रीवृन्दावनदास ठाकुरका नाम सुनते ही वृद्ध बाबाजी साष्टाङ्ग-दण्डवत् करते हुए बोले—मेरी चैतन्यलीलाके जो व्यासावतार हैं, मैं उनको पुनः-पुनः प्रणाम करता हूँ।

दिन अधिक चढ़ आया। ब्रजनाथ और विजयकुमार ब्रजनाथके घरके लिए रवाना

---

(१६) अम्बरीष महाराजने अपने मनको श्रीकृष्णके चरणारविन्दयुगलमें, वाणीको भगवत्-गुणानुवर्णनमें, हाथोंको श्रीहरिमन्दिरमार्जनसेवनमें और अपने कानोंको अच्युतकी मङ्गलमयी कथाके श्रवणमें लगा रखा था। उन्होंने अपने नेत्र मुकुन्द-मूर्ति एवं मन्दिरोंके दर्शनोंमें, अङ्ग-सङ्ग भगवद्भक्तोंके शरीर स्पर्शमें, नासिका उनके चरणकमलोंपर चढ़ी श्रीमती तुलसीके दिव्य गन्धमें और रसना (जिह्वा) को भगवान्‌के प्रति अर्पित नैवेद्य-प्रसादमें संलग्न कर दिया था। उनके पैर भगवान्‌के क्षेत्र आदिकी पैदल यात्रा करनेमें ही लगे रहते और वे सिरसे भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलोंकी वन्दना किया करते-राजा अम्बरीषने माला, चन्दनादि भोग-सामग्रियोंको भगवान्‌की सेवामें समर्पित कर दिया था—भोगनेकी ही इच्छासे नहीं, बल्कि इसलिए कि इससे वह भगवत्प्रेम प्राप्त हो, जो पवित्रकीर्ति भगवान्‌के परिकरोंमें ही निवास करता है।

हुए।

॥उन्नीसवाँ अध्याय समाप्त॥

बीसवाँ अध्याय

प्रमेयके अन्तर्गत अभिधेयतत्त्वका विचार—वैध साधनभक्ति

दोपहरके पहले ही ब्रजनाथ और विजयकुमार घर पहुँच गये। ब्रजनाथकी माता पहलेसे ही उनकी प्रतीक्षा कर रही थी। उन्होंने बड़े प्रेमसे अपने भाईको स्वादिष्ट प्रसादान्न भोजन कराया। भोजनके पश्चात् मामा और भानजेमें परस्पर नाना प्रकारकी प्रेमभरी बातें होने लगीं। ब्रजनाथने जिन उपदेशोंको बाबाजी महाराजसे पहले श्रवण किया था, उन्हीं उपदेशोंको क्रमशः अपने मातुल महोदयको बताने लगे।

उन अमृतमय उपदेशोंको सुनकर विजयकुमार बड़े आनन्दित हुए और बोले—तुम्हारा बड़ा सौभाग्य है। बड़े सौभाग्यसे सत्सङ्ग प्राप्त होता है। तुम्हें बाबाजी जैसे दुर्लभ और परम सन्तका सङ्ग प्राप्त है। उनसे तुमने परमार्थ तत्त्वके सम्बन्धमें बहुत कुछ श्रवण कर लिया है। भक्तिकथा और हरिकथाओंके श्रवणसे कल्याणकी प्राप्ति होती है; परन्तु महत् पुरुषोंके मुखसे यदि ये कथाएँ सुनी जायें, तो कल्याण बहुत ही शीघ्र होता है। बाबा! तुम समस्त शास्त्रोंमें सुपण्डित हो, खासकर न्यायशास्त्रके अद्वितीय पण्डित हो, वैदिक ब्राह्मणोंमें कुलीन हो, निर्धन भी नहीं हो, ये सारी सम्पत्तियाँ इस समय तुम्हारे लिए अलङ्कार स्वरूप हो रही हैं। इसका कारण यह है कि तुम साधु-वैष्णवोंका पदाश्रय प्राप्तकर श्रीकृष्णकी लीलाकथाओंमें रुचि ले रहे हो।

इसी प्रकार परमार्थ-सम्बन्धी चर्चाएँ चल ही रही थीं कि बीच ही में ब्रजनाथकी माता वहाँ उपस्थित हुईं और विजयकुमारसे बोलीं—भाई! तुम बहुत दिनोंमें आये हो, ब्रजको जरा समझा-बुझाकर गृहस्थ कर दो। इसके व्यवहारोंसे मुझे डर लगता है कि यह कहीं साधु न हो जाये। विवाहके लिए अनेक लोग आते हैं, परन्तु इसने तो विवाह न करनेकी प्रतिज्ञा कर ली है। मेरी सासुजीने भी बहुत प्रयत्न किया, परन्तु कुछ कर न सकीं।

बहनकी बात सुनकर विजयकुमारने कहा—मैं यहाँ दस-पन्द्रह दिन तक ठहरूँगा। मैं क्रमशः इस विषयमें परामर्शकर तुम्हें पीछे बतलाऊँगा। अभी घरके भीतर जाओ।

ब्रजनाथकी माँ अन्दर चली गयीं। वे दोनों पुनः पारमार्थिक चर्चामें लग गये। वह सारा दिन इसी प्रकार बीत गया।

दूसरे दिन भोजन करनेके पश्चात् विजयकुमार बोले—ब्रजनाथ! आज शामको हम दोनों श्रीवास-अङ्गन चलेंगे और वहाँ बाबाजीसे श्रीरूप गोस्वामी द्वारा उल्लिखित ६४ प्रकारके भक्तिके अङ्गका विस्तृत विवेचन श्रवण करेंगे। ब्रजनाथ! तुम्हारे जैसा सत्सङ्ग मुझे जन्म-जन्मान्तरमें प्राप्त हो। देखो, बाबाजी महाशयने साधनभक्तिके दो मार्ग बतलाये हैं—एक वैधमार्ग और दूसरा रागमार्ग। हमलोग वास्तवमें वैधधर्मके अधिकारी हैं। अतः हमें रागमार्गके सम्बन्धमें उपदेश श्रवण करनेके पहले वैधमार्गको भलीभाँति समझकर साधन कार्य प्रारम्भ कर देना चाहिये। गतकल बाबाजी महाराजने नवधाभक्तिका उपदेश दिया था, परन्तु मैं समझ नहीं पाता कि नवधाभक्तिका प्रारम्भ कैसे करूँ? आज इस विषयमें अच्छी तरहसे समझ लेना होगा।

इस प्रकार बातों ही बातोंमें शाम हो गयी। सूरजकी किरणें पृथ्वीसे उठकर वृक्षोंकी ऊँची-ऊँची टहनियोंसे खेलने लगीं। विजयकुमार और ब्रजनाथ घरसे प्रस्थानकर श्रीवास-अङ्गनमें उपस्थित हुए और वैष्णव-मण्डलीको दण्डवत् प्रणामकर वृद्ध बाबाजीकी कुटीमें

प्रविष्ट हुए।

बाबाजी जिज्ञासु भक्तोंको देखकर बड़े प्रसन्न हुए और उन्हें बड़े प्रेमसे छातीसे लगाकर आसनपर बैठाया। वे दोनों भी बाबाजीको दण्डवत् प्रणामकर बैठ गये।

दो-एक बातोंके उपरान्त विजयकुमार बोले—प्रभो! हमलोग आपको बहुत ही कष्ट देते हैं। आप भक्तवत्सल हैं—अतः कृपाकर उस कष्टको स्वीकार करते हैं। आज हमलोग आपसे श्रीरूपगोस्वामी द्वारा लिखे गये भक्तिके ६४ प्रकारके अङ्गोंके सम्बन्धमें जानना चाहते हैं, यदि हमें इसका अधिकारी समझें तो कृपाकर बतलावें, जिससे हमलोग शुद्धभक्तिका सहज ही अनुभव कर सकें।

बाबाजीने मुस्कराते हुए कहा—सावधानीसे श्रवण करना, मैं श्रीरूपगोस्वामी द्वारा बतलाये गये भक्तिके ६४ प्रकारके अङ्गोंको बतला रहा हूँ। ६४ अङ्गोंमें प्रथम दस प्रारम्भिक अङ्ग हैं। ये दस हैं—(१) गुरु-पदाश्रय, (२) गुरुके निकट कृष्णदीक्षा और शिक्षा, (३) विश्वासपूर्वक गुरु सेवा, (४) साधु मार्गका अनुसरण, (४) सद्धर्मकी जिज्ञासा, (६) कृष्णके उद्देश्यसे भोग-विलासका त्याग, (७) द्वारका आदि धामोंमें तथा गङ्गा-यमुनाके निकट वास, (८) जीवन—निर्वाहोपयोगी यथायोग्य अर्थ या विषय स्वीकार, (९) एकादशी, जन्माष्टमी आदि हरिवासरका सम्मान, (१०) आँवला, पीपल आदि वृक्षोंको गौरव दान।

इनके आगेवाले दस अङ्ग निषेधके रूपमें पालनीय हैं—

(११) कृष्ण—बहिर्मुख व्यक्तियोंका सङ्ग त्याग, (१२) अनधिकारीको शिष्य न करना, (१३) आडम्बरपूर्ण उद्यमों (महोत्सव आदि) का परित्याग, (१४) अनेक ग्रन्थोंका पठन-पाठन और व्याख्यावादका परित्याग, (१५) व्यवहारमें कृपणताका परित्याग, (१६) शोक आदिके अधीन न होना, (१७) अन्यान्य देवताओंकी अवज्ञा न करना, (१८) प्राणीमात्रको उद्वेग न देना, (१९) सेवापराध और नामापराधसे सर्वदा दूर रहना, (२०) भगवान् और भक्तोंकी निन्दा आदि सुनकर उसे सहन न करना।

इन बीस प्रकारके अङ्गोंको भक्ति-मन्दिरका प्रवेशद्वार स्वरूप समझो। इनमें गुरु-पदाश्रय आदि प्रथम तीन प्रधान कार्य हैं।

(२१) वैष्णव-चिह्न धारण, (२२) हरिनामाक्षर धारण, (२३) निर्माल्य (भगवान्‌को दी हुई माला) आदि धारण, (२४) भगवान्‌के सम्मुख नृत्य, (२५) श्रीगुरु, वैष्णव और भगवान्‌को दण्डवत् प्रणाम, (२६) उन्हें दर्शनकर आसनसे उठकर अभिवादन, (२७) श्रीमूर्तिकी अनुव्रज्या अर्थात् अनुगमन करना, (२८) भगवान्‌के मन्दिरोंमें जाना, (२९) मन्दिर परिक्रमा, (३०) अर्चन, (३१) परिचर्या (सेवा), (३२) गान, (३३) भगवत्—कृपाकी प्रतीक्षा, (३४) त्रिसन्ध्याओंमें आचमनपूर्वक जप, (३५) विज्ञप्ति अर्थात् दीनतापूर्वक प्रार्थना (३६) स्तव, (३७) भगवत्—प्रसादका आस्वादन, (३८) श्रीचरणामृत पान करना, (३९) धूप-माल्यादिका सौरभ ग्रहण, (४०) श्रीमूर्तिका स्पर्श, (४१) श्रीमूर्त्तिका दर्शन, (४२) आरती और उत्सव आदि दर्शन, (४३) श्रीहरिके नाम, रूप, गुण और लीलाओंका श्रवण, (४४) सङ्कीर्त्तन, (४५) स्मरण, (४६) ध्यान, (४७) दास्य, (४८) सख्य, (४९) आत्मसमर्पण, (५०) कृष्णको प्रिय वस्तु समर्पण, (५१) श्रीकृष्णके सुखके लिए निरन्तर चेष्टा, (५२) भगवान्‌के चरणोंमें शरणागति, (५३) तुलसी-सेवा, (५४) श्रीमद्भागवत आदि भक्ति-ग्रन्थोंको सम्मान देना, (५५) भगवान्‌के आविर्भावस्थान मथुरा आदिका माहात्म्य श्रवण और कीर्त्तन

करना तथा उन धामोंकी परिक्रमा आदि करना, (५६) वैष्णवोंकी सेवा, (५७) शक्तिके अनुसार प्राप्त सामग्रियोंसे साधुओंकी गोष्ठीमें महोत्सव, (५८) चातुर्मास्य व्रत और विशेष रूपसे कार्तिक मासमें नियमसेवाका पालन, (५९) भगवान्‌के जन्मके दिन उत्सव, (६०) श्रद्धापूर्वक श्रीमूर्तिकी पूजा, (६१) रसिक भक्तोंके साथ श्रीमद्भागवतका अर्थ आस्वादन करना, (६२) स्वजातीय स्निग्ध अथवा अपनेसे श्रेष्ठ साधु-सन्तोंका सङ्ग, (६३) श्रीनाम-सङ्कीर्त्तन (६४) मथुरा आदि भगवद्धामोंमें वास।

अन्तिम पाँच अङ्गोंका वर्णन यद्यपि पिछले अङ्गोंके साथ किया गया है तथापि ये पाँच अङ्ग अत्यन्त श्रेष्ठ हैं। इनका नाम पंचाङ्ग-भक्ति भी है। इन सब अङ्गोंका शरीर, इन्द्रियों और अन्तःकरणके द्वारा पालनकर कृष्ण-उपासना की जाती है। २१ से ४९ तकके अङ्ग कृष्ण-दीक्षा आदि द्वितीय अङ्गके अन्तर्गत हैं।

विजय—प्रभो! (१) श्रीगुरु पदाश्रयके सम्बन्धमें हमें कुछ विस्तारपूर्वक शिक्षा दें।

बाबाजी—शिष्य अनन्य कृष्णभक्तिका अधिकारी होकर उपयुक्त गुरुके निकट कृष्णतत्त्व जाननेके लिए श्रीगुरुका पदाश्रय करें। श्रद्धालु होनेपर ही जीव कृष्णभक्तिका अधिकारी होता है। पिछले जन्मोंकी सुकृतियोंके प्रभावसे सन्तोंके मुखसे हरिकथा श्रवणकर हरिके विषयमें जो दृढ़ विश्वास उत्पन्न होता है, उसीका नाम 'श्रद्धा' है। 'श्रद्धा' के साथ—साथ थोड़ी शरणापत्ति भी उदित होती है। श्रद्धा और शरणापत्ति प्रायः एक ही तत्त्व हैं। संसारमें कृष्णभक्ति ही सर्वोन्नत है—कृष्णभक्तिके जो अनुकूल होगा, उसे अपना कर्त्तव्य मानकर करूँगा, श्रीकृष्णभक्तिके प्रतिकूल व्यापारका वर्जन करूँगा; कृष्ण ही मेरे एकमात्र रक्षाकर्त्ता हैं; मैं कृष्णको अपने एकमात्र पालनकर्त्ताके रूपमें वरण करता हूँ, मैं अत्यन्त दीन और अकिञ्चन हूँ और मेरी स्वतन्त्र इच्छा अच्छी नहीं है, कृष्णकी इच्छाका अनुगमन ही सब प्रकारसे कल्याणप्रद है—ऐसा दृढ़ विश्वास जिसे हो गया है, वे ही अनन्य भक्तिके अधिकारी हैं यह अधिकार प्राप्त होते ही जीव भक्तिकी शिक्षाके लिए व्याकुल होकर जहाँ सद्गुरु पाता है, उनका पदाश्रय ग्रहण करता है अर्थात् उनका शिष्य होकर भक्तिकी शिक्षा ग्रहण करता है।

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्। [१]

(मु० उ० १/२/१२)

आचार्यवान् पुरुषो वेद। [२]

(छा० उ० ६/१४/२)

श्रीहरिभक्तिविलासमें (१/२३/६४) सद्‌गुरु और सत्-शिष्यका लक्षण विस्तारपूर्वक दिया गया है। सारार्थ यह है कि शुद्धचरित्रसे युक्त श्रद्धावान पुरुष ही शिष्य होनेके योग्य है तथा शुद्धभक्तिसे सम्पन्न, भक्तितत्त्वविद, चरित्रवान, सरल, निर्लोभ, मायावादशून्य और कार्यदक्ष पुरुष ही सद्गुरु हैं।

---

(१) उस भगवत्-वस्तुका ज्ञान प्राप्त करनेके लिए हाथमें समिधा लेकर वेदको भलीभाँति जाननेवाले और भगवत्सेवापरायण ब्रह्मज्ञ सद्गुरुके पास कायमनोवाक्य सब प्रकारसे विनयपूर्वक गमन करे।

(२) जिसने आचारवान सद्गुरुका आश्रय लिया है, उसने उस परब्रह्मको जान लिया है।

इस प्रकारके गुणोंसे युक्त, सर्व समाज-मान्य ब्राह्मण होनेपर अन्यान्य वर्णके लोगोंके गुरु हो सकते हैं। ब्राह्मणके अभावमें शिष्य अपनेसे उन्नत वर्णके व्यक्तिको गुरु कर सकता है। इन विचारोंका मूल तात्पर्य यह है कि वर्णाश्रमका विचार छोड़कर जहाँ कहीं भी कृष्णतत्त्वविद व्यक्ति मिले, उन्हें गुरु बनाया जा सकता है। यदि ब्राह्मण कुलमें उत्पन्न किसी व्यक्तिमें उपर्युक्त गुण पाये जायें और उन्हें गुरु बनाया जाये तो आर्यवंशमें जन्मे हुए वर्णाभिमानी संसारमें कुछ सुविधा होती है वस्तुतः उपयुक्त भक्त ही गुरु है। शास्त्रमें गुरु-शिष्य परीक्षाके नियम और काल निर्णय किये गये हैं; उसका तात्पर्य यह है कि जिस समय गुरु शिष्यको अधिकारी समझें और शिष्य जब गुरुको शुद्धभक्त समझकर उनके प्रति श्रद्धा करें उसी समय गुरु शिष्यके प्रति कृपा करें।

गुरु दो प्रकारके हाते हैं—दीक्षागुरु और शिक्षागुरु। दीक्षागुरुके निकट दीक्षा ग्रहण करनी चाहिये; साथ-ही-साथ अर्चनके सम्बन्धमें शिक्षा लेनी चाहिये। दीक्षागुरु एक होते हैं और शिक्षागुरु अनेक हो सकते हैं। दीक्षागुरु भी शिक्षागुरुके रूपमें शिक्षा देनेमें समर्थ हैं।

विजयकुमार—दीक्षागुरु अपरित्यज्य हैं अर्थात् गुरुका त्याग नहीं करना चाहिये। ऐसी दशामें यदि गुरुदेव सत्-शिक्षा देनेमें समर्थ न हों तो वे कैसे शिक्षा देंगे?

बाबाजी—गुरु-वरण करनेके समय गुरुको शब्दोक्त तत्त्व (वेदमें कथित तत्त्वमें) और परतत्त्वमें पारङ्गत देखनेके लिए परीक्षा ली जाती है। वैसे गुरु सब प्रकारसे तत्त्व—उपदेश करनेमें अवश्य ही समर्थ होंगे। दीक्षागुरुको त्याग करनेकी विधि नहीं है, परन्तु दो परिस्थितियोंमें उनका त्याग किया जा सकता है। पहली परिस्थिति यह कि गुरु-वरणके समय यदि शिष्यने गुरुकी तत्त्वज्ञता और वैष्णवता आदि गुणोंकी परीक्षा किये बिना ही उन्हें गुरु बना लिया हो, परन्तु वास्तवमें उस गुरु द्वारा कोई कार्य नहीं हुआ हो (अर्थात् उनसे किसी प्रकारका आध्यात्मिक लाभ न प्राप्त हो,) तो वैसे गुरुका परित्याग करना चाहिये। इसके बहुत-से शास्त्र-प्रमाण हैं।

यो व्यक्ति न्यायरहितमन्यायेन शृणोति यः।
तावुभौ नरकं घोरं व्रजतः कालमक्षयम्॥ (३)

नारदपञ्चरात्र (ह० भ० वि० १/६२)

गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः।
उत्पथप्रतिपन्नस्य परित्यागो विधीयते॥ (४)

(महाभारत, उद्योग पर्व १७९/२५ और
ना० पं० १/१०/२०)

---

(३) जो आचार्यके वेशमें अन्याय अर्थात् सात्त्वतशास्त्र विरोधी शिक्षा प्रदान करते हैं और जो (शिष्यरूपमें) अन्याय रूपसे उसे श्रवण करते हैं, वे दोनों ही अनन्त कालके लिए घोर नरकमें पड़ते हैं।

(४) शिष्यको क्या करना चाहिये अथवा क्या नहीं करना चाहिये—इसे जो गुरु नहीं जानते हैं एवं कुसङ्गके प्रभावसे अथवा वैष्णव-विरोधके फलस्वरूप उन्मार्गगामी पाये जानेपर वैसे गुरुका त्याग करना ही कर्त्तव्य है।

अवैष्णवोपदिष्टेन मंत्रेण निरयं व्रजेत्।
पुनश्च विधिना सम्यग् ग्राहयेद्वैष्णवाद् गुरोः॥[५]

(ह. भ. वि. ४/१४४)

दूसरी परिस्थिति यह है कि—गुरु-वरण करनेके समय गुरुदेव वैष्णव और तत्त्वज्ञ थे, परन्तु असत् सङ्गके प्रभावसे बादमें मायावादी या वैष्णव-विद्वेषी हो गये; ऐसी दशामें वैसे गुरुका त्याग करना ही कर्त्तव्य है। यदि वरण किये गये गुरुदेव मायावादी या वैष्णवद्वेषी अथवा पापासक्त न हों, तो अल्पज्ञताके लिए उनका त्याग करना उचित नहीं। ऐसी अवस्थामें उन्हें गुरुका सम्मान प्रदान करते हुए उनसे आज्ञा लेकर किसी दूसरे तत्त्वज्ञ और वैष्णव पुरुषकी सेवा करते हुए उनसे तत्त्वकी शिक्षा ग्रहण करें।

विजय—(२) कृष्ण-दीक्षादि शिक्षाके सम्बन्धमें बतलाइये।

बाबाजी—श्रीगुरुके निकट भगवत्-अर्चन और विशुद्ध भागवत-धर्मकी शिक्षा ग्रहण करते हुए सरल भावसे कृष्ण-सेवा और कृष्णानुशीलन करना चाहिये। अर्चनके अङ्गोंका विवेचन बादमें किया जायेगा। सम्बन्धज्ञान, अभिधेयज्ञान और प्रयोजनज्ञानके सम्बन्धमें श्रीगुरुदेवसे शिक्षा लेनेकी नितान्त आवश्यकता है।

विजय—(३) विश्वासपूर्वक गुरु-सेवा कैसी होती है?

बाबाजी—श्रीगुरुदेवको मरणशील अर्थात् साधारण जीव नहीं समझना चाहिये, बल्कि उन्हें सर्वदेवमय जानना चाहिये। उनकी कभी भी अवज्ञा नहीं करनी चाहिये, उन्हें सर्वदा वैकुण्ठतत्त्व समझना चाहिये।

विजय—(४) साधुमार्गका अनुसरण किसे कहते हैं?

बाबाजी—जिस किसी उपायसे कृष्णके चरणोंमें मन लगाया जाये, उसे साधनभक्ति तो कहा जा सकता है, परन्तु पूर्व-महाजन जिस मार्गका अनुसरण कर गये हैं, उसी मार्गका अनुसरण करना कर्त्तव्य है। इसका कारण यह है कि वह मार्ग सर्वदा दुःखरहित, श्रमरहित और समस्त कल्याणका हेतु होता है।

स मृग्यः श्रेयसां हेतुः पन्थाः सन्तापवर्जितः।
अनवाप्तश्रमं पूर्वे येन सन्तः प्रतस्थिरे॥[६]

(स्कन्दपुराण)

कोई भी पन्थ किसी एक व्यक्ति द्वारा सुन्दर रूपसे निरूपित नहीं होता। पूर्व-महाजनोंने एकके बाद दूसरेने क्रमशः उस भक्तियोग पथको साफ-सुथरा किया है, उस पथकी छोटी-मोटी समस्त विघ्न-बाधाओंको दूरकर उसे सहज और निर्भय बनाया है। इसलिए उसी मार्गका अवलम्बन करना ही कर्त्तव्य है। श्रुति, स्मृति, पुराण और पञ्चरात्र—इन शास्त्रोंकी विधियोंका उल्लंघनकर यदि श्रीहरिकी ऐकान्तिकी अर्थात् अनन्या भक्ति भी की जावे तो उस

---

(५) (स्त्रीसङ्गी और कृष्णभक्तिरहित) अवैष्णव गुरुसे मन्त्र ग्रहण करनेसे नरक होता है। अतएव शास्त्रीय विधियोंसे पुनः वैष्णव गुरुके निकट मन्त्र ग्रहण करना चाहिये।

(६) पूर्व-महाजनोंने जिस मार्गको अत्यन्त सुलभ अर्थात् श्रमरहित जानकर ग्रहण किया है, वही पथ कल्याण-प्राप्तिके लिए सन्तापरहित है, अतएव वही पथ एकमात्र ग्रहण करने योग्य है।

भक्तिसे कभी भी कल्याण नहीं हो सकता, बल्कि उसे उत्पातका हेतु ही समझना चाहिये—

श्रुति-स्मृति-पुराणादि-पञ्चरात्र-विधिं बिना।
ऐकान्तिकी हरेर्भक्तिरुत्पातायैव कल्पते॥

ब्रह्मयामल (भक्तिरसामृतसिन्धु)

विजय—हरिके प्रति अनन्या भक्ति उत्पातका कारण कैसे हो सकती है, कृपया स्पष्ट कर बतलाइये।

बाबाजी—शुद्धभक्तिका ऐकान्तिक भाव अर्थात् अनन्य भाव पूर्व-महाजन-पथका अवलम्बन करनेसे ही प्राप्त होता है। पूर्व-महाजन-पथको छोड़कर किसी दूसरे पथकी सृष्टि करनेसे ऐकान्तिक भाव प्राप्त नहीं होता। इसीलिए शुद्धभक्तिको समझ न सकनेके कारण उसके कुछ-कुछ भावाभासको ग्रहणकर दत्तात्रेय, बुद्ध आदि अर्वाचीन प्रचारकोंमेंसे किसीने मायावादमिश्र, किसीने नास्तिकतामिश्र एक-एक क्षुद्र पन्थ प्रदर्शनकर उसीमें ऐकान्तिकी हरिभक्तिका आरोप किया है, परन्तु वास्तवमें उन लोगोंके द्वारा प्रवर्तित पथ हरिभक्ति नहीं है, उत्पात-विशेष हैं। रागमार्गीय भजनमें श्रुति-स्मृति-पुराण-पञ्चरात्रादि विधियोंकी अपेक्षा नहीं रहती। वहाँ तो केवल व्रजजनानुगमनकी अपेक्षा होती है। परन्तु विधिमार्गके अधिकारी साधकोंको ध्रुव, प्रह्लाद, नारद, व्यास और शुक आदि महाजनों द्वारा निर्दिष्ट एकमात्र भक्तिपथका अवलम्बन करना आवश्यक है। अतएव वैधभक्तोंके लिए साधुमार्ग अनुसरणके अतिरिक्त कोई भी दूसरा उपाय नहीं है।

विजय—(५) सद्धर्मकी जिज्ञासा कैसी होती है?

बाबाजी—सद्धर्मका अर्थ सच्चा धर्म अथवा सच्चे साधुओंका धर्म है। सद्धर्म समझनेके लिए अत्यन्त आग्रहपूर्वक जिज्ञासा करनेको ही सद्धर्मकी जिज्ञासा कहते हैं।

विजय—(६) कृष्णके उद्देश्यसे भोग आदिका त्याग किसे कहते हैं?

बाबाजी—आहार-विहार आदि द्वारा सुख भोगनेका नाम भोग है। यह भोग प्रायः भजन—विरोधी होता है। कृष्णभजनके उद्देश्यसे ऐसे-ऐसे भोगोंका परित्याग करनेसे भजन सुलभ होता है। मद्यपान करनेवाले व्यक्तिकी तरह भोगमें आसक्त व्यक्ति भोगोंको भोगनेमें इस प्रकार लिप्त रहता है कि वह शुद्धभजन नहीं कर सकता।

अतएव केवल भगवत्-प्रसादका ही सेवन करना चाहिये। सेवाके उपयोगी—शरीरकी रक्षा करना भी कर्त्तव्य है, एकादशी, जन्माष्टमी, रामनवमी, फाल्गुनी-पूर्णिमा, नृसिंहचतुर्दशी आदिके दिन समस्त प्रकारके भोगोंका त्याग करना चाहिये।

विजय—(७) द्वारका आदि धामोंमें तथा गङ्गाके निकट वासका तात्पर्य क्या है?

बाबाजी—जिन-जिन स्थानोंमें भगवान्‌की जन्म आदि लीलाएँ हुई हैं, उन स्थानों और गङ्गा-यमुना आदि पुण्य सलिला नदियोंके निकट वास करनेसे भक्तिनिष्ठा उत्पन्न होती है।

विजय—श्रीनवद्वीपमें वास करनेसे जो पवित्रता होती है, वह गङ्गाके कारण होती है या इसका कोई दूसरा कारण भी है?

बाबाजी—अहा! श्रीनवद्वीपके सोलह कोसके भीतर जहाँ भी वास क्यों न किया जाये, उससे वृन्दावनमें ही वास होता है, विशेषकर मायापुरमें यदि वास किया जाये। अयोध्या, मथुरा, गया, काशी, काञ्ची, अवन्तिका और द्वारका—इन सात मोक्षदायिका पुरियोंमें यह 'श्रीमायापुर' अतिशय प्रधान तीर्थ है। इसका कारण यह है कि यहाँपर श्रीमन् महाप्रभुने

अपने नित्यधाम-श्वेतद्वीपको अवतीर्ण कराया है। श्रीमन् महाप्रभुके चार शताब्दी बाद यह श्वेतद्वीप पृथ्वीके समस्त तीर्थ स्थलोंकी अपेक्षा प्रधान तीर्थस्थान होगा। यहाँ वास करनेसे समस्त प्रकारके अपराध दूर हो जाते हैं तथा शुद्धाभक्ति प्राप्त होती है। श्रीप्रबोधानन्द सरस्वतीने इस धामको वृन्दावनसे अभिन्न मानकर भी किसी विषयमें इसका माहात्म्य अधिक दिखलाया है।

विजय—जीवननिर्वाहोपयोगी अर्थ या विषय स्वीकारका तात्पर्य क्या है?

बाबाजी—'नारदीयपुराण' में कहा गया है—

यावता स्यात् स्वनिर्वाहः स्वीकुर्यात्तावदर्थवित्।
आधिक्ये न्यूनतायां च च्यवते परमार्थतः॥[७]

वैधीभक्तिके अधिकारी वर्णाश्रमधर्मके अनुसार निर्धारित सदुपायोंके द्वारा अर्थ-उपार्जन कर जीवन निर्वाह करें। आवश्यकताके अनुसार अर्थ स्वीकार करनेसे कल्याण होता है—आवश्यकतासे अधिक ग्रहण करनेकी लालसासे आसक्ति होती है, जो भजनको क्रमशः नष्ट कर देती है। आवश्यकतासे कम स्वीकार करना भी अहितकर होता है, क्योंकि ऐसा होनेसे अभाव उपस्थित होकर भजनको क्षीण कर देता है। इसलिए जब तक निरपेक्ष होनेका अधिकार प्राप्त न हो जाये, तब तक जीवननिर्वाहोपयोगी अर्थादि स्वीकार करते हुए शुद्ध भक्तिका अनुशीलन करना चाहिये।

विजय—(८) हरिवासरका सम्मान कैसा होता है?

बाबाजी—शुद्धा एकादशीका नाम हरिवासर है। विद्धा एकादशीका त्याग करना चाहिये। महाद्वादशी उपस्थित होनेपर एकादशी छोड़कर द्वादशीका पालन करना चाहिये। पूर्व-दिन ब्रह्मचर्य, हरिवासरके दिन निरम्बु उपवास और रात्रि-जागरणके साथ निरन्तर भजन और उपवासके दूसरे दिन ब्रह्मचर्य और उपयुक्त समयपर पारण करना—यही हरिवासरका सम्मान करना है। महाप्रसादका त्याग किये बिना निरम्बु (बिना जल पीये) उपवास नहीं होता। सामर्थ्यहीन अथवा शक्तिहीनकी अवस्थामें प्रतिनिधि या अनुकल्पकी व्यवस्था है—**'नक्तं हविष्यानं'** (हरिभक्तिविलास १२/३९, धृत वायुपुराण) वचनोंके द्वारा अनुकल्पकी विधि है।[८]

---

(७) जिस मात्रामें विषयोंको स्वीकार करनेसे आपकी भक्तिका निर्वाह हो, धनवान् पुरुष उसी मात्रामें धनादि ग्रहण करेंगे। क्योंकि आवश्यकतासे अधिक या अल्प ग्रहण करनेसे परमार्थसे भ्रष्ट होना पड़ता है।

(८) प्रतिनिधि द्वारा उपवासकी विधि (हरिभक्तिविलास १२/३४)—"उपवासे त्वशक्तस्य आहिताग्नेरथापि वा। पुत्रान् वा कारयेदन्यान् ब्राह्मणान् वापि कारयेत्॥" अर्थात् साग्निक ब्राह्मण उपवास करनेमें असमर्थ होनेपर पुत्रों द्वारा अथवा ब्राह्मणों द्वारा उपवास करवायेंगे।

हविष्यान्न आदि द्वारा उपवासकी विधि (ह० भ० वि० १२/३९ धृत वायुपुराण)—"नक्तं हविष्यान्नमनोदनम्बा फलं तिलाः क्षीरमथाम्बुचाज्यं। यत् पञ्चगव्यं यदि वापि वायुः प्रशस्तमत्रोत्तरमुत्तरञ्च॥" अर्थात् रातमें हविष्यान्न, अन्न छोड़कर दूसरे-दूसरे द्रव्य, फल, तिल, दुग्ध जल, घृत, पञ्चगव्य अथवा वायु—ये सब वस्तुएँ क्रमसे एकसे दूसरी श्रेष्ठ हैं। महाभारत उद्योग पर्वके अनुसार जल, मूल, फल, दुग्ध, घृत, ब्राह्मण कामना, गुरु-वचन तथा औषधि—इन आठोंसे व्रत नष्ट नहीं होते—"अष्टैतान्य-व्रतघ्नानि आपो मुलं फलं पयः।

विजय—(९) आँवला—पीपल आदि वृक्षोंको गौरव प्रदान करना कैसे होता है?

बाबाजी—आँवला, पीपल, तुलसी, गो, ब्राह्मण एवं वैष्णव—इनकी पूजा करनेसे, इनका ध्यान करनेसे तथा इन्हें नमस्कार करनेसे मनुष्यके पाप नष्ट होते हैं—

अश्वत्थ तुलसी-धात्री-गो-भूमि-सुर-वैष्णवाः।
पूजिताः प्रणता ध्याताः क्षपयन्ति नृणामघम्॥

(स्कन्दपुराण)

वैधीभक्तिका अधिकारी इस संसारमें रहकर जीवनयात्रा निर्वाहके लिए उपयोगी पीपल आदि छायादार वृक्ष, आँवला आदि फलयुक्त वृक्ष, तुलसी आदि भजनीय वृक्ष, गाय आदि उपकारी पशु, ब्राह्मण अर्थात् धर्म शिक्षक और समाजरक्षक एवं भक्त-वैष्णव—इन सबका पूजन और ध्यान करनेके लिए तथा इन्हें प्रणाम करनेके लिए बाध्य है। इन कार्योंके द्वारा वे संसारकी रक्षा करें।

विजय—(११) कृष्ण-बहिर्मुख व्यक्तियोंके सङ्गत्यागके विषयमें विस्तारपूर्वक बतलाइये।

बाबाजी—भाव उदित होनेपर भक्ति गाढ़ी होती है। जब तक भावका उदय न हो, तब तक भक्ति-विरोधी सङ्गका परित्याग करना आवश्यक है। 'सङ्ग' शब्दसे आसक्तिका बोध होता है। अतः दूसरे लोगोंके साथ जो निकटता होती है अथवा बातचीत होती है उसे 'सङ्ग' नहीं कहते हैं। सङ्ग तो तब होता है, जब उस निकटता अथवा बातचीतमें आसक्ति होती है। भगवत्-विमुख लोगोंका सङ्ग नितान्त वर्जनीय है। भावके उदय हो जानेपर बहिर्मुख सङ्गके प्रति कभी स्पृहा नहीं होती। वैधीभक्तिके अधिकारियोंको ऐसे सङ्गसे सर्वदा दूर रहना चाहिये। पेड़-पौधे जिस प्रकार दूषित वायुसे तथा अधिक गरमीके कारण नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार कृष्ण-विमुखतासे भक्तिलता भी सूख जाती है।

विजय—कृष्ण-विमुख कौन हैं?

बाबाजी—कृष्णभक्तिरहित विषयी (भोगोंमें आसक्त), स्त्रीसङ्गी (स्त्री-सङ्गमें आसक्त), मायावाद और नास्तिकता दोषोंसे कलुषित हृदयवाले एवं कर्मजड़—ये चार प्रकारके लोग कृष्ण-विमुख हैं। इन चार प्रकारके लोगोंका सङ्ग दूरसे त्याग करना चाहिये।

विजय—(१२) अनाधिकारीको शिष्य न करनेके विषयमें जाननेयोग्य विशेष बातें क्या हैं?

बाबाजी—धनके लोभसे बहुत शिष्य करना एक प्रधान दोष है। अनेक शिष्य बनानेके लिए ऐसे-ऐसे व्यक्तियोंको भी शिष्य करना पड़ता है, जिनके हृदयमें श्रद्धाका भी अभाव होता है। अश्रद्धालुको शिष्य करनेसे अपराध होता है। श्रद्धालु पुरुषोंके अतिरिक्त दूसरे शिष्य होनेके योग्य नहीं हैं।

विजय—(१३) आडम्बरपूर्ण उद्यमों (महोत्सव आदि) का परित्यागका क्या तात्पर्य है?

बाबाजी—संक्षेपमें जीवन-निर्वाह करते हुए भगवद्भजन करना चाहिये। विराट् व्यापार आरम्भ करनेसे उनके प्रति ऐसी आसक्ति होती है कि भजनमें मन नहीं लगता।

विजय—(१४) नाना प्रकारके ग्रन्थोंका पठन-पाठन और व्याख्यावाद परित्यागका तात्पर्य क्या है?

हविर्ब्राह्मणकाम्य च गुरोर्वचनमौषधम्॥"

बाबाजी—शास्त्र समुद्रके समान हैं। जिस विषयकी शिक्षा लेनी है, उस विषयके ग्रन्थोंका आद्योपान्त विवेचनपूर्वक अध्ययन करना अच्छा है। अनेक ग्रन्थोंको थोड़ा-थोड़ा पढ़नेसे किसी भी विषयका पूर्ण ज्ञान नहीं होता। विशेषतः भक्तिशास्त्रोंका यदि मन लगाकर सावधानीसे अध्ययन न किया जाये तो सम्बन्धतत्त्व-सम्बन्धी बुद्धिका उदय नहीं होता। ध्यान रहे कि ग्रन्थोंका सरल अर्थ ही लिया जाये, अर्थवाद करनेसे विपरीत सिद्धान्त हो पड़ते हैं।

विजय—(१५) व्यवहारमें कृपणताका परित्याग किसे कहते हैं?

बाबाजी—जीवनयात्रा निर्वाहके लिए भोजन और आच्छादनके उपयोगी द्रव्योंका संग्रह आवश्यक है। द्रव्योंके न होनेपर कष्ट होता है और मिलनेपर भी नष्ट होनेपर कष्ट होता है। इस प्रकार दुखोंके उपस्थित होनेपर भक्तजन घबड़ायें नहीं, बल्कि मन-ही-मन भगवान्का स्मरण करते रहें।

विजय—(१६) शोक आदिसे कैसे बचा जाये

बाबाजी—शोक, भय, क्रोध, लोभ और मत्सरतासे भरपूर चित्तमें श्रीकृष्णका स्फुरण नहीं होता। बन्धु-बान्धवोंके विच्छेदसे तथा कामनाओंमें बाधा पड़नेके कारण शोक—मोह आदि हो सकते हैं, परन्तु उन शोक, मोह आदिके अधीन होकर पड़े रहना उचित नहीं। पुत्र-वियोग होनेपर अवश्य ही शोक होगा, परन्तु हरिचिन्तन द्वारा उस शोकको दूर करना आवश्यक है। इस प्रकार भगवान्के चरणकमलोंमें चित्तको स्थिर रखनेका अभ्यास करना उचित है।

विजय—(१७) अन्यान्य देवताओंकी अवज्ञा नहीं करनी चाहिये—क्या इससे यह समझा जाये कि उन-उन दूसरे देवताओंकी पूजा करनी चाहिये?

बाबाजी—कृष्णके प्रति अनन्याभक्ति होनेकी आवश्यकता है। श्रीकृष्ण समस्त देवताओंके मूल देवता हैं। यद्यपि किसी भी देवताको श्रीकृष्णसे स्वतन्त्र समझकर पूजन नहीं करना चाहिये, तथापि दूसरे लोगोंको देवताओंकी पूजा करते देखकर न तो उन देवताओंकी पूजा करनी चाहिये और न ही उनकी अवज्ञा। समस्त देवताओंको श्रीकृष्णका सेवक समझकर उन्हें सम्मान देते हुए एकमात्र कृष्णका ही निरन्तर स्मरण करना चाहिये। जीवका अन्तःकरण जब तक निर्गुण नहीं हो जाता, तब तक वहाँ अनन्य भक्ति उदित नहीं होती। जिनका चित्त (अन्तःकरण) सत्त्व, रज और तम—त्रिगुणसे आच्छादित है, वे अपने-अपनेमें प्रबल रहनेवाले गुणोंके अनुसार उन-उन गुणोंवाले देवताओंकी पूजा किया करते हैं, उनके अधिकारके अनुसार ही उनकी वैसी निष्ठा होती है। इसलिए उन लोगोंके उपास्य देवताओंके सम्बन्धमें किसी प्रकारसे अनादरका भाव प्रकट नहीं करना चाहिये। उन देवताओंकी कृपासे क्रमोन्नति होते-होते उन उपासकोंका चित्त कभी निर्गुण हो जायेगा।

विजय—(१८) "प्राणीमात्रको उद्वेग नहीं देना चाहिये" के सम्बन्धमें बतलाइये।

बाबाजी—जो प्राणीमात्रके प्रति दयाका भाव रखते हैं, उन्हें किसी प्रकार भी तन-मन-वचनसे उद्वेग नहीं देते, उनके प्रति श्रीकृष्ण शीघ्र ही सन्तुष्ट होते हैं। दया—वैष्णवोंका प्रधान धर्म है।

विजय—(१९) सेवापराध और नामापराधका वर्जन कैसे हो?

बाबाजी—अर्चनके सम्बन्धमें सेवापराधका और साधारणतः भक्तिके सम्बन्धमें नामापराधका विशेष सावधानीसे वर्जन करना चाहिये। सवारीपर चढ़कर या पादुकाके साथ

भगवान्‌के मन्दिरमें प्रवेश आदि बत्तीस प्रकारके सेवापराध हैं। साधु-निन्दा, गुरुदेवकी अवज्ञा आदि दस प्रकारके नामापराध हैं। इन दोनों प्रकारके अपराधोंका अवश्य ही वर्जन करना चाहिये।

विजय—(२०) भगवान् और भक्तिकी निन्दा आदि सुनकर सहन न करना—इस उपदेशके अनुसार क्या निन्दा करनेवालेसे उसी समय झगड़ा करनेकी विधि भी है?

बाबाजी—जो लोग श्रीकृष्ण और वैष्णवोंकी निन्दा करते हैं, वे कृष्णविमुख हैं; ऐसे लोगोंका सङ्ग सब प्रकारसे छोड़ देना चाहिये।

विजय—इन पूर्वोक्त २० अङ्गोंके साथ दूसरे अङ्गोंका क्या सम्बन्ध है?

बाबाजी—इनके बाद वाले ४४ अङ्ग इन पूर्वोक्त २० अङ्गोंके ही अन्तर्भूत हैं। विस्तारपूर्वक समझानेके लिए इन्हें अलग-अलग अङ्गोंके रूपमें दिखलाया गया है। (२१) 'वैष्णव चिह्न-धारण' से लेकर (५०) 'कृष्णको प्रियवस्तु समर्पण' तक ३० अङ्ग अर्चन मार्गके अन्तर्भूत हैं—

(२१) गलेमें त्रिकण्ठी तुलसीकी माला और शरीरमें द्वादश तिलक धारण करनेका नाम वैष्णव चिह्न-धारण करना है। साधक वैष्णव चिह्नोंको अवश्य धारण करें।

(२२) 'हरे कृष्ण' आदि नाम अथवा पंचतत्त्वोंके नाम आदि चन्दनके द्वारा अपने श्रेष्ठ अङ्गोंपर धारण करनेका नाम हरिनामाक्षर धारण है।

(२३)

त्वयोपभुक्त-स्रग्—गन्ध-वासोऽलंकार—चर्चिताः।
उच्छिष्टभोजिनो दासास्तव मायां जयेम हि॥ [९]

भागवतके इस (११/६/४६) श्लोकमें निर्माल्य धारणकी विधि दी गयी है। (२४) कृष्णके आगे नृत्य, (२५) दण्डवत् प्रणाम, (२६) अभ्युत्थान अर्थात् श्रीविग्रहका आगमन होते देखकर उठकर खड़ा होना, (२७) अनुव्रज्या अर्थात् श्रीमूर्त्तिके पीछे-पीछे चलना, (२८) कृष्णके मन्दिरमें जाना, (२९) परिक्रमा अर्थात् श्रीमूर्तिको दाहिने रखकर तीन बार प्रदक्षिणा करना, (३०) अर्चन अर्थात् विभिन्न उपचारों द्वारा श्रीमूर्तिकी पूजा करना—कतिपय अङ्गोंकी पृथक् व्याख्याकी आवश्यकता नहीं है।

(३१) परिचर्या तु सेवोपकरणादिपरिष्क्रिया।
तथा प्रकीर्णकच्छत्रवादित्राद्यैरुपासना॥

(भ० र० सि० १/२/१४०)

अर्थात् राजाकी तरह श्रीकृष्णकी सेवा करनेको परिचर्या कहते हैं। यह परिचर्या दो प्रकारकी होती है। जैसे—उपकरणोंको साफ-सुथरा करना एवं चामर और वाद्यादि द्वारा सेवा या उपासना।

(३२) गान, (३३) सङ्कीर्त्तन, (३४) विज्ञप्ति अर्थात् दैन्यसूचक वाणी-प्रयोग, (३६)

---

(९) हमने आपकी धारण की हुई माला पहनी, आपके लगाये हुए चन्दन लगाये, आपके उतारे हुए वस्त्र पहने और आपके धारण किये हुए आभूषणोंसे अपने आपको सजाते रहे। हम आपकी जूठन खानेवाले सेवक हैं। इसलिए हम आपकी मायापर अवश्य ही विजय प्राप्त कर लेंगे।

स्तव-पाठ, (३७) नैवेद्यका आस्वादन, (३८) चरणोदकका आस्वादन, (३९) धूप और माला आदिका सौरभ ग्रहण करना, (४०) श्रीमूर्तिका स्पर्श, (४१) श्रीमूर्त्तिका दर्शन करना, (४२) आरती उतारना, (४३) श्रीकृष्णके नाम, रूप, गुण और लीला-कथाओंका श्रवण, (४४) सर्वत्र कृष्ण-कृपाका अनुभव करना, (४५) स्मरण अर्थात् कृष्णके नाम-रूप-गुण और उनकी लीला-कथाओंका स्मरण, (४६) ध्यान—ये कतिपय अङ्ग बिलकुल ही स्पष्ट हैं। (४७) कर्मोंका अर्पण और किङ्कर होना—यह दो प्रकारका दास्य है, (४८) सख्य दो प्रकारका होता है—विश्वास और मित्रवृत्ति, (४९) 'आत्मनिवेदन' शब्दका अर्थ यह है कि आत्म शब्दसे देहीकी 'अहंता' और देह-निष्ठ 'ममता'—इन दोनोंको कृष्णके प्रति अर्पण करना।

विजय—देहीकी अहंता और देह-निष्ठ ममता—इन दोनोंको और भी स्पष्ट करनेकी कृपा करें।

बाबाजी—शरीरके भीतर जो जीव है, वह देही और 'अहं' कहलाता है। उसे अवलम्बनकर जो 'मैं' की बुद्धि होती है, उसीको देही-निष्ठ अहंता कहते हैं; देहमें जो 'मेरी' की बुद्धि होती है, उसे देह-निष्ठ ममता कहते हैं। इन 'मैं' और 'मेरी' दोनोंको श्रीकृष्णके प्रति अर्पण करना चाहिये। 'मैं' और 'मेरा' इस बुद्धिको छोड़कर "मैं कृष्णका प्रसाद भोजन करनेवाला कृष्णका दास हूँ" और यह शरीर कृष्णकी सेवाका उपयोगी एक यन्त्र है—इस बुद्धिसे शरीर-यात्राका निर्वाह करना ही आत्मनिवेदन है।

विजय—प्रिय वस्तुओंको कृष्णके प्रति कैसे अर्पण करना चाहिये?

बाबाजी—(५०) संसारमें जो चीज अच्छी लगे, उसे कृष्ण-सम्बन्धी करके ग्रहण करनेको प्रिय वस्तुओंको कृष्णके प्रति अर्पण करना है।

विजय—(५१) कृष्णके उद्देश्यसे अखिल चेष्टाएँ कैसे हों?

बाबाजी—लौकिकी और वैदिकी समस्त प्रकारकी क्रियाओंको हरि-सेवाके अनुकूल करनेसे श्रीकृष्णके उद्देश्यसे अखिल चेष्टाओंका करना हो जाता है।

विजय—(५२) सब प्रकारसे शरणापत्ति ग्रहण करना कैसे हो सकता है?

बाबाजी—हे भगवान्, मैं तुम्हारा हूँ—इस प्रकार मन और वाणीसे कहना और "हे भगवान्, मैं तुम्हारी शरणमें हूँ"—ऐसी भावनाको शरणापत्ति कहते हैं।

विजय—(५३) तुलसीकी सेवा कैसे की जाये?

बाबाजी—तुलसीकी सेवा नौ प्रकारसे होती है—तुलसीका दर्शन, तुलसीका स्पर्श, तुलसीका ध्यान, तुलसीका कीर्त्तन, तुलसीको प्रणाम, तुलसीका माहात्म्य सुनना, तुलसीका पौधा लगाना, तुलसीकी सेवा और तुलसीका नित्य पूजन।

विजय—(५४) शास्त्रका सम्मान करना कैसे होता है?

बाबाजी—भगवद्भक्ति-प्रतिपादक शास्त्र ही 'शास्त्र' हैं; उनमें श्रीमद्भागवत ही सर्वश्रेष्ठ है; क्योंकि ये सर्व-वेदान्त सार—स्वरूप हैं; इनके रसरूप अमृतका आस्वादन करनेवालेको किसी भी दूसरे शास्त्रके प्रति रुचि नहीं होती।

विजय—(५५) कृष्णके जन्मस्थान मथुराका माहात्म्य क्या है?

बाबाजी—मथुराके सम्बन्धमें श्रवण, कीर्त्तन और स्मरण; वहाँ जानेकी इच्छा और दर्शन, स्पर्शन, वहाँ वास करना तथा उनकी सेवा—इन क्रियाओंसे अभिलाषा पूर्ण होती है।

श्रीमायापुरके सम्बन्धमें भी इसी प्रकार जानो।

विजय—(५६) वैष्णव-सेवाका तात्पर्य क्या है?

बाबाजी—वैष्णव भगवान्‌के अधिक प्रिय हैं। वैष्णवकी सेवा करनेसे भगवान्‌के प्रति भक्ति होती है। शास्त्रमें ऐसा कहा गया है कि समस्त देवताओंकी आराधनासे विष्णुकी आराधना श्रेष्ठ है और विष्णुकी आराधनासे भी उनके सेवक वैष्णवोंकी पूजा श्रेष्ठ है।

विजय—(५७) शक्तिके अनुसार महोत्सवका क्या तात्पर्य है?

बाबाजी—भगवान्‌के मन्दिर आदिमें अपनी शक्तिके अनुसार द्रव्यादि संग्रहकर भगवत्सेवा पूर्वक शुद्ध वैष्णवोंकी सेवाको महोत्सव कहते हैं—इससे श्रेष्ठ उत्सव संसारमें और कुछ भी नहीं है।

विजय—(५८) कार्तिक महीनेका समादर क्या है?

बाबाजी—कार्त्तिक मासका नाम ऊर्जा है। इस महीनेमें नियमित रूपसे श्रवण, कीर्तन आदि भक्तिके अंगोंके पालन द्वारा श्रीदामोदरकी सेवा करनेका नाम 'ऊर्जादर' अर्थात् ऊर्जाका आदर करना है।

विजय–(५९) जन्मके दिन यात्रा—उत्सव पालन कैसे होता है?

बाबाजी—भाद्रपदकी कृष्णाष्टमी और फाल्गुन महीनेकी पूर्णिमाके दिन उत्सव करनेका नाम 'श्रीजन्मयात्रा' है। शरणागतजनोंको इनका अवश्य पालन करना चाहिये।

विजय—(६०) श्रद्धापूर्वक श्रीमूर्तिकी परिचर्या कैसे होती है?

बाबाजी—श्रीमूर्त्तिकी सेवा-पूजामें प्रीतिपूर्ण उत्साहका होना अत्यन्त आवश्यक होता है। जो लोग परम उत्साहसे श्रीमूर्त्तिकी सेवा पूजा करते हैं, कृष्ण उनको केवल मुक्तिरूप तुच्छ फल न देकर, भक्तिरूप महाफल तक दान करते हैं।

विजय—(६१) रसिकजनोंके सङ्गमें भागवतका अर्थ किस प्रकार आस्वादन किया जा सकता है?

बाबाजी—वेदरूप कल्पवृक्षका सुमिष्ठ रस श्रीमद्भागवत है। रसविमुख व्यक्तियोंके सङ्गमें श्रीमद्भागवतका रसास्वादन नहीं होता, उलटा अपराध होता है। जो श्रीभागवतके रसज्ञ अर्थात् शुद्धभक्तिके अधिकारी हैं—कृष्णके लीलारसके पिपासु हैं, उनके सङ्गमें श्रीमद्भागवतके श्लोकोंका रसास्वादन करना चाहिये। साधारण सभाओंमें श्रीमद्भागवतका पाठ करने या श्रवण करनेसे शुद्धभक्तिका लाभ नहीं होता।

विजय—(६२) स्वजातीयाशय-स्निग्ध भक्तजनोंका सङ्ग किसे कहते हैं?

बाबाजी—सत्सङ्गके नाम पर अभक्तलोगोंका सङ्ग करनेसे भक्तिकी उन्नति नहीं होती। श्रीकृष्णकी अप्राकृत लीलामें सेवा प्राप्त करना ही भक्तजनोंके लिए अभीष्ट होता है; ऐसी अभिलाषा जिनको है, उन्हें 'भक्त' कहा जा सकता है, वैसे भक्तोंमें अपनेसे श्रेष्ठ भक्तोंका सङ्ग करनेसे भक्तिकी उन्नति होती है। ऐसा नहीं होनेसे भक्तिकी उन्नति रुक जाती है और जिस श्रेणीके लोगोंका सङ्ग किया जाता है, उसी प्रकारका स्वभाव हो पड़ता है। हरिभक्तिसुधोदय (८/५१) में सङ्गके सम्बन्धमें इस प्रकार कहा गया है—

यस्य यत्संगतिः पुंसो मणिवत् स्यात् स तदगुणः।
स्वकुलद्धयै ततो धीमान् स्वयूथान्येव संश्रयेत्॥

अर्थात् जैसे मणिको जिस रङ्गकी वस्तुके साथ रखा जाये, उस वस्तुके समान ही

मणिका रङ्ग दिखलायी पड़ता है, उसी प्रकार जिस पुरुषका जैसा सङ्ग होता है, उसीके अनुरूप उसका स्वभाव हो जाता है। अतएव शुद्ध सन्तोंके सङ्गसे शुद्ध सन्त हुआ जाता है। साधुसङ्ग (सत्सङ्ग) सब प्रकारसे कल्याणप्रद होता है। शास्त्रोंमें जो निःसङ्ग होनेका परामर्श दिया गया है, उसका तात्पर्य साधुसङ्ग करनेको कहा गया है।

विजय—(६३) नामसङ्कीर्त्तन किसे कहते हैं?

बाबाजी—नाम अप्राकृत चैतन्यरस हैं, उनमें जड़ भावकी तनिक भी गन्ध नहीं है। भक्त जीवकी सेवा-वृत्तिसे भक्ति-शोधित रसना आदिपर श्रीनाम स्वयं स्फूर्ति लाभ करते हैं। नाम जड़ इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण नहीं किये जा सकते। इस प्रकार निरन्तर स्वयं और दूसरोंके साथ मिलकर नामसङ्कीर्त्तन करना चाहिये।

विजय—(६४) मथुरा अर्थात् जन्मस्थानमें वास करनेके सम्बन्धमें आपकी कृपासे हमलोग कुछ समझ गये हैं, अब इनका सार बतलानेकी कृपा करें।

बाबाजी—अन्तिम पाँच अङ्ग सर्वश्रेष्ठ हैं। अपराधसे दूर रहकर इनसे थोड़ा-सा भी सम्बन्ध स्थापन करनेसे इनके अत्यन्त अद्भुत प्रभावसे भावावस्थाका उदय होता है।

विजय—इन साधनोंके सम्बन्धमें यदि और भी कुछ जानने योग्य हो, तो कृपया बतलावें।

बाबाजी—भक्तिके इन अङ्गोंके कुछ अवान्तर फलोंका वर्णन शास्त्रोंमें पाया जाता है। इन अवान्तर फलोंका वर्णन बहिर्मुख लोगोंमें भजनकी रुचि पैदा करनेके लिए है। इन समस्त अङ्गोंका मुख्यफल कृष्णरतिको प्रकाशित करना है। भक्तिके जानकारोंके समस्त कार्य भक्तिके अङ्गरूपमें होने चाहिये, कर्माङ्गके रूपमें नहीं। ज्ञान और वैराग्यके द्वारा कभी-कभी किसीको भक्ति-मन्दिरमें प्रवेशाधिकारकी थोड़ी-सी अनुकूलता प्राप्त होती है, तथापि ज्ञान और वैराग्य भक्तिके अङ्ग नहीं हैं। इसका कारण यह है कि ये चित्तको कठोर बना देते हैं, परन्तु भक्ति सुकुमार स्वभावकी होती हैं। भक्तिसे जो ज्ञान और वैराग्य अपने आप उपस्थित होते हैं, वे ही स्वीकृत हैं, ज्ञान और वैराग्य भक्तिके कारण नहीं हो सकते; ज्ञान और वैराग्य जो दे नहीं सकते, भक्ति द्वारा वह सहज ही पाया जाता है। साधनभक्ति हरिभजनमें ऐसी रुचि उत्पन्न कराती है कि अत्यन्त कठिन विषयराग अर्थात् विषयोंके प्रति रहनेवाली आसक्ति भी दूर हो जाती है।

साधकके लिए युक्त-वैराग्य ही आवश्यक है, फल्गु-वैराग्य (कपट-वैराग्य) से सर्वदा दूर रहना चाहिये। समस्त विषयोंको कृष्णसे सम्बन्धयुक्त कर अनासक्त भावसे आवश्यकतानुसार (यथायोग्य) उन विषयोंको ग्रहण करनेका नाम युक्तवैराग्य है। हरि-सम्बन्धी वस्तुओंको सांसारिक मानकर मुक्तिके लोभसे उनका परित्याग करनेको फल्गु-वैराग्य कहते हैं। इसलिए आध्यात्मिक ज्ञान और फल्गु-वैराग्य परित्याग करना ही उचित है। धन और शिष्य आदिके उद्देश्यसे जो भक्ति प्रदर्शित होती है, वह शुद्ध भक्तिसे बहुत दूर होती है, इसलिए वैसी दिखावटी-भक्ति भक्तिका अङ्ग नहीं है। विवेक आदि गुण भक्तिके अधिकारियोंके गुण हैं, अतः वे भी भक्तिके अङ्ग नहीं हैं। यम, नियम, शौचाचार आदि कृष्णके प्रति उन्मुख व्यक्तियोंमें स्वयं उपस्थित होते हैं, इसलिए ये भी भक्तिके अङ्ग नहीं हैं। अन्तःशुद्धि, बहिःशुद्धि, तप और शम आदि गुण भी कृष्णभक्तोंको स्वयं आश्रय करते हैं, उनके लिए भक्तको प्रयत्न नहीं करना पड़ता है। भक्तिके जो अङ्ग बतलाये गये हैं, उनमें कई-एक

प्रधान अङ्ग हैं। उन प्रधान अङ्गोंमेंसे किसी एक अङ्गके अथवा अनेकाङ्गोंके साधनमें निष्ठा होनेसे सिद्धि प्राप्त होती है। मैंने वैधी साधनभक्तिके सम्बन्धमें सारी बातें संक्षेपमें बतला दी हैं। अब तुम लोग हृदयमें भावनापूर्वक अच्छी तरहसे समझ लेना और अपने भरपूर सामर्थ्य द्वारा उनका आचरण करना।

ब्रजनाथ और विजयकुमार बाबाजीके उपदेशोंको सुनकर उनके चरणोंमें साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणामकर बोले—प्रभो! आप कृपाकर हमारा उद्धार करें। हम लोग अभिमानरूपी गड्ढेमें बुरी तरह फँसे हुए हैं।

बाबाजीने कहा—कृष्ण अवश्य ही तुम लोगोंपर कृपा करेंगे। रात अधिक होनेपर मामा और भागिनेय घर लौटे।

॥बीसवाँ अध्याय समाप्त॥

इक्कीसवाँ अध्याय

प्रमेयान्तर्गत अभिधेय-विचार-रागानुगा साधनभक्ति

वैध साधनभक्ति सम्बन्धी विचारोंको सुनकर विजयकुमार और ब्रजनाथ बड़े ही प्रभावित हुए। दोनोंने परस्पर मिलकर स्थिर किया कि परमार्थ राज्यमें प्रवेश करनेके लिए किसी सिद्ध महात्मासे हरिनाम और दीक्षा ग्रहण करना आवश्यक है। इसलिए उन्होंने समय नष्ट न कर अगले दिन ही सिद्ध बाबाजी महाराजसे दीक्षा ग्रहण करनेका निश्चय किया।

विजयकुमारको लड़कपनमें ही उनके कुलगुरु द्वारा दीक्षा-मन्त्र मिल चुका था। परन्तु ब्रजनाथको केवल गायत्री मन्त्रकी दीक्षाके अतिरिक्त किसी दूसरे मन्त्रकी दीक्षा नहीं मिली थी। बाबाजी महोदयके उपदेशोंसे ये दोनों पहले ही अच्छी तरह समझ गये थे कि अवैष्णव गुरु द्वारा प्राप्त मन्त्रका जप करनेसे जीव नरकगामी होता है, इसलिए विवेक-बुद्धि होनेपर उसे फिरसे शास्त्रीय विधियोंके अनुसार शुद्ध-वैष्णव गुरुसे दीक्षा लेनी चाहिये। विशेषकर सिद्ध-भक्त मन्त्र ग्रहण करनेसे अति शीघ्र ही मन्त्रकी सिद्धि होती है। ऐसा सोचकर दोनोंने यह निश्चय किया कि वे दोनों कल सवेरे मायापुरमें गङ्गा-स्नानकर परमाराध्य बाबाजी महाशयके निकट दीक्षा लेंगे।

दूसरे दिन सवेरे गङ्गा-स्नानकर द्वादश अङ्गोंमें तिलक धारणकर दोनोंने श्रीरघुनाथदास बाबाजीके चरण—प्रान्तमें पहुँचकर उन्हें साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम किया।

बाबाजी महाराज सिद्ध-वैष्णव थे। वे दोनोंके मनकी बात समझ गये। परन्तु ऊपरसे बोले—आज इतने सवेरे कैसे आये? क्या बात है?

दोनोंने नम्रतापूर्वक उत्तर दिया—प्रभो! हमें दीन-हीन और कङ्गाल समझकर कृपा करें।

दोनोंकी बात सुनकर बाबाजी बड़े प्रसन्न हुए और दोनोंको एक-एक कर अपनी कुटीमें बुलाकर अष्टादशाक्षर मन्त्र प्रदान किया। मन्त्र पाकर वे दोनों जप करते-करते महाप्रेममें मत्त होकर "जय गौराङ्ग, जय गौराङ्ग" बोलकर नृत्य करने लगे। गलेमें त्रिकण्ठी तुलसीकी माला, सुन्दर यज्ञोपवीत, द्वादश अङ्गोंमें तिलक, मनोहर मुख-मण्डल, कुछ-कुछ सात्त्विक विकार और आँखोंसे निरन्तर बहते हुए आँसुओंकी धारा—ऐसा सुन्दर रूप देखकर बाबाजी दोनोंको गलेसे लगाते हुए बोले—आज तुम लोगोंने मुझे पवित्र कर दिया।

वे दोनों बाबाजीकी चरणधूलिको बारम्बार आस्वादन करते हुए मस्तकपर और सारे अङ्गोंमें मलने लगे। इधर ब्रजनाथके पूर्व-व्यवस्थानुसार उनके दो नौकर श्रीमन् महाप्रभुके भोगकी प्रचुर सामग्री लेकर उपस्थित हुए। विजयकुमार और ब्रजनाथने हाथ जोड़कर उन भोग-सामग्रियोंका भोग लगानेके लिए प्रार्थना की। श्रीवास-अङ्गनके अधिकारी महोदयने पुजारीके द्वारा भोग प्रस्तुत करवाकर श्रीपञ्चतत्त्वको समर्पण किया।

शंख और घण्टा बज उठे। वैष्णवजन झाँझर, करताल और मृदङ्ग लेकर श्रीमन् महाप्रभुके सामने भोगारतिका गान करने लगे। धीरे-धीरे बहुत-से वैष्णवजन एकत्र हो गये। बड़े समारोहके साथ भोग सम्पन्न हुआ। प्रसाद पानेके लिए नाट्य मन्दिरका स्थान स्थिर हुआ। 'हरेर्नाम' की उच्च-ध्वनिको सुनकर अपना-अपना जलपात्र लेकर सभी वैष्णव एकत्रित हुए। महाप्रसादकी महिमाके पद जोर-जोरसे गाये जाने लगे। तदनन्तर सबने प्रसाद पाना आरम्भ किया। ब्रजनाथ और विजयकुमार महा-महाप्रसाद (गुरुवैष्णवजनोंके उच्छिष्टप्रसाद) की

आशासे अभी बैठना नहीं चाहते थे। परन्तु प्रधान-प्रधान बाबाजी महोदयोंने उन दोनोंको बलपूर्वक बैठाकर कहा—तुम लोग गृहस्थ वैष्णव हो, तुम्हारे चरणोंमें दण्डवत् प्रणाम करनेसे हम धन्य होंगे।

विजयकुमार और ब्रजनाथ हाथ जोड़कर नम्रतापूर्वक बोले—आप लोग महान् त्यागी वैष्णव हैं। आप लोगोंका अधरामृत (जूठन) पाना ही हमारे लिए सौभाग्यकी बात है। आप लोगोंके साथ बैठनेसे हमें अपराध लगेगा।

वैष्णवोंने कहा—वैष्णवतामें गृहस्थ और गृहत्यागीका कोई भेद नहीं। भक्ति के परिमाणके अनुसार ही वैष्णवका तारतम्य होता है। अर्थात् भगवान् के प्रति जिसे अधिक भक्ति है, वही अधिक उन्नत वैष्णव है।

इस प्रकार कहते-सुनते सभी एक ही साथ बैठकर प्रसाद पाने लगे। परन्तु विजयकुमार जौर ब्रजनाथ श्रद्धापूर्वक प्रसादको सामने रखकर भी चुपचाप बैठे रहे। प्रसाद पाते-पाते कुछ वैष्णवोंकी दृष्टि उनपर पड़ी। वे दोनोंके चुपचाप बैठनेका कारण समझकर रघुनाथदास बाबाजीसे बोले—वैष्णव प्रवर! आप अपने श्रद्धालु शिष्योंपर कृपा करें, नहीं तो ये प्रसाद नहीं पा रहे हैं।

वैष्णवोंका अनुरोध सुनकर वृद्ध बाबाजीने अपने प्रसादमेंसे कुछ उठाकर दिया। दोनों परम श्रद्धाके साथ गुरुदेवके दिये हुए प्रसादको ग्रहणकर 'श्रीगुरुवे नमः' उच्चारणकर प्रसाद पाने लगे। बीच-बीच में 'साधु सावधान' और प्रसाद-माहात्म्यसूचक ध्वनि उद्घोषित होने लगी। अहा! उस समय श्रीवास-अङ्गनके नाट्य मन्दिरमें क्या ही अपूर्व शोभा उदित हुई! सभीने देखा, श्रीशची, सीता और मालिनीदेवी प्रसाद ला रही हैं और श्रीमन् महाप्रभु अपने प्रियजनोंके साथ बैठकर बड़े प्रेमसे प्रसाद पा रहे हैं। इसे देखकर वैष्णव प्रसाद पाना भूल गये, प्रसादको लिये हुए उनके हाथ जहाँके तहाँ रह गये। जब तक यह लीला प्रकट रही सभी लोग जड़वत होकर दर्शन करते रहे। आँखोंसे आनन्दके आँसू चुपचाप झरने लगे। कुछ ही देरमें लीला आँखोंसे ओझल हो गयी। अब सभी एक-दूसरेकी ओर देखकर रोने लगे। उस समय प्रसादका ऐसा मधुर स्वाद हुआ जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता।

सभीने एक स्वरसे कहा—ये दोनों ब्राह्मणकुमार श्रीमन् महाप्रभुके नितान्त कृपापात्र हैं। इसीलिए आज इनके महोत्सवमें गौर-लीलाका पुनः आविर्भाव हुआ।

ब्रजनाथ और विजयकुमार रोते-रोते बोले—हम बड़े ही दीनहीन अकिञ्चन हैं, हम कुछ भी नहीं जानते हैं—आज श्रीगुरुदेव और वैष्णवजनोंकी अहैतुकी कृपासे हम यह सब देख सके हैं। आज हमारा जन्म लेना सार्थक हुआ।

प्रसाद पानेके पश्चात् वैष्णवजनोंकी आज्ञा लेकर विजय और ब्रजनाथ घर लौटे।

अब दोनों प्रतिदिन गङ्गा-स्नानकर गुरुदेवको दण्डवत् प्रणाम करते हैं। भगवत्-विग्रहका दर्शनकर भगवन्मन्दिर और तुलसीकी परिक्रमा करते हैं। इस प्रकार रोज कुछ-न-कुछ शिक्षा ग्रहण करते हैं। चार-पाँच दिन बीत गये। एक दिन शामको ये दोनों श्रीवास-अङ्गनमें उपस्थित हुए। सन्ध्या-आरती और नामसङ्कीर्त्तन हो चुका था। श्रीरघुनाथदास बाबाजी अपनी कुटीमें बैठकर मधुरस्वरसे धीरे-धीरे नाम जप कर रहे थे। इसी समय दोनोंने बाबाजीके चरणोंमें दण्डवत् प्रणाम किया। बाबाजीने बड़े प्रेमसे उनके सिरपर अपना करकमल रखकर कुशल-क्षेम पूछनेके पश्चात् बैठाया।

सुयोग देखकर ब्रजनाथ बोले—प्रभो! आपकी कृपासे हम वैधी-भक्तिसाधनको अच्छी तरह समझ गये हैं। अब कृपाकर हमें रागानुगा भक्तिके सम्बन्धमें उपदेश प्रदान करें। रागानुगा भक्तिको समझनेकी हमारी तीव्र लालसा हो रही है।

ऐसा सुनकर बाबाजी बड़े आनन्दित हुए और बोले—श्रीगौरचन्द्रने तुम दोनोंको अपना लिया है। तुम लोगोंके लिए कुछ भी अदेय नहीं है। सावधान होकर सुनना—मैं रागानुगा भक्तिकी व्याख्या कर रहा हूँ—

सबसे पहले मैं उन श्रीरूप गोस्वामीके चरणकमलोंको बारम्बार प्रणाम करता हूँ, जिनको श्रीमन् महाप्रभुने मुसलमान-सङ्गसे उद्धारकर प्रयागमें रसतत्त्वकी शिक्षा दी थी। जिन्हें उन्हीं परम करुणामय श्रीगौराङ्ग महाप्रभुजीने विषयगर्तसे उद्धारकर श्रीस्वरूप दामोदर प्रभुके हाथ समर्पणकर सर्व सिद्धियाँ प्रदान की थीं, उन व्रज-रसके भ्रमर श्रीरघुनाथदास गोस्वामीके चरणोंमें शरण ले रहा हूँ। रागानुगा भक्तिका विवेचन करनेके पहले रागात्मिका भक्तिका स्वरूप बतलाना आवश्यक है।

ब्रजनाथ—मैं सबसे पहले यह जानना चाहता हूँ कि 'राग' किसे कहते हैं?

बाबाजी—विषयी पुरुषको स्वाभाविक विषय-संसर्गसे विषयोंके प्रति अनेक आकारोंमें जो अत्यधिक प्रीति होती है, उसे राग कहते हैं, जैसे सौन्दर्य देखकर आँखें जिस प्रकार अधीर हो उठती हैं, उसी प्रकार यहाँ विषयके प्रति 'रंजकता' रहती है और हृदयमें 'राग'। जब श्रीकृष्ण उस रागके एकमात्र विषय हो जाते हैं, तब उस रागको 'रागभक्ति' कहते हैं। श्रीरूप गोस्वामीने 'राग' की परिभाषा इस प्रकारकी है—इष्टके विषयमें स्वारसिकी परमा-आविष्टताको 'राग' कहते हैं; कृष्णभक्ति जब इस रागमयी अवस्थाको प्राप्त हो जाती है, तब उस भक्तिको 'रागात्मिका भक्ति' कहते हैं। संक्षेपमें ऐसा कह सकते हैं कि कृष्णके प्रति प्रेममयी तृष्णाको 'रागात्मिका भक्ति' कहते हैं। जिसके हृदयमें ऐसा 'राग' उदित नहीं हुआ है, उसे शास्त्रीय-विधियोंके आचरण द्वारा ही भक्ति लाभ करनेका प्रयत्न करना श्रेयस्कर है। वैधी भक्तिमें सम्भ्रम (गौरव-बुद्धि), भय और श्रद्धा कार्य करते हैं। रागात्मिका भक्तिमें कृष्णलीलाके प्रति लोभ ही कार्य करता है।

ब्रजनाथ—रागमयी भक्तिका अधिकारी कौन है?

बाबाजी—वैधी-श्रद्धा जैसे वैधी भक्तिका अधिकार प्रदान करती है, उसी प्रकार लोभमयी श्रद्धा रागात्मिका भक्तिका अधिकार प्रदान करती है। व्रजवासियोंका श्रीकृष्णके प्रति भाव ही रागात्मिका भक्तिका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। व्रजवासियोंके श्रीकृष्णके प्रति भावको लक्ष्यकर, उसे प्राप्त करनेके लिए जिस सौभाग्यशाली जीवको लोभ होता है, वे रागानुगा

भक्तिके अधिकारी हैं।

ब्रजनाथ—उस लोभका लक्षण क्या है?

बाबाजी—व्रजवासियोंके परम मधुर भावोंको सुनकर उसमें प्रवेश करनेके लिए बुद्धि जिसकी अपेक्षा करती है, वही उस लोभके उत्पन्न होनेका लक्षण है। वैधी भक्तिका अधिकारी पुरुष कृष्ण-कथा सुनकर उसे बुद्धि, शास्त्र और युक्तिकी कसौटीपर कसता है और इन तीनोंके साथ कृष्ण-कथाकी सङ्गति बैठनेपर ही वह आगे बढ़ता है। परन्तु राग-मार्ग में ऐसी बात नहीं है। इस मार्गमें बुद्धि, शास्त्र और युक्तिकी अपेक्षा नहीं होती, अपेक्षा होती है केवल व्रजवासीजनोंके भावके प्रति लोभकी। व्रजवासियोंका कृष्णके प्रति कैसा मधुर भाव था, क्या मुझे वैसा ही भाव प्राप्त हो सकता है, कैसे वह भाव प्राप्त हो, इसलिए छटपटाहट होती है—ऐसी छटपटाहट या तीव्र लालसा भी उक्त लोभका लक्षण है। ऐसा लोभ हुए बिना रागानुगा भक्तिमें अधिकार नहीं हुआ है—समझना चाहिये।

ब्रजनाथ—रागानुगा भक्तिकी प्रक्रिया क्या होती है?

बाबाजी—साधकका जिस व्रजवासी (गोप या गोपी) के सेवा-सौन्दर्यके प्रति लोभ हुआ है, उसे वह सर्वदा स्मरण करे एवं उसके प्रिय श्रीकृष्णकी और उस व्रजवासी (गोप या गोपी) की परस्पर लीला—कथाओंमें निरत हुआ स्वयं शरीरसे अथवा मनसे सर्वदा व्रजमें निवास करे। उस भावको पानेके लोभसे अपने अभिलषित व्रजवासीका अनुसरण करता हुआ सब समय दो प्रकारकी सेवा करे, अर्थात्, बाहरसे साधक रूपमें सेवा करे और अन्तरमें सिद्धदेहकी भावनापूर्वक सेवा करे। यही रागानुगा भक्तिकी प्रक्रिया है।

ब्रजनाथ—वैधी भक्तिके अङ्गोंके साथ रागानुगा भक्तिका क्या सम्बन्ध है?

बाबाजी—वैधी भक्तिके श्रवण-कीर्त्तन आदि जो सब अङ्ग बतलाये गये हैं, वे सभी अङ्ग रागानुगा—साधककी साधनामें भी वर्त्तमान रहते हैं। साधक व्रजजनोंके अनुगत होकर जिस समय नित्य सेवानन्दका आस्वादन करता है, उसके बाह्य शरीरमें वैधी भक्तिके अङ्गसमूह लक्षित होते हैं।

ब्रजनाथ—रागानुगाभक्तिकी महिमा बतलाइये।

बाबाजी—वैधी भक्तिके अङ्गोंका निष्ठाके साथ बहुत दिनों तक पालन करनेपर भी जो फल नहीं होता है, रागानुगा भक्ति द्वारा वह फल थोड़े ही समयमें पाया जाता है। वैध मार्गकी भक्ति विधिके सापेक्ष (अपेक्षा रखनेवाली) होनेके कारण दुर्बला होती है और रागानुगा भक्ति सम्पूर्ण निरपेक्षा होनेके कारण स्वभावतः प्रबला होती है। अतएव व्रजके प्रेमीजनोंके आनुगत्याभिमान-लक्षण-भाव द्वारा जो राग उदित होता है, उसमें श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण, पादसेवन, वन्दन और आत्मनिवेदन रूप प्रक्रिया सर्वदा अवलम्बित होती है। जिनका हृदय निर्गुण होता है, उन्हींको व्रजजनोंके आनुगत्यमें रुचि पैदा होती है। इसलिए रागानुगा भक्तिके प्रति लोभ बड़ा ही दुर्लभ परन्तु परम श्रेयः का मूल है। रागात्मिका भक्ति जितने प्रकारकी होती है, रागानुगा भक्ति भी उतने ही प्रकारकी होती है।

ब्रजनाथ—रागात्मिका भक्ति कितने प्रकारकी होती है?

बाबाजी—रागात्मिका भक्ति दो प्रकारकी होती है—कामरूपा और सम्बन्धरूपा।

ब्रजनाथ—कामरूपा और सम्बन्धरूपाका भेद बतलाइये।

बाबाजी—श्रीमद्भागवतमें कहते हैं—

कामाद्-द्वैषाद्-भयात् स्नेहाद् यथा भक्त्येश्वरे मनः।
आवेश्य तदघं हित्वा बहवस्तद्गतिं गताः॥

गोप्यः कामाद् भयात् कंसो द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः।
सम्बन्धाद् वृष्णयः स्नेहाद् यूयं भक्त्या वयं विभो॥

(श्रीमद्भा० ११/२९/३०)

इसका तात्पर्य यह है कि काम, द्वेष, भय और स्नेहसे अपने मनको भक्तिमें आविष्टकर उन-उन भावोंके दोषोंका त्यागकर अनेकों मनुष्य भगवत्-गतिको प्राप्त हुए हैं। गोपियोंने कामसे, कंसने भयसे, शिशुपाल आदि राजाओंने द्वेषसे, यदुवंशियोंने परिवारके सम्बन्धसे, तुम पाण्डवोंने स्नेहसे और हम (नारद आदि) ऋषियोंने भक्तिसे अपने मनको भगवान्में लगाकर भगवत्-गति पायी है।

काम, भय, द्वेष, सम्बन्ध, स्नेह और भक्ति—इन छहमेंसे भय और द्वेष—ये दो अनुकूल भावके विपरीत प्रतिकूल भाव होनेके कारण अनुकरण योग्य नहीं हैं। स्नेह—एक अंशमें सख्यभावसे युक्त होनेके कारण वैधी भक्तिके अन्तर्गत है, दूसरे अंशमें प्रेम भावसे युक्त होनेके कारण साधन-राज्यमें उसकी (स्नेहकी) उपयोगिता नहीं है। इसलिए रागानुगा साधनभक्तिके अन्दर स्नेहका स्थान नहीं है।

भक्त्या वयं—अर्थात् हमलोग भक्तिसे भगवान्को प्राप्त हुए हैं—इसमें जो भक्ति शब्द आया है, उससे वैधी भक्तिको समझना चाहिये अर्थात् भक्ति शब्दसे किसी जगह ऋषियों द्वारा अपनायी गयी वैधी भक्ति और किसी जगह ज्ञान-मिश्रा भक्ति समझना चाहिये।

तद्गतिं गताः—अर्थात् बहुतोंने भगवत्-गतिको प्राप्त किया है—इस वाक्यका अर्थ अच्छी तरहसे समझ लेना आवश्यक है। किरण और सूर्य जैसे एक ही वस्तु हैं, उसी प्रकार ब्रह्म और कृष्ण एक ही वस्तु हैं। कृष्णकी अङ्गज्योतिका नाम ही ब्रह्म है। ज्ञानी—भक्त ब्रह्ममें लय हो जाते हैं, कृष्णके शत्रु भी कृष्ण द्वारा मारे जाकर ब्रह्ममें ही प्रवेश करते हैं। इनमें से कोई-कोई सारूप्याभास प्राप्त होकर ब्रह्मसुखमें मग्न रहते हैं। ब्रह्माण्डपुराणके अनुसार ये मायाके उसपार सिद्धलोकमें निवास करते हैं। सिद्धलोकमें दो प्रकारके जीव निवास करते हैं—एक ज्ञानसिद्धि प्राप्त जीव, दूसरे भगवान् द्वारा मारे गये असुर। ज्ञानसिद्धोंमेंसे कोई-कोई सौभाग्यवश पूर्वोक्त 'राग' का आश्रयकर श्रीकृष्णके चरणकमलोंका भजन करते-करते कृष्ण-प्रेम लाभ करते हैं और भगवान्के प्रियजनोंकी श्रेणीमें आ आते हैं। जैसे किरण और सूर्य एक ही वस्तु है, उसी प्रकार कृष्णकिरण-स्वरूप-ब्रह्म और कृष्णमें वस्तुतः भेद नहीं है। 'तद्गतिं'—शब्दका अर्थ कृष्ण-गति है। सायुज्यमुक्तिको प्राप्त हुए ज्ञानी और असुर दोनों ही कृष्ण-किरण स्वरूप ब्रह्मको प्राप्त होते हैं। शुद्ध भक्तजन प्रेम द्वारा मूल वस्तु श्रीकृष्णकी सेवा प्राप्त करते हैं। अब भय, द्वेष, स्नेह और भक्ति—इन चारोंको निकाल देनेसे काम और सम्बन्ध दो शेष रहते हैं। इसलिए रागमार्गमें काम और सम्बन्ध दो भाव ही कार्य करते हैं। अतः रागमयी भक्ति दो ही प्रकारकी होती है—कामरूपा और सम्बन्धरूपा।

ब्रजनाथ—कामरूपा भक्तिका स्वरूप बतलाइये।

बाबाजी—'काम' शब्दसे सम्भोग-तृष्णाका बोध होता है, सम्भोग-तृष्णाका स्वरूप

रागात्मिका भक्तिके स्वरूपमें बदलनेसे उसमें अहैतुकी प्रीतिमय स्वभाव उदित होता है अर्थात् प्रीति–सम्भोग कृष्ण–तृष्णामयी होती है—कृष्णके सुख–समृद्धिके लिए ही अखिल चेष्टाएँ होती हैं और अपने सुखकी चेष्टासे रहित होती है, यदि अपने सुखकी चेष्टा रहती भी है; तो वह कृष्णकी सुख–समृद्धिके लिए ही स्वीकृत होती है। यह अपूर्व प्रेम केवल व्रजाङ्गनाओंमें ही विराजमान होता है। व्रजगोपियोंका यह प्रेम एक अत्यन्त आश्चर्यजनक माधुरीको प्राप्तकर उन–उन क्रीड़ाओंको उत्पन्न करता है। इसलिए प्रेम–विशेष तत्त्वको पण्डितजन 'काम' कहते हैं। वास्तव में व्रजबालाओंका काम अप्राकृत और दोष–गन्धसे सर्वथा रहित होता है। बद्धजीवका काम सदोष और तुच्छ होता है। व्रजगोपियोंका प्रेम इतना विशुद्ध और सर्वाकर्षक होता है कि उद्धव जैसे भगवान् के परम प्रियजन भी उसे पानेकी लालसा करते हैं। व्रजगोपियोंके 'काम' की तुलनाका कोई दूसरा स्थल ही नहीं, केवल वही काम अपनी तुलनाका स्थल है। 'कामरूपा' रागात्मिका भक्ति व्रजके अतिरिक्त और कहीं भी नहीं देखी जाती। मथुरामें कुब्जाका जो काम देखा जाता है, वह वास्तवमें काम नहीं—रति मात्र है, जिस कामका यहाँ विवेचन हुआ है, उससे कुब्जाका कोई सम्बन्ध नहीं है।

ब्रजनाथ–'सम्बन्धरूपा' भक्ति कैसी होती है?

बाबाजी—"मैं कृष्णका पिता हूँ", "मैं कृष्णकी माता हूँ"—इत्यादि अभिमानसे जो कृष्णभक्ति होती है, उसे 'सम्बन्धरूपा' भक्ति कहते हैं। व्रजमें नन्दबाबा और यशोमती मैया 'सम्बन्धरूपा' भक्तिके उदाहरण हैं। जैसा भी हो, काम और सम्बन्ध भावसे शुद्ध प्रेमका स्वरूप पाया जाता है। इसलिए ये दोनों भाव नित्यसिद्ध भक्तोंके आश्रय हैं। रागानुगा भक्तिके विवेचनमें इनका केवल उल्लेख मात्र किया गया है। अब देखो, 'कामानुगा' और सम्बन्धानुगाके भेदसे दो प्रकारकी रागानुगा साधनभक्ति होती है।

ब्रजनाथ—कामानुगा रागानुगा साधनभक्तिके सम्बन्धमें बतलाइये। बाबाजी—कामरूपा भक्तिकी अनुगामिनी तृष्णाको ही कामानुगा कहते हैं, यह दो प्रकारकी होती है—सम्भोगेच्छामयी और तत्तद्भावेच्छामयी।

ब्रजनाथ—सम्भोगेच्छामयी कैसी होती है?

बाबाजी—सम्भोगेच्छामयी केलि–तात्पर्यमयी होती है। 'केलि' का अर्थ क्रीड़ासे है। व्रजदेवियोंके साथ कृष्णकी अप्राकृत क्रीड़ाको ही 'सम्भोग' कहते हैं।

ब्रजनाथ—तत्तद्भावेच्छामयी कैसी होती है?

बाबाजी—व्रज–यूथेश्वरियोंका कृष्णके प्रति जो मधुर भाव होता है, वैसे ही मधुर भावकी जो कामना होती है, उसे तत्तद्भावेच्छात्मिका कहा जा सकता है।

ब्रजनाथ—यह दो प्रकारकी रागानुगा साधनभक्ति कैसे उदित होती है?

बाबाजी—श्रीकृष्णमूर्त्तिकी माधुरीका दर्शनकर एवं श्रीकृष्णकी मधुर लीला–कथाओंका श्रवणकर उन भावोंके लिए जिनके हृदयमें तीव्र लालसा होती है, वे लोग ही कामानुगा और सम्बन्धानुगा रागानुगा भक्तिके साधनमें प्रवृत्त होते हैं।

ब्रजनाथ—श्रीकृष्ण पुरुष हैं, व्रजदेवियाँ प्रकृति अर्थात् स्त्री हैं—केवल स्त्रियोंका ही रागानुगा भक्तिमें अधिकार देख रहा हूँ, पुरुषोंको यह भाव कैसे हो सकता है?

बाबाजी—जगत् में वर्त्तमान रहनेवाले जीव अपने–अपने स्वभाव–भेदके अनुसार पाँच प्रकारके रसोंके आश्रय होते हैं। ये पाँच रस हैं—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर—

इनमेंसे दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर इन चार रसोंके आश्रय व्रजवासीजन हैं। दास्य, सख्य और पितृत्व अभिमानी वात्सल्य—ये तीन रस पुरुषोंके भाव हैं। जिनकी इन रसोंमें प्रवृत्ति होती है, वे पुरुष भावसे कृष्णकी सेवा करते हैं। माताका वात्सल्य और शृङ्गार—ये दो स्त्री-भाव-युक्त रस हैं। जिनका चित्त इन दो रसों द्वारा विभावित होता है, वे स्त्री भावसे कृष्णकी सेवा करते हैं। सिद्धजनोंमें जैसे स्त्री और पुरुष स्वभाव अलग-अलग हैं, उसी प्रकार उनके अनुगत साधकोंमें ये दोनों भाव पृथक्-पृथक् होते हैं।

व्रजनाथ—पुरुष किस प्रकारसे व्रजदेवियोंके भावसे (स्त्री-भावसे) साधन करेंगे?

बाबाजी—अधिकार भेदसे जिन्हें शृङ्गाररसमें रुचि हुई है, वे स्थूल-शरीरसे पुरुष होनेपर भी सिद्ध शरीरमें स्त्री-आकारमें होते हैं। रुचि और स्वभावके अनुसार वे जिस गोपीके अनुगत होनेके योग्य हों, उसके अनुगत होकर अपने सिद्ध शरीरसे कृष्णकी सेवा करें। पद्मपुराणमें पुरुषोंके ऐसे भावका वर्णन मिलता है। जैसे—दण्डकारण्यवासी महर्षियोंने श्रीरामचन्द्रका परम सुन्दर रूप देखकर पति भावसे उनका भजन किया था, वे महर्षिगण ही श्रीगोकुल लीलामें स्त्रीत्व लाभकर (गोपी शरीरमें) कामरूपा-रागमयी भक्ति द्वारा हरिसेवामें प्रवृत्त हुए।

व्रजनाथ—हमने सुना है, गोकुलकी स्त्रियाँ नित्यसिद्धा हैं, वे कृष्ण-लीलाकी पुष्टिके लिए व्रजमें अवतीर्ण होती हैं। ऐसी दशामें पद्मपुराणके वर्णनकी सङ्गति कैसे हो सकती है?

बाबाजी—नित्यसिद्धोंका श्रीकृष्णकी रासलीलामें सहज ही गमन हुआ था। परन्तु कामरूपा साधनभक्ति द्वारा सिद्ध होनेपर जिनका गोपीके रूपमें जन्म हुआ, उन्होंने **"वार्यमाणाः पतिभिः"**[१] (श्रीमद्भा० १०/२९/८) श्लोकके अनुसार कृष्णकी मानससेवा कर अप्राकृत (जड़से परे चिन्मय) स्वरूप प्राप्त कर लिया था, ये गोपियाँ अधिकांश दण्डकारण्यके महर्षि ही थे।

व्रजनाथ—नित्यसिद्धा गोपियाँ कौन हैं? एवं साधनसिद्धा किन्हें कहा जा सकता है?

बाबाजी—श्रीमती राधाजी श्रीकृष्णकी स्वरूपशक्ति हैं। उनका पहला कायव्यूह—अष्टसखियाँ हैं, और दूसरी सखियोंको उनका क्रमशः पीछे-पीछे वाला कायव्यूह समझना चाहिये। ये सब सखियाँ नित्यसिद्धा हैं। ये जीवशक्तिगत तत्त्व नहीं—स्वरूपशक्तिगत तत्त्व हैं। व्रजकी सामान्या (साधारण) सखियाँ जो साधन द्वारा सिद्ध होकर श्रीमती राधाके परिकरोंके अनुगत होती हैं, वे साधनसिद्ध जीव हैं। ह्लादिनीशक्तिका बल पाकर ये व्रजकी नित्यसिद्धाओंके साथ सालोक्य प्राप्त की हुई होती हैं। जो जीव रागानुगामार्गसे शृङ्गाररसकी साधनाकर सिद्धिको प्राप्त करते हैं वे उन साधनसिद्धा सखियोंकी श्रेणी प्राप्त करते हैं। इनमें जो रिरंसा अर्थात् कृष्णके साथ रमण करनेकी इच्छासे केवल विधिमार्गमें सेवा करती हैं, वे द्वारिकापुरीमें महिषी (रानी) की श्रेणी लाभ करती हैं, विधिमार्गसे व्रजदेवियोंका आनुगत्य लाभ

---

(१) पूरा श्लोक इस प्रकार है—"ता वार्यमाणाः पतिभिः पितृभिर्भ्रातृ-बन्धुभिः। गोविन्दापहृतात्मानो न न्यवर्त्तन्त मोहिताः॥" अर्थात् पति, पिता-माता और भाई-बन्धुके मना करनेपर भी (नित्यसिद्धा) गोपियाँ रुकी नहीं, क्योंकि उनका चित्त श्रीगोविन्द द्वारा चुरा लिए जानेसे वे मोहित हो गयी थीं। यहाँपर भागवत (१०/२३/२०) का श्लोक भी विवेचनीय है।

नहीं किया जा सकता। परन्तु जो अन्तःकरण द्वारा रागमार्ग और शरीरसे विधिमार्गका आचरण करती हैं, वे व्रज-सेवा ही प्राप्त करती हैं।

ब्रजनाथ—'रिरंसा' अर्थात् रमणकी वासना किस प्रकार पूरी की जा सकती है?

बाबाजी—जिन्हें कृष्णके प्रति महिषीभाव अच्छा लगता है, वे धृष्टता छोड़कर गृहिणीकी तरह कृष्णकी सेवा करना चाहती हैं, वे व्रज-सुन्दरियोंकी तरह सेवा नहीं करना चाहतीं।

ब्रजनाथ—कृपया इस विषयको और भी स्पष्ट कीजिये।

बाबाजी—कृष्णको अपना पति मानकर जो सेवा-साधना होती है उसे 'महिषी भाव' कहते हैं। महिषी भाव प्राप्त होनेपर उन्हें 'स्वकीया' भी कहते हैं। साधनकालमें जिन्हें स्वकीया अर्थात् महिषी भाव रहता है, वे व्रजदेवियोंके पारकीय रसका अनुभव नहीं कर पातीं और इसीलिए वे पारकीय-भावयुक्त व्रजदेवियोंका अनुगमन करनेमें असमर्थ होती हैं। अतएव पारकीय भावसे रागानुगा भक्तिका साधन करना ही व्रजरस प्राप्तिका हेतु है।

ब्रजनाथ—आपकी कृपासे मैं यहाँ तक तो समझ गया। अब कृपया यह बतलाइये कि 'काम' और 'प्रेम' में क्या भेद है? यदि इनमें कोई भेद नहीं है, तो 'कामरूपा' के बदले 'प्रेमरूपा' कहनेसे क्या काम नहीं चलता? 'काम' शब्द सुननेमें कुछ कटु लगता है।

बाबाजी—काम और प्रेममें कुछ भेद है। प्रेम कहनेसे उसका सम्बन्धरूपा रागमयी-भक्तिसे कोई अन्तर नहीं रह जाता, दोनों एक हो जाती हैं। सम्बन्धरूपा भक्तिमें 'काम' अर्थात् सम्भोगकी इच्छा नहीं होती। सम्बन्धरूपा भक्ति केलितात्पर्यमयी भी नहीं होती, फिर भी वह प्रेम है। प्रेममें सम्भोगकी इच्छारूप एक प्रवृत्ति संयुक्त होनेपर वह भक्ति 'कामरूपा' कहलाती है। अन्यान्य रसोंमें 'कामरूपा' भक्ति नहीं होती। कामरूपा भक्ति एकमात्र शृङ्गाररसमें ही होती है और वह भी केवल व्रजदेवियोंमें ही। संसारमें इन्द्रिय-प्रीतिरूप जो काम है, वह इस अप्राकृत कामसे पृथक् है। इस जगत्में जो काम है, वह इस निर्दोष अप्राकृत कामका ही विकार है। कुब्जाका भाव कृष्णके प्रति नियुक्त होनेपर भी उसे 'साक्षात् काम' नहीं कहा जा सकता। इन्द्रिय-तृप्तिकर जड़ीय काम जैसे तुच्छ और परिणाममें दुःखकर होता है, प्रेमाङ्गका काम वैसे ही आनन्दपूर्ण, परम उपादेय और नित्य सुखकर होता है। 'प्राकृत काम' तुच्छ और दोषपूर्ण होनेसे 'अप्राकृत काम' शब्दका व्यवहार करनेमें किसी प्रकारका संकोच नहीं होना चाहिये।

ब्रजनाथ—अब सम्बन्धरूपा रागानुगा भक्तिकी व्याख्या कीजिये। बाबाजी—अपनेमें कृष्णके माता-पिता आदि सम्बन्धोंका आरोप करनेका नाम 'सम्बन्धानुगा' भक्ति है, इसमें दास्य, सख्य और वात्सल्य-इन तीन रसोंकी क्रियाएँ हो सकती हैं। मैं सेवक हूँ, कृष्ण प्रभु हैं, मैं कृष्णका सखा हूँ, मैं कृष्णका पिता या माता हूँ—ये सब सम्बन्ध हैं। सम्बन्धानुगाभक्ति व्रजवासियोंमें ही अतिशय निर्मल रूपमें होती है।

ब्रजनाथ—दास्य, सख्य और वात्सल्यमें रागानुगा भक्तिका किस प्रकारसे अनुशीलन होता है?

बाबाजी—जिनकी दास्य-रसमें रुचि होती हैं, वे रक्तक, पत्रक आदि नित्यसिद्ध दासोंके अनुगत होकर उनके मधुर भावों—व्यवहारोंका अनुकरण करते हुए कृष्णकी सेवा करते हैं, जिनकी सख्य रसमें रुचि होती हैं, वे कृष्णके प्रिय सखा सुबल आदिमेंसे किसी एक सखाके भावों और चेष्टाओंका अनुकरण करते हुए कृष्णकी सेवा करते हैं और जिनकी

वात्सल्य रसके प्रति रुचि होती है, वे नन्द या यशोमतीके भावों और चेष्टाओंका अवलम्बनकर कृष्णकी सेवा करते हैं।

ब्रजनाथ—भावों और चेष्टाओंके अनुकरणका तात्पर्य क्या है?

बाबाजी—कृष्णके प्रति जिनका जो सिद्धभाव होता है, उसीके अनुसार विशेष-विशेष भावों और चेष्टाओंका उदय होता है। उन भावों और चेष्टाओंके साथ ही कुछ बाह्य-क्रियाएँ भी लक्षित होती हैं। सम्बन्धानुगा भक्तिमें साधक इन्हीं भावों, चेष्टाओं और क्रियाओं या व्यवहारोंका अनुकरणकर कृष्णकी सेवा करते हैं। उदाहरणके लिए नन्द महाराजका कृष्णके प्रति पिताका भाव है। अब पितृ-भावसे उनकी कृष्णके प्रति जो सब चेष्टाएँ होती हैं उनका अनुकरण करना चाहिये। परन्तु स्मरण रहे कि "मैं नन्द हूँ, मैं यशोमती हूँ, मैं सुबल हूँ, रक्तक हूँ"—ऐसी भावना या चिन्ता कभी नहीं करें, बल्कि अपनी रुचि-भेदसे उन महाजनोंके अनुगत होकर उनके भावोंका ही अनुकरण करें, नहीं तो अपराध हो जायेगा।

ब्रजनाथ—हमें कौन-सी रागानुगा भक्तिमें अधिकार है?

बाबाजी—बाबा! अपने स्वभावके ऊपर विचार करो और उसके अनुसार देखो कि तुम्हारा क्या अधिकार है। स्वभावके अनुसार जैसी रुचि हो, उसीके अनुरूप रस स्वीकार करो। उस रसका अवलम्बन कर उस रसके किसी एक नित्यसिद्ध अधिकारीका अनुगमन करते रहो। इसमें केवल अपनी रुचिकी परीक्षा करना आवश्यक है। यदि तुम्हारी रुचि रागमार्गमें हो, तो अपनी उस रुचिके अनुसार कार्य करो। जब तक रागमार्गमें रुचि नहीं हो जाती, तब तक केवल विधिमार्गमें निष्ठा रखो।

विजयकुमार—प्रभो! मैं बहुत दिनोंसे श्रीमद्भागवतका पाठ करता हूँ, जहाँ कहीं भी होता है श्रीकृष्णकी लीला-कथाओंका श्रवण करता हूँ, जब कभी कृष्णलीलाका अनुशीलन करता हूँ, मेरे हृदयमें ऐसा भाव होता है कि मैं श्रीमती ललितादेवीकी तरह युगल-सेवा करूँ।

बाबाजी—तुम्हें और कुछ भी कहनेकी आवश्यकता नहीं, तुम श्रीललिताके अनुगत कोई मञ्जरी हो। तुम्हें कौन-सी सेवा अच्छी लगती है?

विजय—मैं चाहता हूँ कि श्रीललितादेवी मुझे पुष्पकी मालाएँ गूंथनेकी आज्ञा दें, मैं सुन्दर-सुन्दर कोमल-कोमल पुष्पोंसे सुन्दर-सुन्दर हार गूँथकर उसे श्रीमती ललिता सखीके करकमलोंमें दूँ और वे मेरे प्रति कृपापूर्ण हास्यभरी चितवनसे देखकर उस पुष्पहारको राधा-कृष्णके गलेमें डाल दें।

बाबाजी—तुम्हारी वैसी सेवा-साधना सिद्ध हो—मैं आशीर्वाद देता हूँ। बाबाजीका स्नेहपूर्ण आशीर्वाद सुनकर विजयकुमारकी आँखें भर आयीं। वे श्रीगुरुदेव (बाबाजी) के चरणोंमें गिरकर रोने लगे।

उनका वैसा भाव देखकर बाबाजी बोले—बाबा! तुम निरन्तर उसी भावसे रागानुगा भक्तिका साधन करो और बाहरसे वैधीभक्तिके साधन-अङ्गोंका नियमित रूपसे आचरण करते रहो।

विजयकुमारकी सम्पत्ति देखकर ब्रजनाथ हाथ जोड़कर नम्रतापूर्वक बोले—प्रभो! मैं जब कभी श्रीकृष्ण-लीलाका अनुशीलन करता हूँ, सुबलके अनुगत रहकर कृष्णकी सेवा करनेको मेरा जी चाहता है।

बाबाजी—तुम्हें कौन-सी सेवा अच्छी लगती है?

ब्रजनाथ—जब बछड़े चरते-चरते दूर निकल जाते हैं, तब सुबल सखाके साथ उन बछड़ोंको लौटा लाना मुझे बड़ा अच्छा लगता है। कृष्ण एक जगह बैठकर वंशी बजाते रहें और मैं सुबलकी आज्ञासे बछड़ोंको जल पिलाकर भैया कृष्णके निकट ला दूँ—ऐसी मेरी इच्छा होती है।

बाबाजी—मैं आशिष देता हूँ—तुम सुबलके अनुगत होकर कृष्णकी सेवा करो; तुम सख्य रसके अधिकारी हो।

आश्चर्यकी बात हुई। उसी दिनसे विजयकुमारके चित्तमें श्रीमती ललिताकी दासी होनेका भाव उपस्थित हो गया; वे वृद्ध बाबाजीको श्रीललिताके रूपमें दर्शन करने लगे।

विजयकुमार बोले—प्रभो! इस विषयमें और क्या जाननेको बाकी है? कृपया आज्ञा करें।

बाबाजी—और कुछ भी बाकी नहीं है, केवल तुम्हारे सिद्ध-शरीरके नाम, रूप, वसन आदि तुम्हें जानने आवश्यक हैं। तुम कभी अकेले आना, मैं बतला दूँगा।

जैसी आज्ञा—विजयकुमारने दण्डवत् प्रणाम करते-करते उत्तर दिया।

ब्रजनाथ उसी दिनसे बाबाजीको सुबलके रूपमें देखने लगे। बाबाजीने ब्रजनाथसे कहा—तुम भी किसी समय अकेले मेरे पास आना, मैं तुम्हारा सिद्धनाम, रूप और वसन-भूषण बतला दूँगा।

ब्रजनाथ दण्डवत् प्रणाम करते-करते बोले—जैसी आज्ञा।

ब्रजनाथ और विजयकुमारने अपनेको कृत-कृतार्थ माना और उसी दिनसे वे परम आनन्दसे रागानुगामार्गकी सेवामें नियुक्त हो गये। बाहरसे सब कुछ पहले जैसा ही रहा; परन्तु अन्तरका भाव पलट गया। विजयकुमारका बाहरी व्यवहार पुरुष जैसा ही रहा, परन्तु अन्तरमें स्त्री-भाव उदित हो गया है। ब्रजनाथके अन्तरमें गोप-बालकका स्वभाव पैदा हो गया।

रात अधिक हो गयी थी। दोनों हरिनामकी मालापर **"हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥"**—गुरुके दिये हुए इस नाम रूप महामन्त्रका गान करते-करते घर लौटे। रातके बारह बजे थे। चन्द्रकी चारु चन्द्रिकाएँ पृथ्वीपर मानो रजत-राशिकी वर्षा कर रही थीं। मनमोहक मलयानिल मस्त होकर बह रही थी। लक्ष्मण-टीलेके पास सुन्दर और निर्जन स्थानमें एक आँवलेके पेड़के नीचे बैठकर दोनों परस्पर बातचीत करने लगे।

विजयकुमार—ब्रजनाथ! हमारे मनकी साधें पूर्ण हुईं। वैष्णवोंकी कृपासे हमपर अवश्य ही श्रीकृष्णकी कृपा होगी। अब यह विचार करना है कि हमें आगे क्या करना है? ब्रजनाथ! तुम सरल चित्तसे मुझे यह बतलाओ कि तुम क्या करना चाहते हो? विवाह करोगे या परिव्राजक (संन्यासी) बनोगे? मैं इस विषयमें तुमपर किसी प्रकारका दबाव नहीं देना चाहता। तुम्हारी माँको समझानेके लिए केवल तुम्हारे मनकी बात मात्र जानना चाहता हूँ।

ब्रजनाथ—मामा! आप मेरी भक्तिके पात्र हैं; तिसपर भी पण्डित और वैष्णव हैं; पिताजीके अभावमें आप ही घरके मालिक हैं; आप जैसी आज्ञा देंगे, मैं उसी पथपर

चलनेके लिए तैयार हूँ। विवाह करनेपर संसारमें आसक्त होकर परमार्थसे च्युत न हो जाऊँ, इसीलिए विवाहसे जी घबड़ाता है। आपका क्या विचार है?

विजय—मैं इस विषयमें तुम पर कोई दबाब नहीं डालना चाहता; तुम स्वयं ही विचारकर बतलाओ।

ब्रजनाथ—मेरे विचारसे श्रीगुरुदेवकी आज्ञा लेकर कार्य करना अच्छा है।

विजय—अच्छी बात है। कल प्रभुपादसे इस विषयकी आज्ञा लूँगा।

ब्रजनाथ—मामा! आपका विचार क्या है? आप गृहस्थ बनेंगे अथवा परिव्राजक?

विजय—बाबा! मेरा भी तुम्हारे जैसा ही अभी अस्थिर सिद्धान्त है। कभी सोचता हूँ, गृहस्थ धर्मको तिलाञ्जलि देकर परिव्राजक हो जाऊँ और कभी सोचता हूँ, ऐसा करनेसे कहीं ऐसा न हो कि हृदय शुष्क हो जाये और भक्ति रससे भी वञ्चित न होना पड़े। इसलिए इस विषय में श्रीगुरुदेवकी आज्ञाके अनुसार ही कार्य करना अच्छा समझता हूँ। वे जैसी आज्ञा देंगे, वैसा ही करूँगा।

रात अधिक हुई जानकर मामा-भागिनेय हरिनाम करते-करते घर लौटे और प्रसाद पाकर सो गये।

॥इक्कीसवाँ अध्याय समाप्त॥

बाईसवाँ आध्याय

प्रमेयके अन्तर्गत प्रयोजनतत्त्वका विचार आरम्भ

आज एकादशी है। श्रीवास-अङ्गनमें बकुल पेड़के नीचे लम्बे-चौड़े चबूतरेके ऊपर वैष्णवजन कीर्त्तन कर रहे हैं। कोई-कोई हा गौराङ्ग! हा नित्यानन्द! कहकर लम्बी साँसें भर रहे हैं। हमारे वृद्ध बाबाजी महाशय न जाने किस भावमें विभोर हैं। देखते-ही-देखते वे बिलकुल ही निस्तब्ध हो गये और कुछ देर बाद "हा धिक्!" कहकर बड़े जोरसे रोने लगे। "हाय! मेरे रूप कहाँ हैं? मेरे सनातन कहाँ हैं? मेरे दास-गोस्वामी कहाँ हैं? मेरे प्राणप्रिय सहोदर कृष्णदास कविराज मुझे अकेला छोड़कर कहाँ चले गये? हाय! उनका विच्छेद-दुःख सहनेके लिए मैं आज भी जीवित हूँ! मुझे कुछ भी अच्छा नहीं लग रहा है। श्रीराधाकुण्डका ध्यान भी मुझे कष्टकर प्रतीत होता है। मेरे प्राण छटपट कर रहे हैं। रूप-सनातन दर्शन देकर मेरे विकल प्राणोंकी रक्षा करें। उनसे विच्छेद होनेपर भी मेरे प्राण नहीं निकले, मुझे धिक्कार है!" इस प्रकार कहते-कहते वे आँगनकी धूलिमें लोटने लगे।

उपस्थित वैष्णवोंने कहा—बाबाजी! आप शान्त हों, रूप-रघुनाथ आपके हृदयमें ही हैं, इधर देखिये, श्रीचैतन्य महाप्रभु और नित्यानन्द प्रभु आपके सामने नृत्य कर रहे हैं।

"ऐं! ऐं कहाँ!" बाबाजी उछलकर एकदम खड़े हो गये। सामने श्रीचैतन्य महाप्रभु, श्रीनित्यानन्द प्रभु, श्री अद्वैत प्रभु, श्रीगदाधर और श्रीनिवास आदि भक्तजनोंको कीर्त्तन करते देखा। वे सभी महाभावमें विभोर होकर नृत्य कर रहे थे। इस दृश्यको देखकर बोले—"धन्य मायापुर! व्रजका शोक केवल मायापुरमें ही दूर होता है।" दृश्य अन्तर्ध्यान होनेपर वे बहुत देर तक नृत्य करते रहे। पश्चात् शान्त होकर अपनी कुटीमें बैठे।

बाबाजी अभी बैठे ही थे, विजयकुमार और ब्रजनाथने उनके चरणों में गिरकर प्रणाम किया। उन्हें देखकर बाबाजी बड़े प्रसन्न हुए और बोले—तुमलोगोंका भजन कैसा चल रहा है?

दोनोंने हाथ जोड़कर विनयपूर्वक कहा—प्रभो! आपकी कृपा चाहिये। आपकी कृपा ही हमारा सर्वस्व है। जन्म-जन्मान्तरोंकी संचित सुकृति राशिके कारण ही हमने अनायास आपके चरणकमलोंमें स्थान पाया है। आज एकादशी है, आपकी आज्ञानुसार हम निर्जला उपवास रहकर आपके दर्शनोंके लिए आये हैं।

बाबाजी—तुमलोग धन्य हो। जल्दी ही भावावस्था प्राप्त करोगे। विजयकुमार—प्रभो! भावावस्था किसे कहते हैं? आपने तो अभी तक हमें 'भावावस्था' के सम्बन्धमें कुछ भी नहीं बतलाया है, बतलानेकी कृपा करें।

बाबाजी—मैंने अब तक तुमलोगोंको साधनके विषयमें ही शिक्षा दी है। साधन करते-करते सिद्धावस्था आती है। उस सिद्धावस्थाका प्राग्भाव (पूर्वाभास) ही भाव है। श्रीदशमूलमें सिद्धावस्थाका इस प्रकार वर्णन है—

स्वरूपावस्थाने मधुररसभावोदय इह ब्रजे राधाकृष्णस्वजनजनभावं हृदि वहन्।
परानन्दे प्रीतिं जगदतुलसम्पत् सुखमहो विलासाख्ये तत्त्वे परमपरिचर्यां स लभते॥

(दशमूल १०क)

अर्थात्-साधनभक्तिकी परिपक्व अवस्थामें जीव जब अपने स्वरूपमें अवस्थित हो जाता

है, तब ह्लादिनीशक्तिके प्रभावसे उसमें मधुर रसका भाव उदित होता है—अर्थात् उसके हृदयमें ब्रजमें श्रीराधाकृष्णके स्वजन-परिजनोंके अनुगत होनेका भाव उदित होता है। क्रमशः जगत्में अतुल सम्पद-सुख और विलासाख्य परानन्द तत्त्वकी सेवा भी उसे प्राप्त होती है। जीवका इससे अधिक कोई और लाभ नहीं है।

इस श्लोकमें प्रयोजन रूप प्रेमावस्थाका ही वर्णन है। प्रेमावस्थाकी प्रथम अवस्था ही भाव है—

प्रभुः कः को जीवः कथमिदमचिद्विश्वमिति वा
विचार्यैतानर्थान् हरिभजन कृच्छास्त्रचतुरः।
अभेदाशां धर्मान् सकलमपराधं परिहरन्
हरेर्नामानन्दं पिबति हरिदासो हरिदासो हरिजनैः॥

(दशमूल १० ख)

अर्थात्, कृष्ण कौन हैं? मैं (जीव) कौन हूँ? यह चित्-अचित् विश्व क्या है? इन विषयोंका विवेचनकर हरिभजनपरायण, शास्त्र—विषयमें कुशल व्यक्ति अभेदकी आशा, समस्त प्रकारके धर्म-अधर्म और अपराधोंका वर्जनकर सत्सङ्गमें रहकर अपनेको हरिका दास समझते हुए हरिनामानन्दका आस्वादन करते हैं।

यह दशमूल एक अपूर्व सुन्दर संग्रह है। श्रीमन् महाप्रभुकी सारी शिक्षाएँ इस दशमूलमें गागरमें सागरकी भाँति भरी हैं।

विजय—मैं दशमूलका संक्षेपमें माहात्म्य सुनना चाहता हूँ।

बाबाजी—श्रवण करो—

संसेव्य दशमूलं वै हित्वाऽविद्याऽमयं जनः।
भावपुष्टिं तथा तुष्टिं लभते साधुसंगतः॥

(दशमूल महात्म्य)

अर्थात्—इस दशमूलका सेवन करनेसे जीवका अविद्यारूप रोग जड़से दूर हो जाता है एवं तदनन्तर वह साधुसङ्ग द्वारा भावकी पुष्टि और तुष्टि लाभ करता है।

विजय—प्रभो! यह अपूर्व दशमूल हम सबके गलेका कण्ठहार हो, हमलोग प्रतिदिन इस दशमूलका पाठकर श्रीमन् महाप्रभुको प्रणाम किया करेंगे। अब कृपया 'भावतत्त्व' को विस्तार से बतलाइये।

बाबाजी—यदि प्रेमको सूर्य मान लिया जाये, तो प्रेमरूप सूर्यका अंश शुद्ध सत्त्व-विशेषरूप-तत्त्व ही—'भाव' है।

शुद्धसत्त्व—विशेष—स्वरूप ही भावका स्वरूपलक्षण है। भावका दूसरा नाम 'रति' है। भावको कोई-कोई 'प्रेमांकुर' भी कहते हैं। सर्व-प्रकाशिका स्वरूपशक्तिकी सम्वित् नामक वृत्तिको शुद्धसत्त्व कहा जा सकता है—वह मायाकी वृत्ति नहीं है। उस सम्वित् नामक वृत्तिके साथ ह्लादिनी-वृत्ति मिलित होनेपर उसका सार-अंश ही 'भाव' कहलाता है।

सम्वित्-वृत्ति द्वारा वस्तुका ज्ञान होता है और ह्लादिनी-वृत्ति द्वारा वस्तु आस्वादित होती है। कृष्ण ही परम वस्तु हैं। कृष्णरूप परम-वस्तुको स्वरूपशक्तिकी सर्व-प्रकाशिका-वृत्तिसे जाना जाता है, उन्हें जीवशक्तिकी सम्वित्-वृत्तिसे नहीं जाना जा सकता है। भगवान् की कृपा या भक्तकी कृपा द्वारा जब जीवके हृदयमें स्वरूपशक्तिका आविर्भाव होता है, तभी

जीवके हृदयमें स्वरूपशक्तिकी सम्वित्-वृत्ति काम करती है, ऐसा होनेपर ही चित्-जगत्का ज्ञान प्रकाशित होता है। चित्-जगत्का स्वरूप ही शुद्धसत्त्व है, मायिक जगत्का स्वरूप सत्त्व, रज और तम गुणोंसे मिश्रित स्थूलतत्त्व है। उस चित्-जगत्की ज्ञानके साथ ह्लादिनीका सार मिलित होनेपर चित्-जगत्का मधुरास्वाद उदित होता है। वही आस्वाद पूर्ण रूपसे उदित होनेपर 'प्रेम' कहलाता है।

यदि प्रेमको सूर्य माना जाये, तो भाव—उसकी किरण है। भावके स्वरूपका यही परिचय है। भावकी विशेषता यह है कि वह जीवके हृदयको पवित्रकर अतिशय मसृण अर्थात् कोमल बनाता है। 'रुचि' शब्दसे प्राप्ति-अभिलाष, आनुकूल्याभिलाष और सौहार्दाभिलाषका बोध होता है। भावको प्रेमका पहला चित्र कहा जा सकता है। 'मसृण' शब्दसे चित्तकी आर्द्रता—कोमलता समझनी चाहिये। तन्त्रमें प्रेमकी प्रारम्भिक अवस्थाको 'भाव' बतलाया गया है। भावका उदय होनेपर पुलक आदि सात्त्विक विकारसमूह अल्प मात्रामें प्रकाशित होते हैं। नित्य-सिद्धोंमें भाव स्वतः सिद्ध होता है। वही भाव बद्धजीवकी मनोवृत्तिपर आविर्भूत होकर मनोवृत्तिकी स्वरूपताको प्राप्त होता है। अतएव स्वयं प्रकाश रूप होकर भी प्रकाश्यकी तरह अर्थात् पहले नहीं था, अब पैदा हो गया, ऐसा भासता है। भावका स्वाभाविक कार्य ही कृष्णस्वरूप और कृष्णलीलाके स्वरूपको प्रकाश करना है; मनोवृत्तिके रूपमें प्रकाशित रहकर भी वह दूसरे प्रकारके ज्ञान द्वारा प्रकाश्यका-सा भाव धारण किये हुए हैं। वास्तवमें रति स्वयं आस्वादन-स्वरूपा होती है और ऐसा होनेपर भी वह बद्धजीवके लिए कृष्ण और कृष्णलीला आस्वादनके हेतुके रूपमें दीख पड़ती है।

ब्रजनाथ—भाव कितने प्रकारके होते हैं?

बाबाजी—उत्पत्ति भेदसे भाव दो प्रकारका होता है—(१) 'साधनाभिनिवेशज' भाव और (२) कृष्ण और कृष्णभक्तका 'प्रसादज' भाव। साधारण तौरपर साधनाभिनिवेशज भाव ही लक्षित होता है, प्रसादज—भाव विरले ही देखा जाता है।

ब्रजनाथ—साधनाभिनिवेशज-भाव किसे कहते हैं?

बाबाजी—वैधी और रागानुगामार्गके भेदसे साधनाभिनिवेशज भाव दो प्रकारका होता है। साधनाभिनिवेशज—भाव सबसे पहले रुचिको उत्पन्न करता है, पश्चात् भगवान्के प्रति आसक्ति और अन्तमें रतिको उत्पन्न करता है। पुराणों और नाट्यशास्त्रोंमें रति और भावको एक माना जानेके कारण मैं भी दोनोंको एक ही मान रहा हूँ। वैधीभक्ति-साधनाभिनिवेशज अवस्थामें श्रद्धा पहले निष्ठाको उत्पन्न करती है और पीछे निष्ठा रुचिको पैदा करती है। परन्तु रागानुगाभक्तिके साधनज-भावमें एक ही बार रुचि उत्पन्न होती है।

ब्रजनाथ—श्रीकृष्ण और कृष्णभक्त-प्रसादज-भाव किसे कहते हैं?

बाबाजी—बिना किसी प्रकारके साधनके जो भाव अकस्मात् उदय हो पड़ता है, उसे कृष्ण प्रसादज भाव या कृष्णभक्त प्रसादज-भाव कहते हैं।

ब्रजनाथ—श्रीकृष्ण-प्रसादज-भावकी व्याख्या कीजिये।

बाबाजी—कृष्ण-प्रसाद (कृपा) तीन प्रकारका होता है—(१) वाचिक, (२) आलोक दान और (३) हार्द। कृष्ण किसी ब्राह्मणपर कृपा करते हुए बोले—"हे द्विजेन्द्र! सर्वश्रेष्ठ मङ्गलको प्रदान करनेवाली पूर्णानन्दमयी अव्यभिचारिणी मेरी भक्ति तुममें उदित हो।"—ऐसा कहते ही उसके हृदयमें (वाचिक प्रसादज) भाव उदय हो गया।

वनमें रहनेवाले ऋषियोंने आजसे पहले कृष्णको कभी नहीं देखा था। आज कृष्णका दर्शन करते ही उनके हृदयमें भाव उत्पन्न हो गया, यह कृष्णकी कृपाका प्रभाव था। यह आलोकदानज—भावका उदाहरण है।

अन्तःकरणमें जो प्रसाद उदित होता है, उसका नाम 'हार्दभाव' है। हार्द-भावका उदाहरण श्रीशुक आदि भगवद्भक्तोंके जीवन चरित्रमें पाया जाता है, श्रीमन् महाप्रभुके अवतारमें ये तीनों प्रसादज-भाव अनेक स्थानोंपर दिखायी देते हैं। श्रीमन् महाप्रभुको देखकर असंख्य लोगोंको भावोदय हुआ था। जगाई मधाई आदिने वाचिक प्रसादज-भाव प्राप्त किया था, जीवगोस्वामी आदिने आन्तर प्रसादज-भाव प्राप्त किया था।

ब्रजनाथ—तद्भक्त प्रसादज-भाव किसे कहते हैं?

बाबाजी—श्रीनारदमुनिकी कृपासे ध्रुव और प्रह्लादको भगवद्भाव प्राप्त हुआ था। श्रीरूप—सनातन आदि पार्षदोंकी कृपासे असंख्य लोगोंके हृदयमें भक्तिके भाव उदित हुए थे।

विजय—भावोदय होनेका लक्षण क्या है?

बाबाजी—भाव उदय होनेपर साधकमें क्षान्ति (क्षमा), अव्यर्थकालत्व, विरक्ति, मानशून्यता, आशाबन्ध, उत्कण्ठा, नामकीर्त्तनमें रुचि, कृष्णके गुणगानमें रुचि और कृष्णकी लीलास्थलियोंमें प्रीति—ये सब लक्षण दिखलायी पड़ने लगते हैं।

विजय—क्षान्ति किसे कहते हैं?

बाबाजी—क्रोध या चित्त-चाञ्चल्यका कारण उपस्थित होनेपर भी शान्त रहनेको क्षान्ति कहते हैं; क्षान्तिको 'क्षमा' कह सकते हैं।

विजय—अव्यर्थकालत्व किसे कहते है?

बाबाजी—समय व्यर्थ न जाये, इसलिए निरन्तर हरिभजनमें तत्पर रहनेका नाम अव्यर्थकालत्व है।

विजय—विरक्तिका तात्पर्य बतलाइये।

बाबाजी—विषय—सुखोंके प्रति इन्द्रियोंकी अरुचिको 'विरक्ति' कहते

विजय—जिन लोगोंने 'वेष' ले लिया है, वे अपनेको विरक्त कह सकते हैं या नहीं?

बाबाजी—वेष एक लौकिक व्यापार है। हृदयमें भाव उदित होनेपर चित्-जगत्‌की प्रति प्रबल रूपमें रुचि होती है और जड़-जगत्‌के प्रति जो रुचि थी, वह धीरे-धीरे कम होती जाती है तथा अन्तमें जब भाव पूर्ण रूपसे प्रकाशित हो जाता है तब जड़ रुचि भी शून्यप्रायः हो जाती है। इसीका नाम 'विरक्ति' है। विरक्ति लाभ करनेके पश्चात् अपनी आवश्यकताओंको कम करनेके उद्देश्यसे जो वैष्णव वेष लेते हैं, उन्हें 'विरक्त वैष्णव' कहते हैं। जो लोग भाव उदय होनेके पूर्व ही 'वेष' ले लेते हैं, उनका वेष अवैध है, अर्थात् वह 'वेष' वेष नहीं है। श्रीमन् महाप्रभुजीने छोटे हरिदासको दण्ड देते समय जगत्‌को यही शिक्षा दी है।

विजयकुमार—मान्यशून्यता किसे कहते हैं?

बाबाजी—धन, बल, रूप, उच्च पद, उच्च जाति और उच्च कुल आदिसे अभिमान पैदा होता है। इनके वर्त्तमान रहनेपर भी जिन्हें अभिमान नहीं होता, वे 'मानशून्य' हैं। पद्मपुराणमें मानशून्यताका बड़ा ही सुन्दर उदाहरण है। एक बड़े प्रतिभाशाली सम्राट् थे। बड़े-बड़े राजा उनके अधीन थे। परन्तु सौभाग्यवश राजाके हृदयमें कृष्णभक्ति उत्पन्न हो

गई। वे अपने विराट् ऐश्वर्य और सम्राट्-पदका अभिमान छोड़कर शत्रुके नगरमें मधुकरी भिक्षा द्वारा अपना जीवन-निर्वाह करने लगे। ब्राह्मण और शत्रु सबको नमस्कार करने लगे।

विजय—आशाबन्ध किसे कहते हैं?

बाबाजी—कृष्ण मुझपर अवश्य ही कृपा करेंगे—इस प्रकार दृढ़ विश्वासके साथ भजनमें मन लगनेका नाम 'आशाबन्ध' है।

विजय—उत्कण्ठा किसे कहते हैं?

बाबाजी—अपने मनोरथकी प्राप्तिके लिए अत्यधिक लोभ होनेसे उसे 'उत्कण्ठा' कहते हैं।

विजय—'नामकीर्त्तनमें रुचि' किसे कहते हैं?

बाबाजी—जितने प्रकारके भजन हैं, उन सबमें श्रीनाम-भजन ही सर्वश्रेष्ठ है, इस विश्वासके साथ निरन्तर हरिनाम लेनेको 'नामकीर्त्तनमें रुचि' कहा जाता है। श्रीनाममें रुचिका होना परम श्रेयकी प्राप्तिकी कुञ्जी है। नामतत्त्वके सम्बन्धमें दूसरे दिन समझ लेना।

विजय—कृष्णके गुणगानमें आसक्ति किसे कहते हैं।

बाबाजी—श्रीकृष्णकर्णामृतमें कहते हैं—

माधुर्यादपि मधुरं मन्मथता तस्य किमपि कैशोरम्।
चापल्यादपि चपलं चेतो वत हरति हन्त किं कुर्मः॥ (१)

श्रीकृष्णकी गुणावलीको जितना भी क्यों न सुना जाये, तृप्ति नहीं होती और अधिक उसे सुननेकी इच्छा होती है—आसक्ति बढ़ती जाती है।

विजय—कृष्णकी लीलास्थलियोंमें प्रीति कैसी होती है?

बाबाजी—जब कोई भक्त श्रीनवद्वीपधामकी परिक्रमा करते हैं, तब वे पूछते हैं—हे धामवासियो! हमारे प्राणप्रिय प्रभुका जन्म कहाँ हुआ था? महाप्रभुजीका कीर्त्तनमण्डल किस मार्गसे होकर गुजरा था? कृपा करके यह भी बतलाइये कि प्रभुने गोपोंके साथ किस स्थानपर पूर्वाह्न लीला की थी? धामवासी उत्तर देते हैं—यह स्थान जहाँ हमलोग हैं, श्रीमायापुर है। सामने तुलसीकाननसे घिरा हुआ जो ऊँचा स्थान दिखलायी पड़ रहा है, वहींपर श्रीमन् महाप्रभुजीका जन्म हुआ था। देखो, ये गङ्गानगर, सिमुलिया, गादिगाछा मजिदा आदि ग्राम हैं; इन्हीं ग्रामोंसे होकर श्रीमन् महाप्रभुजीका सर्वप्रथम सङ्कीर्त्तनमण्डल निकला था। गौड़वासियोंके मुँहसे प्रेमसे पगी हुई ऐसी मधुर बातोंको सुनकर उनके शरीरमें रोमाञ्च हो उठता है, हृदय आनन्दसे गद्गद हो जाता है तथा नेत्रोंसे अश्रुबिन्दु झरने लगते हैं। इस प्रकार वह महाप्रभुकी सारी लीलास्थलियोंकी परिक्रमा करता है—इसीको 'तद्वसति स्थले प्रीति' अर्थात्—'भगवत्-लीलास्थलियोंमें प्रीति' कहते हैं।

ब्रजनाथ—जहाँ इस प्रकारके भाव दिखलायी पड़ें वहाँ क्या ऐसा समझना होगा कि उस व्यक्तिमें कृष्णके प्रति रति उदित हो गयी है।

बाबाजी—नहीं! सरल रूपमें श्रीकृष्णके प्रति जो भाव उदित होता है, उसीका नाम 'रति' है। ऐसे भाव दूसरी जगह लक्षित होनेपर भी उसे रति नहीं कहा जा सकता है।

---

(१) माधुर्यसे भी अधिक मधुर, चापल्यसे भी अधिक चपल श्रीकृष्णका मन्मथ धर्मयुक्त कोई अनिर्वचनीय भाव मेरे चित्तको हरण कर रहा है। हाय! मैं क्या करूँ?

ब्रजनाथ—कृपया दो-एक उदाहरण देकर इस विषयको और अधिक स्पष्ट कीजिये।

बाबाजी—मान लो एक व्यक्ति मुक्तिकी कामना करता है। निराकार ब्रह्मकी शुष्क और कष्टप्रद उपासना उसे दुखदायी जान पड़ी। उसने कहींसे सुना कि भगवन्नामका उच्चारण करनेसे वह मुक्ति अत्यन्त सहज ही सुलभ होती है, अजामिल आदिने भगवन्नामका उच्चारणकर बड़ी आसानीसे मुक्ति पायी है। ऐसा सुनकर वह बड़ा आनन्दित हुआ और नामकी मुक्ति देनेकी शक्तिका स्मरण करता हुआ सहज ही मुक्ति मिल जायेगी इसलिए आनन्दसे विह्वल हुआ रोते-रोते नामोच्चारणपूर्वक अचेतन होकर गिर पड़ा। यहाँ इस मुक्तिकामी साधक द्वारा उच्चरित नाम शुद्धनाम नहीं है और न उसका वह भाव ही कृष्णरति (शुद्धभाव) है क्योंकि कृष्णके प्रति उसका 'सरल भाव' नहीं है। उसका मूल उद्देश्य मुक्ति प्राप्त करना है; कृष्णप्रेम नहीं। उसके द्वारा उच्चरित नाम—नामाभास है तथा उसका भाव—भावाभास है। इसका उदाहरण—कोई विषयभोगकी कामनावाला व्यक्ति दुर्गादेवीकी पूजाकर "वरं देहि धनं देहि" आदि प्रार्थना करता है और "दुर्गादेवी प्रसन्न होकर मेरी मनोकामना शीघ्र ही पूर्ण करेंगी"—ऐसा सोचकर वह रोते-रोते देवीके सामने 'हा दुर्गे'—कहकर लोटता-पोटता है। यहाँ इस व्यक्तिका रोने और गिरने आदिमें जो भाव दिखलायी पड़ता है, वह शुद्ध भाव नहीं है, बल्कि कहीं-कहीं वह 'भावाभास' और कहीं-कहींपर वह 'कुभाव' कहलाता है। शुद्ध कृष्णभजनके बिना 'भाव' उदय नहीं होता। कृष्णसे सम्बन्धित भावको भी कुभाव या भावाभास ही कहेंगे, यदि उसका उद्देश्य भोग या मोक्ष हो। मायावादसे दूषित हृदयमें चाहे जैसा भी भाव क्यों न उत्पन्न हो, उन सबको 'कुभाव' ही कहेंगे। ऐसा व्यक्ति यदि सात-पहर तक अचेतन पड़ा रहे, तो भी उसे भाव नहीं कहा जा सकता है। हाय! समस्त प्रकारकी कामनाओंसे मुक्त और परममुक्त जन भी जिसका निरन्तर अनुसन्धान करते हैं और अत्यन्त भजनशील व्यक्तिको भी कृष्ण जिसे परम गोप्य होनेके कारण सहज ही नहीं दिया करते, वह 'भगवती-रति' शुद्धभक्ति-शून्य और भोग मोक्षकी कामनारूपी भरे हृदयमें भला कैसे उदित हो सकती है?

ब्रजनाथ—प्रभो! अनेक स्थलोंमें ऐसा देखा जाता है कि विषय-भोग और मुक्ति-कामियोंके शरीरमें हरिनाम-सङ्कीर्तन करते-करते पूर्वोक्त भावके लक्षणसमूह उदित होते हैं, उन्हें क्या कहा जाये?

बाबाजी—ऐसे लोगोंमें भावके बाहरी लक्षणोंको देखकर केवल मूर्खलोग ही आश्चर्य प्रकट करते हैं। परन्तु जो लोग भावतत्त्वको ठीक-ठीक समझते हैं, वे ऐसे भावोंको 'रत्याभास' कहते हैं तथा इससे सर्वदा दूर रहते हैं।

विजय—यह रत्याभास कितने प्रकारका होता है?

बाबाजी—दो प्रकारका—प्रतिबिम्ब-रत्याभास और छाया-रत्याभास।

विजय—प्रतिबिम्ब-रत्याभास किसे कहते हैं?

बाबाजी—जो लोग मुक्तिकी कामना रखते हैं, वे ऐसा सोचते हैं कि ब्रह्मज्ञानके बिना मुक्ति नहीं मिलती, परन्तु ब्रह्मज्ञानकी साधना बड़ी कठिन और कष्टदायिनी है। ऐसी दशामें यदि केवल हरिनाम करनेसे ही वह मुक्ति मिल जाये तो अत्यन्त सहज ही और बिना परिश्रम ही ब्रह्मज्ञान मिल जायेगा। ऐसा सोचकर बिना कष्ट सहे ही मुक्ति पानेकी आशासे परमानन्दित होकर उनके शरीरमें अश्रु-पुलक आदि विकारके आभासमात्र उदित होते हैं। ऐसे

अश्रु-पुलकादि भाव-विकारोंको 'प्रतिबिम्बाभास' कहते हैं।

ब्रजनाथ—इसे प्रतिबिम्ब क्यों कहा गया है?

बाबाजी—विषय-भोग और मोक्ष चाहनेवालोंको यदि सौभाग्यसे किसी समय सत्सङ्ग मिल जाता है, तब वे भी भगवन्नाम कीर्त्तन आदि करने लगते हैं और उस समय शुद्धभक्तके हृदय-आकाशमें उदित भाव-चन्द्रका कुछ-कुछ आभास उस मुक्ति-पिपासुके हृदयमें भी उदित हो जाता है। इसीका नाम 'प्रतिबिम्ब' है। भोग और मोक्ष चाहनेवालोंके हृदयमें 'शुद्धभाव' कदापि उदय नहीं होता है। शुद्धभक्तोंका भाव देखकर इनका भावाभास उदित होता है। उस भावाभासका नाम प्रतिबिम्बाभास है। प्रतिबिम्ब भावाभास प्रायः जीवोंका नित्यकल्याण उत्पन्न नहीं करता है, केवल भोग और मोक्ष प्रदानकर दूर हो जाता है। ऐसे भावाभासको एक प्रकारसे नामापराध कहा जा सकता है।

ब्रजनाथ—छाया-भावाभासका स्वरूप बतलाइये।

बाबाजी—आत्मतत्त्वसे अपरिचित सरल कनिष्ठ भक्तजनकी भगवत्प्रिय क्रिया, काल, देश और पात्र आदिके सङ्गसे रतिके लक्षणोंके समान क्षुद्र, कौतूहलमयी, चञ्चला और दुःखहारिणी एक प्रकारकी रति-छाया उदित होती है, उसे ही छाया-रत्याभास कहते हैं। भक्ति कुछ हद तक शुद्ध होनेपर भी दृढ़ नहीं होती, उसी समय यह रत्याभास उदित होता है। जैसा भी हो, यह छाया-भावाभास अनेक सुकृतिके प्रभावसे ही उत्पन्न होता है। क्योंकि छाया-भावाभास सत्सङ्ग द्वारा शुद्ध होकर क्रमशः शुद्धभावके रूपमें उदित हो जाता है। परन्तु स्मरण रहे कि यह भावाभास जितना भी उत्तम क्यों न हो, शुद्ध वैष्णवके प्रति अपराध होनेपर कृष्णपक्षके चन्द्रकी तरह धीरे-धीरे क्षीण होता जाता है। भावाभासकी तो बात ही क्या, शुद्धभाव भी कृष्णभक्तोंके प्रति अपराध होनेपर क्रमशः तिरोहित हो जाता है। सुप्रतिष्ठित मुमुक्षु व्यक्तिका अधिक सङ्ग करनेपर भाव भी भावाभास हो पड़ता है अथवा अपनेमें ईश्वर होनेका अभिमान ला देता है। इसीलिए कहीं-कहीं नृत्य करते-करते नवीन भक्तजनोंमें मुक्ति पक्षीय 'ईश्वर भाव' उदित होते हुए देखा जाता है। नवीन भक्तजन ही बिना सोचे समझे मुमुक्षुओं (मुक्तिकामियों) का सङ्ग करते हैं इसीसे उनमें ये सब उपद्रव उपस्थित होते हैं। इन नवीन भक्तोंको मुमुक्षु व्यक्तियोंका सङ्ग सावधानीसे परित्याग करना चाहिये। कभी-कभी ऐसा देखा जाता है कि किसी व्यक्तिको अकस्मात् भाव उदित हो गया है, इसका समाधान इस प्रकार करना चाहिये कि उस व्यक्तिने पूर्व जन्ममें बहुत ही साधन किया था, परन्तु अभी तक नाना प्रकारकी विघ्न-बाधाओंके कारण उसके पूर्व जन्मके सुसाधनोंका फल उत्पन्न नहीं हो सका था, परन्तु बाधा दूर होते ही अकस्मात् उसके हृदयमें शुद्ध भावका उदय हो गया। कभी-कभी कृष्णकी अहैतुकी कृपासे भी ऐसा श्रेष्ठ भाव अकस्मात् उत्पन्न हो जाता है। इस भावको 'श्रीकृष्ण-प्रसादजभाव' कह सकते हैं। असल भाव प्रकाशित होनेपर भी भावुकके आचरणमें कुछ-कुछ दोष-सा परिलक्षित होनेपर भी उसके प्रति दोषबुद्धि नहीं करनी चाहिये अर्थात् उसमें दोषारोपण नहीं करना चाहिये। क्योंकि भाव उदित होनेपर साधक सब तरहसे कृतकृत्य हो जाता है। ऐसी दशामें उससे पाप-आचरण सम्भव नहीं है। यदि कभी वैसा पापाचार दिखायी पड़े तो इस विषयमें दो प्रकारसे विचार करना चाहिये।

महापुरुष-भक्तका संयोगवश एक पाप कार्य हो गया है, वह उसमें कभी स्थायी रूपमें

नहीं रह सकता, अथवा पूर्व जन्मके कुछ पापाभास हैं, जो भाव उदय होनेपर भी अभी सम्पूर्ण रूपसे नष्ट नहीं हो सके हैं, अब शीघ्र ही नष्ट होनेवाले हैं। ऐसा सोचकर भक्तजनोंके मामूली दोषपर ध्यान नहीं देना चाहिये। यदि ऐसे स्थलपर भी दोष देखा गया तो नामापराध हो जायेगा। नृसिंहपुराणमें ऐसे दोषोंपर ध्यान देनेके लिए निषेध किया गया है—

भगवति च हरावनन्यचेता भृशमलिनोऽपि विराजते मनुष्यः।
न हि शशकलुषच्छविः कदाचित् तिमिरपरो भवतामुपैति चन्द्रः॥

अर्थात् जिस प्रकार चन्द्रमा शशाङ्क युक्त होनेपर भी कभी अन्धकारसे ढक नहीं जाते, उसी प्रकार भगवान् श्रीहरिके प्रति अनन्य भावसे युक्त मानव अतिशय दुराचारी होनेपर भी शोभा पाता रहता है—इस उपदेशसे यह न समझ लेना कि भक्तजन निरन्तर पाप ही किया करते हैं; वास्तवमें भक्तिनिष्ठा उत्पन्न होनेपर पाप-वासना नहीं रहती है। परन्तु जब तक शरीर वर्त्तमान रहता है, तब तक घटनावशतः अकस्मात् कोई पाप कर्म हो जाता है। किन्तु वह अनन्य भक्त अपने भजन प्रभावसे उस पापको तत्क्षण उसी प्रकार जला डालता है, जैसे ज्वलन्त आग रुईके छोटे-से ढेरको जला देती है और आगेके लिए वह सावधान हो जाता है, जिससे पुनः कोई पाप न होने पावे।

अनन्य भक्तिके उदित होनेपर समस्त प्रकारके पाप दूर हो जाते हैं। जो लोग बारम्बार पाप कार्य करते हैं, उन्हें अनन्यभक्ति नहीं हुई है—ऐसा समझना चाहिये। क्योंकि भक्ति-क्रियाके साथ-साथ बारम्बार जान-बूझकर पाप करना नामापराध है, जो भक्तिवृत्तिको जड़से उखाड़कर फेंक देता है। भक्तजन इस अपराधसे बहुत दूर रहते हैं।

रति स्वभावतः निरन्तर उत्तरोत्तर अभिलाषमयी होनेके कारण अशान्त स्वभावयुक्त उष्ण और प्रबल आनन्दमयी होती है तथा संचारी भावरूप उष्णता उगलकर भी करोड़ों चन्द्रसे भी अधिक सुशीतल और अमृतमय स्वादयुक्त होती है।

ब्रजनाथ और विजयकुमार भावतत्त्वकी व्याख्या सुनकर बड़े चकित हुए और भावमें मग्न होकर चुपचाप बैठे रहे। कुछ देरके बाद बोले—प्रभो! आपने हमारे दग्ध हृदयमें उपदेशामृतकी प्रबल रूपमें वर्षाकर प्रेमकी बाढ़ ला दी है। अब हम क्या करें? कहाँ जायें? कुछ भी समझमें नहीं आता है। ब्राह्मणकुलमें जन्म होनेका प्रचुर अभिमान है, दीनताका हृदयमें सर्वथा अभाव है। ऐसी दशामें हमारे लिए भावकी प्राप्ति बहुत दूरकी बात है। तब केवल एकमात्र यही भरोसा है कि आप बड़े प्रेममय और दयालु हैं, एक बूँद प्रेम प्रदान करनेसे हम कृत-कृत्य हो जायेंगे। आपके साथ हमलोगोंका जो पारमार्थिक सम्बन्ध स्थापित हुआ है—वही हमारी आशाका एकमात्र स्थल है। हम अतिशय दीन-हीन और अकिञ्चन हैं और आप भगवत्पार्षद और परम कृपालु हैं। कृपाकर हमें हमारे कर्त्तव्यके विषयमें उपदेश प्रदान करें। मेरी तो ऐसी इच्छा हो रही है कि मैं इसी क्षण घर-बार छोड़कर आपके चरणकमलोंका दास होकर यहीं पड़ा रहूँ।

विजयकुमार उचित अवसर देखकर बोले—प्रभो! ब्रजनाथ अभी बालक हैं, इनकी माता इन्हें गृहस्थ बनाना चाहती हैं। परन्तु ये ऐसा नहीं चाहते। कृपाकर इस विषयमें इन्हें क्या करना चाहिये—आज्ञा दीजिये।

बाबाजी—तुमलोग कृष्णके कृपापात्र हो। अपने संसारको कृष्णका संसार बनाकर कृष्णकी सेवा करो। हमारे महाप्रभुने जगत्‌को जो शिक्षा दी है, जगत् उसी शिक्षापर अमल

करे। जगत्‌में दो प्रकारसे रहकर भगवद्भजन किया जा सकता है—गृहस्थ रहकर अथवा गृह त्याग कर। जब तक गृह-त्यागका अधिकार न हो, तब तक मनुष्यको गृहस्थ रहकर ही कृष्णसेवा करनी चाहिये।

महाप्रभुने अपनी प्रकट लीलाके पहले चौबीस वर्षोंमें जो लीलाकी है—वह गृहस्थ वैष्णवोंके लिए आदर्श और अन्तिम चौबीस वर्षों तक की लीला—गृहत्यागी वैष्णवोंका आदर्श है। गृहस्थ-वैष्णव महाप्रभुजीके गृहस्थ जीवनको लक्ष्यकर अपना आचरण निर्णय करें। मेरी समझसे तुमलोग भी वही करो। ऐसा न समझना कि गृहस्थाश्रममें कृष्णप्रेमकी पराकाष्ठा प्राप्त नहीं की जा सकती है—महाप्रभुके अधिकांश कृपापात्र तो गृहस्थ ही थे, जिनकी चरणधूलिके लिए गृहत्यागी वैष्णव भी प्रार्थना करते हैं।

रात अधिक हो गयी। विजय और ब्रजनाथ दोनोंने अन्य वैष्णवोंके साथ हरिगुण गान करते-करते श्रीवास-अङ्गनमें सारी रात बितायी। प्रातः काल शौचादि क्रियाओंसे निबटकर गङ्गास्नान करनेके पश्चात् गुरुदेव और वैष्णवोंको दण्डवत् प्रणाम किया। पुनः सङ्कीर्त्तनके बाद महाप्रसाद सेवा कर तृतीय पहर घर लौटे। विजयकुमारने अपनी बहिनको बुलाकर कहा—तुम ब्रजनाथके विवाहकी तैयारी करो। ये विवाह करेंगे। मैं कुछ दिनोंके लिए मोदद्रुम जा रहा हूँ। विवाहकी तिथि तय होनेपर खबर देना। मैं सपरिवार आकर विवाहका शुभ कार्य सम्पन्न करूँगा। मैं कल ही हरिनाथ (उनके छोटे भाई) को यहाँ भेज दूँगा। वह यहाँ रहकर सारी व्यवस्था करेगा।

ब्रजनाथकी माँ और दादीको तो मानो पृथ्वीका राज्य मिल गया। वे बड़ी आनन्दित हुई। उन्होंने विजयकुमारको नये वस्त्र आदि देकर विदा किया।

॥बाईसवाँ अध्याय समाप्त॥

तेईसवाँ अध्याय

प्रमेयके अन्तर्गत नामतत्त्वका विचार

बिल्वपुष्करिणी एक बहुत ही रमणीक ग्राम है। इसके उत्तर और पश्चिम दो दिशाओंमें भगवती भागीरथी प्रवाहित होती हैं। गाँवके एक कोनेमें बेलके वृक्षोंसे घिरा हुआ एक बड़ा ही रम्य सरोवर है, जिसके तीरपर 'बिल्वपक्ष' महादेवका मन्दिर है। इस मन्दिरसे थोड़ी ही दूरपर 'भवतारण' विराजमान हैं। बिल्वपुष्करिणी और ब्राह्मण—पुष्करिणीके बीचमें 'सिमुलिया' नामक गाँव है। ये सभी गाँव श्रीनवद्वीप नगरके अन्तर्गत हैं। बिल्वपुष्करिणी गाँवके बीचोंबीचसे एक बड़ा रास्ता चला गया है। इसी बड़े रास्तेके ऊपर ही उत्तरकी ओर ब्रजनाथका घर है। विजयकुमार अपनी बहिनके यहाँसे विदा होकर कुछ दूर चले आनेपर रास्ते में सोचने लगे कि श्रीनामतत्त्वको श्रीबाबाजीके निकट जान करके ही घर लौटना ठीक रहेगा। ऐसा सोचकर वे बिल्वपुष्करिणी लौट आये और बहिन से बोले—मैं यहाँ और भी दो-एक दिन ठहरकर घर लौटूंगा।

मामाके लौट आनेसे ब्रजनाथको बड़ी प्रसन्नता हुई। दोनों चण्डी-मण्डपमें बैठकर दशमूल शिक्षाके सम्बन्धमें बातचीत करने लगे अब तक सूर्यदेव अस्ताचलको जानेकी तैयारी कर चुके थे। पक्षीसमूह अपने-अपने घोंसलेकी ओर मुख किये तीव्रगतिसे उड़ रहे थे। पशुओंके दल जल्दी-जल्दी पैर बढ़ाते हुए अपने-अपने घरोंको लौट रहे थे। इसी समय श्रीरामानुज-सम्प्रदायके दो वैष्णव सन्त वहाँ पहुँचे और उन्होंने ब्रजनाथके घरके सामने ही एक कटहलके वृक्षके नीचे अपना आसन जमाया। इधर-उधरसे कुछ लकड़ियाँ इकट्ठीकर उन्होंने धूनी भी जला ली। उनके ललाटपर श्रीसम्प्रदायका तिलक सुशोभित हो रहा था। मुख-मण्डलपर अद्भुत शान्ति विराज रही थी।

ब्रजनाथकी माता अतिथियोंका बड़ा सत्कार करती थीं। अतिथियोंको भूखा जानकर उन्होंने घरसे नाना प्रकारकी भोज्य-सामग्रियाँ लेकर दोनोंके सामने उपस्थितकर उनसे रसोई बनाकर भोजन करनेके लिए अनुरोध किया। वे सन्तुष्ट होकर रोटी बनाने लगे। ब्रजनाथ और विजयकुमार दोनों वैष्णवोंके शान्त-प्रशान्त मुख-मण्डल देखकर उनके निकट चले आये। ब्रजनाथ और विजयकुमारके गलेमें तुलसी माला और शरीरमें द्वादश तिलक देखकर दोनों वैष्णव-सन्त बड़े प्रसन्न हुए और अपने कम्बलको और भी चौड़ा बिछाकर उसके ऊपर उन्हें बड़े सम्मानसे बैठाया।

उनका परिचय प्राप्त करनेके उद्देश्यसे ब्रजनाथने पूछा—महाराज! आपलोग कहाँसे आ रहे हैं?

दोनोंमेंसे एक बाबाजीने उत्तर दिया—हमलोग अयोध्याजीसे आ रहे हैं। हमारी बहुत दिनोंसे इच्छा हो रही थी कि श्रीचैतन्य महाप्रभुकी लीलाभूमि श्रीनवद्वीपधामका दर्शन करें। आज हमारा परम सौभाग्य है कि हम भगवान् की कृपासे श्रीनवद्वीपधाममें पहुँच गये हैं। हम यहाँपर कुछ दिन रहकर श्रीमन् महाप्रभुकी लीलास्थलियोंका दर्शन करना चाहते हैं।

ब्रजनाथने कहा—आपलोग श्रीनवद्वीपमें ही पहुँच गये हैं; आज आपलोग यहीं विश्रामकर श्रीमन् महाप्रभुजीका जन्मस्थान और श्रीवास-अङ्गनका दर्शन करें।

ब्रजनाथकी बात सुनकर वे दोनों वैष्णव बड़े आनन्दित हुए और गीताका यह श्लोक (१५/६) पाठ करने लगे—

यद्गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम।[१]

आज हमारा जीवन धन्य हुआ—सप्त—पुरियोंमें प्रधान श्रीमायातीर्थका दर्शन कर हम धन्य हुए।

तत्पश्चात् अर्थ-पंचक[२] के सम्बन्धमें विचार हुआ। दोनों रामानुज वैष्णवोंने अर्थ-पंचकके स्व-स्वरूप, पर-स्वरूप, उपाय-स्वरूप, पुरुषार्थ-स्वरूप और विरोधी-स्वरूप—इन पाँच विषयोंके विचार प्रस्तुत किये। विजयकुमार उन विचारोंको सुनकर 'तत्त्व-त्रय' के ऊपर नाना प्रकारसे विचार करने लगे।

कुछ देर तक विचार होनेपर विजयकुमार बोले—आपके सम्प्रदायमें श्रीनामतत्त्वके सम्बन्धमें क्या सिद्धान्त है?

परन्तु इस प्रश्नके उत्तरमें उन दोनों वैष्णवोंने जो कुछ बतलाया, उसे सुनकर ब्रजनाथ और विजयकुमारको तनिक भी सुख न हुआ।

ब्रजनाथने कहा—मामाजी! मैंने बहुत ही विचारकर देखा है कि कृष्णनाम ग्रहण करनेके अतिरिक्त जीवके कल्याणका कोई दूसरा उपाय नहीं है। हमारे प्राणेश्वर श्रीगौराङ्ग महाप्रभुजी शुद्ध कृष्णनामका जगत्में प्रचार करनेके लिए ही इस मायातीर्थमें अवतीर्ण हुए थे।

श्रीगुरुदेवने गत कल हमें जो उपदेश प्रदान किया था, उसमें उन्होंने कहा था कि—समस्त प्रकारकी भक्तिके अङ्गोंमें श्रीनाम ही प्रधान है। उन्होंने यह भी कहा था कि नामतत्त्वको पृथक् रूपमें समझ लेना। अतएव चलिये आज ही नामतत्त्वको भलीभाँति समझ लें।

सन्ध्या हो गयी है। कुछ अँधेरा भी छा गया है। श्रीवास-अङ्गनमें भगवान्की सन्ध्या आरति हो चुकी है। वैष्णवजन बकुल-चबूतरेपर बैठे हैं। वृद्ध रघुनाथदास बाबाजी भी वहीं उनके बीचमें बैठकर तुलसी मालापर संख्यापूर्वक नाम कर रहे हैं। इसी समय ब्रजनाथ और विजयकुमारने उनके चरणोंमें साष्टाङ्ग प्रणाम किया।

बाबाजी महोदयने उनका आलिङ्गन करते हुए कहा—तुम लोगोंका भजन-सुख बढ़ रहा है तो?

विजयकुमारने हाथ जोड़कर कहा—प्रभो! आपकी कृपासे हमारा सब प्रकारसे कल्याण है। कृपाकर आज हमें नामतत्त्वका उपदेश प्रदान कीजिये।

बाबाजी महाराज बड़े प्रसन्न हुए और बोले—भगवन्नाम दो प्रकारके हैं—मुख्य नाम और गौण नाम। मायिक गुण अवलम्बनपूर्वक जगत् सृष्टि सम्बन्धी जो सब नाम प्रचलित हैं, वे सभी गौण अर्थात् गुण-सम्बन्धी हैं। सृष्टिकर्त्ता, जगत्पाता, विश्वनियन्ता, विश्वपालक, परमात्मा आदि बहुत-से नाम गौण नाम हैं। इनके अतिरिक्त ब्रह्म आदि नाम भी गौण नामके ही अन्तर्गत हैं। इन गौण नामोंका फल अत्यन्त अधिक होनेपर भी इनके द्वारा चित्-फल सहसा उदय नहीं होता। मायिक काल और देशके अतीत चित्-जगत्में जो नाम नित्य वर्त्तमान हैं, वे नामसमूह—चिन्मय और मुख्य हैं। नारायण, वासुदेव, जनार्दन, हृषिकेश,

---

(१) मेरे उस परमधाममें जानेपर वहाँसे फिर लौटना नहीं होता।

(२) अर्थ-पंचक—श्रीरामानुज सम्प्रदायका एक छोटा परन्तु बड़ा ही उपादेय ग्रन्थ है। इसमें पाँच विषयोंका सुन्दर विवेचन किया गया है।

हरि, अच्युत, गोविन्द, गोपाल, राम आदि मुख्य नाम हैं। ये नाम भगवद्धाममें भगवत्-स्वरूपके साथ एक होकर वर्त्तमान हैं। जड़-जगत्में महासौभाग्यशाली पुरुषोंकी जिह्वापर ये नाम भक्ति द्वारा आकृष्ट होकर नृत्य करते हैं। नामके साथ मायिक जगत्का कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। नाममें स्वभावतः भगवत्-स्वरूपकी सारी शक्तियाँ विद्यमान होती हैं। इसलिए नाम भी सर्वशक्तिसम्पन्न हैं। वे मायिक जगत्में अवतीर्ण होकर मायाको ध्वंस करनेमें प्रवृत्त होते हैं। इस मायिक संसारमें हरिनामके अतिरिक्त जीवोंका कोई दूसरा बन्धु नहीं है। बृहन्नारदीयपुराणमें हरिनामको ही एकमात्र गति बतलाया गया है—

हरेर्नामैव नामैव नामैव मम जीवनम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥[३]

(बृ० पु० ३८/१२६)

नामकी अनन्त शक्तियाँ हैं। पातकोंका ध्वंस करनेमें हरिनामकी बड़ी अद्भुत शक्ति है। हरिनाम क्षण भरमें समस्त प्रकारके पातकोंको जला डालते हैं।

अवशेनापि यन्नाम्नि कीर्तिते सर्वपातकैः।
पुमान् विमुच्यते सद्यः सिंहत्रस्तैर्मृगैरिव॥[४]

(गरुड़पुराण १/२३२/१२)

नामाश्रित व्यक्तिके सारे दुःख श्रीनाम द्वारा दूर हो जाते हैं। नामसे सर्व प्रकारके रोग भी दूर हो जाते हैं—

आधयो व्याधयो यस्य स्मरणानामकीर्त्तनात्।
तदैव विलयं यान्ति तमनन्तं नमाम्यहम्॥[५]

(स्कन्दपुराण)

हरिनाम करनेवाला अपने कुल, समाज और पृथ्वीको पवित्र करता हैं—

महापातकयुक्तोऽपि कीर्त्तयन्ननिशं हरिम्।
शुद्धान्तःकरणो भूत्वा जायते पंक्तिपावनः॥[६]

---

(३) सत्ययुगमें ध्यान, त्रेतामें यज्ञ, द्वापरमें अर्चनकी प्रधानता होती है। परन्तु कलियुगमें हरिनाम ही मेरा जीवन है, हरिनाम ही मेरा जीवन है, हरिनाम ही मेरा जीवन है। कलियुगमें नामके अतिरिक्त जीवकी कोई दूसरी गति नहीं, दूसरी गति नहीं, दूसरी गति नहीं है। तीन बार उक्ति द्वारा कलियुगमें दूसरे साधनोंकी निरर्थकता दिखलायी गयी है।

(४) जो व्यक्ति अनजानमें भी श्रीनारायणका कीर्त्तन करता है, वह तत्क्षण समस्त प्रकारके पापोंसे छुटकारा पा लेता है। हरिनाम-कीर्त्तन करनेसे पापी व्यक्ति पापके हाथोंसे ठीक उसी प्रकारसे छुटकारा पा लेता है, जैसे मृग एक भयानक सिंहके हाथसे छुटकारा पा ले।

(५) जिनके 'नाम' स्मरण और कीर्त्तनसे समस्त प्रकारकी आधिव्याधियाँ सम्पूर्ण रूपसे दूर हो जाती हैं, मैं उन अनन्तदेवको नमस्कार करता हूँ।

(६) यदि महापापी भी निरन्तर हरिनाम करे, तो उसका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है और वह पंक्ति-पावन बन जाता है अर्थात् वह द्विजत्व प्राप्तकर पृथ्वीको पवित्र कर देता है।

(ब्रह्माण्डपुराण)

नामपरायण व्यक्तिके सारे दुःख, सारे उपद्रव, समस्त प्रकारके रोग आदि शान्त हो जाते हैं—

सर्व-रोगोपशमं सर्वोपद्रवनाशनम्।
शान्तिदं सर्वरिष्टानां हरेर्नामानुकीर्त्तनम्॥[७]

(बृहद्विष्णुपुराण)

नामोच्चारणकारीको कलिके दोष स्पर्श नहीं करते—

हरे केशव गोविन्द वासुदेव जगन्मय।
इतीरयन्ति ये नित्यं न हि तान् बाधते कलिः॥[८]

(बृहन्नारदीयपुराण)

नाम श्रवण करनेके साथ ही नारकीका उद्धार हो जाता है—

यथा यथा हरेर्नाम कीर्त्तयन्ति स्म नारकाः।
तथा तथा हरौ भक्तिमुद्वहन्तो दिवं ययुः॥[९]

(नृसिंह—तापनी)

हरिनामोच्चारणसे प्रारब्ध कर्म विनष्ट हो जाते हैं—

यन्नामधेयं म्रियमाण आतुरः पतन् स्खलन् वा विवशो गृणन् पुमान्।
विमुक्तकर्मार्गल उत्तमां गतिं प्राप्नोति यक्ष्यन्ति न तं कलौ जनाः॥[१०]

(श्रीमद्भा० १२/३/४४)

हरिनाम—कीर्त्तनकी महिमा वेद पाठसे बढ़कर है—

मा ऋचो मा यजुस्तात मा साम पठ किञ्चन।
गोविन्देति हरेर्नाम गेयं गायस्व नित्यशः॥[११]

(स्कन्दपुराण)

---

(७) श्रीहरिनामका कीर्त्तन करनेसे सर्व प्रकारके रोग दूर हो जाते हैं, सब तरहके उपद्रव शान्त हो जाते हैं, सर्व प्रकारके विघ्न विनष्ट हो जाते हैं और पराशान्ति प्राप्त हो जाती है।

(८) जो लोग नित्यकाल "हे हरे! हे गोविन्द! हे केशव! हे वासुदेव! हे जगन्मय!"—ऐसा कहकर कीर्त्तन करते हैं, उन्हें कलि तनिक भी कष्ट नहीं दे सकता है।

(९) अतिशय नारकी व्यक्ति भी जहाँ-जहाँ श्रीहरिका नामकीर्त्तन करते हैं, वे उन-उन स्थानोंमें ही हरिके प्रति भक्ति प्राप्तकर दिव्य धाममें गमन करते हैं।

(१०) मनुष्य मरनेके समय आतुरताकी स्थितिमें अथवा गिरते या फिसलते समय विवश होकर भी यदि भगवान्के किसी एक नामका उच्चारण कर ले, तो उसके सारे कर्मबन्धन छिन्न-भिन्न हो जाते हैं और उसे उत्तमसे उत्तम गति प्राप्त होती है। परन्तु हाय रे कलियुग! कलियुगसे प्रभावित होकर लोग उन भगवान्की आराधनासे भी विमुख हो जाते हैं।

(११) ऋक्, साम और यजुः आदि वेदोंके पठन-पाठनकी कोई आवश्यकता नहीं, केवल श्रीहरिका 'गोविन्द' नाम ही सङ्कीर्त्तन करने योग्य है, तुम निरन्तर यही करना।

हरिनाम सभी तीर्थोंसे बढ़कर है—

तीर्थकोटीसहस्राणि तीर्थकोटीशतानि च।
तानि सर्वाण्यवाप्नोति विष्णोर्नामानि कीर्त्तनात्॥[१२]

(वामनपुराण)

हरिनामका आभास भी समस्त प्रकारके सत्कर्मोंसे अनन्त गुण अधिक फलदायक है—

गो-कोटी-दानं ग्रहणे खगस्य प्रयागगङ्गोदककल्पवासः।
यज्ञायुतं मेरुसुवर्णदानं गोविन्द कीर्त्तेर्न समं शतांशैः॥[१३]

(स्कन्दपुराण)

हरिनाम समस्त प्रकारके अर्थोंको प्रदान कर सकते हैं—

एतत् षड्वर्गहरणं रिपुनिग्रहणं परम्।
अध्यात्ममूलमेतद्धि विष्णोर्नामानुकीर्त्तनम्॥[१४]

(स्कन्दपुराण)

हरिनाम सर्वशक्तिसम्पन्न हैं—

दानव्रततपस्तीर्थक्षेत्रादीनाञ्च या स्थिताः।
शक्तयो देवमहतां सर्वपापहराः शुभाः॥

राजसूयाश्वमेधानां ज्ञानसाध्यात्मवस्तुनः।
आकृष्य हरिणा सर्वाः स्थापिता स्वेषु नामसु॥[१५]

(स्कन्दपुराण)

हरिनाम सम्पूर्ण जगत्को आनन्द प्रदान करते है—

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।[१६]

(गीता ११/३६)

नामोच्चारणकारीको नाम जगत्पूज्य बना देते हैं—

नारायण जगन्नाथ वासुदेव जनार्दन।

---

(१२) एक सौ करोड़ या एक हजार करोड़ तीर्थोंमें भ्रमण करनेका जो फल होता है, वह सब कुछ केवल श्रीविष्णुके नामोंके कीर्त्तनके द्वारा ही पाया जाता है।

(१३) सूर्य ग्रहण या चन्द्र ग्रहणके दिन कोटि गोदान, प्रयाग या गङ्गातटपर एक कल्पतकका वास, हजारों यज्ञ और सुमेरु पर्वतके समान ऊँचे सोनेके पर्वतका दान—यह सब कुछ 'श्रीगोविन्द' नामके कीर्त्तनके सौवें भागके बराबर भी नहीं हो सकता।

(१४) श्रीविष्णुका नामसङ्कीर्त्तन जन्म-मृत्यु आदि षड्वर्गका विनाशक, काम-क्रोध आदि षड्रिपुओंको दमन करनेवाला और अध्यात्म ज्ञानका मूल है।

(१५) दानमें, व्रतमें, तपमें, तीर्थ-क्षेत्रोंमें, प्रधान-प्रधान देवताओंमें समस्त प्रकारके पापोंको हरण करनेवाले सत्कर्मोंमें, शक्तिसमूहमें, राजसूय और अश्वमेध यज्ञादिमें तथा ज्ञान-साध्य आत्म वस्तुमें—जहाँ भी जो कुछ है, श्रीहरिने उसे वहाँसे आकर्षण कर अपने नाममें स्थापन कर दिया है।

(१६) हे हृषिकेश! आपके यश-कीर्त्तनको सुनकर जगत् अत्यन्त हर्षित और अनुरागको प्राप्त हो रहा है।

इतीरयन्ति ये नित्यं ते वै सर्वत्र वन्दिताः॥[१७]

(बृ० पु०)

नाम ही अगतियोंके एकमात्र गति हैं—

अनन्यगतयो मर्त्त्या भोगिनोऽपि परन्तपाः।
ज्ञानवैराग्यरहिता ब्रह्मचर्यादिवर्जिताः॥
सर्वधर्मोज्झिताः विष्णोर्नाममात्रैकजल्पकाः।
सुखेन यां गतिं यान्ति न तां सर्वेऽपि धार्मिकाः॥[१८]

(पद्मपुराण)

हरिनाम सदा-सर्वदा और सभी अवस्थाओंमें किया जा सकता है—

न देशनियमस् तस्मिन् न कालनियमस्तथा।
नोच्छिष्टादौ निषेधोऽस्ति श्रीहरेर्नाम्नि लुब्धक॥[१९]

(विष्णु धर्मोत्तर)

हरिनाम मुक्ति चाहनेवालोंको अनायास ही मुक्ति प्रदान करते हैं—

नारायणाच्युतानन्तवासुदेवेति यो नरः।
सततं कीर्त्तयेद्भुवि याति मल्लयतां स हि॥[२०]

(वराहपुराण)

किं करिष्यति सांख्येन किं योगैर्नरनायक।
मुक्तिमिच्छसि राजेन्द्र कुरु गोविन्दकीर्त्तनम्॥[२१]

(गरुड़पुराण)

हरिनाम जीवको वैकुण्ठलोककी प्राप्ति करा देते हैं—

सर्वत्र सर्वकालेषु येऽपि कुर्वन्ति पातकम्।
नामसंकीर्त्तनं कृत्वा यान्ति विष्णोः परं पदम्॥[२२]

---

(१७) जो लोग निरन्तर हे नारायण! हे जगन्नाथ! हे वासुदेव! हे जनार्दन! इस प्रकार कीर्त्तन करते हैं, वे सर्वत्र पूजित होते हैं।

(१८) जिनकी कोई दूसरी गति नहीं है, जो भोगी हैं, दूसरोंको पीड़ा पहुँचाते हैं, ज्ञान और वैराग्यसे रहित हैं, ब्रह्मचर्य-वर्जित हैं और जो समस्त धर्मोसे बाहर हैं, वे केवलमात्र विष्णुका नामकीर्त्तन कर जो गति प्राप्त करते हैं उस गतिको सारे धार्मिकजन एक साथ मिलकर भी प्राप्त नहीं कर सकते।

(१९) हे नाम-लोभित्! भगवन्नाम-कीर्त्तनमें देश और कालका कोई नियम नहीं है तथा उच्छिष्ट-मुखसे अथवा किसी भी अशुचि अवस्थामें इसका निषेध नहीं है अर्थात् कोई भी व्यक्ति पवित्र और अपवित्र समस्त अवस्थाओंमें हरिनाम-कीर्त्तन कर सकता है।

(२०) जो मनुष्य 'नारायण', 'अच्युत', 'वासुदेव'—इन नामोंका निरन्तर कीर्त्तन करता हुआ पृथ्वीपर विचरण करता है, वह मेरे साथ एकलोकमें—गमन करता है।

(२१) हे राजेन्द्र! यदि आप मुक्त होना चाहते हैं, तो आप श्रीगोविन्दका नाम कीर्त्तन कीजिये। हे नरश्रेष्ठ। सांख्य या योगसे कुछ भी नहीं होनेका, ये क्या कर सकते हैं?

(२२) जो सर्वत्र और सर्वदा पाप कार्य करते हैं, वे भी नामसङ्कीर्त्तन कर विष्णुका परम पद प्राप्त कर लेते हैं।

(नन्दीपुराण)

हरिनाम भगवान्‌को प्रसन्न करानेके लिए सर्वोत्तम हैं—

नामसंकीर्त्तनं विष्णोः क्षुत्तृट्प्रपीडितादिषु।
करोति सततं विप्रास्तस्य प्रीतो ह्यधोक्षजः॥(२३)

(बृहन्नारदीयपुराण)

हरिनाम भगवान्‌को वशीभूत करनेमें समर्थ हैं—

ऋणमेतत् प्रवृद्धं मे हृदयान्नापसर्पति।
यद्गोविन्देति चुक्रोश कृष्णा मां दूरवासिनम्॥(२४)

(महाभारत)

हरिनाम जीवके परम पुरुषार्थ हैं—

इदमेव हि माङ्गल्यमेतदेव धनार्जनम्।
जीवितस्य फलञ्चैतद्यद्दामोदरकीर्त्तनम्॥(२५)

(स्कन्द और पद्मपुराण)

हरिनाम-कीर्त्तन सब प्रकारके भक्तिसाधनोंमें श्रेष्ठ है—

अघच्छित्स्मरणं विष्णोर्वहायासेन साध्यते।
ओष्ठस्पन्दनमात्रेण कीर्त्तनं तु ततो वरम्॥(२६)

(वैष्णव-चिन्तामणि)

यदभ्यर्च्य हरिं भक्त्या कृते क्रतुशतैरपि।
कलं प्राप्नोत्यविकलं कलौ गोविन्दकीर्त्तनम्॥(२७)

(विष्णु-रहस्य)

कृते यद्ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्त्तनात्॥(२८)

---

(२३) हे विप्रगण! भूख और प्याससे अत्यन्त पीड़ित होनेपर भी जो निरन्तर विष्णुका नामसङ्कीर्त्तन करते हैं, उनके प्रति अधोक्षज विष्णु अत्यन्त प्रसन्न रहते हैं।

(२४) बहुत ही दूर रहनेके कारण द्रौपदीने मुझे जोरसे 'है गोविन्द' कहकर पुकारा था। उसकी कातर पुकारका मुझपर बहुत बड़ा ऋण हो गया, जो आज भी मेरे हृदयसे उतर नहीं रहा है।

(२५) भगवान्‌के 'दामोदर'-नामका कीर्त्तन ही कल्याणका एकमात्र हेतु, धन-संग्रह और जीवनका फल है।

(२६) विष्णुके स्मरणसे बड़े परिश्रमसे पाप विनष्ट होते हैं, परन्तु उनके नामकीर्त्तन द्वारा वे पाप अति सहज ही नष्ट हो जाते हैं। भगवन्नाम ओष्ठस्पन्दन मात्रसे ही कीर्त्तन हो पड़ता है, जो स्मरणसे अतिशय श्रेष्ठ है।

(२७) सत्ययुगमें श्रद्धापूर्वक सैकड़ों यज्ञ आदिके द्वारा जो फल लाभ होता है, कलिकालमें श्रीगोविन्दके नामकीर्त्तन द्वारा वे समस्त फल पाये जा सकते हैं।

(२८) सत्ययुगमें भगवान्‌का ध्यान करनेसे, त्रेतामें बड़े-बड़े यज्ञोंके द्वारा उनकी आराधना करनेसे और द्वापरमें विधिपूर्वक उनका अर्चन करनेसे जो फल मिलता है, वह कलियुगमें केवल भगवन्नामका कीर्त्तन करनेसे ही प्राप्त हो जाता है।

(श्रीमद्भा० १२/३/५२)

विजयकुमार! अब विचार करके देखो, हरिनामका आभास भी समस्त सत्कर्मोंसे श्रेष्ठ है। क्योंकि सत्कर्म मात्र ही उपाय-स्वरूप होकर काम्यफलको प्रदान करके दूर हो जाता है। विशेषतः सत्कर्म जैसा भी क्यों न हो, जड़मय होता है। परन्तु हरिनाम चिन्मय हैं। अतएव उपाय-स्वरूप होकर भी फलके स्थानमें वे स्वयं ही उपेय-स्वरूप हैं और भी देखो, भक्तिके जो सब अङ्ग बतलाये गये हैं, वे सभी हरिनामका आश्रय लेकर वर्त्तमान हैं।

विजय—प्रभो! हरिनाम पूर्ण चिन्मय हैं—यह मुझे अच्छी तरहसे विश्वास हो गया है। फिर भी नामतत्त्वके सम्बन्धमें शङ्कारहित होनेके लिए यह समझना आवश्यक है कि अक्षरात्मक नाम चिन्मय कैसे हो सकते हैं? अतः आप कृपया इस विषयको स्पष्ट करें।

बाबाजी—पद्मपुराणमें नामका स्वरूप बतलाया गया है—

नाम चिन्तामणिः कृष्णश्चैतन्यरसविग्रहः।
पूर्णः शुद्धो नित्य मुक्तोऽभिन्नत्वान्नामनामिनोः॥(२९)

नाम और नामी परस्पर अभेद तत्त्व हैं। इसलिए नामी कृष्णके समस्त चिन्मय गुण उनके नाममें हैं नाम सर्वदा पूर्ण-तत्त्व हैं, हरिनाममें जड़-संस्पर्श नहीं है, वे नित्यमुक्त हैं, क्योंकि वे मायिक गुणों द्वारा कभी आबद्ध नहीं होते।

नाम—स्वयं कृष्ण हैं, अतएव चैतन्य-रसके घन-विग्रह हैं। नाम-चिन्तामणि हैं, उनसे जो कुछ भी माँगा जाये, वे सब कुछ देनेमें समर्थ हैं।

विजय—नामाक्षर किस प्रकार मायिक शब्दसे परे हो सकता है?

बाबाजी—जड़-जगत्में हरिनामका जन्म नहीं हुआ है। चित्कण-स्वरूप जीव शुद्ध स्वरूपमें अवस्थित होकर अपने चिन्मय शरीरसे हरिनामका उच्चारण करनेका अधिकारी है। परन्तु मायाबद्ध होनेपर जड़-इन्द्रियोंके द्वारा वह शुद्धनाम नहीं कर पाता। ह्लादिनीशक्तिकी कृपा होनेपर जिस समय स्व-स्वरूपकी क्रिया आरम्भ हो जाती है, उसी समय उनका नामोदय होता है। नामोदय होते ही शुद्धनाम मनोवृत्तिके ऊपर कृपापूर्वक अवतीर्ण होकर भक्तकी भक्ति द्वारा पवित्र हुई रसनाके ऊपर नृत्य करते हैं। नाम अक्षराकृति नहीं हैं, केवल जड़ जिह्वाके ऊपर नृत्य करनेके समय वे वर्णके आकारमें प्रकाशित होते हैं—यही नामका रहस्य है।

विजय—मुख्य नामोंमें कौन-सा नाम अतिशय मधुर है?

बाबाजी—शतनामस्तोत्रमें कहते हैं—

विष्णोरेकैकं नामापि सर्ववेदाधिकं मतम्।
तादृक्नामसहस्रेण रामनामसमं स्मृतम्॥(३०)

पुनः ब्रह्माण्डपुराणमें भी कहते हैं—

---

(२९) नाम और नामीमें कोई भेद न होनेके कारण नाम ही चिन्तामणिस्वरूप हैं, अर्थात् परम पुरुषार्थको देनेवाले हैं। ये 'नाम' कृष्णचैतन्य रस-स्वरूप, पूर्ण शुद्ध अर्थात् अपरिच्छिन्न एवं माया-सम्बन्धसे रहित नित्यमुक्त हैं।

(३०) विष्णुका एक-एक नाम समस्त वेदोंके पाठसे भी अधिक फलदायक होता है। परन्तु ऐसे-ऐसे सहस्र नाम एकत्र मिलकर एक 'राम' नामके बराबर होते हैं।

सहस्रनाम्नां पुण्यानां त्रिरावृत्या तु यत् फलम्।
एकावृत्या तु कृष्णस्य नामैकं तत् प्रयच्छति॥(३१)

कृष्णनाम ही सर्वोत्तम नाम है। इसलिए हमारे प्राणनाथ श्रीगौराङ्गसुन्दरने जिस 'हरे कृष्ण हरे कृष्ण' इत्यादि नामकी शिक्षा दी है, उसी नामको निरन्तर लेते रहो।

विजय—हरिनाम साधनकी पद्धति क्या है?

बाबाजी—तुलसीकी माला या उसके अभाव में हाथपर संख्या ठीक रखकर अपराधोंसे दूर रहकर निरन्तर हरिनाम करना चाहिये। शुद्धनाम होनेसे नामके फल-प्रेमकी प्राप्ति होती है। संख्या रखनेका तात्पर्य यह है कि साधक यह समझ सके कि उसका नाम-अनुशीलन बढ़ रहा है या घट रहा है। तुलसी हरिको अत्यन्त प्रिय हैं। अतः उनके स्पर्शसे नामका अधिक फल अनुभव किया जाता है। 'नाम' करनेके समय कृष्णके 'स्वरूप' और 'नाम' में अभेद बुद्धि रखकर नाम करना चाहिये।

विजय—प्रभो! साधन-अङ्ग ९ या ६४ प्रकारके होते हैं, फिर नामरूपी केवल एक अङ्ग ही निरन्तर होनेसे दूसरे-दूसरे साधनोंके लिए समय कैसे निकाला जाये?

बाबाजी—यह कोई कठिन बात नहीं। ६४ प्रकारके भक्तिअङ्ग नवधा भक्तिके अन्तर्गत हैं। श्रीमूर्त्तिका अर्चन हो अथवा निर्जनमें (३२) नामका साधन हो, भक्तिके नौ प्रकारके अङ्गोंका सभी जगह अनुशीलन किया जा सकता है। श्रीमूर्त्तिके सामने कृष्णनामका शुद्ध रूपसे श्रवण, कीर्त्तन और स्मरण आदि होनेपर ही नाम साधन करना हो गया है। जहाँ श्रीमूर्ति नहीं हैं, वहाँ श्रीमूर्तिका स्मरण करे और उस श्रीमूर्त्तिमें उनका नाम-श्रवण-कीर्त्तनादि रूप नवधाभक्तिके समस्त अङ्गोंका साधन करे। जिनकी किसी सौभाग्यसे नामकीर्त्तनमें विशेष रुचि होती है, वे निरन्तर 'नाम' कीर्त्तन करते हैं।

इसीसे उनका समस्त अङ्गोंका पालन करना हो जाता है। श्रवण—कीर्त्तन आदि साधनोंमें श्रीनामकीर्त्तन सबसे प्रबल हैं। कीर्त्तनानन्दके समय दूसरे साधनाङ्गोंका परिचय व्यक्त न होनेपर भी वही यथेष्ठ है।

विजय—निरन्तर नाम कैसे हो?

बाबाजी—निद्राकालके अतिरिक्त उठते-बैठते, खाते-पीते या कोई काम करते-करते—सब समय नामकीर्त्तन करनेका नाम निरन्तर नामकीर्त्तन है। नामसाधनमें देश, काल, अवस्था या शुचि-अशुचि सम्बन्धी कोई निषेध नहीं है।

विजय—अहा! नाम भगवान्‌की कृपा असीम है। परन्तु जब तक आप हमें कृपाकर

---

(३१) विष्णुके पवित्र सहस्रनामोंके तीन बार उच्चारणका जो फल होता है, कृष्णनाम एक बार उच्चारणसे वही फल दिया करते हैं। तात्पर्य यह है कि एक रामनाम हजार विष्णुनामके बराबर है और तीन हजार विष्णुनाम अर्थात् तीन रामनाम एक कृष्णनामके बराबर हैं। तीन बार रामनामका फल वही होता है जो एकबार कृष्णनाम करनेसे होता है।

(३२) सत्रहवें अध्यायमें उद्धृत 'यस्य यत्संगति' श्लोकमें जिस प्रकार श्रीलभक्तिविनोद ठाकुरने निःसङ्गका अर्थ साधुसङ्ग किया है, उसी प्रकार यहाँपर भी निर्जनका तात्पर्य साधुसङ्गमें रहकर भजन करना ही है।

निरन्तर नाम करनेकी शक्ति प्रदान नहीं करते, तब तक वैष्णव—पदवी प्राप्त होनेकी कोई आशा नहीं है।

बाबाजी—मैंने पहले ही बतलाया है कि वैष्णव तीन प्रकारके होते हैं—कनिष्ठ, मध्यम और उत्तम। श्रीचैतन्य महाप्रभुजीने सत्य-राजखाँको बतलाया था कि जो एक बार कृष्णनाम करते हैं—वे वैष्णव हैं, जो निरन्तर कृष्णनाम करते हैं—वे मध्यम वैष्णव है और जिन्हें देखनेसे ही दूसरोंके मुखमें कृष्णनाम आवे—वे उत्तम वैष्णव हैं। अतएव जब तुम लोग कभी-कभी श्रद्धाके साथ कृष्णनाम करते हो, तब तुमलोग वैष्णव-पदवी प्राप्त कर चुके हो।

विजय—शुद्ध कृष्णनामके सम्बन्धमें और भी जो कुछ जानने योग्य बातें हैं, उन्हें कृपाकर बतलाइये।

बाबाजी—पूर्ण श्रद्धासे उदित हुई अनन्य भक्ति द्वारा जिस कृष्णनामका उदय होता है, उसे ही कृष्णनाम कहते हैं। इसके अतिरिक्त जो कुछ नाम जैसा लक्षित होता है, वह या तो नामाभास है अथवा नामापराध।

विजय—प्रभो! हरिनामको साध्य कहना चाहिये अथवा साधन? बाबाजी—जब नाम साधनभक्तिके साथ लिया जाये, तब उस नामको 'साधन' कह सकते हो। फिर जब 'भाव' और 'प्रेमभक्ति' के साथ लिया जाये, तो नामको ही 'साध्यवस्तु' समझो। साधकको भक्तिकी अवस्था भेदसे नामके संकोच और विकासकी भिन्न-भिन्न प्रतीतियाँ होती हैं।

विजय—कृष्णनाम और कृष्णस्वरूपका कोई परिचय भेद है या नहीं? बाबाजी—नहीं, कोई परिचय भेद नहीं है। केवल एक रहस्य यह है कि 'स्वरूप' से भी 'नाम' अधिक कृपा करते हैं। स्वरूपके प्रति जो अपराध होता है, उसे स्वरूप कभी क्षमा नहीं करते, परन्तु कृष्णनाम स्वरूपके प्रति हुए अपराध तथा अपने प्रति हुए अपराध दोनोंको क्षमा करते हैं। तुमलोग नामापराधको भलीभाँति जानकर उसका यत्नपूर्वक वर्जनकर नाम करना, क्योंकि निरपराध हुए बिना शुद्धनाम नहीं होता। अगले दिन नामापराध समझ लेना।

ब्रजनाथ और विजयकुमार नाम-माहात्म्य और नामका स्वरूपतत्त्व जानकर श्रीगुरुदेवकी चरणधूलि लेकर धीरे-धीरे बिल्वपुष्करिणी रवाना हुए।

॥तेईसवाँ अध्याय समाप्त॥

चौबीसवाँ अध्याय

प्रमेयके अन्तर्गत नामापराधका विचार

उस दिन ब्रजनाथ और विजयकुमार श्रीनामकी महिमा और श्रीनामका स्वरूपतत्त्व जानकर बड़े आनन्दित हुए और घर पहुँचकर विशुद्ध भावसे तुलसी मालापर संख्यापूर्वक पचास हजार नाम करनेके पश्चात् सोये। अधिक रात बीत चुकी थी। आज शुद्धनाम करते-करते उन्हें कृष्ण-कृपाका साक्षात् अनुभव हुआ।

दूसरे दिन सवेरे जब दोनों सोकर उठे तो आपसमें पिछली रातकी चर्चा करने लगे और अपने-अपने अनुभवको व्यक्तकर बड़े प्रसन्न हुए। गङ्गा-स्नान, कृष्ण-पूजन, हरिनाम-कीर्त्तन, दशमूलपाठ, श्रीमद्भागवत-आलोचना, वैष्णव-सेवा और भगवत्-प्रसाद-सेवामें उनका वह दिन बीता। सन्ध्याके पश्चात् दोनों श्रीवास-अङ्गनमें वृद्ध बाबाजीकी कुटीमें उपस्थित हुए। साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम करनेके बाद विजयकुमारने पिछले दिनके प्रस्तावके अनुसार नामापराध-तत्त्वके सम्बन्धमें पूछा।

विजयकुमारकी तत्त्व-जिज्ञासा सुनकर बाबाजी महाराज बड़े प्रसन्न हुए और प्रेमपूर्वक बोले—नाम जैसे सर्वोत्तम तत्त्व हैं, नामापराध भी उसी प्रकार सब प्रकारके पापों और अपराधोंसे बढ़कर भयङ्कर होता है। सब प्रकारके पाप और अपराध तो नाम उच्चारणके साथ ही साथ दूर हो जाते हैं, परन्तु नामापराध उतनी आसानीसे दूर नहीं होता। पद्मपुराणमें श्रीनामकी महिमाका वर्णन करते हुए कहा गया है—

नामापराधयुक्तानां नामान्येव हरन्त्यघम्।
अविश्रान्तप्रयुक्तानि तान्येवार्थकराणि च॥[१]

(स्वर्गखण्ड ४८/४९)

यदि नामापराधी व्यक्ति निरन्तर नाम करे तो एकमात्र नामदेव ही उसके अपराधको दूर करते हैं। देखो, नामापराध नष्ट करनेका उपाय कितना कठिन है। अतएव बुद्धिमान मनुष्य नामापराध वर्जनपूर्वक नाम लेते हैं। यदि ऐसा प्रयत्न किया जाये कि नामापराध न हो तो अत्यन्त शीघ्र ही शुद्धनाम उदित हो जाते हैं।

कोई मनुष्य नाम ले रहा है, नाम लेते-लेते उसके शरीरमें रोमाञ्च हो उठता है, आँखोंसे अश्रुधारा भी बहने लगती है, फिर भी नामापराधके कारण उसके द्वारा उच्चारित नाम (शुद्ध) नाम नहीं है। इसलिए साधकोंको इस विषयमें विशेष सावधानी बरतनी चाहिये, अन्यथा शुद्धनाम उच्चारण नहीं कर सकेंगे।

विजय—प्रभो! शुद्धनाम किसे कहते हैं?

बाबाजी—दस प्रकारके नामापराधोंसे रहित हरिनामको ही शुद्धनाम कहते हैं। अक्षरोंकी शुद्धता अथवा अशुद्धता आदिका इसमें कोई विचार नहीं होता।

नामैकं यस्य वाचि स्मरण पथगतं श्रोत्रमूलं गतं वा
शुद्धं वाशुद्धवर्णं व्यवहितरहितं तारयत्येव सत्यम्।
तच्चेद्देहद्रविणजनता लोभपाषाणमध्ये

---

(१) नामापराधयुक्त व्यक्तियोंके पाप और अपराध नाम ही नष्ट करते हैं। निरन्तर नाम करनेसे ही प्रेम रूप अर्थ या प्रयोजन प्राप्त होता है।

निक्षिप्तं स्यानफलजनकं शीघ्रमेवात्र विप्र॥

(पद्मपुराण, स्वर्गखण्ड ४८/६०-६१)

इस श्लोकका अर्थ यह है कि—हे विप्रवर! एक हरिनाम भी जिसकी जिह्वापर उदित हो जाते हैं, या कर्णेन्द्रियमें प्रवेश करते हैं, अथवा स्मरण-पथपर जागरूक हो जाते हैं, उसका वे नाम (प्रभु) अवश्य ही उद्धार करेंगे। यहाँ नामोच्चारणमें वर्णोंकी शुद्धता अथवा अशुद्धता या विधिके अनुसार शुद्ध उच्चारण या अशुद्ध उच्चारण आदिका महत्त्व नहीं है अर्थात् श्रीनाम इनका कुछ भी विचार नहीं करते, परन्तु विचारणीय यह है कि यदि वे सर्वशक्तिसम्पन्न नाम शरीर, गृह, अर्थ-सम्पत्ति, पुत्र-परिवार और लोभ (काञ्चन, कामिनी और प्रतिष्ठादि) आदि पाषाणके ऊपर पतित हों अर्थात् उनके उद्देश्यसे लिए जायें तो फल शीघ्र उत्पन्न नहीं होता।

यह बाधा दो प्रकारकी होती है—सामान्य और वृहत्। बाधा होनेपर उच्चारण किया हुआ नाम—'नामाभास' होता है। नामाभास देरसे फल प्रदान करता है। वृहत् बाधा होनेपर उच्चारण किया हुआ नाम—नामापराध हो पड़ता है, जो बिना निरन्तर नामोच्चारणके दूर नहीं होता।

विजय—मुझे तो ऐसा प्रतीत हो रहा है कि साधकके लिए नामापराधका ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है। आप कृपा करके हमें नामापराधका विचार विस्तारपूर्वक बतलाइये।

बाबाजी—नामापराध दस प्रकारके होते हैं। पद्मपुराणमें इसका बड़ा ही मार्मिक विश्लेषण पाया जाता है—

(१) सतां निन्दा नाम्नः परमपराधं वितनुते।
यतः ख्यातिं यातं कथमुसहते तद्विगर्हाम्॥
(२) शिवस्य श्रीविष्णोर्य इह गुण नामादिसकलं।
धिया भिन्नं पश्येत् स खलु हरिनामाहितकरः॥
(३) गुरोरवज्ञा (४) श्रुतिशास्त्रनिन्दनम्
(५) तथार्थवादो (६) हरिनाम्नि कल्पनम्।
(७) नाम्नो बलाद् यस्य हि पापबुद्धिर्न विद्यते तस्य यमैर्हि शुद्धिः॥
(८) धर्मव्रतत्यागहुतादिसर्वशुभक्रियासाम्यमपि प्रमादः।
(९) अश्रद्दधाने विमुखेऽप्य श्रृण्वति यश्चोपदेशः शिवनामापराधः॥
(१०) श्रुतेऽपि नाममाहात्म्ये यः प्रीतिरहितो नरः।
अहंममादि परमो नाम्नि सोऽप्यपराधकृत्॥[२]

---

(२) (१) सन्तोंकी निन्दा श्रीनामके निकट भीषण अपराध विस्तार करती है, जिन नामपरायण सन्त-महात्माओंके द्वारा श्रीकृष्ण नामकी महिमाका संसारमें प्रचार होता है, उनकी निन्दा श्रीनाम प्रभु कैसे सह सकते हैं? अतः साधु-सन्तोंकी निन्दा करना पहला अपराध है। (२) इस संसारमें जो मनुष्य बुद्धि द्वारा परम मङ्गलमय श्रीविष्णुके नाम, रूप, गुण और लीला आदिमें भेद दर्शन करते हैं, अर्थात् भौतिक पदार्थोंकी तरह ही श्रीविष्णुके नाम रूप, गुण और लीलाको नामी—विष्णुसे पृथक् मानते हैं अथवा शिव आदि देवताओंको विष्णुसे स्वतन्त्र अथवा विष्णुके समान मानते हैं, उनका वह हरिनाम (नामापराध) निश्चय ही अहितकर है। (३) नाम-तत्त्वविद् गुरुको मरणशील और

विजय—कृपापूर्वक एक-एक श्लोककी अलग-अलग व्याख्या करके सभी अपराधोंको हमें अच्छी तरह समझा दीजिये।

बाबाजी—पहले श्लोकमें दो अपराधोंका वर्णन किया गया है। प्रथम अपराध यह है कि—जिन सन्तोंने कर्म, धर्म, ज्ञान, योग, तपस्या आदिका सम्पूर्ण रूपसे परित्यागकर अनन्य भावसे भगवन्नामका आश्रय ले रखा है, उनकी निन्दा करनेसे बड़ा अपराध होता है। क्योंकि जो लोग इस जगत्में नामका वास्तविक माहात्म्य प्रचार करते हैं, उनकी निन्दा हरिनाम सह नहीं सकते हैं। ऐकान्तिक नामपरायण सन्तोंकी निन्दा नहीं करनी चाहिये बल्कि उन्हें सर्वश्रेष्ठ साधु मानकर उनके सङ्गमें रहकर नामकीर्त्तन करना चाहिये। ऐसा करनेसे नामकी बड़ी जल्दी ही कृपा होती है।

विजय—पहला अपराध तो अच्छी तरह समझ गया, कृपया दूसरे अपराधको भी इसी प्रकार समझा दीजिये।

बाबाजी—पहले श्लोकके दूसरे भागमें द्वितीय अपराधका उल्लेख है, उसकी व्याख्या दो प्रकारसे की जा सकती है। पहली व्याख्या यह है कि—देवताओंके अग्रणी सदाशिव और श्रीविष्णु, दोनोंके नाम और गुण आदिको बुद्धि द्वारा पृथक् माननेसे नामापराध होता है, तात्पर्य यह है कि सदाशिवको भगवान् श्रीविष्णुसे पृथक् एक स्वतन्त्र शक्तिसिद्ध ईश्वर माननेसे बहु ईश्वरवादका दोष उपस्थित हो पड़ता है, इससे भगवान् के प्रति अनन्य भक्तिमें बाधा पैदा होती है। अतएव श्रीकृष्ण ही सर्वेश्वर हैं और उनकी शक्तिसे ही शिव आदि देवताओंका ईश्वरत्व सिद्ध है—इन देवताओंकी कोई पृथक् शक्ति—सिद्धता नहीं है—ऐसा निश्चयकर हरिनाम करनेसे नामापराध नहीं होता। दूसरी व्याख्या इस प्रकार है—शिवस्वरूप अर्थात् सर्वमङ्गलमय स्वरूप श्रीभगवान्के नाम, रूप, गुण और लीलाको भगवान्के नित्यसिद्ध

पांचभौतिक शरीरयुक्त साधारण मनुष्य मानकर उनकी अवज्ञा करना; (४) वेद और सात्त्वत पुराण आदि शास्त्रोंकी निन्दा करना, (५) हरिनामकी महिमाको अति-स्तुति समझना (६) भगवन्नामको काल्पनिक समझना अपराध है एवं (७) जिनकी श्रीनामके बलपर पाप-कर्मोंमें प्रवृत्ति होती है, उनकी अनेक यम, नियम, ध्यान, धारणा आदि कृत्रिम योग-प्रक्रियाओंके द्वारा भी शुद्धि नहीं होती—यह निश्चित है। (८) धर्म, व्रत, त्याग, होम आदि प्राकृत शुद्ध कर्मोंको अप्राकृत भगवन्नामके आदि शास्त्रोंकी निन्दा करना, (५) हरिनामकी महिमाको अति-स्तुति समझना (६) भगवन्नामको काल्पनिक समझना अपराध है एवं (७) जिनकी श्रीनामके बलपर-कर्मोंमें प्रवृत्ति होती है, उनकी अनेक यम, नियम, ध्यान, धारणा आदि कृत्रिम योग-प्रक्रियाओंके द्वारा भी शुद्धि नहीं होती—यह निश्चित है। (८) धर्म, व्रत, त्याग, होम आदि प्राकृत शुद्ध कर्मोंको अप्राकृत भगवन्नामके समान या तुल्य समझना भी प्रमाद या असावधानी है, (९) श्रद्धाहीन और नाम-श्रवण करनेसे विमुख मनुष्यको नामका उपदेश देना भी नामापराध है। (१०) नामकी अद्भुत महिमाको सुनकर भी जो (रक्त, मांस और चमड़ेके) शरीरमें 'मैं' और सांसारिक भोग्य पदार्थोंमें 'मेरा' की बुद्धि रखते हैं तथा श्रीनामोच्चारणमें प्रीति या आग्रह नहीं दिखलाते, वे भी नामापराधी हैं।

विग्रहसे पृथक् माननेसे नामापराध होता है। इसलिए कृष्ण-स्वरूप, कृष्णनाम, कृष्णगुण तथा कृष्णलीला—ये सभी अप्राकृत और परस्पर अपृथक् हैं—ऐसा ज्ञान और विज्ञान लाभकर कृष्णनाम करना, नहीं तो अपराध हो जायेगा। इस प्रकार सम्बन्धज्ञान प्राप्तकर कृष्णनाम करनेकी विधि है।

विजयकुमार—पहले और दूसरे नामापराधको भलीभाँति समझ गया, क्योंकि आपने कृपा करके हमें पहले ही श्रीकृष्णके अप्राकृत चिन्मय-स्वरूपके गुण-गुणी, नाम-नामी और अंश-अंशी आदि भेदाभेद तत्त्वको समझा दिया है। जो नामाश्रय करते हैं, उनके लिए श्रीगुरुदेवसे चित् और अचित् तत्त्वका पार्थक्य और उनका परस्पर सम्बन्ध जान लेना आवश्यक है। अब तृतीय अपराधकी व्याख्या कीजिये।

बाबाजी—(३) जो नाम तत्त्वकी सर्वश्रेष्ठताकी शिक्षा देते हैं, वे नामगुरु हैं, उनके प्रति अचला भक्ति रखना कर्त्तव्य है। जो लोग नामगुरुके प्रति ऐसी अवज्ञा करते हैं कि वे केवलमात्र नामशास्त्र तक ही जानते हैं; परन्तु जो वेदान्तदर्शन आदि शास्त्रोंके पण्डित हैं वे अधिक शास्त्रोंके अर्थ जानते हैं, वे नामापराधी हैं। वास्तवमें नाम-तत्त्वविद् गुरुसे उत्तम गुरु नहीं हैं, उनको लघु माननेसे अपराध होगा।

विजय—प्रभो! यदि हमारी आपके प्रति शुद्ध भक्ति रहे, तभी हमारा कल्याण है। कृपया चौथे अपराधकी व्याख्या कीजिये।

बाबाजी—(४) श्रुतिमें जहाँ परमार्थके विषयमें विशेष शिक्षा है, वहाँ श्रीनामको सर्वश्रेष्ठ रूपमें वर्णन किया गया है। जैसे (हरिभक्तिविलास ११/२७४-२७६ धृत ऋग्वेद १ मण्डल, १५६ सूक्त, ३ म०)—

ॐ आस्य जानन्तो नाम चिद्विविक्तन महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे (३)

ॐ तत्सत्। ॐ पदं देवस्य नमसा व्यन्तः श्रवस्यवश्रव आपन्नमृक्तम्। नामानि चिद्दधिरे यज्ञियानि भद्रायन्ते रणयन्तः संदृष्टौ॥ (४)

ॐ तमुस्तोतारः पूर्वं यथाविद ऋतस्य गवर्भं जनुषा पिपर्त्तन। आस्य जानन्तो नाम चिद्विविक्तन महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे॥(५)

---

(३) हे विष्णो! जो मनुष्य तुम्हारे नामका विचारपूर्वक सत्य उच्चारण करते हैं, उनके भजन आदि नियमोंमें कोई गड़बड़ी नहीं होती। अर्थात् श्रीनाम-ग्रहणमें देश, काल और पात्र (अधिकारी) की विषमताका विचार नहीं है। क्योंकि नाम ही ज्ञान-स्वरूप हैं, सर्वप्रकाश स्वरूप हैं और परम ज्ञातव्य विषय हैं। अतएव हम नामकी वन्दना करते हैं।

(४) हे परम पूजनीय! आपके चरणकमलोंमें मैं बारम्बार प्रणाम करता हूँ, क्योंकि इन्हीं श्रीचरणकमलोंकी महिमा सुनकर भक्तजन यश और मोक्षके अधिकारी हो सकते हैं। और तो क्या, जो आपके चरणकमलोंका निर्वाचन करनेके लिए वाद-विवादमें प्रवृत्त होते हैं और परस्पर कीर्त्तनके द्वारा उनका अनुशीलन करते हैं, उनके अन्तःकरणमें आसक्तिका प्रादुर्भाव होनेपर वे उन चरणोंका साक्षात्कार करनेके लिए श्रीचैतन्य-स्वरूप आपके नामका ही आश्रय लेते हैं।

(५) 'उ' अर्थात् अत्यन्त विस्मयके साथ कहा जा सकता है कि उस प्राचीन, प्रसिद्ध, पूर्ण 'तत्' और 'सत्' पदार्थको श्रीकृष्णके सम्बन्धमें जैसा तुम लोग जानते हो, वैसा ही

इस प्रकार सभी वेदों और उपनिषदोंमें नामकी महिमा पायी जाती है। जिन मन्त्रोंमें नामकी महिमा प्रकाशित हैं, उनकी निन्दा करनेसे नामापराध होता है। कुछ लोग दुर्भाग्यवश श्रुतिके दूसरे उपदेशोंका सम्मान अधिक करते हैं तथा नाम-महिमा-सूचक श्रुति-मन्त्रोंकी उपेक्षा करते हैं। ऐसा करना भी नामापराध है। इस नामापराधका फल यह होता है कि अपराधीकी नाममें रुचि नहीं होती। तुमलोग इन प्रधान-प्रधान श्रुतिमन्त्रोंको श्रुतियोंका प्राण समझकर हरिनाम करो।

विजय—प्रभो! आपके श्रीमुखसे मानो अमृत बरस रहा है। अब पाँचवें अपराधको समझनेके लिए बड़ी उत्कण्ठा हो रही है।

बाबाजी—(५) हरिनाममें अर्थवाद ही पाँचवाँ नामापराध है। जैमिनीसंहितामें इस अपराधका उल्लेख इस प्रकार किया गया है—

श्रुतिस्मृतिपुराणेषु नाममाहात्म्यवाचिषु।
येऽर्थवाद इति ब्रूयुर्न तेषां निरयक्षयः॥(६)

ब्रह्मसंहितामें बोधायनके प्रति श्रीभगवान् ने कहा है—

यन्नामकीर्तनफलं विविधं निशम्य न श्रद्दधाति मनुते यदुतार्थवादम्।
यो मानुषस्तमिह दुखचये क्षिपामि संसार घोरविविधार्त्तिनिपीडिताङ्गम्॥ (७)

शास्त्रोंमें ऐसा कहा गया है कि भगवन्नाममें भगवान्‌की सारी शक्तियाँ निहित हैं, नाम पूर्ण चिन्मय हैं, अतएव वे मायिक जगत्‌की ध्वंस करनेमें समर्थ हैं।

कृष्णेति मङ्गलं नाम यस्य वाचि प्रवर्त्तते।
भस्मीभवन्ति राजेन्द्र महापातक कोटयः॥ (७)

(विष्णुधर्मपुराण)

नान्यत् पश्यामि जन्तूनां विहाय हरिकीर्त्तनम्।
सर्वपापप्रशमनं प्रायश्चित्तं द्विजोत्तमः॥(८)

(बृ० पु०)

कीर्त्तनकर जन्मकी सार्थकता करो, परन्तु हम लोग वैसा नहीं करते। इसका कारण यह है कि जब हम यह नहीं जानते कि उनका स्तव अथवा कीर्त्तन कैसे किया जाता है, तब चिर-निरवच्छिन्न 'नाम' करना ही हमारा नित्य कार्य है।

(६) भगवन्नामकी महिमाको प्रकाश करनेवाले वेद-पुराण और उपनिषद् आदिके मन्त्रोंको जो अतिस्तुति रूप 'अर्थवाद' मानते हैं, वे अक्षय नरकमें गमन करते हैं और वहाँसे उनका कभी भी लौटना नहीं होता।

(७) जो मनुष्य हरिनामकी महिमा सुनकर भी उनके प्रति श्रद्धायुक्त नहीं होता, वरं उस महिमाको अतिस्तुति समझता है, उसको मैं सब प्रकारके दुखोंसे परिपूर्ण घोर संसारमें फेंक देता हूँ।

(७) हे राजन्! जिनके मुखमें परम मङ्गलस्वरूप 'कृष्ण' नाम निवास करते हैं, उनके कोटि-कोटि महापातक जलकर भस्म हो जाते हैं।

(८) हे विप्रवर! जो समस्त पापोंको ध्वंस करनेवाले प्रायश्चित्त-स्वरूप श्रीहरिनामका परित्याग करते हैं, मैं उन्हें पशुके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं समझता।

नाम्नोऽस्य यावती शक्तिः पापनिर्हरणे हरेः।
तावत् कर्त्तुन शक्नोति पातकं पातकी जनः॥[९]

(बृहद्विष्णुपुराण)

ये सब नाम-माहात्म्य परम सत्य हैं, इन्हें सुनकर कर्म और ज्ञानव्यवसायी लोग अपने-अपने व्यवसायकी रक्षाके लिए अर्थवादकी कल्पना करते हैं। अर्थवादका तात्पर्य यह है कि शास्त्रमें नामकी जो महिमा कही गयी है, वास्तवमें सत्य नहीं है, वह तो केवल नाममें रुचि उत्पन्न करानेके लिए बढ़ा चढ़ाकर कही गयी है। इस नामापराधसे अपराधी व्यक्तिकी नाममें रुचि नहीं होती। तुम दोनों शास्त्रीय वचनोंपर पूर्ण विश्वासकर हरिनाम करना। जो अर्थवाद करते हैं, उनका कभी भी सङ्ग न करना। और तो क्या, यदि अकस्मात् कहीं वे तुम्हारी आँखोंके सामने भी पड़ जायें तो समस्त कपड़ोंके साथ स्नानकर लेना—यह श्रीचैतन्य महाप्रभुकी शिक्षा है।

विजय—प्रभो! गृहस्थ लोगोंके लिए शुद्ध हरिनाम उच्चारण करना सरल नहीं जान पड़ता, क्योंकि वे सब समय नामापराधी असत् पुरुषोंसे घिरे हुए होते हैं। हम जैसे ब्राह्मण-पण्डितोंके लिए सत्सङ्ग बड़ा ही कठिन है। हे प्रभो! आप कृपाकर हमें कुसङ्ग-छोड़नेकी शक्ति प्रदान कीजिये। आपके मुँहसे जितना ही अधिक श्रवण कर रहा हूँ, श्रवणकी पिपासा और भी अधिक बढ़ती जा रही है। अब छठा नामापराध बतलानेकी कृपा करें।

बाबाजी—(६) भगवान् के नामोंको कल्पित माननेसे छठा नामापराध होता है। मायावादी और भौतिक कर्मवादी निर्विकार और नाम-रूप-रहित ब्रह्मको परमतत्त्व मानते हैं।

जो ऐसा मानते हैं कि ऋषियोंने अपने कार्योंकी सिद्धिके लिए राम कृष्ण आदि नामोंकी कल्पना की है—वे नामापराधी हैं। हरिनाम काल्पनिक नहीं, वरन् नित्य और चिन्मय वस्तु हैं—भक्तिके द्वारा चित् इन्द्रियोंपर आविर्भूत मात्र होते हैं। सद्गुरु और वेद-शास्त्र यही शिक्षा देते हैं। अतः हरिनामको परम सत्य मानना; उन्हें कल्पित समझनेसे कभी भी नामकी कृपा नहीं पायी जा सकती है।

विजय—प्रभो! आपके अभय चरणकमलोंका आश्रय करनेसे पूर्व कुसङ्गके कारण हम भी वैसा ही समझते थे, परन्तु आपकी कृपासे वैसी बुद्धि अब जाती रही है। अब सातवें नामापराधकी व्याख्या कीजिये।

बाबाजी—(७) जो नामके बलपर पाप कर्मोंमें प्रवृत्त होते हैं, वे नामापराधी हैं। नामके भरोसे से जो पाप कर्म किये जाते हैं, वे पापसमूह यम-नियम आदिसे दूर नहीं होते, क्योंकि ऐसे पापसमूह नामापराधकी श्रेणीमें आ जानेके कारण केवलमात्र नामापराध-विध्वंसक पद्धति द्वारा ही नष्ट किये जा सकते हैं।

विजय—प्रभो! जब ऐसा कोई भी पाप नहीं जो हरिनामसे नष्ट न हो जाये तब नामोच्चारणकारीके पाप नष्ट न होकर अपराधकी श्रेणीमें क्यों आ जाते हैं?

---

(९) श्रीहरिके इस नाममें पापहरण करनेकी जितनी शक्ति विद्यमान है, अत्यन्त पापी व्यक्ति भी उतना पाप करनेमें समर्थ नहीं है।

बाबाजी—जीव जिस दिन शुद्धनाम ग्रहण करता है उस दिन उसके द्वारा लिया गया एक हरिनाम ही हरिनाम ही उसके प्रारब्ध और अप्रारब्ध सम्पूर्ण-पापराशिको ध्वंस कर देता है और उस नामके पश्चात् जो दूसरे नाम ग्रहण किये जाते हैं, उनसे नाममें प्रेम होता है। अतएव शुद्ध हरिनाम करनेवाले पुरुषोंमें पाप-बुद्धिका रहना तो दूरकी बात है, पुण्य कर्मोंमें भी उनकी रुचि नहीं होती। नामाश्रित व्यक्ति कभी भी पाप नहीं करेंगे। परन्तु इसमें एक विचार है, वह यह कि साधक पुरुष नाम तो लेते हैं, परन्तु उनका कुछ-कुछ नामापराध रहनेके कारण उनका उच्चारित नाम केवल 'नामाभास' होता है शुद्धनाम नहीं होता। नामाभाससे भी पहले किये हुए पाप ध्वंस हो जाते हैं और नवीन पापोंमें रुचि नहीं होती, परन्तु पूर्व अभ्यासके कारण कुछ-कुछ पाप बच जाते हैं, जो नामाभाससे धीरे-धीरे नष्ट हो जाते हैं, अकस्मात् कभी नये पाप भी बन जाते हैं, परन्तु वे भी नामाभाससे दूर हो जाते हैं। किन्तु यदि वह नामाश्रयी पुरुष ऐसा सोचता हो कि जब नामके प्रभावसे सारे पाप तो नष्ट हो ही जाते हैं, तब मैं भी जो पाप करता हूँ, वे भी अवश्य ही नष्ट हो जायेंगे और ऐसा समझकर वह पाप कार्यमें प्रवृत्त होता है तो वह नामापराधी है।

विजय—अब आठवाँ नामापराध बतलाइये।

बाबाजी—(८) धर्म अर्थात् वर्णाश्रम और दानादि धर्म, व्रत, त्याग अर्थात् समस्त प्रकारके शुभ कर्म-त्याग अर्थात् समस्त कर्मफल त्यागरूप संन्यास-धर्म, नाना प्रकारके यज्ञ और अष्टाङ्गयोग—ये सभी सत्कर्म हैं। इनको छोड़कर शास्त्रोंमें जो दूसरी दूसरी शुभ क्रियाएँ निर्धारितकी गयी हैं, वे सभी जड़ धर्मके अन्तर्गत हैं, अतएव प्राकृत हैं परन्तु भगवन्नाम प्रकृतिसे परे है। पूर्वोक्त समस्त सत्कर्म उपायके रूपमें उपस्थित होकर अप्राकृत सुखरूप उपेय देनेकी प्रतिज्ञा करते हैं, इसलिए वे केवल उपायमात्र हैं—उपेय नहीं। परन्तु हरिनाम साधनके समय उपाय होनेपर भी फलके समय स्वयं उपेय हैं। अतः हरिनामके साथ किसी भी सत्कर्मकी तुलना नहीं की जा सकती। जो लोग ऐसा करते हैं अर्थात् हरिनाम और सत्कर्मोंको बराबर मानते हैं, वे नामापराधी हैं। यदि कोई उन कर्मोंसे मिलनेवाले तुच्छ फलोंके लिए श्रीहरिनामसे प्रार्थना करते हैं तो वे नामापराधी हैं। क्योंकि इससे अन्यान्य सत्कर्मोंके साथ श्रीनामकी साम्यबुद्धि हो पड़ती है। तुम लोग सत्कर्मोंके फलोंको तुच्छ जानकर हरिनामका अप्राकृत बुद्धिसे आश्रय करो—इसीका नाम अभिधेयज्ञान है।

विजय—प्रभो! हम यह भलीभाँति समझ गये कि हरिनामके समान और कुछ भी नहीं है। अब नवें अपराधके सम्बन्धमें बतलाइये।

बाबाजी—(९) वेदोंमें जितने प्रकारके उपदेश हैं, उनमें हरिनामका उपदेश सर्वश्रेष्ठ है। जिनकी अनन्य भक्तिमें श्रद्धा हो गयी है, वे ही हरिनामके यथार्थ अधिकारी हैं। जिनको वैसी श्रद्धा नहीं है, जो अप्राकृत हरि-सेवासे विमुख हैं एवं हरिनाम श्रवण करनेमें जिन्हें अरुचि है, उन्हें हरिनामका उपदेश करनेसे नामापराध होता है। वैसे लोगोंको यही उपदेश श्रेयस्कर होगा कि हरिनाम ही सर्वश्रेष्ठ है और हरिनाम ग्रहण करनेसे सबका कल्याण होगा। योग्य अधिकारीके अतिरिक्त दूसरोंको हरिनाम नहीं देना चाहिये। जब तुम परम-भागवत हो जाओगे, तो तुम भी शक्तिका संचार कर सकोगे। सर्वप्रथम जीवमें शक्ति संचारकर उसमें नामके प्रति श्रद्धा पैदा करो, पश्चात् उसे हरिनाम उपदेश करना। जब तक मध्यम वैष्णव रहो, तब तक अश्रद्धालु, विमुख और विद्वेषी पुरुषोंकी उपेक्षा करना।

विजय—प्रभो! कुछ लोग अर्थ-सम्पत्ति अथवा प्रतिष्ठाके लोभवश अनधिकारीको भी हरिनाम प्रदान कर देते हैं, उनका वह आचरण कैसा है?

बाबाजी—वे नामापराधी हैं।

विजय—कृपया दसवें अपराधकी व्याख्या कीजिये।

बाबाजी—(१०) जो लोग जड़ीय संसारमें "मैं अमुक हूँ और यह सारी सम्पत्ति और पुत्र-परिवार आदि मेरे हैं"—इस प्रकार बुद्धिसे मत्त रहते हैं, संयोगवश कभी क्षणिक वैराग्य या ज्ञानके उदय होनेपर पण्डितोंके पास हरिनामकी महिमा सुनते हैं, अथच जान-बूझकर भी नाममें अनुराग नहीं रखते, वे भी नामापराधी हैं, इसलिए शिक्षाष्टकके दूसरे श्लोकमें कहा गया है—

नाम्नामकारि बहुधा निज सर्वशक्तिस्तत्रार्पिता नियमितः स्मरणे न कालः।
एतादृशी तव कृपा भगवन्ममापि दुर्दैवमीदृशमिहाजनि नानुरागः॥[१०]

बाबाजी—इन दस प्रकारके नामापराधोंसे रहित होकर निरन्तर हरिनाम करो—नाम शीघ्र ही कृपाकर प्रेम प्रदानकर परमभागवत कर देंगे।

विजय—प्रभो! देख रहा हूँ कि मायावादी, कर्मी और योगी—सभी नामापराधी हैं। ऐसी दशामें जब बहुत से लोग मिलकर जो नामसङ्कीर्त्तन करते हैं, उसमें शुद्ध वैष्णवोंको योगदान करना चाहिये अथवा नहीं?

बाबाजी—जिस सङ्कीर्त्तनमण्डलमें नामापराधियोंकी प्रधानता हो अर्थात् जिस नामसङ्कीर्त्तनमण्डलीमें नामापराधी व्यक्ति प्रधान गायक आदिके रूपमें कीर्त्तन करें, उसमें वैष्णवजनोंका योगदान करना उचित नहीं है, परन्तु जिस सङ्कीर्त्तनमण्डलीमें शुद्ध वैष्णवों अथवा साधारण नामाभासी व्यक्तियोंकी प्रधानता हो, उसमें योगदान करनेसे दोष नहीं होता, वरन् नामसङ्कीर्त्तनमें आनन्द लाभ होता है। आज अधिक रात हो गयी है, कल नामाभासके सम्बन्धमें बतलाऊँगा।

विजय और ब्रजनाथ नाम-प्रेमसे गद्‌गद होकर बाबाजी महाशयकी स्तुतिकर तथा उनकी चरणधूलि मस्तकपर धारणकर "हरि हरये नमः कृष्ण यादवाय नमः" कीर्त्तन करते हुए घर लौटे।

॥चौबीसवाँ अध्याय समाप्त॥

---

(१०) भगवान्! आपने गोविन्द, गोपाल, वनमाली आदि अनेक नाम प्रकट कर रखे हैं और उन नामोंमें अपनी सम्पूर्ण शक्ति निहित कर रखी है। श्रीनामस्मरणमें काल-अकालका विचार भी नहीं रखा है। आपकी इस प्रकारकी कृपा है और इधर नामापराधरूप दुर्दैवके कारण ऐसे सुलभ हरिनाममें भी मेरी रुचि नहीं होती।

पच्चीसवाँ अध्याय

प्रमेयके अन्तर्गत नामापराधका विचार

दूसरे दिन सन्ध्याके कुछ देर बाद ही विजय और ब्रजनाथ वृद्ध बाबाजी महोदयके पास पहुँचे और उनको साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणामकर बैठ गये। अवसर पाते ही विजयने नम्रतासे कहा—प्रभो! आप कृपाकर हमें नामाभास-तत्वके सम्बन्धमें सम्पूर्ण रूपसे बतलानेकी कृपा करें, हम नामतत्त्वका रहस्य जाननेके लिए बड़े व्याकुल हैं।

बाबाजी बोले—तुम लोग धन्य हो। श्रीनामतत्त्वको समझनेके लिए नाम, नामाभास और नामापराध—इन तीन विषयोंको भलीभाँति समझ लेना आवश्यक होता है। नाम और नामापराधके सम्बन्धमें मैंने बहुत-सी बातें बतलायी हैं, इस समय नामाभासके विषयमें बतला रहा हूँ। नामके आभासको नामाभास कहते हैं।

विजय—नामाभास किसे कहते हैं और वह कितने प्रकारका होता है?

बाबाजी—'आभास' शब्दसे 'कान्ति', 'छाया' और 'प्रतिबिम्ब' का बोध होता है। किसी प्रकाशवान पदार्थकी जो कान्ति निकलती है उसे 'कान्ति' या 'छाया' कह सकते हैं। अतएव नामरूप सूर्यका दो प्रकारसे आभास होता है—एक 'नामछाया' और दूसरा 'नाम-प्रतिबिम्ब'। तत्त्वविद् पुरुष भक्त्याभास, भावाभास, नामाभास, वैष्णवाभास आदि शब्दोंका व्यवहार सब समय किया करते हैं। सभी प्रकारके आभास दो प्रकारके होते हैं—'प्रतिबिम्ब' और 'छाया'।

विजय—वैष्णव लोग हरिनामका अनुशीलन करते हैं; जब वे भक्त्याभासके साथ नामका अनुशीलन करते हैं, तब उनका अनुशीलन किया हुआ नाम—'नामाभास' कहलाता है। वे स्वयं भी वैष्णव-आभास होते हैं—शुद्ध वैष्णव नहीं। भाव और भक्ति—एक ही चीज है, केवल अवस्था भेदसे भिन्न-भिन्न नामोंसे परिचित होती है।

विजय—किस अवस्थामें जीव 'वैष्णवाभास' कहे जाते हैं?

बाबाजी—श्रीमद्भागवत (११/२/४७) कहते हैं—

अर्चायामेव हरये पूजां यः श्रद्धयेहते।
न तद्भक्तेषु चान्येषु स भक्तः प्राकृतः स्मृतः॥[१]

इस श्लोक में जिस 'श्रद्धा' शब्दका उल्लेख है, वह शुद्ध श्रद्धा नहीं, बल्कि श्रद्धाभास है, क्योंकि भगवद्भक्तोंकी पूजाको छोड़कर कृष्ण-पूजामें जो श्रद्धा होती है, वह शुद्ध श्रद्धाकी या तो छाया होती है अथवा प्रतिबिम्ब। वैसी श्रद्धा लौकिक श्रद्धामात्र होती है, अप्राकृत श्रद्धा नहीं। अतएव जिनमें वैसी श्रद्धा देखी जाये, उन्हें प्राकृत भक्त या वैष्णवाभास समझना चाहिये। श्रीमन् महाप्रभुजीने श्रीरघुनाथदास गोस्वामीके पिता और चाचा हिरण्य-गोवर्द्धनको 'वैष्णव-प्राय' कहा है। वैष्णव-प्राय शब्दका अर्थ यह है कि शुद्धभक्तकी तरह वे माला-मुद्रा आदि वैष्णव वेष धारणकर 'नामाभास' करते हैं, परन्तु वास्तवमें वे शुद्धवैष्णव नहीं हैं।

विजय—मायावादी यदि वैष्णव चिह्न धारणकर नाम उच्चारण करें, तो क्या उन्हें वैष्णवाभास कहा जा सकता है?

---

(१) जो श्रद्धापूर्वक भगवान्‌की अर्चा-मूर्त्तिको हरि मानकर पूजा करते हैं, परन्तु कृष्णके अन्यजीव और भक्तोंकी श्रद्धापूर्वक पूजा नहीं करते, वे प्राकृत (कनिष्ठ) भक्त हैं।

बाबाजी—नहीं, उन्हें वैष्णवाभास भी नहीं कहा जा सकता है; वे अपराधी हैं, अतएव उनको 'वैष्णवापराधी' कहा जायेगा। प्रतिबिम्ब-नामाभास और प्रतिबिम्ब-भावाभासका आश्रय करनेके कारण उन्हें वैष्णवाभास कहना तो चाहिये था, परन्तु अत्यन्त अधिक अपराधी होनेके कारण वे स्वयं 'वैष्णव' नामसे पृथक् हो जाते हैं।

विजय—प्रभो! कृपाकर शुद्धनामका लक्षण और भी स्पष्ट रूपमें बतलाइये जिससे हमलोग उसे सरलतापूर्वक समझ सकें।

बाबाजी—अन्याभिलाषिता रहित और ज्ञान-कर्म आदिके आच्छादनोंसे शून्य तथा अनुकूल भावके साथ नाम ग्रहण करनेसे शुद्ध नाम होता है। नामके चिन्मय भावको स्पष्ट रूपमें प्रकटकर परमानन्द अनुभव करनेकी अभिलाषा अन्याभिलाष नहीं है। इसके अतिरिक्त नामके द्वारा पाप दूर करना अथवा मोक्ष प्राप्त करना आदि समस्त प्रकारकी वासनाओंको ही 'अन्याभिलाष' कहते हैं। अन्याभिलाष रहनेसे नाम शुद्ध नहीं होता। ज्ञान, कर्म, योग आदि साधनोंके द्वारा उनसे पाये जानेवाले फलोंकी आशाका भी जब तक परित्याग न किया जाये, तब तक शुद्धनाम नहीं होता।

प्रतिकूल-भावोंको हृदयसे निकालकर केवल नामकी अनुकूल प्रवृत्तिके साथ जो नाम ग्रहण किया जाता है, उसे 'शुद्धनाम' कहते हैं। भक्तिके इन लक्षणोंको दृष्टिमें रखकर विचार करनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि नामापराध और नामाभासरहित नाम ही शुद्धनाम है। अतएव कलियुग पावनावतारी श्रीगौरचन्द्रने कहा है—

तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्त्तनीयः सदा हरिः॥

अर्थात् जो अपनेको तृणसे भी दीनहीन समझते हैं, जो वृक्षसे भी अधिक सहिष्णु होते हैं स्वयं मान पानेकी अभिलाषा नहीं रखते और दूसरोंको मान देते हैं, वे ही सदासर्वदा श्रीहरिनाम सङ्कीर्त्तनके अधिकारी हैं।

विजय—प्रभो! नामाभास और नामापराधमें स्वरूपतः क्या भेद है?

बाबाजी—शुद्धनाम न होनेपर उसे नामाभास कहते हैं। वह नामाभास किसी अवस्थामें 'नामाभास' कहलाता है और किसी अवस्थामें 'नामापराध'। जब अज्ञानवश अर्थात् भ्रम—प्रमादवश अशुद्ध नाम होता है, तब उसे 'नामाभास' कहते हैं और जब मायावाद आदिके कारण भोग और मोक्षके लिए अशुद्ध नाम होता है, तब उसे नामापराध कहते हैं। जिन दस प्रकारके अपराधोंको मैंने पहले बतलाया है वे यदि सरल अज्ञतासे होते हैं, तब ऐसी दशामें लिया गया अशुद्ध नाम नामापराध नहीं, नामाभास होता है। यह बात स्मरण रखनी चाहिये कि नामाभासमें जबतक नामापराधके लक्षण नहीं हैं, तब तक यह आशा रहती है कि नामाभास दूर हो जायेगा और शुद्धनाम उदय होगा, परन्तु नामापराध होनेपर नामोदय होना बड़ा ही कठिन हो जाता है। मैंने नामापराध दूर करनेके लिए जो विधि बतलायी है, उसके अतिरिक्त किसी भी उपाय द्वारा कल्याण नहीं हो सकता है।

विजय—नामाभास करनेवाले मनुष्यको क्या करना चाहिये जिससे उसका नामाभास 'शुद्धनाम' हो सके?

बाबाजी—शुद्धभक्तोंका सङ्ग करना उचित है। शुद्धभक्तोंके साथ रहकर उनके आदेश और निर्देशके अनुसार नाम करनेसे शुद्धभक्तिमें रुचि होती है, उस समय साधककी रसनापर

जो 'नाम' आविर्भूत होते हैं वे शुद्धनाम होते हैं। साथ ही नामापराधी व्यक्तियोंका सङ्ग यत्नपूर्वक त्याग करना आवश्यक है। क्योंकि नामापराधियोंके सङ्गमें रहनेसे शुद्धनामका उदय नहीं होता। सत्सङ्ग ही जीवके कल्याणका एकमात्र हेतु है। इसीलिए प्राणेश्वर श्रीगौराङ्गदेवने सनातन गोस्वामीको यह उपदेश दिया था—'सत्सङ्ग' ही भक्तिका मूल है। योषित (स्त्री) सङ्ग और अभक्त सङ्ग, इन दोनोंका सर्वथा त्यागकर सत्सङ्गमें कृष्णनाम करो।

विजय—प्रभो! क्या अपनी स्त्रीका त्याग किये बिना साधक शुद्धनाम नहीं कर सकता?

बाबाजी—स्त्रीसङ्ग छोड़ना ही कर्त्तव्य है। गृहस्थ-वैष्णव अपनी विवाहिता स्त्रीके साथ अनासक्त भावसे रहकर वैष्णव संसारकी समृद्धि करते हैं। ऐसे सङ्गको स्त्रीसङ्ग नहीं कहते। स्त्रीके प्रति पुरुषकी आसक्ति तथा पुरुषके प्रति स्त्रीकी आसक्तिका नाम ही 'योषित-सङ्ग' है। इसी आसक्तिका त्यागकर गृहस्थ व्यक्ति यदि कृष्णनाम ग्रहण करें, तो वे निश्चय ही परम पुरुषार्थ प्राप्त कर सकते हैं।

विजय—नामाभास कितने प्रकारके होते हैं?

बाबाजी—श्रीमद्भागवतमें नामाभास चार प्रकारके बतलाये गये हैं—

साङ्केत्यं पारिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेव वा।
वैकुण्ठनामग्रहणमशेषाघहरं विदुः॥ (२)

(श्रीमद्भा० ६/२/१४)

नामतत्त्व और सम्बन्धतत्त्वसे अनभिज्ञ व्यक्ति चार प्रकारसे नामाभास करते हैं—(१) सङ्केत द्वारा, (२) परिहास द्वारा, (३) स्तोभ द्वारा, (४) अवहेला द्वारा।

विजय—साङ्केत्य-नामाभास किसे कहते हैं?

बाबाजी—अन्य वस्तुको लक्ष्यकर भगवान्‌का जो नाम उच्चरित होता है, उसे साङ्केत्य नामाभास कहते हैं। जैसे अजामिलने मरनेके समय अपने पुत्र नारायणको पुकारा। भगवान् कृष्णका नाम भी नारायण है। इसलिए अजामिलका 'नारायण' नाम-साङ्केत्य-नामाभास हुआ था। म्लेच्छ लोग शूकरको देखनेसे 'हाराम', 'हाराम' कहकर घृणा प्रकाश करते हैं। 'हाराम' शब्दमें 'हा राम' दो शब्द हैं, अतएव 'हाराम' शब्दके उच्चारणकारी भी इस साङ्केत्य—नामको ग्रहण करनेके फलस्वरूप जन्म-मृत्युके चक्करसे छुटकारा पा लेते हैं। नामाभाससे मुक्ति होती है—इसे समस्त शास्त्र स्वीकार करते हैं। नामाक्षरोंके साथ मुकुन्द (मुक्तिदाता भगवान्) का सम्बन्ध दृढ़ रूपसे ओतप्रोत है। इसलिए नाम उच्चारण करनेसे भगवान् मुकुन्दका स्पर्श हो जाता है और इस स्पर्शसे अनायास ही मुक्ति प्राप्त हो जाती है।

जो मुक्ति ब्रह्मज्ञानके द्वारा अनेक कष्टसे पायी जाती है, वही मुक्ति नामाभासके द्वारा बिना परिश्रमके अनायास ही सभी लोग पा जाते हैं।

विजय—प्रभो! व्यर्थ ही अपने पाण्डित्यका अभिमान करनेवाले मुमुक्षु (मुक्ति

---

(२) सङ्केत (दूसरी वस्तुको लक्ष्यकर भगवन्नाम उच्चारण), परिहास (उपहासपूर्वक नामोच्चारण), स्तोभ (असम्मानपूर्वक नामोच्चारण) और हेला (अनादरपूर्वक-नामोच्चारण)—ये चार छाया नामाभास हैं। पण्डितजन वैसे नामाभासको अशेष पाप नाशक जानते हैं।

चाहनेवाले), तत्वज्ञान रहित म्लेच्छगण तथा परमार्थ-विरोधी असुर लोग परिहास (हँसी-मजाक उपहासके रूपमें) कृष्णनामका उच्चारणकर मुक्ति प्राप्त किये हैं—हमने ऐसा शास्त्रोंमें अनेकानेक स्थानोंपर पढ़ा है, कृपया स्तोभ-नामाभासके सम्बन्धमें बतलाइये।

बाबाजी—दूसरोंको कृष्णनाम करनेमें बाधा देते समय असम्मानपूर्वक जो नाम उच्चारण होता है, उसे 'स्तोभ' कहते हैं। एक शुद्ध-वैष्णव हरिनाम उच्चारण कर रहे हैं। उसी समय एक पाखण्डी व्यक्ति उन्हें देखकर चिढ़ जाता है और मुख टेढ़ा कर कहता है—"तुम्हारे हरि-केस्ट (कृष्ण) सब कुछ कर लेंगे!"—यही स्तोभका उदाहरण है। इस स्तोभ-नामसे उस पाखण्डीकी मुक्ति हो सकती है—नामाक्षरकी ऐसी स्वाभाविकी शक्ति है।

विजय—हेला नामाभास किसे कहते हैं?

बाबाजी—अनादरपूर्वक नाम-ग्रहण करनेको हेला-नामाभास कहते हैं। प्रभासखण्डमें अनादरपूर्वक नाम ग्रहणका भी फल संसारसे उद्धार होना बतलाया गया है—

मधुरमधुरमेतन्मङ्गलं मङ्गलानां सकल निगमवल्लीसत्फलं चित्स्वरूपम्।
सकृदपि परिगीतं श्रद्धया हेलया वा भृगुवर नरमात्रं तारयेत् कृष्णनाम॥ (३)

इस श्लोकमें 'श्रद्धया' शब्दका अर्थ है—आदरपूर्वक और 'हेलया' का—अनादरपूर्वक। **'नरमात्रं तारयेत्'**—इस वाक्यका तात्पर्य यह है कि कृष्णनाम मुसलमानोंको भी मुक्ति प्रदान करते हैं।

विजय—अवहेलासे नाम करना क्या अपराध नहीं है?

बाबाजी—जान-बूझकर असत् उद्देश्यसे अवहेला होनेपर अपराध होता है, परन्तु अज्ञतापूर्वक हेला होनेपर नामाभास होता है।

विजय—नामाभासका फल क्या होता है एवं नामाभाससे क्या-क्या नहीं हो सकता है?

बाबाजी—नामाभाससे सभी प्रकारके भोग सुख, मुक्ति एवं अष्ट प्रकारकी सिद्धियाँ—यह सब कुछ पाया जा सकता है, परन्तु उससे कृष्णप्रेम रूप परमपुरुषार्थ नहीं पाया जा सकता है। किन्तु नामाभासी असत्सङ्ग छोड़कर शुद्धभक्तोंका यदि निरन्तर सङ्ग करे और उनके उपदेशोंका नियमित रूपमें पालन करे तो वह शीघ्र ही मध्यम वैष्णव बन जाता है और कुछ ही दिनोंमें शुद्धभक्ति प्राप्तकर वैष्णव-प्रेम प्राप्त कर लेता है।

विजय—प्रभो! बहुत-से वैष्णवाभास वैष्णव-चिह्न धारणकर निरन्तर नामाभास करते हैं, परन्तु अनेक दिनों तक ऐसा करनेपर भी वे प्रेम लाभ नहीं कर पाते, इसका क्या कारण है?

बाबाजी—इसमें एक रहस्य है। वह यह है कि वैष्णवाभास साधक शुद्धभक्तिको पानेके योग्य होनेपर भी अनन्य भक्तिके अभावमें वह साधु मानकर जिसका सङ्ग करते हैं, वह व्यक्ति यदि शुद्धभक्त न होकर मायावादी हुआ, तो उसके कुसङ्गसे साधक मायावादके अपसिद्धान्तोंकी शिक्षा करता है, जिससे उसकी रही-सही भक्तिका आभास भी दूर हो जाता

---

(३) हे भृगुवर! यह कृष्णनाम मधुरसे भी सुमधुर है, समस्त प्रकारके मङ्गलोंका भी मङ्गलस्वरूप है तथा निखिल श्रुतिसमूहरूपी लताका सुमधुर और सुपक्व फल है। इस चैतन्यस्वरूप तारक ब्रह्म श्रीकृष्णनामका एकबार भी श्रद्धा अथवा अवहेलापूर्वक ही क्यों न हो, कीर्त्तन करनेसे उक्त कृष्णनाम मनुष्य मात्रका उद्धार कर देते हैं।

है और क्रमशः वैष्णवापराधीकी तथा नामापराधीकी श्रेणीमें गिर पड़ता है। ऐसी दशामें उसका दशामें उसका कल्याण होना कठिन ही नहीं—असम्भव-सा हो जाता है। हाँ, यदि उसकी पूर्व-सुकृति प्रबल हो तो वह सुकृति ही उसे कुसङ्गसे हटाकर सत्सङ्गमें पहुँचा देती है और सत्सङ्गमें पुनः उसे शुद्ध वैष्णवता प्राप्त होती है।

विजय—प्रभो! नामापराधका फल क्या होता है?

बाबाजी—पञ्च महापापको करोड़ गुणा करनेसे जो पापराशि होती है उससे भी नामापराध अधिक भयङ्कर होता है। अतएव नामापराधका फल सहज ही अनुमान कर सकते हो।

विजय—प्रभो! नामापराधका फल बड़ा ही भयङ्कर होता है, समझ गया, परन्तु नामापराधके समय जो नामाक्षर उच्चरित होते हैं, उसका क्या कुछ भी अच्छा फल नहीं होता?

बाबाजी—नामापराधी जिस फलकी आकांक्षा कर नामोच्चारण करते हैं, 'नाम' उसे वही फल प्रदान करते हैं। परन्तु उसे कृष्णप्रेमरूप फल नहीं प्रदान करते। साथ-ही-साथ उस नामापराधीको अपने नामापराधका फल भी भोगना पड़ता है। नामापराधी शठतापूर्वक जो नाम लेते हैं, उसका फल इस प्रकार होता है—नामापराधी प्रायः शठतापूर्वक (धूर्त्ततापूर्वक) नाम ग्रहण करते हैं, उनका यह शठताशून्य नामोच्चारण सुकृतिके रूपमें एकत्रित होता है। धीरे-धीरे वह सुकृति कुछ अधिक होनेपर उसके प्रभावसे शुद्धनाम ग्रहणकारी सन्तोंका सङ्ग प्राप्त होता है। सत्सङ्गके प्रभावसे नामापराधी निरन्तर नाम उच्चारण करते-करते नामापराधसे छुटकारा पा जाता है। इस प्रणालीका अवलम्बनकर बड़े-बड़े मुमुक्षु (मुक्तिकी कामना रखनेवाले) भी क्रमशः हरिभक्त हुए हैं।

विजय—यदि एक नाम ही समस्त पापोंको हरण करनेमें समर्थ है, तब निरन्तर (तैलधारावत्) नामकी आवश्यकता क्या है?

बाबाजी—नामापराधियोंका अन्तःकरण और व्यवहार सर्वथा और सर्वदा दूषित होता है। वे स्वभावतः बहिर्मुख होते हैं। अतएव साधु-व्यक्ति, साधु-वस्तु और सत्कालके प्रति उनकी रुचि नहीं होती। कुपात्रमें, कुसिद्धान्तमें तथा कुकार्योंमें उनकी नैसर्गिक रुचि होती है। निरन्तर नामोच्चारणसे उन्हें असत्सङ्ग और असत्कर्मके लिए समय नहीं मिलता। अतएव कुसङ्ग न होनेके कारण नाम क्रमशः शुद्ध होकर सत्-विषयमें उसे रुचि प्रदान करते हैं।

विजय—प्रभो! आपके मुखसे श्रीनामतत्त्वका अमृत प्रवाह निकलकर हमारे कर्ण-पथसे होकर हृदयमें प्रवेशकर हमें नामप्रेम-रससे उन्मत्त कर रहा है। आज हम नाम, नामाभास और नामापराधको पृथक्-पृथक् भलीभाँति जानकर कृतार्थ हुए। अब उपसंहारमें हमारे लिए जो उपदेश उचित हैं उसे सुनानेकी कृपा करें।

बाबाजी—पण्डित जगदानन्दके प्रेम-विवर्तग्रन्थमें एक बड़ा ही सुन्दर उपदेश है। तुमलोग उसका श्रवण करो—

असाधु संगे भाई, कृष्णनाम नाहि हय।[४]

---

(४) याद रखो, असाधुसङ्गमें कृष्णनाम उदित नहीं होते। वहाँ केवल नामाक्षर ही मुखसे निकलता है, शुद्ध कृष्णनाम नहीं। वहाँ तो सर्वदा नामापराध ही होता है। बड़े सौभाग्यसे

नामाक्षर बाहिराय बटे, तबु नाम कभु नय॥

कभु नामाभास हय, सदा नाम अपराध।
ए सब जानिबे भाई, कृष्णभक्तिर बाध॥

यदि करिबे कृष्णनाम, साधु संग कर।
भुक्ति-मुक्ति-सिद्धि वांछा दूरे परिहर॥

कभी-कभी नामाभास होता है परन्तु ये नामाभास और नामापराध दोनों ही कृष्णभक्तिके लिए बाधा स्वरूप हैं। यदि तुम शुद्ध कृष्णनाम करना चाहते हो तो साधुसङ्ग करो। साथ ही भोग, मोक्ष और सिद्धि आदिकी कामनाओंका परित्याग करो, दस अपराधों तथा मान-अपमान आदिसे दूर रहो। अनासक्त होकर आवश्यकतानुसार विषयोंका भोग करते हुए निरन्तर कृष्णनाम कीर्त्तन करो।

जो कृष्णभक्तिके अनुकूल हो उसे ग्रहण करो तथा जो कृष्णभक्तिके प्रतिकूल हो, उसे छोड़ दो। कर्म, ज्ञान और योगकी चेष्टाओंको छोड़ो तथा मर्कट वैराग्यसे सर्वदा दूर रहो, जो केवल देहकी ही शोभा बढ़ाता है। कृष्ण ही सर्वदा मेरे पालक और रक्षक हैं—ऐसा पूर्ण विश्वास रखो। दैन्यगुणको अपनाओ तथा कृष्णचरणोंमें आत्मनिवेदन कर दो। इन छह प्रकारकी शरणागतिका आचरण करके मायारूपी जंजालको नष्ट कर दो। जीवके लिए साधुसङ्ग प्राप्त करना बड़ा ही दुर्लभ है—ऐसा जानकर भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं ही साधु और भक्तके रूपमें नदिया (नवद्वीप) में अवतरित हुए हैं। इसलिए हे बुद्धिमान पुरुषो! श्रीगौराङ्गदेवके चरणकमलोंका ही आश्रय करो, उनसे बढ़कर साधु या गुरु कौन है? वे स्वयं कृष्ण हैं।

वैरागी भाई! जब कभी तुम दूसरोंसे मिलो, उनसे न तो ग्राम्यवार्त्ता बोलो और न सुनो।

यदि गौरचन्द्रके चरणोंमें प्रीति रखना चाहते हो तो स्वप्नमें भी स्त्रियोंसे सम्भाषण न करो। याद रखो, तुम घरमें अपनी स्त्रीको छोड़कर यहाँ भजन करनेके लिए आये हो। इस विषयमें छोटे हरिदासके प्रति श्रीमन् महाप्रभुका कठोर व्यवहार सर्वदा स्मरण रखना। बढ़िया भोजन न करो और न बढ़िया वस्त्र ही पहनो। हृदयमें सदैव राधाकृष्णकी सेवा करना। बड़े हरिदासकी भाँति दिन-रात सब समय हरिनाम करो और अष्टकाल राधाकृष्णकी कुञ्जवनमें सेवा करना। क्या गृहस्थ और क्या वैरागी, श्रीगौराङ्ग महाप्रभु सभीको कहते हैं—सबको सदैव हरिनाम करना चाहिये। बिना नाम किये एक क्षण भी समय नष्ट न हो—इसका सदैव ध्यान रखना चाहिये। अनेकसाधनों की कोई आवश्यकता नहीं, केवल हरिनाम करो इसीसे तुम्हारा जीवन सार्थक होगा। बद्धजीवोंपर कृपा करनेके लिए ही कृष्ण ही 'नाम' हुए हैं। पुनः वे कृष्ण ही गौर और गौरधाम हुए हैं। अतः एकान्त और सरल चित्तसे श्रीगौरचन्द्रका भजन करो। ऐसा करनेसे ही कृष्णचन्द्रके चरणकमलोंको प्राप्त कर सकोगे। गौरभक्तोंके सङ्गमें हा गौराङ्ग! पुकारते हुए 'हरे कृष्ण' नामका नृत्य करते-करते कीर्त्तन करो। ऐसा करनेसे शीघ्र ही तुम कृष्णनाम—प्रेमको प्राप्त

'दश अपराध' त्यज मान अपमान।
अनासक्त्ये विषय भुञ्ज आर लह कृष्णनाम॥

कृष्णभक्तिर अनुकूल सब करह स्वीकार।
कृष्णभक्तिर प्रतिकूल सब कर परिहार॥

ज्ञान-योगचेष्टा छाड़ आर कर्मसंग।
मर्कट-वैराग्य त्यज याते देह-रंग॥

कृष्ण आमार पाले, रक्षे-जान सर्वकाल।
आत्मनिवेदन दैन्ये घुचाओ जंजाल॥

साधु पावा कष्ट बड़ जीवेर जानिया।
साधु-भक्त रूपे कृष्ण आइला नदीया॥

गोरापद आश्रय करह बुद्धिमान।
गोरा वई साधु गुरु केवा आछे आन॥

वैरागी भाई ग्राम्य-कथा ना सुनिबे काने।
ग्राम्य-वार्त्ता ना कहिबे, जबे मिलिबे आने॥

स्वपनेओ ना कर भाई स्त्री सम्भाषण।
गृहे स्त्री छाड़िया भाई आसियाछ वन॥

यदि चाह प्रणय राखिते गौरांगेर सने।
छोट हरिदासेर हरिदासेर कथा थाके येन मने॥

भाल ना खाइबे, आर भाल ना परिबे।
हृदयेते राधाकृष्ण सर्वदा सेविबे॥

बड़ हरिदासेर न्याय कृष्णनाम बलिबे बदने।
अष्टकाल राधाकृष्ण सेविबे कुंजवने॥

गृहस्थ, वैरागी दूँहे बले गोराराय।
देख भाई नाम बिना जेन दिन नाहि जाय॥

कर लोगे, जिसे श्रीचैतन्य महाप्रभुजी जगत् में वितरण करनेके लिए आविर्भूत हुए हैं।

बहु अंग साधने भाई नहि प्रयोजन।
कृष्ण नामाश्रये शुद्ध करह जीवन॥

बद्धजीवे कृपा करि कृष्ण हैल 'नाम'।
कलि जीवे दया करि कृष्ण हैल गौरधाम॥

एकान्त सरल भावे भज गौरजन।
तबे त पाइबे भाई श्रीकृष्ण चरण॥

गौरजन संग कर गौराङ्ग बलिया।
'हरे कृष्ण' नाम बल नाचिया-नाचिया॥

अचिरे पाइबे भाई नाम-प्रेमधन।
याहा विलाइते प्रभुर 'नदें' ए आगमन॥

इस प्रकार वृद्ध बाबाजीके मुखसे श्रीजगदानन्द द्वारा रचित 'प्रेमविवर्त' सुनकर विजय और ब्रजनाथ महाप्रेममें विभोर होकर व्याकुल हो गये बाबाजी बहुत देर तक अचेतन प्राय रहनेके पश्चात् विजय और ब्रजनाथके गलेको अपने दोनों हाथसे पकड़कर रोते-रोते निम्नलिखित कीर्त्तन-पद गाने लगे—

कृष्ण नाम धरे कत बल।
विषय-वासनानले मोर चित्त सदा जले, रवि-तप्त मरुभूमि सम।
कर्णरन्ध्र पथ दिया, हृदि माझे प्रवेशिया, बरिसय सुधा अनुपम॥१॥

हृदय हइते बले, जिह्वार अग्रेते चले, शब्द रूपे नाचे अनुक्षण।
कंठे मोर भंगेस्वर, अंग कांपे थर थर, स्थिर हइते ना पारे चरण॥२॥

चक्षे धारा देहे घर्म, पुलकित सब चर्म, विवर्ण हइल कलेवर।
मूर्च्छित हइल मन, प्रलयेर आगमन, भावे सर्वदेह जर-जर॥३॥

करि एत उपद्रव, चित्ते वर्षे सुधा-द्रव, मोरे डारे प्रेमेर सागरे।
किछु ना बुझिते दिल, मोरे त वातुल कैल, मोर चित्त वित्त सब हरे॥४॥

लइनु आश्रय जार, हेन व्यवहार ताँर, वर्णिते ना पारि ए सकल।
कृष्ण नाम इच्छामय, जाहे जाहे सुखी हय, सेइ मोर सुखेर सम्बल॥५॥

प्रेमेर कलिका नाम, अद्भुत रसेर धाम, हेन बल करये प्रकाश।

इषत् विकशि पुनः देखाय निज रूप गुण, चित्त हरि लय कृष्ण पास॥६॥

पूर्ण विकशित हञा, ब्रजे मोरे जाय लञा, देखाय मोरे स्वरूप विलास।
मोरे सिद्धदेह दिया, कृष्ण-पासे राखे गिया, ए देहेर करे सर्वनाश॥७॥

कृष्णनाम चिन्तामणि, अखिल रसेर खनि, नित्यमुक्त शुद्ध रसमय।
नामेर बालाइ यत, सब लये हइ हत, तबे मोर सुखेर उदय॥८॥

—यह नामकीर्त्तन करते-करते आधी रात हो गयी। कीर्त्तन समाप्त होनेपर विजय और ब्रजनाथ गुरुदेवकी आज्ञा पाकर नामरसमें विभोर होकर घर लौटे।

॥पच्चीसवाँ अध्याय समाप्त॥

॥दूसरा खण्ड समाप्त॥

तीसरा खण्ड
छब्बीसवाँ अध्याय
रस-विचार (प्रारम्भिक)

लगभग एक महीनेसे विजयकुमार अनुपस्थित थे। ब्रजनाथकी पितामहीने ब्रजनाथ और विजयकुमार दोनोंका मनोभाव समझकर घटक ब्राह्मणके द्वारा एक सुपात्री ठीक कर ली। विजयकुमारको यह खबर भेज दी गयी। उन्होंने अपने छोटे भाईको भागिनेयके विवाहकी व्यवस्था करनेके लिए बिल्वपुष्करिणी भेज दिया। शुभ दिन और शुभ लग्नमें विवाहका कार्य सम्पन्न हुआ। विवाहका कार्य सम्पूर्ण रूपसे समाप्त हो जानेपर विजयकुमार एक दिन यहाँ उपस्थित हुए। उनका चित्त परमार्थ-विषयमें विशेष रूपसे विभोर था। इसलिए वे सांसारिक कुशलक्षेम आदिकी बातें न कहकर कुछ उदास होकर बैठे हैं। उन्हें इस प्रकार उदास बैठे देखकर ब्रजनाथने कहा—मामा! आपका चित्त आजकल स्थिर क्यों नहीं दीखता है? आपकी आज्ञासे ही मैं संसार श्रृंखलामें बँधा हूँ। अब आपका अपने सम्बन्धमें क्या विचार है?

विजयकुमार बोले—मैंने एकबार श्रीपुरुषोत्तम (श्रीजगन्नाथदेव) के दर्शनोंके लिए श्रीधामपुरी जानेका निश्चय किया है। कुछ ही दिनोंमें यात्रीलोग पुरी जानेवाले हैं, मैं भी उनके साथ जाऊँगा। चलो, श्रीगुरुदेवसे इसके लिए आज्ञा ले आऊँ।

भोजनके पश्चात् तीसरे पहर ब्रजनाथ और विजयकुमार मायापुर उपस्थित हुए और उन्होंने श्रीरघुनाथदास बाबाजीके चरणोंमें प्रणामकर पुरीयात्राके लिए उनकी आज्ञा माँगी।

उनकी पुरीयात्राकी बात सुनकर बाबाजी बड़े आनन्दित हुए और स्नेहसे आर्द्र होकर बोले—तुमलोग श्रीजगन्नाथजीका दर्शन करनेके लिए पुरी जा रहे हो, बड़ी अच्छी बात है। पुरीमें काशीमिश्रभवनमें श्रीमन् महाप्रभुजीकी गद्दी है। वहाँपर आजकल श्रीवक्रेश्वर पण्डितके शिष्य श्रीगोपाल गुरु गोस्वामी विराजमान हैं। तुमलोग उनका अवश्य ही दर्शन करना और उनके उपदेशोंको भक्तिपूर्वक ग्रहण करना। श्रीस्वरूप गोस्वामीकी शिक्षा आजकल उन महात्माके ही कण्ठमें सम्पूर्ण रूपसे विराजमान है।

श्रीगुरुदेवकी आज्ञा पाकर वे बड़े आनन्दित होकर घर लौटे। रास्तेमें ब्रजनाथने विजयकुमारसे अनुरोध किया कि वे उन्हें भी अपने साथ पुरी ले चलें। विजयकुमार उनकी बातसे सहमत हो गये। दोनोंने घर पहुँचकर पुरीयात्राकी बात घर वालोंको बता दी। ब्रजनाथकी पितामही भी उनके साथ पुरी जानेके लिए तैयार हो गयीं। अन्तमें इन तीनोंकी पुरी जानेकी बात स्थिर हुई।

पुरीमें आषाढ़के महिनेमें श्रीजगन्नाथ, श्रीबलदेव और श्रीसुभद्रादेवीकी प्रसिद्ध रथयात्रा निकलती है। उस समय भारतके कोने-कोने से धर्मप्राण जनसमूह पुरीमें उमड़ पड़ता है। इसलिए दूरके यात्री ठीक समयपर उपस्थित होनेके लिए बहुत दिन पहले ही घरसे निकल पड़ते हैं। जेठका महीना लगते ही ये लोग भी यात्रियोंके साथ पुरीके लिए रवाना हुए। कुछ दिन चलनेके पश्चात् ये लोग दाँतन पारकर जलेश्वर पहुँचे। पुनः क्षीरचोरा गोपीनाथका दर्शनकर श्रीविरजाक्षेत्रमें उपस्थित हुए। वहाँपर नाभिगयाकी क्रिया समाप्तकर वैतरिणीमें स्नान किया तदनन्तर कटकमें पहुँचकर श्रीगोपालजीका दर्शन किया। पश्चात् एकाम्रकाननमें श्रीलिङ्ग-राजका दर्शनकर श्रीक्षेत्र (पुरीधाम) में उपस्थित हुए। सभी लोग अपने-अपने पण्डोंके द्वारा बतलाये गये स्थानोंपर ठहरे। विजयकुमार, ब्रजनाथ और पितामही हरचण्डी साहीमें ठहरे।

वे नियमानुसार समुद्र-स्नान, श्रीजगन्नाथ-दर्शन और वहाँके विभिन्न तीर्थस्थलोंका दर्शन, उनकी परिक्रमा एवं भोग-प्रसादका सेवन करने लगे। तीन-चार दिनोंके बाद विजयकुमार और ब्रजनाथने श्रीजगन्नाथदेवके मन्दिरमें श्रीमन् महाप्रभुका श्रीविग्रह, उनके चरण चिह्न और स्तम्भमें उनकी अँगुलियोंके चिह्नोंका दर्शन किया। श्रीमन् महाप्रभुजी श्रीजगन्नाथ देवका दर्शनकर प्रेमसे विह्वल हो पड़ते थे। आँखोंसे आँसुओंकी धारा बहने लगती थी। उस समय उनके स्पर्शसे चरणोंके नीचेके पत्थर पिघल जाते थे, जिससे उनपर उनके श्रीचरणोंके चिह्न अङ्कित हो जाते थे। वे उस समय जिस स्तम्भका सहारा लेकर खड़े रहते, वह गरुड़ स्तम्भ भी उनके प्रेमसे द्रवित हो जाता और उसपर उनकी अँगुलियोंके चिह्न पड़ जाते। इन चिह्नोंका दर्शनकर विजयकुमार और ब्रजनाथ महाप्रेममें विह्वल हो गये। वे उसी दिन काशीमिश्रके भवनमें उपस्थित हुए। वहाँ पत्थरके द्वारा निर्मित प्रकाण्ड भवनमें श्रीगम्भीरा—जिस कोठरीमें श्रीमन् महाप्रभुजी प्रेमावस्थामें निवास करते थे और जिसमें प्रिय पार्षद श्रीस्वरूप दामोदर और रायरामानन्द कृष्णविरहमें डूबते हुए श्रीमन् महाप्रभुको कृष्ण कथा सुना-सुनाकर सान्त्वना देते थे, और उसमें विराजित उनके खड़ाऊँ आदिका दर्शन किया। यहाँ एक ओर श्रीराधाकान्तका मन्दिर और दूसरी ओर गोपाल गुरुगोस्वामीकी गद्दी है। विजय और ब्रजनाथ प्रेमानन्दमें विभोर होकर गोपाल गुरुगोस्वामीके चरणोंमें गिरकर रोने लगे। गुरुगोस्वामी उनका वैसा भाव देखकर बड़े प्रसन्न हुए और उन्हें आलिङ्गन प्रदानकर अपने निकट बैठाया। अनन्तर उन्होंने कहा—मैं तुमलोगोंका परिचय जानना चाहता हूँ।

उनका परिचय प्राप्त करनेपर गुरु गोस्वामीकी आँखोंसे प्रेमाश्रु बहने लगे। श्रीनवद्वीपका नाम सुनकर बोले—"आज श्रीधामवासीका दर्शनकर मैं धन्य हो गया। अच्छा, यह तो बतलाओ कि मायापुरमें श्रीरघुनाथदास और गोराचाँददास आदि वैष्णवजन कैसे हैं? उनका कुशल तो है न? अहा रघुनाथदासका स्मरण होनेपर मेरे शिक्षागुरु श्रीदासगोस्वामीका स्मरण हो आता है।" बीच ही में गुरुगोस्वामीने अपने शिष्य श्रीध्यानचन्द्रको बुलाकर कहा कि बैठे हुए दोनों महात्मा यहींपर प्रसाद पायेंगे। श्रीध्यानचन्द्रजीने उन दोनोंको अपनी कोठरीमें ले जाकर श्रीमहाप्रसाद भोजन करवाया। वहाँ उन तीनोंमें बहुत-सी बातें हुई। विजयकुमारका श्रीमद्भागवतमें अगाध पाण्डित्य देखकर तथा ब्रजनाथको सर्व शास्त्रोंमें सुपण्डित जानकर ध्यानचन्द्र गोस्वामी बड़े आनन्दित हुए और सारी बातें गुरुगोस्वामीजीको कह सुनायी। गुरुगोस्वामीजी भी उन दोनोंके पाण्डित्यकी बात सुनकर प्रसन्न हुए और उन्हें अपने पास बुलाकर कहा—तुम दोनों मेरे बड़े प्रिय हो। तुमलोग जब तक श्रीपुरुषोत्तमधाममें रहो, प्रतिदिन मुझे दर्शन दिया करना।

विजयकुमारने बड़े ही नम्र शब्दोंमें कहा—प्रभो! श्रीमायापुरके श्रीरघुनाथदास बाबाजी महाशयकी हमपर बड़ी कृपा है। उन्होंने हमें बहुत कुछ शिक्षा दी है और आपके श्रीचरणोंमें उपदेश ग्रहण करनेके लिए आज्ञा दी है।

गुरुगोस्वामी बोले—रघुनाथदास बाबाजी परम पण्डित हैं। तुमलोग उनके उपदेशोंका भलीभाँति पालन करना। यदि तुमलोग कुछ और भी जानना चाहते हो तो कल दोपहरके पश्चात् यहाँ आकर जिज्ञासा करना। हाँ तुम दोनों कल यहींपर प्रसाद सेवा करना। इस प्रकार कुछ देर बातचीत होनेपर गुरुगोस्वामीकी आज्ञा लेकर वे हरचण्डीसाही लौट आये।

दूसरे दिन निर्धारित समयपर विजयकुमार और ब्रजनाथ श्रीराधाकान्त मठमें उपस्थित

हुए और प्रसाद-सेवा करनेके अनन्तर गुरुगोस्वामीके समीप आकर उन्हें प्रणामकर बोले—प्रभो! हमलोग रसतत्त्वके सम्बन्धमें जानना चाहते हैं। हमलोग आपके मुखसे कृष्णभक्ति रसका श्रवण करनेसे कृतार्थ हो जायेंगे। आप निमानन्द-सम्प्रदायके प्रधान-गुरु हैं एवं श्रीमन् महाप्रभुजीके स्थानमें श्रीस्वरूप गोस्वामीकी गद्दीपर जगद्गुरुके रूपमें विराजमान हैं। हम चाहते हैं, आपके मुखसे रसतत्त्वका श्रवणकर हमारा पाण्डित्य जो हममें है, सफल हो उठे। श्रीगोपाल गुरुगोस्वामी निर्जनमें उपयुक्त शिष्योंको पाकर बड़े आनन्दित हुए और इस प्रकार कहने लगे—

जो श्रीनवद्वीप-मायापुरमें आविर्भूत होकर श्रीगौड़मण्डल, क्षेत्रमण्डल और व्रजमण्डलके भक्तोंके प्राण हैं, वे शचीनन्दन निमाई पण्डित हमलोगोंका आनन्द विधान करें। जो मधुररसकी सेवा द्वारा श्रीमहाप्रभुको सदा-सर्वदा प्रसन्न रखते हैं, उन्हें आनन्द प्रदान करते हैं, वे श्रीस्वरूपगोस्वामी हमारे अन्तःकरणमें स्फुरित हों। निमाई पण्डित जिनके नृत्यपर नितान्त वशीभूत हो जाते एवं जिन्होंने कृपाकर देवानन्द पण्डितका शोधनकर उन्हें भगवद्भक्त बना दिया, वे वक्रेश्वर पण्डित तुमलोगोंका कल्याण करें।

रस एक अतुलनीय तत्त्व है। इसे साक्षात् परब्रह्म श्रीकृष्णका लीला-विकाशरूप चन्द्रोदय कहा जा सकता है। जिस समय कृष्णभक्ति बिलकुल शुद्ध होनेपर क्रियाकारता लाभ करती है, उस समय उसे भक्तिरस कहा जाता है।

ब्रजनाथ—क्या रस कोई पूर्वसिद्ध तत्त्व है?

गोस्वामी—मैं इस प्रश्नका उत्तर केवल 'हाँ' या 'ना'—एक ही शब्दमें नहीं दे सकता। कुछ विस्तारके साथ बतला रहा हूँ, तुम समझ लेना। तुम लोगोंने अपने गुरुदेवके निकट जिस कृष्णरतिका विषय श्रवण किया है, उसे ही स्थायीभाव कहते हैं। स्थायीभावके ऊपर सामग्रीका संयोग होनेपर कृष्णभक्तिरस होता है।

ब्रजनाथ—स्थायीभाव और सामग्रीके सम्बन्धमें हमें कुछ विस्तारसे समझानेकी कृपा करें। भाव क्या चीज हैं—इसे हमने गुरुदेवसे सुना है, परन्तु ये भावसमूह मिलकर किस प्रकार रसको उत्पन्न करते हैं—यह नहीं सुना है।

गोस्वामी—हाँ, साधारणतः भावरूपा भक्ति ही कृष्णरति है, जो भक्तजनके पूर्व और आधुनिक संस्कार द्वारा हृदयमें उदित होकर स्वयं आनन्दरूपा होनेपर भी रसावस्थाको प्राप्त करती है। सामग्री चार प्रकारकी होती है—(१) विभाव, (२) अनुभाव, (३) सात्त्विक और (४) व्यभिचारी या सञ्चारी। इन सामग्रियोंकी व्याख्या मैं पहले कर रहा हूँ। रति आस्वादनके हेतु—स्वरूप विभाव दो प्रकारका होता है—आलम्बन और उद्दीपन। आलम्बन दो प्रकारका होता है—विषय और आश्रय। जिसमें रति होती है, वे रतिके आश्रय हैं, जिसके प्रति रति क्रियावती होती हैं, वे रतिके विषय हैं। रति कृष्णभक्तोंके हृदयमें रहती है, इसलिए कृष्णभक्त रतिके आश्रय हैं एवं रति कृष्णके प्रति क्रियावती होती है, अतएव कृष्ण रतिके विषय हैं।

ब्रजनाथ—हमने यहाँ तक तो समझ लिया कि विभाव दो भागों में विभक्त है—आलम्बन और उद्दीपन। पुनः आलम्बन भी दो हैं—आश्रय और विषय। कृष्ण विषय हैं और भक्तजन आश्रय हैं। अब यह जाननेकी इच्छा हो रही है कि क्या कृष्ण भी कभी रतिके आश्रय होते हैं?

गोस्वामी—हाँ होते हैं। भक्तजन कृष्णके प्रति जो रति करते हैं, उसमें कृष्ण विषय और भक्त आलम्बन होते हैं, पुनः जब कृष्णभक्तके प्रति जो रति करते हैं, उसमें कृष्ण आश्रय और भक्तजन विषय होते हैं।

ब्रजनाथ—हमने श्रीकृष्णके ६४ गुणोंके सम्बन्धमें श्रीगुरुदेवके निकट श्रवण किया है। इसके अतिरिक्त कृष्णके सम्बन्धमें यदि कुछ बतलानेकी बात हो तो कृपया बतलाइये।

गोस्वामी—श्रीकृष्णमें निखिल गुणावलियाँ पूर्णतम रूपमें विराजमान होनेपर भी उनका द्वारकामें पूर्ण, मथुरामें पूर्णतर और गोकुलमें पूर्णतम—यह तारतम्य गुण-प्रकाशके तारतम्यसे साधित होता है। एक ही कृष्ण लीलाके भेदसे चार प्रकारके नायक होते हैं—(१) धीरोदात्त, (२) धीरललित, (३) धीरशान्त और (४) धीरोद्धत।

ब्रजनाथ—धीरोदात्तके लक्षण क्या हैं?

गोस्वामी—गम्भीर, विनयी, क्षमाशील, करुण, आत्मश्लाघारहित और अप्रकाशित गर्व-ये धीरोदात्त नायक कृष्णके लक्षण हैं ।

ब्रजनाथ—धीरललित किसे कहते हैं

गोस्वामी—रसिकता, नवयौवन, परिहासचातुरी और निश्चिन्तता—इन गुणोंके द्वारा कृष्ण प्रेयसियोंके वशीभूत हो जाते हैं, इसलिए कृष्ण धीरललित नायक हैं।

ब्रजनाथ—धीरशान्त कैसे हैं?

गोस्वामी—शान्त-स्वभाव, कष्ट-सहिष्णुता, विवेचकता और विनय आदि गुणोंसे युक्त होनेके कारण कृष्ण धीरशान्त नायक हैं।

ब्रजनाथ—धीरोद्धत कैसे हैं?

गोस्वामी—किसी-किसी समय लीलाभेदसे कृष्ण मात्सर्ययुक्त, अहङ्कारी, मायावी (छली), क्रोधी, चञ्चल और आत्मप्रशंसक भी दिखलायी पड़ते हैं, इसलिए वे धीरोद्धत नायक भी हैं।

ब्रजनाथ—आपने जिन गुणोंका वर्णन किया है, उनमें बहुत-से परस्पर विरोधी गुण भी हैं, अतएव वे एक ही साथ एक ही कृष्णमें कैसे सम्भव हैं?

गोस्वामी—कृष्ण स्वभावतः सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र परम निरंकुश ऐश्वर्यवान हैं। अतएव उनकी अचिन्त्यशक्तिके प्रभावसे उपरोक्त विरोधी गुण भी कृष्णमें एक ही साथ निवास करते हैं। जैसे—

कूर्मपुराणमें—

अस्थूलश्चानणुश्चैव स्थूलोऽणुश्चैव सर्वतः।
अवर्णः सर्वतः प्रोक्तः श्यामो रक्तान्तलोचनः॥
ऐश्वर्ययोगाद् भगवान् विरुद्धार्थोऽभिधीयते।
तथापि दोषो परमे नैवाहार्या कथञ्चन॥
गुणाविरुद्धा अप्येते समाहार्याः समन्ततः॥[१]

---

(१) भगवान् में विरोधीगुणसमूह एक ही समय अत्यन्त सुन्दर रूपसे विराजित हैं। वे अस्थूल और अणु होकर भी सब तरहसे स्थूल और अणु हैं। वे प्राकृत वर्णरहित होकर भी अप्राकृत श्यामवर्ण और रक्तान्त नेत्रवाले हैं—ऐसा शास्त्रों में वर्णन किया गया है।

महावराहपुराणमें—

सर्वे नित्याः शाश्वताश्च देहास्तस्य परात्मनः।
हानोपादानरहिता नैव प्रकृतिजाः क्वचित्॥
परमानन्दसन्दोहा ज्ञानमात्राश्च सर्वतः।
सर्वे सर्वगुणैः पूर्णाः सर्वदोषविवर्जिताः॥[२]

वैष्णव तन्त्रमें—

अष्टादशमहादोषैः रहिता भगवत्तनुः।
सर्वैश्वर्यमयी सत्यविज्ञानानन्दरूपिणी॥[३]

अट्ठारह महादोष ये हैं—

मोहस्तन्द्रा भ्रमो रुक्षरसता काम उल्वणः।
लोलता मदमात्सर्यै हिंसा खेदपरिश्रमौ॥
असत्यं क्रोध आकांक्षा आशंका विश्वविभ्रमः।
विषमत्वं परापेक्षा दोषा अष्टादशोदिता॥[४]

(विष्णुयामल)

अवतार-मूर्तियोंमें ये सभी सिद्ध हैं तथा अवतारी कृष्णमें परम सिद्ध हैं। इसके अतिरिक्त कृष्णमें और भी आठ गुण हैं, जो उनके पुरुषत्वके सूचक हैं, वे गुण हैं—शोभा, विलास माधुर्य, माङ्गल्य, स्थिरता, तेज, ललित और औदार्य। छोटोंके प्रति दया, समकक्षके प्रति स्पर्द्धा, शूरता, उत्साह, दक्षता एवं सत्यप्रकाशकी जगह शोभा परिलक्षित होती है। गम्भीरगति, धीर चितवन एवं सहास्य वचन द्वारा विलास लक्षित होता है। जहाँ चेष्टा आदिकी कमनीयता प्रकाशित होती है, वहाँ माधुर्य लक्षित होता है। सम्पूर्ण जगत्का विश्वास-स्थल ही माङ्गल्य है। किसी भी कार्य से विचलित नहीं होना ही स्थिरता है। सबके चित्तको अपनी ओर आकर्षण करना ही तेज है। जिनमें प्रचुर शृङ्गारचेष्टा है, वे ललित हैं। आत्मसमर्पण-कार्यका नाम ही औदार्य है। श्रीकृष्ण नायक—शिरोमणि हैं, इसलिए उनकी साधारण लीलामें

ऐश्वर्य योगके कारण भगवान् विरुद्धार्थ भी कहे जाते हैं। तथापि परमेश्वरके सम्बन्धमें किसी प्रकारका दोषारोप नहीं किया जा सकता है। ये गुणसमूह परस्पर विरोधी प्रतीत होनेपर भी भगवान्में सब तरहसे गुण ही कहलायेंगे।

(२) उन परमात्माके सारे शरीर ही नित्य (प्राकृत शरीरकी भाँति परिवर्तनशील नहीं), शाश्वत (कभी नष्ट नहीं होनेवाले), 'हान' अर्थात् त्याग, 'उपादान' अर्थात् ग्रहण—इन दोनों प्रकारकी क्रियाओंसे रहित अर्थात् प्राकृत शरीरकी भाँति (फटे वस्त्रकी भाँति) भगवान् अपने शरीरको छोड़ते नहीं हैं। भगवान्के शरीरसमूह प्रकृतिसे पैदा नहीं होते हैं—वे शरीरसमूह सम्पूर्ण रूपसे परमानन्द स्वरूप और चिन्मय होते हैं, उनके सारे अङ्ग-प्रत्यङ्ग सर्वविध गुणोंसे परिपूर्ण और सब तरहके दोषोंसे रहित होते हैं।

(३) भगवान् का शरीर अट्ठारह प्रकारके महादोषोंसे रहित होता है। वह सब प्रकारके ऐश्वर्योंसे युक्त, सत्यविज्ञान और आनन्दरूपी होता है।

(४) मोह, आलस्य, भ्रम, निरसता, कामोग्रता, चाञ्चल्य, मद, मात्सर्य, हिंसा, खेद, थकावट, आराम, असत्य, क्रोध, आकांक्षा, भय, जगद्भ्रम, विषमत्व और दूसरेपर निर्भर रहनेकी वृत्ति —ये अट्ठारह महादोष हैं।

गर्ग आदि ऋषि धर्मके विषयमें और युयुधान आदि क्षत्रियसमूह युद्धमें तथा उद्धव आदि मन्त्रणाके विषयमें सहायकके रूपमें वर्णित हुए हैं।

ब्रजनाथ—कृष्णके रस-नायकत्वके सम्बन्धमें पूरी तरह समझ लिया। अब रसोपयोगी विभावके अन्तर्गत कृष्णके भक्तोंके सम्बन्धमें बतलाइये।

गोस्वामी—जिनका अन्तःकरण कृष्णभावसे विभावित होता है, वे ही रसतत्त्वमें कृष्णभक्त हैं। सच बोलनेसे लेकर लज्जायुक्त (सत्यवाक्से ह्रीमान) तक जो २९ गुण कृष्णके सम्बन्धमें बतलाये गये हैं, वे सभी कृष्णभक्तमें पाये जाते हैं।

ब्रजनाथ—रसोपयोगी कृष्णभक्त कितने प्रकारके होते हैं?

गोस्वामी—दो प्रकारके होते हैं—साधक और सिद्ध।

ब्रजनाथ—साधक कौन है?

गोस्वामी—कृष्णके विषयमें जिनकी रुचि तो पैदा हो गयी है, परन्तु अभी सम्पूर्ण रूपसे विघ्न-बाधाएँ दूर नहीं हो पायी हैं, ऐसे लक्षणयुक्त भक्त कृष्णसाक्षात्कारकी योग्यता प्राप्तकर साधक कहलाते हैं। **ईश्वरे तदधीनेषु** (५) (श्रीमद्भा० ११/२/४६) में कहे गये लक्षणोंसे युक्त मध्यम भक्तजन साधक श्रेणीके अन्तर्गत हैं।

ब्रजनाथ—प्रभो! **अर्चायामेव हरये** (६) (श्रीमद्भा० ११/२/४७) श्लोकमें वर्णित भक्त क्या रसयोग्य नहीं हो सकते?

गोस्वामी—वे जब तक शुद्ध भक्तोंकी कृपासे शुद्धभक्त नहीं हो जाते, तब तक साधक नहीं हैं। बिल्वमङ्गल आदिकी तरह व्यक्ति ही यथार्थ साधक हैं।

ब्रजनाथ—सिद्ध भक्त कौन हैं?

गोस्वामी—जिन्हें किसी भी दुःख आदिका अनुभव नहीं होता, जिनकी सारी क्रियाएँ श्रीकृष्णके आश्रित होती हैं, जो सर्वदा प्रेम-सुखका आस्वादन करते हैं, ऐसे भक्तजन सिद्धभक्त कहलाते हैं। सिद्धभक्त दो प्रकारके होते हैं। अर्थात् सम्प्राप्त सिद्ध और नित्यसिद्ध।

ब्रजनाथ—सम्प्राप्त सिद्ध कौन हैं?

गोस्वामी—सम्प्राप्त सिद्ध भी दो प्रकार के होते हैं—साधनसिद्ध और कृपासिद्ध।

ब्रजनाथ—नित्यसिद्ध कौन हैं?

गोस्वामी—श्रीरूप गोस्वामीने कहा है—

आत्मकोटिगुणं कृष्णे प्रेमानं परमं गताः।
नित्यानन्दगुणाः सर्वे नित्यसिद्धा मुकुन्दवत्॥ (७)

पद्मोत्तर खण्डमें—

यथा सौमित्रिभरतौ यथा संकर्षणादयः।
तथा तेनैव जायन्ते निजलोकाद्यदृच्छया॥
पुनस्तेनैव गच्छन्ति तत् पदं शाश्वतं परं।

---

(५) १३४ पृष्ठपर देखिये।

(६) १३२ पृष्ठपरे देखिये।

(७) मुकुन्दकी तरह जिनके गुण नित्य और आनन्द—स्वरूप हैं, वे नित्यसिद्ध हैं। इनका प्रधान लक्षण यह है कि अपनी अपेक्षा भी कृष्णके प्रति कोटिगुण अधिक प्रेमयुक्त होते हैं।

न कर्मबन्धनं जन्म वैष्णवानाञ्च विद्यते॥ (८)

ब्रजनाथ—प्रभो! विभावके अन्तर्गत आलम्बन तो समझ गया, अब कृपया उद्दीपन किसे कहते हैं, बतलाइये।

गोस्वामी—जो भावको उद्दीपन कराते हैं, उन्हें उद्दीपन कहते हैं। कृष्णके गुण, उनकी चेष्टाएँ, हास्य, अङ्गसौरभ, वंशी, शृङ्ग, नूपुर, शंख, पदचिह्न, क्षेत्र, तुलसी, भक्त और हरिवासर आदि काल—ये सभी उद्दीपन हैं। कृष्णके गुण तीन प्रकारके होते हैं—कायिक, मानसिक और वाचिक। कायिक गुणोंमें वयस (आयु) एक प्रधान गुण है। कौमार, पौगण्ड और कैशोर-ये तीन वयः (आयु) हैं—

कौमारं पञ्चमाब्दान्तं पौगण्डं दशमावधि।
आषोडशाच्च कैशोरं यौवनं स्यात्ततः परम्॥(९)

(भ० र० सि० २/१/३०९)

कैशोरावस्थाके भी तीन भेद होते हैं—आद्य, मध्य और शेष। कायिक गुणोंमें सौन्दर्यका विचार प्रधान है। अङ्गोंके यथोचित सन्निवेशको सौन्दर्य कहते हैं। वस्त्र, सज्जा और सँवारनेकी वस्तुओं (मण्डनादि) को 'प्रसाधन' कहते हैं। कृष्णकी वंशी तीन प्रकारकी होती है-वंशी, वेणु और मुरली।

वेणु—बारह अंगुल लम्बा और अंगुष्ठके समान मोटा होता है, इसमें छः छेद होते हैं। मुरली दो हाथ लम्बी होती है, मुखमें रन्ध्र होता है तथा इसमें चार छिद्र होते हैं। वंशीमें आधी-आधी अँगुलीके अन्तरपर आठ छिद्र दूसरी छोरपर आधी अँगुली छोड़कर मुखरन्ध्र होता है, शिरोभाग चार अँगुली, पुच्छ तीन अँगुली, कुल मिलाकर (रन्ध्रको मिलाकर) नौ छिद्र और सतरह अँगुली लम्बी होती है। कृष्णके हाथमें जो दक्षिणावर्त-शंख विराजमान रहता है, उसका नाम 'पांचजन्य' है। इन उद्दीपनोंके द्वारा भक्तकी रति उद्दीप्त होकर तदीय विषय श्रीकृष्णके प्रति क्रियावती होकर आस्वादनरूपा हो पड़ती है। रति ही स्थायी भाव है, वही रस होती है। अगले दिन तुम लोग इसी समय यहाँ उपस्थित होना, मैं अनुभाव आदि की व्याख्या करूँगा।

गोस्वामीचरणसे विदा होकर रसके विषयमें चिन्तन करते-करते विजय और ब्रजनाथ सिद्धबकुलका दर्शनकर और वहाँसे श्रीजगन्नाथदेवका दर्शन करते हुए अपने डेरेपर लौट आये।

॥छब्बीसवाँ अध्याय समाप्त॥

---

(८) जिस प्रकार सुमित्रानन्दन लक्ष्मण और भरत भगवान् श्रीरामचन्द्रके और जिस प्रकार बलराम आदि भगवान् श्रीकृष्णके साथ भगवान्‌की इच्छासे प्रपञ्च (संसार) में आविर्भूत होते हैं और पुनः भगवान्‌के साथ ही नित्य परमधाममें चले जाते हैं, उसी प्रकार यादवगण भी भगवान्‌की प्रकट लीलामें आविर्भूत होते हैं और अप्रकट लीलाके समय भगवान्‌के साथ ही परमधाममें चले जाते हैं, अतएव वैष्णवोंका प्राकृत मनुष्यकी भाँति कर्मबन्धन अथवा जन्म नहीं होता।

(९) पाँच वर्षकी आयु तक कौमार, दस वर्ष तक पौगण्ड और सोलह वर्षकी अवस्था तक किशोरावस्था और उसके पश्चात् यौवन काल है।

सत्ताइसवाँ अध्याय
रस–विचार

दूसरे दिन प्रसाद–सेवन कर दोपहरके पश्चात् विजयकुमार और ब्रजनाथ श्रीराधाकान्त मठमें उपस्थित हुए। गोपालगुरु गोस्वामी महाप्रसाद सेवाकर उनकी प्रतीक्षा कर ही रहे थे। श्रीध्यानचन्द्र गोस्वामी उनके समीप बैठकर उपासना पद्धति लिख रहे थे। उस समय गुरु गोस्वामीका दर्शन अतीव अपूर्व था। संन्यास वेश, ललाटपर उर्द्धपुण्ड्र तिलक, सब अङ्गोंपर हरिनामाक्षर, गलदेशमें मोटी–मोटी तुलसीकी चार मालाएँ, हाथमें जपकी माला, दोनों नेत्र ध्यानके आवेशमें अर्द्धमुद्रित, बीच–बीचमें नेत्र–प्रान्त से लेकर वक्षःस्थल तक लम्बी अश्रुधारा, समय–समयपर "हा गौराङ्ग!" "हा नित्यानन्द!"—ऐसा उच्चारणकर आह भरकर रोदन, स्थूल शरीर, उज्ज्वल श्याम वर्ण, कदलीके वल्कलासनपर बैठे हुए, कुछ दूरपर दो खड़ाऊँ तथा समीप ही जलपूर्ण करङ्ग। यह सब देखकर विजय और ब्रजनाथके हृदयमें एक अभूतपूर्व श्रद्धाका भाव पैदा हुआ। वे दोनों साष्टाङ्ग प्रणामकर बहुत देर तक जमीनपर पड़े रहे। विजय और ब्रजनाथकी विद्वता, अनेकानेक शास्त्रोंकी पारदर्शिता, वैष्णवता देखकर तथा श्रीनवद्वीपधामवासी जानकर मठके सभी लोग इन दोनोंका आदर करते थे। आज उनका वैष्णवोचित भाव देखकर सभी बड़े आश्चर्यान्वित हुए। उन्हें इस प्रकार पड़ा देखकर गुरु गोस्वामीने उन्हें उठाकर प्रेमसे आलिङ्गन करते हुए अपने समीप बैठाया। समय देखकर ब्रजनाथने विनयपूर्वक रसका प्रसङ्ग उपस्थित किया। गोस्वामीने प्रेमपूर्वक कहा—आज मैं तुमलोगोंको अनुभाव आदि समझाकर रसतत्त्वमें प्रवेश कराऊँगा। विभाव, अनुभाव सात्त्विक और व्यभिचारी—इन चार प्रकारकी सामग्रियोंमेंसे मैं विभावतत्त्वको कल बतला चुका हूँ। आज सबसे पहले अनुभावकी व्याख्या कर रहा हूँ, सावधानीसे सुनना। जिसमें और जिसके द्वारा रति विभावित (उद्दीप्त) होती है, उसे विभाव बतलाया है। अब जिसके द्वारा उस रतिका बोध करानेवाले चित्तके भावोंकी अनुभूति होती है, उन उद्भास्वरनामा लक्षणोंको अनुभाव कहते हैं। दूसरे शब्दों में चित्तके भावोंको प्रकाश करनेवाली कटाक्ष, रोमाञ्च आदि चेष्टाओंको अनुभाव कहते हैं। वे बाह्य विकारकी तरह प्रकाशित होनेपर भी चित्तके भावोंको प्रकाश करने वाली होती हैं। नृत्य, विलुंठन (पृथ्वीपर गिरकर लोटने लगना), गान, जोरसे रोना, शरीरको मरोड़ना, हुँकार, जंभाई, दीर्घश्वास, लोकापेक्षा त्याग (लोग क्या कहेंगे—इसकी परवाह न करना), लार टपकाना, अट्टहास (जोरोंसे हँसना), घूर्णा (चक्कर आना) और हिचकी—इन बाहरी विकारों द्वारा चित्तके भावसमूह प्रकाशित होते हैं।

ब्रजनाथ—ये बाह्य विकार किस प्रकार आन्तरिक स्थायीभावके रसास्वादनकी पुष्टि कर सकते हैं? दूसरी बात, अन्दरमें रसास्वादन होनेपर ये अनुभावसमूह बाहर शरीरमें प्रकाशित होते हैं—अतएव ये स्वयं पृथक् सामग्री कैसे हुए?

गोस्वामी—बाबा तुम यथार्थ ही न्यायशास्त्र के पण्डित हो। तुम्हारे समान सूक्ष्म प्रश्न करते मैंने आज तक किसीको भी नहीं देखा। जब मैं श्रीपण्डित गोस्वामीके पास रसशास्त्रका अध्ययन करता था, उस समय मेरे अन्दर भी ठीक ऐसा ही वितर्क उठा था, परन्तु श्रीगुरुदेवकी कृपासे यह सन्देह शीघ्र ही दूर हो गया था। इसका गूढ़ तात्पर्य यह है कि जीवके शुद्धसत्त्वमें, जो चित्तकी क्रिया है, वह जब विभावित (उद्दीप्त) होकर क्रियाकी सहायता करती है, उस समय उसमें एक ऐसा स्वाभाविक वैचित्र्य उदित होता है, जो

चित्तको विभिन्न प्रकारसे प्रफुल्लित करता है। चित्त प्रफुल्लित होनेपर बाहर शरीरमें भी उसका कुछ विकार प्रकाश पाता है, इन्हीं बाह्य विकारोंको उद्भास्वर कहते हैं। ये विकारसमूह (नृत्यादि) अनेक प्रकारके होते हैं—चित्तके नृत्य करनेसे शरीर भी नृत्य करने लगता है, चित्तके गान करनेसे जिह्वा भी गान करती है, इसी प्रकार दूसरे विकारोंके सम्बन्धमें भी जानना चाहिये। परन्तु उद्भास्वर क्रिया ही मूल-क्रिया नहीं है, बल्कि चित्तके विभावके पोषक जो अनुभाव उदित होते हैं, वे ही उद्भास्वरके रूपमें शरीरमें व्याप्त होते हैं। चित्तमें ज्यों ही स्थायीभाव विभावके द्वारा भावित होता है, त्यों ही चित्तकी द्वितीय क्रिया अनुभावके रूपमें कार्य करने लगती है। अतएव अनुभाव एक पृथक् सामग्री है, जब वह गीत आदिके द्वारा प्रकाशित होती है, तब उसे 'शीत' कहते हैं एवं जब वह नृत्य आदिके द्वारा प्रकाशित होती है, तब उसे 'क्षेपण' कहते हैं। शरीरकी 'प्रफुल्लिता' रक्तोद्गम, अस्थिसन्धिवियोग (हड्डियोंका परस्पर अलग हो जाना), सन्धिकर्षण (हड्डियोंकी ग्रन्थियोंका सिकुड़ जाना) आदि और भी अनेक प्रकारके अनुभावलक्षण हैं। परन्तु ये अनुभाव लक्षण विरले ही देखे जाते हैं। इसलिए इनके सम्बन्धमें अधिक विस्तारसे नहीं बतलाया। प्राणेश्वर श्रीचैतन्य महाप्रभुके शरीरमें कूर्माकार आदि जो अत्यन्त आश्चर्यपूर्ण अनुभाव लक्षित हुए थे, वे साधक भक्तोंमें सम्भव नहीं हैं।

गुरुगोस्वामीके इन गूढ़ उपदेशोंको सुनकर विजय और ब्रजनाथ कुछ देर तक बिलकुल मौन रहे। फिर बोले—प्रभो! सात्त्विकभाव किसे कहते हैं?

गोस्वामी—कृष्ण सम्बन्धी किसी भाव द्वारा जब चित्त साक्षात् रूपमें अथवा कुछ व्यवधानके साथ विभावित होता है, तब उसी चित्तको 'सत्त्व' कहते हैं। इस सत्त्वसे जो भावसमूह पैदा होते हैं, उन्हें सात्त्विकभाव कहते हैं, सात्त्विकभाव तीन प्रकारके होते हैं—स्निग्ध, दिग्ध और रुक्ष।

ब्रजनाथ—स्निग्ध सात्त्विकभाव किसे कहते हैं?

गोस्वामी—स्निग्ध सात्त्विकभाव मुख्य और गौण भेदसे दो प्रकारके होते हैं। जब साक्षात् कृष्ण सम्बन्धी मुख्य रति चित्तको आक्रमण करती है, उस समय मुख्य स्निग्ध सात्त्विकभाव होता है, स्तम्भ-स्वेदादि मुख्य सात्त्विकभावके अन्तर्गत हैं। जब कृष्णसम्बन्धी रति कुछ व्यवधानके साथ गौण रूपमें चित्तको आक्रमण करती है, उस समय गौणस्निग्ध सात्त्विकभाव होता है, वैवर्ण और स्वरभेद, ये दो गौण सात्त्विकभाव हैं। मुख्य और गौण रतिकी क्रियाके अतिरिक्त कोई दूसरा भाव चित्तको आक्रमण करनेपर रतिका अनुगामी दिग्ध सात्त्विकभाव उदित होता है, कम्प ही दिग्ध सात्त्विकभाव है। जब रतिशून्य भक्तसदृश कोई व्यक्ति कृष्णके अतीव आश्चर्यजनक मधुर भावोंकी बातोंको सुनकर अत्यन्त विस्मित हो जाता है और उस समय उसमें जो आनन्द पैदा होता है, उसे रुक्ष सात्त्विकभाव कहते हैं, रोमांच ही रुक्ष' सात्त्विकभाव है।

ब्रजनाथ—सात्त्विकभाव कैसे उदित होते हैं?

गोस्वामी—जब साधकका चित्त सत्त्व भावके साथ एक होकर अपनेको प्राणके निकट समर्पण करता है, तब प्राण विकारयुक्त होकर शरीरमें प्रचुर क्षोभ पैदा करता है, उसी समय स्तम्भ आदि विकार उदित होते हैं।

ब्रजनाथ—सात्त्विक विकार कितने प्रकारके हाते हैं?

गोस्वामी—स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, स्वरभेद, वेपथु (कम्प), वैवर्ण (विषाद), (भय और क्रोध आदि द्वारा शरीरके ऊपर जो वर्ण विकार होता है जैसे—मलिनता, कृशता आदि) अश्रु और प्रलय—ये आठ सात्त्विक विकार हैं। प्राण किसी अवस्थामें दूसरे चार भूतों (भूमि, जल, तेज और आकाश) के साथ पञ्चम भूतके रूपमें अवस्थित रहता है और कभी-कभी स्वप्रधान होकर अर्थात् वायु प्रधान होकर जीवके शरीरमें विचरण करता है। जिस समय वह भूमिस्थ होता है, तब स्तम्भ (जड़ता) लक्षित होता है, जलाश्रित होनेपर अश्रु, तेजस्थ होनेपर वैवर्ण एवं स्वेद या पसीना लक्षित होता है। जब वह आकाशाश्रित होता है, तब प्रलय या मूर्च्छा होती है तथा जब वह स्वप्रधान (वायुके आश्रित) होता है, तब मन्द, मध्य, तीव्र भेदसे रोमाञ्च, कम्प और स्वरभेद विकारससूह प्रकाशित होते हैं। ये आठों विकार बाहर और भीतर दोनों तरफ क्रियाशील रहनेके कारण कभी भाव भी कहे जाते हैं और कभी अनुभाव भी। अनुभावसमूह केवल बाहर शरीरमें क्रियाशील रहनेके कारण सात्त्विकभाव नहीं कहलाते हैं, जैसे—नृत्य आदिमें सत्त्वसे उत्पन्न भाव साक्षात् क्रिया नहीं करता, वरन् बुद्धि द्वारा उत्तेजित क्रिया करता है। परन्तु स्तम्भ आदिमें बुद्धिकी अपेक्षा न कर सात्त्विकभाव साक्षात् क्रिया करता है। इसीलिए अनुभाव और सात्त्विकभावको पृथक्-पृथक् माना गया है।

ब्रजनाथ—स्तम्भ आदि अष्ट सात्विक विकारोंका हेतु जानना चाहता हूँ।

गोस्वामी—हर्ष, भय, आश्चर्य, विषाद एवं अमर्ष (खेद, क्रोध, ग्लानि) के कारण वाक् आदि रहित जड़ताको स्तम्भ कहा जा सकता है। हर्ष, भय और क्रोधादिके कारण शरीरकी आर्द्रता अर्थात् पसीनेको 'स्वेद' कहते हैं। आश्चर्य, हर्ष, उत्साह और भयसे जो शरीरकी रोमावलि खड़ी हो जाती है उसे रोमाञ्च कहते हैं। विषाद, विस्मय, क्रोध, हर्ष और भयसे वाणीके गद्गद होने आदिपर स्वरभेद उदित होता है। भय, क्रोध और हर्ष आदिसे जो कँपकँपी पैदा होती है, उसे 'वेपथु' कहते हैं। विषाद, रोष और भय आदिसे शरीरका जो वर्ण विकार पैदा होता है, उसे वैवर्ण कहते हैं। हर्ष, रोष और विषाद आदि द्वारा आँखोंसे जो जल निकलता है, उसे अश्रु कहते हैं, आनन्दके आँसू शीतल होते हैं और क्रोधादिके गर्म होते हैं। सुख और दुःख द्वारा चेष्टाशून्यता, ज्ञानशून्यता, जड़ता एवं भूमिपर गिर जाने आदिको प्रलय कहते हैं। सात्त्विकभाव सत्त्वके तारतम्यानुसार उत्तरोत्तर धूमायित, ज्वलित, दीप्त और प्रदीप्त—चार प्रकारके होते हैं। रुक्षसात्त्विक भावसमूह प्रायः धूमायित हुआ करते हैं। स्निग्धभावसमूह क्रमशः ऊँची अवस्था प्राप्त करते हैं रति ही सर्वानन्द चमत्कारका हेतु है, रतिके अभावमें रुक्ष आदिमें चमत्कारिता नहीं है।

ब्रजनाथ—प्रभो! बड़े सौभाग्यसे सात्त्विकभावसमूह उदित होते हैं किन्तु नाटकमें तथा संसारमें अपने कार्यकी सिद्धिके लिए बहुत-से लोग इन भावोंको दिखलाते हैं, उन लोगोंके भावोंको क्या कहा जाये?

गोस्वामी—सरल और शुद्धभक्तिका साधन करते-करते स्वभावतः जो सात्त्विकभावसमूह

प्रकाशित होते हैं, वे वैष्णवभाव हैं। इसके अतिरिक्त जो सब भाव दिखलायी पड़ें, उन्हें चार भागोंमें विभक्त कर लेना। चार विभाग ये हैं—रत्याभास, सत्त्वाभास, निःसत्त्व और प्रतीप।

ब्रजनाथ—रत्याभास किसे कहते हैं?

गोस्वामी—मुक्तिकामी पुरुषोंको रत्याभास होता है। शांकर-संन्यासियोंको कृष्णकी लीला कथाओंको श्रवणकर जो भाव होता है, उसे रत्याभास कहते हैं।

ब्रजनाथ—सत्वाभास किसे कहते हैं?

गोस्वामी—स्वभावतः शिथिल हृदयमें कृष्णकथाका श्रवणकर आनन्द और विस्मय आदिका आभास उदित होनेपर सत्वाभासका उदय होता है। जरन्मीमांसक और साधारण स्त्रियोंको कृष्णकथा सुनकर जैसा भाव होता है, उसे सत्वाभास कहते हैं।

ब्रजनाथ— निःसत्व-भावाभास किसे कहते हैं?

गोस्वामी—निसर्गवशतः पिच्छिल (गीला और चिकना अथवा फिसलनेवाला) अन्तःकरण एवं नाट्य-अभिनय तथा कार्य सिद्धिके लिए जो लोग अभ्यास करते हैं, उनको जो पुलकाश्रु आदि होते हैं, उन्हें निःसत्व कहते हैं। जो लोग वस्तुतः कठिन हृदयके हैं, परन्तु अभ्यासके द्वारा रोनेका ऐसा अभ्यास कर लिये होते हैं कि बातकी बातमें ऐसा रोने लगते हैं मानो वे स्वाभाविक रूपमें ही रो रहे हैं, परन्तु उनका रोना सम्पूर्ण दिखावटी होता है। ऐसे लोग निसर्ग द्वारा पिच्छिलान्तःकरणवाले कहलाते हैं।

ब्रजनाथ—प्रतीप किसे कहते हैं

गोस्वामी—कृष्णके प्रति प्रतिकूल चेष्टासे उत्पन्न क्रोध, भय आदि द्वारा जो भावाभास आदि प्रकाशित होते हैं, वे प्रतीप-भावाभास कहलाते हैं। इसका उदाहरण सहज है।

ब्रजनाथ—प्रभो! विभाव, अनुभाव और सात्विक भावोंको समझ गया, साथ ही सात्विकभाव और अनुभावका भेद भी समझ गया, अब व्यभिचारी भावोंका वर्णन कीजिये।

गोस्वामी—व्यभिचारी भाव ३३ हैं। स्थायी भावके प्रति विशेष रूपसे अभिमुखी होकर ये ३३ भाव विचरण करते हैं, इसलिए इन्हें व्यभिचारी कहते हैं। ये वाणी, अङ्ग और सत्त्व द्वारा सूचित होकर सञ्चारित होते हैं, अतः इन्हें सञ्चारीभाव भी कहते हैं। ये स्थायीभावरूप अमृतसागरमें लहरोंकी तरह उठकर समुद्रको ऊँचाकर पुनः उसमें मग्न हो जाते हैं। ३३ सञ्चारीभाव ये हैं—निर्वेद (खेद या उदासीनता), विषाद, दैन्य, ग्लानि, श्रम, मद, गर्व, शङ्का, त्रास (भय), आवेग (उद्वेग), उन्माद, अपस्मृति, व्याधि, मोह, मृत्यु, आलस्य, जाड्य, ब्रीडा, अवहित्था (भाव-गोपन), स्मृति, वितर्क, चिन्ता, मति, धृति, हर्ष, उत्सुकता, उग्रता, अमर्ष, असूया, चापल्य, निद्रा, सुप्ति और बोध। कुछ सञ्चारीभाव स्वतन्त्र हैं और कुछ परतन्त्र हैं। परतन्त्र सञ्चारीभाव वर और अवर भेदसे दो प्रकारके होते हैं। वर भी साक्षात् और व्यवहित (गौण) भेदसे दो प्रकारका होता है। स्वतन्त्र सञ्चारीभावसमूह रतिशून्य, रत्यानुस्पर्श और रतिगन्ध भेदसे तीन प्रकारके होते हैं। ये समस्त भाव विपक्षीके प्रति प्रयुक्त होनेपर प्रातिकूल्य और अनौचित्य भेदसे दो प्रकारके होते हैं। इन सभी भावोंकी चार दशाएँ होती हैं—उत्पत्ति, सन्धि, शावल्य और शान्ति।

ब्रजनाथ—भावोत्पत्ति सहज ही समझी जा सकती है। भावसन्धि किसे कहते हैं?

गोस्वामी—जब एक समान अथवा भिन्न-भिन्न प्रकारके दो भाव परस्पर मिलित होते हैं तो उस मिलनको भावसन्धि कहते हैं। इष्टजात जड़ता और अनिष्टजात जड़ता एक ही

समय उदित होनेपर समान रूपमें भावसन्धि होती है, हर्ष और आशङ्का एक साथ उदित होनेपर वह दो भिन्न प्रकारके भावोंका सन्धि-स्थल होता है।

ब्रजनाथ—भावशाबल्य किसे कहते हैं?

गोस्वामी—बहुत-से भावोंके परस्पर सम्मर्द (ठेला-ठेली, संघर्ष, एक दूसरेको दबाकर प्रकाशित होने) को भावशाबल्य कहते हैं। कृष्णके सम्बन्धमें सुनकर कंसको क्रोध और भय होता है, यह भावशाबल्यका उदाहरण है।

ब्रजनाथ—भावशान्ति किसे कहते हैं?

गोस्वामी—अत्यन्त प्रबलताको प्राप्त हुए भावका विलीन हो जाना ही भावशान्ति कहलाता है। कृष्णको आसपास न देखकर व्रजवासी बड़े चिन्तित थे, ठीक उसी समय कृष्णकी वंशीध्वनि सुनकर उनकी चिन्ता शान्त हो गयी अर्थात् दूर हो गयी—यह विषादकी शान्ति दशा है।

ब्रजनाथ—इस विषयमें यदि और भी कुछ बातें जानने योग्य हों तो कृपया बतलाइये। गोस्वामी—ये ३३ व्यभिचारी भाव, एक मुख्य स्थायीभाव और सात गौण स्थायीभाव (जिन्हें पीछे बतलाऊँगा)—कुल मिलाकर ४१ भाव ही शरीर और इन्द्रियोंको विकारयुक्त करते हैं। इसलिए ये भावजनक चित्तवृत्तियाँ हैं अर्थात् ये भावोंके जनक—उन्हें उत्पन्न करनेवाले हैं।

ब्रजनाथ—ये कौन-कोनसे भावोंके जनक हैं?

गोस्वामी—ये अष्टसात्विकभावों तथा विभावके अन्तर्गत अनुभावोंके जनक हैं।

ब्रजनाथ—क्या ये सभी स्वाभाविक हैं?

गोस्वामी—नहीं। इनमेंसे कुछ स्वाभाविक हैं और कुछ आगन्तुक। जिस भक्तका जो स्थायीभाव है, वही उसका स्वाभाविक भाव है। व्यभिचारी भावसमूह प्रायः आगन्तुक होते हैं।

ब्रजनाथ-क्या सभी भक्तोंके भाव समान होते हैं?

गोस्वामी—नहीं, भक्त विविध प्रकारके होते हैं, अतएव उनके मनोभाव भी विविध प्रकारके होते हैं। जैसा मन होता है, उसीके अनुसार भावोदयका भी तारतम्य होता है। मनके गरिष्ठ, लघिष्ठ और गम्भीर तीन भेदोंके अनुसार भावोदय तीन प्रकारके होते हैं। परन्तु अमृत स्वभावतः सदैव द्रवीभूत होता है, कृष्णभक्तोंका चित्त स्वभावतः अमृतके समान होता है। आज यहीं समाप्त करता हूँ। कल स्थायीभावकी व्याख्या करूँगा।

विजय और ब्रजनाथ साष्टाङ्ग प्रणामकर श्रीगुरु गोस्वामीकी आज्ञा लेकर अपने स्थानको लौटे।

॥सत्ताइसवाँ अध्याय समाप्त॥

अट्ठाइसवाँ अध्याय
रस-विचार

दूसरे दिन विजयकुमार और ब्रजनाथ दोनों नियमित समयपर श्रीगोपालगुरु गोस्वामीके चरणोंमें उपस्थित हुए और साष्टाङ्ग दण्डवत्-प्रणामकर पिछले दिनके स्थिर किये हुए विषयके सम्बन्धमें जिज्ञासा करने लगे। ब्रजनाथने पूछा—प्रभो! विभाव, अनुभाव सात्त्विक और व्यभिचारी—इन सबके सम्बन्धमें आपने जो कुछ बतलाया है उससे तो ऐसा लाता है कि ये सभी भाव ही हैं। फिर इनमें स्थायीभाव कहाँ है?

गोस्वामी—ये सभी भाव हैं—यह ठीक है, परन्तु इनमें जो भाव हास्य आदि अविरुद्ध एवं क्रोध आदि विरुद्ध—दोनों प्रकारके भावोंको अपने अधीनकर और स्वयं प्रधान बनकर अन्यान्य भावोंके सम्राट् रूपमें विराजमान रहता है, उसका नाम ही स्थायीभाव है। भक्तके हृदयमें आश्रयगत कृष्णरति ही वह स्थायी भाव है। देखो, सामग्री वर्णनके प्रसङ्गमें उस आश्रयकी गणना विभावके अन्तर्गत आलम्बनमें की गयी थी, वही भाव दूसरे भावोंको अपने अधीनकर उनमेंसे कुछको रसके हेतु रूपमें और कुछको रसके सहायकके रूपमें ग्रहणकर स्वयं आस्वादन रूप होकर भी आस्वाद्य भाव धारण करता है। अत्यन्त गूढ़ रूपसे अनुशीलन द्वारा स्थायीभावको दूसरे भावोंसे अलगकर विचार करो। स्थायीभावरूप रति मुख्य और गौण भेदसे दो प्रकारकी होती है—मुख्यरति और गौणरति।

ब्रजनाथ—मुख्यरति किसे कहते हैं?

गोस्वामी—भावभक्तिके प्रसङ्गमें जिस शुद्धसत्त्व-विशेष-स्वरूप रतिकी बात बतलायी गयी है, वही रति मुख्य है।

ब्रजनाथ—हम जब साधारण अलङ्कारशास्त्र पढ़ते थे, उस समय रतिके सम्बन्धमें जो मेरी धारणा बनी थी, वह आज आपके विशुद्ध विचारोंको सुनकर दूर हो गयी। आज मैं यह भलीभँति समझ गया कि जीवका शुद्धस्वरूप जो आत्मगत मनोवृत्ति है, उसीके ऊपर भागवत रस उदित होता है। साधारण आलङ्कारियोंने जिस रतिका उल्लेख किया है या वे जिस रतिका उल्लेख करते हैं, वह केवल बद्धजीवके जड़ शरीर और लिङ्ग (सूक्ष्म) शरीरगत मन और चित्तको आश्रयकर आस्वादित होती है। अब मैं यह भी समझ गया कि आप जिस रसकी व्याख्या कर रहे हैं, वही रस शुद्धजीवका सर्वस्व धन है और बद्धजीव उस रसको ह्लादिनीकी कृपासे किञ्चित्मात्रामें अनुभव करता है। अब कृपया यह बतलाइये, कि शुद्धरति अर्थात् मुख्यरति कितने प्रकारकी होती है?

ब्रजनाथका तत्त्व बोध देखकर गुरु गोस्वामीकी आँखोंसे आनन्दाश्रुओंकी धारा बहने लगी। वे ब्रजनाथका आलिङ्गनकर बोले—तुम जैसा शिष्य पाकर आज मैं धन्य हो गया। सुनो, मुख्यरति दो प्रकारकी होती है—स्वार्थी मुख्यरति और परार्थी मुख्यरति।

ब्रजनाथ—स्वार्थी मुख्यरति किसे कहते हैं?

गोस्वामी—स्वार्थी रति अविरुद्ध भावसमूह द्वारा अपनेको पुष्ट करती है एवं विरुद्ध भाव द्वारा उसे ग्लानि (खेद या अनुत्साह) पैदा होती है।

ब्रजनाथ—परार्थी मुख्यरति किसे कहते हैं?

गोस्वामी—जो रति स्वयं संकुचित भावसे अविरुद्ध और विरुद्ध दोनों प्रकारके भावोंको ग्रहण करती है, उसे परार्थी मुख्यरति कहते हैं। मुख्यरतिका और भी एक प्रकारका विभाग

है।

ब्रजनाथ—कौन-सा?

गोस्वामी—मुख्यरति पाँच भागोंमें विभक्त है—शुद्ध, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर। जिस प्रकार एक ही सूर्य स्फटिक आदि भिन्न-भिन्न पात्रोंके ऊपर प्रतिबिम्बित होनेपर भिन्न-भिन्न प्रकारसे देखा जाता है, उसी प्रकार स्थायीभावका रति-पात्रोंके भेदसे वैशिट्य लक्षित होता है।

ब्रजनाथ—शुद्धरतिकी व्याख्या कीजिये।

गोस्वामी—शुद्धरति तीन प्रकारकी होती है—सामान्य, स्वच्छ और शान्त। साधारण लोगोंकी एवं बालिकाओंकी कृष्णके प्रति जो रति होती है, उसे सामान्यरति कहते हैं। नानाविध भक्तोंके सम्बन्धसे उनके—अपने मतानुसार पृथक्-पृथक् साधन द्वारा विविधताको प्राप्त साधकोंकी रति 'स्वच्छरति' कहलाती है। साधकको जिस प्रकारके भक्तका सङ्ग प्राप्त होता है, साधककी रति स्फटिक मणिकी भाँति उसी प्रकारका भाव धारण कर लेती है। इसलिए इसका नाम स्वच्छरति है। इस रतिको प्राप्त हुए व्यक्ति कृष्णको कभी 'प्रभु' कहकर स्तव करते हैं, कभी 'मित्र' कहकर परिहास करते हैं, कभी 'पुत्र' मानकर पालन-पोषण करते हैं, कभी 'कान्त' कहकर उल्लसित होते हैं और कभी 'परमात्मा' कहकर भावना भी करते हैं। समगुणसे युक्त होकर अपने मनसे विषय-वासनाको निकाल देनेपर जो मनका आनन्द होता है, उसे सम स्वभाव कहते हैं। ऐसे सम स्वभाववाले पुरुषोंकी परमात्म ज्ञानसे कृष्णके प्रति जो रति होती है, उसे शान्तरति कहते हैं। दास्य, सख्य, वात्सल्यादि रतियोंमें रहनेवाले स्वादोंसे इस रतिका सम्पर्क न रहनेके कारण ही इस रतिको शुद्धरति कहा जाता है।

ये तीन रतियाँ (दास्य, सख्य और वात्सल्य) केवला और संकुला भेदसे दो प्रकारकी होती हैं। जहाँ केवल एक रति कार्य करती है—वहाँ दूसरी रतियोंकी गन्ध नहीं रहनेके कारण उसे केवला कहते हैं। व्रजानुग रसाल आदि भृत्योंमें, श्रीदाम आदि सखाओंमें तथा नन्द आदि गुरुजनोंमें केवलारति होती है। जहाँ दो अथवा अधिक रतियाँ एकत्र मिलती हैं, उसे संकुला रति कहते हैं। उद्धव, भीम और व्रजेश्वरीकी धात्री मुखराकी रति संकुला कहलाती है।

ब्रजनाथ—पहले मेरी ऐसी धारणा थी कि व्रजानुग भक्तोंमें शान्तरति नहीं होती। परन्तु अब देख रहा हूँ कि व्रजमें किञ्चिन्मात्रामें शान्तरति भी होती है। जड़ आलङ्कारिकोंने शान्त धर्ममें रतिका अभाव माना है। परन्तु परब्रह्म-रतिमें वह अवश्य ही लक्षित होती है। अब दास्यरतिका लक्षण बतलानेकी कृपा करें।

गोस्वामी—"कृष्ण प्रभु हैं" और "मैं दास हूँ"—इस बुद्धिसे जिस आराध्यत्वात्मिक रतिका उदय होता है, उसे दास्यरति या प्रीति कहते हैं। जिनकी इसमें (आराध्यके प्रति) आसक्ति होती है, उनकी अन्य वस्तुओंमें प्रीति नहीं रहती।

ब्रजनाथ—सख्य रतिका लक्षण क्या है?

गोस्वामी—जो श्रीकृष्णको अपने समान समझकर उनके प्रति दृढ़ विश्वास करते हैं, उनकी रति सख्यरति कहलाती है। सख्यरतिमें खुलकर हास्य-परिहास्य हुआ करता है।

ब्रजनाथ—वात्सल्यरतिका लक्षण बतलानेकी कृपा करें।

गोस्वामी—कृष्णके गुरुजनोंकी श्रीकृष्णके प्रति जो अनुग्रहमयी रति होती है, उसे वात्सल्यरति कहते हैं। इसमें लालन-पालन, माङ्गल्य-क्रिया, आशीर्वाद और चिबुक (ठोड़ी) स्पर्श आदि क्रियाएँ होती हैं।

ब्रजनाथ—कृपाकर मधुररतिका लक्षण बतलाइये।

गोस्वामी—मृगनयनी व्रजाङ्गनाओं और श्रीकृष्णके बीच जो स्मरण-दर्शन आदि अष्टविध सम्भोगरूपा जो रति होती है, उसे मधुररति कहते हैं। इसमें कटाक्ष, भ्रूक्षेप, प्रियवाणी और हास्य आदि कार्य होते हैं। यह रति शान्तसे लेकर मधुर तक उत्तरोत्तर आस्वादशालिनी एवं उल्लासमयी होती है तथा भक्त भेदसे नित्य विराजमान रहती है। यहाँ तक संक्षेपमें पाँच प्रकारकी मुख्यरतिका लक्षण बतलाया।

ब्रजनाथ—अब अप्राकृत रससम्बन्धिनी गौणी रतिकी व्याख्या कीजिये।

गोस्वामी—संकोचमयी रति द्वारा विभाव अर्थात् आलम्बनजन्य जो भाव-विशेष स्वयं प्रकाशित हो, उसे गौणी रति कहते हैं। हास्य, विस्मय, उत्साह, शोक, क्रोध, भय और जुगुप्सा (निन्दा)—ये सात गौण भाव हैं। प्रथम छह गौण-भावोंमें कृष्णभाव सम्भव है। शुद्धरतिके उदय होनेपर भक्तजनोंके जड़ शरीरमें तथा शरीरके कार्यमें जो जुगुप्सा अर्थात् निन्दाका उदय होता है, रसके विचारसे वही सप्तम रति है। शुद्धसत्व विशेषरूप (स्वार्थी) रतिसे हास्य आदि भाव भिन्न होनेपर भी परार्थी-मुख्यरतिके योग हेतु इनमें अर्थात् हास्य आदिमें भी रति शब्दका प्रयोग होता है। जैसे हास्यरति, विस्मयरति इत्यादि। हास्यादि गौणीरति किसी समय किसी भक्तमें स्थायित्व लाभ करती है, परन्तु सर्वत्र ऐसा नहीं होता। इसलिए ये सामयिक और अनियत धारा (जो धाराप्रवाह रूपसे प्रकाशित नहीं होती) के नामसे व्यक्त हैं। किसी-किसी स्थलमें ये प्रबल होकर शुद्ध सहज-रतिका भी तिरस्कारकर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेती हैं।

ब्रजनाथ—जड़ीय अलङ्कारमें शृङ्गार, हास्य, करुण—आदि आठ प्रकारके भाव कहे गये हैं। अब मैं समझ गया कि भावका वैसा विभाव केवल तुच्छ नायक-नायिकाके जड़ीय रसमें ही शोभा पा सकता है चिन्मय व्रजरसमें उसकी स्थिति नहीं है। चिन्मय रसमें केवल शुद्ध आत्माकी ही क्रिया है, वहाँ मनकी कोई क्रिया नहीं पहुँच पाती। अतएव महाजन अर्थात् भक्त-महात्माओंने रतिको स्थायीभाव स्थिरकर उसके मुख्य भावको पाँच प्रकारके मुख्य रसोंमें तथा गौण भावको सात प्रकारके गौण-रसोंमें विभक्त किया है—यही विभाग समीचीन है। अब कृपाकर हास्यरतिका लक्षण बतलाइये।

गोस्वामी—वाक्य, वेष, और चेष्टा आदिकी विकृतिसे चित्तकी, विकासकारी हास्यरतिका उदय होता है। इनमें नेत्रविकास, नासिका, होठ और सिरमें स्पन्दन आदि होते हैं। यह हँसी कृष्णसम्बन्धी चेष्टासे ही उत्पन्न होती है और स्वयं संकोचमयी रतिद्वारा अनुगृहीत होकर हास्यरति कहलाती है।

ब्रजनाथ—विस्मय रतिका लक्षण बतलाइये।

गोस्वामी—किसी अलौकिक विषयको देखकर चित्तका जो विकार होता है, उसे विस्मय कहते हैं। यह विस्मय कृष्ण-सम्बन्धी होनेपर विस्मयरति कहलाती है। इसमें आँखें फाड़कर देखना, वाह! वाह! आदि साधुवाद और पुलक आदि अनुभाव प्रकट होते हैं।

ब्रजनाथ—उत्साह रतिका क्या लक्षण होता है?

गोस्वामी—साधुओं द्वारा प्रशंसित किसी बड़े कार्यमें दृढ़ मनकी जो शीघ्रातिशीघ्र आसक्ति होती है, उसे उत्साह कहते हैं। इसमें शीघ्रता, धैर्यत्याग और उद्यम आदि लक्षित होते हैं।

ब्रजनाथ—क्रोधरतिका लक्षण क्या है?

गोस्वामी—प्रतिकूल भावद्वारा चित्तमें जो जलन पैदा होती है उसे क्रोध कहते हैं। इसमें कठोरता, भ्रकुटि तन जाना, आँखें लाल हो जाना आदि विकार अनुभूत होते हैं।

ब्रजनाथ—भय रतिका लक्षण क्या है?

गोस्वामी—किसी भयङ्कर दृश्यको देखकर चित्तकी अत्यधिक चञ्चलताका नाम भय है। इसमें आत्मगोपन, हृदय-शुष्कता और भागनेकी चेष्टा देखी जाती है।

ब्रजनाथ—जुगुप्सारतिका लक्षण बतलाइये।

गोस्वामी—निन्दित-विषयोंके दर्शन, श्रवण या स्मरण आदिसे जो संकोच (लज्जा) होता है, उसे जुगुप्सा कहते हैं। इसमें थू-थू निकलना, मुख टेड़ा करना एवं छिः छिः करना आदि लक्षण प्रकाशित होते हैं, ये सब कृष्णके अनुकूल होनेपर ही रति हैं, अन्यथा ये केवल मानव चित्तके विकारमात्र हैं।

ब्रजनाथ—भक्ति रसमें कुल कितने भाव हैं?

गोस्वामी—आठ स्थायीभाव, तैतीस सञ्चारीभाव और आठ सात्त्विकभाव कुल मिलाकर ४९ भाव हैं। ये भावसमूह यदि प्राकृत होते हैं, तब ये त्रिगुणोत्पन्न सुख-दुःखमय होते हैं और यदि ये श्रीकृष्णस्फुरणमय होते हैं, तब अप्राकृत और त्रिगुणातीत प्रौढ़ानन्दमय होते हैं, और तो क्या विषाद भी कृष्णसम्बन्धी होनेपर परम सुखमय हुआ करता है। श्रीरूपगोस्वामीने कहा है कि कृष्ण और कृष्ण-प्रियादि आलम्बनके रूपमें रतिके कारण हैं। स्तम्भ आदि रतिके कार्य हैं, निर्वेद आदि रतिके सहायक हैं। रसोद्बोधनके समय इनकी संज्ञा कारण, कार्य और सहायक न होकर विभाव आदि होती है। रति विषय-आस्वादनकी योग्यता विभावित करती है अर्थात् उत्पन्न करती है। इसलिए पण्डितजन इसे 'विभाव' कहते हैं। उस विभावित रतिको विस्तृतकर अनुभव (प्रकाश) करानेके कारण नृत्य आदिको 'अनुभाव' कहा गया है। उस विभावित और अनुभावित रतिको—जो निर्वेद आदि भावोंका सञ्चार कराकर विचित्र बनाती है—उसे 'सञ्चारी' भाव कहते हैं। सात्विकभावसमूह भी सत्त्वबोधक कार्य कराते हैं इसलिए उन्हें 'सात्विक' भाव कहते हैं। भगवत्सम्बन्धी काव्य और नाट्य आदि शास्त्रोंमें पारङ्गत भक्तजन सेवाको ही विभावका आदि कारण बतलाते हैं। वास्तवमें ये रतिके अन्तर्गत भावसमूह अचिन्त्यस्वरूपविशिष्ट महाभक्तिविलासरूप हैं। महाभारत आदि शास्त्रोंमें इन्हें तर्कसे परे बतलाया गया है। महाभारतमें ऐसा सिद्धान्त स्थिर किया गया है कि जो भावसमूह चिन्तासे परे हैं, उनके सम्बन्धमें तर्क करना उचित नहीं। प्रकृतिसे अतीत तत्त्व ही अचिन्त्यतत्त्व है। अचिन्त्यरसतत्त्व मनोहरा रति ही कृष्णके रूप आदिको विभावित करवाकर और उन विभाव आदिको साथ लेकर अपनेको पुष्ट करती है। माधुर्य आदिके आश्रयस्वरूप कृष्णके रूप आदिको रति प्रकाशित करती है एवं दूसरी तरफ कृष्णरूप आदि अनुभूत होकर रतिको विस्तृत करते हैं। अतएव विभाव, अनुभाव, सात्विक और व्यभिचारी भावसमूह रतिके सहायक हैं एवं रति भी उन भावोंकी सहायक है।

ब्रजनाथ—कृष्णरति और विषयरतिमें अन्तर क्या है?

गोस्वामी—विषयरति लौकिकी होती है, परन्तु कृष्णरति अलौकिकी होती है।

लौकिकीरति संयोगमें सुखमयी और वियोगमें नितान्त दुःखदायी होती है। कृष्णरति भगवान्के प्रेमी व्यक्तियोंमें युक्त होनेपर रस हो पड़ती है एवं सम्भोग सुखका उदय कराती है। वियोगमें अर्थात् विप्रलम्भमें वही रति एक अत्यन्त अद्भुत आनन्द–विवर्तका रूप धारण करती है। श्रीमन् महाप्रभु और रायरामानन्द—संवादमें रायरामानन्दजीने स्वरचित **"पहिलेहि राग नयनभङ्गे भेल।"**(१) इस पद्यमें वियोगके अद्भुतानन्द 'विवर्त' की व्याख्या की है। उसमें आर्तिभावका आभासमात्र पाया जाता है परन्तु वह परम सुखमय होता है।

ब्रजनाथ—तार्किकजन रसको प्रकाश्य खण्डवस्तु कहते हैं, उसका उत्तर क्या है?

गोस्वामी—जड़रस वस्तुतः प्रकाश्य खण्ड वस्तु है, क्योंकि सामग्रीके मिलनेसे स्थायीभाव रसके रूपमें व्यक्त होता है इसके पहले वह अव्यक्त रहता है। परन्तु अप्राकृत चिन्मयरसके सम्बन्धमें ऐसी बात नहीं है। सिद्धावस्थामें यह नित्य, अखण्ड और स्वप्रकाश होता है।

साधनावस्थामें वही रस प्राकृत जगत्में प्रकाशित रूपमें अनुभूत होता है। लौकिक रस वियोगमें नहीं रहता। परन्तु अलौकिक रस संसार–वियोग दशामें अधिक शोभाको प्राप्त होता है। ह्लादिनी–महाशक्तिके विलासरूप यह रस परमानन्दतादात्म्य लाभ किये हुए है अर्थात् परमानन्द ही स्वयं रस है। यह तर्कसे अतीत है, क्योंकि अचिन्त्य है।

ब्रजनाथ—अप्राकृत तत्त्वमें रस कितने प्रकारके हैं?

गोस्वामी—रति मुख्य रूपसे एक है और गौण रूपसे सात हैं। अतएव कुल मिलाकर रति आठ प्रकारकी है। उसी प्रकार मुख्य रस पाँच प्रकारके होते हुए भी एक है एवं गौण रस सात प्रकारके हैं। अतएव रस भी आठ प्रकारके हैं।

ब्रजनाथ—आठोंका कृपया नाम बतलाइये। जितना श्रवण करता हूँ, श्रवण करनेकी इच्छा उतनी ही अधिक बढ़ती जाती है।

गोस्वामी—श्रीरूप गोस्वामी भक्तिरसामृतसिन्धु (२/५/११५-११६) में कहते हैं—

मुख्यस्तु पञ्चधा शान्तः प्रीतः प्रेयांश्च वत्सलः।
मधुरश्चेत्यमी ज्ञेया यथापूर्वमनुत्तमाः॥
हास्योऽद्भुतस्तथा वीरः करुणो रौद्र इत्यपि।
भयानकः सबीभत्स इति गौणश्च सप्तधा॥

मुख्य भक्तिरस पाँच हैं—शान्त, प्रीत, प्रेय, वत्सल और मधुर। इन पाँचोंमें पहलेको दूसरेसे, दूसरेको तीसरेसे, तीसरेको चौथेसे, चौथेको पाँचवें से क्रमशः कनिष्ठ समझना चाहिये। गौण भक्तिरस भी सात प्रकारके हैं—हास्य, अद्भुत, वीर, करुण, रौद्र, भयानक और वीभत्स।

ब्रजनाथ—चिन्मय रसमें भाव शब्दका अर्थ क्या है?

गोस्वामी—चित्-विषयमें अनन्य बुद्धियुक्त पण्डितगण भावनाके विषयमें गाढ़ चित्संस्कार द्वारा अपने चित्तमें जिस भावको उदय कराते हैं, वही इस रस तन्त्रमें भाव शब्दवाच्य होता है। मैंने पहले ही कहा है कि, भाव दो प्रकारके हैं—चिन्त्यभाव और अचिन्त्यभाव। चिन्त्यभावोंके विषयमें तर्क चल सकता है, क्योंकि बद्धजीवके बद्ध मनमें जो समस्त भाव उदय होते हैं, वे सभी जड़ धर्मप्रसूत होते हैं। इसलिए इनके विषयमें चिन्ता की जा सकती है। ईश्वरके विषयमें भी उनके जो जड़भाव होते हैं—वे चिन्त्यभाव हैं। वास्तवमें ईश्वर

---

(१) श्रीचैतन्यचरितामृत, मध्यलीला ८/१९३ में द्रष्टव्य।

सम्बन्धी भाव चिन्त्य नहीं होते, क्योंकि ईश्वरतत्त्व जड़से परे हैं। परन्तु ईश्वरतत्त्व जड़ातीत है एवं उनमें चिन्त्यभाव नहीं होते। इसलिए ईश्वरतत्त्वमें कोई भाव ही नहीं है—ऐसा सोचना भूल है। ईश्वर-सम्बन्धमें समस्त भाव हैं, परन्तु जड़ मनकी चिन्तासे अतीत होनेके कारण अचिन्त्य हैं। उन अचिन्त्य भावोंको हृदयमें लाकर अनन्यबुद्धिके साथ अनुशीलन करते-करते उन अचिन्त्य भावोंमेंसे एक भावको स्थायी जानकर अन्यान्य अचिन्त्य भावोंको सामग्री रूपमें वरण करो। ऐसा होनेसे तुममें नित्यसिद्ध अखण्ड रसका उदय होगा।

ब्रजनाथ—प्रभो! इस विषयमें गाढ़ संस्कार किसे कहते हैं?

गोस्वामी—बाबा! सांसारिक विषयोंमें आसक्त होकर जन्म-जन्मान्तरों तक कर्मचक्रमें भटकते-भटकते प्राक्तन (पूर्वकालीन) और आधुनिक—इन दो प्रकारके संस्कारोंसे तुम्हारा चित्त गठित हुआ है। तुम्हारी विशुद्ध आत्मसत्तामें जो विशुद्ध चित्तवृत्ति थी, वह इस समय विकृत हो गयी है। अब इस समय तुम्हारी पूर्व-पूर्व सुकृतियोंके प्रभावसे प्राप्त सत्सङ्गमें भजन प्रक्रिया द्वारा जो संस्कार बन रहा है, उसके द्वारा तुम्हारा विकृत संस्कार दूर हो जानेपर तुम्हारा यथार्थ संस्कार उदय होगा। यह संस्कार जितना ही गाढ़ा होगा, अचिन्त्यतत्त्व उतने ही अधिक रूपमें तुम्हारे हृदयमें स्फुरित होगा। इसीको गाढ़-संस्कार कहते हैं।

ब्रजनाथ—मुझे यह जाननेकी इच्छा हो रही है कि रसतत्त्वमें किसका अधिकार है?

गोस्वामी—जो पूर्वोक्त क्रमानुसार गाढ़े-संस्कार द्वारा अचिन्त्य भावोंको अपने हृदयमें ला सकते हैं, केवल वे ही साधक रसतत्त्वके अधिकारी हैं। दूसरोंका इसमें अधिकार नहीं है।

श्रीरूप गोस्वामीने कहा है—

व्यतीत्य भावनावर्त्म यश्चमत्कारभारभूः।
हृदि सत्त्वोज्ज्वले बाढं स्वदते स रसो मतः॥ (२)

(भ० र० सि० २/५/१३२)

ब्रजनाथ—इस रसके अनधिकारी कौन हैं? जिस प्रकार अनधिकारीको हरिनाम देना अपराध है, उसी प्रकार अनधिकारी व्यक्तिके निकट रस विषयकी व्याख्या करना भी अपराध है। प्रभो, कृपाकर हम दीनहीनोंको इस विषयमें सतर्क किया जाये।

गोस्वामी—जो वैराग्य शुद्धभक्तिके प्रति उदासीन होता है, उसे फल्गु वैराग्य कहा जा सकता है। उसी प्रकार जो ज्ञान शुद्धभक्तिके प्रति उदासीन होता है, उसे शुष्क ज्ञान कहा जा सकता है। ये फल्गुवैरागी, शुष्कज्ञानी, जड़ तर्कनिष्ठ पुरुष, कर्ममीमांसा और शुष्कज्ञानपर्ववाले उत्तरमीमांसाके प्रशंसक पुरुष, भक्तिके आस्वादनसे बहिर्मुख पुरुष, केवलाद्वैतवादीरूप जड़मीमांसक पुरुष—ये सब व्यक्ति रस विषयमें अनधिकारी हैं। रसिक भक्तजन इन अनधिकारी व्यक्तियोंसे कृष्णभक्तिरसकी ठीक उसी प्रकार रक्षा करेंगे, जिस प्रकार चोरोंसे महानिधिकी रक्षा की जाती है।

ब्रजनाथ—आज हम धन्य हुए। हम आपके श्रीमुखकी आज्ञाका सर्वतोभावेन पालन करेंगे।

विजयकुमार—प्रभो! मैं सर्वसाधारणमें श्रीमद्भागवतका पाठ करता हूँ। उससे जो अर्थ

---

(२) भावना (चिन्ता) पथको पारकर परम चमत्कारके आधारस्वरूप जो स्थायीभाव शुद्धसत्त्व परिमार्जित उज्ज्वल हृदयमें आस्वादित होता है, उसे 'रस' कहते हैं।

उपार्जन होता है, उससे अपने संसारका निर्वाह करता हूँ। परन्तु श्रीमद्भागवत तो रस—ग्रन्थ है। क्या इसे सर्वसाधारणमें पाठकर धन-संग्रह करनेसे कोई अपराध होता है?

गोस्वामी—अहा! श्रीमद्भागवत ग्रन्थ सर्वशास्त्र शिरोमणि और निगम शास्त्रके फलस्वरूप हैं। प्रथम स्कन्धके तृतीय श्लोकमें जैसा निर्देश दिया गया है, वैसा ही करना चाहिये। **"मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः।"**[३] (श्रीमद्भा० १/१/३) इस श्लोकमें केवल भावुक या रसिक भक्तोंके अतिरिक्त किसीको भी श्रीमद्भागवत—रस पान करनेका अधिकारी नहीं माना है। बाबा, इस व्यवसायको तुरन्त छोड़ दो। तुम रस—पिपासु हो। रसके प्रति अब और अपराध न करो। **"रसो वैः सः"**—(तै० आ० २/७)—इस वेद वाणीमें ऐसा कहा गया है कि रस ही कृष्णस्वरूप है। जीविका निर्वाह करनेके लिए अन्य अनेक व्यवसाय हैं, तुम उन्हींके द्वारा जीविका निर्वाह करो। सर्वसाधारणमें श्रीमद्भागवतका पाठकर अर्थ-संग्रह अब मत करना। हाँ, यदि कहीं रसिकश्रोता मिल जाये, तो बिना वेतन या दक्षिणा लिए ही उसे परमानन्दसे श्रीमद्भागवत श्रवण करा सकते हो।

विजय—प्रभो! आज आपने एक भयङ्कर अपराधसे मेरी रक्षा की। आगे मैं ऐसा न करूँगा। परन्तु मैं पहले जो अपराध कर चुका हूँ, उसका क्या होगा?

गोस्वामी—वे अपराध दूर हो जायेंगे। सरल हृदयसे रसके शरणागत होनेपर, रस तुम्हें अवश्य ही क्षमा करेंगे। तुम इसके लिए कोई चिन्ता न करो।

विजय—प्रभो! किसी नीच वृत्ति द्वारा अपने शरीरका पोषण कर लूँगा, परन्तु अनधिकारीके निकट रस-कीर्त्तन न करूँगा एवं उनसे अर्थ लेकर भी रस-कीर्त्तन नहीं करूँगा।

गोस्वामी—बाबा! तुमलोग धन्य हो। कृष्णने तुमलोगोंको आत्मसात् कर लिया है, अन्यथा भक्ति विषयमें ऐसी दृढ़ता सम्भव नहीं। तुमलोग श्रीनवद्वीपधामवासी हो। श्रीश्रीगौरहरिने तुमलोगोंको सर्वशक्ति प्रदान की है।

॥अट्ठाइसवाँ अध्याय समाप्त॥

(३) हे भगवत्प्रीतिके रसिक भक्तजन! श्रीमद्भागवत नामक वेदकल्पतरुके सुपक्व फलका आप लोग मुक्तावस्थामें भी पुनः-पुनः पान करते रहें।

उनतीसवाँ अध्याय
रस-विचार

ब्रजनाथ और विजयकुमार दोनोंने सोच-विचारकर तय किया कि वे पुरीमें ही चातुर्मास्यका समय बितायेंगे तथा श्रीगोपालगुरुके निकट रसतत्त्व-सम्बन्धी समस्त प्रकारके विचारोंका श्रवण करेंगे। ब्रजनाथकी पितामही भी चातुर्मास्यमें पुरीवासका माहात्म्य सुनकर दोनोंके प्रस्तावसे सहमत हो गयी। फिर तो वे प्रतिदिन सुबह और शामको श्रीजगन्नाथदेवका दर्शन करते, नरेन्द्र सरोवरमें स्नानकर पुरी और आसपासके दर्शनीय स्थानोंका नियमित रूपसे दर्शन करते। इसके अतिरिक्त श्रीजगन्नाथजीकी जिस समय जो सेवा होती तथा जिस समय जो वेष आदि होते, उन सबका भक्तिपूर्वक दर्शन करते। इस प्रकार बड़े नियमित रूप तथा सुन्दर ढङ्गसे उनका समय बीतने लगा। उन्होंने श्रीगोपालगुरुके समीप अपने मनके भावोंको व्यक्त किया। श्रीगुरु गोस्वामीजी उनकी बात सुनकर बड़े प्रसन्न हुए। वे बोले—मेरे हृदयमें तुम दोनोंके प्रति एक प्रकारसे वात्सल्यभाव इतना प्रगाढ़ हो चुका है कि मुझे तो ऐसा लगता है कि तुमलोगोंके यहाँसे चले जानेपर मुझे बहुत ही कष्ट होगा। तुम लोग जितने दिन यहाँ अधिक रुकोगे—मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी। सद्गुरु आसानीसे पाये जा सकते हैं, परन्तु सच्चे शिष्य आसानीसे नहीं पाये जाते।

ब्रजनाथने अत्यन्त विनम्र होकर पूछा—कृपाकर भिन्न-भिन्न रसोंके विभाव आदिको बतलाकर रसतत्त्वकी ऐसी व्याख्या करें, जिससे हम लोग सहज ही समझ सकें।

गोस्वामी—बड़ा ही सुन्दर विषय है। श्रीगौरसुन्दर मेरे मुखसे जो कुछ कहलायेंगे, मैं कहूँगा; तुमलोग सावधानीसे श्रवण करना। सबसे पहले शान्तरस आता है। शान्तरसमें शान्तिरति ही स्थायीभाव है। निर्विशेष ब्रह्मानन्दमें तथा योगियोंके आत्मानन्दमें जो आनन्द है, वह अत्यन्त सीमित और शिथिल आनन्द है। ईशमय आनन्द इनसे कुछ बढ़कर होता है। ईश-स्वरूपानुभव ही उस सुखका कारण होता है। शान्तरसके आलम्बन चतुर्भुज नारायण मूर्ति हैं। उस मूर्त्तिमें विभुता, ऐश्वर्य आदि गुण होते हैं। शान्त पुरुष ही शान्तरतिके आश्रय होते हैं। आत्मारामगण तथा भागवान्के विषयमें श्रद्धालु तपस्वीजन ही शान्त पुरुष हैं। सनक, सनन्दन, सनातन आदि चारों कुमार प्रधान आत्माराम हैं। ये लोग बालसंन्यासीके वेषमें विचरण करते हैं। सबसे पहले इनकी रुचि निर्विशेष ब्रह्मके प्रति थी। परन्तु बादमें भगवान्की रूपमाधुरीके प्रति आकृष्ट होनेपर ये चिद्घन मूर्त्तिकी उपासना करने लगे थे। जिनके युक्त वैराग्य द्वारा सारे विघ्न दूर हो चुके हैं, विषयासक्ति भी दूर हो चुकी है; परन्तु मुक्तिकी अभिलाषा विद्यमान है, ऐसे तापस जन शान्तरसमें प्रवेश करते हैं। प्रधान—प्रधान उपनिषदोंका श्रवण, निर्जनमें वास, तत्त्वोंका विवेचन, विद्याशक्तिकी प्रधानता स्थापन, विश्वरूपके प्रति आदर, ज्ञानमिश्र भक्तोंका सङ्ग, समान विद्वानोंके साथ उपनिषद् के तत्त्वोंपर विचार करना—ये सब इस रसके उद्दीपन हैं। पुनः भगवान्के चरणकमलोंमें अर्पित तुलसीका सौरभ, शंख-ध्वनि, पवित्र पर्वत, पवित्र वन, सिद्ध क्षेत्र, गङ्गा, विषय क्षय करनेकी प्रवृत्ति अर्थात् पाप दूर करनेकी अभिलाषा, काल ही सबका विनाश करता है—ऐसी धारणा, ये भी उद्दीपन हैं। यह शान्तरसका विभाव है।

ब्रजनाथ—इस रसका अनुभाव कैसा होता है?

गोस्वामी—नासिकाके अग्रभागपर दृष्टि, अवधूतकी तरह चेष्टा, चार हाथ आगेका स्थान देखकर कदम उठाना, ज्ञानमुद्रा दिखलाना अर्थात् तर्जनी और अँगूठेको मिलाकर जो मुद्रा होती है उसे दिखलाना, भगवद्विद्वेषीके प्रति द्वेषरहित होना, भगवान्‌के प्रेमी भक्तोंके प्रति भक्तिकी कमी, संसार ध्वंस और जीवन्मुक्तिके प्रति आदरका भाव, निरपेक्षता, निर्ममता (ममताका न होना), निरहंकार और मौन आदि शान्त रतिकी असाधारण क्रियाएँ—ये शान्तरसके अनुभाव हैं। जृंभा (जंभाई आना), अङ्गोंका टूटना, भक्ति-उपदेश, हरिके प्रति नमस्कार और स्तव आदि शान्तभाव रूप साधारण क्रियाएँ हैं।

ब्रजनाथ—शान्तरसमें सात्त्विक विकार कैसा होता है?

गोस्वामी—प्रलय अर्थात् मूर्च्छित होकर पृथ्वीपर गिरनेके अतिरिक्त रोमाञ्च, स्वेद, स्तम्भ आदि सात्विक विकारसमूह इस रसमें अधिक परिमाणमें लक्षित होते हैं। इसमें दीप्त-लक्षण सात्विक विकार नहीं होते।

ब्रजनाथ—इस रसमें सञ्चारीभाव कौन-कौन हैं?

गोस्वामी—निर्वेद (खेद, वैराग्य) धैर्य, हर्ष, मति, स्मृति, विषाद, उत्कण्ठा, आवेग और वितर्क—ये सञ्चारीभावसमूह साधारणतः शान्तरसमें देखे जाते हैं।

ब्रजनाथ—शान्तिरति कितने प्रकारकी होती है?

गोस्वामी—शान्तरसमें शान्तिरति स्थायीभाव है। शान्तिरति समा और सान्द्रा भेदसे दो प्रकारकी होती है। असंप्रज्ञात समाधि[१] में भगवत्-स्फूर्तिजन्य शरीरमें हर्ष, काम, रोमाञ्च प्रकाशित होनेपर समा शान्तिरति होती है। सम्पूर्ण रूपसे अविद्याके ध्वंस होनेके कारण निर्विकल्प समाधिमें भगवत्-साक्षात्कार होनेपर जो अत्यन्त घनानन्द होता है, उसे सान्द्रानन्द कहते हैं, सान्द्रा शान्तिरतिमें यही सान्द्रानन्द प्रकाशित होता है। परोक्ष और साक्षात्कार भेदसे शान्तरस दो प्रकारका होता है। शुकदेव और बिल्वमङ्गलने ज्ञान द्वारा पाये जानेवाले ब्रह्मानन्दका परित्यागकर भक्तिरस आनन्दसमुद्रमें गोता लगाया था। प्रख्यात विद्वान श्रीसार्वभौम भट्टाचार्यकी भी वही अवस्था हुई थी।

ब्रजनाथ—जड़ अलङ्कारमें शान्तरसको क्यों नहीं ग्रहण किया गया है?

गोस्वामी—जड़ीय व्यापारमें शान्ति आनेसे ही विचित्रता दूर हो जाती है, इसलिए जड़ अलङ्कारिकोंने शान्तरतिको नहीं लिया है। परन्तु चित्-व्यापारमें शान्तरसके आविर्भावसे अप्राकृत रसका उत्तरोत्तर उदय होता है। भगवान्‌ने बतलाया है कि उनमें (भगवान् में) निष्ठायुक्त बुद्धिको 'शम' कहते हैं। अब देखो, शान्तिरति बिना भगवान् में बुद्धिकी निष्ठाका होना असम्भव है, अतएव चित्-तत्त्वमें शान्तरसको अवश्य ही स्वीकार करना पड़ेगा।

ब्रजनाथ—शान्त भक्तिरसको भलीभाँति समझ गया। अब कृपया दास्यरसकी विभाव आदिके साथ व्याख्या कीजिये।

गोस्वामी—दास्यरसको पण्डितजन प्रीतरस कहते हैं। अनुग्राह्य पात्र दास भावयुक्त तथा पाल्य भावयुक्त दो प्रकार होनेके कारण यह प्रीतरस भी दो प्रकारका होता है—सम्भ्रम प्रीतरस और गौरव प्रीतरस।

ब्रजनाथ—सम्भ्रम प्रीतरस किसे कहते हैं?

---

(१) योगमें वह समाधि जिसमें आत्मा अपने स्वरूपके बोध तक न पहुँची हो।

गोस्वामी—"मैं कृष्णका दास हूँ"—ऐसे अभिमानवाले व्यक्तियोंकी व्रजेन्द्रनन्दन कृष्णके प्रति सम्भ्रम प्रीति उत्पन्न होती है। वही प्रीति उत्तरोत्तर अधिक पुष्ट होनेपर 'सम्भ्रम प्रीत' कहलाती है। इस रसमें कृष्ण और कृष्णदासगण आलम्बन होते हैं।

ब्रजनाथ—इस रसमें कृष्णका स्वरूप क्या होता है?

गोस्वामी—गोकुलमें सम्भ्रम प्रीतरसमें कृष्ण द्विभुजके रूपमें आलम्बन होते हैं। दूसरी जगह कहीं-कहींपर द्विभुज और कहीं-कहींपर चतुर्भुज रूपमें भी आलम्बन होते हैं। गोकुलमें नवजलधर कान्तियुक्त प्रभु श्रीकृष्ण करयुगलोंमें मुरली, कटि प्रदेशमें स्वर्णको भी मात करनेवाला पीतवसन, सिरपर मयूरपुच्छका चूड़ा धारणकर गोपवेषमें आलम्बन हैं।

अन्यत्र द्विभुज होनेपर भी हाथोंमें शंख-चक्र और समस्त अङ्गोंमें मणि—मुक्ताओंके आभूषण धारणकर ऐश्वर्य वेषमें आलम्बन होते हैं। श्रीरूप गोस्वामी भक्तिरसामृतसिन्धु (३/२/११-१५) में लिखते हैं—

ब्रह्माण्डकोटिधामैकरोमकूपः कृपाम्बुधिः।
अविचिन्त्यमहाशक्तिः सर्वसिद्धिनिषेवितः॥

अवतारावलीबीजं सदात्मारामहृद्गुणः।
ईश्वरः परमाराध्यः सर्वज्ञः सुदृढव्रतः॥

समृद्धिमान् क्षमाशीलः शरणागतपालकः।
दक्षिणः सत्यवचनो दक्षः सर्वशुभङ्करः॥

प्रतापी धार्मिकः शास्त्रचक्षुर्भक्तसुहृत्तमः।
वदान्यस्तेजसायुक्तः कृतज्ञः कीर्तिसंश्रयः॥

वरीयान् बलवान् प्रेमवश्य इत्यादिभिर्गुणैः।
युतश्चतुर्विधेष्वेष दासेष्वालम्बनो हरिः॥[२]

ब्रजनाथ—चार प्रकारके दास कौन-कौन हैं?

---

(२) जिनके एक-एक लोमकूपमें करोड़ों ब्रह्माण्ड स्थित हैं, जो करुणाके समुद्र हैं, जिनकी महाशक्तियोंको समझना जीवकी क्षुद्र बुद्धिसे बाहरकी बात है अर्थात् जो अचिन्त्यशक्ति सम्पन्न हैं, जो सर्वप्रकारकी सिद्धियों द्वारा परिसेवित गुणावतार, लीलावतार एवं शक्त्यावेशावतार आदि अवतारोंके मूल कारण हैं, आत्माराम (शुकदेव आदि जैसे) योगियोंके मनको हरण करनेवाले हैं, जो सबके नियन्ता हैं, समस्त जीवों और देवताओंके भी परमाराध्य हैं, सर्वज्ञ हैं, सुदृढव्रत हैं, समृद्धिमान हैं, क्षमाशील हैं, शरणागतजनोंके रक्षक हैं, परम उदार हैं, सत्यवाक् हैं, दक्ष हैं, सबका कल्याण करनेवाले हैं, प्रतापशाली और धार्मिक हैं, जो शास्त्रचक्षु हैं, भक्तजनोंके परम बन्धु हैं, वदान्य, तेजोयुक्त और कृतज्ञ हैं, कीर्त्तिमान हैं, वरीयान हैं, बलवान हैं एवं प्रेमवश्य हैं। ऐसे अनेकानेक गुणोंसे युक्त हरि (कृष्ण) चार प्रकारके दास भक्तोंके आलम्बनस्वरूप हैं।

गोस्वामी—प्रश्रित (सदा नीची दृष्टिवाले दास), आज्ञाकारी, विश्वासी और कृष्णको प्रभु जानकरके नम्रबुद्धिसे युक्त—ये चार प्रकारके दास दास्यरतिके आश्रयरूप आलम्बन हैं। उनके तात्त्विक नाम ये हैं—(१) अधिकृत दास, (२) आश्रित दास, (३) पारिषद दास और (४) अनुगत दास।

ब्रजनाथ—अधिकृत दास कौन हैं?

गोस्वामी—ब्रह्मा, शिव और इन्द्र आदि देव-देवियाँ अधिकृत दासदासी हैं, ये जगत् सम्बन्धी कार्योंमें अधिकार प्राप्तकर भगवान्‌की सेवा करते हैं।

ब्रजनाथ—आश्रित दास कौन हैं?

गोस्वामी—शरणागत, ज्ञानी और सेवानिष्ठ—ये तीन प्रकारके आश्रित दास हैं। कालियनाग, जरासन्ध द्वारा कारागारमें बन्द नृपसमूह शरणागत दासकी श्रेणीमें हैं। शौनक आदि ऋषिगण मुक्तिकी अभिलाषा छोड़कर श्रीहरिका आश्रय करनेके कारण ज्ञाननिष्ठ दास हैं। प्रारम्भसे ही भगवद्भजनसे आसक्त चन्द्रध्वज, हरिहर, बहुलाश्व, इक्ष्वाकु और पुण्डरीक आदि सेवानिष्ठ शरणागतदास हैं।

ब्रजनाथ—पारिषद् कौन हैं?

गोस्वामी—उद्धव, दारुक, सात्यकि, श्रुतदेव, शत्रुजित, नन्द, उपनन्द, भद्र—ये पारिषद् दास हैं। ये लोग मन्त्रणा आदि कार्योंमें नियुक्त रहकर भी समयानुसार परिचर्या करते हैं। भीष्म, परीक्षित, विदुर भी पारिषद् हैं; इनमें प्रेमीदास उद्धव ही श्रेष्ठ हैं।

ब्रजनाथ—अनुगतदास कौन हैं?

गोस्वामी—सेवा-कार्यमें सदैव आसक्त चित्तवाले दास ही अनुगतदास कहलाते हैं। ये दो प्रकारके होते हैं—एक व्रजमें रहनेवाले, दूसरे द्वारिकापुरीमें रहनेवाले। सुचन्द्र, मण्डल, स्तम्भ, सुतम्ब आदि द्वारिकापुरीके अनुगतदास हैं। रक्तक, पत्रक, पत्री, मधुकण्ठ, मधुव्रत, रसाल, सुविलास, प्रेमकन्ध, मकरन्दक, आनन्द, चन्द्रहास, पायोद, वकुल, रसद और सारद—ये व्रजके अनुगतदास हैं। व्रजके अनुगतदासोंमें रक्तक सबसे प्रधान हैं। धूर्य, धीर और वीर भेदसे पारिषद् और अनुगतदास तीन प्रकारके होते हैं। जो भक्त कृष्णके प्रति, कृष्ण—प्रेयसियोंके प्रति तथा कृष्णके सेवकोंके प्रति यथायोग्य प्रीति रखते हैं, वे धूर्य पारिषद् हैं; जो कृष्णप्रेयसी (सत्यभामादि) के आश्रित होते हैं, कृष्णकी सेवामें विशेष रूपसे नियुक्त नहीं होते, वे धीर पारिषद् हैं तथा जो भक्त केवलमात्र कृष्णकी कृपाके आश्रित होते हैं, दूसरोंकी चिन्ता नहीं करते, उन्हें वीर पारिषद् कहते हैं। श्रीकृष्णके पूर्वोक्त आश्रित, पारिषद् और अनुग—ये तीनों प्रकार के दासगण नित्यसिद्ध, सिद्ध और साधक भेदसे तीन प्रकारके होते हैं।

ब्रजनाथ—दास्यरसके उद्दीपन कौन-कौन हैं, बतलानेकी कृपा करें।

गोस्वामी—मुरलीध्वनि, शृङ्गध्वनि, हास्ययुक्तदृष्टि, गुण-श्रवण, कमल, पदचिह्न, नवीन मेघ और अङ्गोंसे निकला हुआ सौरभ—ये दास्यरसमें उद्दीपन हैं।

ब्रजनाथ—इस रसके अनुभाव कौन-कौनसे हैं?

गोस्वामी—अपने निर्दिष्ट कार्यमें पूरी तरहसे लग जाना, भगवान्‌की आज्ञाका पालन करना, भगवान्‌की सेवामें ईर्ष्या-द्वेषसे रहित रहना, कृष्णदासोंसे मित्रता और कृष्णके प्रति निष्ठा—ये दास्यरसके असाधारण अनुभाव हैं। नृत्य आदि उद्भास्वर, कृष्णके प्रियजनोंके प्रति

आदर और अन्यत्र वैराग्य—ये साधारण अनुभाव हैं।

ब्रजनाथ—प्रीतरस आदि तीनों रसोंमें सात्त्विक विकार किस प्रकार होते हैं?

गोस्वामी—इन रसोंमें स्तम्भ आदि सभी सात्त्विकभाव प्रकाशित होते

ब्रजनाथ—इस रसमें व्यभिचारी भाव कौन-कौनसे हैं?

गोस्वामी—हर्ष, गर्व, धैर्य, निर्वेद, विषाद, दैन्य, चिन्ता, स्मृति, शङ्का, मति, उत्सुकता, चापल्य, वितर्क, आवेग, लज्जा, जड़ता, मोह, उन्माद, हिचकी, बोध, स्वप्न, क्लम, व्याधि एवं मृति—ये २४ व्यभिचारीभाव इस रसमें हैं। मद, श्रम, भय, अपस्मार (मूर्छित होकर गिर पड़ना), आलस्य, उग्रता, क्रोध, असुया (द्वेष) और निद्रा—इनका विशेष उदय नहीं होता। संयोग होनेपर हर्ष, गर्व और धैर्य तथा वियोगमें ग्लानि, व्याधि और मृति भाव प्रकाशित होते हैं। निर्वेद आदि अठारह भाव संयोग और वियोग दोनों ही दशाओंमें दिखलायी पड़ते हैं।

ब्रजनाथ—इस प्रीतरसमें स्थायीभाव जानना चाहता हूँ।

गोस्वामी—सम्भ्रम और प्रभुबुद्धिसे चित्तमें कम्प और आदरके साथ जो प्रीति मिलकर एकीभावको प्राप्त होती है, वही प्रीति इस रसका स्थायीभाव है। शान्तरसमें रतिमात्र ही स्थायीभाव है। इस रसमें रति ममतायुक्त भावसे प्रीति होकर स्थायीभाव होती है। यह सम्भ्रम प्रीति उत्तरोत्तर बढ़कर प्रेम, स्नेह और रागावस्था तक विस्तृत हो जाती है। सम्भ्रम प्रीति शङ्का और भयसे रहित होनेपर प्रेमका रूप धारण करती है। जब प्रेम गाढ़े रूपमें चित्तद्रवताको उत्पन्न करता है, तब वह स्नेहके नामसे परिचित होता है। स्नेहमें क्षणभरका वियोग भी असहनीय होता है। जब स्नेहमें दुःख भी सुख जान पड़ने लगता है, तब उस स्नेहको राग कहते हैं। ऐसी दशामें कृष्णके वियोगमें प्राणोंको छोड़ देनेकी इच्छा होती है। अधिकृत और आश्रित दास प्रेम तक प्राप्त करते हैं, आगे नहीं बढ़ते। पारिषदोंमें स्नेह तक पाया जाता है। परीक्षित, दारुक, उद्धव और व्रजके अनुगत दासोंमें राग पर्यन्त उदय होता है। राग उदित होनेपर सख्यभाव आंशिक रूपसे उदय होता है। पण्डितजन इस रसमें कृष्णके साथ मिलनको योग और विच्छेदको अयोग कहते हैं। अयोग दो प्रकारका होता है—उत्कण्ठित और वियोग। योग तीन प्रकारका होता है—सिद्धि, तुष्टि और स्थिति। उत्कण्ठित दशामें कृष्णको देख पानेका नाम सिद्धि है, विच्छेदके पश्चात् कृष्ण-मिलनको तुष्टि कहते हैं। कृष्णके साथ निवास करनेको स्थिति कहते हैं।

ब्रजनाथ—सम्भ्रम प्रीति समझ गया, अब गौरव प्रीतिकी व्याख्या कीजिये।

गोस्वामी—जिनका लाल्य अभिमान होता है अर्थात् कृष्ण मेरा लालन-पालन करनेवाले हैं—ऐसा जिन्हें अभिमान होता है, उनकी प्रीति गौरवमयी होती है। वही प्रीति विभाव आदि द्वारा पुष्ट होनेपर गौरव प्रीति होती है। भगवान् श्रीकृष्ण और उनके लाल्य दासगण इस रसके आलम्बन हैं। गौरव प्रीतिमें महागुरु, महाकीर्त्ति, महाबुद्धि, महाबल, रक्षक और लालकके रूपमें श्रीकृष्ण विषयरूप आलम्बन हैं। लाल्यगण कनिष्ठत्व और पुत्रत्व अभिमानके भेदसे दो प्रकारके होते हैं। सारण, गद और सुभद्र आदि कनिष्ठत्व अभिमानवाले हैं। प्रद्युम्न, चररुदेष्ण और साम्ब आदि पुत्रत्व अभिमानवाले हैं। श्रीकृष्णका वात्सल्य और ईषत् हास्य (स्मितहास्य) आदि इस रसमें उद्दीपन हैं। लाल्यगणका नीचे आसनपर बैठना, पूज्यजनोंके मार्गपर चलना, स्वेच्छाचारका परित्याग, ये सब अनुभाव हैं। सञ्चारी और व्यभिचारी भावोंको पहलेकी भाँति ही जानना।

ब्रजनाथ—गौरव शब्दका तात्पर्य क्या है?

गोस्वामी—शरीरके सम्बन्धसे कृष्ण मेरे पिता हैं, गुरु हैं—ऐसी बुद्धिको गौरव कहते हैं। लालन-पालन करनेवाले कृष्णके प्रति तन्मयी प्रीतिको गौरवप्रीति कहते हैं। यही इस रसका स्थायीभाव है।

ब्रजनाथ—प्रभो! प्रीतिरस समझ गया, अब प्रेय भक्तिरस या सख्यरसका वर्णन कीजिये।

गोस्वामी—इस रसमें कृष्ण और कृष्णके वयस्क सखा ही आलम्बन हैं। द्विभुज मुरलीधर व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण विषय-आलम्बन हैं और सखा आश्रय-आलम्बन हैं।

ब्रजनाथ–कृष्णके वयस्कों (सखाओं) का लक्षण और भेद जानना चाहता हूँ।

गोस्वामी—वयस्कोंके रूप, गुण और वेष दासों जैसे ही होते हैं, परन्तु ये लोग दासोंकी तरह सम्भ्रम भावयुक्त नहीं होते, इनमें विश्रम्भभाव होता है। ये पुर और व्रज सम्बन्धके भेदसे दो प्रकारके होते हैं। अर्जुन, भीम, द्रौपदी, श्रीदाम विप्र—ये पुर-सम्बन्धी सखा हैं। इनमें अर्जुन श्रेष्ठ हैं। व्रजवासी सखागण सर्वदा कृष्णके साथ रहना चाहते हैं, उन्हें कृष्ण-दर्शनकी लालसा सदैव बनी रहती है तथा कृष्ण ही उनके जीवन या प्राण हैं। अतएव ये ही प्रधान सखा हैं। व्रजके सखा चार प्रकारके होते हैं—(१) सुहृद्, (२) सखा, (३) प्रियसखा और (४) प्रियनर्म सखा। सुहृद् सखाओंमें कुछ-कुछ वात्सल्यका भाव मिला हुआ होता है। ये सखागण आयुमें कृष्णसे कुछ बड़े होते हैं, ये लोग अस्त्र धारणकर दुष्टोंसे कृष्णकी सर्वदा रक्षा करते हैं। सुभद्र, मण्डलीभद्र, भद्रवर्द्धन, गोभट, यक्ष, इन्द्रभट, भद्राङ्ग, वीरभद्र, महागुण, विजय और बलभद्र—ये सुहृद् सखा हैं। इनमें मण्डलीभद्र और बलभद्र सर्वप्रधान हैं। आयुमें कृष्णसे छोटे, कुछ-कुछ दास्यभावसे युक्त सख्यरसवाले वयस्कोंको सखा कहते हैं। विशाल, वृषभ, ओजस्वी, देवप्रस्थ, वरुथप, मरन्द, कुसुमापीड़, मणिबद्ध, करन्धम—ये सखा हैं, इनमें देवप्रस्थ सर्वप्रधान हैं। आयुमें समान और केवल सख्यभाववाले श्रीदाम, सुदाम, दाम, वसुदाम, किङ्किनी, स्तोककृष्ण, अंशु, भद्रसेन, विलासी, पुण्डरीक, विटङ्क, कलबिङ आदि कृष्णके प्रियसखा हैं। सुहृत्, सखा और प्रियसखा—इन तीनोंसे श्रेष्ठ अत्यन्त रहस्यपूर्ण कार्योंमें निपुण सुबल, अर्जुन, गन्धर्व, वसन्त और उज्ज्वल आदि श्रीकृष्णके प्रियनर्म सखा हैं। उज्ज्वल सर्वदा नर्मोक्ति (परिहासपूर्ण बातें) किया करते हैं। सखाओंमेंसे कोई-कोई नित्यप्रिय होते हैं, कोई-कोई देवता और कोई-कोई साधक होते हैं। वे लोग सख्य सेवामें नाना प्रकारकी भावभङ्गिमा आदि द्वारा विचित्रता सम्पादनकर कृष्णको प्रसन्न करते हैं।

ब्रजनाथ—इस रसमें उद्दीपन क्या है?

गोस्वामी—कृष्णवयस, रूप, शृङ्ग, वेणु, शंख, विनोद, परिहास, पराक्रम और लीलाचेष्टाएँ—ये सब सख्यरसके उद्दीपन हैं। गोष्ठमें कुमार और गोकुलमें कैशोर उद्दीपन हैं।

ब्रजनाथ–साधारण सखाओंके अनुभावोंको जानना चाहता हूँ।

गोस्वामी—बाहु-युद्ध, गेंद खेलना, एक दूसरेके कन्धेपर चढ़नेका खेल, लाठी खेल, पर्यङ्क, आसन और झूलेपर एकसाथ शयन, उपवेशन और परिहास, जल-विहार, बन्दरोंके साथ खेलना, कृष्णको प्रसन्न करनेकी चेष्टा, नृत्य, गान—ये सब साधारण सखाओंके अनुभाव हैं। सदुपदेश देना और सभी कार्योंमें अग्रसर होना सुहृदोंके कार्य हैं। ताम्बूल अर्पण, तिलक रचना तथा चन्दनलेपन आदि सखाओंके विशेष कार्य हैं। युद्धमें पराजय करना, छीना-झपटी,

कृष्ण द्वारा अलंकृत होना, प्रिय सखाओंके विशेष कार्य हैं। मधुरलीलामें सहायता करना प्रियनर्म सखाओंके विशेष कार्य हैं। ये दासकी भाँति वनके पुष्पोंसे कृष्णको सजाते हैं। कृष्णको पंखा आदि भी झलते हैं।

ब्रजनाथ—इस रसमें सात्त्विक और सञ्चारी भावोंका विचार क्या है?

गोस्वामी—दास्यरसके समान ही कुछ अधिक रूपमें होते हैं।

ब्रजनाथ—इस रसमें स्थायीभाव कैसा होता है?

गोस्वामी—श्रीरूपगोस्वामीने भक्तिरसामृतसिन्धु (३/३/१०५) में लिखा है—

विमुक्तसंभ्रमा या स्याद् विश्रम्भात्मा रतिर्द्वयोः।
प्रायः समानयोरत्र सा सख्यं स्थायिशब्दभाक्॥

अर्थात् साधारणतः समान दो व्यक्तियोंमें परस्पर जो सम्भ्रमरहित विश्रम्भात्मक रति होती है, उसे सख्य कहते हैं—यही 'स्थायी' शब्द वाच्य है।

ब्रजनाथ—विश्रम्भ किसे कहते हैं?

गोस्वामी—"**विश्रम्भो गाढविश्वासविशेषो यन्त्रणोज्झितः।**" (भ० र० सि० ३/३/१०६) अर्थात् सब प्रकारसे परस्पर अभेद प्रतीतिरूप गाढ़े विश्वासका नाम विश्रम्भ है।

ब्रजनाथ—कृपया इसके क्रम-विकासके सम्बन्धमें बताइये।

गोस्वामी—यह सख्यरस रति, प्रेम, स्नेह और रागको क्रोड़ीभूत करके प्रणय तक पहुँच जाता है।

ब्रजनाथ—प्रणयका लक्षण क्या है?

गोस्वामी—सम्भ्रमकी योग्यता विद्यमान रहनेपर भी सम्भ्रम गन्धशून्य रतिको ही 'प्रणय' कहते हैं। सख्य रस बड़ा ही अपूर्व होता है। प्रीति और वत्सल रसमें कृष्ण एवं कृष्णभक्तके भाव दूसरेसे भिन्न जातीय हैं। सभी रसोंमें प्रेमरस अर्थात् सख्यरस ही प्रिय है, क्योंकि कृष्ण और कृष्णभक्तोंका समजातीय माधुर्यभाव इसी रसमें लक्षित होता है।

॥उनतीसवाँ अध्याय समाप्त॥

तीसवाँ अध्याय
रस-विचार

विजय और ब्रजनाथने एक दिन भगवत्-प्रसाद पाकर श्रीहरिदास ठाकुरकी समाधिका दर्शन किया। तत्पश्चात् वे श्रीगोपीनाथ टोटामें श्रीगोपीनाथजीका दर्शनकर श्रीराधाकान्त मठमें उपस्थित हुए और श्रीगुरुगोस्वामीके चरणोंमें दण्डवत् प्रणामकर बैठे। श्रीध्यानचन्द्र गोस्वामीके साथ उनकी नाना प्रकारकी बातें होने लगीं। इसी बीच श्रीगुरुगोस्वामी प्रसाद-सेवाकर अपनी गद्दीपर पधारे। ब्रजनाथने बड़ी नम्रतापूर्वक वत्सल-भक्तिरसके सम्बन्धमें पूछा। श्रीगुरुगोस्वामी उत्तरमें बतलाने लगे—वत्सल (वात्सल्य) रसमें श्रीकृष्ण विषय—आलम्बन हैं तथा उनके गुरुजन आश्रय-आलम्बन हैं। कृष्ण—सुन्दर श्यामाङ्ग, सर्वसुलक्षणोंसे युक्त, मृदु, मधुरभाषी, सरल लज्जावान, विनयी, गुरुजनोंका मान करनेवाले और दाता हैं। व्रजेश्वरी यशोदा, व्रजेश्वर नन्द महाराज, रोहिणी, पूजनीया गोपियाँ, देवकी, कुन्ती, वसुदेव, सान्दीपनी आदि गुरुजनोंमें नन्द और यशोदा सर्वप्रधान हैं। इस रसमें कौमार आदि वयः काल, रूप, वेष, शैशव, चापल्य, जल्पना, हास्य और लीला आदि उद्दीपन हैं।

ब्रजनाथ—इस रसके अनुभावोंको बतलाइये।

गोस्वामी—सिरको सूँघना, हाथोंसे अङ्गोंका मार्जन करना, आशीर्वाद, आज्ञा देना, लालनपालन करना, हितोपदेश देना—ये सब अनुभाव हैं। चुम्बन, आलिङ्गन, नाम लेकर पुकारना, उपयुक्त समयपर डाँटना डपटना—ये सब इस रसकी साधारण बातें हैं।

ब्रजनाथ—इस रसमें कौन-कौनसे सात्त्विक विकार उत्पन्न होते हैं?

गोस्वामी—अश्रु, कम्प, स्वेद, स्तम्भ आदि आठ और स्तनसे दूध झरना, कुल मिलकर नौ सात्त्विक विकार इस रसमें होते हैं।

ब्रजनाथ—व्यभिचारी भावोंको भी बतलानेकी कृपा करें।

गोस्वामी—वत्सलरसमें एवं प्रीतिरसमें बतलाये गये समस्त व्यभिचारीभाव तथा अपस्मार (मूर्च्छा) प्रकाशित होते हैं।

ब्रजनाथ—इस रसमें स्थायीभाव कैसा होता है?

गोस्वामी—अनुकम्पाकारीकी अनुकम्पाके पात्रके प्रति जो सम्भ्रमशून्य रति होती है, वही इसमें स्थायीभाव है। यशोदा आदिकी वात्सल्यरति स्वभावतः प्रौढ़ा है। प्रेम, स्नेह और राग तक इस रसके स्थायीभावकी गति होती है। बलदेवका भाव प्रीति और वात्सल्य मिश्रित है। युधिष्ठिरका भाव वात्सल्य, प्रीति और सख्यताका संमिश्रण है। उग्रसेनकी प्रीति वात्सल्य और सख्यरस मिश्रित हैं। नकुल, सहदेव और नारद आदिके भाव सख्य और दासरस मिश्रित हैं। रुद्र, गरुड़ और उद्धव आदिके भाव दास्य और सख्यरस मिश्रित हैं।

ब्रजनाथ—प्रभो! वात्सल्यरस समझ गया। अब कृपाकर चरम रस स्वरूप मधुररसकी व्याख्या कीजिये, जिसे सुनकर हम धन्य हों।

गोस्वामी—मधुर भक्तिरसको मुख्य भक्तिरस कहा गया है। जड़रसाश्रित जीवकी बुद्धि ईश्वरपरायण होनेपर निवृत्ति धर्मको प्राप्त करती है। पुनः जब तक वह चित्-रसका अधिकारी नहीं हो जाता, तब तक उसकी प्रवृत्ति मधुररसमें सम्भव नहीं है। ऐसे लोगोंकी इस रसमें उपयोगिता नहीं है। मधुररस स्वभावतः ही दुरूह है, इसके अधिकारी बड़े दुर्लभ हैं। इसलिए यह रस अत्यन्त गोपनीय है। इसीलिए मधुररस स्वभावतः विस्तृत होनेपर भी

यहाँपर इसका संक्षेपमें ही वर्णन करूँगा।

ब्रजनाथ—प्रभो! मैं सुबलका अनुगत हूँ। मुझे मधुररसको श्रवण करनेका अधिकार कितना है—उसे विचारकर मुझे इस विषयका श्रवण करावेंगे।

गोस्वामी—प्रियनर्म सखाओंका शृङ्गाररसमें कुछ सीमा तक अधिकार है। यहाँ मैं तुम्हारे अधिकारको ध्यानमें रखकर तुम्हारे लिए उपयोगी बातें ही बतलाऊँगा, तुम्हारे लिए अनुपयोगी बातोंको नहीं कहूँगा।

ब्रजनाथ—इस रसके आलम्बन कौन-कौन हैं?

गोस्वामी—श्रीकृष्ण इस रसमें विषय आलम्बन हैं, वे असमानोर्द्ध (जिसके समान अथवा जिससे बड़ा दूसरा न हो) सुन्दर नागरलीला रसिकताके परमाश्रय हैं। व्रजगोपिकाएँ इस रसके आश्रय आलम्बन हैं। समस्त प्रेयसियोंमें श्रीमती राधाजी ही श्रेष्ठा हैं। मुरली-ध्वनि इस रसका उद्दीपन है। नेत्रोंके कटाक्षसे देखना और हँसी—ये इस रसके अनुभाव हैं। समस्त सात्त्विकभाव इस रसमें पूरी तरहसे प्रकाश पाते हैं। आलस्य और उग्रताको छोड़कर समस्त व्यभिचारी भावसमूह इस रसमें लक्षित होते हैं।

ब्रजनाथ—इस रसका स्थायीभाव कैसा होता है?

गोस्वामी—मधुररति आत्मोचित विभाव आदि द्वारा पुष्ट होकर मधुर भक्तिरस होता है। यह राधामाधवकी रति किसी प्रकार भी स्वजातीय अथवा विजातीय भावोंके द्वारा विच्छेद दशाको प्राप्त नहीं होती।

ब्रजनाथ—मधुररस कितने प्रकारका होता है?

गोस्वामी—विप्रलम्भ और सम्भोग भेदसे मधुररस दो प्रकारका होता

ब्रजनाथ—विप्रलम्भ किसे कहते हैं?

गोस्वामी—पूर्वराग, मान और प्रवास आदि भेदसे विप्रलम्भ अनेक प्रकारका होता है।

ब्रजनाथ—पूर्वराग किसे कहते हैं?

गोस्वामी—मिलनसे पूर्व जो भाव होता है, उसे पूर्वराग कहते हैं।

ब्रजनाथ—मान और प्रवास कैसे होते हैं?

गोस्वामी—मान तो स्पष्ट है, प्रवासका अर्थ है बिछुड़न या विरह।

ब्रजनाथ—सम्भोग किसे कहते हैं?

गोस्वामी—दोनोंका मिलन होनेपर जो भोग (आनन्द) होता है, उसे सम्भोग कहते हैं। मधुररसके सम्बन्धमें और अधिक कुछ नहीं कहूँगा। मधुररसके अधिकारी साधक इस विषयका रहस्य श्रीउज्ज्वलनीलमणि ग्रन्थका अनुशीलनकर जान लेंगे।

ब्रजनाथ—गौणभक्तिरसोंकी स्थितिके सम्बन्धमें कुछ बतलानेकी कृपा करें।

गोस्वामी—गौणरस सात हैं—हास्य, अद्भुत, वीर, करुण, रौद्र, भयानक और वीभत्स। जब ये प्रबल होकर मुख्य रसका स्थान स्वयं ग्रहण करते हैं, तब ये अलग-अलग रसके रूपमें लक्षित होते हैं। जब ये स्वाधीन रसके रूपमें कार्य करते हैं, तब वे स्थायीभाव होकर अपने लिए उचित विभाव आदि द्वारा पुष्ट होकर रस हो पड़ते हैं। वास्तवमें शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर—ये पाँच ही रस हैं। हास्य आदि सात गौण रस साधारणतः व्यभिचारी भावोंके ही अन्तर्भूत होते हैं।

ब्रजनाथ—मैंने अलङ्कार शास्त्रमें रस-विचारका जो अध्ययन किया है, उससे हास्य

आदिके सम्बन्धमें पूरी तरहसे परिचित हूँ। अब यह बतलाइये कि मुख्य रसोंके साथ इनका क्या सम्बन्ध है?

गोस्वामी—अब मैं शान्त आदि रसोंकी परस्पर मित्रता और शत्रुताकी बातें बता रहा हूँ। दास्य, वीभत्स, धर्मवीर और अद्भुत रस—ये शान्तरसके मित्र हैं। पुनः अद्भुत रस—दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर रसका मित्र है। शान्तरसके शत्रु हैं—मधुर, युद्धवीर, रौद्र और भयानक रससमूह। वीभत्स, शान्त, धर्मवीर और दानवीर रस—ये दास्यरसके मित्र हैं। उसके शत्रु हैं—मधुर, युद्धवीर और रौद्ररस। सख्यके मित्र मधुर, हास्य और युद्धवीर हैं तथा शत्रु हैं—वात्सल्य, वीभत्स, रौद्र और भयानक रस। हास्य, करुण और भयानक ये वात्सल्यके मित्र हैं तथा मधुर, युद्धवीर, दास्य और रौद्र रस इसके शत्रु हैं। हास्य और सख्यरस—मधुरके मित्र हैं, वात्सल्य, वीभत्स, शान्त, रौद्र और भयानक उसके शत्रु हैं। वीभत्स, मधुर और वात्सल्य रस—ये हास्यरसके मित्र हैं। करुण और भयानक इसके शत्रु हैं। वीर, शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर—ये अद्भुतके मित्र हैं तथा हास्य, सख्य, दास्य, रौद्र और वीभत्स शत्रु हैं। वीररसका मित्र अद्भुतरस है तथा शत्रु है—भयानकरस। किसी-किसीके मतसे शान्त भी वीर रसका शत्रु है। रौद्र और वात्सल्य-ये करुणरसके मित्र हैं तथा वीररस, हास्यरस, सम्भोग नामक शृङ्गाररस और अद्भुतरस ये करुणरसके शत्रु हैं। करुणरस और वीररस—ये रौद्ररसके मित्र हैं, तथा हास्य, शृङ्गार और भयानक रस उसके शत्रु हैं। वीभत्स और करुण रस—ये भयानकरसके मित्र हैं और वीर, शृङ्गार, हास्य एवं रौद्र रस भयानकके शत्रु हैं। शान्तरस, हास्यरस और दास्यरस—ये वीभत्सके मित्र हैं तथा शृङ्गार और सख्य रस उसके शत्रु हैं। और बाकी सभी परस्पर तटस्थ हैं।

ब्रजनाथ—परस्पर मिलनका फल वर्णन कीजिये।

गोस्वामी—मित्र रसोंके मिलनेसे रसका आस्वादन बढ़ जाता है। अङ्ग और अङ्गीके रूपमें रसोंको मिलाना अच्छा है। मुख्य हो अथवा गौण हो, मित्र रसको अङ्गी रसका मित्र बनाना उचित है।

ब्रजनाथ—अङ्ग और अङ्गीका भेद बतलानेकी कृपा करें।

गोस्वामी—मुख्य या गौण कोई भी रस क्यों न हो जब वह दूसरे रसोंको दबाकर स्वयं प्रधान रूपमें प्रकाशित होता है, तब वह अङ्गी होता है और जो रस अङ्गी रसकी पुष्टि करता है, वह अङ्गके रूपमें सञ्चारीभावका स्थान ग्रहण करता है। विष्णुधर्मोत्तरमें कहा गया है—

रसानां समवेतानां यस्य रूपं भवेद्बहु।
स मन्तव्यो रसः स्थायी शेषाः संचारिणो मताः॥

अर्थात् रसोंके एकत्र मिलनेपर उनमें जिस रसका स्वरूप अधिक होता है—उस रसको 'स्थायी' रस और दूसरे—दूसरे रसोंको सञ्चारीभाव समझना चाहिये।

ब्रजनाथ—गौणरस किस प्रकार अङ्गी हो सकता है? गोस्वामी—श्रीरूप गोस्वामीने कहा है—

प्रौद्यन्विभावनोत्कर्षात्पुष्टि मुख्येन लम्भितः।
कुञ्चता निजनाथेन गौणोऽप्यङ्गित्वमश्नुते॥

मुख्यस्त्वङ्गत्वमासाद्य पुष्णन्निन्द्रमुपेन्द्रवत्।
गौणमेवाङ्गिनं कृत्वा निगूढनिजवैभवः॥

अनादिवासनोद्भासवासिते भक्तचेतसि।
भात्येव न तु लीनः स्यादेष संचारिगौणवत्॥

अङ्गी मुख्यः स्वमत्राङ्गे र्भावैस्तैरभिवर्द्धयन्।
सजातीयैर्विजातीयैः स्वतन्त्रः सन् विराजते॥

यस्य मुख्यस्य यो भक्तो भवेन्नित्यनिजाश्रयः।
अङ्गी स एव तत्र स्यान्मुख्योऽप्यन्योऽङ्गतां व्रजेत्॥

(भ० र० सि० ४/८/४६-५०)

अर्थात् कभी-कभी गौणरस भी संकोचभाव (गौणभाव) को प्राप्त हुए अपने प्रभु मुख्यरस द्वारा पुष्ट होकर एवं विभावकी अधिकतासे उदित होकर अङ्गत्वको प्राप्त होता है। उस समय मुख्यरस अङ्गत्वको प्राप्त होकर अपने वैभवको छिपाकर अङ्गीभाव प्राप्त गौणरसको पुष्ट करता है, ठीक उसी प्रकार जिस तरह उपेन्द्र अर्थात् भगवान् वामनदेव देवराज इन्द्रका पोषण करते हैं। भक्तकी अनादि अप्राकृत सेवा वासनाकी पवित्रगन्धयुक्त चित्त-भूमिपर यह मुख्यरस गौण सञ्चारीभावोंकी तरह लीन नहीं हो जाता अर्थात् जिस प्रकार गौणरस व्यभिचारिता प्राप्त मुख्यरसमें लीन हो जाते हैं, उसी प्रकार मुख्यरस लीन नहीं हो जाता, परन्तु प्रकाशित रहता है। मुख्य अङ्गीरस अङ्गस्वरूप स्वजातीय भावसमूह द्वारा अपनेको पुष्टकर स्वतन्त्र रूपमें प्रकाशित होते हैं। जो जिस मुख्य—रसके रसिक होते हैं, वे अपने उसी रसके ही नित्य आश्रित होते हैं। वही रस उनके सम्बन्धमें अङ्गीरसके रूपमें प्रकाशमान रहता है। दूसरे रससमूह मुख्य होनेपर भी पूर्व कथित अङ्गीरसकी अङ्गताको प्राप्त होते हैं अर्थात् अङ्गके रूपमें कार्य करते हैं।

और भी देखो, यदि अङ्गरस अङ्गीरससे मिलकर रसास्वादनको अधिक बढ़ा देता है, तभी वह अङ्गरस माना जायेगा, अन्यथा उसका मिलन व्यर्थ है।

ब्रजनाथ—रसके साथ शत्रु रस मिलनेसे क्या होता है?

गोस्वामी—जिस प्रकार किसी बहुत ही मीठे रसमें अम्ल, लवण या कटु आदिके मिलनेसे विरसता उत्पन्न होती है, उसी प्रकार एक रसमें शत्रुरस मिलनेसे विरसता उत्पन्न होती है। ऐसे रस-विरोधको रसाभास दोष कह सकते हैं।

ब्रजनाथ—क्या रसविरोध किसी भी दशामें अच्छा नहीं होता?

गोस्वामी—श्रीरूप गोस्वामीने भक्तिरसामृतसिन्धुमें कहा है—

द्वयोरेकतरस्येह बाध्यत्वेनोपवर्णने।
स्मर्यमाणतयाप्युक्तौ साम्येन वचनेऽपि च॥

रसान्तरेण व्यवधौ तटस्थेन प्रियेण वा।
विषयाश्रयभेदे च गौणेन द्विषता सह।

इत्यादिषु न वैरस्यं वैरिणो जनयेद्युतिः॥[१]

(भ० र० सि० ४/८/६३-६४)

और भी देखो, युधिष्ठिर आदिमें दास्य और वात्सल्य पृथक्-पृथक् समयमें प्रकाशित होते हैं। परस्पर शत्रु रस एक ही समय एक ही साथ उदय नहीं होते। परन्तु अधिरूढ़ महाभावमें विरुद्ध भावसमूह यदि एक ही समय एक ही साथ उदय हों तो वहाँ विरुद्ध नहीं होते। श्रीरूप गोस्वामी कहते हैं—

क्वाप्यचिन्त्यमहाशक्तौ महापुरुषशेखरे।
रसावलिसमावेशः स्वादायैवोपजायते॥

(भ० र० सि० ४/८/८३)

अर्थात् कहीं-कहींपर अचिन्त्य महाशक्तिसे युक्त महापुरुष शिरोमणिमें एक ही साथ एक ही समय अनेक विरुद्ध रसोंका जो समावेश हुआ करता है, वह आस्वादनकी चमत्कारिताके लिए ही होता है।

ब्रजनाथ—मैंने विद्वान रसिक वैष्णवोंसे सुना है कि श्रीमन् महाप्रभुजी रसाभासको बड़ी बुरी दृष्टिसे देखते थे, यहाँ तक कि जिन गीतों, कीर्त्तनों एवं पदोंमें रसाभास होता था, उन्हें कदापि सुनते तक न थे। आज मैं रसाभास दोषको भलीभाँति समझ गया। अब कृपाकर आप यह बतलाइये कि रसाभास कितने प्रकारके होते हैं?

गोस्वामी—रस अङ्गहीन होनेपर उसे रसाभास कहते हैं। उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ भेदसे रसाभासको उपरस, अनुरस और अपरस कहा जा सकता है

ब्रजनाथ—उपरस किसे कहते हैं?

गोस्वामी—विरूपताको प्राप्त स्थायी, विभाव और अनुभावादिसे युक्त बारहों शान्तादि रस ही उपरस हो सकते हैं। स्थायीवैरूप्य, विभाववैरूप्य, अनुभाववैरूप्य उपरसके हेतु हैं।

ब्रजनाथ—अनुरस किसे कहते हैं?

गोस्वामी—कृष्णसम्बन्धवर्जित हास्य आदि रससमूह अनुरस कहलाते हैं। तटस्थ व्यक्तियोंमें जो वीर आदि रस उदय होते हैं, वे भी अनुरस हैं।

ब्रजनाथ—जिसमें कृष्णसम्बन्ध न हो, वे रस ही नहीं, उन्हें तो जड़ रस ही कहेंगे। फिर अनुरसका ऐसा लक्षण क्यों कहा गया है? गोस्वामी—साक्षात् रूपसे कृष्ण सम्बन्धरहित रस ही अनुरस है। जैसे—कक्खटी (श्रीमती राधाकी पालतू बन्दरी) का नाच देखकर गोपियोंका हँसना, भाण्डीरवनमें एक पेड़की डालपर बैठे शुकपक्षियोंको परस्पर वेदान्तका विचार करते देखकर देवर्षि नारदके हृदयमें परम अद्भुतरसका उदय होना। यहाँपर कृष्णका, उक्त हँसी या नारदके हृदयमें उदित रसके साथ कोई सीधा या साक्षात् सम्बन्ध नहीं है, किसी प्रकार दूरका कृष्णसम्बन्ध देखा जाता है। इसलिए यहाँ दोनों स्थल अनुरसके हैं।

---

(१) दो विरोधी रसोंके मध्यमें एक विरोधी रसका बाध्यतासे वर्णन करनेपर अर्थात् युक्तिसङ्गत वाक्योंके द्वारा एकका उत्कर्ष वर्णन करनेसे दूसरेका निकृष्टत्व निरूपित होनेपर, स्मरण विषयक वर्णन करनेपर, समानतासे प्रतिपादन करनेपर, तटस्थ या प्रिय रसके द्वारा व्यवधान होनेपर विरोधी गौणरसके साथ विषय या आश्रयका भेद कर देनेपर—इत्यादि स्थलोंमें दो विरोधी रसोंका संयोग विरसता उत्पन्न नहीं करता।

ब्रजनाथ—अपरस किसे कहते हैं?

गोस्वामी—जब कृष्ण हास्यादि रसोंके विषय और उनके विरोधी उस रसके आश्रय होते हैं, तो वह हास्य आदि अपरस कहे जायेंगे। कृष्णको भागते देखकर जरासन्धका बारम्बार हँसना—वह अपरस है। श्रीरूप गोस्वामीने भक्तिरसामृतसिन्धु (४/९/४१) में लिखा है—

भावाः सर्वे तदाभासा रसाभासाश्च केचन।
अमी प्रोक्ता रसाभिज्ञैः सर्वेऽपि रसनाद्रसाः॥

अर्थात् भावोंको कोई-कोई तदाभास और कोई-कोई रसाभास कहते हैं, परन्तु रसाभिज्ञ पण्डित अप्राकृत आनन्दप्रद भावोंको ही रस कहते हैं।

रसतत्त्वका ऐसा सुन्दर, सरस और मर्मस्पर्शी विवेचन श्रवणकर विजयकुमार और ब्रजनाथकी आँखें सजल हो आयीं। वे रोते-रोते गद्गद वचनोंसे श्रीगुरु गोस्वामीके चरणोंकमलोंमें गिरकर बोले—

अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जन शलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

जिन्होंने दिव्यज्ञान रूप अंजन-शलाका द्वारा (१) स्वरूपकी अज्ञानता, (२) जड़शरीरमें आत्म-बुद्धि, (३) जड़विषयोंमें मेरेपनकी बुद्धि अर्थात् भोक्ताभिमान, (४) भेद अथवा द्वितीयाभिनिवेश अर्थात् कृष्णके अतिरिक्त दूसरी वस्तुओंमें आसक्ति, (५) भय और विरूप ग्रहण—इन पाँच प्रकारके अज्ञान और उससे उत्पन्न धर्म, अर्थ, काम और मोक्षकी कामनारूप अज्ञानान्धकार राशिको दूरकर दिव्य हरिसेवोन्मुख नेत्र खोल दिये हैं, उन श्रीगुरुदेवको नमस्कार है।

श्रीगुरु गोस्वामीने बड़े प्रेमसे दोनोंको उठाकर आलिङ्गन किया और आशीर्वाद दिया—तुमलोगोंके हृदयमें रसतत्त्वका स्फुरण होवे।

विजय और ब्रजनाथ प्रतिदिन श्रीध्यानचन्द्र गोस्वामीसे परमार्थकी चर्चा करते एवं श्रीगुरु गोस्वामीका चरणामृत और अधरामृत (प्रसाद) ग्रहण करते। वे किसी दिन भजनकुटीमें, किसी दिन श्रीहरिदासकी समाधिमें, किसी दिन श्रीगोपीनाथजीके मन्दिरमें और किसी दिन सिद्धबकुलमें अनेक शुद्ध वैष्णवोंकी भजन मुद्रा देखकर अपने-अपने भजनके अनुकूल भावोंमें मग्न हो पड़ते। 'स्तवावली' और 'स्तवमाला' ग्रन्थोंमें लिखे गये श्रीमन् महाप्रभुके भावावेशके स्थानोंका दर्शन करते। जिन स्थानोंमें शुद्धवैष्णव कीर्त्तन करते वहाँ नामकीर्त्तनमें सम्मिलित होते। इस प्रकार दोनोंके भजनमें क्रमशः उन्नति होने लगी। विजयकुमारने मन-ही-मन सोचा कि श्रीगुरु गोस्वामीने हमें संक्षेपमें ही मधुररसकी शिक्षा दी है। ब्रजनाथ सख्यरसमें ही मग्न रहे। मैं समयानुसार अकेला आकर श्रीगुरु गोस्वामीके समीप मधुररसका साङ्गोपाङ्ग विवेचन श्रवण करूँगा।—ऐसा सोचकर उन्होंने श्रीध्यानचन्द्र गोस्वामीकी कृपासे एक 'श्रीउज्ज्वलनीलमणि' ग्रन्थका संग्रह किया और वे उसका अध्ययन करने लगे। बीचमें कोई सन्देह उपस्थित होनेपर श्रीगुरु गोस्वामीसे पूछकर सन्देह दूर कर लेते।

एक दिन विजय और ब्रजनाथ घूमते-घूमते समुद्र-तीरपर उपस्थित हुए। सन्ध्याका समय था। वे लोग एक जगह तीरपर बैठकर समुद्रकी लहरियोंको देखने लगे। लहरियोंका कहीं भी अन्त नहीं, निरन्तर आती ही रहती हैं। इसे देखकर उनके मनमें यह भाव उठा कि यह जीवन भी लहरियोंसे पूर्ण है। कब क्या होगा, कहा नहीं जा सकता। अतएव हमें

रागमार्गकी भजन-पद्धति शीघ्र ही सीख लेनी चाहिये।

ब्रजनाथने कहा—श्रीध्यानचन्द्र गोस्वामीने जो पद्धति लिखी है, उसे मैंने देखा है। मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि गुरूपदेश मिलनेसे उससे सुन्दर फल पाया जा सकता है। मैं उस पद्धतिकी नकल कर लूँगा। ऐसा विचारकर उन्होंने श्रीध्यानचन्द्र गोस्वामीसे उक्त पद्धतिको नकल करनेके लिए माँगा, परन्तु श्रीध्यानचन्द्रने श्रीगुरु गोस्वामीकी आज्ञाके बिना देना अस्वीकार कर दिया।

श्रीध्यानचन्द्र गोस्वामीकी बात सुनकर वे दोनों श्रीगुरु गोस्वामीके समीप पहुँचे और उक्त भजन-पद्धतिको दिलवानेकी प्रार्थना की। श्रीगुरु गोस्वामीने अनुमति दे दी। विजय और ब्रजनाथने पद्धति-ग्रन्थको प्राप्तकर पृथक्-पृथक् रूपमें नकल कर ली और तय किया कि अवकाशके समय श्रीगुरु गोस्वामीके समीप इस पद्धतिको भलीभाँति समझ लेना आवश्यक है।

श्रीध्यानचन्द्र गोस्वामी समस्त शास्त्रोंके पारदर्शी पण्डित थे। विशेषतः हरिभजन-तन्त्रमें उनके समान कोई पारदर्शी पण्डित न था। श्रीगोपाल गुरुके शिष्योंमें वे सर्वप्रधान थे। विजय और ब्रजनाथको भजनके सम्बन्धमें योग्य अधिकारी समझकर उन्होंने उन दोनोंको भलीभाँति शिक्षा दी। विजय और ब्रजनाथ बीच-बीचमें श्रीगुरुगोस्वामीके चरणोंमें उपस्थित होकर भजन-सम्बन्धी समस्त प्रकारके सन्देहोंको दूर कर लेते। धीरे-धीरे वे श्रीमन् महाप्रभुके दैनन्दिन चरित्र एवं श्रीकृष्णकी दैनन्दिन लीलाओंका सम्बन्ध समझकर अष्टकालीन भजनमें प्रवृत्त हो गये।

॥तीसवाँ अध्याय समाप्त॥

इकतीसवाँ अध्याय

मधुररस-विचार

शरत्कालका बड़ा ही सुहावना समय है। रातके दस बजे हैं। शीतल और स्निग्ध ज्योत्स्नाकी साड़ी पहनकर पृथ्वीका रूप बड़ा ही आकर्षक हो रहा है। विजयकुमार 'उज्ज्वलनीलमणि' पढ़ रहे हैं और बीच-बीच में गम्भीर चिन्तन करते जाते हैं। उसी समय सहसा उनकी दृष्टि शुभ्र-ज्योत्सनापर पड़ी। उनका हृदय एक अनिर्वचनीय आनन्दसे भर गया। उन्होंने सोचा—बड़ा ही सुन्दर समय है, क्यों न इसी समय चलकर सुन्दराचलका दर्शन करूँ। सुना है श्रीचैतन्य महाप्रभुजी जब-जब सुन्दराचलका दर्शन करते थे, तब-तब उन्हें व्रजधामकी स्फूर्ति होती थी। ऐसा सोचकर वे अकेले सुन्दराचलकी ओर चल पड़े। विजयकुमार शुद्ध मधुररससे भजन करनेकी शिक्षा ले रहे हैं। उन्हें कृष्णकी व्रजलीलाको छोड़कर दूसरा कुछ भी अच्छा नहीं लगता है। उसमें भी व्रजलीलाके अन्तर्गत गोपियोंके साथ श्रीकृष्णकी लीलाओंके चिन्तनमें ही वे सदा मग्न रहते हैं। वे बलगण्डीको पारकर श्रद्धाबालिकी ओर बढ़ने लगे। दोनों ओरके उपवनोंको देखकर उन्हें वृन्दावनकी स्फूर्ति होने लगी। वे प्रेममें विभोर होकर कहने लगे—अहा! मेरा कितना सौभाग्य है। मैं ब्रह्मा आदि देवताओंके लिए भी परम दुर्लभ व्रजभूमिका दर्शन कर रहा हूँ। कितने सुन्दर हैं—ये कुञ्जसमूह। यह देखो कुञ्जवन! अरे! यह क्या देख रहा हूँ! मालती लतासे निर्मित इस माधवी मण्डपमें हमारे प्राणेश्वर श्रीकृष्ण गोपियोंके साथ बैठकर परिहास कर रहे हैं! भय और सम्भ्रम छोड़कर विजयकुमार व्याकुल होकर तेजीसे उसी ओर दौड़ पड़े। उन्हें अपने तन-मनकी सुध भी न रही। वे कुछ ही दूर जाकर मूर्च्छित होकर गिर पड़े। मन्द-मन्द समीर उनकी सेवा करने लगा। थोड़ी देरके बाद उन्हें चेतनता हुई और तब वे इधर-उधर चारों तरफ देखने लगे। परन्तु अब वह पूर्व दृश्य दिखलायी नहीं पड़ा। वे बड़े दुःखी हुए। कुछ देरके पश्चात् वे घर लौट आये और किसीसे कुछ न कहकर चुपचाप बिस्तरेपर लेट गये।

व्रजलीलाकी स्फूर्ति होनेसे विजय बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने मन ही मन सोचा कि आज रातको मैंने जिस रहस्यको देखा है, उसे कल श्रीगुरुदेवके चरणोंमें निवेदन करूँगा। परन्तु कुछ देर बाद ही उन्हें यह बात स्मरण हो आयी कि सौभाग्यसे अप्राकृत लीलाका रहस्य दिखलायी पड़नेपर उसे दूसरोंसे कहना नहीं चाहिये। इस प्रकार सोचते-सोचते उन्हें नींद आ गयी।

दूसरे दिन प्रसाद पाकर काशीमिश्रके घरपर पहुँचे और श्रीगुरुदेवको साष्टाङ्ग प्रणामकर उनके समीप बैठ गये। श्रीगुरुदेवने उन्हें स्नेहपूर्वक आलिङ्गनकर कुशलक्षेम पूछी। विजयकुमार श्रीगुरुदेवका दर्शनकर बड़े प्रसन्न हुए और कुछ स्थिर होनेपर बोले—प्रभो! आपकी असीम अनुकम्पासे मेरा मनुष्य जीवन सार्थक हो गया। इस समय मैं श्रीउज्ज्वलरसके सम्बन्धमें कुछ निगूढ़ तत्त्वोंको जानना चाहता हूँ। मैं उज्ज्वलनीलमणिका पाठ करता हूँ। पाठ करते-करते कुछ ऐसे स्थल मिले हैं जिनका तात्पर्य समझ नहीं सका हूँ। यदि आज्ञा हो तो जिज्ञासा करूँ।

गोस्वामी—विजय! तुम मेरे प्रिय शिष्य हो। तुम जो कुछ जिज्ञासा करना चाहते हो, बड़े आनन्दसे करो, मैं जहाँ तक हो सकेगा, उत्तर देनेका प्रयत्न करूँगा।

विजयकुमार बोले—प्रभो! मुख्यरसोंमें मधुररसको अतिशय रहस्योत्पादक रस बतलाया गया है। ऐसा कहा भी क्यों न जाये? जब शान्त, दास्य, सख्य और वात्सल्य इन चारों रसोंके गुण मधुररसमें नित्य विद्यमान हैं एवं उन रसोंमें जो कुछ चमत्कारिताका अभाव है, वह भी मधुररसमें सुन्दर रूपसे पूर्ण रूपसे प्रतिष्ठित है, तब मधुररस ही सर्वश्रेष्ठ है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। निवृत्तिपथावलम्बी व्यक्तियोंका हृदय शुष्क (नीरस) होता है, अतः उनके लिए मधुररस नितान्त अनुपयोगी होता है। दूसरी ओर मधुररस जड़धर्मसे सर्वथा विलक्षण होनेके कारण जड़ प्रवृत्तिवाले व्यक्तियोंके लिए दुरूह भी होता है। व्रजका मधुररस जब जड़ीय शृङ्गाररससे सर्वथा विलक्षण है, तब तो वह सहज ही साध्य नहीं है। इस प्रकार यह अप्राकृत मधुररस क्यों सांसारिक स्त्री-पुरुषगत अत्यन्त हेय जड़रस जैसा ही दिखलायी पड़ता है?

गोस्वामी—विजय! तुम यह भलीभाँति जानते हो कि जड़जगत्‌की सारी विचित्रताएँ चित्तत्त्वकी विचित्रताका ही प्रतिफलन है। जड़जगत् भी चित्-जगत्‌का प्रतिफलन (छाया) है। उसमें एक गूढ़ रहस्य यह है कि प्रतिफलित प्रतीति स्वभावतः विपरीत धर्मयुक्त होती है। आदर्श (काया) में जो चीज सर्वोत्तम होती है, प्रतिफलनमें वही चीज सर्वाधम होती है। आदर्शमें जो निम्नस्थ दिखायी पड़ता है, वही प्रतिफलनमें उच्चस्थ दिखलायी पड़ता है। दर्पणमें कायाका जो प्रतिफलन होता है, उसमें अङ्ग-प्रत्यङ्ग विपरीत रूपमें दिखलायी पड़ते हैं। उसी प्रकार परम वस्तु अपनी अचिन्त्यशक्तिके प्रभावसे उसी शक्तिकी छायामें प्रतिफलित होकर जड़ीय सत्ताके रूपमें विस्तृत हुई है। अतएव परम वस्तुके धर्मसमूह जड़ीय सत्तामें विपरीत रूपमें दिखायी पड़ते हैं। परम वस्तुगत रस भी इसी प्रकार इस जड़जगत् में जड़ीय हेय रसके रूपमें प्रतिफलित हुआ है। जड़ीय रस—चिन्मय रसका विपरीत प्रतिफलन है। परम वस्तुमें जो अपूर्व अद्भुत विचित्रतागत सुख है, वही परम वस्तुका रस है। वही रस जड़में प्रतिफलित होनेपर जड़बद्धजीवकी चिन्ता द्वारा एक औपाधिक तत्त्व कल्पित होता है। ऐसी दशामें वह निवृत्त निर्विशेष धर्मको ही परम वस्तु मानता है और निर्विशेष तत्त्वमें विचित्रताका निषेध रहनेके कारण समस्त प्रकारकी विचित्रताओंको ही जड़धर्म होनेकी कल्पना करता है। इस प्रकार वह निरुपाधिक सत्ता और सत्ताधर्मको जान नहीं पाता। जो लोग युक्तिका सहारा लेते हैं, उनकी ऐसी ही गति होती है।

वास्तवमें परम वस्तु रसरूप तत्त्व है, अतएव उनमें अद्भुत विचित्रताएँ हैं। जड़ रसमें भी वे विचित्रताएँ प्रतिफलित रहनेके कारण, जड़ रसकी विचित्रताका अवलम्बन करनेसे अतीन्द्रिय रसका अनुभव (अनुमान) होता है। चिद्वस्तुमें जो रस—विचित्रता है वह इस प्रकार है। चित्-जगत्‌में शान्त धर्मगत शान्तरस सबसे नीचे स्थित हैं। उसके ऊपर दास्य, दास्यके ऊपर सख्य रस, सख्यके ऊपर वात्सल्यरस और सबसे ऊपर मधुररस विराजमान होता है। जड़जगत् में मधुररस विपर्यस्त होकर सबसे नीचे अवस्थित होता है। उसके ऊपर वात्सल्य, वात्सल्य रसके ऊपर सख्य और सबसे ऊपर शान्तरस अवस्थित है। जो लोग जड़धर्मके स्वभावका अवलम्बन कर रसतत्त्वका विचार करते हैं, वे ऐसा ही सिद्धान्त कर मधुररसको हीन (घृणा योग्य) समझते हैं। मधुररसकी स्थिति और क्रिया जब जड़जगत्‌में प्रतिफलित होती है, तब वह प्रतिफलित स्थिति और क्रिया अतिशय तुच्छ और लज्जास्पद होती है। चित्-जगत् में वे सर्वथा शुद्ध, निर्मल और अद्भुत रूपमें माधुर्यपूर्ण होती हैं।

चित्-जगत्में कृष्ण और उनकी नाना प्रकारकी शक्तियोंका पुरुष-प्रकृति रूपमें जो मिलन होता है, वह अत्यन्त पवित्र और तत्त्वमूलक होता है। जड़जगत्में जो जड़प्रत्ययित व्यवहार है अर्थात् स्त्री-पुरुषका जो जड़ीय व्यवहार है वही लज्जास्पद है। चित्-जगत्में कृष्ण ही एकमात्र पुरुष हैं और चित्-तत्त्वसमूह इस रसमें प्रकृति हैं, इसलिए कोई धर्म-विरोध नहीं है। जड़जगत्में कोई जीव भोक्ता बनता है और कोई जीव भोग्य तथा एक दूसरेको भोग करना चाहते हैं, यही व्यापार मूल तत्त्वका विरोधी होनेके कारण घृणा और लज्जाका विषय हुआ है। तत्त्वतः एक जीव दूसरे जीवका भोक्ता नहीं है। सभी जीव भोग्य हैं और श्रीकृष्ण ही एकमात्र भोक्ता हैं। ऐसी स्थितिमें जीवका भोक्ता बनना नित्यधर्मके विरुद्ध व्यापार है और यह वास्तवमें बड़ी ही लज्जा और घृणाकी बात है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। देखो, आदर्श प्रतिफलनके विचारसे जड़ीय स्त्री-पुरुषका व्यवहार तथा निर्मल कृष्णलीला—दोनोंमें सौसादृश्य अवश्यम्भावी है, तथापि एक अत्यन्त तुच्छ और दूसरा नितान्त उपादेय है।

विजय—प्रभो! इस अपूर्व विचारको सुनकर कृतार्थ हुआ। मेरा संशय दूर हो गया। अब इस सिद्धान्तसे मेरा स्वतः सिद्ध विश्वास दृढ़ हो गया। मैं चित्-जगत्के मधुररसकी स्थिति को समझ गया। अहा! 'मधुररस'—यह शब्द जैसा मधुर है, इसका अप्राकृत भाव भी वैसा ही परमानन्दजनक है। ऐसे मधुररसके रहते हुए जो लोग शान्तरसमें सुख प्राप्त करते हैं उनके समान दुर्भागा और कौन होगा? मैं निगूढ़ मधुररसके सम्बन्धमें विस्तृत विचारोंका श्रवण करना चाहता हूँ।

गोस्वामी—बाबा! सुनो। कृष्ण ही मधुररसके विषय हैं और उनकी वल्लभागण (गोपियाँ) इस रसके आश्रय हैं। ये दोनों मिलकर इस रसके आलम्बन हैं।

विजय—मधुररसके विषय—कृष्णका रूप क्या है?

गोस्वामी—अहा! बड़ा ही मधुर प्रश्न है। नवजलधर वर्ण, सुरम्य, मधुर, सर्वसुलक्षणोंसे युक्त, बलवान्, नवयौवनयुक्त, सुवक्ता, प्रियभाषी, बुद्धिमान, प्रतिभावान, धीर, विदग्ध, चतुर, सुखी, कृतज्ञ, दक्षिण, प्रेमवश्य, गम्भीर, श्रेष्ठ, कीर्त्तिमान, रमणीजनमनोहारी, नित्यनवीन, अतुल्यकेलि, सौन्दर्यशाली, प्रियतम, वंशी बजानेवाले इन गुणोंसे युक्त पुरुष ही कृष्ण हैं। उनके चरणयुगलका सौन्दर्य निखिल कन्दर्पके गर्वको चूर्ण-विचूर्ण करता है। उनकी कटाक्षपूर्ण चितवन सबके चित्तको विमोहित कर डालती है। वे लीलाकी निधिस्वरूप हैं।

विजय—अप्राकृत रूप और गुणसम्पन्न श्रीकृष्ण ही अप्राकृत परम विचित्र मधुररसके एकमात्र नायक हैं—इसे मैंने सम्पूर्ण रूपसे अनुभव कर लिया है। पहले भिन्न-भिन्न शास्त्रोंका अध्ययनकर युक्ति और तर्कके सहारे कृष्णरूपकी भावना करनेपर भी उसमें मेरा सुदृढ़ विश्वास नहीं था। परन्तु आपकी कृपासे मेरे हृदयमें जबसे रुचिमूला भक्ति उत्पन्न हुई है, तभीसे मैं अपने भक्ति द्वारा पवित्र हुए हृदयमें दिनरात निरन्तर कृष्ण स्फूर्तिका अनुभव कर रहा हूँ। मेरे छोड़ देनेपर भी कृष्ण मेरे हृदयको छोड़ते नहीं हैं। अहो! उनकी कितनी कृपा है। अब मैं भलीभाँति समझ रहा हूँ—

सर्वथैव दुरूहो ऽयमभक्तैर्भगवद्रसः।
तत्पादाम्बुजसर्व स्वैर्भक्तैरेवानुरस्यते
व्यतीत्य भावनावर्त्म यश्चमत्कारभारभूः।
हृदि सत्त्वोज्ज्वले बाढं स्वदते स रसो मतः॥

(भ० र० सि० २/५/१३१-१३२)

जो श्रीकृष्णके श्रीचरणकमलोंको ही अपना सब कुछ समझते हैं, वे शुद्धभक्तजन ही इस रसको अनुभव कर सकते हैं। जिनके हृदयमें भक्तिगन्ध नहीं है अर्थात् तनिक भी भक्ति नहीं है, जिनका हृदय जड़ोदित भावोंसे परिपूर्ण है तथा स्वभावसे ही अपने संस्कारोंके अनुरूप जो तर्कप्रिय हैं, वे कदापि इस रसका अनुभव नहीं कर सकते हैं। प्रभो! मैंने यह अनुभव किया है कि जब मनुष्यके भावना—पथकी सीमाको पारकर कोई चमत्कार भाव शुद्धसत्त्वके द्वारा उज्ज्वल हुए हृदयमें उदित होता है, तब उस परम विशुद्ध और चमत्कारपूर्ण भावको रस कहते हैं। रस जड़जगत् में नहीं है—वह चित्-जगत्की वस्तु है। वह चित्-कण जीवकी सत्तापर प्रकाशित होता है। भक्ति-समाधिमें यह रस लक्षित होता है। शुद्धसत्त्व और मिश्रसत्त्वका भेद जिसके हृदयमें श्रीगुरुदेवकी कृपासे उदय होता है, उसे किसी प्रकारका संशय नहीं होता।

गोस्वामी—बिलकुल ठीक कहा। अच्छी बात है, तुम्हारे अनेक संशयोंको दूर करनेके लिए एक प्रश्न कर रहा हूँ, तुम उसका उत्तर दो, उस उत्तरसे ही एक परमतत्त्वका अनुभव करोगे। बोलो, शुद्धसत्त्व और मिश्रसत्त्वमें क्या अन्तर है?

श्रीगुरुदेवके चरणोंमें दण्डवत् प्रणामकर विजयकुमार नम्रतापूर्वक बोले—प्रभो! मैं आपकी कृपासे यथासाध्य बतला रहा हूँ। यदि कोई भूल हो तो कृपाकर संशोधन करेंगे। जिनका अस्तित्व लक्षित है, उसे सत्ता कहते हैं। स्थितिसत्ता, रूपसत्ता, गुणसत्ता और क्रियासत्तायुक्त वस्तुको सत्त्व कहा जा सकता है। जो सत्त्व—अनादि और अनन्त है, नित्यनवीन रूपमें वर्त्तमान है तथा जो भूत-भविष्यरूप खण्डकाल द्वारा दूषित नहीं होता और सर्वदा चमत्कारितासे पूर्ण रहता है—वही शुद्धसत्त्व कहलाता है। शुद्ध चित्-शक्तिसे उत्पन्न होनेवाली समस्त सत्ताएँ शुद्धसत्त्व हैं। चित्-शक्तिकी छायारूपा मायामें कालका भूत-भविष्यरूप विकार होता है। उस मायामें जो सब सत्त्व दिखलायी पड़ते हैं, उन सबका आदि है, अतएव उनमें मायाका रजः धर्म है। उन सबका अन्त है, अतएव उनमें तमः धर्म भी है। ऐसे आदि और अन्तयुक्त मायिक सत्त्वको मिश्रसत्त्व कहते हैं। शुद्धजीव भी—शुद्धसत्त्व है। उनका रूप, गुण और क्रिया सब कुछ शुद्धसत्त्वमय है। जबसे शुद्धजीव बद्ध हुआ है, तबसे मायाके रजोगुण और तमोगुण—ये दोनों उसके सत्त्वमें मिश्रित हो गये हैं। अतएव बद्धजीवको मिश्रसत्त्व कहते हैं।

गोस्वामी—बाबा, तुमने बड़ा ही सूक्ष्म सिद्धान्त कहा है। अब यह बतलाओ कि जीवका हृदय शुद्धसत्त्वके द्वारा किस प्रकारसे उज्ज्वल होता है?

विजय—जीव जब तक जड़जगत् में बद्ध रहता है, तब तक उसका शुद्धसत्त्व स्पष्ट रूपसे (शुद्ध रूपमें) उदित नहीं होता। जिस परिमाणमें जीवका शुद्धसत्त्व उदित होता है, उसी परिमाणमें उसका स्व-स्वरूप भी उपलब्ध होता है। यह फल किसी भी ज्ञान या कर्म साधना द्वारा प्राप्त नहीं हो सकता। शरीरमें मल लगनेपर उसे दूसरे किसी भी मलके द्वारा दूर नहीं किया जा सकता। जड़ कर्म स्वयं मल है, वह जीवके ऊपर मायाके मलको किस प्रकार हटा सकता है? ज्ञान अग्निके समान है, वह मलके साथ-साथ मूल सत्त्वको भी जलाकर राख कर डालता है। उसके द्वारा मल साफ होनेका सुख कैसे प्राप्त किया जा सकता है? अतएव गुरु, कृष्ण और वैष्णवोंकी कृपामूलक भक्तिसे ही शुद्धसत्त्व उदित होता

है। भक्ति उदित होनेपर शुद्धसत्त्व ही हृदयको उज्ज्वल करता है।

गोस्वामी—बाबा तुम जैसे अधिकारीको उपदेश प्रदान करनेमें सुख होता है। अब तुम और क्या जिज्ञासा करना चाहते हो?

विजय—आपने पहले बतलाया है कि नायक चार प्रकारके होते हैं—धीरोदात्त, धीरललित, धीरप्रशान्त और धीरोद्धत। कृष्ण इनमेंसे कौन-से नायक हैं?

गोस्वामी—कृष्णमें उक्त चारों प्रकारका नायकत्व है। चार प्रकारके नायकोंमें परस्पर जो सब विरुद्धभाव दिखलायी पड़ते हैं, वे सभी कृष्णरूप नायकमें उनकी अचिन्त्यशक्तिमत्ता और निखिल रसोंको एक ही समय धारण करनेकी शक्तिके कारण वर्त्तमान हैं और कृष्णकी इच्छानुसार कार्य करते हैं। इन चार प्रकारके नायक धर्मोंसे युक्त श्रीकृष्णमें और भी एक गूढ़ विचित्रता है। वह विचित्रता केवल असाधारण अधिकारियोंके लिए ही जानने योग्य है।

विजय—यदि आपने मुझपर इतनी बड़ी कृपा की है तब कृपाकर इस तत्त्वको भी बतलाया जाये। ऐसा कहते-कहते विजयकुमारकी आँखें सजल हो आयीं और वे गोस्वामीजीके चरणोंमें गिर पड़े। गोस्वामीजीने उन्हें उठाकर हृदयसे लगा लिया और स्वयं भी अश्रुपूर्ण नेत्रोंसे गद्गद वाणीमें बोले—'बाबा' वह रहस्य यह है कि मधुररसमें कृष्ण पति और उपपति भेदसे दो प्रकारके नायक होते हैं।

विजय—प्रभो! कृष्ण तो हमारे नित्य पति हैं उन्हें पति ही कहना चाहिये था, फिर उपपतिका सम्बन्ध क्यों?

गोस्वामी—बड़ा गूढ़ रहस्य है। एक तो चित्-व्यापार ही एक रहस्यमणि है, फिर परकीया मधुररस वैसी मणियोंमें कौस्तुभ मणियोंके समान है।

विजय—मधुररसाश्रित भक्तजन कृष्णका पतिभावसे भजन करते हैं, कृष्णको उपपति माननेका गूढ़ तात्पर्य क्या है?

गोस्वामी—परतत्त्वमें निर्विशेष भावका योग करनेसे कोई रस ही नहीं रहता है तथा **"रसो वै सः"** (छा० उ० ८/१३/१) इत्यादि वेद वाक्य व्यर्थ हो पड़ते हैं। उसमें सुखका नितान्त अभाव होनेके कारण निर्विशेष भाव अनुपादेय होता है। दूसरी ओर, सविशेष भाव जितने प्रकारका होता है, उसी मात्रामें रसका विकास भी माना जायेगा। रसको ही मुख्य तत्त्व समझना। निर्विशेष भावसे कुछ मात्रामें ईश्वरभाव नामक सविशेष भाव श्रेष्ठ है। शान्तरसके ईश्वरभावसे दास्यरसका प्रभुभाव ऊँचा है। सख्यभाव, दास्यभावसे उन्नत है। वात्सल्य उससे भी श्रेष्ठ है और मधुररस सबसे बढ़कर होता है। जिस प्रकार ये भावसमूह क्रमशः एक दूसरेसे श्रेष्ठ हैं, उसी प्रकार स्वकीयकी अपेक्षा परकीय मधुररस उत्कृष्ट है। आत्म और पर—ये दो तत्त्व हैं। आत्मनिष्ठधर्म आत्मारामताको कहते हैं। उसमें रसका पृथक् कोई सहाय नहीं होता। श्रीकृष्णका आत्मारामता-धर्म नित्य होनेपर भी उनमें परारामता-धर्म भी उसी प्रकार नित्य है। विरुद्ध धर्मसमूह परमपुरुष कृष्णमें एक ही समय एक ही साथ अस्थित होते हैं, यह परतत्त्वका स्वाभाविक धर्म है। कृष्णलीलाके एक केन्द्रमें आत्मारामता अवस्थित है और उसके विपरीत केन्द्रमें परारामता अपनी पूर्ण पराकाष्ठामें विराजमान है। परारामताकी यह पराकाष्ठा ही परकीय भाव है। नायक और नायिका परस्पर 'पर'[१]

---

(१) नायक-नायिकामें परस्पर वैवाहिक सम्बन्धका न होना—'पर' भाव है।

होनेपर भी जब रागके द्वारा वे मिलित होते हैं, तब जो अद्भुत रस होता है, उसे परकीय रस कहते हैं।

आत्मारामतासे लेकर परकीय मधुररस तक रसकी विस्तृत सीमा है। रसको आत्मारामताकी ओर खिंचनेसे रसकी क्रमशः शुष्कता होती जाती है। परकीयाकी ओर उसे जितना खींचा जाये वह (रस) उतना ही प्रफुल्लताको प्राप्त होता है। कृष्ण ही जहाँ नायक हैं, वहाँ परकीयता कदापि घृणास्पद नहीं हो सकती है। जहाँ कोई साधारण जीव नायक बनता है, वहाँ धर्म और अधर्मका विचार पैदा होता है, अतएव वहाँपर परकीय भाव नितान्त हेय होता है। इसलिए परकीय पुरुष और परोढ़ा स्त्रीके सम्भोगको कवियोंने बड़ा ही हेय स्थिर किया है। श्रीरूप गोस्वामीने कहा है कि साधारण अलङ्कारशास्त्रमें उपपतिमें जो हेयता स्थिर की गयी है, वह केवल प्राकृत (जड़) नायकके सम्बन्धमें ही कही गयी है। यह बात साक्षात् अप्राकृत अवतारी श्रीकृष्णके सम्बन्धमें नहीं कही जा सकती है।
हैं।

विजय—कृपया पति और उपपतिका पृथक्-पृथक् लक्षण बतलाइये। गोस्वामी—जो कन्याका हाथ पकड़कर विवाह करते हैं, वे पति

विजय—उपपति और परकीयाका लक्षण बताइये।

गोस्वामी—तदीय प्रेमसर्वस्वस्वरूप परकीया रमणी संग्रहकी इच्छासे जो राग द्वारा धर्मका उल्लंघन करते हैं, वे उपपति हैं। जो स्त्री इस लोक और परलोक (स्वर्ग आदि लोक) के धर्मकी उपेक्षा कर विवाह-विधिका उल्लंघन कर पराये पुरुषके निकट आत्म-समर्पण करती है—वह परकीया है। कन्या और परोढ़ाके भेदसे परकीया दो प्रकारकी होती हैं।

विजय—स्वकीयाका लक्षण क्या है?

गोस्वामी—पाणिग्रहण विधि द्वारा विवाहित, पतिके आदेशोंको पालन करनेमें तत्पर पतिव्रता स्त्रीको स्वकीया कहते हैं।

विजय—श्रीकृष्णके लिए स्वकीया कौन हैं और परकीया कौन हैं?

गोस्वामी—द्वारकापुरीकी विवाहित स्त्रियाँ स्वकीया हैं और व्रजवनिताएँ अधिकांश ही परकीया हैं।

विजय—उन दोनों प्रकारकी स्त्रियोंकी अप्रकट लीलामें क्या स्थिति होती है?

गोस्वामी—बड़ी ही गूढ़ बात है। तुम जानते हो कि विभूति चार पाद वाली है। उनमें तीन पाद विभूति चित्-जगत्में और एक पाद विभूति जड़जगत् में है। एक पाद विभूतिमें चौदह भुवनात्मक सम्पूर्ण मायिक जगत् स्थित हैं। मायिक जगत् और चित्-जगत् के बीचमें विरजा नदी है। विरजाके इस ओर मायिक जगत् और उस पारमें चित्-जगत् है। चित् जगत्कीी चारों ओरसे घेरनेवाली चहारदीवारी ही ज्योतिर्मय ब्रह्मधाम है। उसे भेदकर आगे बढ़नेपर परव्योम संव्योमरूप वैकुण्ठ दिखलायी पड़ता है। वैकुण्ठमें ऐश्वर्य प्रबल होता है। वहाँपर नारायण ही राजराजेश्वरके रूपमें अनन्त चिद्विभूतियों द्वारा परिसेवित होकर विराजमान रहते हैं। वैकुण्ठमें भगवान्का स्वकीय—रस है। वहाँ श्री, भू और नीला शक्तियाँ स्वकीय स्त्रीके रूपमें उनकी सेवा करती हैं। वैकुण्ठके ऊपर गोलोक है। वैकुण्ठमें स्वकीया पुरकी वनिताएँ यथास्थान सेवामें तत्पर रहती हैं। गोलोकमें व्रजकी वनिताएँ अपने रसमें कृष्णकी सेवा करती हैं।

विजय—यदि गोलोक ही कृष्णका सर्वोच्च धाम है, तब व्रजका इतना अद्भुत माहात्म्य क्यों बतलाया गया है?

गोस्वामी—व्रज, गोकुल और वृन्दावन आदि स्थान श्रीमाथुरमण्डलके भीतर हैं। माथुरमण्डल और गोलोक अभेद तत्त्व हैं। एक ही वस्तु चित्-जगत्‌की सर्वोच्च स्थानमें स्थित होनेपर गोलोक और प्रपञ्चके भीतर प्रकाशित होनेपर माथुरमण्डल—युगपत् इन दो स्वरूपोंमें प्रसिद्ध है।

विजय—यह कैसे सम्भव है? यह बात समझमें नहीं आती।

गोस्वामी—कृष्णकी अचिन्त्यशक्तिके द्वारा ऐसा सम्भव होता है। अचिन्त्यशक्तिके विषयसमूह चिन्ता और युक्तिसे परे हैं। जिसे गोलोक कहा जाता है, वही प्रकट लीलामें प्रपञ्चके भीतर मथुराधाम है, अप्रकट लीलामें वही गोलोक है। गोलोक नित्यजगत् में नित्य प्रकाशित है। कृष्णकी चिन्मयी लीला नित्य है। जिन्हें शुद्ध चिन्मय वस्तु दर्शन करनेका अधिकार हो गया है, वे गोलोक दर्शन करते हैं, यही नहीं, वे गोकुलमें ही गोलोकका दर्शन करते हैं, परन्तु मायिक बुद्धिवाले जीव गोलोकका दर्शन नहीं कर पाते। गोकुल ही गोलोक है, फिर भी जड़ बुद्धिवाले जीव गोकुलमें प्रापञ्चिक विश्वका दर्शन करते हैं अर्थात् गोकुलको सांसारिक स्थानके रूपमें देखते हैं।

विजय—गोलोक दर्शनका अधिकार क्या है?

गोस्वामी—श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा है—

इति संचिन्त्य भगवान् महाकारुणिको विभुः।
दर्शयामास स्वं लोकं गोपानां तमसः परम्॥
सत्यं ज्ञानमनन्तं यद्ब्रह्मज्योतिः सनातनम्।
यद्धि पश्यन्ति मुनयो गुणापाये समाहिताः॥[२]

(श्रीमद्भा० १०/२८/१४-१५)

बाबा! कृष्णकी कृपा बिना गोलोकका दर्शन नहीं होता। कृष्णने कृपा करके व्रजवासियोंको गोलोकका दर्शन कराया था। वह गोलोक प्रकृतिसे अतीत विशेष परमधाम है। उस लोककी विचित्रताएँ नित्य सत्यस्वरूप हैं, अनन्त चिद्विलास हैं। चिन्मय ज्योति—ब्रह्म सनातन रूपमें वहाँ प्रभा (अङ्ग ज्योति) के रूपमें वर्त्तमान हैं। जड़से निवृत हुए भक्तजन जड़ीय सम्बन्धसे रहित हो जानेपर उस विशेष तत्त्वका दर्शन करते हैं।

---

(२) गोपगण नित्यसिद्ध हैं, परन्तु वे कृष्णलीलाके सहायक रूपमें इस प्रपञ्चमें अवतीर्ण होते हैं। उन नित्यसिद्ध गोपोंके अनुगत साधनसिद्ध गोप होते हैं। ये साधनसिद्ध गोप ऐसा समझते हैं कि इस लोकमें जीव अज्ञानवश शरीरमें आत्मबुद्धि कर नाना प्रकारकी कामना करते हैं और उसकी पूर्तिके लिए नाना प्रकारके कर्म कर ऊँची-नीची योनियोंमें भटकते फिरते हैं—हम लोग भी वही करते हैं)—ऐसा सोचकर अचिन्त्यवैभवयुक्त महाकारुणिक भगवान् श्रीकृष्णने उन गोपोंको माया अन्धकारसे अतीत अपने परमधाम—गोलोकका दर्शन कराया। वह धाम नित्य सत्य और सनातन है, अपरिच्छिन्न जड़ सम्बन्धरहित, सर्वव्यापक और स्वप्रकाश है। गुणातीत अवस्थामें समाधि द्वारा मुनिगण—भक्तजन उस धामका दर्शन करते हैं।

विजय—क्या सभी मुक्तपुरुष गोलोकका दर्शन कर सकते हैं? गोस्वामी—करोड़ों मुक्त पुरुषोंमेंसे कोई विरला ही भगवद्भक्त होता है। अष्टाङ्गयोग और ब्रह्मज्ञानका साधनकर मुक्त होनेवाले जीव ब्रह्मधाममें ही आत्म विस्मृति भोग करते हैं अर्थात् जैसे सुषुप्ति अवस्थामें मनुष्य अनुभवशक्ति, ज्ञानशक्ति और इच्छाशक्ति आदिसे रहित होकर निश्चेष्ट पड़ा रहता है, उसी प्रकार ब्रह्मधामको प्राप्त जीव आत्म-विस्मृत होकर जड़ पिण्डकी भाँति पड़े रहते हैं। इनकी तो बात ही क्या, ऐश्वर्यपर भक्त भी गोलोकको देख नहीं पाते हैं। ऐश्वर्यभावयुक्त भक्त वैकुण्ठमें अपने-अपने भावानुरूप ऐश्वर्य मूर्त्तिकी सेवा करते हैं। जो व्रजरस द्वारा कृष्णका भजन करते हैं उनमेंसे भी जिन्हें कृष्णकृपा करके अशेष मायाबन्धनसे मुक्त कर देते हैं, वे महाभागा जीव गोलोकका दर्शन पाते हैं।

विजय—अच्छी बात है, यदि इस प्रकारके मुक्त भक्तोंके सिवाय दूसरे गोलोकको नहीं देख सकते हैं, तब श्रीब्रह्मसंहिता, हरिवंश, पद्मपुराण आदि शास्त्रोंमें गोलोकका वर्णन क्यों किया गया है। जब व्रजभजनसे ही कृष्णकी कृपा होती है, तब गोलोकका उल्लेख करनेका प्रयोजन ही क्या था?

गोस्वामी—जिन व्रजरसके रसिक भक्तोंको कृष्ण इस प्रपञ्चसे उठाकर गोलोकमें ले जाते हैं, वे गोलोकको सम्पूर्ण रूपमें देख पाते हैं। फिर विशुद्ध व्रजभक्तजन भी कुछ-कुछ गोलोक दर्शन करते हैं। भक्त दो प्रकारके होते हैं—साधक और सिद्ध। साधकोंको गोलोक दर्शनका अधिकार नहीं है। सिद्ध भक्त दो प्रकारके हैं अर्थात् वस्तुसिद्ध भक्त और स्वरूपसिद्ध भक्त। जो कृष्णकी कृपासे साक्षात् गोलोकमें लाये गये हैं, वे वस्तुसिद्ध भक्त हैं। जो गोलोकका स्वरूप तो देख रहे हैं, परन्तु स्वयं अभी प्रपञ्चमें ही अवस्थित हैं, साक्षात् गोलोकमें उपस्थित नहीं हैं। कृष्णकी कृपासे उनके भक्तिनेत्र क्रमशः खुल रहे हैं, अतएव उनके अधिकार अनेक प्रकारके हैं। कोई थोड़ा देख रहे हैं, कोई कुछ अधिक देख रहे हैं, और कोई-कोई और भी अधिक देखते हैं। जिनके प्रति कृष्णकी जितनी अधिक कृपा होती है, वे उतनी ही अधिक मात्रामें गोलोकका दर्शन करते हैं। जहाँ तक भक्तिकी साधनावस्था है वहाँ तक गोकुलमें जो कुछ दर्शन होता है, वह कुछ-कुछ मायिक भावसे उदित होता है। साधनावस्थाको पारकर भावावस्थामें पहुँचनेपर कुछ-कुछ—शुद्धरूपमें दर्शन होता है और प्रेमावस्थामें पहुँचनेपर तो प्रचुर परिमाणमें दर्शन होने लगता है।

विजय—प्रभो! गोलोक और व्रजमें किन-किन विषयोंमें भेद है?

गोस्वामी—व्रजमें जो कुछ देखते हो, वह सबकुछ गोलोकमें है। दर्शकोंकी निष्ठाके भेदसे उन उन विषयोंमें कुछ-कुछ भिन्न दर्शन होता है। वास्तवमें गोलोक और वृन्दावनमें भेद नहीं है। दर्शकोंकी दृष्टिभेदसे दृश्यका भेद होता है। अत्यन्त तमोगुणी व्यक्ति व्रजमें सबको जड़मय देखता है। रजोगुणी व्यक्ति पहलेकी अपेक्षा कुछ शुभ दर्शन करते हैं और सत्त्वानुगामी व्यक्ति अपनी दृष्टिशक्तिके अधिकारके अनुसार अर्थात् जितनी दूर तक दृष्टि है, उतनी दूर तक शुद्धसत्त्वका दर्शन करते हैं। प्रत्येक मनुष्यका अधिकार पृथक् है, अतएव उसका दर्शन भी पृथक् है।

विजय—प्रभो! कुछ-कुछ अनुभव होता तो है, परन्तु एक उदाहरण देकर इस विषयको और भी स्पष्ट करनेकी कृपा करें। यद्यपि जड़जगत्की विषय चित्-जगत्की विषयोंके लिए सम्पूर्ण उदाहरण नहीं बैठते फिर भी एकदेशीय सङ्केत पानेपर भी सर्वदेशीय

अनुभूति उदित होती है।

गोस्वामी—बड़ी कठिन समस्या है। अपनी रहस्यानुभूतिको दूसरोंके निकट प्रकट करनेका निषेध है। तुम भी कृष्णकृपासे कोई रहस्यानुभूति होनेपर उसे सदैव छिपाकर रखना। इस विषयमें हमारे पूर्वाचार्योंने जितना तथ्य प्रकाश किया है, मैं भी तुम्हें वहीं तक बतलाऊँगा, उससे अधिक जो कुछ है, वह तुम भगवान्‌की कृपासे स्वयं ही देख सकोगे। गोलोकमें शुद्ध चित्-प्रतीति है। वहाँपर जड़प्रतीति नामकी कोई चीज ही नहीं है। चित्-शक्ति रसकी पुष्टिके लिए जिन विचित्र भावोंको प्रस्फुटित किया है, उनमें अनेक स्थलोंपर अभिमान नामकी एक सत्ता है। गोलोकमें कृष्ण अनादि और जन्मरहित हैं। तथापि वहाँपर नन्द और यशोदारूप लीला सहायक सत्त्वसमूह पितृत्व अभिमान द्वारा वात्सल्यरसको मूर्तिमान किये हुए हैं। शृङ्गाररसमें विप्रलम्भ और सम्भोग आदि विचित्रताएँ अभिमानके रूपमें वर्त्तमान हैं। वहाँ परकीया भावमें शुद्ध स्वकीयत्व रहनेपर भी परकीय अभिमान और औपपत्य अभिमान नित्य वर्त्तमान हैं। देखो, व्रजमें वे सब अभिमान माया-प्रत्ययित स्थूल रूपमें दिखलायी पड़ते हैं, यशोदाका प्रसव, कृष्णका सूतिकागृह, अभिमन्यु, गोवर्द्धन आदिके साथ नित्यसिद्धा गोपियोंका विवाहमूलक परकीय अभिमान—यह सबकुछ अत्यन्त स्थूल रूपमें दिखलायी पड़ता है। यह सब कुछ योगमाया द्वारा सम्पादित हुआ है तथा अत्यन्त सूक्ष्म मूलतत्त्वसे संयोजित है। इसमें तनिक भी मिथ्या नहीं है एवं गोलोकके सर्वथा अनुरूप है। केवल द्रष्टाकी प्रपञ्च-बाधाके अनुसार दर्शन-भेद मात्र है।

विजय—तब क्या अष्टकालीन लीलाओंमें यथायथ शोधन करके विषयोंकी भावना करनी होगी?

गोस्वामी—नहीं ऐसी बात नहीं है। जिसे जिस रूपमें व्रजलीलाका दर्शन होता है, वे उसी रूपमें अष्टकालीन लीलाका स्मरण करेंगे। भजनके बलसे साधकके हृदयमें कृष्णकृपा द्वारा अपने आप लीला स्फुरित होती है। अपनी चेष्टासे लीलाके भावोंमें संशोधन करनेकी आवश्यकता नहीं है।

विजय—"यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी" इस न्यायके अनुसार साधनकालमें जैसा ध्यान होता है, उसीके अनुरूप सिद्ध होती है अतएव संशोधित निर्मल गोलोकके ध्यानकी आवश्यकता है—ऐसा प्रतीत होता है।

गोस्वामी—तुम ठीक कह रहे हो। व्रजमें जो सब प्रतीतियाँ हैं, वे शुद्ध तत्त्वमूलक है, उनमेंसे एक भी शुद्ध तत्त्वके विपरीत नहीं है। यदि वे विपरीत होतीं तो दोष होता। साधन शुद्ध होनेसे सिद्धि होती है। साधन ध्यान जितना ही शोधित होता है, उतनी ही शीघ्र सिद्धि होती है। साधन कार्य जिससे सुन्दर रूपसे सम्पन्न हो सके उसके लिए प्रयत्न करो। परन्तु शोधन करना तुम्हारी शक्तिसे बाहरकी बात है। अचिन्त्यशक्तिमय कृष्ण ही वैसा कर सकते हैं। स्वयं ऐसा करनेकी चेष्टा करनेसे तुम ज्ञानरूपी काँटेदार झाँड़ियोंमें फँस जाओगे और यदि कृष्ण कृपा करेंगे तो वैसा बुरा फल नहीं होगा।

विजय—आज मैं धन्य हुआ। एक बात और पूछना चाहता हूँ। पुरकी स्त्रियोंका आश्रयस्थल वैकुण्ठ ही है अथवा गोलोकमें भी उनका आश्रय है?

गोस्वामी—चित्-जगत्‌के वैकुण्ठमें अशेष आनन्दकी प्राप्ति होती है। वैकुण्ठसे ऊँची और कोई दूसरी प्राप्ति नहीं है। वहींपर द्वारका आदि पुरियाँ हैं। पुर वनिताएँ पुरस्थित

अपने-अपने महलोंमें कृष्णकी सेवा करती हैं। व्रजरमणियोंके अतिरिक्त मधुररसमें और दूसरे किसीकी भी गोलोकमें स्थिति नहीं है। व्रजमें जो-जो लीलाएँ हैं गोलोकमें वे सब प्रकारकी लीलाएँ हैं। गोलोकके अन्तर्गत माथुरपुर लीलामें रुक्मिणीजीकी स्वकीय रसमें स्थिति है—ऐसा गोपालतापनीमें उल्लेख है।

विजय—प्रभो! मैं व्रजमें जिस प्रकार व्यापार देख रहा हूँ क्या गोलोकमें भी ठीक इसी प्रकार सब कुछ है?

गोस्वामी—ठीक इसी प्रकारसे है, परन्तु केवल माया-प्रत्ययित अंश नहीं है। वैसा नहीं रहनेपर भी उन प्रत्ययोंका एक-एक चिन्मय विशुद्ध मूल है। मैं उसे कह नहीं सकता। तुम उसे भजन बलसे जान सकोगे।

विजय—प्रपञ्चजगत् सम्पूर्ण रूपसे महाप्रलयमें अन्तर्हित हो जाता है; अतएव व्रजलीलाका साम्प्रतभाव कैसे नित्य है?

गोस्वामी—व्रजलीला दोनों प्रकारसे नित्य है, साम्प्रतप्रतीति अनन्त ब्रह्माण्डमें चक्रकी भाँति घूमती हुई वर्तमान है। किसी ब्रह्माण्डमें जो लीला अभी हो रही है वही दूसरे क्षण दूसरे ब्रह्माण्डमें पहुँच जाती है इस प्रकार वह लीला पहले ब्रह्माण्डमें अप्रकट लीला है, परन्तु वही दूसरे ब्रह्माण्डमें प्रकट लीलाके रूपमें वर्त्तमान है। इसी प्रकार समस्त प्रकारकी प्रकट लीलाओंकी नित्यता है। अप्रकट अवस्थामें भी समस्त लीलाएँ नित्य वर्त्तमान हैं।

विजय—यदि सभी ब्रह्माण्डोंमें प्रकट लीला होती है, तो क्या प्रत्येक ब्रह्माण्डमें एक-एक व्रजधाम है।

गोस्वामी—हाँ है। गोलोक स्व-प्रकाश वस्तु है। वे प्रत्येक ब्रह्माण्डमें लीलाधाम रूपमें वर्त्तमान हैं। पुनः सभी भक्तोंके हृदयमें भी गोलोक प्रकटित हैं।

विजय—जिस ब्रह्माण्डमें लीला अप्रकट है वहाँपर माथुरमण्डल क्यों प्रकट रहता है?

गोस्वामी—वहाँपर अप्रकट लीला नित्य वर्त्तमान होती है। वहाँके भक्तोंके प्रति कृपा करके धाम वर्त्तमान रहते हैं।

उस दिन यहीं तक बातें हुई। विजयकुमार अष्टाकालीय सेवाकी चिन्ता करते-करते वासस्थानको लौटे।

॥इक्कीसवाँ अध्याय समाप्त॥

बत्तीसवाँ अध्याय
मधुररस-विचार

रातका समय था। ब्रजनाथ अपना भजन समाप्तकर हरिनामकी माला रखकर सो गये। विजयकुमार प्रसाद सेवा कर बिस्तरेपर लेटे हुए थे। नींद नहीं आ रही थी। कुछ सोच रहे थे। पहले उनकी धारणा थी कि गोलोक एक पृथक् स्थान है। परन्तु अब वे इस निष्कर्षपर पहुँचे हैं कि गोलोक और गोकुल अभिन्न हैं। गोलोकमें भी परकीय रसका मूल है, परन्तु कृष्ण उपपति कैसे हो सकते हैं?—यह बात उनकी समझमें नहीं आ रही थी। उन्होंने सोचा—कृष्ण परम पदार्थ हैं शक्ति और शक्तिमान अभेद हैं। यदि शक्तिको शक्तिमानसे पृथक् कर भी लिया जाये तो शक्तिको परोढ़ा और कृष्णको उपपति कैसे कहा जा सकता है? एकबार सोचा, कल श्रीगुरुदेवसे प्रश्नकर इस सन्देहको दूर कर लूँगा। फिर सोचा कि गोलोकके सम्बन्धमें श्रीगुरुदेवसे कुछ भी पूछना उचित नहीं है। फिर भी सन्देह दूर करना तो आवश्यक है। इस प्रकार सोचते-सोचते उन्हें नींद आ गयी। निद्रामें उन्होंने स्वप्न देखा, उनके गुरुदेव उनके सामने हैं और उनसे विजयकुमार अपने सन्देहको दूर करनेके लिए वही प्रश्न कर रहे हैं, जिसका वे लेटे-लेटे कुछ क्षण पूर्ण चिन्तन कर रहे थे। गुरुदेव स्वप्नमें ही उत्तर दे रहे थे—बाबा विजय! कृष्ण सर्वतन्त्र स्वतन्त्र हैं। उनकी इच्छा निरंकुश है। उनकी नित्य इच्छा यह है कि स्वकीय ऐश्वर्यको ढककर माधुर्यका प्रकाश हो। ऐसी दशामें कृष्ण अपनी शक्तिको अपनेसे पृथक् सत्ता प्रदान करते हैं। इसी कारण भगवान्‌की वह पराशक्ति करोड़ों ललनाओंका रूप धारणकर कृष्णकी सेवा करनेका प्रयत्न करती है। पुनः कृष्ण शक्तिकी ऐश्वर्य प्रधान सेवासे पूर्ण रूपसे सन्तुष्ट न होनेके कारण उसी शक्तिके किसी विचित्र प्रभावके द्वारा उन ललनाओंको पृथक्-पृथक् गृहस्थका अभिमान प्रदान करते हैं अर्थात् वे ललनाएँ उस शक्तिके प्रभावसे स्वयंको दूसरेकी स्त्री मानती हैं। कृष्ण भी उसी प्रकार उपपति सम्बन्ध धारण करते हैं। वे परकीय रसके लोभसे अपने आत्माराम धर्मका उल्लंघनकर उन परोढ़ा मानिनियों (गोप-ललनाओं) के साथ रास आदि विचित्र लीलाएँ करते हैं। वंशी इस कार्यमें प्रिय सखी होती हैं। इन लक्षणोंके द्वारा गोलोकमें नित्य परकीय भाव सिद्ध होता है। इसीलिए गोलोकके लीला-वनसमूह एवं केलि वृन्दावन आदि नित्य वर्त्तमान रहते हैं। व्रजमें जो रासमण्डप, यमुना नदी, गिरिगोवर्द्धन आदि लीलाके स्थानसमूह हैं, वे सब-के-सब गोलोकमें हैं। गोलोकके स्वकीयत्व और दाम्पत्य भाव इसी रूपमें वर्त्तमान है। शुद्धस्वकीयत्व वैकुण्ठमें विराजमान हैं। स्वकीयत्व—परकीयत्व अचिन्त्यभेदाभेद रूपमें लक्षित होते हैं। फिर देखो न, आश्चर्यका विषय तो यह है कि व्रजमें परकीय भाव (जो गोलोकमें केवल अभिमानके रूपमें होता है) पराये स्त्रीकी घटनाके समान दिखलायी पड़नेपर भी उसमें परदारत्व नहीं है। इसका कारण यह है कि वे ललनाएँ कृष्णकी अपनी शक्ति हैं। अनादि कालसे उनके साथ कृष्णका संयोग रहनेके कारण स्वकीयत्व और दाम्पत्य ही सिद्ध है। अभिमन्यु गोपसमूह गोलोकके तत्तदभिमानके अवतार-विशेष हैं। उन्होंने कृष्णकी लीलाकी पुष्टिके लिए पति बनकर कृष्णको उपपति भावमें व्रजरङ्गका नेता किया है। प्रपञ्चसे अतीत गोलोकमें केवल अभिमानमात्रसे ही रसकी पूर्ण रूपमें पुष्टि हो जाती है। प्रपञ्चान्तर्गत गोकुलमें विवाहधर्म और दाम्पत्यधर्म-लङ्घन प्रतीतिके लिए योगमाया द्वारा गोकुलगत अभिमानसमूह पृथक् सत्त्वके रूपमें (शरीर धारणकर) प्रकटित

है अर्थात् यह सब कुछ योगमाया द्वारा सिद्ध हैं।

स्वप्नमें श्रीगुरुदेवके निकट स्वकीय और परकीय तत्त्वको सुनकर विजयकुमारका सन्देह दूर हो गया। प्रपञ्चातीत गोलोक ही भौमगोकुल है—ऐसा विश्वास दृढ़ हो गया। व्रजरसकी परमानन्दमयी तादात्म्यस्वरूपता उनके हृदयमें उदित हुई। साथ ही अष्टकालीन व्रजकी नित्यलीलामें दृढ़ता उत्पन्न हुई। सवेरे उठकर उन्होंने सोचा कि श्रीगुरुदेवकी मुझपर असीम कृपा है। अब रसके उपकरणोंको उनके निकट श्रवण करके भजनमें निष्ठा प्राप्त करूँगा।

विजयकुमार—प्रसाद सेवाकर ठीक समयपर श्रीगुरुगोस्वामीके समीप उपस्थित हुए और उन्हें प्रेमसे रोते-रोते प्रणाम किया। गुरुदेवने भी उन्हें बड़े प्रेमसे गले लगा लिया और कहा —बाबा, तुम्हारे ऊपर कृष्णकी यथार्थ कृपा हुई है। मैं तुम्हें देखकर धन्य हो जाता हूँ इस प्रकार कहते-कहते वे प्रेमसे अधीर हो पड़े।

कुछ देरके पश्चात् जब उनकी बाह्य स्फूर्ति हुई, तब विजयकुमार उनको साष्टाङ्ग प्रणाम करके बोले—प्रभो मैं कृष्णकी कृपाको नहीं जानता, मैं तो आपकी कृपाको ही सब कुछ जानता हूँ। अब मैं गोलोककी अनुभूति प्राप्त करनेकी चेष्टा छोड़कर व्रजानुभूति प्राप्त करनेके प्रयासमें ही पूर्ण सन्तुष्ट हूँ। मैं व्रजके रसवैचित्र्यको भलीभाँति समझना चाहता हूँ। कृपया यह बतलाया जाये कि गोकुलकी जिन कन्याओंने कृष्णमें पतिभाव रखा था, उन्हें स्वकीय कहा जा सकता है या नहीं?

गोस्वामी—उन गोकुल-कन्याओंमें पतिभाव-निष्ठा होनेके कारण उनका तात्कालिक स्वकीयत्व हुआ था, परन्तु वे स्वरूपतः परकीया हैं उनका स्वकीयत्व स्वभाव नहीं होनेपर भी गन्धर्वविवाह-रीतिसे कृष्ण द्वारा स्वीकृत होनेके कारण उनका साम्प्रत अवस्थामें अर्थात् गोकुल लीलामें स्वकीयत्व सिद्ध है।

विजय—प्रभो मैं धीरे-धीरे बहुत कुछ जिज्ञासा करूँगा। श्रीउज्ज्वलनीलमणिके क्रमानुसार सब बातें समझनेका प्रयत्न करूँगा पहले नायकके सम्बन्धमें सब बातें समझ लूँ। नायक चार प्रकारके हैं—अनुकूल, दक्षिण, शठ और धृष्ट। इनमेंसे अनुकूलके सम्बन्धमें बतलाइये।

गोस्वामी—जो अन्य ललनाओंकी स्पृहा छोड़कर केवल एक नायिकाके प्रति अत्यधिक आसक्त होते हैं, वे अनुकूल नायक हैं। श्रीसीतादेवीके प्रति श्रीरामचन्द्रजीका और श्रीमती राधिकाजीके प्रति श्रीकृष्णका भाव अनुकूल नायकका है।

विजय—धीरोदात्त आदि चार प्रकारके नायकोंके पृथक्-पृथक् अनुकूल आदि भावोंका परिचय जानना चाहता हूँ। कृपा करके धीरोदात्त—अनुकूल नायकका लक्षण बतलावें।

गोस्वामी—धीरोदात्त-अनुकूल नायक गम्भीर, विनयी, क्षमाशील, करुण, दृढ़व्रत, आत्मश्लाघाशून्य, गूढ़-गर्व और परम उदार होकर भी उन-उन गुणोंका परित्यागकर अपनी नायिकाके लिए अभिसार करते हैं।

विजय—धीरललित-अनुकूल नायकका लक्षण बतलावें।

गोस्वामी—रसिकता, नवयौवन, परिहासपटुता और निश्चिन्तता आदि धीरललितके गुण हैं। उसमें अविच्छेद विहार—लक्षणका संयोग होनेसे धीरललित—अनुकूल नायक होता है।

विजय—धीरशान्त-अनुकूल नायक कैसा होता है?

गोस्वामी—शान्त-स्वभाव, सहिष्णु, बुद्धिमान और विवेक आदि गुणोंसे युक्त नायक ही धीरशान्तानुकुल हैं।

विजय—धीरोद्धतानुकूल नायकका लक्षण बतलावें।

गोस्वामी—मत्सर, अहङ्कारी, मायावी, क्रोधी और आत्मप्रशंसक नायक अनुकूल होनेपर भी धीरोद्धतानुकूल नायक होते हैं।

विजय—नायक किस प्रकार दक्षिण होते हैं?

गोस्वामी—दक्षिण शब्दका अर्थ है—सरल। पूर्व नायिकाके प्रति गौरव, भय, प्रेमदाक्षिण्यको छोड़े बिना भी अन्य नायिकाके प्रति जो अपने चित्तको लगाते हैं, वे दक्षिण नायक हैं। अनेक नायिकाओंमें समभाव रखनेवाले नायकको भी दक्षिण नायक कहते हैं।

विजय—शठ नायकका लक्षण क्या है?

गोस्वामी—जो नायक आमने-सामने प्रिय आचरण करता है, परन्तु पीठ-पीछे अप्रिय आचरणकर निगूढ़ अपराध करता है, वह शठ नायक है।

विजय—धृष्टका लक्षण क्या है?

गोस्वामी—अन्य नायिकाका भोगचिह्न व्यक्त होनेपर भी जो निर्भय होकर झूठ बोलनेमें दक्ष है, वह धृष्ट है।

विजय—प्रभो! कुल मिलाकर कितने प्रकारके नायक होते हैं?

गोस्वामी—हमारे तो कृष्णके सिवा कोई दूसरा और नायक ही नहीं है। वे एक ही कृष्ण द्वारकामें पूर्ण हैं, मथुरामें पूर्णतर हैं और व्रजमें पूर्णतम हैं। वे पति और उपपतिके भेदसे दो प्रकारके होनेके कारण ३x२=६ प्रकारके हैं। पुनः धीरोदात्त आदि चार प्रकारके भेदके कारण ६x४=२४ प्रकारके हैं। फिर अनुकूल, दक्षिण, शठ और धृष्ट भेदसे २४४४=९६ प्रकारके नायक हैं अब ऐसा समझना होगा कि स्वकीय रसमें चौबीस प्रकारके नायक हैं तथा परकीय रसमें भी चौबीस प्रकारके नायक हैं। व्रजलीलामें स्वकीय रसका संकोच भाव होता है तथा परकीय रसकी प्रधानता होती है अतएव यहाँ श्रीकृष्णमें परकीय रसके चौबीस प्रकारका नायकत्व नित्य विराजमान रहता है। लीलाके जिस अंशमें तथा जिस विभागमें जिस प्रकारके नायककी आवश्यकता होती है, श्रीकृष्ण उसी प्रकारके नायकके रूपमें अनुभूत होते हैं।

विजय—प्रभो! मैं नायक और नायिकाकी गुणविचित्रताका अनुभव कर रहा हूँ। अब मैं यह जानना चाहता हूँ कि नायकके सहायक कितने प्रकारके होते हैं?

गोस्वामी—नायकके सहायक पाँच प्रकारके होते हैं—चेट, विट, विदूषक, पीठमर्द और प्रियनर्म सखा। ये सभी नर्म (मधुर) वाक्य प्रयोग करनेमें निपुण, सदा गाढ़े अनुरागी, देश और कालके ज्ञाता, दक्ष, रुष्ट गोपियोंको प्रसन्न करनेमें चतुर तथा रहस्यपूर्ण मन्त्रणा देनेवाले होते हैं। पाँचों प्रकारके सहायकोंमें ये गुणसमूह पाये जाते हैं।

विजय—चेट किसे कहते हैं?

गोस्वामी—किसी बातका पता लगानेमें चतुर, गूढ़ कर्मोंको करनेवाले तथा प्रगल्भबुद्धियुक्त भङ्गुर और भृङ्गार आदि गोकुलमें कृष्णका चेट कार्य करते हैं।

विजय—विट किसे कहते हैं?

गोस्वामी—वेष-रचना आदि कार्योंमें दक्ष, धूर्त्त, बातचीत करनेमें चतुर, वशीकरण आदि क्रियाओंमें पद कड़ार और भारतीबन्ध आदि कृष्णके विट हैं।

विजय—विदूषक किसे कहते हैं?

गोस्वामी—भोजनप्रिय, कलहप्रिय, अङ्गभङ्गी और वाक् चातुरी तथा वेषद्वारा हँसानेवाले बसन्त आदि गोप तथा मधुमङ्गल आदि कृष्णके विदूषक हैं।

विजय—पीठमर्द कौन-कौन हैं?

गोस्वामी—नायक जैसे गुणवान होकर भी नायककी आज्ञाके अनुसार चलनेवाले श्रीदाम ही कृष्णके पीठमर्द हैं।

विजय—प्रियनर्म सखाका लक्षण क्या है?

गोस्वामी—आत्यन्तिक रहस्यज्ञ, सखीभावाश्रित, सुबल और अर्जुन आदि कृष्णके प्रियनर्म सखा हैं। अतएव ये दूसरे-दूसरे सभी सखाओंसे श्रेष्ठ हैं। चेट, विट, विदूषक, पीठमर्द और प्रियनर्म सखा—इन पाँचोंमें चेटोंका दास्य, पीठमर्दोंका वीर रस और बाकी सबका सख्यरस है चेटगण किङ्कर हैं और शेष चार सखा हैं।

विजय—क्या सहायकोंमें स्त्रियाँ नहीं होती हैं?

गोस्वामी—हाँ हैं, उन्हें दूती कहते हैं।

विजय—दूतियाँ कितने प्रकारकी होती हैं?

गोस्वामी—दो प्रकारकी होती हैं—स्वयंदूती और आप्तदूती। कटाक्ष और वंशीध्वनि स्वयंती हैं।

विजय—अहा! आप्तदूती कौन हैं?

गोस्वामी—प्रगल्भ वचन बोलनेमें प्रवीण 'वीरा' और चाटुवाक्य बोलनेमें चतुर 'वृन्दा', ये दोनों श्रीकृष्णकी आप्तदूती हैं। स्वयंदूती और आप्तदूती ये असाधारण दूतियाँ हैं। इनके अतिरिक्त लिङ्गिनी, दैवज्ञा और शिल्पकारिणी आदि और भी अनेक साधारण दूतियाँ हैं। नायिका दूती—विचारके प्रसङ्गमें इनका विस्तारपूर्वक वर्णन किया जायेगा।

विजय—मैंने श्रीकृष्णरूप नायकके भाव और गुणोंका अनुभव कर लिया है तथा यह भी समझ गया हूँ कि पति और उपपति दोनों भावोंमें श्रीकृष्ण नित्य लीला करते हैं। वे द्वारिकामें पतिभावमें तथा व्रजपुरीमें उपपति भावमें लीला करते हैं। हमारे कृष्ण उपपति हैं, इसलिए व्रजकी रमणियोंके सम्बन्धमें हमें जानना आवश्यक है।

गोस्वामी—व्रजेन्द्रनन्दन श्यामसुन्दरकी जो सब व्रजललनाएँ हैं, उनमें अधिकांश परकीया हैं। इसका कारण यह है कि परकीयाके बिना मधुर रसका पूर्णतया विकास नहीं होता। विवाह-सम्बन्धसे पुरकी वनिताओंका रस सीमित रहता है। शुद्ध कामसे युक्त व्रजवासियोंका रस असीम (अकुण्ठ) होता है और इसी रससे कृष्णको सर्वाधिक सुख प्राप्त होता है।

विजय—इसका तात्पर्य क्या है?

गोस्वामी—शृङ्गार रसके परम रसज्ञ रुद्र कहते हैं कि—स्त्रियोंकी वामता (वक्रता) और दुर्लभता (निषेध) आदि जो बाधाएँ हैं, वही कन्दर्पका परम आयुध-स्वरूप है। विष्णुगुप्तने कहा है कि जहाँ निषेधरूप विशेषता होती है और मृगनयनी ललना दुर्लभ हो पड़ती है, उसी स्थानपर नायकका हृदय अधिक रूपमें आसक्त होता है। देखो, रासलीलाके समय कृष्णने आत्माराम होनेपर भी जितनी गोपियाँ थीं, उतने ही स्वरूपोंमें प्रकट होकर उनके साथ लीला की थी। साधक मात्रको रासलीलाके अनुगत होना चाहिये। इसमें विशेष उपदेश यह है कि यदि साधक कल्याणकी इच्छा रखते हैं तो उन्हें भी भक्तकी भाँति उस लीलामें प्रवेश करना चाहिये। उन्हें कृष्ण जैसा आचरण कदापि नहीं करना चाहिये। तात्पर्य यह है

कि उन्हें गोपीभावसे गोपीके अनुगत होकर ही उस लीलामें प्रवेश करना चाहिये।

विजय—कृपया गोपीभावको कुछ अधिक स्पष्ट करनेकी कृपा करें।

गोस्वामी—नन्दनन्दन कृष्ण—गोप हैं। वे गोपियोंके अतिरिक्त किसी भी दूसरी रमणीके साथ रमण नहीं करते। शृङ्गाररसके अधिकारी साधक भी ठीक उसी भावसे कृष्णभजन करेंगे जैसे; गोपियोंने श्रीकृष्णकी भजन-सेवा की है। साधक अपनेको भावनामार्गमें व्रजगोपी भावनाकर किसी सौभाग्यवती व्रजवासिनीकी परिचारिका मानकर उनके निर्देशके अनुसार राधाकृष्णकी सेवा करेंगे। अपनेको 'परोढ़ा' माने बिना रसोदय होना असम्भव है। यह परोढ़ा अभिभान ही व्रजगोपीत्व धर्म है। श्रीरूपगोस्वामीने लिखा है—

मायाकलिततादृक्-स्त्रीशीलनेनानुसूयिभिः
न जातु व्रजदेवीनां पतिभिः सह संगमः॥

(उ० नी० ३/३२)

अर्थात् परोड़ा अभिमानयुक्ता व्रजदेवियोंका योगमाया कल्पित उनके विवाहित पतियोंके साथ कभी सङ्गम हुआ ही नहीं। अभिसार आदिके समय योगमाया-कल्पित ठीक वैसी ही गोपीमूर्ति घरमें देखकर गोपगण ऐसा समझते थे कि हमारी पत्नियाँ घरपर ही हैं। अतएव वैसी अवस्थामें उन्हें कृष्णके प्रति ईर्ष्या-द्वेष करनेका अवकाश ही नहीं मिला।

मायाकल्पित विवाहित पतियोंके साथ व्रजदेवियोंका कभी भी सङ्गम नहीं हुआ; व्रजगोपियोंके पतिसमूह केवल उन-उन (गोलोकगत) भावोंके मायावतार मात्र हैं। उनका विवाह भी मायिक प्रत्यय (मायिक विश्वास) मात्र है—परदारत्व नहीं है। तथापि परोढ़ात्व अभिमान नित्य वर्त्तमान होता है। ऐसा न होनेसे वामता, दुर्लभता, प्रतिबन्धकता, निषेध और भय आदिसे उत्पन्न अपूर्व रसोदय कदापि स्वभावतः सम्भव नहीं है। वैसा अभिमान न रहनेसे व्रजरसका नायिकाभाव प्राप्त नहीं किया जा सकता है; इसका उदाहरण वैकुण्ठकी लक्ष्मीजी हैं।

विजय—अपनेको परोढ़ा जाननेका भाव क्या है?

गोस्वामी—व्रजके किसी गोपके गृहमें पैदा हुई बालिका हूँ। नवयौवन प्राप्त होते ही मेरा विवाह किसी गोप युवकके साथ हो चुका है। ऐसा विश्वास होनेसे ही कृष्ण-सम्भोगकी लालसा बलवती होती है। इस प्रकार अपनेमें अप्रसूतिका गोपनारीभावका आरोप करना ही गोपीभाव है।

विजय—यदि साधक पुरुष हो, तो पूर्वोक्त गोपीभावका आरोप कैसे सिद्ध हो सकता है?

गोस्वामी—मायिक स्वभावके पराधीन होनेके कारण लोग अपनेको पुरुष समझते हैं। शुद्ध चित्स्वभावमें कृष्णके पुरुष परिकरोंको छोड़कर अन्य सभी स्त्री हैं। चिद्गठनमें वस्तुतः स्त्री पुरुष चिह्न न होनेपर भी स्वभाव और दृढ़ अभिमानवश जो कोई भी व्रजवासिनी होनेका अधिकार प्राप्त कर सकते हैं। जिनकी मधुररसमें रुचि होती है, केवल वे व्रजवासिनी होनेके अधिकारी हैं।

विजय—परोढ़ाका माहात्म्य क्या है?

गोस्वामी—जब परोढ़ा ब्रजगोपियोंके हृदयमें कृष्ण-सम्भोगकी लालसा उत्पन्न होती है, तब वे स्वभावतः सर्वातिशायिनी शोभा और सद्गुण—वैभवकी खान हो उठती हैं तथा

प्रेमसौन्दर्यसे मण्डित हो जाती हैं। लक्ष्मी आदि शक्तियोंसे भी बढ़कर उनका रस-माधुर्य अधिक होता है।

विजय—वे व्रजसुन्दरियाँ कितने प्रकारकी होती हैं?

गोस्वामी—वे तीन प्रकारकी होती हैं—साधनपरा, देवी और नित्यप्रिया।

विजय—साधनपरा व्रजसुन्दरियोंमें भी क्या कोई भेद होता है?

गोस्वामी—हाँ, साधनपरा सुन्दरियाँ दो प्रकारकी होती हैं—यौथिकी और अयौथिकी।

विजय—यौथिकी कौन हैं?

गोस्वामी—जो व्रजरसके साधनमें तत्पर होकर यूथ-की-यूथ (झुण्ड-की-झुण्ड) व्रजमें जन्म लेती हैं वे यौथिकी अर्थात् यूथसे युक्त होती हैं। यौथिकी दो प्रकारकी होती हैं, एक मुनिगण और दूसरी उपनिषद्गण।

विजय—किन-किन मुनियोंने व्रजमें गोपीजन्म ग्रहण किया था?

गोस्वामी—जो मुनि गोपालके उपासक थे, परन्तु सिद्धि प्राप्त न कर सके थे, उन्होंने त्रेतायुगमें रामचन्द्रका सौन्दर्य दर्शनकर अपने अभीष्ट साधनका प्रयत्न किया था—वे ही गोपीभाव ग्रहणकर व्रजमें गोपियोंके रूपमें जन्मे थे। उसका उल्लेख पद्मपुराणमें पाया जाता है। बृहद्वामन पुराणके अनुसार उनमेंसे किसी-किसीने रासके प्रारम्भमें सिद्धि पायी थी।

विजय—उपनिषदोंने किस प्रकार व्रजमें गोपी-जन्म प्राप्त किया था?

गोस्वामी—अतिशय सूक्ष्मदर्शी महोपनिषदगण गोपियोंका सौभाग्य दर्शनकर बड़े विस्मित हुए थे। उन्होंने श्रद्धापूर्वक कठोर तपके फलस्वरूप व्रजमें गोपी जन्म प्राप्त किया था।

विजय—अयौथिकी कौन हैं?

गोस्वामी—जो गोपीभावके प्रति अत्यन्त आसक्त होकर उत्कण्ठापूर्वक अपने स्वाभाविक अनुराग द्वारा साधन करते हैं, वे प्राचीना और नवीना भेदसे दो प्रकारकी अयौथिकीके नामसे प्रसिद्ध हैं। कोई-कोई अकेली और कोई-कोई दो या तीन अथवा और भी अधिक एक साथ जन्म लेती हैं। प्राचीना अयौथिकीगण नित्यप्रिया गोपियोंके साथ बहुत दिन पहलेसे ही सालोक्य प्राप्त किये हुए होती हैं। देव-मानव आदि योनियोंमेंसे नवीनागण व्रजमें आकर जन्म लेती हैं और क्रमशः प्राचीना होकर पूर्वोक्त रूपमें सालोक्य प्राप्त करती हैं।

विजय—मैं साधनपराके सम्बन्धमें समझ गया। अब देवियोंके सम्बन्धमें बतलानेकी कृपा करें।

गोस्वामी—जब कृष्ण स्वर्गमें अपने अंशसे देवयोनिमें अवतरण करते हैं, तब उनकी परितुष्टिके लिए नित्यकान्ताओंके अंश भी वहाँ देवियोंके रूपमें प्रकट होते हैं। वे देवियाँ ही कृष्णलीलामें गोपकन्याओंके रूपमें जन्म लेकर अपनी अंशिनी नित्यप्रियाओंकी प्राण सखियाँ होती हैं।

विजय—प्रभो! कृष्ण किस समय देवयोनिमें अपने अंशसे जन्म लेते हैं?

गोस्वामी—कृष्ण स्वांश रूपसे अदितिके गर्भमें वामनके रूपमें जन्म लेते हैं और विभिन्नांशसे देवता होते हैं। शिव और ब्रह्माका मातृगर्भसे जन्म नहीं होता है। ब्रह्मा और शिव उन साधारण जीवोंकी श्रेणीमें नहीं हैं, जिनमें पचास गुण बिन्दु-बिन्दु रूपमें होते हैं, फिर भी वे विभिन्नांश ही हैं। वे पचास गुण ब्रह्मा और शिवमें कुछ अधिक परिमाणमें तो होते ही हैं, अधिकन्तु उनमें आंशिक रूपमें पाँच गुण और होते हैं, जो साधारण जीवमें

नहीं पाये जाते हैं। इसीलिए इन दोनोंको प्रधान देवता कहा जाता है। गणेश और सूर्य भी उसी प्रकार होनेके कारण ब्रह्मकोटिमें उपासित होते हैं। दूसरे समस्त देवगण जीवकी श्रेणीमें हैं। सभी देवता कृष्णके विभिन्नांश हैं। उनकी स्त्रियाँ—देवियाँ भी चित्-शक्तिकी विभिन्नांश हैं। ब्रह्माने उन देवियोंको कृष्णके आविर्भावसे पूर्व ही कृष्णकी परितुष्टिके लिए जन्म लेनेके लिए आज्ञा दी थी। उनकी आज्ञानुसार अपनी रुचि और साधनके भेदसे उनमेंसे कुछ ब्रजमें और कुछ पुरमें (द्वारकामें) जन्म लेती हैं। व्रजमें जन्मी हुई देवियाँ ही कृष्ण प्राप्तिकी उत्कण्ठा हेतु नित्यप्रियाओंकी प्राणसखियाँ होती हैं।

विजय—प्रभो! उपनिषदोंने तो गोपी जन्म प्राप्त किया था, परन्तु कृपया यह बतलाइये कि क्या वेदकी कोई दूसरी अधिष्ठात्री देवी भी व्रजमें जन्म ग्रहण करती हैं?

गोस्वामी—पद्मपुराणके सृष्टि खण्डमें ऐसा लिखा है कि वेदमाता गायत्रीने भी गोपी जन्म लेकर श्रीकृष्णका सङ्ग प्राप्त किया था। उसी समयसे उन्होंने कामगायत्रीका रूप धारण कर लिया है।

विजय—क्या कामगायत्री अनादि नहीं हैं?

गोस्वामी—कामगायत्री निश्चय ही अनादि हैं। वे अनादि गायत्री पहले वेदमाता गायत्रीके रूपमें प्रकट थीं। बादमें साधनके प्रभावसे तथा अन्यान्य उपनिषदोंका सौभाग्य देखकर गोपालोपनिषदके साथ व्रजमें जन्म लिया। कामगायत्रीके रूपमें नित्य होकर भी वेदमाता गायत्रीके रूपमें नित्य पृथक् विराजमान हैं।

विजय—उपनिषद् आदि सबने व्रजमें जन्म लेकर अपनेमें गोपकन्याका अभिमान किया और कृष्णको गोपनायकके अभिमानसे अपना पति वरण किया है। कृष्ण गान्धर्व—विवाहकी रीतिसे उनके तात्कालिक पति हुए—इस बातको भी समझ गया, परन्तु कृष्णकी नित्य प्रियागण अनादि कालसे ही कृष्णकी सङ्गिनी हैं, फिर कृष्ण उनके जो उपपति होते हैं, वह सम्बन्ध क्या केवल मायाकल्पित ही होता है?

गोस्वामी—एक प्रकारसे मायाकल्पित ही है, परन्तु जड़मायाकल्पित नहीं है। जड़माया कृष्णलीलाका स्पर्श नहीं कर सकती है। व्रजलीला प्रपञ्चके भीतर होनेपर भी वह सम्पूर्ण रूपसे जड़मायातीत है। चित्-शक्तिका दूसरा नाम—योगमाया है। वे योगमाया ही कृष्णलीलामें एक ऐसा व्यापार प्रकट करती हैं कि जड़मायाग्रस्त द्रष्टा कृष्णलीलाको दूसरे रूपमें दर्शन करता है। वे ही गोलोक स्थित परोढ़ा अभिमानको नित्य प्रियागणके साथ-साथ व्रजमें लाकर उसे पृथक् सत्त्वका रूप देती हैं। फिर उन सत्त्वों (गोलोकके अभिमानसमूह जो अभिमन्यु आदिके रूपमें ब्रजमें स्थूल मूर्त्तिमें प्रकटित हैं) के साथ नित्य प्रियाओं का विवाह सम्पन्न कराकर कृष्णको उपपति बनाती हैं। सर्वज्ञ पुरुष और सर्वज्ञ शक्तियाँ अपने-अपने रसके आवेशमें उक्त भावोंको सवीकार करती हैं। इससे रसका उत्कर्ष और स्वेच्छामयकी इच्छाशक्तिकी परमोत्कर्षता लक्षित होती है, वैकुण्ठ और द्वारकामें वैसा उत्कर्ष नहीं है। प्राणसखियोंके नित्यप्रियाओंके साथ सालोक्य प्राप्त होनेपर उनका कृष्णके प्रति संकुचित पतिभाव उदार होकर उपपतिभाव हो जाता है। वही उनका परम लाभ है।

विजय—बड़ा ही अपूर्व सिद्धान्त है। हृदय शीतल हो गया। अब कृपाकर नित्य प्रियाओंके सम्बन्धमें बतलाया जाये।

गोस्वामी—तुम्हारे जैसा अधिकारी श्रोता नहीं मिलनेपर क्या श्रीगौरचन्द्र मेरे मुखसे इतना

गूढ़ तत्त्व प्रकाशित कर सकते थे। देखो, सर्वज्ञ श्रीजीवगोस्वामीने इस विषयमें स्थान-स्थानपर बड़े रहस्यपूर्ण ढङ्गसे विचार किया है। उनकी टीकाओंको तथा कृष्णसन्दर्भ आदि ग्रन्थोंको पढ़नेसे जान सकते हो। अनधिकारी व्यक्ति इन परम गूढ़तम तत्त्वोंको जानकर पीछेसे विकृत धर्मका आश्रय न कर ले, इस भयसे श्रीजीव गोस्वामी सब समय चिन्तित रहते थे। आजकल रसविकृति और रसाभास आदि दोषसमूह जिसे वैष्णवप्राय लोगोंमें देख रहे हैं, उसकी श्रीजीव गोस्वामीने उसी समय आशङ्का की थी। इतना सावधान होनेपर भी वे उस अनिष्टसे रक्षा नहीं कर सके। तुम इस सिद्धान्तको उपयुक्त पात्रके अतिरिक्त दूसरोंके सामने मत कहना। अब नित्य प्रियाओंके सम्बन्धमें बतला रहा हूँ।

विजय—नित्यप्रिया कौन हैं? यद्यपि मैंने अनेक शास्त्रोंका अध्ययन किया है, फिर भी श्रीगुरुदेवके मुखारविन्दसे ही इस सुधाका पान करना चाहता हूँ।

गोस्वामी—नित्य प्रियागण व्रजमें कृष्णकी तरह सौन्दर्य विदग्ध आदि गुणोंका आश्रय होती हैं। इनमें राधा और चन्द्रावली मुख्य हैं। ब्रह्मसंहितामें इनके सम्बन्धमें लिखा है—

आनन्दचिन्मयरसप्रतिभावितिाभिस्ताभिर्य एव निजरूपतयाकलाभिः।
गोलोक एव निवसत्यखिलात्मभूतो गोविन्दमादि पुरुषं तमहं भजामि॥

(ब्र० सं० ५/३७)

सच्चिदानन्दरूप परतत्त्वका आनन्दांश जब चित्-अंशको क्षोभित करता है तब उससे पृथक् हुई ह्लादिनी प्रतिभा द्वारा भावित होकर श्रीमती राधिका आदि जो समस्त ललनाएँ प्रकट होती हैं, उनके साथ एवं अपने रूप अर्थात् चित्-स्वरूप द्वारा सिद्ध चौंसठ कलाएँ, सबके साथ अखिलात्मभूत होकर भी जो नित्य गोलोकधाममें निवास करते हैं, उन गोविन्दका भजन करता हूँ। वेदके सार स्वरूप इस ब्रह्मवाक्यमें नित्य प्रियाओंका उल्लेख मात्र हैं। वे नित्य हैं अर्थात् देश और कालसे अतीत चित्-शक्तिके प्रकाश हैं—यह सत्य है। चौंसठ कलाएँ ही उनकी नित्यलीला हैं। "कलाभिः स्वांशरूपाभिः शक्तिभिः" इस टीका द्वारा दूसरे प्रकारका अर्थ होनेपर भी मैंने श्रीस्वरूप दामोदर गोस्वामीकृत अर्थको ही बतलाया है। यही उनका नितान्त गूढ़ार्थ है और श्रीरूप-सनातन तथा श्रीजीवके हृदय-सम्पुटमें छिपा हुआ गुप्त धन है।

विजय—नित्य प्रियाओंके नामोंको पृथक्-पृथक् सुननेकी बड़ी उत्कण्ठा हो रही है।

गोस्वामी—स्कन्दपुराण तथा प्रह्लादसंहिता आदि शास्त्रोंमें राधा, चन्द्रावली, विशाखा, ललिता, श्यामा, पद्मा, शैब्या, भद्रिका, तारा, विचित्रा, गोपाली, धनिष्ठा, पाली आदिके नामोंका उल्लेख है। चन्द्रावलीका दूसरा नाम सोमाता है तथा श्रीमती राधिकाका दूसरा नाम गान्धर्वा है। खंजनाक्षी, मनोरमा, मङ्गला, विमला, लीला, कृष्णा, शारी, विशारदा, तारावली, चकोराक्षी, शंकरी और कुंकुम आदि व्रजांगनाएँ भी लोकप्रसिद्ध हैं।

विजय—इनका परस्पर क्या सम्बन्ध है?

गोस्वामी—ये गोपियाँ यूथेश्वरी हैं। यूथ एक-दो नहीं सैकड़ों हैं। इन यूथोंमें विभक्त वराङ्गनाओंकी संख्या भी लाखों है। श्रीमती राधासे लेकर कुंकुमा तक सब की सब यूथाधिपति कहलाती हैं। विशाखा, ललिता, पद्मा और शैव्याका प्रोद्य भावसे वर्णन किया गया है। इन यूथेश्वरियोंमें राधा आदि आठ गोपियाँ अधिक सौभाग्यवती होनेके कारण 'प्रधाना' कही गयी हैं।

विजय—विशाखा, ललिता, पद्मा और शैव्या—ये प्रधानगोपियाँ हैं और कृष्णकी लीलापुष्टिमें विशेष पटु हैं, इन्हें स्पष्ट रूपसे यूथेश्वरी क्यों नहीं कहा गया है?

गोस्वामी—ये जैसी गुणवती हैं, इन्हें यूथेश्वरी कहना ही उचित था, परन्तु श्रीमती राधिकाके परमानन्दमय भावके प्रति ललिता और विशाखा इतनी मुग्ध रहती हैं कि वे अपनेको स्वतन्त्र यूथेश्वरी कहलाना नहीं चाहती। इनमें कोई-कोई श्रीमती राधाके अनुगत होती हैं और कोई-कोई चन्द्रावलीके।

विजय—मैंने सुना है कि ललिताका गण है, वह किस प्रकारका है?

गोस्वामी—श्रीमती राधाजी समस्त यूथेश्वरियोंमें प्रधान हैं। उनके अधीन यूथोंकी कुछ गोपियाँ श्रीललिताजीके किसी विशेष भावके प्रति आकृष्ट होकर अपनेको ललिताका गण कहती हैं और उसी प्रकार कुछ गोपियाँ अपनेको विशाखा आदिका गण बतलाती हैं। ललिता, विशाखा आदि अष्ट सखियाँ श्रीमती राधिकाकी अलग-अलग गणनायिकाएँ हैं। बड़े भाग्यसे श्रीमती ललिताके गणोंमें प्रवेशाधिकार प्राप्त होता है।

विजय—इन गोपियोंके नाम किन-किन शास्त्रोंमें पाये जाते हैं?

गोस्वामी—पद्मपुराण, स्कन्दपुराण, भविष्योत्तर आदि शास्त्रोंमें इनके नाम पाये जाते हैं। सात्त्वततन्त्रमें भी अनेक नाम पाये जाते हैं।

विजय—'श्रीमद्भागवत' जगत् में शास्त्र-शिरोमणि हैं। यदि श्रीमद्भागवतमें इनके नामोंका उल्लेख होता तो बड़े आनन्दकी बात होती।

गोस्वामी—श्रीमद्भागवत तत्त्वशास्त्र होनेपर भी रसके समुद्र हैं। रसिक लोगोंकी विचार-दृष्टिसे श्रीमद्भागवतमें रसतत्त्वका सम्पूर्ण विचार गागरमें सागरकी भाँति भरा हुआ है। इसमें श्रीराधाके नाम और समस्त गोपियोंके भाव तथा परिचयका वर्णन बड़े ही गूढ़ रूपसे किया गया है। यदि तुम दशमस्कन्धके पद्योंका भलीभाँति विचार करो, तो उसमें सब कुछ पा सकते हो। श्रीशुकदेव गोस्वामीने अनधिकारी व्यक्तियोंको दूर रखनेके लिए गूढ़ रूपसे इस विषयका वर्णन किया है। विजय! एक नामकी माला और दो-चार सजी-सजायी बातें जिस किसीको देनेका क्या फल है? पाठक जितने उन्नत विचारका होता है, वह उतनी ही गूढ़ बातोंको समझ सकता है। अतएव जो विषय सबके सामने प्रकट करने योग्य नहीं हो उसे गूढ़ रूपसे प्रकट करना ही पाण्डित्य है। अधिकारी व्यक्ति अपने अधिकारके अनुसार उतनेसे ही उसे पूर्ण रूपमें ग्रहण कर लेता है। श्रीगुरुपरम्पराके बिना वस्तुतत्त्वका ज्ञान नहीं होता। किसी प्रकार उसे जान लेनेपर भी उससे कोई कार्य नहीं होता। उज्ज्वलनीलमणिको भलीभाँति समझ लेनेपर श्रीमद्भागवतमें ही सम्पूर्ण रसको पा सकते हो।

इस प्रकार बहुत देर तक जिज्ञासा और उत्तरके पश्चात् उस दिनकी इष्टगोष्ठी समाप्त हुई। विजय श्रवण किये हुए विषयका चिन्तन करते-करते वासस्थानको लौटे। नायक-नायिका सम्बन्धी विचारसमूह उनके मानस क्षेत्रमें उदित होकर उन्हें परमानन्दमें विभोर कर रहा था। वंशी और स्वयं दूतीकी बात स्मरणकर उनके नेत्रोंसे आँसुओंकी धारा प्रवाहित हो रही थी। पिछली रातको सुन्दराचल जाते-जाते उन्होंने उपवनमें जो लीला देखी थी, वह लीला इस समय उनके चित्तपटलपर स्पष्ट रूपसे उदित हो चुकी थी।

॥बत्तीसवाँ अध्याय समाप्त॥

तैंतीसवाँ अध्याय
मधुररस–विचार

आज विजयकुमार और ब्रजनाथने इन्द्रद्युम्न सरोवरमें स्नानकर घर लौटकर साथ ही प्रसाद पाया। भोजनके पश्चात् ब्रजनाथ श्रीहरिदास ठाकुरकी समाधिका दर्शन करने चले गये। विजयकुमार श्रीराधाकान्त मठमें श्रीगुरुदेवके चरणोंमें उपस्थित हुए और समय देखकर उनसे श्रीमती राधाकी कथा जिज्ञासा की। विजयने पूछा—प्रभो! श्रीवृषभानुनन्दिनी ही हम सबकी प्राण स्वरूपा हैं। कह नहीं सकता, न जाने क्यों श्रीराधिका नाम सुननेसे मेरा हृदय द्रवित हो जाता है। यद्यपि श्रीकृष्ण ही हमारे एकमात्र गति हैं तथापि श्रीराधिकाके साथ उनका जो लीला–विलास होता है, उसीका आस्वादन करना मुझे अच्छा लगता है। जिस कृष्ण—कथामें श्रीमती राधिकाका नाम नहीं होता, राधिकाजीकी लीलाकथा नहीं होती, उस कथाको सुननेको जी नहीं चाहता। प्रभो! क्या कहूँ, मुझे विजयकुमार भट्टाचार्यके नामसे अपना परिचय देना अब तनिक भी अच्छा नहीं लगता। मुझे तो अपनेको श्रीराधिकाकी पाल्यदासी बतलानेमें ही आनन्द आता है। एक और विचित्र बात यह है अब मुझे कृष्ण–बहिर्मुख लोगोंके निकट व्रजकी लीलाकथा बोलनेकी इच्छा नहीं होती। अरसिक मनुष्य जहाँ श्रीराधाकृष्णका माहात्म्य वर्णन करते हैं, उस समाजसे उठकर चले जानेकी इच्छा होती है।

गोस्वामी—तुम धन्य हो! अपनेको जब तक सम्पूर्ण रूपसे व्रजरमणी होनेका विश्वास नहीं हो जाता, तब तक श्रीराधाकृष्णके लीला–विलासकी कथाओंमें अधिकार नहीं होता है। पुरुषोंकी तो बात ही क्या, किसी देवीका भी श्रीराधाकृष्णकी कथाओंमें अधिकार नहीं है। विजय! मैंने तुम्हारे निकट जिन कृष्णकी प्रियाओंके सम्बन्धमें चर्चा की है, उनमें राधा और चन्द्रावली सबसे प्रधान हैं। उन दोनोंकी करोड़ोंकी संख्यामें नवयुवतियोंकी यूथें हैं। महारासके समय सैकड़ों–करोड़ों ललनाओंने रासमण्डलमें योगदानकर रासमण्डलकी शोभा बढ़ायी थी।

विजय—प्रभो! चन्द्रावलीकी करोड़ों यूथें हैं, वे रहें, मुझे तो आप कृपाकर श्रीमती राधाका माहात्म्य श्रवण कराकर मेरे दूषित कर्णको शोधित और रससे पूर्ण करें। मैं आपकी शरणमें आया हूँ।

गोस्वामी—अहा विजय, राधा और चन्द्रावलीमें श्रीराधाजी महाभावस्वरूपा हैं, अतएव वे सब गुणोंमें और सब विषयोंमें चन्द्रावलीसे बढ़–चढ़कर हैं। देखो, तापनी श्रुतियोंमें वे 'गान्धर्वा' कही गयी हैं। ऋक्‌के परिशिष्टमें राधाके साथ माधवकी अतिशय उज्ज्वलताका वर्णन है। पद्मपुराणमें भी नारदजी कहते हैं—श्रीमती राधा जिस प्रकार कृष्णको बड़ी प्यारी हैं, उनका कुण्ड भी कृष्णको उतना ही प्यारा है। सारी गोपियोंसे बढ़कर श्रीराधारानी कृष्णको अधिक प्रिय हैं। क्यों न हों? राधातत्त्व क्या ही अपूर्व चमत्कार पूर्ण तत्त्व है? भगवान्‌की समस्त प्रकारकी शक्तियोंमें 'ह्लादिनी' नामक जो सर्वश्रेष्ठ महाशक्ति है, राधिका उस ह्लादिनीकी भी सार–स्वरूप महाभावस्वरूपा हैं।

विजय—अपूर्व तत्त्व! अब राधाका स्वरूप बतलाइये।

गोस्वामी—श्रीमती सर्वदा सुष्ठुकान्त स्वरूपा, सोलह श‍ृङ्गार धारण करनेवाली और बारह आभरणोंसे विभूषित हैं अर्थात्—राधाजी सोलह श‍ृङ्गार और द्वादश आभूषणोंकी शोभासे सुशोभित परम सुन्दरी हैं।

विजय—सुष्ठुकान्तस्वरूपा किसे कहते हैं?

गोस्वामी—स्वरूपकी सुन्दरता इतनी अधिक होती है कि उस सुन्दरतामें शृङ्गार अलङ्कारोंकी आवश्यकता नहीं होती। संकुचित केश—कलाप, चञ्चल वदनकमल, बड़ी-बड़ी आँखें और वक्षदेशपर सुन्दर कुचद्वय अपूर्व शोभाका विस्तार करते हैं। पतली कमर, कुछ झुके हुए दोनों सुन्दर कन्धे और नखरूपी रत्नोंसे सुशोभित करपल्लव स्वरूपकी सुन्दरतामें चार चाँद लगा रहे हैं। त्रिजगत्‌में इस रूपकी कहीं भी तुलना नहीं है।

विजय—सोलह शृङ्गार कौन-कौनसे हैं?

गोस्वामी—स्नान, नासिकाके अग्रभागमें मणिकी उज्ज्वलता, नील वसन धारण, कटिप्रदेशमें नीवी, वेणी, कानोंमें उत्तंस, अङ्गोंमें चन्दन-लेपन, केशमें पुष्पविन्यास, गलेमें माला, हाथोंमें लीलाकमल, मुखमें ताम्बूल, चिबुकमें कस्तूरीबिन्दु, नेत्रोंमें काजल, गुलाबी गालोंपर मृगमद द्वारा रचित चित्र, चरणोंमें अलक्त और ललाटपर तिलक—ये सोलह शृङ्गार हैं। श्रीमती राधिका इन सोलह शृङ्गारोंसे सर्वदा सुशोभित रहती हैं।

विजय—बारह आभरण कौन-कौनसे हैं?

गोस्वामी—चूड़ामें पिरोई हुई अपूर्व उज्ज्वल मणि (शीषफूल), कानोंमें स्वर्णकुण्डल, नितम्बके ऊपर स्वर्ण निर्मित करधनी, गलेमें सोनेका हार, कानोंमें वल्लियाँ और स्वर्ण-शलाका, हाथोंमें कङ्कण, कण्ठमें कण्ठभूषा, अँगुलियोंमें अंगूठियाँ, गलेमें ताराहार, भुजाओंमें बाजूबन्द, चरणोंमें रत्नोंके नूपुर और पैरकी अँगुलियोंमें बिछिया—ये द्वादश आभरण श्रीराधाके अङ्गोंपर सुशोभित रहते हैं।

विजय—श्रीराधाके प्रमुख गुणोंको बतलानेकी कृपा करें।

गोस्वामी—श्रीकृष्णकी तरह श्रीमती राधाके भी असंख्य गुण हैं। इनमें २५ गुण मुख्य हैं—

(१) वे मधुरा अर्थात् देखनेमें अनुपम सुन्दरी हैं।
(२) नवयुवती अर्थात् किशोर वयसवाली हैं।
(३) चञ्चल दृष्टि या चञ्चल कटाक्षवाली हैं।
(४) उज्ज्वल मृदुमधुर हास्यकारिणी हैं।
(५) सुन्दर सौभाग्यको सूचित करनेवाली रेखाओंसे युक्त हैं।
(६) अपने अङ्ग-गन्धसे कृष्णको भी उन्मत्त करनेवाली हैं।
(७) सङ्गीतविद्यामें पारदर्शिनी हैं।
(८) रम्यवाक् अर्थात् मधुरवाणी बोलनेवाली हैं
(९) नर्मपण्डिता अर्थात् परिहास करनेमें पटु हैं।
(१०) विनीता हैं।
(११) करुणापूर्ण अर्थात् दयालु हैं।
(१२) विदग्धा अर्थात् चतुरा हैं।
(१३) सब कार्योंमें चातुरीयुक्ता हैं।
(१४) लज्जाशीला हैं।
(१५) सुमर्यादा अर्थात् साधु मार्गपर अटल रहनेवाली हैं।
(१६) धैर्यशालिनी हैं।
(१७) गम्भीर हैं।

(१८) सुविलासा अर्थात् सुविलास प्रिय हैं।

(१९) महाभावके परमोत्कर्षको प्रकट करनेमें परम व्यग्रा हैं।

(२०) गोकुल-प्रेमवसति अर्थात् उन्हें देखते ही गोकुलवासियोंके हृदयमें प्रेम उमड़ पड़ता है।

(२१) अखिल ब्रह्माण्डमें उनकी कीर्त्ति व्याप्त है।

(२२) गुरुजनोंके स्नेहकी पात्री हैं।

(२३) सखियोंके प्रणयके अधीन होती हैं।

(२४) कृष्णकी सब सखियोंमें प्रधाना हैं।

(२५) केशव सर्वदा उनकी आज्ञाके अधीन रहते हैं।

विजय—चारुसौभाग्य रेखाओंको विस्तारसे जानना चाहता हूँ।

गोस्वामी—वराहसंहिता, ज्योतिषशास्त्र, काशीखण्ड और मत्स्य, गरुड़ादि पुराणोंके अनुसार सौभाग्यकी ये रेखाएँ हैं—

(१) वाम चरणके अँगूठेके मूलमें जौ-रेखा, (२) उसके नीचे चक्र, (३) मध्यमाके नीचे कमल, (४) कमलके नीचे ध्वजा, (५) वहीं पताका, (६) मध्यमाके दक्षिणसे चलकर मध्यचरण तक ऊर्ध्वरेखा, (७) कनिष्ठाके नीचे अंकुश।

पुनः (१) दक्षिण चरणके अँगूठेके मूलमें शंख, (२) ऐड़ीमें मछली, (३) कनिष्ठाके नीचे वेदी, (४) मछलीके ऊपर रथ, (५) पर्वत, (६) कुण्डल, (७) गदा, (८) शक्तिचिह्न।

बाँये हाथमें—(१) तर्जनी और मध्यमाके सन्धिस्थानसे कनिष्ठके नीचे तक परमायु रेखा, (२) उसके नीचे हाथसे आरम्भकर तर्जनी और अँगूठेके मध्यदेशमें दूसरी रेखा, (३) अँगूठेके नीचे मणिबन्धसे चलकर वक्रगतिसे मध्यरेखासे मिलकर तर्जनी और अँगूठेके मध्यभागकी अन्य रेखा अँगुलियोंके अगले भागमें नन्द्यावर्तरूप अर्थात् पाँच वक्रकार चिन्ह, कुल मिलाकर आठ हुए, (९) अनामिकाके नीचे कुञ्जर, (१०) परमायु रेखाके नीचे बाजी, (११) मध्यरेखाके नीचे वृष, (१२) कनिष्ठाके नीचे अंकुश, (१३) पंखा, (१४) श्रीवृक्ष, (१५) यूप, (१६) बाण, (१७) तोमर, (१८) माला।

दाहिने हाथमें बाँये हाथकी तरह परमायु आदि तीन रेखायें, अँगुलियोंके अगले भागमें पाँच शंख, कुल मिलाकर आठ, (९) तर्जनीके नीचे चामर, (१०) कनिष्ठाके नीचे अंकुश, (११) प्रासाद, (१२) दुन्दुभी, (१३) वज्र, (१४) दो शकट, (१५) धनुष, (१६) तलवार, (१७) भृङ्गार (पानी पीनेका पात्र)।

बायें पैरमें सात, दायें पैरमें आठ, बायें हाथमें अट्ठारह और दायें हाथमें सत्रह, कुल मिलाकर पचास चिह्न सौभाग्य रेखाके हैं।

विजय—क्या ये गुण दूसरोंमें सम्भव नहीं हैं

गोस्वामी—जीवमें ये गुण बिन्दु-बिन्दु रूपमें हैं। श्रीराधिकामें ये गुणसमूह पूर्ण रूपमें हैं। देवियोंमें अन्य जीवोंसे कुछ अधिक परिमाणमें होते हैं। श्रीराधिकाके सारे गुण अप्राकृत होते हैं, क्योंकि प्राकृत जगत्में किसीमें भी ये गुणसमूह विशुद्ध और पूर्ण रूपमें नहीं हैं। गौरी आदिमें भी इन गुणोंकी स्थिति शुद्ध और पूर्ण रूपमें नहीं होती।

विजय—अहा! श्रीमती राधिकाके गुण अचिन्त्य हैं। उनकी कृपासे ही उन गुणोंका

अनुभव किया जा सकता है।

गोस्वामी—उनके गुणोंकी महिमा क्या कहूँ, स्वयं कृष्ण भी जिस रूप और गुणको देखकर सर्वदा मोहित रहते हैं, उसकी तुलना कहाँ है?

विजय—प्रभो! कृपया अब श्रीमती राधिकाकी सखियोंके सम्बन्धमें बतलावें।

गोस्वामी—श्रीमती राधिकाका यूथ ही सर्वश्रेष्ठ है। उस यूथकी सारी ललनाएँ समस्त सद्गुणोंसे विभूषित होती हैं। वे अपने गुणोंसे—विलासविभ्रमसे साक्षात् कृष्णको भी आकर्षित करती हैं।

विजय—श्रीमती राधाकी सखियाँ कितने प्रकारकी हैं:

गोस्वामी—पाँच प्रकारकी होती हैं—(१) सखी, (२) नित्यसखी, (३) प्राणसखी, (४) प्रियसखी, (५) परमप्रेष्ठसखी।

विजय—सखी कौन हैं?

गोस्वामी—कुसुमिका, वृन्दा, धनिष्ठा—ये सखी हैं।

विजय—नित्यसखी कौन हैं?

गोस्वामी—कस्तूरी, मणिमञ्जरी आदि नित्यसखी हैं।

विजय—प्राणसखी कौन-कौन हैं?

गोस्वामी—शशिमुखी, वासन्ती, लासिका आदि प्राणसखी हैं। ये प्रायः वृन्दावनेश्वरीकी स्वरूपता प्राप्त हैं।

विजय—प्रियसखी कौन हैं?

गोस्वामी—कुरङ्गाक्षी, सुमध्या, मदनालसा, कमला, माधुरी, मुञ्जकेशी, कन्दर्पसुन्दरी, माधवी, मालती, कामलता, शशिकला आदि प्रियसखी हैं।

विजय—परमप्रेष्ठसखी कौन-कौन हैं?

गोस्वामी—ललिता, विशाखा, चित्रा, चम्पकलता, तुङ्गविद्या, इन्दुलेखा, रङ्गदेवी, सुदेवी—ये आठ प्रधाना और परमप्रेष्ठसखी हैं, ये राधाकृष्णके प्रेमकी पराकाष्ठायुक्त होती हैं। कभी कृष्णके प्रति और कभी राधाके प्रति अधिक प्रेम प्रदर्शनकर राधाकृष्णको सन्तुष्ट करती हैं।

विजय—यूथको समझ गया। अब गणके सम्बन्धमें बतलाइये। गोस्वामी—प्रत्येक यूथमें पुनः कई विभाग होते हैं, इन विभागोंको गण कहते हैं। जैसे—श्रीमतीके यूथमें ललिताकी अनुगत सखियाँ ललिताके गण हैं।

विजय—व्रजाङ्गनाओंका परोढ़ाभाव एक महत् गुण है, परन्तु यह परोढ़ा भाव किस स्थानपर इष्ट बाधक नहीं होता?

गोस्वामी—इस जड़जगत् में जो स्त्रीत्व और पुरुषत्व है, वह औपाधिक होता है। मायिक कर्मफलके अनुसार कोई अभी स्त्री है, कोई पुरुष है। मायामें अनेक अधर्म और तुच्छ स्पृहाएँ होती हैं। इसलिए ऋषियोंने शास्त्र-विधिसे विवाहित स्त्रीको छोड़कर दूसरी स्त्रियोंका सङ्ग करनेके लिए निषेध किया है। इसको धर्मसङ्गत समझानेके लिए कवियोंने जड़ालङ्कारमें परोढ़ाको छोड़ दिया है। चिद्विलास रस ही नित्यरस है। उस नित्यरसका हेय-प्रतिफलन ही मायिक स्त्री-पुरुषगत शृङ्गाररस है। अतएव जड़ीय शृङ्गाररस अत्यन्त सीमित और विधिके अधीन होता है। इसीलिए प्राकृत क्षुद्र नायिकाके सम्बन्धमें परोढ़ा-भावको छोड़ दिया गया है। परन्तु जहाँ सच्चिदानन्द श्रीकृष्ण ही एकमात्र पुरुष अर्थात् नायक हैं, वहाँ

रस–पुष्टिके लिए जो परोढ़ा मिलन होता है, वह निन्दाका विषय नहीं होता। इस तत्त्वमें अत्यन्त क्षुद्र मायिक उपाधिस्वरूप विवाह विधिका स्थान नहीं है। वे गोलोकविहारी जब अपने परम पारकीय रसको प्रपञ्चमें गोकुलके साथ प्रकाशित करते हैं, तब गोकुलकी ललनाओंके विषयमें जड़ अलङ्कारगत परोढ़ानिन्दा लागू नहीं होती।

विजय—गोकुलकी ललनाओंमें जो कृष्णप्रेम होता है, उसमें उत्कृष्ट चिह्न कौन–कौनसे प्रकाशित होते हैं?

गोस्वामी—गोकुलकी ललनाओंका कृष्णमें केवल नन्दनन्दनत्व ही स्फुरण होता है अर्थात् वे कृष्णको केवल नन्दनन्दनके रूपमें ही ग्रहण करती हैं। उस निष्ठासे जो सब भाव एवं मुद्राएँ उदित होती हैं वे अभक्त तार्किक लोगोंकी तो बात ही क्या, भक्तोंके लिए भी दुर्गम होती हैं। नन्दनन्दनमें ऐश्वर्यभावका अभाव नहीं होता, परन्तु माधुर्यकी अधिकताके कारण प्रायः छिपा हुआ रहता है। जिस समय परिहास करते हुए कृष्णने विरह–व्याकुला गोपियोंके सामने अपने द्विभुज रूपको छिपाकर चतुर्भुज रूपको प्रकाश किया, तब गोपियोंने उस चतुर्भुज रूपका आदर नहीं किया। फिर वह चतुर्भुज रूप श्रीराधिकाजीके सामने आते ही लुप्त हो गया और द्विभुजरूप प्रकट हो गया। यह सब श्रीराधाके निगूढ़ पारकीय रसभावका ही फल है।

विजय—धन्य हुआ। प्रभो! अब नायिकाका भेद बतलाइये।

गोस्वामी—नायिका तीन प्रकारकी हैं—स्वकीया, परकीया और सामान्या। चित्–रसकी स्वकीया और परकीयाके सम्बन्धमें पहले बतला चुका हूँ। इस समय सामान्याके सम्बन्धमें बतला रहा हूँ। जड़ालङ्कारिक पण्डितोंने निश्चय किया है कि सामान्या नायिका वेश्या होती हैं, वे केवल अर्थलोभी होती हैं। गुणहीन नायकसे द्वेष और गुणी नायकसे वे प्रेम नहीं करतीं, उन्हें अर्थ प्रिय होता है। अतएव उनका शृङ्गार केवलमात्र शृङ्गारका आभास होता है —वास्तविक शृङ्गार नहीं होता। किन्तु मथुराकी सैरिन्ध्री कुब्जा सामान्या नायिका होनेके कारण उसमें कृष्ण सम्बन्धी शृङ्गाररसका अभाव होनेपर भी किसी प्रकार भावयोग्यता होनेसे उसे हम पारकीयाके अन्तर्गत ही मानते हैं।

विजय—वह भावयोग्यता क्या है?

गोस्वामी—कुब्जा जब तक कुरूपा थी, तब तक उसकी अन्यत्र कहीं भी रति नहीं थी। कृष्णका रूप दर्शनकर उसके हृदयमें कृष्णके अङ्गोंमें जो चन्दन लगानेकी स्पृहा पैदा हुई, वही उसका प्रियत्व भाव है। इसीसे उसे परकीया कहा जा सकता है। परन्तु पट्ट–महिषियों जैसी कृष्णको सुख प्रदान करनेकी कामना कुब्जामें उदित नहीं हुई थी।

अतएव उसकी रति महिषियोंकी रतिसे न्यून जातीय है, इसीलिए उसने कृष्णके उत्तरीय वस्त्रको खींचते हुए उनसे रतिकी प्रार्थना की थी। प्रियत्व भावके साथ स्वार्थभावनाका सम्मिश्रण रहनेके कारण उसकी रति साधारणी है।

विजय—चित्–रसमें स्वकीया और परकीया नायिका—भेद हुए। अब इनमें और किसी प्रकारका भेद हो तो कृपा करके बतलाइये।

गोस्वामी—चित्–रसमें स्वकीया और परकीया दोनों प्रकारकी नायिकाएँ ही मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा तीन–तीन प्रकारकी हैं।

विजय—प्रभो! आपकी कृपासे अब चित्–रसकी स्फूर्ति होनेपर मुझे ऐसा लगता है कि

आप व्रजाङ्गना हैं, तब मायिक पुरुष भाव न जाने कहाँ चला जाता है, उसका मुझे तनिक भी पता नहीं चलता। अब मुझे नायिकाओंका भाव-भेद जाननेके लिए अत्यन्त उत्सुकता हो ही रही है। क्योंकि रमणी-भाव प्राप्त करके भी उपयुक्त क्रियावान नहीं हो पाता हूँ। अतएव आपमें वही भावना अङ्कित करके कृष्णसेवा करनेके लिए आपके चरणकमलोंमें जिज्ञासा कर रहा हूँ। बतलाइये मुग्धा कौन हैं?

गोस्वामी—मुग्धाका लक्षण यह है—वे नवयौवना, कामिनी, रतिदानमें बामा, सखियोंकी वशीभूता, रतिचेष्टामें अतिशय लज्जायुक्ता, अथच गोपन रूपमें (दूसरोंकी दृष्टिमें छिपकर) सुन्दर रूपमें यत्नशील होती हैं। नायक अपराधी होनेपर वे सजल नयनोंसे नायकको देखती हैं, प्रिय-अप्रिय कुछ भी नहीं बोलतीं, मान भी नहीं करतीं।

विजय—मध्या कैसी होती हैं?

गोस्वामी—मध्याका लक्षण यह है—उनमें मदन और लज्जा दोनों समान रूपसे होते हैं। वे नवयौवना होती हैं, उनकी बोलीमें कुछ-कुछ प्रगल्भता होती है। सुरत क्रियामें (सम्भोगमें) मोह अर्थात् मूर्च्छा तक इन्हें अनुभव होती है, मानके समय कभी मृदु और कभी कर्कशा होती हैं। मानके समय मध्या नायिका तीन प्रकारकी हो सकती हैं—धीरा, अधीरा और धीराधीरा। जो नायिका अपराधी प्रिय नायकके साथ परिहास करती हुई वक्रोक्ति करती हैं, वे धीरा मध्या हैं। जो नायिका क्रोधपूर्वक अपने प्रिय वल्लभको कर्कश वाणियोंसे निषेध करती हैं, वे अधीरा मध्या हैं और जो नायिका अश्रुपूर्ण नयनोंसे प्रिय वल्लभके प्रति वक्रोक्तिका प्रयोग करती हैं, वे धीराधीरा मध्या हैं। मध्या नायिकामें मुग्धा और प्रगल्भाका संमिश्रण रहनेके कारण मध्यामें ही सर्वरसोत्कर्ष लक्षित होता है।

विजय—प्रगल्भाके लक्षण आदि बतलानेकी कृपा करें।

गोस्वामी—जो नायिका पूर्णयौवन, मदान्ध और रतिके विषयमें अत्यन्त उत्सुक होती हैं, वे प्रगल्भा हैं। वे अपने भावोंको प्रचुर रूपमें प्रकट करनेमें पटु होती हैं। वे प्रेमरसके द्वारा प्रियतमको आक्रमण करनेमें समर्थ होती हैं। उनकी उक्तियाँ और चेष्टाएँ अतिशय गम्भीर और प्रौढ़ा होती हैं। मानकी क्रियामें अत्यन्त कर्कशा होती हैं। मानके समय वे तीन प्रकारकी होती हैं—धीरा, अधीरा और धीराधीरा। धीर-प्रगल्भा सम्भोगके विषयमें उदासीन, भावोंको गोपन करनेवाली और आदरकारिणी होती हैं। अधीरा प्रगल्भा निष्ठुर होकर कान्तको धमकाती हुई ताड़न करती हैं—डाँटती-डपटती हैं, दण्ड देती हैं। धीराधीरा प्रगल्भा, धीराधीरा नायिकाकी भाँति गुणशीला होती हैं। ज्येष्ठा और कनिष्ठा भेदसे मध्या और प्रगल्भा दोनों दो-दो प्रकारकी होती हैं—ज्येष्ठमध्या और कनिष्ठमध्या, ज्येष्ठप्रगल्भा और कनिष्ठ प्रगल्भा। नायकके प्रणयके अनुसार ही ज्येष्ठ और कनिष्ठभेद उदित होता है।

विजय—प्रभो! सब मिलाकर कितनी प्रकारकी नायिकाएँ होती हैं।

गोस्वामी—नायिकाएँ पन्द्रह प्रकारकी होती हैं।

कन्या—केवल मुग्धा होती है, अतः वह एक ही प्रकार की होती है। मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा भेदसे नायिका तीन प्रकारकी होती हैं। मध्या और प्रगल्भा पृथक्-पृथक् धीरा, अधीरा और धीराधीरा भेदसे तीन-तीन प्रकारकी होती हैं। कुल सात प्रकारकी स्वकीया नायिका होती हैं। उसी प्रकार परकीया भी सात प्रकारकी हैं। अब कुल मिलाकर ७+७+ १ = १५ प्रकारकी नायिकाएँ होती हैं।

विजय—नायिकाओंकी अवस्थाएँ कितने प्रकारकी होती हैं?

गोस्वामी—अभिसारिका, वासकसज्जा, उत्कण्ठिता, खण्डिता, विप्रलब्धा, कलहान्तरिता, प्रोषितभर्तृका और स्वाधीनभर्तृका—ये आठ अवस्थाएँ हैं। पूर्वोक्त पन्द्रह प्रकारकी नायिकाओंमें ये आठों अवस्थाएँ होती हैं।

विजय—अभिसारिका कौन हैं?

गोस्वामी—जो कान्तको अभिसार कराती हैं तथा स्वयं अभिसार करती हैं, वे अभिसारिका हैं। जो शुक्ल पक्षमें सफेद वस्त्र पहनकर अभिसारके लिए गमन करती हैं—वे ज्योत्स्नाभिसारिका कहलाती हैं एवं जो कृष्णपक्षमें काले रङ्गके कपड़े पहनकर यात्रा करती हैं वे तमोभिसारिका कहलाती हैं। अभिसारमें गमन करनेके समय वह बिलकुल निःशब्द, नखसे शिख तक अलंकृत, लज्जासे मानो अपने अङ्गोंमें समायी हुई तथा एक स्निग्ध सखीके साथ होती है।

विजय—वासकसज्जाके सम्बन्धमें बतलाइये।

गोस्वामी—अपने अवसरके अनुसार कान्त आवेंगे—इस आशासे जो नायिका अपनी देह-सज्जा और गृह-सज्जा प्रस्तुत रखती हैं, वे 'वासकसज्जा' कहलाती हैं। स्मर-क्रीड़ासङ्कल्प, कान्तकी राह देखना, सखीके साथ कान्तकी लीलाकथा श्रवण-कीर्त्तन, बारम्बार दूतीकी प्रतीक्षा करना—यह सब वासकसज्जाकी चेष्टाएँ हैं।

विजय—उत्कण्ठिताके सम्बन्धमें बतलाइये।

गोस्वामी—निरपराध नायकके आनेमें विलम्ब होनेपर जो नायिका अत्यन्त उत्कण्ठित और उत्सुक हो पड़ती है, वह उत्कण्ठिता नायिका कहलाती हैं। हृदयमें ताप, शरीरमें कम्प, मनमें (कान्त क्यों नहीं आये—ऐसा सोचकर) वितर्क, प्रत्येक कार्यमें विरक्ति, वाष्पमोचन एवं अपनी दशाका वर्णन करना—ये सब उत्कण्ठिताकी चेष्टाएँ होती हैं। वासकसज्जाकी दशा भी अन्तमें उत्कण्ठाके रूपमें बदल जाती है, जिस समय वासकसज्जा नायककी नियत समय तक प्रतीक्षा करके भी उन्हें आते न देखकर मान करनेके बदले यह सोचती है कि वे दूसरी नायिकाके वशमें हो गये होंगे। शायद इसीलिए आ नहीं सके। इस दशामें प्रियतमके सङ्गके अभावमें वह अतिशय उत्कण्ठित और उत्सुक हो पड़ती है। तब वह उत्कण्ठिता—नायिका कहलाती है।

विजय—खण्डिता कौन हैं?

गोस्वामी—नियत समयके बीत जानेपर रातके अन्तिम प्रहरमें जिस समय नायक दूसरी नायिकाके भोगचिह्नोंको धारणकर उपस्थित होता है, उस समय जो नायिका क्रोधके मारे दीर्घनिःश्वास लेती है और नायकसे कुछ भी नहीं बोलती है तथा उसकी तरफसे मुख फेर लेती है, वह खण्डिता-नायिका कहलाती है।

विजय—विप्रलब्धा कौन हैं?

गोस्वामी—आनेका सङ्केत करके भी दैवयोगसे जब प्राणवल्लभ नहीं आ पाते, तब नायिका विरह व्यथासे व्याकुल हो पड़ती है—ऐसी नायिकाको विप्रलब्धा-नायिका कहते हैं। निर्वेद, चिन्ता, खेद, अश्रु, मूर्च्छा, दीर्घनिःश्वास आदि अनेक प्रकारकी उनकी चेष्टाएँ हुआ करती हैं।

विजय—कलहान्तरिता कौन हैं?

गोस्वामी—सखियोंके सामने अपने पैरोंपर पड़ते हुए प्राणवल्लभको देखकर भी जो नायिका उन्हें बुरा-भला कहती है तथा निषेध करती है, उसे कलहान्तरिता नायिका कहते हैं। उसमें प्रलाप, सन्ताप, ग्लानि, दीर्घनिःश्वास आदि चेष्टायें लक्षित होनेके कारण उसे कलहान्तरिता कहा जाता है।

विजय—प्रोषितभर्तृका कौन हैं?

गोस्वामी—कान्तके दूर देशमें चले जानेपर नायिका प्रोषितभर्तृका कहलाती है। प्रियतमका गुणगान, दैन्य, कृशता, जागरण, मलीनता, जड़ता और चिन्ता आदि उनकी अनेक प्रकारकी चेष्टाएँ होती हैं।

विजय—स्वाधीनभर्तृका कौन हैं?

गोस्वामी—प्रियतम जिनके अधीन होकर सर्वदा उनके निकट रहते हैं, उन्हें स्वाधीनभर्तृका कहते हैं। वनलीला, जलक्रीड़ा, पुष्पचयन आदि उनकी विविध प्रकारकी चेष्टाएँ होती हैं।

विजय—तब तो स्वाधीनभर्तृकाकी दशा बड़ी ही आनन्दजनक होती है।

गोस्वामी—जिस स्वाधीनभर्तृका नायिकाके प्रेमके वशमें होकर नायक एक क्षणके लिए भी उसे त्याग करनेमें समर्थ नहीं होता, उस स्वाधीनभर्तृका नायिकाको 'माधवी' कहा जाता है। आठ प्रकारकी नायिकाओंमें स्वाधीनभर्तृका, वासकसज्जा और अभिसारिका—ये तीन प्रकारकी नायिकाएँ प्रसन्नचित्तसे अलङ्कार आदि धारण करतीं हैं। खण्डिता, विप्रलब्धा, उत्कण्ठिता, प्रोषितभर्तृका और कलहान्तरिता—ये पाँचों अलङ्कार आदिसे रहित होती हैं तथा बायें गालपर हाथ रखकर खेद करती हैं। चिन्तासे इनका हृदय सन्तप्त होता है।

विजय—कृष्णप्रेममें सन्ताप कैसे? इसका तात्पर्य क्या है?

गोस्वामी—कृष्णप्रेम चिन्मय होता है। अतएव परमानन्दरूप सन्ताप आदि भी परमानन्दकी ही विचित्रताएँ हैं। जड़जगत्‌का सन्ताप वास्तवमें बड़ा ही दुःखदायी होता है, परन्तु चित्-जगत् में वह आनन्दके विकारके रूपमें होता है। आस्वादनके समय चिन्मय रसके रूपमें बड़ा ही सुखजनक होता है, परन्तु वाणी द्वारा उसे व्यक्त नहीं किया जा सकता है।

विजय—इन नायिकाओंमें प्रेमका तारतम्य कैसा होता है?

गोस्वामी—व्रजेन्द्रनन्दनके प्रति नायिकाके प्रेमके तारतम्यके अनुसार उत्तमा, मध्यमा और कनिष्ठा भेदसे नायिका तीन प्रकारकी होती हैं। जिस नायिकाका कृष्णके प्रति जिस परिमाणमें भाव होता है, कृष्णका भी उस नायिकाके प्रति उसी परिमाणमें भाव होता है।

विजय—उत्तमाका लक्षण क्या है?

गोस्वामी—उत्तमा नायिका अपने प्रियतम नायकके क्षणभरके सुखके लिए अखिल कर्मोंका तृणके समान परित्याग कर देती है। यदि नायक इस कोटिकी नायिकाको दुःख भी देते हैं, तो भी उस नायिकाके हृदयमें असूया (ईर्ष्या) उत्पन्न नहीं होती। यदि कोई झूठ-मूठ बनाकर भी वैसी नायिकाके पास नायकके दुःखकी चर्चा कर देता है, तो उसका हृदय फटने लगता है।

विजय—मध्यमाका लक्षण बतलाइये।

गोस्वामी—नायकका दुःख सुनकर इनका चित्त खिन्नमात्र होता है। विजय-कनिष्ठाका

क्या लक्षण है?

गोस्वामी—जो नायिका कृष्ण-मिलनमें लोकलज्जा आदि बाधाओंसे डरती है, वह कनिष्ठा कहलाती है।

विजय—नायिकाओंकी कुल कितनी संख्या है?

गोस्वामी—कुल मिलाकर ३६० प्रकारकी नायिकाएँ होती हैं। जैसे, पहले पन्द्रह प्रकारकी नायिकाएँ, फिर वे सभी आठ-आठ प्रकारकी होती हैं अर्थात् १५x८=१२० प्रकारकी हुई। पुनः कनिष्ठा, मध्यमा और उत्तमा भेदसे १२०x३=३६० प्रकारकी हुईं।

विजय—नायिकाओंका वृत्तान्त सुन लिया। अब यूथेश्वरियोंमें परस्पर क्या भेद है, जाननेकी उत्कण्ठा हो रही है, उसे बतलानेकी कृपा करें।

गोस्वामी—यूथेश्वरियोंमें स्वपक्ष, विपक्ष और तटस्थका भेद है। पुनः सौभाग्यके तारतम्यसे वे अधिका, समा और लघ्वी भेदसे तीन प्रकारकी होती हैं। पुनः प्रखरा, मध्या और मृद्वी भेदसे और भी तीन भागों में वे विभक्त हैं। प्रगल्भ वचनोंवाली नायिका—जो बातों-ही-बातोंमें अपना दुःख और क्रोध प्रकट करती हैं—प्रखरा कहलाती हैं। मधुर वाणियोंवाली नायिका मृद्वी कहलाती हैं तथा इन दोनोंके बीचवाली मध्या नायिका हैं। आत्यन्तिकी और आपेक्षिकी भेदसे अधिका-नायिका दो भागों में विभक्त हैं। जिनके न तो कोई बराबर है और न समान ही है—वे श्रीमती राधा ही मध्या हैं। उनके समान व्रजमें कोई भी नहीं है।

विजय—आपेक्षिक-अधिका कौन हैं?

गोस्वामी—यूथेश्वरियोंमें जो नायिका एक अथवा कुछ यूथेश्वरियोंसे श्रेष्ठ होती हैं, उन्हें आपेक्षिक-अधिका कहा जाता है।

विजय—आत्यन्तिकी लघु कौन हैं?

गोस्वामी—जिस नायिकाकी अपेक्षा दूसरी सभी नायिकाएँ श्रेष्ठ होती हैं, वह आत्यन्तिकी लघु हैं। आत्यन्तिकी अधिकासे सभी नायिकाएँ लघु होती हैं। आत्यन्तिकी लघुको छोड़कर सब यूथेश्वरियाँ अधिका हैं। अतएव आत्यन्तिकी अधिका यूथेश्वरीमें न तो समत्वकी और न लघुत्वकी ही सम्भावना है। साथ ही आत्यन्तिकी लघुमें अधिकत्वकी भी सम्भावना नहीं है। समालघु एक ही प्रकारकी होती हैं। मध्या यूथेश्वरी अधिका-प्रखरा आदि भेदसे नौ प्रकारकी होती है। अतएव यूथेश्वरियोंके बारह भेद हैं—(१) आत्यन्तिकाधिका, (२) समालघु, (३) अधिकमध्या, (४) सममध्या, (५) लघुमध्या, (६) अधिकप्रखरा, (७) समप्रखरा, (८) लघुप्रखरा, (९) अधिकमृद्वी, (१०) सममृद्वी, (११) लघुमृद्वी और (१२) आत्यन्तिकी लघु।

विजय—अब दूती-भेद जानना चाहता हूँ।

गोस्वामी—कृष्ण-सङ्गमके लिए उत्कण्ठित नायिकायोंकी सहायताके लिए दूतीकी आवश्यकता होती है। दूती दो प्रकारकी होती हैं—स्वयंदूती और आप्तदूती।

विजय—स्वयंदूती कौन हैं?

गोस्वामी—अत्यन्त उत्सुकताके कारण लज्जा दूर हो जाती है। अनुरागसे मोहित हुई जो नायिका लज्जारहित होकर स्वयं ही नायकके प्रति अपना भाव प्रकाश करती है, उसे स्वयंदूती कहते हैं। वह अभियोग प्रकाश तीन प्रकारसे होता है—कायिक, वाचिक और चाक्षुष (आँखोंका)।

विजय—वाचिक अभियोग किसे कहते हैं?

गोस्वामी—व्यंग ही वाचिक अभियोग है। व्यंग दो प्रकारके होते हैं—शब्द व्यंग और अर्थ व्यंग। व्यंग कभी कृष्णको विषय बनाकर और कभी सामनेकी किसी वस्तुको विषय बनाकर कार्य करता है।

विजय—कृष्णविषयक व्यंग कैसा होता है?

गोस्वामी—कृष्णको साक्षात् और व्यपदेश रूपमें विषय बनानेवाले व्यंग दो प्रकारके होते हैं।

विजय—साक्षात् कैसा होता है?

गोस्वामी—गर्व, आक्षेप और याञ्चा (माँगना) भेदसे व्यंगरूप अभियोग अनेक प्रकारका होता है।

विजय—आक्षेप-व्यंग किसे कहते हैं?

गोस्वामी—आक्षेपके द्वारा शब्दोत्थ व्यंग एक प्रकारका होता है तथा अर्थोत्थ-व्यंग दूसरे प्रकारका होता है। तुम लोग स्वयं आलङ्कारिक हो, इसलिए उदाहरण देनेकी आवश्यकता नहीं समझता।

विजय—अच्छी बात है। याचना द्वारा व्यंग कैसा होता है?

गोस्वामी—स्वार्थ और परार्थ भेदसे यांचा व्यंग दो प्रकारका होता है। फिर दोनोंमें अलग-अलग शब्दव्यंग और अर्थव्यंग होते हैं। इन शब्दोंमें भाव संयुक्तकर साङ्केतिक यांचा होती है। स्वार्थ यांचाका तात्पर्य अपनी बात अपने ही बोलना है। परार्थ यांचाका तात्पर्य है —दूसरोंकी बात दूसरोंके द्वारा कहा जाना।

विजय—साक्षात् व्यंग समझ गया। कृष्णके प्रति नायिकाओंकी बातोंमें जो साक्षात् अभियोग वाक्य होते हैं, उनमें शब्दव्यंग और अर्थव्यंग होते हैं। नाटक और नाटिकाओंमें उनका प्रयोग देखा जाता है। कवि उन्हें शब्दचातुरी द्वारा प्रकाश करते हैं। कृपया अब व्यपदेश कैसा होता है बतलाइये?

गोस्वामी—अलङ्कार शास्त्रके 'अपदेश' शब्दसे ही पारिभाषिकी संज्ञाके रूपमें 'व्यपदेश' शब्द है। व्यपदेशका अर्थ ब्याजसे है अर्थात् एक बातके बहाने किसी दूसरे गूढ़ तात्पर्यको व्यक्त करना होता है। तात्पर्य यह कि कृष्णसे ऐसी एक बात कहना कि उसका स्पष्ट अर्थ एक प्रकारका होता हो, परन्तु व्यंगके रूपमें उसके द्वारा गूढ़ रूपमें सेवाकी याचना समझी जाये। ऐसी बातका नाम ही 'व्यपदेश' है। यह व्यपदेश दूतीका काम करता है।

विजय—व्यपदेश एक प्रकारसे छल वाक्यको कहा जा सकता है, याञ्चा उसका गूढ़ अर्थ होता है। अब आगे बतलावें।

गोस्वामी—कृष्ण सामने रहकर सुन तो रहे हैं, फिर भी वे सुन नहीं रहे हैं—ऐसा सोचकर अपने सामनेके किसी पशु या पक्षी आदिको देखकर जो जल्पना होती है; वह पुरुष-विषयगत व्यंग है। यह भी शब्दोत्थ और अर्थोत्थ भेदसे दो प्रकारका होता है।

विजय—आपकी कृपासे यह सब समझ गया। अब आंगिक अभियोग किसे कहते हैं, बतलाइये।

गोस्वामी—अँगुलियोंको चटकाना, बहाना बनाकर शीघ्रतासे उठना, भय और लज्जासे अपने अङ्गोंको ढक लेना, पैरसे भूमिपर लिखना, कानोंको खुजलाना, तिलक रचना, वेष

धारण करना, भौंहोंको नचाना, सखीका आलिङ्गन करना, सखीको फटकारना, होठोंको दाँतोंतले दबाना, हार गूँथना, अलङ्कारोंको बजाना, बाहुमूल उघाड़ना, कृष्णनाम लिखना, वृक्षसे लताओंका संयोग करना—ऐसी क्रियाओंको कृष्णके सामने करनेपर उन्हें आंगिक अभियोग कहते हैं।

विजय—चाक्षुष अभियोगके सम्बन्धमें बतलाइये।

गोस्वामी—नेत्रोंका हास्य, आँखोंको आधा-आधा खोलना, आँखोंको नचाना, तिरछी नजरसे देखना, आँखोंमें संकोच, बायीं आँखसे देखना, कटाक्षपात—यह सब चाक्षुष अभियोग हैं।

विजय—स्वयंदूती समझ गया। सङ्केतमात्र दिया गया है। वे असंख्य प्रकारकी हो सकती हैं। अब आप्तदूतीके सम्बन्धमें बतलाइये।

गोस्वामी—जो दूती प्राणोंके चले जानेपर भी विश्वास भङ्ग नहीं करती है अर्थात् गोपनीय बातोंका भण्डाफोड़ नहीं करती, जो स्नेहवती और बातचीत करनेमें परम चतुरा होती है—ऐसी सर्वगुणसम्पन्न युवति ही व्रजसुन्दरियोंकी दूती होती है।

विजय—आप्तदूती कितने प्रकारकी होती हैं?

गोस्वामी—अमितार्था, निसृष्टार्था और पत्रहारी—ये तीन प्रकारकी आप्तदूतियाँ होती हैं। इङ्गित समझकर मिलनसंयोग करानेवाली दूतीको अमितार्था कहते हैं। युक्ति द्वारा मिलन करानेवाली दूती निसृष्टार्था कहलाती है तथा जो केवल सन्देश ले जाती है, वह पत्रहारी कहलाती है।

विजय—इनके अतिरिक्त और भी कोई आप्तदूती हैं?

गोस्वामी—शिल्पकारिणी, दैवज्ञा, लिङ्गिनी, परिचारिका धात्रेयी, वनदेवी और सखियाँ भी दूतीके अन्तर्गत हैं। चित्रकारिणी आदि शिल्पकारी चित्र द्वारा मिलन कराती हैं। दैवज्ञादूती राशिफल आदि बतलाकर मिलन कराती हैं। पौर्णमासी जैसी तपस्विनी वेषधारिणी लिङ्गिनी दूती है, लवङ्गमञ्जरी, भानुमती आदि कतिपय सखियाँ परिचारिका दूती, श्रीमती राधिकाकी 'धात्रेयी' भी दूती हैं। वनदेवी वृन्दावनकी अधिष्ठात्री देवी हैं। पूर्वोक्त सखियाँ भी दूती हैं। वे वाच्य-दूत्य अर्थात् स्पष्ट वचनोंसे तथा व्यंग वचनोंसे दूतीका कार्य करती हैं, उस कार्यमें व्यपदेश, शब्दमूल, अर्थमूल, प्रशंसा और आक्षेप आदि सब तरहके अभियोग लक्षित होते हैं।

यहाँ तक श्रवणकर विजयकुमारने श्रीगुरुगोस्वामीके चरणोंमें दण्डवत्-प्रणामकर उनसे विदाई ली और श्रवणकी हुई बातोंका मार्गमें चिन्तन करते हुए अपने वासस्थानको लौटे।

॥तैंतीसवाँ अध्याय समाप्त॥

चौंतीसवाँ अध्याय
मधुररस-विचार

आज विजयकुमार कुछ पहले ही प्रसाद—सेवाकर समुद्रके किनारे-किनारे भ्रमण करते हुए काशीमिश्रके भवनकी ओर चले। समुद्रकी लहरियोंको देखकर उनके हृदयमें रससमुद्रके भाव उदित होने लगे। वे भावमें विभोर होकर मन-ही-मन बोले—अहा! यह समुद्र ही मेरे भावको उदय करा रहा है। जड़वस्तु होनेपर भी यह मेरे अति गुप्त चित्-भावका उद्‌घाटन कर रहा है। प्रभु मुझसे जिस रससमुद्रकी बात कहते हैं, वह इसी प्रकार है। मेरे स्थूल और सूक्ष्म शरीर दूर होनेपर मैं रससमुद्रके तटपर अपने मञ्जरी-स्वरूपमें बैठकर रसास्वादन कर रहा हूँ। नवजलधर कान्तियुक्त कृष्ण ही हमारे एकमात्र प्राणनाथ हैं। उनके पार्श्वमें विराजमान वृषभानुनन्दिनी श्रीमती राधिकाजी हमारी ईश्वरी अर्थात् जीवितेश्वरी हैं। राधा कृष्णका प्रणयविकार ही यह समुद्र है। रसके भिन्न-भिन्न प्रकारके भावसमूह ही ये तरङ्गमालाएँ हैं। जब जो भाव उठते हैं, वे ही इस रससमुद्रकी विचित्र लहरियाँ हैं, जो तटस्थिता मुझ सखीको प्रेमरसमें डुबो देती हैं। रससमुद्र ही कृष्ण हैं, अतएव समुद्रका वर्ण भी ठीक कृष्णके वर्ण जैसा ही है उसमें प्रेम-तरङ्ग श्रीमती राधाजी हैं; इसीलिए इस समुद्रकी तरङ्गोंका वर्ण गौरवर्ण है। बड़ी-बड़ी लहरें सखियाँ हैं, और छोटी-छोटी लहरियाँ सखियोंकी परिचारिकाएँ हैं। मैं उनमेंसे दूर तटपर छिटकी हुई एक अणुपरिचारिका हूँ। इन सुन्दर भावनाओंके द्वारा विजयकुमार बड़े प्रसन्न हुए। थोड़ी देर बाद उन्हें बाह्य ज्ञान हुआ। अब वे धीरे-धीरे श्रीगुरुदेवके पास पहुँचे और उन्हें साष्टाङ्ग प्रणामकर उनके समीप बड़ी दीनतापूर्वक बैठे।

विजयकुमारके बैठ जानेपर श्रीगुरुगोस्वामीने बड़े ही प्रेमपूर्वक कहा—विजय! तुम्हारा सब प्रकारसे कुशल तो है न?

विजय—प्रभो! आपकी कृपा ही हमारे सम्पूर्ण मङ्गलका मूल है। मैं सखियोंके अनुगत होनेके लिए सखियोंका भेद भलीभाँति जानना चाहता हूँ।

गोस्वामी—विजय! सखियोंकी महिमाका वर्णन करना जीवोंके सामर्थ्य से बाहरकी बात है। फिर भी हमने श्रीरूपके अनुगत होकर इसे अनुभव किया है। व्रजसुन्दरी सखियाँ ही प्रेमलीलाकी ठीक-ठीक विस्तारकारिणी हैं। वे ही व्रजयुगलके विश्वासके भण्डारस्वरूप हैं। सौभाग्यवान व्यक्ति ही उनके सम्बन्धमें भलीप्रकार विचारोंको जानना चाहता है। यूथानुरक्त सखियोंमें भी पहलेकी तरह अधिका, समा, लघु तथा प्रखरा, मध्या और मृद्वी भेद है। इन सब भेदोंको मैंने कल ही तुम्हें बतलाया था। इनके सम्बन्धमें श्रीरूप गोस्वामीके प्रमाण वचन सर्वदा स्मरण रखने योग्य हैं—

प्रेमसौभाग्य साद्गुण्याद्याधिक्यादधिका सखी।
समा तत्साम्यतो ज्ञेया तल्लघुत्वात्तथा लघुः॥

दुर्लङ्घ्यवाक्यप्रखरा प्रख्याता गौरवोचिता।
तदूनत्वे भवेन्मृद्वी मध्या तत्साम्यमागता॥

आत्यन्तिकाधिकत्वादिभेदः पूर्ववदत्र सः।

स्वयूथे यूथनाथैव स्यादत्रात्यन्तिकाधिका।
सा क्वापि प्रखरा यूथे क्वापि मध्या मृदुः क्वचित्॥[१]

(उ० नी० ८/३-५)

विजय—आत्यन्तिकाधिका यूथेश्वरी अपने यूथमें सबसे प्रधाना होती हैं। वे स्वभावके भेदसे तीन प्रकारकी होती हैं—आत्यन्तिकाधिका प्रखरा, आत्यन्तिकाधिका मध्या और आत्यन्तिकाधिका मृद्वी। आपने इनका वर्णन पहले ही किया है। अब कृपाकर उनके विषयमें विस्तारपूर्वक बतलाइये।

गोस्वामी—केवल यूथेश्वरियाँ ही आत्यन्तिकाधिका होती हैं। यूथकी सभी सखियाँ आपेक्षिकाधिका, आपेक्षिकसमा और आपेक्षिक लघ्वी भेदसे तीन-तीन प्रकारकी होती हैं अर्थात् नौ प्रकारकी होती हैं, जैसे—

(१) आपेक्षिकाधिका प्रखरा, (२) आपेक्षिकाधिका मध्या, (३) आपेक्षिकाधिका मृद्वी, (४) आपेक्षिकसमा प्रखरा, (५) आपेक्षिकसमा मध्या, (६) आपेक्षिकसमा मृद्वी, (७) आपेक्षिक—लघु-प्रखरा, (८) आपेक्षिक—लघु मध्या, (९) आपेक्षिक—लघु—मृद्वी।

आत्यन्तिका लघु भी दो प्रकारकी है—आत्यन्तिक लघु और समा-लघु। नौ और ये दो मिलकर ग्यारह हुई। यूथेश्वरीको मिलाकर बारह प्रकारकी नायिकाएँ एक-एक यूथमें होती हैं।

विजय—प्रभो! प्रसिद्ध-प्रसिद्ध सखियोंका यूथ बतलानेकी कृपा करें।

गोस्वामी—ललिता आदि सखियाँ श्रीमती राधाके यूथमें आपेक्षिकाधिक प्रखरा श्रेणीके भीतर हैं। उसी यूथमें विशाखा आदि सखियाँ आपेक्षिकाधिक मध्याकी श्रेणीमें हैं। चित्रा और मधुरिका आदि उसी यूथमें आपेक्षिकाधिक-मृद्वी श्रेणीमें हैं। श्रीमती राधिकाकी तुलनामें श्रीललिता आदि अष्ट सखियाँ ही लघु हैं।

विजय—उन आपेक्षिक लघु प्रखरा सखियोंके कितने भेद हैं?

गोस्वामी—लघु प्रखरा वामा और दक्षिणाके भेदसे दो प्रकारकी होती हैं।

विजय—वामाके क्या लक्षण हैं?

गोस्वामी—मान ग्रहण करनेमें सर्वदा उत्सुक, मानकी शिथिलतामें क्रोधित तथा सहज ही नायकके वशीभूत न होनेवाली नायिका 'वामा' कहलाती हैं। राधिकाके यूथमें ललिता आदि सखियाँ वामा-प्रखरा कहलाती हैं।

विजय—दक्षिणाका लक्षण बतलाइये।

---

(१) प्रेम-सौभाग्य और सद्गुणोंकी अधिकतासे सखियोंमेंसे कोई 'अधिका' कहलाती है, कोई उन गुणोंकी समानताके कारण 'समा' तथा कोई-कोई उन गुणोंमें लघु होनेके कारण लघुके नामसे प्रसिद्ध है। जिस सखीकी बातका सहज ही लंघन नहीं किया जाये वह सखी प्रखराके नामसे प्रख्यात है। प्रखरा सखी गौरवयुक्ता होती है। गौरवकी न्यूनतासे 'मृद्वी' और समानतासे 'मध्या' के नामसे जानी जाती हैं। इन सखियोंमें आत्यन्तिकाधिकत्व आदि भेद भी समझना होगा। इस जगह अपने यूथमें यूथेश्वरी ही 'आत्यन्तिकाधिका' होती हैं वही किसी यूथमें प्रखरा या मृदु भी होती हैं।

गोस्वामी—जो नायिका मान नहीं करती, नायकके प्रति मुक्त वाक्यका प्रयोग करती है तथा जो नायककी मीठी-मीठी बातोंके वशीभूत हो जाती है, वह 'दक्षिणा' कहलाती है। श्रीमती राधिकाके यूथमें तुङ्गविद्या आदि दक्षिणा प्रखरा कहलाती हैं।

विजय—आत्यन्तिक लघु कौन हैं?

गोस्वामी—सर्वथा मृदु और सबसे नितान्त लघु होनेके कारण कुसुमिका आदि सखियोंको आत्यन्तिक लघु कहा जा सकता है।

विजय—सखियोंका दौत्यकार्य किसे कहते हैं?

गोस्वामी—दूरवर्ती नायक और नायिकाको परस्पर मिलानेके लिए अभिसार कराना ही सखियोंका दौत्यकार्य है।

विजय—सखियोंमें क्या नायिकात्व है?

गोस्वामी—यूथेश्वरियाँ नित्यनायिका हैं। आपेक्षिकाधिका प्रखरा, आपेक्षिकाधिकामध्या एवं आपेक्षिकाधिका मृद्वी—इनमें नायिकात्व और सखीत्व दोनों ही धर्म होते हैं। अपनेसे लघुके सम्बन्धमें नायिकात्व और अपनेसे अधिकके सम्बन्धमें सखीत्व होनेके कारण उन्हें नायिका-प्राय कहा जा सकता है। आपेक्षिकसमा प्रखरा, मध्या और मृद्वीगण द्विसमा हैं अर्थात् अधिकके सम्बन्धसे सखी और लघुके सम्बन्धसे नायिका हैं। आपेक्षिकी लघु, प्रखरा, मध्या और मृद्वी ये अधिकांश सखियाँ हैं। आत्यन्तिकी लघु यूथेश्वरी हैं और उपरोक्त तीन प्रकारकी सखियोंकी गणनाके अनुसार पाँचवी श्रेणीमें होती है। वे नित्यसखी हैं। यूथेश्वरीके सम्बन्धमें आपेक्षिकी सखियाँ सखी और दूती होती हैं, नायिका नहीं। आत्यन्तिकी लघु अर्थात् नित्यसखीके लिए सभी नायिका हैं दूती नहीं।

विजय—सखियोंमेंसे दूती कौन हैं?

गोस्वामी—यूथेश्वरी नित्य नायिका हैं। सबकी आदरकी पात्री होनेके कारण उनका मुख्य रूपमें दूतीका कार्य नहीं है। अपने यूथमें जो सखी अपनी यूथेश्वरीको अधिक प्रिय होती है, यूथेश्वरी उन्हें दूतीके कार्यमें नियुक्त करती है। कभी-कभी यूथेश्वरी भी उस सखीके प्रणयके कारण गौण रूपसे दूतीका कार्य करती है। दूरके स्थानोंमें आना-जाना छोड़कर जो दौत्यकार्य होता है—वह गौण है। वह कृष्णके समक्ष और परोक्ष-भेदसे दो प्रकारका होता है।

विजय—कृष्णके सामने दौत्य कितने प्रकारका होता है?

गोस्वामी—साङ्केतिक और वाचिक भेदसे वह दौत्यकार्य दो प्रकारका होता है।

विजय—साङ्केतिक कैसा होता है?

गोस्वामी—कनखी, भौहों, दूसरे इशारोंसे कृष्णको सखीके निकट भेजना ही 'साङ्केतिक' दौत्य हैं।

विजय—वाचिक किस प्रकार होता है?

गोस्वामी—आमने-सामने या पीछेसे परस्पर बातचीत द्वारा जो दूत्य किया जाता है; उसे 'वाचिक' दूत्य कहा जाता है।

विजय—परोक्ष दूत्य कैसा होता है?

गोस्वामी—सखी द्वारा कृष्णके निकट दूसरी सखीका अर्पण किया जाना अथवा कृष्णके पास सखीको भेजना—यह सब परोक्ष दौत्यका कार्य है।

विजय—नायिका-प्राया दूत्य कैसा होता है?

गोस्वामी—आपेक्षिकाधिका प्रखरा, मध्या और मृद्वी—ये तीन प्रकारकी सखियाँ अपनेसे लघु सखियोंके लिए जब दूतीका कार्य करती हैं तब उन्हें 'नायिका-प्राया' दूत्य कहा जाता है। उनमेंसे समा और मध्या इन दोनों सखियोंमें बड़ा ही मधुर और अभेद सौहार्द होता है। प्रेम-विशेषज्ञ व्यक्ति ही उसे समझ सकते हैं।

विजय—सखीप्राय दूत्य कैसा होता है?

गोस्वामी—लघुप्रखरा, लघुमध्या और लघुमृद्वी—ये अधिकांश रूपमें दूतीका कार्य करती हैं। इसीलिए इनके दूत्यको 'सखीप्राय' दूत्य कहते हैं।

विजय—फिर नित्यसखी कैसी होती है?

गोस्वामी—नायिकात्वकी अपेक्षा न कर सखीत्वमें ही जिनकी प्रीति होती है, उन्हें नित्यसखी कहते हैं। नित्यसखी दो प्रकारकी होती हैं—आत्यन्तिकी लघु और आपेक्षिकी लघु।

विजय—प्रखरा आदि स्वभाव क्या किसी विशेष सखीका नित्य स्वभाव है?

गोस्वामी—स्वभाव होनेपर भी देश-कालके अनुसार उनका परिवर्तन भी हो जाता है। जैसे—राधिकाके मान भङ्गके समय ललिताका प्रयत्न।

विजय—ऐसा प्रतीत होता है कि श्रीमती राधिकाके प्रयत्नसे सखियोंका कृष्णसे सब समय सङ्गम होता है।

गोस्वामी—इसमें एक रहस्य है। जब सखी दूतीकार्यमें नियुक्त होकर किसी निर्जन स्थानमें कृष्णसे मिलती है और उस समय कृष्ण उससे सङ्गमकी यदि प्रार्थना भी करते हैं, तब सखी उससे सहमत नहीं होती; सहमत होनेसे प्रियसखीका उस सखीके ऊपरसे दूत्यविश्वास उठ जाता है।

विजय—सखियोंकी क्रिया कैसी होती है?

गोस्वामी—सखियोंकी सोलह प्रकारकी क्रियाएँ होती हैं—(१) नायकका नायिकासे तथा नायिकाका नायकसे एक-दूसरेका गुण वर्णन करना, (२) एक-दूसरेके प्रति आसक्ति बढ़ाना, (३) उनका परस्पर अभिसार करवाना, (४) कृष्णके निकट सखीको समर्पण करना, (५) परिहास, (६) आश्वासन प्रदान करना, (७) वेष-रचना करना, (८) दोनोंके मनोगत भावोंको एक-दूसरेके सामने प्रकट करनेकी कुशलता, (९) दोष-छिद्र छिपानेकी पटुता, (१०) पति आदिको वञ्चना करनेकी शिक्षा देना, (११) उचित समयपर नायक और नायिकाका मिलन कराना, (१२) चामरव्यजनसे सेवा करना, (१३) विशेष स्थलपर नायक और नायिकाका तिरस्कार करना, (१४) सन्देश भेजना, (१५) नायिकाके प्राणोंकी रक्षा करना और (१६) सब विषयोंमें प्रयत्न करना। इन सबके उदाहरण हैं, जो अतीव चमत्कार पूर्ण हैं।

विजय—प्रभो! सङ्केत मिल गया; उन उदाहरणोंको उज्ज्वलनीलमणि—ग्रन्थमें देख लूँगा। अब बहुत कुछ समझमें आ रहा है। प्रभो, अब मैं कृष्ण और सखियोंमें परस्पर जो प्रेमनिष्ठा होती है उसे जानना चाहता हूँ।

गोस्वामी—स्वपक्ष-सखियाँ कृष्णमें तथा अपनी यूथेश्वरीमें असम और समस्नेह रखनेके कारण दो प्रकारकी होती हैं।

विजय—'असम स्नेह' सखियाँ कौन हैं?

गोस्वामी—'असम स्नेह' सखी दो प्रकारकी होती हैं। कोई-कोई अपनी यूथेश्वरीको कृष्णसे अधिक स्नेह करती हैं। जो "मैं हरिदासी हूँ"—ऐसा समझकर दूसरे यूथमें मिलित न होकर केवल यूथेश्वरीके प्रति पूर्ण स्नेहवती रहकर भी उससे अधिक कृष्णको स्नेह करती हैं, वे हरिमें अधिक स्नेहवती कहलाती हैं। जो "मैं सखीदासी हूँ"—ऐसा मानकर कृष्णसे भी अधिक अपनी सखीको अधिक स्नेह करती हैं, वे सखीमें अधिक स्नेहवाली कहलाती हैं।

विजय—वे कौन हैं?

गोस्वामी—पाँच प्रकारकी सखियोंमें जिन्हें केवल सखी कहा गया है, वे कृष्णस्नेहाधिका सखी हैं, और उन पाँचोंमें प्राणसखी और नित्यसखी—ये दोनों प्रकारकी सखियाँ सखी स्नेहाधिका हैं।

विजय—समस्नेह सखियाँ कौन हैं?

गोस्वामी—जिनका कृष्ण और यूथेश्वरी दोनोंके प्रति समान स्नेह होता है, वे समस्नेहा हैं।

विजय—सखियोंमें सबसे श्रेष्ठ कौन हैः

गोस्वामी—जो सखियाँ श्रीमती राधा और कृष्ण दोनोंके प्रति समान प्रेम रखते हुए भी अपनेको श्रीराधाका निजजन (प्रियपात्री) समझती हैं, वे सबसे श्रेष्ठ हैं एवं उसे प्रियसखी और परमप्रेष्ठसखी कहा जाता है।

विजय—प्रभो! सखियोंमें पक्ष और प्रतिपक्षका भेद कैसा होता है?

गोस्वामी—समस्त व्रजसुन्दरियाँ स्वपक्ष, सुहृत्-पक्ष, तटस्थ और प्रतिपक्ष भेदसे चार प्रकारकी होती हैं। सुहृत्-पक्ष और तटस्थ ये प्रासङ्गिक हैं। स्वपक्ष और प्रतिपक्ष भेद ही रसप्रद हैं।

विजय—स्वपक्ष-प्रतिपक्षका विशेष रूपसे वर्णन कीजिये।

गोस्वामी—स्वपक्षके सम्बन्धमें मैं प्रायः सभी बातें बतला चुका हूँ। अब सुहत्-पक्षा आदि भेदोंको बतलाऊँगा। इष्ट साधक और अनिष्ट साधक भेदसे सुहृत्-पक्ष दो प्रकारकी होती हैं। जो विपक्षका सुहृत्-पक्ष होती हैं, वे तटस्थ कहलाती हैं।

विजय—अब विपक्षके सम्बन्धमें बतलाइये।

गोस्वामी—जो इष्टहानि और अनिष्ट करती हुई विरुद्ध आचरण करती हैं, वे परस्पर विद्वेषवशतः विपक्ष कहलाती हैं। छल, ईर्ष्या, चपलता, असूया, मत्सरता, दुःख और गर्व आदि भावसमूह विपक्ष सखियोंमें प्रकाशित होते हैं।

विजय—गर्व कैसे व्यक्त होता है?

गोस्वामी—अहङ्कार, अभिमान, दर्प, उद्धसित, मद और औधत्य भेदसे गर्व छः प्रकारसे व्यक्त होता है।

विजय—यहाँ अहङ्कार कैसा होता है?

गोस्वामी—अपने पक्षके गुणवर्णनके समय दूसरे पक्षके प्रति जो आक्षेप होते हैं, उसे अहङ्कार कहते हैं।

विजय—यहाँ अभिमानका तात्पर्य क्या है?

गोस्वामी—भाव-भङ्गी द्वारा स्वपक्षकी प्रेमोत्कर्षताको व्यक्त करना ही 'अभिमान' है।

विजय—दर्प किसे कहते हैं?

गोस्वामी—विहारोत्कर्षसूचक गर्व ही 'दर्प' कहलाता है।

विजय—उद्धसित किसे कहते हैं?

गोस्वामी—विपक्षके प्रति जो साक्षात उपहास होता है, उसे 'उद्धसित' कहते हैं।

विजय—मद किसे कहते हैं?

गोस्वामी—जो गर्व सेवा आदिकी उत्कर्षता साधन करता है, उसे यहाँपर 'मद' कहते हैं।

विजय—औद्धत्य क्या है?

गोस्वामी—स्पष्ट रूपसे अपनी उत्कर्षताका वर्णन करना ही औद्धत्य है। सखियोंकी श्लिष्ट उक्ति और निन्दा गर्व होता है।

विजय—क्या यूथेश्वरियाँ भी साक्षातरूपसे ईर्ष्या प्रकाश करती हैं?

गोस्वामी—नहीं, यूथेश्वरियाँ बड़ी गम्भीर होती हैं। वे विपक्षके प्रति साक्षात रूपमें ईर्ष्या प्रकाश नहीं करतीं, यहाँ तक कि सखियाँ प्रखरा होनेपर भी वे विपक्षकी यूथेश्वरियोंके सामने छोटी बातें नहीं बोलती हैं।

विजय—प्रभो! व्रजलीलामें यूथेश्वरियाँ नित्यसिद्ध भगवच्छक्ति हैं। उनमें इस प्रकार द्वेष आदि भावोंके रहनेका तात्पर्य क्या है? यह सब देखकर विमुख तार्किक लोग व्रजलीलाके परमतत्त्वके प्रति अवज्ञा करते हैं, उसका मजाक उड़ाते हैं। वे कहते हैं कि यदि परमतत्त्वमें भी इसी प्रकार ईर्ष्या आदि भाव रहें, तो इस संसारके कार्योंमें ईर्ष्या आदिको बुरी दृष्टिसे क्यों देखा जाता है? उनमें वैराग्यका क्या कारण है? प्रभो! हम श्रीधाम नवद्वीपमें निवास करते हैं, वहाँपर श्रीकृष्णचैतन्य देवकी इच्छासे सब तरहके बहिर्मुख लोग दिखलायी पड़ते हैं। कोई नितान्त कर्मकाण्डी होते हैं, कोई वन्ध्या तर्कप्रिय होते हैं, कोई ज्ञानकाण्डी होते हैं और अधिकांश ही निन्दक होते हैं। वे लोग कृष्णलीलामें दोष निकालते हैं तथा उस अपूर्व और चिन्मयी लीलाको मायिक समझकर उसकी अवहेलना करते हैं। कृपाकर आप इस विषयको स्पष्ट रूपसे समझानेकी कृपा करें, जिससे मेरा चित्त दृढ़ हो सके।

गोस्वामी—जो नितान्त अरसिक हैं, वे ही ऐसा कहा करते हैं कि हरिप्रियजनोंमें द्वेष आदिका प्रयोग करना अनुचित है। इस विषयपर गूढ़ रूपसे विचार करनेपर ऐसा देखा जाता है कि करोड़ों कामदेवको भी मोहित करनेवाले अघनाशक कृष्णके प्रियनर्म सखा शृङ्गाररस व्रजमें मूर्तिमान होकर विराजमान हैं। वे ही विजातीय भावमय पक्षोंके सम्बन्धमें परस्पर सपरिवार ईर्ष्या आदिको मिलनके समय कृष्णकी परितुष्टिके लिए नियुक्त किया करते हैं, परन्तु वास्तवमें उनकी परस्पर ईर्ष्या नहीं होती। उनकी ईर्ष्या आदि स्नेहका ही रूपान्तरमात्र है।

विजय—प्रभो! हम लोग क्षुद्र जीव हैं, इतना गूढ़ विषय हमारे हृदयमें सहसा उदित नहीं होता। आप कृपाकर इस विषयको इस प्रकार स्पष्ट रूपसे बतलावें, जिससे हम उसे आसानीसे समझ सकें और हमारा मङ्गल हो।

गोस्वामी—प्रेमरस दूधके समुद्रके समान है। उसमें वितर्करूप गोमूत्र मिलानेसे वैरस्य होता है। इस विषयमें तत्त्वका विचार करना अच्छा नहीं होता। क्योंकि बड़ी सुकृतिके फलस्वरूप भक्तिदेवी जिनके हृदयमें चिदाह्लादिनीका प्रकाश प्रदान करती हैं, वे बिना तर्कके

ही सार सिद्धान्तको पा लेते हैं। दूसरी तरफ, जो लोग मायिक तर्क-वितर्क और जड़ीय पाण्डित्यके बलपर उस सिद्धान्तको हृदयंगम करना चाहते हैं, उनके हृदयमें वे अचिन्त्य सिद्धान्तसमूह उदित नहीं होते, वरन् कुतर्कके बदले कुतर्क ही उदित होते हैं। परन्तु तुम परम सौभाग्यशाली जीव हो। भक्तिकी कृपासे सब कुछ समझ चुके हो, फिर भी सिद्धान्तकी दृढ़ताके लिए मुझसे पूछ रहे हो। मैं तुम्हें अवश्य बतलाऊँगा। तुम न तो तार्किक हो, न कर्मकाण्डी हो और न ही ज्ञानकाण्डी हो। तुम संयमी अथवा नितान्त वैधीभक्तिके उपासक भी नहीं हो। मुझे तुम्हारे पास कोई भी सिद्धान्त बतलानेमें आपत्ति नहीं है। जिज्ञासु दो प्रकारके होते हैं—एक प्रकारके जिज्ञासु केवल शुष्क युक्ति अवलम्बनकर जिज्ञासा करते हैं, दूसरे प्रकारके जिज्ञासु भक्तिकी सत्तापर विश्वासकर स्वतः सिद्ध प्रत्यय जिससे सन्तुष्ट हो सके, उसी प्रकारका विचार करते हैं। शुष्क युक्तिवादियोंकी जिज्ञासाका कभी उत्तर नहीं देना, क्योंकि वे लोग यथार्थ सत्य बातपर कदापि विश्वास नहीं करेंगे। उनकी युक्ति मायाबद्ध होती है, अतएव अचिन्त्य भावोंके सम्बन्धमें पंगु होती है। अनेक ठेलाठेली करके भी उनकी बुद्धि अचिन्त्य विषयमें तनिक भी प्रवेश नहीं कर पाती। परमेश्वरके प्रति उनका रहा-सहा विश्वास भी हट जाता है—यही वितर्कका चरम फल होता है। भक्ति पक्षवाले विचारकगण अपने-अपने अधिकारके भेदसे अनेक प्रकारके होते हैं। शृङ्गार रसमें जिनका अधिकार पैदा हो गया है, केवल वे ही सद्गुरु पानेपर इस गूढ़ तत्त्वको समझ सकते हैं। विजय! वृन्दावन लीलारस क्या ही अपूर्व रस है! जड़जगत्‌की शृङ्गाररस जैसा दिखलायी पड़नेवाला तत्त्व होनेपर भी यह उससे सर्वथा विलक्षण है, रासपञ्चाध्यायी (श्रीमद्भा० १०/३३/३०) में ऐसा कहा गया है कि जो इस लीलाकी आलोचना करते हैं उनका हृद्रोग मूल सहित दूर हो जाता है। बद्धजीवका हृद्रोग क्या है? जड़ीय काम। रक्त, मांस आदि सप्तधातुमय जो स्त्री-पुरुषाभिमानी शरीर एवं मन, बुद्धि और अहङ्कारगत वासनामय अभिमान रूप लिङ्गशरीरको आश्रयकर जो काम रहता है उसे सहज ही दूर करनेकी किसी की भी शक्ति नहीं है। वह काम केवल व्रजलीलाके अनुशीलनसे ही दूर किया जा सकता है। इसी सिद्धान्तमें तुम वृन्दावनलीलाके शृङ्गाररसकी एक परम चमत्कारिता देख पाओगे। तुम यह भी अनुभव करोगे कि यह अप्राकृत शृङ्गाररस आत्माराम-लक्षण निर्विशेष ब्रह्मको अत्यन्त दूर फेंककर—तुच्छ बतलाकर स्वयं नित्य विराजमान है। यही नहीं, यह शृङ्गाररस ऐश्वर्यमय चित्-जगत् अर्थात् परव्योम वैकुण्ठके रसको अत्यन्त लघु करता हुआ नित्य देदीप्यमान है। इस रसकी महिमा सबसे बढ़कर है। इसमें सान्द्रानन्द है। शुष्कानन्द, जड़ानन्द, संकुचितानन्द कुछ भी नहीं है। यह पूर्णानन्द स्वरूप है। इस पूर्णानन्दमें जो अनन्त विचित्र भाव हैं, वे रसकी पूर्णता साधन करनेके लिए अनेक स्थलपर परस्पर विजातीय भावापन्न हैं। वे विजातीय भावसमूह कहीं-कहीं स्नेहात्मक होते हैं और कहीं-कहीं द्वेष आदि भावात्मक होते हैं। परन्तु जड़ीय द्वेष आदि भाव जिस प्रकार हेय और दोषपूर्ण होते हैं, ये अप्राकृत रसके भावसमूह वैसे नहीं होते। ये तो परमानन्दके ही विकारवैचित्र्य मात्र हैं। रससमुद्रकी लहरियोंकी भाँति उठकर समुद्रको लहराती रहती हैं। अस्तु, श्रीरूप गोस्वामीका सिद्धान्त यह है कि भाव-विचित्र हैं। जो भावसमूह सब तरहसे सजातीय हैं, वे स्वपक्षगत भाव हैं। जहाँ थोड़ी-सी विजातीयता किन्तु अधिक स्वजातीयता है, वे सुहृत्-पक्षगत भाव है। जहाँ विजातीयता अधिक और सजातीयता अल्प होती है, वे भाव तटस्थ भाव कहलाते हैं। और

जहाँ सम्पूर्ण रूपमें विजातीयता हो वहाँ वे भावसमूह विपक्षगत भाव होते हैं। एक बात और है, जिस समय भाव विजातीय होते हैं, उस समय परस्पर रुचिप्रद नहीं होते हैं, अतएव उस परमानन्द रसमें ईर्ष्या आदि जैसे भावोंको पैदा करते हैं।

विजय—पक्ष और विपक्ष भावोंकी आवश्यकता क्यों होती है?

गोस्वामी—दो नायिकाओंके भाव जिस समय परस्पर एक समान होते हैं, उसी समय पक्ष और विपक्ष भावोंका उदय होता है। इसलिए मैत्र-भाव और विद्वेष-भाव रस-विकारके रूपमें कार्य करते हैं। वह भी अखण्ड शृङ्गाररसके परम माधुर्यकी समृद्धिके लिए ही होता है—ऐसा समझना।

विजय—श्रीमती राधा और श्रीमती चन्द्रावली—ये दोनों क्या तत्त्वकी दृष्टिसे बराबर शक्तियाँ हैं?

गोस्वामी—नहीं, नहीं। श्रीमती राधा ही महाभावमयी, ह्लादिनी-सारस्वरूपा हैं, चन्द्रावली श्रीराधाकी ही कायव्यूह हैं तथा श्रीराधासे अनन्त अंशोंमें लघु हैं। तथापि शृङ्गाररसमें श्रीराधाके प्रेमरसकी पुष्टिके लिए चन्द्रावलीमें राधाकी साम्यताका एक भाव देकर विपक्षता उत्पन्न किया है। फिर देखो, दोनों यूथेश्वरियोंमें भावकी सम्पूर्ण सजातीयता भी नहीं हो सकती।

यदि किसी अंशमें ऐसा हो भी जाये तो वह केवल घुन द्वारा काटे गये अक्षरके समान दैवात् ही होती है। वास्तवमें रसके स्वाभाविक रूपमें ही स्वपक्ष-विपक्ष भावोंका उदय होता है।

विजय—प्रभो, मेरे थोड़े-से जो संशय थे, वे भी दूर हो गये। आपके मधुर उपदेश मेरे कानोंके पथसे हृदयमें प्रवेशकर वहाँकी सारी कटुताको ध्वंस कर रहे हैं। मैं मधुररसके विभावगत आलम्बनको सम्पूर्ण रूपसे समझ गया। सच्चिदानन्द कृष्ण ही एकमात्र नायक हैं। उनके गुण, रूप और चेष्टाओंका ध्यान कर रहा हूँ। धीरोदात्त, धीरललित, धीरशान्त और धीरोद्धत स्वभाववाले वही नायक, पति और उपपति रूपमें रसमें नित्यलीलामय हैं। उसी प्रकार वे अनुकूल, दक्षिण, शठ और धृष्ट भी हैं। चेट, विट, विदूषक, पीठमर्दक और प्रियनर्मसखा द्वारा सदा सेवित हैं, वंशी बजाना उन्हें प्रिय है। आज मधुररसके विषयरूप कृष्ण मेरे हृदयमें उदित हुए। साथ ही मधुररसके आश्रय व्रजकी ललनाओंका तत्त्व भी समझ गया। ये ललनाएँ ही नायिका हैं। स्वकीया और परकीया भेदसे नायिकाएँ दो प्रकारकी होती हैं। व्रजमें परकीया नायिकाएँ ही शृङ्गाररसके आश्रय हैं। वे साधनपरा, देवी और नित्यप्रियाके भेदसे तीन प्रकारकी होती हैं। व्रजललनाएँ यूथोंमें विभक्त होकर कृष्णकी सेवा करती हैं। करोड़ों व्रजललनाएँ अनेकों यूथेश्वरियोंके अधीन होती हैं। सब यूथेश्वरियोंमें श्रीराधा और चन्द्रावली प्रधाना हैं। सखी, नित्यसखी, प्राणसखी, प्रियसखी और परमश्रेष्ठसखी—ये पाँच प्रकारके भेद श्रीराधाके यूथमें हैं। ललिता आदि अष्टसखियाँ परमप्रेष्ठ सखी हैं। ललिता आदि यूथेश्वरी होने योग्य रहनेपर भी वे श्रीराधाकी अनुगत सखी रहनेकी इच्छाके कारण पृथक् यूथका निर्माण नहीं करतीं। इनकी अनुगत सखियाँ उनका गण कहलाती हैं—जैसे ललितागण, विशाखागण इत्यादि। नायिकाएँ मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा भेदसे तीन प्रकारकी होती हैं। और इन तीनोंमेंसे मध्या और प्रगल्भा पृथक्-पृथक् धीरा, अधीरा और धीराधीरा भेदसे छह प्रकारकी हुई। इन छहोंमें मुग्धाको मिलाकर सात हुईं। ये सातों स्वकीया

और परकीया भेदसे चौदह प्रकारकी हुईं। इनमें एक कन्याको मिलाकर पन्द्रह प्रकारकी नायिकाएँ होती हैं। नायिकाओंकी अभिसारिका आदि आठ अवस्थाएँ होती हैं। पुनः उत्तमा, मध्यमा और कनिष्ठाके भेदसे सब मिलाकर कुल १५x८x३=३६० प्रकारकी नायिकाएँ होती हैं। यूथेश्वरियोंके सुहृद आदि व्यवहार और उनके तात्पर्य भी हृदयमें उदित हुए हैं। मैंने दूत्यकार्य और सखीकार्य इन दोनोंको भी समझ लिया है। रसके विषय और आश्रयको एकत्र करनेसे विभावके अन्तर्गत आलम्बन तत्त्व भी समझमें आ गया है। कल उद्दीपन विषयमें जान लूँगा। कृष्णकी मुझपर अपार करुणा है कि आप जैसे सद्गुरुका सङ्ग प्राप्त कर सका हूँ। मैं आपके मुखविगलित सुधाका पान करके ही पुष्ट होऊँगा।

गोस्वामीने विजयको गलेसे लगाकर कहा—बेटा! तुम जैसा शिष्य पाकर मैं भी कृतकृतार्थ हुआ। तुम जितनी अधिक जिज्ञासा करते हो, श्रीनित्यानन्द मेरे मुखसे उन प्रश्नोंका उत्तर दे रहे हैं। दोनोंके नेत्रोंसे प्रेमके आँसू गिरने लगे।

विजयका सौभाग्य देखकर श्रीध्यानचन्द्र आदि महात्मावर्ग परमानन्दमें मग्न हो गये। उसी समय राधाकान्तमठमें बाहरसे कुछ शुद्ध वैष्णव पहुँचे और चण्डीदासके निम्नलिखित पदका गान करने लगे—

सइ (सखी)! केवा शुनाइले श्याम नाम?
कानेर भितर दिया, मरमे पशिल गो,
आकुल करिल मोर प्राण॥
ना जानि कतेक मधु, श्यामनामे आछे गो,
वदन छाड़िते नाहि पारे।
जपिते—जपिते नाम, अवश करिल गो,
केमने पाइबो सइ तारे॥
नाम परतापे जार, ऐछन करिल गो,
अङ्गेर परशे किवा हय।
जेखाने वसति तार, नयने देखिया गो,
युवति धरम कैछे रय॥
पाशरिते करि मने, पाशरा ना जाय गो,
कि करिब कि हबे उपाय।
कहे द्विज चण्डीदासे, कुलवती कुलनाशे,
आपनार यौवन जाचाय॥

मृदङ्ग और करतालके साथ डेढ़ घण्टे तक उपरोक्त कीर्त्तन करते-करते सभी प्रेममें मग्न हो गये। उनका आवेश कुछ कम होनेपर विजयकुमार सब वैष्णवोंको यथायोग्य सम्मान देकर और श्रीगुरु गोस्वामीको साष्टाङ्ग प्रणामकर हरचण्डीसाहीको चल पड़े।

॥चौंतीसवाँ अध्याय समाप्त॥

पैंतीसवाँ अध्याय
मधुररस-विचार

दूसरे दिन भोजन करनेके उपरान्त विजयकुमार ठीक समयपर श्रीगुरु गोस्वामीके चरणोंमें उपस्थित हुए और साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणामकर उनके चरणोंमें लोट-पोट हो गये। गोस्वामीजीने उन्हें उठाकर हृदयसे लगा लिया और बड़े प्रेमसे अपने निकट बैठाया। सुयोग देखकर विजयकुमारने पूछा—प्रभो! मैं मधुररसके उद्दीपनोंको समझना चाहता हूँ। आप कृपाकर बतलाइये।

विजयकुमारकी बात सुनकर श्रीगुरु गोस्वामीने कहा—मधुररसमें कृष्ण और कृष्णवल्लभागणोंके गुण, नाम चरित, मण्डन सम्बन्धी और तटस्थ—ये सब विषय उद्दीपन विभाव हैं।

विजय—पहले गुणोंको बतलानेकी कृपा करें।

गोस्वामी—गुण तीन प्रकारके हैं—मानस, वाचिक और कायिक।

विजय—इस रसमें मानस गुण कितने प्रकारके होते हैं?

गोस्वामी—कृतज्ञता, क्षमा एवं करुणादि अनेक प्रकारके मानस गुण हैं।

विजय—वाचिक गुण कितने प्रकारके हैं?

गोस्वामी—कानोंको आनन्द देनेवाले वचन ही वाचिक गुण हैं।

विजय—कायिक गुण कितने प्रकारके होते हैं?

गोस्वामी—वयस, रूप, लावण्य, सौन्दर्य, अभिरूपता, माधुर्य, मार्द्दव आदि कायिक गुण हैं। इस रसमें वयः सन्धि, नव्यवयस, व्यक्तवयस और पूर्णवयस—ये चार प्रकारके मधुररसाश्रित वयस हैं।

विजय—वयःसन्धि किसे कहते हैं?

गोस्वामी—बाल्य और यौवनकी सन्धिको वयःसन्धि कहते हैं। उसीका नाम प्रथम कैशोर है। सम्पूर्ण किशोरावस्था वयःसन्धिके अन्तर्गत होती है। पौगण्डको बाल्य कहा जा सकता है। कृष्ण और प्रियाओंका वयः सन्धि-माधुर्य ही—उद्दीपन है।

विजय—नव्यवयस किसे कहते हैं?

गोस्वामी—नवयौवन, कुछ उठे हुए स्तन, नेत्रोंमें चञ्चलता, मन्दहास्य और मनकी कुछ-कुछ विक्रिया होना आदि नव्यवयसके लक्षण हैं।

विजय—व्यक्तवयस कैसी होती है?

इस प्रश्नके बीच ही में एक वैष्णव और एक शङ्करमठके पण्डित संन्यासी देव-दर्शनके लिए उपस्थित हुए। वैष्णवको अपनेमें पुरुष रूप दास अभिमान था और शङ्कर संन्यासी शुष्क ब्रह्म-चिन्तामें मग्न थे। अतएव उनमेंसे किसीको भी व्रजगोपी अभिमान न था। पुरुषाभिमानी व्यक्तिके निकट रस-कथाकी आलोचना करना निषेध होनेके कारण गोस्वामी और विजय दोनों चुप हो गये और आगन्तुक वैष्णव और एकदण्डी संन्यासीके साथ इधर-उधरकी साधारण बातें करने लगे। कुछ देरके बाद जब वे दोनों सिद्धबकुलकी ओर चले गये, तब विजयने तनिक हँसकर पुनः अपने प्रश्नको दुहराया।

गोस्वामी—व्यक्तवयसमें स्तन स्पष्ट रूपमें उभर आते हैं, मध्यदेशमें त्रिवली पड़ जाती है तथा सम्पूर्ण अङ्गोंमें उज्ज्वल कान्ति झलकने लगती है।

विजय—पूर्णवयस कैसी होती है?

गोस्वामी—जिस वयसमें नितम्ब (कमरका पिछला उभरा हुआ भाग) ऊँचे हो उठते हैं, मध्यदेश क्षीण होता है, समस्त अङ्ग उज्ज्वल कान्तिसे युक्त होता है, स्तन स्थूलाकार होते हैं, जंघे कदली वृक्षकी भाँति होते हैं, उस वयसको पूर्णवयस कहते हैं। किसी-किसी ब्रजसुन्दरीकी अल्पतारुण्य अवस्थामें भी पूर्ण यौवन दिखलायी पड़ता है।

विजय—वयसके विषयसे अवगत हुआ, अब रूपके सम्बन्धमें बतलाइयें।

गोस्वामी—आभूषणोंसे रहित होनेपर भी भूषितकी भाँति सुन्दर दिखलायी पड़े—उसे रूप कहते हैं। सुन्दर-रूपमें अङ्गोंके न्यस्त होनेपर ही सुन्दर रूप होता है।

विजय—लावण्य किसे कहते हैं?

गोस्वामी—जिस प्रकार मुक्ताके भीतरसे एक छटा निकलती है, उसी प्रकार अङ्गोंसे जो छटा बाहर होती है, उसे लावण्य कहते हैं।

विजय—सौन्दर्य किसे कहते हैं?

गोस्वामी—अङ्ग प्रत्यङ्गोंका यथोचित रूपमें सन्निवेश हो और उनकी संधियोंके स्थान सुन्दर हों—ऐसा होनेसे सौन्दर्य होता है।

विजय—अभिरूपता किसे कहते हैं?

गोस्वामी—अपने आश्चर्यजनक गुणोंके द्वारा अपने निकट स्थित दूसरी वस्तुओंको भी अपना सारूप्य (अपने समान रूप) प्राप्त करानेका नाम-अभिरूपता है।

विजय—माधुर्य किसे कहते हैं?

गोस्वामी—शरीरके किसी अनिर्वचनीय रूपको माधुर्य कहते हैं।

विजय—मार्द्दव किसे कहते हैं?

गोस्वामी—कोमल चीजोंका स्पर्श भी सहा नहीं जाना—मार्द्दव कहलाता है। मार्द्दव तीन प्रकारका होता है—उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ।

विजय—प्रभो! गुणोंको समझ गया। अब नामके सम्बन्धको बतलाइयें।

गोस्वामी—रसभावगर्भ अर्थात् परम रहस्यमय गूढ़ रसोंसे पूर्ण राधा-कृष्ण आदि नाम ही नाम हैं।

विजय—अब चरितके सम्बन्धमें बतलावें।

गोस्वामी—चरित दो प्रकारके होते हैं—अनुभाव और लीला। विभाव समाप्त होने पर अनुभावके सम्बन्धमें बतलाऊँगा।

विजय—तब इस समय लीलाके सम्बन्धमें ही बतलाएँ।

गोस्वामी—सुन्दर क्रीड़ा, नृत्य, वेणु-वादन, गोदोहन, पर्वतके ऊपरसे गायोंको बुलाना एवं उनकी गणना करना—इसे लीला कहते हैं।

विजय—सुन्दर क्रीड़ा किसे कहते हैं?

गोस्वामी—रासलीला, गेंद खेलना, पशु-पक्षियोंकी बोली बोलना आदि अनन्त क्रीड़ाएँ हैं।

विजय—मण्डन कितने प्रकारके हैं?

गोस्वामी—वस्त्र, आभूषण, माला और अनुलेपन—ये चार प्रकारके मण्डन हैं।

विजय—सम्बन्धी किसे कहते हैं?

गोस्वामी—लग्न अर्थात् संयुक्त और सन्निहित भेदसे सम्बन्धी—द्रव्य दो प्रकारके होते

हैं।

विजय—लग्न किसे कहते हैं?

गोस्वामी—वंशी-रव, शृङ्ग-ध्वनि, गीत, सौरभ, भूषणोंकी झंकार, चरण-चिह्न, वीणा स्वर, शिल्प कौशल आदि 'लग्न सम्बन्धी' कहलाते हैं।

विजय—वंशी-रव कैसा होता है?

गोस्वामी—कृष्णके होठोंसे जो मुरली-नादामृत निकलता है, वह समस्त प्रकारके उद्दीपनोंमें प्रधान होता है।

विजय—अब कृपाकर सन्निहित-सम्बन्धीका वर्णन कीजिये।

गोस्वामी—निर्माल्य, मयूर-पुच्छ, पर्वतसे उत्पन्न गैरिक आदि धातुएँ, गौवें, लकुटी, वेणु, शृङ्गी, कृष्णके प्रिय व्यक्तियोंके दर्शन, गोधूलि, वृन्दावन, वृन्दावनाश्रित वस्तु, गोवर्द्धन, यमुना और रासस्थली आदिको 'सन्निहित सम्बन्धी' कहते हैं।

विजय—वृन्दावनाश्रितसे क्या तात्पर्य है?

गोस्वामी—मृग आदि पशु, मयूर आदि पक्षी, भ्रमर, कुञ्ज, लता, तुलसी, पुष्प, कदम्ब आदि—ये वृन्दावनाश्रित हैं।

विजय—'तटस्था' किसे कहते हैं?

गोस्वामी—चन्द्रिका अर्थात् ज्योत्सना, मेघ, विद्युत्, वसन्त, शरत्, पूर्णचन्द्र, वायु और मयूर आदि पक्षी—ये सब तटस्थ हैं।

उद्दीपन भावोंको भलीभाँति सुनकर विजयकुमार क्षणभर तक चुप रहे। आलम्बनके साथ उद्दीपन भावोंके मिलनेसे उनके हृदयमें एक परम भावका उदय हुआ। साथ ही उनके शरीरमें अनुभाव भी प्रकाशित होने लगे। वे गद्गद स्वरसे बोले—प्रभो! अब कृपाकर अनुभावोंका विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिये। आपने कृष्णचरित्रकी एक आंशिक लीलाका विषय बतलाया है। अनुभाव जान लेनेपर कृष्ण चरितको सम्पूर्ण रूपसे जान सकूँगा।

गोस्वामी—अनुभाव तीन प्रकारके हैं—अलङ्कार, उद्भास्वर और वाचिक।

विजय—अलङ्कार किसे कहते हैं?

गोस्वामी—व्रजललनाओंके यौवनकालमें बीस प्रकारके अलङ्कार सत्त्वज कहे गये हैं। कान्तके प्रति अत्यधिक अभिनिवेशजन्य ये अद्भुत रूपसे उदित होते हैं। इन २० प्रकारके अलङ्कारोंको तीन श्रेणियों में विभक्त किया गया है—(१) अंगज, (२) अयत्मज और (३) स्वभावज। अंगज—(१) भाव, (२) हाव, (३) हेला।

अयत्मज—(४) शोभा, (५) कान्ति, (६) दीप्ति, (७) माधुर्य, (८) प्रगल्भता, (९) औदार्य, (१०) धैर्य।

स्वभावज—(११) लीला, (१२) विलास, (१३) विच्छित्ति, (१४) विभ्रम, (१५) किलकिञ्चित, (१६) मोट्टायित, (१७) कुट्टमित, (१८) विव्वोक, (१९) ललित (२०) विकृत।

विजय—यहाँ भावका तात्पर्य क्या है?

गोस्वामी—उज्ज्वलरसमें निर्विकार चित्तके ऊपर रति नामक बीज स्थानीय भावके उदय होनेपर जो सबसे पहला विकार होता है, उसे 'भाव' कहते हैं। चित्तकी अविकृत-अवस्थाका नाम सत्त्व है। विकृतिका कारण उपस्थित होनेपर बीजके आदि विकारकी तरह जो आदि

विकार होता है—उसे ‘भाव’ कहते हैं।

विजय—हाव किसे कहते हैं?

गोस्वामी—गर्दनको टेढ़ी कर भ्रू और नेत्र आदि विकासके साथ भावसे अधिकतर प्रकाशशील अवस्थाको ‘हाव’ कहते हैं।

विजय—हेला किसे कहते हैं?

गोस्वामी—जिस समय हाव स्पष्ट रूपसे शृङ्गारसूचक होता है, तब उसे ‘हेला’ कहते हैं।

विजय—शोभा किसे कहते हैं?

गोस्वामी—'रूप' सम्भोग और तारुण्य आदि द्वारा अङ्गोंका विभूषण ही ‘शोभा’ है।

विजय—कान्ति किसे कहते हैं?

गोस्वामी—मन्मथतर्पण द्वारा (कामतृप्ति विधानमें) जो उज्ज्वल शोभा होती है, वही कान्ति है।

विजय—दीप्ति किसे कहते हैं?

गोस्वामी—वयस, भोग, देश, काल, गुण, रूप और वेश आदि द्वारा उदीप्त होकर जिस समय कान्ति विस्तृत होती है, तब उसे ‘दीप्ति’ कहते हैं।

विजय—माधुर्य किसे कहते हैं?

गोस्वामी—चेष्टासमूहकी सभी अवस्थाओंमें जो चारुता होती है, वही यहाँपर माधुर्य है।

विजय—प्रगल्भता किसे कहते हैं?

गोस्वामी—प्रयोगके समय निडरताको प्रगल्भता कहते हैं। कान्तके अङ्गोंके ऊपर अपने अङ्गोंका रखना ही यहाँ ‘प्रयोग’ का तात्पर्य है।

विजय—औदार्य किसे कहते हैं?

गोस्वामी—सर्वावस्थागत विनयको ‘औदार्य’ कहते हैं।

विजय—धैर्य कैसा होता है?

गोस्वामी—चित्तवृत्तिका स्थिर भाव ही धैर्य है।

विजय—यहाँ लीला किसे कहा गया है?

गोस्वामी—परम रमणीय वेष और क्रिया आदि द्वारा प्रियतमका अनुकरण करना ही ‘लीला’ है।

विजय—विलास किसे कहते हैं?

गोस्वामी—गमन, स्थिति, आसन, मुख और नेत्र आदिका प्रियतमके साथ सङ्गमके लिए जो तात्कालिक वैशिष्ट्य होता है वही विलास है।

विजय—विच्छित्ति किसे कहते हैं?

गोस्वामी—अल्पवेष रचनासे ही यदि कान्तिकी पोषकता होती है, तो उस वेष—रचनाको विच्छित्ति कहते हैं। किसी-किसी रसज्ञके मतानुसार अपराधी कान्तके आगमन करनेपर जब नायिकाके मनमें ऐसा भाव उठे कि वह अपनी सखियोंके आग्रहसे ही भूषण धारणकर रखी है (भाव यह कि उसे आभूषण भार स्वरूप लगते हैं)—इस प्रकार ईर्ष्या-अवज्ञावती स्त्रीके भावको भी विच्छित्ति कहते हैं।

विजय—विभ्रम किसे कहते हैं?

गोस्वामी—अपने प्रियतमके साथ मिलनके समय प्रबल मदनवेगके कारण हार और माला आदि भूषणोंको जहाँ धारण करना चाहिये वहाँ धारण न कर दूसरे स्थानपर धारण करनेको 'विभ्रम' कहते हैं।

विजय—किलकिञ्चित किसे कहते हैं?

गोस्वामी—हर्षके लिए गर्व, अभिलाष, रोदन, हास्य, असूया, भय और क्रोध—इन सबके एक साथ मिलनका नाम 'किलकिञ्चित' है।

विजय—मोट्टायित किसे कहते हैं?

गोस्वामी—कान्तके स्मरण और उनकी वार्ता (समाचार) पानेके समय नायिकाके हृदयमें जो भाव होता है, उस भावसे जो अभिलाषा उत्पन्न होती है—उसे 'मोट्टायित' कहते हैं।

विजय—कुट्टमित किसे कहते हैं?

गोस्वामी—स्तन या अधर आदि ग्रहणके समय नायिकाके हृदयमें प्रीति (आनन्द) होनेपर भी सभ्रम (गौरव, लज्जा आदि) के कारण बाहरमें क्रोधकी भाँति जो भाव उदित होता है, उसे 'कुट्टमित' कहते हैं।

विजय—विव्वोक किसे कहते हैं?

गोस्वामी—गर्व और मानके कारण अपनी प्रिय वस्तु अर्थात् कान्तके प्रति जो अनादर होता है, उसे विव्वोक कहते हैं।

विजय—ललित किसे कहते हैं।

गोस्वामी—अङ्ग-प्रत्यङ्गोंकी विन्यास भङ्गी और भङ्गी और भ्रूविलासकी मनोहारितासे जो सौकुमार्य प्रकाश पाता है, उसे ललित कहते हैं।

विजय—विकृत किसे कहते हैं?

गोस्वामी—लज्जा, मान और ईर्ष्या आदि द्वारा उदित अपने मनके भावोंको वाणी द्वारा व्यक्त न कर, चेष्टा द्वारा प्रकट करनेका नाम 'विकृत' है। ये बीस प्रकारके आङ्गिक और चित्तज अलङ्कार हैं। इनके अतिरिक्त रसिकजन मौग्ध्य और चकित नामक दो और भी अलङ्कार स्वीकार करते हैं।

विजय—मौग्ध्य किसे कहते हैं?

गोस्वामी—प्रियतमके निकट ज्ञात विषयके सम्बन्धमें भी अनजानकी तरह जिज्ञासा करना ही 'मौग्ध्य' अलङ्कार है।

विजय—अब 'चकित' बतलाइये।

गोस्वामी—भयका कारण न रहनेपर भी प्रियतमके निकट महाभय प्रकट करनेका नाम 'चकित' है।

विजय—प्रभो! अलङ्कार समझ गया, अब उद्भास्वरके सम्बन्धमें उपदेश करें।

गोस्वामी—हृदयके भाव शरीरमें उद्भासित (प्रकटित) होनेपर उसे 'उद्भास्वर' कहते हैं। मधुररसमें नीवि (कटिबन्ध), उत्तरीय वसन, धम्मिल अर्थात् केश-बन्धन आदिका स्खलित होना या खिसक जाना, शरीरका टूटना, जंभाई आना, नासिकाका प्रफुल्लित होना, निःश्वास छोड़ना, लोटना-पलोटना, गीत, आक्रोशन (अपनेको कोसना) आदि—ये सब उद्भास्वर हैं।

विजय—आपने अभी जिन्हें उद्भास्वर कहा है, उन सबको मोट्टायित और विलासके अन्तर्गत माननेसे भी तो चल सकता था?

गोस्वामी—तथापि इनके द्वारा किसी विशेष शोभाकी पोषकता होती है। इसीलिए पृथक् रूपमें ही इनका वर्णन किया गया है।

विजय—प्रभो! अब वाचिक अनुभावोंकी व्याख्या करनेकी कृपा करें।

गोस्वामी—वाचिक अनुभाव बारह प्रकारके हैं—आलाप, विलाप, संलाप, प्रलाप, अनुलाप, अपलाप, संदेश, अतिदेश, अपदेश, उपदेश, निर्देश और व्यपदेश।

विजय—आलाप किसे कहते हैं।

गोस्वामी—चाटुप्रिय उक्तिका नाम 'आलाप' है।

विजय—विलाप किसे कहते हैं?

गोस्वामी—दुःखजनित वाक् प्रयोगका नाम 'विलाप' है।

विजय—संलाप किसे कहते हैं?

गोस्वामी—उक्ति और प्रत्युक्तियुक्त वार्त्तालापको 'संलाप' कहते हैं।

विजय—प्रलाप किसे कहते हैं?

गोस्वामी—व्यर्थ आलापको 'प्रलाप' कहते हैं।

विजय—अनुलाप किसे कहते हैं।

गोस्वामी—बारम्बार एक ही बातका आलाप करना ही 'अनुलाप' हैं।

विजय—अपलाप किसे कहते हैं?

गोस्वामी—पूर्वोक्त वाक्यका अर्थ अन्य प्रकारसे करनेका नाम 'अपलाप' है।

विजय—सन्देश किसे कहते हैं?

गोस्वामी—प्रोषितकान्त (किसी अन्य स्थानपर गये हुए कान्त) के पास अपना संवाद भेजना ही 'सन्देश' है।

विजय—अतिदेश किसे कहते हैं?

गोस्वामी—"उसकी उक्ति ही मेरी उक्ति है", इस प्रकारके वाक्य ही 'अतिदेश' हैं।

विजय—अपदेश किसे कहते हैं?

गोस्वामी—अपने वक्तव्य विषयको सीधा न कहकर दूसरे वाक्यों द्वारा व्यक्त करनेका नाम 'अपदेश' है।

विजय—उपदेश किसे कहते हैं?

गोस्वामी—शिक्षापूर्ण वाक्योंको 'उपदेश' कहते हैं।

विजय—निर्देश किसे कहते हैं?

गोस्वामी—"मैं वही व्यक्ति हूँ"—ऐसी बातको निर्देश कहते हैं।

विजय—व्यपदेश किसे कहते हैं?

गोस्वामी—छल द्वारा अपनी अभिलाषा प्रकट करनेका नाम व्यपदेश है। ये सारे अनुभाव सभी रसोंमें हैं। परन्तु अधिक माधुर्यपोषक होनेके कारण उज्ज्वलरसमें भी इनका वर्णन किया गया है।

विजय—प्रभो! रस-विषयमें अनुभावको पृथक् रूपमें वर्णन करनेकी क्या आवश्यकता है?

गोस्वामी—आलम्बन और उद्दीपनके संयोगसे हृदयमें जो भाव उदित होते हैं, वे अङ्गोंपर प्रकटित होनेपर 'अनुभाव' कहलाते हैं। इन्हें पृथक् रूपमें न बतलानेसे विषय स्पष्ट

नहीं हो पाता।

विजय—मधुररसमें सात्त्विकभावकी व्याख्या करनेकी कृपा करें।

गोस्वामी—स्तम्भ, स्वेद आदि अष्ट सात्त्विकभाव ही, जिन्हें मैंने पहले साधारण रसतत्त्वके विचारमें बतलाया है—इस रसके सात्त्विकभाव हैं। इस रसमें उन भावोंके उदाहरण अलग-अलग रूपसे हैं।

विजय—कैसे?

गोस्वामी—व्रजलीलामें इस प्रकार देखोगे—हर्ष, भय, आश्चर्य, विषाद, अमर्ष—इनसे स्तम्भ-भावका उदय होता है। हर्ष, भय, क्रोधसे स्वेद अर्थात् घर्म (पसीना) का उदय होता है। आश्चर्य, हर्ष, भय—इनसे रोमाञ्च होता है। विषाद, विस्मय, अमर्ष और भयसे स्वर-भङ्ग होता है। भय, हर्ष और अमर्षसे वेपथु (कम्प) होता है। विषाद, क्रोध और भयसे वैवर्ण्य (रङ्ग परिवर्तन) होता है। हर्ष, रोष और विषादसे अश्रु होता है। सुख और दुःखसे प्रलय होता है।

विजय—सात्विक विकारोंके कुछ जाति भेद इस रसमें हैं या नहीं?

गोस्वामी—हाँ, हैं। मैंने साधारण रस-विचारमें सात्त्विकभावोंको धूमायित, ज्वलित, दीप्त और उदीप्त बतलाया है। इस रसमें सुदीप्त भाव उदीप्तका ही एक प्रकारका भेद है।

विजय—प्रभो, मेरे ऊपर आपकी असीम अनुकम्पा है। अब आप कृपाकर यह बतलाइये कि इस रसमें व्यभिचारी भावोंकी स्थिति किस प्रकार है?

गोस्वामी—निर्वेद आदि जिन तैतीस सञ्चारी या व्यभिचारी भावोंको मैं तुम्हें पहले बतला चुका हूँ, वे सभी इस रसमें हैं। उग्रता और आलस्य—ये दो इस रसमें नहीं होते। मधुर रसके सञ्चारीभावमें कतिपय विचित्र बातें हैं।

विजय—वे विचित्र बातें क्या हैं?

गोस्वामी—पहली विचित्र बात यह है कि सख्य आदि रसोंमें सखा और गुरुजनोंका जो कृष्णप्रेम होता है, वह भी इस मधुररसमें सञ्चारीभाव प्राप्त होता है, अर्थात् उन रसोंमें जो स्थायीभाव होते हैं, वे ही इस रसमें सञ्चारी या व्यभिचारी भावमें कार्य करते हैं।

विजय—दूसरी आश्चर्यकी बात क्या है?

गोस्वामी—दूसरी आश्चर्यकी बात यह है कि इस रसमें व्यभिचारी-भावसमूह रसके साक्षात् अङ्ग नहीं माने जाते हैं। इसलिए उसके अन्तर्गत मरणादि भी रसके अङ्ग नहीं हैं। इनकी गणना युक्तिके द्वारा इस रसमें गुणके अन्तर्गत की जाती है। रस ही गुणी हैं और वे भी गुण हैं—यह एक सिद्धान्त है।

विजय—सञ्चारीभाव कैसे उत्पन्न होते हैं?

गोस्वामी—आर्ति, विप्रिय, ईर्ष्या, विषाद, विपत्ति और अपराधसे निर्वेद—उत्पन्न होता है।

विजय—दैन्य कैसे उत्पन्न होता है?

गोस्वामी—दुःख, भय और अपराधसे 'दैन्य' होता है।

विजय—ग्लानि कैसे उत्पन्न होती है?

गोस्वामी—श्रम, आधि और रतिसे 'ग्लानि' पैदा होती है।

विजय—श्रम किससे उत्पन्न होता है?

गोस्वामी—अधिक भ्रमण करनेसे, नृत्यसे और रतिसे 'श्रम' होता

विजय—मद कैसे होता है?

गोस्वामी—मधुपानसे 'मद' होता है।

विजय—गर्व कैसे होता है?

गोस्वामी—सौभाग्य, रूप, गुण, सर्वश्रेष्ठका आश्रय तथा इष्टवस्तु लाभसे 'गर्व' होता है।

विजय—शङ्का कैसे उत्पन्न होती है?

गोस्वामी—चोरी, अपराध, क्रूरकर्म, विद्युत, भयंकर जानवर और डरावने शब्दोंसे 'शङ्का' होती है।

विजय—आवेग कैसे उत्पन्न होता है?

गोस्वामी—प्रियदर्शन, प्रियश्रवण, अप्रियदर्शन और अप्रियश्रवणसे आवेग अर्थात् किंकर्त्तव्य-विमूढ़ता उत्पन्न होती है।

विजय—उन्माद कैसे होता है।

गोस्वामी—प्रौढ़ानन्द (महानन्द) और विरहसे 'उन्माद' होता है।

विजय—अपस्मार कैसे होता है?

गोस्वामी—दुःखकी अधिकतासे उत्पन्न चित्तविप्लवता ही अपस्मार है। (इसमें नायिका काँपकर पृथ्वीपर मूर्च्छित होकर गिर पड़ती है।)

विजय—व्याधि कैसे होती है?

गोस्वामी—ज्वर आदि जैसा विकार ही 'व्याधि' है, जो चिन्ता और उद्वेग आदिसे होता है।

विजय—मोह किसे कहते हैं?

गोस्वामी—हृदयकी मूढ़ता ही 'मोह' है जो हर्ष, विश्लेष और विषादसे उत्पन्न होता है।

विजय—मृति (मृत्यु) किसे कहते हैं?

गोस्वामी—इस रसमें मृत्यु नहीं होती। मृत्युकी चेष्टामात्र होती है।

विजय—आलस्य कैसा होता है?

गोस्वामी—शक्ति रहनेपर भी अशक्त होनेका छल करना ही 'आलस्य' कहलाता है। इस रसमें आलस्य नहीं होता। कृष्ण सेवामें आलस्यका तनिक भी स्थान नहीं है। हाँ, गौण रूपमें प्रतिपक्षमें यह दिखलायी पड़ता है।

विजय—जाड्य कैसे उत्पन्न होता है?

गोस्वामी—अपनी इष्ट वस्तुके दर्शनसे, उसके सम्बन्धमें श्रवण करनेसे, अनिष्टके दर्शनसे तथा विरहसे जाड्य होता है।

विजय—ब्रीड़ा अर्थात् लज्जा क्यों होती है?

गोस्वामी—नवीन सङ्गम (मिलनादि), अकार्य, स्तव, अवज्ञा आदिसे 'ब्रीड़ा' अर्थात् लज्जा होती है।

विजय—अवहित्था किससे उत्पन्न होती है?

गोस्वामी—अवहित्था या आकार छिपाना, कपटता, लज्जा, दाक्षिण्य, भय और गौरवसे होती है।

विजय—स्मृति किससे होती है?

गोस्वामी—तुल्य वस्तुके दर्शन और दृढ़ अभ्याससे 'स्मृति' होती है।

विजय—वितर्क कैसे उत्पन्न होता है?

गोस्वामी—विमर्श और संशयसे 'वितर्क' जन्मता है।

विजय—चिन्ता किसे कहते हैं?

गोस्वामी—इष्टकी अप्राप्ति और अनिष्टकी आशङ्कासे `चिन्ता' होती

विजय—मति किसे कहते हैं?

गोस्वामी—विचारोदित अर्थ निर्द्धारण ही 'मति' है।

विजय—धृति किसे कहते हैं?

गोस्वामी—मनकी स्थिरता ही 'धृति' है, जो दुःखके अभाव और अभिलाषाकी पूर्तिसे होती है।

विजय—हर्ष किसे कहते हैं?

गोस्वामी—अभीष्ट दर्शन और अभीष्ट-प्राप्तिसे जो प्रसन्नता होती है वही 'हर्ष' होता है।

विजय—औत्सुक्य किसे कहते हैं?

गोस्वामी—इष्ट दर्शनकी लालसा और इष्ट प्राप्तिकी जो तीव्र उत्कण्ठा होती है, उसे 'औत्सुक्य' कहते हैं।

विजय—उग्रता किसे कहते हैं?

गोस्वामी—प्रचण्डताका नाम 'उग्रता' है मधुर रसमें उग्रताका स्थान नहीं है।

विजय—अमर्ष किसे कहते हैं?

गोस्वामी—निन्दा और अपमानके कारण जो असहिष्णुता होती है, उसे 'अमर्ष' कहते हैं।

विजय—असूया किसे कहते हैं?

गोस्वामी—दूसरोंके सौभाग्यके प्रति विद्वेष ही 'असूया' है। यह सौभाग्य और गुणसे होता है।

विजय—चापल किससे उत्पन्न होता है?

गोस्वामी—चित्तलाघवको 'चापल' कहते हैं। यह राग और द्वेषसे होता है।

विजय—निद्रा कैसे होती है?

गोस्वामी—क्लम अर्थात् थकावटसे निद्रा होती है।

विजय—सुप्ति किसे कहते हैं?

गोस्वामी—स्वप्न ही 'सुप्ति' है।

विजय—बोध किसे कहते हैं?

गोस्वामी—निद्रा दूर होनेको 'बोध' कहते हैं। बाबा विजय, इन व्यभिचारी भावोंके अतिरिक्त उत्पत्ति, सन्धि, शावल्य और शान्ति—ये चार दशाएँ हैं। भावसंभव ही 'भावोत्पत्ति' है। दो भावोंका एकत्र मिलना ही 'भावसन्धि' है। एक प्रकारके दो स्वरूपोंकी सन्धिका नाम 'स्वरूप-सन्धि' है। पृथक्-पृथक् स्वरूपोंकी सन्धिको भिन्न-सन्धि कहते हैं। अनेक भावोंके एकत्र मिलनेपर 'भावशावल्य' होता है। भावोंकी शान्ति अर्थात् उनका लय हो जाना ही 'भावशान्ति' कहलाती है।

विजय अब मधुररसके विभाव, सात्त्विकभाव और व्यभिचारी भाव—इन सबकी व्याख्या सुनकर रसकी सामग्री सम्पूर्ण रूपमें समझ गये। उनका चित्त प्रेममें विभोर हो गया है। प्रेम

अस्फुट है। उसे भलीभाँति समझकर वे गुरुदेवके चरणोंमें गिरकर रोते-रोते बोले—प्रभो! आप कृपाकर यह बतलाइये कि मेरे हृदयमें क्या प्रेम अब भी अस्फुट है? श्रीगुरु गोस्वामीजीने विजयको आलिङ्गन करते हुए कहा—तुम कल प्रेमतत्त्व समझ सकोगे। तुमने प्रेम सामग्री तो जान ली है, परन्तु अब भी तुम्हारे हृदयमें प्रेम स्पष्ट रूपसे उदित नहीं हो पाया है। स्थायीभाव ही प्रेम है। स्थायीभावके सम्बन्धमें तुमने पहले साधारण रूपमें तो श्रवण किया है, परन्तु अब उज्ज्वलरसमें उसके सम्बन्धमें विशेष रूपसे श्रवण करनेपर तुम्हारी सर्वसिद्धि हो जायेगी। आज बहुत देर हो गयी है, इससे आगे कल बताऊँगा।

विजयकी आँखोंसे पुनः अश्रु-बूँद टपकने लगे। वे साष्टाङ्ग प्रणामकर श्रुत—विषयका चिन्तन करते-करते वासस्थानको लौटे।

॥पैंतीसवाँ अध्याय समाप्त॥

छत्तीसवाँ अध्याय
मधुररस-विचार

आज ठीक समयपर विजकुमार गुरुदेवके श्रीचरणोंमें उपस्थित हुए और उन्हें साष्टाङ्ग दण्डवत् कर अपने स्थानपर बैठे। श्रीगोपाल गुरुगोस्वामी विजयकी स्थायीभाव जाननेकी उत्सुकताको लक्ष्य कर बोले—'मधुरा' रति ही मधुररसका स्थायीभाव है।

विजय—रतिके आविर्भावका हेतु क्या है?

गोस्वामी—अभियोग, विषय, सम्बन्ध, अभिमान, तदीय विशेष, उपमा और स्वभावसे रति उदित होती है। उक्त हेतुसमूह उत्तरोत्तर श्रेष्ठ होनेके कारण स्वभावसे जो रति उदित होती है, वही सर्वश्रेष्ठ रति है।

विजय—अभियोग किसे कहते हैं?

गोस्वामी—भाव प्रकाशका नाम ही अभियोग है। अभियोग दो प्रकारके होते हैं—स्वकर्तृक और परकर्तृक।

विजय—विषय किसे कहते हैं?

गोस्वामी—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये पाँच विषय हैं।

विजय—सम्बन्ध किसे कहते हैं?

गोस्वामी—कुल, रूप, गुण और लीला—इन चार प्रकारकी सामग्रियोंके गौरवको सम्बन्ध कहते हैं।

विजय—अभिमान किसे कहते हैं?

गोस्वामी—अनेक सुन्दर वस्तुएँ रहनेपर किसी खास वस्तुको ही लेनेके निश्चित निर्णयको अभिमान कहते हैं। जैसे कृष्ण मथुरा चले गये हैं। उस समय कृष्णके प्रति जातरति किसी व्रजबालाकी, जो अब तक अपूर्ण यौवनके कारण श्रीकृष्णसङ्ग प्राप्त नहीं कर सकी थीं, वयः सुषमाको देखकर उसकी एक सखीने निर्जनमें उसकी परीक्षाके लिए कहा—सखि, श्रीकृष्ण तो व्रज छोड़कर चले गये और तुम्हारा नव यौवन आदि इस प्रकार विकसित हो रहा है। अतएव इस व्रजमें और भी तो परम सुन्दर और गुणी युवक हैं, यदि तुम उनमेंसे किसीके साथ विवाह करना चाहती हो, मुझे चुपकेसे बतला दो, मैं तुम्हारी मातासे कहकर वैसी ही व्यवस्था करवा दूँगी। सखीकी बात सुनकर व्रजबालाने दृढ़तापूर्वक उत्तर दिया—"हे सखि! पृथ्वीमें एक-से-एक सुन्दर और माधुर्य तरङ्गवाही अनेकों विदग्धशाली युवक होंगे—वे रहें, गुणशालिनी युवतियाँ उन्हें वरण करें। परन्तु जिसके सिरपर मोरमुकुट नहीं है, जिनके अधरोंपर मुरली विराजित नहीं है एवं जिसके शरीरमें गैरिक आदि धातुओंके तिलकादि सुशोभित नहीं हैं, मैं उसे तृणके समान भी नहीं चाहती।" यही अभिमानका उदाहरण है।

विजय—अभिमान समझ गया, तदीय-विशेष किसे कहते हैं?

गोस्वामी—कृष्णके पद-चिह्न, गोष्ठ अर्थात् वृन्दावनाश्रित गोष्ठ और उनके प्रियजन ही 'तदीय विशेष' कहलाते हैं। कृष्णके प्रति राग, अनुराग और महाभावयुक्त जन ही प्रियजन हैं।

विजय—उपमा किसे कहते हैं?

गोस्वामी—जब एक वस्तु दूसरी वस्तुका कुछ अंशोंमें सादृश्य लाभ करती है तो उसे

उपमा कहते हैं। यहाँ श्रीकृष्णका कुछ सादृश्य ही उपमा कहलाता है।

विजय—स्वभाव किसे कहते हैं?

गोस्वामी—जो धर्म किसी दूसरे कारणोंकी अपेक्षा न कर स्वतः प्रकाशित हो, उसे 'स्वभाव' कहते हैं। स्वभाव दो प्रकारके होते हैं—निसर्ग और स्वरूप।

विजय—निसर्ग किसे कहते हैं?

गोस्वामी—सुदृढ़ अभ्यास-जन्य वासना या संस्कारको 'निसर्ग' कहते हैं। गुण और रूप श्रवण आदि उसके उद्बोधनके ईषत् हेतुमात्र हैं। तात्पर्य यह कि जीवके अनेक जन्म-सिद्ध सुदृढ़ रत्याभ्याससे जो संस्कार होता है, वही निसर्ग कहलाता है। कृष्णके गुण-रूप आदिका श्रवणकर उसका अकस्मात् उद्बोध होता है। यहाँ गुण व रूप श्रवण उसका सम्पूर्ण कारण नहीं हैं।

विजय—स्वरूपके सम्बन्धमें बतलाइये।

गोस्वामी—अजन्य (जो कभी पैदा न हो) अनादि, स्वतः सिद्ध भावको स्वरूप कहा जा सकता है। स्वरूप तीन प्रकारके होते हैं—कृष्णनिष्ठ, ललनानिष्ठ और उभयनिष्ठ। कृष्णनिष्ठ स्वरूप दानव स्वभाववाले व्यक्तियोंके लिए अप्राप्य है। अतएव अदैत्य अर्थात् देवस्वभाववाले मनुष्योंके लिए सुलभ है। ललनानिष्ठ स्वरूप स्वयं उबुद्ध (प्रकाशित) होता है तथा श्रीकृष्णके रूप गुणोंके निष्ठ और गोपललनानिष्ठ ये दोनों स्वरूप ही जिस स्वभावमें प्रकाशित होते हैं, उसे उभयनिष्ठ स्वरूप कहते हैं।

विजय—अभियोग, विषय, सम्बन्ध, अभिमान, तदीय-विशेष, उपमा और स्वभाव—इन सात हेतुओंसे क्या सब प्रकारकी मधुररति उदित होती है?

गोस्वामी—गोकुल-ललनाओंकी कृष्णरति स्वभावज अर्थात् स्वरूप-सिद्ध होती है, जो अभियोग आदि द्वारा उदित नहीं होती। परन्तु अनेकों विलासोंमें ये हेतु भी कार्य करते हैं। साधन-सिद्ध और निसर्ग-सिद्ध साधकोंकी रति अभियोग आदि द्वारा उद्बुद्ध होती है।

विजय—इस विषयको भलीभाँति समझ नहीं सका, दो-एक उदाहरण देकर समझानेकी कृपा करें।

गोस्वामी—जिस रतिके विषयमें बतलाया जा रहा है, वह रति केवल रागानुगाभक्तिसे ही उदित होती है। वैधीभक्ति जब तक भावमयी नहीं हो जाती, तब तक उससे उक्त रति बड़ी दूर होती है। साधन-दशामें व्रजललनाओंकी कृष्णसेवाकी भावचेष्टाओंको देखकर जिसे उसके प्रति लोभ होता है, वे स्वभावके अतिरिक्त अन्य छह कारणोंसे विशेषतः प्रियजनसे क्रमशः रति लाभ करते हैं। साधन-सिद्ध होनेपर उन्हें ललनानिष्ठ स्वरूपकी स्फूर्ति प्राप्त होती है।

विजय—रति कितने प्रकारकी होती है?

गोस्वामी—रति तीन प्रकारकी होती हैं—साधारणी, समञ्जसा और समर्था। कुब्जाकी रति साधारणी रतिका उदाहरण है। साधारणी रतिके मूलमें सम्भोगकी इच्छा रहनेके कारण उसका तिरस्कार किया गया है। महिषियों (द्वारकाकी महिषियों) की रति-समञ्जसा कहलाती है; क्योंकि इसमें लोकधर्मकी अपेक्षा होती है तथा यह विवाह विधि द्वारा उद्बुद्ध होती है। अर्थात् मैं इनकी पत्नी हूँ, ये मेरे पति हैं—इस भावसे यह रति सीमित होती है। गोकुलवासियोंकी रति समर्था होती है; क्योंकि ऐसी रति लोकमर्यादा और धर्मकी सीमाको भी पारकर विराजमान होती है। समर्था रति असमञ्जसा नहीं होती, बल्कि परम पारमार्थिक

विचारसे समर्था रति ही अति समञ्जसा होती है। साधारणी रति मणि जैसी है, समञ्जसा रति चिन्तामणि जैसी है तथा समर्था रति कौस्तुभमणि जैसी परम दुर्लभ होती है।

विजयकी आँखें सजल हो आयीं। वे रोते-रोते बोले—आज मैं बड़ा ही भाग्यशाली हूँ कि ऐसे अपूर्व विषयका श्रवण कर रहा हूँ। प्रभो! कृपाकर अब साधारणी रतिका लक्षण बतलाइये।

गोस्वामी—कृष्णको सामने दर्शनकर मोहित होकर सम्भोगकी इच्छासे जो रति आविर्भूत होती है—जो रति गाढ़ी नहीं होती—वह साधारणी रति कहलाती है। यह रति गाढ़ी या स्थायी नहीं होती। सम्भोगकी इच्छाका ह्रास होनेपर इस प्रकारकी रतिका भी ह्रास हो जाता है। यह रति निम्नकोटिकी होती है।

विजय—समञ्जसा रति कैसी होती है?

गोस्वामी—रूप और गुण आदिके श्रवणसे उत्पन्न—मैं उनकी पत्नी हूँ, वे मेरे पति हैं —इस भावनासे पूर्ण गाढ़ी-रति ही समञ्जसा रति कहलाती है।

कभी-कभी इसमें सम्भोगकी इच्छा भी उदित होती है। जब समञ्जसा रतिसे पृथक् रूपमें सम्भोग इच्छा होती है उस समय सम्भोग-इच्छासे उत्पन्न हाव, भाव और हेला आदि द्वारा अथवा स्वाभियोग प्रकाशन द्वारा श्रीकृष्णको वशीभूत करना असम्भव होता है।

विजय—समर्था रति कैसी होती है?

गोस्वामी—प्रत्येक प्रकारकी रतिमें सम्भोगकी इच्छा विद्यमान होती है। साधारणी और समञ्जसा रतिमें सम्भोगकी इच्छा स्वार्थपरा होती है। वैसी स्वार्थपरा सम्भोगेच्छासे निःस्वार्थ लक्षण किसी विशेष भावको प्राप्त सम्भोगेच्छाके साथ तादात्म्य अर्थात् एक ही भावको प्राप्त रति ही 'समर्था' कहलाती है।

विजय—वह विशेष भाव कैसा होता है? इसे तनिक स्पष्ट करनेकी कृपा करें।

गोस्वामी—सम्भोगेच्छा दो प्रकारकी होती है—(१) अपनी इन्द्रियोंकी तृप्तिके लिए—सुखके लिए, प्रियतम द्वारा सम्भोगकी इच्छा और (२) अपने द्वारा प्रियतमकी इन्द्रियतर्पण-सुख-भावनामयी सम्भोगकी इच्छा। पहले प्रकारकी इच्छाको 'काम' कहा जा सकता है, क्योंकि उसमें अपने सुखकी कामना होती है। दूसरे प्रकारकी इच्छामें एकमात्र अपने प्रियतमका सुख ही निहित होता है, इसलिए उसे 'प्रेम' कहा गया है। साधारणी रतिमें प्रथम प्रकारकी इच्छा अर्थात् काम ही प्रबल होता है, समञ्जसामें वैसी इच्छा प्रबल नहीं होती। शेषोक्त लक्षण अर्थात् प्रियतमके सुखकी इच्छा ही समर्था रतिके सम्भोग इच्छाका विशेष धर्म है।

विजय—सम्भोगमें प्रियतमका स्पर्शसुख अवश्य ही उपलब्ध होता है। क्या इस सुखकी इच्छा भी समर्था रतिमें नहीं होती?

गोस्वामी—अवश्य ही ऐसी इच्छासे सम्पूर्ण रूपसे रहित होना बहुत ही कठिन है, फिर भी समर्थाके हृदयमें वैसी इच्छा अत्यन्त क्षीण होती है। इसी विशेषके सहारे रति ही बलवती होकर वैसी विशिष्ट सम्भोगेच्छाको क्रोड़ीभूत और सम्भोगेच्छाके साथ एकात्मता प्राप्त होती है। वैसी रति ही सबसे बढ़कर सामर्थ्ययुक्त होनेके कारण 'समर्था' नामसे प्रसिद्ध है।

विजय—समर्था रतिका विशेष माहात्म्य क्या है?

गोस्वामी—पूर्वोक्त अभियोग आदिमें अन्वय अर्थात् सम्बन्ध अथवा तदीयसे हो अथवा

रतिके स्वाभाविक स्वरूपसे ही क्यों न हो, यह समर्था रति उत्पन्न होनेके साथ-साथ कुल, धर्म, धैर्य और लज्जा आदि समस्त प्रकारकी विघ्न-बाधाओंका विस्मरण हो जाता है एवं वैसी रति अत्यन्त गाढ़ी होती है।

विजय—सम्भोगेच्छा शुद्धारतिके साथ मिलकर किस प्रकार एकात्मकताको प्राप्त होती है?

गोस्वामी—व्रजललनाओंकी समर्था रति केवल कृष्णके सुखके लिए होती है। उनका सम्भोगमें जो अपना सुख होता है, वह भी कृष्णके अनुकूल ही होता है। अतएव सम्भोगेच्छा और कृष्णमयी रति सर्वापेक्षा अधिक विलासोर्मि (विलास-लहरी) चमत्कारी शोभा धारणकर अपनेसे सम्भोगेच्छाको पृथक् रूपमें रहने नहीं देती। यह रति कभी-कभी समञ्जसामें स्वयं पर्यवसित हो सकती है।

विजय—अहा! क्या ही अपूर्व यह रति है! इसका चरम माहात्म्य श्रवण करना चाहता हूँ।

गोस्वामी—यह रति प्रौढ़ा-भाव प्राप्त होकर महाभाव दशाको प्राप्त होती है। समस्त विमुक्त पुरुष इस रतिका अन्वेषण करते हैं और पाँच प्रकारके भक्त, जिनका जितना साध्य (सामर्थ्य) होता है प्राप्त करते हैं।

विजय—प्रभो! मैं इस रतिकी क्रमोन्नति जानना चाहता हूँ।

गोस्वामी—

स्याद्दृढेयं रतिः प्रेमा प्रोद्यन्स्नेहः क्रमादयम्।
स्यान्मानः प्रणयो रागोऽनुरागो भाव इत्यपि॥

(उ० नी० १४/५९)

तात्पर्य यह कि यह मधुररति विरुद्धभाव द्वारा अभेद्य रूपसे दृढ़ होती है। तब उसका नाम 'प्रेम' होता है। वही प्रेम क्रमशः अपना माधुर्य प्रकाशकर स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग और भावके रूपमें प्रकाशित होता है।

विजय—प्रभो! इसका एक उदाहरण देकर समझानेकी कृपा करें।

गोस्वामी—जैसे गन्नेका बीज क्रमशः गन्ना, रस, गुड़, खण्ड, शर्करा, सिता और सितोत्पल होता है, उसी प्रकार रति, प्रेम, स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग और भाव—ये सब एक ही वस्तुकी ही क्रमोन्नति हैं। यहाँ 'भाव' का तात्पर्य महाभाव है।

विजय—इन भिन्न-भिन्न नामोंके रहते हुए भी एक 'प्रेम' शब्दसे ही समस्त भावोंको क्यों कहा जाता है?

गोस्वामी—उपरोक्त स्नेहादि छह प्रेमके विलास क्रम है। इसलिए पण्डितगण 'प्रेम' शब्दसे उन सबको उद्देश्य करते हैं। जिनका जिस जातीय कृष्णप्रेम उदित हुआ है उनके प्रति श्रीकृष्णका भी वही जातीय प्रेम उदित हुआ करता है।

विजय—प्रेमका लक्षण क्या है?

गोस्वामी—मधुररसमें युवक-युवतियोंके बीच ध्वंसका कारण रहनेपर भी, उनमें परस्पर जो ध्वंसरहित भावबन्धन होता है, वही प्रेम है।

विजय—प्रेमके कितने भेद हैं?

गोस्वामी—तीन—प्रौढ़, मध्य और मन्द।

विजय—प्रौढ़ प्रेम कैसा होता है?

गोस्वामी—जिस प्रेम मिलनमें विलम्ब होनेपर प्रियतमके हृदयमें जो कष्ट होगा, उसे दूर करनेके लिए प्रेमी व्यक्तिके अन्तकरणमें जो छटपटाहट होती है उसे 'प्रौढ़प्रेम' कहते हैं।

विजय—मध्यप्रेम किसे कहते हैं?

गोस्वामी—जिस प्रेममें प्रेमी व्यक्ति अपने प्रियतमके क्लेशानुभवको सहन कर लेता है, वह मध्यप्रेम है।

विजय—मन्दप्रेम किसे कहते हैं?

गोस्वामी—जिस प्रेमकी किसी विशेष काल और स्थानमें विस्मृति हो पड़ती है अथवा सब समय घनिष्ठ परिचय होने तथा एक साथ रहनेके कारण जिस प्रेममें त्याग या आदर आदि कुछ भी नहीं होता—उसे 'मन्दप्रेम' कहते हैं। प्रेम मन्द होनेपर भी उसमें अनादर या उपेक्षा नहीं होती।

विजय—इस विषयमें और भी कुछ जानने योग्य बातें हों तो बतलानेकी कृपा करें।

गोस्वामी—प्रौढ़, मध्य और मन्दजातीय प्रेमको एक दूसरे प्रकारके लक्षण द्वारा भी सहज ही समझा जा सकता है। जिसमें विच्छेदकी असहिष्णुता प्रकाशित हो, वह प्रौढ़-प्रेम है। जिसमें विरह दुःख कष्ट सहा जा सकता है, वह मध्य-प्रेम है और जिस प्रेमका किसी विशेष स्थितिमें विस्मरण हो जाये, उसे मन्दप्रेम कहते हैं।

विजय—प्रेम समझ गया। अब स्नेहका लक्षण बतलाइये।

गोस्वामी—जो प्रेम चरम सीमाको प्राप्त होकर चित्तरूप प्रदीपको प्रकाशकर हृदयको भी द्रवीभूत करता है, उसे स्नेह कहते हैं। चित्त शब्दका तात्पर्य प्रेमरूप विषयकी उपलब्धिसे है। स्नेहका तटस्थ लक्षण यह है कि प्रिय विषयका बारम्बार दर्शन करके भी तृप्ति नहीं होती।

विजय—क्या स्नेहके परिमाणके अनुसार इसमें भी उत्तम और कनिष्ठ आदिके भेद हैं?

गोस्वामी—हाँ, स्नेहके तारतम्यानुसार इसमें भी तीन भेद हैं—उत्तम, मध्य और कनिष्ठ। कनिष्ठ स्नेहीका प्रिय व्यक्तिके अङ्ग-स्पर्शसे मन द्रवित होता है, मध्यम स्नेहीको प्रिय व्यक्तिके दर्शनसे ही द्रवता होती है, और उत्तम स्नेहीका प्रिय व्यक्ति (प्रियतम) के सम्बन्धमें कुछ श्रवण करनेसे ही चित्त द्रवित हो पड़ता है।

विजय—स्नेह कितने प्रकारके हैं?

गोस्वामी—स्नेह स्वरूपतः दो प्रकारका होता है—घृतस्नेह और मधुस्नेह।

विजय—घृतस्नेह किसे कहते हैं?

गोस्वामी—अत्यन्त आदरमय स्नेह ही 'घृतस्नेह' कहलाता है। घृत जिस प्रकार मिश्री आदिके साथ मिलकर ही अत्यन्त सुस्वादु होता है, मधुकी भाँति स्वयं मीठा नहीं होता, उसी प्रकार घृतस्नेह भी गर्वासूया आदि भावोंके साथ मिलित होनेपर ही परम आस्वादनीय अवस्थाको प्राप्त होता है, मधुस्नेहकी भाँति यह स्वयं माधुर्यवाही नहीं होता। घृतस्नेह निसर्गतः शीतल होता है। इसलिए परस्परके आदरसे घनीभूत होकर प्रगाढ़ आदरमय बन जाता है। अर्थात् घृत जिस प्रकार सहज शीतल पदार्थके सङ्गसे घना हो जाता है, उसी प्रकार घृतस्नेह भी नायक-नायिकाके परस्पर आदर संयोगको प्राप्त होकर घना बन जाता है। घृतका लक्षण होनेके कारण उसे घृतस्नेह कहते हैं।

विजय—आपने ऊपर आदरका उल्लेख किया है, वह आदर क्या है?

गोस्वामी—गौरवसे आदर होता है। अतएव आदर और गौरव परस्पर अन्योन्याश्रित हैं। रति आदिमें रहनेपर भी स्नेहमें वह सुव्यक्त होता है।

विजय—गौरव किसे कहते हैं?

गोस्वामी—ये गुरुजन हैं—इस बुद्धिका नाम ही गौरव है। बुद्धिसे जो भाव उदित होता है, उसे 'सम्भ्रम' कहते हैं। आदर और गौरव परस्पर आश्रित होते हैं। अतएव आदर करनेसे ही उसमें गौरव है, ऐसा समझना होगा।

विजय—मधुस्नेह कैसा होता है?

गोस्वामी—प्रिय व्यक्तिके प्रति "ये मेरे हैं"—ऐसे अतिशय मदीयत्व युक्त स्नेहको मधुस्नेह कहते हैं। यह दूसरे भावोंकी अपेक्षा न करके स्वयं माधुर्य प्रकट करता है। यह स्नेह स्वयं माधुर्यमय होता है तथा इसमें नाना रसोंका मिलन है। इसमें उन्मादकता धर्मवशतः उष्णता भी है, इसीलिए मधु जैसा लक्षण रहनेके कारण इसे मधुस्नेह कहा गया है।

विजय—मदीयत्व किसे कहते हैं?

गोस्वामी—रतिमें दो भावनाएँ कार्य करती हैं। "मैं उनकी हूँ"—यह एक प्रकारकी भावनामयी रति है। "वे मेरे हैं"—यह दूसरी प्रकारकी भावनामयी रति है। घृत स्नहमें "मैं उनकी हूँ" भाव बलवान रहता है। मधुस्नेहमें "वे मेरे हैं"—यह भाव प्रबल होता है। चन्द्रावलीमें घृतस्नेह है और श्रीमती राधिकामें मधुस्नेह है। ये दोनों भाव ही मदीयत्व हैं।

इन दो प्रकारके भावोंका श्रवणकर विजयको रोमाञ्च हो गया। वे प्रेमसे गद्गद होकर श्रीगुरु गोस्वामीको दण्डवत् प्रणामकर बोले—आज मैं धन्य हो गया। मेरा मनुष्य जन्म सफल हो गया। आपके उपदेशामृतका पानकर श्रवणकी पिपासा तृप्त नहीं हो रही है। अब अनुग्रहपूर्वक मानके सम्बन्धमें बतलाइये।

गोस्वामी—जो स्नेह उत्कर्ष प्राप्तिपूर्वक युगलको (नायक-नायिकाको) नूतन माधुर्य अनुभव कराकर स्वयं बाहरसे कुटिल या वक्र भाव धारण करता है—उसे मान कहते हैं।

विजय—मान कितने प्रकारका होता है?

गोस्वामी—उदात्त और ललित भेदसे मान दो प्रकारका होता है।

विजय—उदात्तमान किसे कहते हैं?

गोस्वामी—उदात्तमान भी दो प्रकारका होता है। एक तो बाहरमें दाक्षिण्य और भीतरमें वाम्यभाव लेकर होता है। और दूसरा सदुर्बोध्य परिपाटी लाभकर मनके भावोंको गोपन रखकर वाम्यगन्धयुक्त और गाम्भीर्य लक्षणयुक्त होता है। घृतस्नेह ही उदात्तमान होता है।

विजय—ललितमान किसे कहते हैं? इनमें न जाने क्यों मेरी अधिक रुचि हो रही है, कह नहीं सकता।

गोस्वामी—मधुस्नेह स्नेहोद्रेक स्वभावसे उथलकर निरर्गलतावशतः अतिमधुर वक्रता और नर्मविशेष वहनकर ललित मान होता है। यह भी कौटिल्य और नर्म भेदसे दो प्रकारका होता है। स्वतन्त्र रूपमें हृदयगत कौटिल्य धारणपूर्वक जो मान होता है, उसे कौटिल्यललित मान कहते हैं। नर्मयुक्तमान ही नर्मललितमान कहलाता है। दोनों प्रकारके ललितमान ही मधुस्नेहसे उदित होते हैं।

विजय—प्रणय किसे कहते हैं?

गोस्वामी—प्रियतमके साथ अभेद मननरूप विश्रम्भयुक्त मान ही प्रणय कहलाता है।

विजय—यहाँ विश्रम्भका तात्पर्य क्या है?

गोस्वामी—प्रणयका स्वरूप ही विश्रम्भ है। मैत्र और सख्यके भेदसे विश्रम्भ दो प्रकारका होता है। दृढ़ विश्वासको विश्रम्भ कहते हैं। विश्रम्भ प्रणयका कोई निमित्त कारण नहीं है—उपादान कारण है।

विजय—मैत्र विश्रम्भ किसे कहते हैं?

गोस्वामी—विनययुक्त विश्रम्भ ही 'मैत्र विश्रम्भ' कहलाता है।

विजय—सख्य विश्रम्भ किसे कहते हैं?

गोस्वामी—सब प्रकारके भयसे मुक्त स्वाधीनता-प्रचुर विश्रम्भ ही सख्य विश्रम्भ कहलाता है।

विजय—प्रणय, स्नेह और मान—इनके आपसी सम्बन्धके विषयमें कुछ स्पष्ट रूपसे बतलानेकी कृपा करें।

गोस्वामी—किसी जगह स्नेहसे प्रणय उत्पन्न होकर मान धर्मको प्राप्त होता है। कहीं-कहीं स्नेहसे मान होकर प्रणयको प्राप्त होता है। अतएव मान और प्रणयकी अन्यान्य कार्यकारणता है। विश्रम्भको पृथक् रूपसे इसीलिए वर्णन किया जाता है। उदार और ललित भेदसे मैत्र और सख्य सुसङ्गत होता है। फिर सुमैत्र और सुसख्य होनेके कारण उनका प्रणयमें भी विचार होता है।

विजय—अब रागका लक्षण बतलाइये।

गोस्वामी—प्रणयकी उत्कर्षावस्थामें जब अतिशय दुःख भी सुख जैसा प्रतीत होता है, तब ऐसे प्रणयको 'राग' कहते हैं।

विजय—राग कितने प्रकारका होता है?

गोस्वामी—राग दो प्रकारका होता है—नीलिमा-राग और रक्तिमा-राग।

विजय—नीलिमा-राग कितने प्रकारका होता है?

गोस्वामी—नीली-राग और श्याम-रागके भेदसे नीलिमा-राग दो प्रकारका होता है।

विजय—नीली-राग कैसा होता है?

गोस्वामी—जिस रागके मन्द पड़नेकी सम्भावना नहीं होती और बाहरमें जो अधिक प्रकाशमान होकर अपने संलग्न दूसरे भावोंको ढक लेता है, उसे नीली-राग कहते हैं। यह राग चन्द्रावली और कृष्णमें लक्षित होता है।

विजय—श्याम-राग किसे कहते हैं?

गोस्वामी—नीली-रागसे भीरुतारूप और औषधसेकादि द्वारा कुछ अधिक प्रकाशशील एवं विलम्ब साध्य जो राग होता है, वह श्याम-राग है।

विजय—रक्तिमा-राग कितने प्रकारका होता है?

गोस्वामी—दो प्रकारका होता है—कुसुम्भ-राग और मञ्जिष्ठासम्भव-राग।

विजय—कुसुम्भ-राग किसे कहते हैं?

गोस्वामी—जो राग चित्तमें शीघ्रातिशीघ्र सञ्चरित होता है तथा दूसरे रागोंकी कान्तिको प्रकाश करके स्वयं भी आवश्यकताके अनुसार शोभित होता है, उसे कुसुम्भराग कहते हैं। आधार-विशेषमें कुसुम्भ-राग स्थिर होता है। परन्तु कृष्णकी प्रियाओंमें मञ्जिष्ठाके मिश्रण होनेपर वह कभी-कभी म्लान भी होता है।

विजय—मञ्जिष्ठा-राग किसे कहते हैं?

गोस्वामी—जो राग कभी भी नष्ट नहीं होता, सदा स्थिर रहता है अर्थात् नीलीकुसुम्भ आदिकी तरह मलीन नहीं होता—दूसरोंकी अपेक्षासे रहित अर्थात् स्वतः सिद्ध होता है, श्रीमती राधा कृष्णके ऐसे रागको मञ्जिष्ठा-राग कहते हैं। सिद्धान्त यह है कि घृत-स्नेह, उदात्त, मैत्र, सुमैत्र, नीलिमा आदि पूर्वमें कहे गये भावसमूह चन्द्रावली और रुक्मिणी आदि महिषियोंमें लक्षित होते हैं। मधु-स्नेह, ललित, सख्य, सुसख्य और रक्तिम आदि उत्तरोत्तर भावसमूह श्रीराधिकामें परिलक्षित होते हैं। ये भावसमूह कभी-कभी सत्यभामा और समय-विशेषपर लक्ष्मणामें भी प्रकाशित होते हैं। इस प्रकारके भावभेदसे गोकुल देवियोंमें स्वपक्ष आदि जो भेद होते हैं, उनका विचार आलम्बन-विभावके प्रसङ्गमें पहले ही किया जा चुका है। भक्तिरसामृतसिन्धुमें बतलाये गये दूसरे-दूसरे ४१ मुख्य भावोंके सम्बन्धसे (उनमें आपस में मिलनेसे) जो विविध प्रकारके भेद हो सकते हैं और दूसरे समस्त प्रकारके भेदोंको पण्डित व्यक्ति प्रज्ञाके बलसे—पारमार्थिक बुद्धिके सहारे समझ लेते हैं। यहाँ इनकी पृथक् रूपमें व्याख्या नहीं की गयी।

विजय—'भावान्तर' शब्दसे किन-किन भावोंको समझना होगा?

गोस्वामी—स्थायी मधुर भाव, तैंतीस व्यभिचारीभाव और हास्य आदि सात=कुल मिलाकर इन ४१ भावोंको भावान्तर कहा गया है।

विजय—रागके विषयमें समझ गया। अब अनुरागकी व्याख्या करें।

गोस्वामी—जो राग स्वयं नित्य नवीन भावमें सदा अनुभूत प्रियको प्रतिक्षण नवीन कर देता है, उसे अनुराग कहते हैं।

विजय—यह अनुराग और क्या-क्या विचित्रता प्रकाश करता है?

गोस्वामी—परस्पर वशीभाव, प्रेमवैचित्य और अप्राणियों (वृक्षादि) में भी जन्म ग्रहण करनेकी लालसा आदि रूपमें अनुराग प्रकाशित होता है तथा विप्रलम्भके समयमें कृष्णकी स्फूर्ति कराता है।

विजय—परस्पर वशीभाव और अप्राणियोंमें जन्म ग्रहणकी लालसा तो सहज ही समझ गया, कृपया प्रेम-वैचित्यके सम्बन्धमें उपदेश करें।

गोस्वामी—विप्रलम्भको ही प्रेम-वैचित्य कहते हैं। इसके सम्बन्धमें बादमें बतलाऊँगा।

विजय—अच्छी बात है। तब महाभावके सम्बन्धमें बतलानेकी कृपा कीजिये।

गोस्वामी—वत्स! व्रजरसके विषयमें मेरी जानकारी अतिशय क्षुद्र है। कहाँ मैं और कहाँ परमोन्नत महाभावका वर्णन! फिर भी श्रीरूप गोस्वामी और पण्डित गोस्वामीकी कृपाशिक्षाके बलपर तथा श्रीरूप गोस्वामीके निर्देशके अनुसार मैं जो कुछ कह रहा हूँ, उसे उन्हींकी कृपासे ही अनुभव करो। यावदाश्रयवृत्ति रूपमें अनुराग स्वयंवेद्यदशाको प्राप्त होकर प्रकाशित होनेपर वही भाव या महाभाव होता है।

विजय—प्रभो! मैं अतिशय दीनहीन और मूर्ख जिज्ञासु हूँ। मेरी समझने योग्य भाषामें सरल और सहज रूपमें महाभावका लक्षण बतलावें तो बड़ी कृपा होगी।

गोस्वामी—श्रीराधिकाजी अनुरागकी आश्रय हैं और कृष्ण उसके विषय हैं। श्रीनन्दनन्दन शृङ्गार रूपमें विषय-तत्त्वकी सीमा हैं और श्रीराधाजी आश्रय-तत्त्वकी सीमा हैं। तात्पर्य यह है कि श्रीकृष्ण ही सर्वश्रेष्ठ अनुरागके विषय हैं और श्रीराधाजी उसके सर्वश्रेष्ठ आश्रय हैं।

उनका अनुराग ही स्थायी भाव है। वही अनुराग अपनी चरम सीमाको पहुँचकर यावदाश्रयवृत्ति होता है एवं उसी अवस्थामें स्वयंवेद्यदशा अर्थात् तत्प्रेयसीजन विशेषकी संवेद्यदशाको प्राप्त होकर यथा समयमें सुदीप्त आदिके द्वारा प्रकाशमान होता है।

विजय—अहो! महाभाव! महाभाव किसे कहते हैं—आज मैं कुछ-कुछ समझा। समस्त भावोंकी चरम सीमा ही महाभाव है। इस महाभावका उदाहरण सुननेकी बड़ी उत्कण्ठा हो रही है, कृपया सुनाकर मेरे कानोंको तृप्त करें।

गोस्वामी—

राधया भवतश्च चित्तजतुनी स्वेदैर्विलाप्य क्रमाद्-
युञ्जन्नद्रिनिकुञ्जकुञ्जरपते निर्धूतभेदभ्रमम्।
चित्राय स्वयमम्बरं जयदिह ब्रह्माण्डहर्म्यादरे,
भूयोभिर्नवरागहिङ्गुलभरैः शृङ्गारकारुः कृती॥

(उ० नी० १४/१५५)

यह श्लोक ही महाभावका उदाहरण है। निकुञ्जोंमें विहरणशील श्रीराधाकृष्णके अनुराग पराकाष्ठाको अनुभव करती हुई वृन्दादेवी कृष्णसे कहती हैं—

हे शेलकुञ्जोंमें विहार करनेवाले मत्त गजराज! शृङ्गाररूप सुनिपुण शिल्पीने भावोष्मारूप अग्निताप द्वारा राधा और तुम्हारे दोनोंके चित्तरूप लाक्षा (लाह) को द्रवीभूतकर (गलाकर) धीरे-धीरे दोनोंको एकत्रकर भेदभ्रमको दूर कर दिया है (अर्थात् भेदरहित कर दिया है) और इस ब्रह्माण्ड रूप देवगृहमें उसी व्यापारका चित्र अङ्कन करनेके लिए नवरागरूप हिङ्गलसमूहका प्रयोगकर स्वयं ही अनुरञ्जित (रक्तवर्ण) किया है (दोनोंके चित्तको अनुरक्त किया है) यहाँ 'भेदभाव-दूरीकरण' ही स्वसंवेद्यदशाको प्राप्त होना है। ब्रह्माण्डरूप अट्टालिका समूहमें आदि द्वारा यावदाश्रयवृत्तिका बोध होता है और 'अनुरञ्जित किया है' इससे प्रकाशितत्वकी सूचना होती है।

विजय—इस महाभावकी स्थिति कहाँ है?

गोस्वामी—यह महाभाव रुक्मिणी आदि महिषियोंमें भी अति दुर्लभ है, केवलमात्र श्रीराधा आदि व्रजदेवियोंके ही अनुभवगम्य है।

विजय—इसका तात्पर्य क्या है?

गोस्वामी-जहाँ नायिका नायकके साथ विवाह-विधिसे बँधी हुई है, वहाँ स्वकीयाभाव होता है। स्वकीयाभावमें रति समञ्जसा होती है अर्थात् वह महाभाव आदि परमोच्च अवस्थाको प्राप्त होनेमें समर्थ नहीं होती। व्रजमें भी किसी-किसीमें स्वकीयाभाव होता है, परन्तु यहाँ परकीयाभाव ही प्रबल होता है। यहाँपर रति समर्था होनेके कारण चरम सीमाको प्राप्त होकर महाभाव अवस्था तकको प्राप्त होती है।

विजय—महाभावके कितने भेद हैं?

गोस्वामी—परम अमृतस्वरूप श्रीमहाभाव चित्त (मन) को आकर्षण कर स्व-स्वरूपताको प्राप्त कराता है। महाभाव दो प्रकारका होता है—रूढ़ और अधिरूढ़।

विजय—रूढ़ महाभाव किसे कहते हैं?

गोस्वामी—जिसमें सात्त्विकभावसमूह उदीप्त हों, उसे रूढ़ महाभाव कहते हैं।

विजय-रूढ़ महाभावके अनुभावोंको बतलानेकी कृपा करें।

गोस्वामी—क्षणभरका समय भी असह्य होना, उपस्थित जनसमुदायका हृदयविलोड़न, कल्प-क्षणत्व (एक कल्पका समय भी क्षणभरका प्रतीत होना), श्रीकृष्णके सुखी रहनेपर भी उनके कष्टकी आशङ्कासे खिन्न होना, मोहसे रहित होनेपर भी आत्मा आदि सब कुछका विस्मरण होना तथा क्षणभरका समय भी कल्प जैसा प्रतीत होना—इन अनुभावोंमेंसे कुछ तो सम्भोगमें और कुछ विप्रलम्भमें अनुभूत होते हैं।

विजय—क्षणभरका समय भी असह्य होता है—इसे उदाहरणके साथ समझानेकी कृपा करें।

गोस्वामी—यह भाव वैचित्य-विप्रलम्भ है। संयोगमें भी वियोगका भान होता है। इसमें क्षणभरका वियोग भी असहनीय होता है। कुरुक्षेत्रमें गोपियोंने बहुत दिनोंके बाद श्रीकृष्णका दर्शनकर अपने नेत्रोंके ऊपर पलकोंके निर्माता ब्रह्माजीको शाप दिया था। क्योंकि आँखोंकी पलकें उनके कृष्ण-दर्शनमें बाधक हो रही थीं—पलक गिरनेका समय भी उन्हें असह्य होता था।

विजय—उपस्थित जनसमुदायका 'हृदय विलोड़न' किसे कहते हैं?

गोस्वामी—कुरुक्षेत्रमें कृष्ण-दर्शनको आयी हुई गोपियोंके अलौकिक अनुरागको देखकर वहाँ उपस्थित रुक्मिणी आदि महिषियों और युधिष्ठिर आदि राजाओंका चित्त जिस प्रकार विलोड़ित (मथित) हुआ था, वैसा ही होना।

विजय—कल्पक्षणत्व किसे कहते हैं?

गोस्वामी—रासकी रात्रि ब्रह्माकी एक रात्रिके समान लम्बी हुई थी, फिर भी गोपियोंको वह ब्रह्मरात्रि क्षणभरके समयसे भी अल्प लग रही थी, ऐसे भावको कल्पक्षणत्व कहते हैं।

विजय—श्रीकृष्णके सुखी रहनेपर भी उनके कष्टकी आशङ्कासे खिन्न होनेका उदाहरण देकर समझाइये।

गोस्वामी—"यत्ते सुजातचरणाम्बुरुह" श्लोकमें गोपियाँ जैसे श्रीकृष्णके चरणकमलोंको अपने स्तनोंपर धारण करके भी वह यह सोचकर बड़ी दुःखी हुई थीं कि हमारे स्तन तो कठोर हैं, अतएव कृष्णके अतीव कोमल चरणकमलोंको उनपर रखनेसे कष्ट होता होगा। ऐसा खेद प्रकट करनेको "सुखमें भी आर्त्ति शङ्कासे खिन्नत्व" कहते हैं।

विजय—मोहके अभाव में भी सर्व विस्मरण कैसा होता है?

गोस्वामी—हृदयमें कृष्णकी स्फूर्ति होनेसे सब प्रकारके मोह आदि दूर हो जाते हैं—मोहका अभाव होता है। ऐसी अवस्था जिसमें कृष्ण-स्फूर्ति तो रहती है, किन्तु देह आदि समस्त जगत्‌की सुध-बुध खो जाती।

विजय—क्षण-कल्पता किसे कहते हैं?

गोस्वामी—कृष्ण उद्धवसे गोपियोंकी विरहदशाका वर्णन करते हैं—उद्धव! जब मैं व्रजवासियोंके साथ वृन्दावनमें था, उस समय मेरे साथ उनकी रातें एक क्षणके समान बीत जाती थीं। मेरे वियोगमें वही रातें उनके काटे भी नहीं कटती थीं—एक कल्पके समय से भी अधिक लम्बी जान पड़ती थी। इसी रूपसे एक क्षण भी कल्पके समान प्रतीत होता था।

विजय—रूढ़ महाभाव समझ गया, अब अधिरूढ़ भाव की व्याख्या करें।

गोस्वामी—जब अनुभावसमूह दृढ़ महाभावमें व्यक्त हुए अनुभावोंसे भी अधिक आश्चर्य

विशेषताको प्राप्त होते हैं, वही अधिरूढ़ महाभाव है।

विजय—अधिरूढ़ कितने प्रकारके होते हैं?

गोस्वामी—दो प्रकारके होते हैं—मोदन और मादन।

विजय—मोदन किसे कहते हैं?

गोस्वामी—जिस अधिरूढ़ महाभावमें नायक और नायिकामें सात्त्विक भावसमूह अत्यन्त अधिक रूपमें उद्दीप्त हो उठे, उसे मोदन कहते हैं। उस मोदन भावमें कृष्ण और राधाको विक्षोभ और भय-सा होता है और प्रेम रूप महासम्पत्तिके विषयमें सुप्रसिद्धा श्रीगौरी आदि नारियोंसे भी अधिक प्रेम प्रकाशित होता है।

विजय—मोदनका स्थल वर्णन करें।

गोस्वामी—श्रीराधिकाके यूथके सिवाय मोदन दूसरी जगह प्रकाशित नहीं होता। मोदन एकमात्र ह्लादिनीशक्तिका प्रियवर सुविलास है। किसी विशेष दशामें (विशेष विरहमें) मोदन ही मोहन हो जाता है। विरह विवशताके कारण उसी दशामें सुदीप्त सात्त्विक भावसमूह उदित होते हैं।

विजय—मोहन अवस्थाके अनुभावोंका वर्णन कीजिये।

गोस्वामी—अन्य कान्ता द्वारा आलिङ्गन किये गये कृष्णकी मूर्च्छा (द्वारकामें रुक्मिणी द्वारा आलिङ्गन किये जानेपर यमुनातीरवर्ती वृन्दावनस्थित निकुञ्जोंमें राधाके साथ केलि-विनोद आदिका स्मरणकर कृष्णका मूर्च्छित होना), स्वयं असह्य दुःख स्वीकार करके भी कृष्ण-सुखकी अभिलाषाका होना, ब्रह्माण्डक्षोभकारिता, पशुपक्षी आदिका रोदन, मरण स्वीकार करके भी अपने शरीरके पञ्चभूतों द्वारा (मिट्टी आदि द्वारा) श्रीकृष्णसङ्गकी प्रबल तृष्णा और दिव्योन्माद आदि अनेक अनुभाव उदित होते हैं। श्रीवृन्दावनेश्वरीमें यह मोहन भाव उदित होता है। सञ्चारीभावगत मोहकी अपेक्षा भी इस मोहन भावकी सर्वतोभावसे विलक्षण महाचमत्कारी महाभाव श्रीराधिकामें प्रकाशित होता है।

विजय—प्रभो! यदि उचित समझें तो दिव्योन्मादका लक्षण बतलानेकी कृपा करें।

गोस्वामी—किसी अनिर्वचनीय वृत्तिविशेषको प्राप्त अर्थात् किन्हीं विशेष दशामें मोहन भाव भ्रम जैसी कोई विचित्र दशाको प्राप्त होनेपर दिव्योन्माद होता है इसके उद्घूर्णा और चित्रजल्पादि अनेकों भेद हैं।

विजय—उद्घूर्णा किसे कहते हैं?

गोस्वामी—दिव्योन्मादमें अनेक प्रकारकी अद्भुत विवशतारूप चेष्टाओंका प्रकाश पाना ही उद्घूर्णा है। कृष्णके मथुरा चले जानेपर राधिकाको उद्घूर्णा हुई थीं। उस समय राधा कृष्ण-विरहके कारण भूली हुई जैसी होकर कृष्ण अभी आ रहे हैं—ऐसा भानकर कुञ्ज भवनमें सेज लगाती हैं, कभी खण्डिता रूपमें नील मेघको धमकाती हैं और कभी रातके घने अन्धकारमें शीघ्रतापूर्वक अभिसारिणी होकर घूमती हैं।

विजय—चित्रजल्प किसे कहते हैं?

गोस्वामी—अपने प्रेमीके किसी सुदृढ़ (बन्धु) के साथ भेंट होनेपर गूढ़ रहस्यपूर्ण गर्व, असूया, ईर्ष्या, चापल्य और उत्सुक्यादि भावसे तथा तीव्र-उत्कण्ठापूर्वक जो आलाप (बातचीत) होता है, उसे चित्रजल्प कहते हैं।

विजय—चित्रजल्पके कितने अंग हैं?

गोस्वामी—प्रजल्प, परिजल्पित, विजल्प, उज्जल्प, संजल्प, अवजल्प, अभिजल्प, आजल्प, अतिजल्प और सज्जल्पके भेदसे चित्रजल्पके दस अङ्ग हैं। श्रीमद्भागवत दसवें स्कन्धके भ्रमरगीतमें इनका वर्णन पाया जाता है।

विजय—प्रजल्प किसे कहते हैं?

गोस्वामी—असूया, ईर्ष्या और मदयुक्त अवज्ञाकी भावभङ्गीसे प्रियव्यक्तिके अकौशल (अविचक्षणता) अर्थात् अनिपुणता प्रकाश करनेको 'प्रजल्प' कहते हैं।

विजय—परिजल्पित किसे कहते हैं?

गोस्वामी—प्राणनाथकी निर्दयता, शठता और चपलता आदि दोषोंका प्रतिपादन करते हुए भङ्गिमा द्वारा अपनी निपुणता प्रकाश करनेको परिजल्पित कहते हैं।

विजय—विजल्प किसे कहते हैं?

गोस्वामी—हृदयमें गूढ़ मान मुद्रा है, परन्तु ऊपरसे कृष्णके प्रति असूयायुक्त (द्वेष जैसा) कटाक्षोक्तिको 'विजल्प' कहते हैं।

विजय—उज्जल्प किसे कहते हैं?

गोस्वामी—गर्वमूलक ईर्ष्या द्वारा कृष्णकी शठता, कपटता आदिको कहना। असूयाके साथ सदा आक्षेप भी रहता है, यही उज्जल्प हैं।

विजय—संजल्प किसे कहते हैं?

गोस्वामी—किसी भी अनिर्वाच्य दुर्गम सोल्लुंठ अर्थात् गूढ़ परिहास आक्षेप या भङ्गी द्वारा कृष्णकी अकृतज्ञता, कठिनता और शठता आदि स्थापना करनेको संजल्प कहते हैं।

विजय—अवजल्प किसे कहते हैं?

गोस्वामी—कृष्णके प्रति काठिन्य, कामित्व और धूर्त्तताका दोष लगाकर अपनी आसक्तिकी विवशताको ईर्ष्यायुक्त भयके साथ व्यक्त करनेको अवजल्प कहते हैं।

विजय—अभिजल्प किसे कहते हैं?

गोस्वामी—कृष्ण यदि पक्षियोंको भी खेद (विरह-दुःख) प्रदान करते हैं, तब उनके प्रति आसक्ति व्यर्थ है—इस प्रकार भङ्गी द्वारा अनुताप वचनोंको अभिजल्प कहते हैं।

विजय—आजल्प किसे कहते हैं?

गोस्वामी—निर्वेदवशतः कृष्णकी कपटता, दुःखदायकत्वको व्यक्त करना और कृष्णकी लीलाकथाका त्यागकर दूसरी कथाओंको सुखदायक बतलाना ही 'आजल्प' है।

विजय—प्रतिजल्प किसे कहते हैं?

गोस्वामी—कृष्णका मिथुनीभाव दस्युभाव है। अतएव अन्य रमणियोंके साथ वर्त्तमान अवस्थामें हमें उनसे मिलनेके लिए वहाँ जाना अयुक्तिसङ्गत है—इस प्रकार कहना और प्रेरित दूतके प्रति सम्मानका भाव दिखलाना ही प्रतिजल्प है।

विजय—सुजल्प किसे कहते हैं?

गोस्वामी—जब सरलताके कारण गाम्भीर्य, दैन्य, चापल्य और उत्कण्ठाके साथ कृष्णके विषयमें प्रश्न होता है, तो उसे 'सुजल्प' कहते हैं।

विजय—प्रभो! क्या मैं मादनका लक्षण जानने योग्य हूँ?

गोस्वामी—ह्लादिनीका सारस्वरूप प्रेम जब महाभावसे भी बढ़कर अतिशय उन्नत अवस्थाको प्राप्त होता है, तथा सब प्रकारके भावोंके प्रकाश द्वारा उल्लासयुक्त होता है, तब

वह परात्परभावरूप 'मादन' कहा जाता है। यह मादन केवल श्रीराधामें ही नित्यकाल विराजमान होता है। ललिता आदि तकमें इसका उदय नहीं होता।

विजय—क्या मादन भावमें ईर्ष्या होती है?

गोस्वामी—मादन भावमें ईर्ष्याभाव अत्यन्त प्रबल होता है। ईर्ष्याके अयोग्य चेतनाशून्य वस्तुके प्रति भी ईर्ष्या देखी जाती है और सदा संयोगमें रहनेपर भी कृष्ण सम्बन्धका गन्ध जिन पात्रोंमें रहता है उनका स्तव आदि करना भी प्रसिद्ध है। जैसे श्रीमती राधाकी कृष्णकी वनमालाके प्रति ईर्ष्या तथा उनका पार्वतीय रमणियों—पुलिन्दियोंके प्रति स्तव ही इसका उदाहरण है।

विजय—किस दशामें मादन उदय होता है?

गोस्वामी—मादनरूप विचित्रभाव केवल मिलनमें ही उदित होता है। इस मादनकी विलासरूप नित्यलीला अगणित रूपोंमें होती है।

विजय—प्रभो! क्या किसी मुनिकी वाणीमें इस प्रकारके मादनका वर्णन पाया जाता है?

गोस्वामी—मादन रस अनन्त है। अतएव उसकी सम्पूर्ण गति अप्राकृत मदनरूप श्रीकृष्णके लिए भी दुर्गम है। इसीलिए श्रीशुकमुनि भी इसका सम्यक् वर्णन नहीं कर सके हैं, फिर रस-विचारक भरतमुनि आदिकी तो बात ही क्या है?

विजय—बड़े आश्चर्यकी बात आपने बतलायी। रस-स्वरूप और रसके भोक्तृस्वरूप स्वयं कृष्ण भी सम्पूर्ण रूपसे मादनकी गति नहीं जानते, यह कैसे सम्भव है?

गोस्वामी—कृष्ण ही रस हैं। वे अनन्त, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान हैं। उनसे कुछ भी छिपा नहीं है अथवा उनके लिए कुछ भी अप्राप्य या अघटनीय नहीं है। वे अचिन्त्य भेदाभेद-धर्मवशतः नित्य ही एक रस और अनेक रस भी हैं। एक रससे वे सब कुछ आत्मसातकर आत्माराम हैं। इस दशामें उनसे पृथक् रूपमें कुछ भी रसरूपमें नहीं रहता। पुनः वे युगपत् (उसी समय) अनेक रस भी हैं। अतएव आत्मगत रसके अतिरिक्त उस दशामें परगतरस और आत्मपर मिश्रित विचित्र रस होता है। शेषोक्त दोनों प्रकारके रसोंका अनुभव ही उनका लीला सुख है। परगत रस ही चरम विस्तार लाभ करनेपर पारकीय रस होता है। वृन्दावनमें यह चरम विस्तृति अत्यन्त प्रस्फुटित है। अतएव वह आत्मगत रसके लिए अपरिज्ञात परम सुखविशिष्ट पारकीय रस ही मादनकी सीमा है। यह विशुद्ध रूपसे अप्रकट लीलाके समय गोलोकमें वर्त्तमान होता है। किंचित रूपमें वह प्रत्यायित अवस्थामें व्रजमें भी वर्त्तमान होता है।

विजय—प्रभो! मेरे प्रति आपकी असीम कृपा है। अब कृपाकर संक्षेपमें समस्त प्रकारके मधुररसोंका सार बतलावें, जिसे मैं सहज ही समझ सकूँ।

गोस्वामी—व्रजदेवियोंमें उदित होनेवाले भावसमूह सर्वथा अलौकिक और तर्कसे परे होते हैं। इसलिए विचारपूर्वक उन भावोंको बतलाना कठिन ही नहीं, असम्भव है। शास्त्रमें ऐसा कहा गया है कि श्रीराधिकाका राग पूर्वरागसे प्रकट हुआ था। वही राग किसी विशेष दशामें अनुराग और फिर अनुरागसे स्नेह होता है। पुनः मान और प्रणयके रूपमें प्रकाशित होता है। ये सब बातें स्थिर नहीं होतीं; परन्तु यह निश्चित है कि साधारणी रतिमें धूमायित अवस्था ही सीमा है। स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग तक समञ्जसाकी गति होती है।

उसमें ज्वलितारूपमें दीप्तारति होती है। रूढ़में उदीप्ता रति होती है तथा मोदन आदिमें सुदीप्ता रति होती है। इसे भी प्रायिक (कभी-कभी ऐसा होता है) ही समझना। क्योंकि देश, काल और पात्र आदिके भेदसे इस विधि में उलट-फेर भी होता है। साधारणी रति प्रेम तक जाती है। समञ्जसा रतिकी सीमा अनुराग तक है तथा समर्था रतिकी सीमा महाभाव तक है।

विजय—सख्यरसमें रतिकी गति कहाँ तक है?

गोस्वामी—नर्मवयस्योंकी रति अनुराग तक पहुँचती है; परन्तु उनमें सुबल आदिकी रति महाभावकी सीमाको प्राप्त होती है।

विजय—स्थायीभावका लक्षण, जिसे आपने पहले बतलाया था, उसी लक्षणको महाभाव तक देखता हूँ। स्थायीभाव तो नीचेसे ऊपर तक एक ही तत्त्व है, फिर रसभेद क्यों देखा जाता है।

गोस्वामी—स्थायीभावके जातिभेदसे रसभेद होता है। स्थायी भावमें गूढ़ व्यापार लक्षित नहीं होता। जब उसके साथ सामग्रीका संयोग होता है तभी उसमें जातिभेद लक्षित होता है स्थायीभाव अपनी गूढ़ जातिके अनुसार तदुपयोगी सामग्री संग्रहपूर्वक उसीके अनुरूप रसताको प्राप्त होता है।

विजय—क्या मधुररतिमें स्वकीया और परकीया जातिभेद नित्य है?

गोस्वामी—हाँ, उसमें नित्य स्वकीया और परकीया जातिभेद है। वैसा भेद औपाधिक नहीं है। यदि उस भेदको औपाधिक माना जाता है, तब मधुर आदि रसोंको भी औपाधिक ही मानना पड़ेगा। जिसका जो नित्य स्वाभाविक रस है, वही उसका नित्य जातिगत रस है। उसीके अनुरूप उसकी रुचि होती है, वैसा ही भजन होता है तथा उसकी प्राप्ति भी वैसी ही होती है। व्रजमें भी स्वकीय रस है। जो कृष्णमें पति भावना रखती हैं, उनकी रुचि, साधन भजन और प्राप्ति तदनुरूप होती है। द्वारकाकी स्वकीयता वैकुण्ठगत तत्त्व है; परन्तु व्रजकी स्वकीयता गोलोकगत तत्त्व है। दोनोंमें भेद है अथवा व्रजनाथके अन्तःस्थित वासुदेव सम्बन्धित वह स्वकीय-तत्त्व अपनी चरम अवस्थामें वैकुण्ठको ही जाता है—ऐसा समझना।

इतना सुनकर विजय श्रीगुरुदेवको प्रणामकर महाप्रेममें विभोर होकर घर लौटे।

॥छत्तीसवाँ अध्याय समाप्त॥

सैंतीसवाँ अध्याय
शृङ्गाररस-विचार

आज विजयकुमार कलके श्रवण किये हुए भावोंका आस्वादन करते-करते श्रीगुरुदेवके चरणोंमें उपस्थित हुए तथा उन्हें प्रणामकर बोले—प्रभो! मैंने विभाव, अनुभाव, सात्त्विकभाव तथा व्यभिचारीभाव—इन सबको समझ लिया है। स्थायीभावका स्वरूप भी समझ गया, इन पूर्वोक्त चार प्रकारकी सामग्रियोंका स्थायीभावसे संयोग करके भी रसका उदय नहीं करा पाता हूँ। इसका क्या कारण है?

गोस्वामी—विजय! शृङ्गार नामक रसका स्वरूप जान लेनेपर ही स्थायीभावमें रसोदय करा सकोगे।

विजय—शृङ्गार किसे कहते हैं?

गोस्वामी—अतिशय शोभामय मधुररसका नाम ही 'शृङ्गार' है। वह दो प्रकारका है—विप्रलम्भ और सम्भोग।

विजय—विप्रलम्भका लक्षण जानना चाहता हूँ।

गोस्वामी—मिलन या वियोग किसी भी अवस्थामें नायक और नायिका जब परस्पर आलिङ्गन और चुम्बन आदि नहीं कर पाते जिसे वे चाहते हैं, तब उसके अभावमें जो भाव सुन्दर रूपसे प्रकटित होता है, वह सम्भोगके लिए पुष्टिकारक विप्रलम्भ भाव कहलाता है। विप्रलम्भका अर्थ है—विरह या वियोग।

विजय—विप्रलम्भ किस प्रकार सम्भोगकी पुष्टि करता है?

गोस्वामी—जिस प्रकार रङ्गे हुए वस्त्रको फिरसे उसी रङ्गमें रङ्गा जाये तो उसकी उत्तरोत्तर उज्ज्वलता ही बढ़ती है, उसी प्रकार वियोग या विरह द्वारा सम्भोगका रसोत्कर्ष होता है। विप्रलम्भके बिना सम्भोगकी पुष्टि नहीं होती।

विजय—विप्रलम्भ कितने प्रकारका होता है?

गोस्वामी—पूर्वराग, मान, प्रेमवैचित्र्य और प्रवास भेदसे विप्रलम्भ चार प्रकारका होता है।

विजय—पूर्वराग किसे कहते हैं?

गोस्वामी—नायक और नायिकाके मिलनेसे पूर्व दर्शन और श्रवण आदिसे जो रति उत्पन्न होती है, उसे पूर्वराग कहते हैं।

विजय—दर्शनका यहाँ तात्पर्य क्या है?

गोस्वामी—कृष्णका साक्षात् दर्शन करना, चित्रपटमें उनका रूप देखना और स्वप्नमें दर्शन करना—यह सब 'दर्शन' है।

विजय—श्रवण किसे कहते हैं?

गोस्वामी—स्तुतिपाठक (बन्दी), दूती और सखी—इनके मुखसे तथा गीत आदिके द्वारा जो सुना जाता है, उसे श्रवण कहते हैं।

विजय—इस रतिके उदय होनेका हेतु क्या है? यह कैसे उत्पन्न होती है?

गोस्वामी—पहले स्थायीभाव प्रकरणमें अभियोग, विषय, सम्बन्ध और अभिमान आदिको रतिके आविर्भावका हेतु बतलाया गया है, इस पूर्वरागमें भी उनको ही हेतु कहा जा सकता है।

विजय—व्रजनायक और व्रजनायिका—दोनोंमेंसे किसे पहले पूर्वराग होता है?

गोस्वामी—इसमें अनेक प्रकारके विचार हैं। साधारण स्त्री और पुरुष, इन दोनोंमेंसे स्त्रीमें लज्जा आदि अधिक होती है, इसलिए पुरुष ही पहले स्त्रीको ढूँढ़ता है; परन्तु स्त्रियोंमें प्रेम अधिक होनेके कारण मृगनयनियोंमें पूर्वराग पहले होता है। भक्तिशास्त्रमें ऐसा कहा गया है कि भक्तमें पूर्वराग पहले जन्मता है। भगवान्‌का राग बादमें उदित होता है। व्रजदेवियाँ भक्तोंकी चरम सीमा होनेके कारण उनमें पूर्वराग अधिक सुष्ठु रूपसे पहले होता है। इस विषयमें प्राचीन उक्ति है—सबसे पहले नारी अनुरक्त होती है, उसीके इशारेसे पीछेसे पुरुष अनुरक्त होता है। यदि दोनोंका समान प्रेम होता है, तब इस क्रमका उलटफेर होनेपर भी कोई दोष नहीं होता।

विजय—पूर्वरागके सञ्चारीभावोंको बतलानेकी कृपा करें।

गोस्वामी—व्याधि, शङ्का, असूया, श्रम, क्लम, निर्वेद, औत्सुक्य, दैन्य, चिन्ता, निद्रा, प्रबोधन, विषाद, जड़ता, उन्माद, मोह और मृत्यु आदि उसके व्यभिचारीभाव हैं।

विजय—पूर्वराग कितने प्रकारका होता है?

गोस्वामी—पूर्वराग तीन प्रकारका होता है—प्रौढ़, समञ्जस और साधारण।

विजय—प्रौढ़ पूर्वराग किसे कहते हैं?

गोस्वामी—समर्था रति रूप पूर्वराग ही प्रौढ़—पूर्वराग है। इस रागमें लालसासे मरण तक दस—दशाएँ भी हो सकती हैं। पूर्वरागकी प्रौढ़ताके कारण इसमें उदित दशाएँ प्रौढ़ा होती हैं।

विजय—दस दशाएँ कौन-कौनसी हैं?

गोस्वामी—

लालसोद्वेगजागर्यास्तानवं जडिमात्र तु।
वैयग्र्यं व्याधिरुन्मादो मोहो मृत्युर्दशा दश॥

(उ० नी० १५/२९)

अर्थात् लालसा, उद्वेग, जागरण, तानव, जड़ता, व्यग्रता, व्याधि, उन्माद, मोह और मृत्यु —ये दस दशाएँ हैं।

विजय—लालसा कैसी होती है?

गोस्वामी—अभीष्ट प्राप्तिकी तीव्र आकांक्षाको 'लालसा' कहते हैं। उसमें उत्सुकता, चपलता, घूर्णा और श्वासादि लक्षित होते हैं।

विजय—उद्वेग किसे कहते हैं?

गोस्वामी—मनकी चञ्चलता ही 'उद्वेग' है। इसमें दीर्घनिःश्वास, चपलता, चिन्ता, अश्रु, वैवर्ण और स्वेद आदि उदित होते हैं।

विजय—जागरण किसे कहते हैं?

गोस्वामी—जागरणका अर्थ निद्रा नहीं आनेसे है। इसमें स्तम्भ, शोष आदि राग उत्पन्न होते हैं।

विजय—तानव किसे कहते हैं?

गोस्वामी—शरीरका दुबला-पतला होना ही 'तानव' है। इसमें दुर्बलता और मस्तिष्क भ्रम आदि उदित होते हैं। कोई-कोई तानवके स्थानपर 'विलाप' पाठ बतलाते हैं।

विजय—जड़ता किसे कहते हैं?

गोस्वामी—भले-बुरेके ज्ञानका अभाव, प्रश्न करनेपर अनुत्तर तथा दर्शन और

श्रवणशक्तिका अभाव होनेसे 'जड़ता' या 'जड़िमा' होती है।

विजय—व्यग्रता (वैयग्र्य) किसे कहते हैं?

गोस्वामी—भावविकारसमूह बाहरमें प्रकाशित न होनेपर गाम्भीर्य होता है, उसमें जो विक्षोभ और असहिष्णुता होती है, उसे 'व्यग्रता' कहते हैं। इसमें अविवेक, निर्वेक, खेद और असूया होती है।

विजय—व्याधि किसे कहते हैं?

गोस्वामी—जिसमें अभीष्ट वस्तुकी अप्राप्तिसे शरीरका पीलापन और महातापरूप चिह्न प्रकट होते हैं, उसे 'व्याधि' कहते हैं। इसमें शीत, स्पृहा, मोह, दीर्घ-निःश्वास और पतन (गिरना) आदि अनुभाव प्रकाशित होते हैं।

विजय—उन्माद किसे कहते हैं?

गोस्वामी—निर्वेद, विषाद और दैन्य आदि भावोंके द्वारा आक्रान्त हुए चित्तमें अपनी सभी अवस्थाओंमें सब समय और सब जगह तन्मनस्क होनेके कारण (अभीष्ट वस्तुके चिन्तनमें तन्मय होनेके कारण) दूसरी वस्तुमें इष्ट वस्तुका भान (जैसे तमाल वृक्षको कृष्ण समझकर आलिङ्गन करना) रूप भ्रम ही 'उन्माद' कहलाता है। इसमें इष्टके प्रति द्वेष, दीर्घनिःश्वास, निमेष और विरह आदि अनुभाव प्रकाशित होते हैं।

विजय—मोह किसे कहते हैं?

गोस्वामी—चेतनाशून्य अवस्था ही 'मोह' है। इसमें निश्चलता और पतन (मूर्च्छित होकर गिर जाना) आदि अनुभाव प्रकट होते हैं।

विजय—मृत्यु कैसी होती है?

गोस्वामी—पत्र-प्रेरण और सखी द्वारा सम्वाद-प्रेरण आदि उपायोंका अवलम्बन करनेपर भी यदि कान्तके साथ समागम न हो, तब ऐसी दशामें काम-बाणकी पीड़ासे मरणका उद्यम होता है। मृत्युमें अपनी प्रियवस्तुओंको सखियोंके निकट समर्पण करना, भृङ्ग, मन्द-पवन, ज्योत्स्ना, कदम्ब, मेघ, विद्युत् और मयूर आदि अनेक उद्दीपन विभाव प्रकट होते हैं।

विजय—अब समञ्जस पूर्वराग किसे कहते हैं—बतलानेकी कृपा करें।

गोस्वामी—समञ्जस पूर्वराग समञ्जसा रतिका स्वरूप है अर्थात् सङ्गमसे पूर्व जो पूर्वराग पैदा होता है। इसमें अभिलाष, चिन्ता, स्मृति, गुणकीर्त्तन, उद्वेग, विलाप, उन्माद, व्याधि और मृत्यु—ये दस दशाएँ क्रमशः प्रकट हो सकती हैं।

विजय—यहाँ अभिलाषका क्या रूप है?

गोस्वामी—प्रिय व्यक्तिसे मिलनेके लिए जो चेष्टा होती है, उसे अभिलाष कहते हैं। इसमें अपने शरीरको अलंकृत करना, किसी बहानेसे प्रियतमके निकट जाना और उसके प्रति अपना अनुराग प्रकट करना—ये अनुभाव प्रकट होते हैं।

विजय—यहाँ चिन्ताका स्वरूप कैसा होता है?

गोस्वामी—अभीष्ट वस्तुके प्राप्ति-विषयक उपायोंका (विप्र द्वारा प्रियतमके पास अपनी अवस्था बतलाने अथवा पत्र भेजने आदिके विषयमें) ध्यान ही 'चिन्ता' है। इस दशामें शय्याके ऊपर इधर-उधर बारम्बार करवटें बदलना, दीर्घनिःश्वास छोड़ना, एकटकसे देखते रहना आदि लक्षण प्रकाशित होते हैं।

विजय—यहाँ स्मृति किसे कहा गया है?

गोस्वामी—दर्शन और श्रवण द्वारा उपलब्ध हुए प्रियतम, उनके भूषण, उनकी लीला और विनोद आदिका चिन्तन ही 'स्मृति' है। इसमें कम्प, अङ्गका विवश होना, अङ्गोंका वैवर्ण्य, वाष्प, त्याग और दीर्घनिःश्वास आदि अनुभाव लक्षित होते हैं।

विजय—गुणकीर्त्तन किसे कहते हैं?

गोस्वामी—सौन्दर्य आदि गुणोंकी प्रशंसा करनेको 'गुणकीर्त्तन' कहते हैं। इसमें कम्प, रोमाञ्च और गद्गद आदि अनुभाव प्रकट होते हैं। उद्वेग, विलापके साथ उन्माद, व्याधि, जड़ता और मृति (मृत्यु) ये छह, समञ्जसा रतिमें जहाँ तक प्रकाशित होते हैं, समञ्जसा-पूर्वरागमें भी वे उतने ही प्रकाशित होते हैं।

विजय—अब साधारण-पूर्वरागका लक्षण बतलाइये।

गोस्वामी—जैसी साधारणी रति होती है, ठीक उसी प्रकार साधारण समञ्जस राग भी होता है। इसमें विलाप तक छह दशाएँ अतिशय कोमल रूपमें उदित होती है। उनके उदाहरण अत्यन्त सहज हैं, इसीलिए उन्हें बतलानेकी आवश्यकता नहीं समझता। पूर्वरागमें परस्पर वयस्कोंके हाथ कामलेखपत्र और माल्यादि भेजे जाते हैं।

विजय—कामलेख कैसा होता है?

गोस्वामी—प्रेम प्रकाशक लेख या पत्र कामलेख कहलाता है। यह दो प्रकारका होता है—साक्षर और निरक्षर।

विजय—निरक्षर कामलेख किसे कहते हैं?

गोस्वामी—ऐसा लेख जिसपर किसी लालरङ्गके पत्तेपर नख द्वारा अङ्कित अर्द्धचन्द्रका चिह्न हो, उसपर कोई अक्षर आदि अङ्कित न रहे—उसे निरक्षर कामलेख कहते हैं।

विजय—साक्षर कामलेख किसे कहते हैं?

गोस्वामी—प्राकृत भाषामें अपने हाथोंसे अपनी अवस्थाका वर्णन करते हुए जो पत्र नायक और नायिका परस्पर भेजा करते हैं—उसे साक्षर कामलेख कहते हैं। गैरिक शिलासे उत्पन्न या अतिशय लालरङ्गके पुष्पोंको निचोड़नेसे निकले हुए रङ्गको स्याहीके स्थानपर प्रयोगकर कामलेख लिखा जाता है। इसमें बड़े-बड़े पुष्पदलको पत्र (कागजके स्थानपर) बनाया जाता है, कुंकुम द्रव द्वारा अक्षर लिखे जाते हैं तथा वह कमलके डण्ठलसे निकले हुए सूत्रसे बँधा हुआ होता है।

विजय—पूर्वरागका क्रम किस प्रकार होता है?

गोस्वामी—किसी-किसीका कहना है कि सबसे पहले नयन-प्रीति होती है। उसके बाद क्रमशः चिन्ता, आसक्ति, सङ्कल्प, नींद न आना, कृशता, विषय निवृत्ति, लज्जानाश, उन्माद, मूर्च्छा और मृत्यु—इस प्रकार कामदशा हुआ करती है। नायक और नायिका दोनोंमें ही पूर्वराग होता है। पहले नायिकामें और पीछेसे नायक कृष्णमें पूर्वराग उदित होता है।

विजय—मान किसे कहते हैं?

गोस्वामी—परस्पर अनुरक्त दम्पती या नायक-नायिकाके एक जगह रहनेपर भी उनके अभीष्ट (इच्छित) आलिङ्गन, दर्शन, चुम्बन और प्रियभाषण आदिके प्रतिबन्धक (बाधा देनेवाले) भावको 'मान' कहते हैं।

विजय—मानका आश्रय क्या है?

गोस्वामी—मानका आश्रय प्रणय है। प्रणयके पहले 'मान' नामक रस नहीं होता।

होनेपर संकोच होता है। मान दो प्रकारका होता है—सहेतु और निर्हेतु।

विजय—सहेतु मान किसे कहते हैं?

गोस्वामी—जब नायक किसी विपक्ष या तटस्थ नायिकाके प्रति विशेष प्रीतिका व्यवहार करता है, तब उसे देखकर या सुनकर नायिकाके हृदयमें जो ईर्ष्याकी भावना होती है, वही ईर्ष्या प्रणय-प्रधान होनेपर सहेतुमान होता है। इस विषयमें प्राचीन मत यह है कि स्नेहके बिना भय नहीं होता। प्रणयके बिना ईर्ष्या नहीं होती। अतएव हर प्रकारका मान नायक-नायिकाका प्रेम-प्रकाशक होता है। जिस नायिकाके हृदयमें सुसख्य आदि भाव विराजमान होते हैं, वही नायिका अपने प्रति अनुरक्त नायकको किसी दूसरी युवतीके प्रति प्रीति करते देखकर बेचैन हो उठती है। द्वारकामें एक समय श्रीकृष्णने श्रीरुक्मिणीजीको एक पारिजात पुष्प दिया। उसे सुनकर भी सत्यभामाके सिवाय किसी भी दूसरी महिषीके हृदयमें 'मान' उत्पन्न नहीं हुआ। यहाँ विपक्षवैशिष्ट्य अनुमानकर सत्यभामाको मान हुआ था।

विजय—विपक्ष वैशिष्ट्य-अनुभव कितने प्रकारके होते हैं?

गोस्वामी—श्रुत, अनुमित और दृष्टके भेदसे तीन प्रकारके होते हैं।

विजय—श्रुत किसे कहते हैं?

गोस्वामी—प्रिय सखी या शुकपक्षीके मुखसे सुननेको श्रुत-विपक्षवैशिष्ट्य कहा जाता है।

विजय—अनुमित-विपक्षवैशिष्ट्य किसे कहते हैं?

गोस्वामी—भोगाङ्क (अन्य नायिकाका सम्भोग चिह्न), गोत्रस्खलन (विपक्षकी नायिकाका नाम उच्चारण) और स्वप्न दर्शनसे जो अनुमान होता है, उसे अनुमित-विपक्षवैशिष्ट्य कहते हैं। प्रिय व्यक्ति तथा विपक्षके शरीरमें जो सम्भोग चिह्न देखा जाता है, वही 'भोगाङ्क' है। विपक्षकी नायिकाका नाम उच्चारणकर नायिकाको बुलानेका नाम 'गोत्रस्खलन' है। इससे नायिकाको मरणसे भी अधिक दुःख होता है।

विजय—गोत्रस्खलनका उदाहरण सुनना चाहता हूँ।

गोस्वामी—एक समय कृष्ण श्रीमती राधाके साथ विहार करनेके पश्चात् अपने घरको लौट रहे थे। अकस्मात् रास्तेमें चन्द्रावलीसे भेंट हो गयी। श्रीकृष्णने चन्द्रावलीको सामने देखकर पूछा—हे राधे! तुम कुशलसे तो हो? कृष्णकी बात सुनकर चन्द्रावलीने भी कहा—अहे कंस! तुम कुशलसे हो? कृष्णने विस्मित होकर कहा—सुन्दरि! तुम्हारा इस प्रकार विपरीत ज्ञान क्यों हुआ? (अथवा हे मूढमति! यहाँपर तुमने कंसको कहाँ देखा कि कंसका कुशल पूछ रही हो?) चन्द्रावलीने तमककर उत्तर दिया—फिर तुमने ही यहाँपर राधाको कहाँ देखा? तब कृष्ण समझ गये की ये तो चन्द्रावली हैं, मैंने भ्रमवशतः इन्हें ही राधाके नामसे सम्बोधित किया है। इस प्रकार अपना भ्रम समझकर वे बड़े लज्जित हुए और अपना मुख अवनत कर लिया; साथ ही चन्द्रावलीकी तत्कालीन इर्ण्योत्थ वाक चातुरीको देखकर मन्द मन्द मुस्कराने लगे—ऐसे हरि (सर्वक्लेशहारी) तुम लोगोंकी रक्षा करें।

विजय—स्वप्नदृष्ट विपक्षवैशिष्ट्य किसे कहते हैं?

गोस्वामी—कृष्ण और विदूषकका स्वप्नाचरण ही स्वप्नदृष्ट विपक्ष-वैशिष्ट्यका उदाहरण है। कृष्णका स्वप्न—एक समय क्रीड़ाकुञ्जमें चन्द्रावलीके साथ विहारके उपरान्त श्रीकृष्ण चन्द्रावलीके साथ एक ही शय्यापर सोते समय स्वप्नमें बोले—"हे राधे! मैं शपथपूर्वक कह रहा हूँ कि तुम्हीं मेरी प्रियतमा हो, तुम ही मेरे हृदयमें हो, बाहर भी हो, तुम ही मेरे आगे

और पीछे हो, और तो क्या कहूँ तुम्हीं मेरे गृहमें तथा श्रीगोवर्द्धन आदि शैलतटके वनोंमें विराजित हो।" रातमें श्रीकृष्णके मुखसे स्वप्न वाक्योंको सुनकर चन्द्रावली मानिनी होकर उस शय्यासे उठ खड़ी हुई। विदूषकका स्वप्न-क्रीड़ाकुञ्जमें चन्द्रावली और कृष्ण सुखपूर्वक विहार कर रहे हैं। उसी कुञ्जके बाहर एक वेदीपर सोये मधुमङ्गलके स्वप्न वचनोंको सुनकर व्यथिता चन्द्रावलीको लक्ष्यकर दूसरे कुञ्जमें पद्मा और शैब्या बातचीत कर रही हैं। पद्माने कहा—सखि! देखो! बाहर सोये मधुमङ्गलके स्वप्न वाक्योंको सुनकर चन्द्रावलीका मुख कैसा मलीन हो गया है, वे मुख नीचाकर सन्तापसे जल रही हैं। मधुमङ्गलका स्वप्न वाक्य—हे माधवी! कृष्ण चाटुकारी द्वारा पद्माकी सखी चन्द्रावलीकी वञ्चना कर रहे हैं, अतएव तुम शीघ्र राधाका यहाँ अभिसार करानेका प्रयत्न करो, कोई चिन्ता मत करो।

विजय—दर्शन किसे कहते हैं?

गोस्वामी—दूसरी नायिकाके साथ नायकको क्रीड़ारत देखनेको 'दर्शन' कहते हैं।

विजय—निर्हेतुक मान किसे कहते हैं?

गोस्वामी—नायक और नायिकामें वस्तुतः कोई कारण न रहनेपर भी किसी प्रकार कारण-आभासको आश्रय करके यह प्रणय ही वृद्धि प्राप्तकर निर्हेतुक मान अवस्थाको प्राप्त होता है। इसीलिए पण्डितजन मानको प्रणयका परिणाम बतलाते हैं और निर्हेतुक मानको प्रणयका ही विलासोदित वैभव कहते हैं। निर्हेतुक मानको ही वे प्रणयमान कहते हैं। प्राचीन पण्डित यह भी कहते हैं कि सर्पकी स्वभाव सिद्ध कुटिला गतिकी तरह प्रेमकी गति भी वक्र (टेढ़ी) ही होती है। इसीलिए अहेतु और सहेतु (कारण रहे, या न रहे, दोनों अवस्थाओंमें) दो प्रकारके मान नायक-नायिकाओंमें उदित होते हैं। अवहित्था (भाव छिपाना) ही इस रसका व्यभिचारी भाव है।

विजय—निर्हेतुक मान किस प्रकार शान्त होता है?

गोस्वामी—निर्हेतुक मान अपने आप ही शान्त होता है, किसी उपाय आदिकी आवश्यकता नहीं होती। अपने आप हास्य—उदयके साथ शान्त हो जाता है। परन्तु सहेतुक मान साम, भेद, क्रिया, दान, नति, उपेक्षा और रसान्तर आदि यथायोग्य अवलम्बित होनेपर शान्त होता है। वाष्पमोक्षन (आँसुओंका पोंछा जाना) तथा हास्य आदि ही मानके शान्त होनेके लक्षण हैं।

विजय—साम किसे कहते हैं?

गोस्वामी—प्रियवाक्य रचना अर्थात् प्रियाको मनानेके लिए मीठी-मीठी बातें बनाना ही 'साम' कहलाता है।

विजय—भेद किसे कहते हैं?

गोस्वामी—भेद दो प्रकारके होते हैं अर्थात् भावभङ्गी द्वारा अपना माहात्म्य प्रकाश और सखियोंके द्वारा उपालम्भ अर्थात् तिरस्कार प्रयोग।

विजय—दान किसे कहते हैं?

गोस्वामी—छलपूर्वक भूषण आदि देनेको 'दान' कहते हैं।

विजय—नति किसे कहते हैं?

गोस्वामी—दीनतापूर्वक पैरोंमें पतित होनेको 'नति' कहते हैं।

विजय—उपेक्षा किसे कहते हैं?

गोस्वामी—साम आदि उपायोंके द्वारा मानभङ्ग होते न देखकर जो अवज्ञा होती है (ऐसा भाव कि छोड़ो, देखें कब तक मान करती है आदि) उसे 'उपेक्षा' कहते हैं। अन्यार्थ सूचक वचनोंसे प्रसन्न करनेको भी कोई-कोई उपेक्षा कहते हैं।

विजय—आपने जिस रसान्तर शब्दका प्रयोग किया है, उसका अर्थ क्या है?

गोस्वामी—अचानक किसी भय उत्पन्न करनेवाली बात या दृश्य उपस्थित करनेका नाम 'रसान्तर' है। यह रसान्तर दो प्रकारका होता है—स्वयं घटित और बुद्धिपूर्वक नायक द्वारा रचित। जो अपने आप घटे—उसे 'स्वयं घटित' कहते हैं और प्रखर बुद्धि द्वारा जो किया जाये वह बुद्धिपूर्वक कहलाता है। स्वयं घटित—एक दिन कृष्ण द्वारा बहुत प्रकारसे मनानेपर भी मानिनी भद्राका मान किसी प्रकार भी भङ्ग नहीं हो रहा था। अचानक उसी समय भीषण मेघ गर्जन सुनकर भद्रा बहुत ही डरी और सामने बैठे कृष्णके गलेसे झूल गयी। बुद्धिपूर्वक—एक समय महामानिनी राधाको मनानेके लिए दूसरा कोई उपाय न देखकर परम कौतुकी कृष्णने बड़ा ही सुन्दर छल किया। उन्होंने अपने हाथोंसे फूलोंका एक सुन्दर हार गूँथकर उसे श्रीमतीके गलेमें डाल दिया। श्रीमतीजीने क्रोधसे उस मालाको अपने गलेसे उतारकर दूर फेंक दिया, दैववश वह माला कृष्णके ऊपर गिरी। उस समय कृष्णने आँखोंको सिकुड़ाते हुए मुखसे ऐसा भाव प्रकट किया मानो उन्हें बड़ी चोट लग गयी हो और मुख उदास बनाकर एक जगह बैठ गये। ऐसा देखकर राधा घबड़ा गयीं और व्यग्र होकर अपने दोनों हाथोंसे कृष्णके कन्धोंको पकड़ लिया। कृष्णने भी हँसकर राधाको गाढ़े आलिङ्गनके पाशमें आबद्ध कर लिया।

विजय—क्या किसी दूसरे उपायसे भी मानभङ्ग होता है?

गोस्वामी—विशेष देश, विशेष काल एवं मुरली ध्वनि द्वारा साम आदि उपायोंके बिना भी व्रजललनाओंका मान भङ्ग होता है। लघु मान अल्प प्रयाससे ही शान्त हो जाता है। मध्य मान बड़े प्रयाससे शान्त होता है। दुर्जयमानको उपाय द्वारा शान्त करना कठिन है। मानकी दशामें गोपियाँ कृष्णके लिए इन शब्दोंका प्रयोग करती हैं—वाम, दुर्लील-शिरोमणि, कितवराज, खल-श्रेष्ठ, महाधूर्त्त, कठोर, निर्लज्ज, अतिदुर्ललित, गोपीकामुक, रमणीचोर, गोपीधर्म-नाशक, गोपसाध्वी-विम्बक, कामुकेश्वर, गाढ़तिमिर, श्याम, वस्त्रचोर, गोवर्द्धन उपत्यका-तस्कर।

विजय—प्रेम-वैचित्य किसे कहते हैं?

गोस्वामी—प्रियतमके निकट रहनेपर भी प्रेम-उत्कर्षतावशतः विरहोत्थ जो आर्त्ति होती है, उसे प्रेम-वैचित्य कहते हैं, प्रेम उत्कर्ष द्वारा एक प्रकारकी घूर्णा (चित्तकी विवशता या विह्वलता) उदित होती है, वही भ्रान्ति रूपमें कृष्ण-वियोगकी बुद्धि उत्पन्न करा देती है। चित्तका अस्वाभाविक भाव ही वैचित्य है।

विजय—प्रवास किसे कहते हैं?

गोस्वामी—मिलनके पश्चात् नायक और नायिकाके बीच देशान्तर, ग्रामान्तर, रसान्तर और स्थानान्तररूप व्यवधान बाधाको 'प्रवास' कहते हैं। इस प्रवास रूप विप्रलम्भमें हर्ष, गर्व, मद और ब्रीड़ाको छोड़कर शृङ्गार-रसके उपयोगी समस्त व्यभिचारीभाव होते हैं। बुद्धिपूर्वक प्रवास और अबुद्धिपूर्वक प्रवास—ये दो प्रकारके प्रवास होते हैं।

विजय—बुद्धिपूर्वक प्रवास कैसा होता है?

गोस्वामी—कार्यवश कहीं दूर चले जानेका नाम बुद्धिपूर्वक प्रवास है। अपने भक्तोंको (वृन्दावनके स्थावर-जङ्गम, पाण्डवों, श्रुतदेव और मैथिल आदि सबको) सुखदान, सदुपदेशदान और उनकी कामनाओंकी पूर्ति आदि ही कृष्णके कार्य हैं। कुछ दूर और सुदूर गमन भेदसे प्रवास दो प्रकारका होता है। सुदूर प्रवास तीन प्रकारका होता है—भूत, भविष्यत और वर्त्तमान। सुदूर प्रवासमें परस्पर संवादका आदान-प्रदान होता है।

विजय—अबुद्धिपूर्वक प्रवास कैसा होता है?

गोस्वामी—पराधीनतावश जो सुदूर प्रवास होता है उसे अबुद्धिपूर्वक प्रवास कहते हैं। दिव्य, अदिव्य और दिव्यादिव्य भेदसे यह पारतन्त्र्य अनेक प्रकारका होता है। प्रवासमें दस दशाएँ उदित होती हैं—चिन्ता, जागर, उद्वेग, तानव, मलिनाङ्गता, प्रलाप, व्याधि, उन्माद, मोह और मृत्यु। प्रवास विप्रलम्भकी अवस्थामें कृष्णमें भी ये दशाएँ उपलक्षणके रूपमें उदित होती हैं। विजय! नाना प्रकार प्रेमभेदके कारण उदित दशाओंका नाना प्रकारत्व अवश्य स्वीकृत होनेपर भी यहाँ उनका उल्लेख नहीं किया गया। परन्तु स्नेह, मान, प्रणय, अनुराग, भाव और महाभाव तक इस प्रेम पर्यायके कार्य रूपमें ये सब दशाएँ अधिकांश ही साधारण रूपमें समुदित हो सकती हैं। अधिकन्तु मोहन दशामें श्रीराधामें असाधारण दशा प्रकटित होती है—इसका वर्णन पहले ही किया जा चुका है। किसी-किसी रसशास्त्रकारने करुणको एक पृथक् विप्रलम्भ माना है, परन्तु करुणा विषयक विप्रलम्भ प्रवासका ही प्रकार-भेद होनेके कारण यहाँ पृथक् रूपमें उसका वर्णन नहीं किया गया।

श्रीगुरु गोस्वामीजीके विप्रलम्भ विषयक उपदेशोंके ऊपर विचार करते-करते विजयकुमार मन-ही-मन कहने लगे—विप्रलम्भरस स्वतःसिद्ध रस नहीं है, वह केवल सम्भोगरसकी पुष्टि करता है। यद्यपि जड़बद्ध जीवके लिए विप्रलम्भरस विशेष रूपसे उदित होकर अन्तमें सम्भोग रसके अनुकूल होता है, तथापि नित्यरसमें कुछ-कुछ विप्रलम्भ रहेगा ही, अन्यथा विचित्रलीला सम्भव नहीं हो सकेगी।

॥सैंतीसवाँ अध्याय समाप्त॥

अड़तीसवाँ अध्याय

शृङ्गाररस-विचार

हाथ जोड़कर विजयकुमार द्वारा सम्भोगरसके विषयमें जिज्ञासा किये जानेपर श्रीगुरुदेवने प्रेमपूर्वक इस प्रकार कहना आरम्भ किया—कृष्णलीला प्रकट और अप्रकट भेदसे दो प्रकारकी होती है। विप्रलम्भरसमें जिस विरहावस्थाका वर्णन हुआ है, वह प्रकट लीलाके अनुसार है। किन्तु वृन्दावनमें सदा-सर्वदा रासादि विविध लीला-विनोदमें विहारपरायण श्रीहरिके साथ व्रजदेवियोंका कभी भी वियोग नहीं होता। मथुरा-माहात्म्यमें ऐसा लिखा है कि गोपगोपियोंके साथ कृष्ण वहाँ क्रीड़ा करते हैं 'क्रीड़ति'—इस वर्त्तमान कालकी क्रियाके प्रयोगसे यह समझना होगा कि कृष्ण-क्रीड़ा नित्य है। अतएव गोलोक या वृन्दावनकी अप्रकट लीलामें कृष्णलीलाका दूर प्रवासगत विरहत्व नहीं है। वहाँ सम्भोग ही नित्य है। नायक-नायिका (परस्पर विषय और आश्रयके) दर्शन, सम्भाषण और स्पर्शादिका जो परस्पर सुखतात्पर्यमूलक निषेवण (सेवन) होता है, उसके द्वारा उल्लास प्राप्त विचित्र भाव ही सम्भोग है। सम्भोग मुख्य और गौण भेदसे दो प्रकारका होता है।

विजय—मुख्य सम्भोग कैसा होता है?

गोस्वामी—जागृत दशामें जो सम्भोग होता है, उसे सम्भोग कहते हैं। वह मुख्य सम्भोग चार प्रकारका होता है—(१) पूर्वरागके पश्चात् जो सम्भोग होता है, वह संक्षिप्त सम्भोग है, (२) मानके बाद जो सम्भोग होता है, उसे संकीर्ण सम्भोग कहते हैं, (३) कुछ दूर प्रवासके बाद जो सम्भोग होता है, उसे सम्पन्न सम्भोग कहते हैं और (४) सुदूर प्रवासके पश्चात् होनेवाले सम्भोगको समृद्धिमान सम्भोग कहते हैं।

विजय—संक्षिप्त सम्भोग किसे कहते हैं?

गोस्वामी—जिस स्थलमें नायक और नायिका सम्भ्रम और लज्जा हेतु संक्षिप्त चुम्बन-आलिङ्गन आदि उपचारकी सेवा करते हैं, उसीको संक्षिप्त सम्भोग कहते हैं।

विजय—संकीर्ण सम्भोग किसे कहते हैं?

गोस्वामी—जिस सम्भोगमें नायक द्वारा की गयी वञ्चना (छलना) के स्मरणसे और कभी नायकके अङ्गोंमें रतिचिह्न आदिके दर्शन एवं श्रवणसे सौरतचेष्टा विषयक (रतिक्रीड़ा सम्बन्धी) उपचारसमूह मिश्रित होकर तप्त इक्षु (गरम ईख) की युगपत् उष्णता और मधुरता दोनोंके अनुभवकी भाँति आस्वाद प्रदान करता है, उसे संकीर्ण सम्भोग कहते हैं।

विजय—सम्पन्न सम्भोग किसे कहते हैं।

गोस्वामी—कुछ दूरके प्रवाससे लौटे हुए नायकके साथ नायिकाके मिलनको 'सम्पन्न-सम्भोग' कहते हैं। यह दो प्रकारका होता है—आगति और प्रादुर्भाव। लौकिक व्यवहारमें जो आगमन होता है, उसे 'आगति' कहते हैं। जैसे, सन्ध्याके समय गोचारणकर लौटते हुए कृष्णका गोपियाँ दर्शन करती हैं। प्रादुर्भाव—प्रेम विह्वला गोपियोंके सामने अकस्मात् कृष्णके आगमनको प्रादुर्भाव कहते हैं, जैसे—रासलीलाके समय कृष्णके अन्तर्धानके पश्चात् उनके विरहमें विलाप करती हुई गोपियोंके सामने श्रीकृष्णका अकस्मात् प्रादुर्भाव ही प्रादुर्भाव' कहलाता है। प्रादुर्भावमें ही सर्वाभीष्ट-सुखोत्सव होता है।

विजय—समृद्धिमान सम्भोग किसे कहते हैं?

गोस्वामी—नायक और नायिकामें परस्पर दर्शन या मिलन दुर्लभ होता है, पराधीनताके

कारण उनमें सर्वदा मिलन सम्भव नहीं होता। उस पराधीनतासे मुक्त होनेपर जब अकस्मात् मिलन होता है, उस समय जो अतिरिक्त उपभोग (प्रचुर आनन्द) होता है, उसे 'समृद्धिमान सम्भोग' कहते हैं। सम्भोग रस छन्न (छिपा हुआ) और प्रकाशके भेदसे दो प्रकारका होता है। इस समय इनके सम्बन्धमें कुछ बतलानेकी आवश्यकता नहीं है।

विजय—गौण सम्भोग कैसा होता है?

गोस्वामी—श्रीकृष्णकी विशेष लीला—जिसे स्वप्नमें पाया जाये, उसे 'गौण' सम्भोग कहते हैं। वह स्वप्न दो प्रकारका होता है—'सामान्य' और 'विशेष'। सामान्य स्वप्नका वर्णन व्यभिचारी-प्रकरणमें पहले ही किया जा चुका है। विशेष स्वप्न सम्भोग जागृत दशाके व्यापार तुल्य परमाश्चर्यजनक और स्थायी-सञ्चारीभावोंसे युक्त होता है, अर्थात् यह जागृत सम्भोगकी तरह होता है। मुख्य सम्भोगकी भाँति यह गौण-सम्भोग भी चार प्रकारका होता है—संक्षिप्त, संकीर्ण, सम्पन्न और समृद्धिमान।

विजय—स्वप्न में तो वस्तुतः कोई घटना ही नहीं होती, फिर उसमें समृद्धिमान सम्भोग कैसे सम्भव है?

गोस्वामी—जागर और स्वप्नके स्वरूप एक ही प्रकारके होते हैं। इस विषयमें उदाहरण के लिए अनिरुद्ध और उषाके नाम लिए जा सकते हैं। जिस समय उषा शोणितपुरमें बाण राजाके अन्तःपुरमें स्वप्नमें अनिरुद्धके साथ सम्प्रयोगानल (मिलनका सुख) अनुभव कर रही थीं, उसी समय अनिरुद्ध भी द्वारकापुरीके अन्तःपुरमें सोते-सोते उषाके साथ विलासानन्दका आस्वादन कर रहे थे। यह व्यापार प्राकृत लोगोंके सम्बन्धमें नहीं घटता है। इस विषयमें प्रत्यक्ष प्रमाण देकर दृढ़तापूर्वक कहते हैं—स्वप्न सत्य होनेके कारण ही तो सिद्ध भक्तोंके परमाश्चर्यजनक स्वप्नसे प्राप्त अलङ्कार आदि उनकी जागृत दशामें भी दिखलायी पड़ते हैं। इसी प्रकार कृष्ण और कृष्णकान्ताओंके भी अबाधित स्वप्न होते हैं। स्वप्न दो प्रकारके होते हैं—जागरायमान स्वप्न और स्वप्नायमान जागर। समाधिरूप चतुर्थ अवस्थाको पारकर प्रेममयी पञ्चमावस्थाको प्राप्त गोपियोंके जो स्वप्न होते हैं, वे रजोगुणजनित स्वप्नकी भाँति झूठे नहीं होते अर्थात् गोपियोंके स्वप्न अप्राकृत, निर्गुण और परमसत्य होते हैं। अतएव ऐसे अप्राकृत परम अद्भुत स्वप्न-विलासमें कृष्ण और कृष्णकी प्रियाओंका समृद्धिमान सम्भोग सम्भव होता है।

विजय—सम्भोगके अनुभावोंको बतलानेकी कृपा करें।

गोस्वामी—सम्भोगके अनुभाव हैं—सन्दर्शन, जल्पन, स्पर्शन, मार्ग रोकना, रास, वृन्दावन -क्रीड़ा, यमुनाजलमें केलि, नौका-विलास, पुष्प चोरीकी लीला, दानलीला, कुञ्जोंमें आँखमिचौनी, मधुपान, कृष्णका स्त्री-वेष धारण, कपट-निद्रा, द्युतक्रीड़ा, वस्त्राकर्षण, चुम्बन, आलिङ्गन, नखार्पण, बिम्बाधर-सुधापान और निधुवन-रमण-सम्प्रयोग।

विजय—प्रभो! लीला-विलास एक प्रकारका होता है और सम्प्रयोग दूसरे प्रकारका होता है। इन दोनोंमेंसे अधिक सुख किसमें होता है?

गोस्वामी—सम्प्रयोगकी अपेक्षा लीला-विलासमें अधिक सुख होता है।

विजय—श्रीकृष्णके प्रति प्रेयसियोंका प्रणय सम्बोधन कैसा होता है?

गोस्वामी—सखियाँ कृष्णको बड़े प्यारसे यह कहकर पुकारती हैं—हे गोकुलानन्द, हे गोविन्द, हे गोष्ठेन्द्र कुलचन्द्र, हे प्राणेश्वर, हे सुन्दरोत्तम, हे नागर शिरोमणि, हे वृन्दावनचन्द्र,

हे गोकुलराज, हे मनोहर इत्यादि।

विजय—प्रभो! कृष्णलीला प्रकट और अप्रकट भेदसे दो प्रकारकी होनेपर भी एक ही तत्त्व है। कृपया यह बतलाइये कि प्रकट ब्रजलीला कितने प्रकारकी होती है?

गोस्वामी—प्रकट ब्रजलीला नित्य और नैमित्तिक भेदसे दो प्रकारकी होती है। ब्रजकी अष्टकालिक लीला ही नित्य है। पूतनावध और दूर-प्रवास आदि लीलाएँ नैमित्तिक लीला हैं।

विजय—प्रभो, नित्य लीलाके सम्बन्धमें निर्देश देनेकी कृपा करें।

गोस्वामी—इस विषयमें दो प्रकारके वर्णन पाये जाते हैं—एक ऋषियों द्वारा किया गया वर्णन, दूसरा श्रीमद् गोस्वामियों द्वारा किया गया वर्णन। तुम इन दोनोंमेंसे कौन-सा सुनना चाहते हो?

विजय—मैं ऋषियों द्वारा रचित श्लोकोंमें जो वर्णन है, उसे सुनना चाहता हूँ।

गोस्वामी—

निशान्तः प्रातः पूर्वाह्णो मध्याह्नश्चापराह्नकः।
सायं प्रदोषरात्रिश्च कालाष्टौ च यथाक्रमम्॥
मध्याह्नो यामिनी चोभौ यन्मुहूर्त्तमितो स्मृतौ।
त्रिमुहूर्तमिता ज्ञेया निशान्तप्रमुखाः परे॥

अर्थात् निशान्त, प्रातः, पूर्वाह्ण, मध्याह्न (दोपहर), अपराह्न (तृतीय प्रहर), सायं (सायंकालीन), प्रदोष और रात्रि लीला भेदसे लीला अष्टकालीन होती है। रात्रिलीला तथा मध्याह्नलीला प्रत्येक छह-छह मुहूर्त्तकी होती है। दो दण्डका एक मुहूर्त्त [१] होता है। सनत्कुमार-संहितामें [२] सदाशिवने इस अष्टकालीन लीलाके अनुसार जिस समयके लिए जिस सेवाको निर्दिष्ट किया है, उस समय उसी लीलाको स्मरण करना चाहिये।

विजय—प्रभो, क्या मैं जगद्गुरु सदाशिवके वचनोंको सुन सकता हूँ?

गोस्वामी—

सुनो—

[३]सदाशिव उवाच—

---

(१) २४ मिनटका एक दण्ड होता है, दो दण्डका अर्थात् ४८ मिनटका एक मुहूर्त्त होता है।

(२) सात्त्वतपञ्चरात्रके अन्तर्गत एक तन्त्र। पद्मपुराण पातालेखण्ड ५२ वाँ अध्याय कुछ पाठ भेदके साथ आलोचनीय है।

(३) सदाशिव बोले—श्रीहरिकी प्रियपात्री परकीयाभिमानिनी रमणियाँ प्रचुर अप्राकृत भावोंके द्वारा अपने प्रिय वल्लभको आनन्द प्रदान करती हैं। हे नारद! उसी अप्राकृत वृन्दावन धाममें उन्हीं परकीयाभिमानिनी कृष्णकी प्रियाओंके बीच तुम स्वरूपकी इस प्रकार भावना करो—मैं अतिशय सुन्दर रूपयौवनसम्पन्ना आनन्दरूपिणी, किशोर अवस्थावाली रमणी हूँ, कृष्णको आह्लादित करनेवाले विविध प्रकारकी शिल्प कलाओंकी विशेषज्ञा हूँ, श्रीमती राधाकी नित्य अनुचरी हूँ, श्रीकृष्णकी परमप्रिय वल्लभा श्रीमती राधिकाको श्रीकृष्णके साथ सङ्गम करवाकर सदा सुखी होऊँगी। अतएव सम्भोगके लिए कृष्ण द्वारा प्रार्थना किये जानेपर भी मैं यह सोचकर वैसे सम्भोगसे दूर रहूँगी कि वास्तवमें यह सम्भोग कृष्णेन्द्रिय

परकीयाभिमानिन्यस्तथास्य च प्रियाः जनाः।
प्रचुरेणैव भावेन रमयन्ति निजप्रियम्॥
आत्मानं चिन्तयेत्तत्र तासां मध्ये मनोरमाम्।
रूपयौवनसम्पन्नां किशोरीं प्रमदाकृतिम्॥
नानाशिल्पकलाभिज्ञां कृष्णभोगानुरूपिणीम्।
प्रार्थितामपि कृष्णेन ततो भोगपराङ्मुखीम्॥
राधिकानुचरीं नित्यं तत्सेवनपरायणाम्।
कृष्णादप्यधिकं प्रेम राधिकायां प्रकुर्वतीम्॥
प्रीत्यऽनुदिवसं यत्नात्तयोः संगमकारिणीम्।
तत् सेवनसुखाह्लादभावेनातिसुनिर्वृताम्॥
इत्यात्मानं विचिन्त्यैव तत्र सेवां समाचरेत्।
ब्राह्ममूहूर्त्तमारभ्य यावत्तुस्यान्महानिशि॥

विजय—निशान्तलीला कैसी होती है?

गोस्वामी—

(४)श्रीवृन्दा उवाच—
मध्ये वृन्दावने रम्ये पंचाशत्कुंजमण्डिते।
कल्पवृक्षनिक जेसु दिव्यत्नमये गृहे॥
निद्रितौ तिष्ठतस्तल्पे निविडालिंगितौ मिथः।
मदाज्ञाकारिभिः पश्चात् पक्षिभिर्बोधितावपि॥

प्रीतिकर न होकर आत्मेन्द्रिय प्रीतिकर (अपने सुखके लिए) ही होगा। अतएव कृष्ण-प्रियतमा श्रीमती राधिकाकी अनुचरी और सदैव सेवापरायण रहकर मैं कृष्णकी अपेक्षा भी श्रीमतीके प्रति अधिक प्रेम रखनेवाली होऊँ, मैं प्रतिदिन प्रीति और यत्नपूर्वक श्रीराधा और श्रीकृष्णका परस्पर मिलन करानेमें तत्पर तथा उस मिलनके द्वारा दोनोंके सुखवर्द्धनरूप सेवानन्दमें निमग्न होऊँगी। इस प्रकार विशेष रूपसे अपने स्वरूपकी भावना करके अप्राकृत वृन्दावनमें ब्राह्ममुहूर्त्तसे लेकर जब तक महानिशा उपस्थित नहीं होती तब तक सुष्ठु रूपसे मानस सेवा करनी चाहिये।

(४) वृन्दादेवीने कहा—श्रीमती राधा और कृष्ण वृन्दावनके बीचों-बीचमें चारों ओर पचास कुञ्जों द्वारा सुशोभित परम रमणीय एक कल्पतरुके निकुञ्जके भीतर अप्राकृत रत्नमय गृहमें परस्पर गाढ़ेरूपमें आलिङ्गनपूर्वक एक साथ एक ही शय्यापर निद्रित हैं। वे दोनों आलिङ्गन सुखमें इस प्रकार एक हो गये हैं कि उनकी निद्रा पूरी हो चुकनेपर भी मेरी आज्ञाका पालन करनेवाले पक्षियोंके सुमधुर कलरव द्वारा उन्हें जगाये जानेपर भी गाढ़-आलिङ्गन द्वारा प्राप्त सुख कहीं खो न जाये—इस डरसे वे शय्यासे उठना तक नहीं चाहते। तदनन्तर सारिकाओंके साथ शुकादि पक्षियोंके विविध वचनों द्वारा बारम्बार जगाये जानेपर वे शय्यापर उठ बैठते हैं। उसके पश्चात् श्रीमती राधा और कृष्णको शय्याके ऊपर सुखपूर्वक बैठे देखकर सखियाँ उनके समीप जाकर उनकी तत्कालोचित सेवा करने लगती हैं। फिर वे दोनों ही सारिकाकी बात सुनते-सुनते शय्यासे उठकर परस्पर अप्राकृत भय और उत्कण्ठा रससे व्याकुल होकर अपने-अपने घर चले जाते हैं।

गाढ़ालिङ्गननिर्भेदमाप्तौ तद्भंगकातरौ।
नो मतिं कुर्वतस्तल्पात् समुत्थातुं मनागपि॥
ततश्च शारिकाशब्दैः शुक शब्दैश्च तौ मुहुः।
बोधिती विविधैर्वाक्यैः स्वतल्पादुदतिष्ठताम्॥
उपविष्टौ ततो दृष्ट्वा सख्यस्तल्पे मुदान्वितौ।
प्रविश्य कुर्वन्ति सेवां तत्कालस्योचितां तयोः॥
पुनश्च शारिकावाक्यैरुत्थाय तौ स्वतल्पतः।
आगतौ स्वस्वभवनं भीत्युत्कंठाकुलौ मिथः॥

विजय—प्रातःकालीन लीला कैसी होती है?

गोस्वामी—

(५)प्रातश्च बोधितो मात्रा तल्पादुत्थाय सत्वरः।
कृत्वा कृष्णो दन्तकाष्ठं बलदेवसमन्वितः॥

---

(५) प्रातःकाल माँ यशोदाके जगानेपर श्रीकृष्ण शय्यासे उठकर शीघ्रतापूर्वक दन्तधावन करते हैं। पीछे माताकी अनुमति पाकर बलदेवके साथ गोदोहनके लिए उत्सुक होकर गोशालामें गमन करते हैं। हे विप्रवर नारद! उधर प्रातःकालमें सखियोंके द्वारा जगायी जानेपर राधा अपनी शय्यासे उठती हैं तथा दन्तधावन कर शरीरमें तेल मर्दन करती हैं। तदनन्तर ललितादि सखियाँ उन्हें स्नानवेदीके ऊपर पधराकर स्नान कराती हैं तथा फिर विविध प्रकारके आभूषणों, दिव्य गन्ध-द्रव्योंके अनुलेपनों तथा मालाओंसे उन्हें विभूषित करती हैं। इसके पश्चात् श्रीमती राधिका अपनी सखियों द्वारा यन्तपूर्वक शुश्रूषा प्राप्तकर माँ यशोदा द्वारा उत्तम प्रकारकी रसोई करनेके लिए बुलायी जाती हैं। (इतना सुनकर) नारद मुनिने पूछा—देवि! श्रीमती रोहिणी जैसी उच्च कोटिकी पाचिकाके वर्त्तमान रहनेपर भी यशोमतीने श्रीमती राधिकाको क्यों बुलाया। वृन्दा बोलीं—नारद, मैंने पहले भगवती कात्यायनीके मुखसे ऐसा सुना है कि दुर्वासाऋषिने राधिकाको ऐसा वर दिया था कि हे देवि, आप जो भी अन्न पाक करेंगी, वह मेरे वरसे आयुवर्द्धक होगा। इसीलिए पुत्रवत्सला यशोमतीने यह सोचकर कि राधिकाके हाथसे पाक किये गये अन्नको भोजनकर मेरा पुत्र दीर्घजीवी होगा —श्रीमती राधाको प्रतिदिन अपने घरपर रसोई बनानेके लिए बुला लेती है। श्रीमतीराधा भी अपनी सासकी अनुमति प्राप्तकर सखियोंके साथ आनन्दपूर्वक नन्दालयमें उपस्थित होकर रसोई बनाया करती हैं। उधर कृष्ण भी पिता नन्दमहाराजके आदेशसे दूसरोंके द्वारा गोदोहन करवाकर सखाओंके साथ घर लौटते हैं। उनके घर लौटनेपर सेवकगण उनके शरीरमें तेल-मर्दन कर स्नान कराते हैं; फिर धुले हुए सूखे वस्त्र धारण करवाते हैं तथा इनके शरीरमें चन्दन आदिका सुन्दर रूपसे लेपनकर मालाओंसे भूषित करते हैं। वे दो वस्त्र धारण करते हैं, उनका केशकलाप, उनकी ग्रीवा और ललाटके ऊपर फैलकर अपूर्व शोभाका विस्तार करता है। उनके सेवक चन्द्रके समान परम सुन्दर ललाटपर उनके तिलककी रचना कर देते हैं। पश्चात् कृष्ण अपने हाथोंमें कङ्गन और रत्नकेयूर, वक्षःस्थलपर मुक्ताके हार और कानोंमें मकराकृति कुण्डल धारण करते हैं। इसके पश्चात् माँ यशोमतीके पुनः पुनः पुकारनेपर बलदेवके पीछे-पीछे सखाका हाथ पकड़कर भोजन—गृहमें प्रवेश करते हैं। वहाँ भ्राता बलदेव और सखाओंके साथ बैठकर नाना प्रकारके

मात्रानुमोदितो याति गोशालां दोहनोत्सुकः।
राधाऽपि बोधिता विप्र! वयस्याभिः स्वतल्पतः॥
उत्थाय दन्तकाष्ठादि कृत्वाऽभ्यङ्गं समाचरेत्।
स्नानवेदीं ततो गत्वा स्नापिता ललितादिभिः॥
भूषागृहं व्रजेत्तत्र वयस्या भूषयन्त्यपि।
भूषणैर्विविधैर्दिव्यैर्गन्धमाल्यानुलेपनैः
ततश्च स्वजनैस्तस्याः शुश्रूषां प्राप्य यत्नतः।
पक्तुमाहूयते स्वन्नं ससखी सा यशोदया॥
नारद उवाच—
कथमाहूयते देवि पाकार्थं सा यशोदया।
सतीषु पाककर्त्रीषु रोहिणी प्रमुखास्वपि॥
श्रीवृन्दा उवाच—
दुर्वाससा स्वयं दत्तो वरस्तस्यै मुदा मुनेः।
इति कात्यायनीवक्त्रात् श्रुतमासीन्मया पुरा॥
त्वया यत् पच्यते देवि तदनं मदनुग्रहात्।
मिष्टं स्वाद्वमृतस्पर्द्धिभोक्तुरायुस्करं तथा॥
इत्याह्वयति तां नित्यं यशोदा पुत्रवत्सला।
आयुष्मान् मे भवेत् पुत्रः स्वादुलोभात्तथा सति॥
मे श्वश्रानुमोदिता सापि हृष्टा नन्दालयं व्रजेत्।
स्वसखीप्रकरा तत्र गत्वा पाकं करोति च॥
कृष्णोऽपि दुग्ध्वा गाः काश्चित् दोहयित्वा जनैः परा।
आगच्छति पितुर्वाक्यात् स्वगृहं सखिभिर्वृतः॥
अभ्यङ्गमर्दनं कृत्वा दासैः संस्नापितो मुदा।
धौतवस्त्रधरः स्रग्वी स्रग्वी चन्दनाक्तकलेवरः॥
द्विफालवद्धचिकुरैर्ग्रीवाभालो परिस्फुरन्।
चन्द्राकार स्फुरद्धालस्तिलकालोक रञ्जितः॥
कङ्कनाङ्गद केयूररत्नमुद्रालसत्करः।
मुक्ताहारस्फुरद्वक्षः मकराकृतिकुण्डलः॥
मुहुराकारितो मात्रा प्रविशेद्भोजनालयम्।
अवलम्ब्य करं सख्युर्बलदेवमनुव्रतः॥
भुङ्क्तेऽपि विविधान्नानि मात्रा च सखिभिर्वृतः।
हासयन् विविधैर्हास्यैः सखींस्तैर्हसति स्वयम्॥
इत्थं भुक्त्वा तथाचम्य दिव्यखट्टोपरि क्षणम्।

अन्नव्यंजन आदि भोजन करते हैं तथा सखाओंको भाँति-भाँति के परिहासों द्वारा हँसाकर स्वयं भी हँसते हैं। इस प्रकार भोजन समाप्त होनेपर आचमन करते हैं और सेवकों द्वारा दिये गये ताम्बूलके बीड़ाओंको सखाओंमें बाँट देते हैं। इस प्रकार ताम्बूल चर्वण करते-करते कुछ समय तक दिव्य पलङ्कके ऊपर विश्राम करते हैं।

विश्रमेत् सेवकैर्दत्तं ताम्बूलं विभजन्नदन्॥

विजय—पूर्वाह्न लीलाका वर्णन करें।

गोस्वामी—

**(६) गोपवेशधरः कृष्णो धेनुवृन्दपुरःसरः।
व्रजवासिजनैः प्रीत्या सर्वैरनुगतः पथि॥
पितरं मातरं नत्वा नेत्रान्तेन प्रियागणम्।
यथायोग्यं तथा चान्यन् स निवर्त्त्य वनं व्रजेत्॥
वनं प्रविश्य सखिभिः क्रीड़यित्वा क्षणं ततः।
विहारैर्विविधैस्तत्र वने विक्रीड़तो मुदा॥
वञ्चयित्वा च तान् सर्वान् द्वित्रैः प्रियसखैर्वृतः।
साङ्केतकं व्रजेद्धर्षात् प्रिया सन्दर्शनोत्सुकः॥**

विजय—मध्याह्न लीलाका वर्णन कीजिये।

गोस्वामी—

(७)सापि कृष्णे वनं याते द्रष्टुं तं वनमागता।

---

(६) गोपवेषधारी कृष्ण गायोंको लेकर पुरसे बाहर गोचारणके लिए निकलते हैं। उसी समय सब व्रजवासी प्रीतिवश कृष्णके साथ-साथ कुछ दूर तक चले जाते हैं। श्रीकृष्ण पिता-माताको प्रणामकर तथा प्रियाओंको कनखियों द्वारा प्रीतिपूर्वक देखकर तथा दूसरे—दूसरे अनुगमनकारियोंको यथायोग्य संभाषण द्वारा विदाई देकर वयस्योंसे परिवेष्टित हुए वनकी ओर गमन करते हैं। पश्चात् वनमें प्रवेशकर कुछ समय तक सखाओंके साथ क्रीड़ा करते हैं; फिर वे सभी सखाओंको छल-चातुरी द्वारा गोचारणादिमें लगाकर स्वयं केवल दो या तीन प्रिय सखाओंको साथ लेकर प्रियाओंके दर्शनके लिए उत्सुक होकर आनन्दपूर्वक सङ्केत स्थानको गमन करते हैं।

(७) इधर श्रीकृष्ण प्रेयसी श्रीमती राधिका भी श्रीकृष्णके वनमें गमन करनेके पश्चात् श्रीकृष्णका दर्शन करनेके लिए उसी वनमें आगमन करती हैं। सूर्य आदिकी पूजा या पुष्प-चयनके बहाने गुरुवर्गको वञ्चित करके प्रियतमसे मिलनेके लिए श्रीमतीजी वनमें गमन करती हैं। इस प्रकार राधाकृष्ण दोनों अनेक यत्नसे वनमें मिलकर परमानन्दसे नाना प्रकारके विहार आदि द्वारा क्रीड़ा करते हैं—सखागण भी उनके साथ ही रहते हैं। कभी—कभी राधाकृष्ण झूलेपर पधारते हैं और सखियाँ उन्हें झुलाया करती हैं। कभी-कभी तो ऐसा भी होता है कि श्रीमती राधिका श्रीकृष्णकी वेणुको चुरा लेती हैं। कृष्ण उस समय यह निश्चित न कर सकनेके कारण कि मैंने वेणुको कहाँ रख दिया—चारों तरफ ढूँढ़ने लगते हैं। किन्तु श्रीमतीजी अपनी प्रियसखियोंके साथ मिलकर षड़यन्त्रकर उस वेणुको इस प्रकार छिपाये रखती हैं कि कृष्ण अनेक ढूँढ़नेपर भी उसे ढूँढ़ नहीं पाते (वे हार जाते हैं)। ऐसी दशामें प्रियागण कपट तिरस्कार पूर्वक हँसते-हँसते वञ्चित कृष्णके करकमलोंमें वेणु अर्पण करती हैं। कृष्ण भी इसी प्रकार प्रियाओंके साथ नाना प्रकारसे हास्य—परिहास करते हुए विराजमान होते हैं। वे कभी-कभी श्रीमतीके साथ बसन्तऋतु सेवित वनखण्डमें प्रवेशकर पिचकारी द्वारा चन्दन, कुंकुम आदिके जलसे एक दूसरेको भींगो देते हैं, कभी-

सूर्यादिपूजाव्याजेन कुसुमाद्याहृतिच्छलात्॥
वंचयित्वा गुरुन् याति प्रियसङ्गेच्छया वनम्।
इत्थं तौ बहुयत्नेन मिलित्वा सगणं ततः॥
विहारैर्विविधैस्तत्र वने विक्रीडतो मुदा।
हिन्दोलिका समारुढौ सखिभिर्दोलितौ क्वचित्॥
क्वचिद्वेणुं करस्रस्तं प्रिययापहृतं हरिः।
अन्वेषयन्नुपालब्धो विप्रलब्धो प्रियागणैः॥

कभी वे एक दूसरेके अङ्गोंमें चन्दन और कुंकुम आदि मल देते हैं। उनकी सखियाँ भी इसी प्रकार राधाकृष्णके और अपने अङ्गोंमें परस्पर उक्त चन्दन और कुंकुम जलका सिञ्चन करती हैं। हे द्विज, वे बसंत-वायुसेवित वनमें सखाओं और सखियोंके साथ तत्कालोचित नाना प्रकारसे विहार किया करते हैं। हे मुनिश्रेष्ठ! इस प्रकार विहार करते-करते थक जानेपर राधा और कृष्ण किसी वृक्षके नीचे दिव्य आसनपर बैठ जाते हैं और मधुपान करने लगते हैं। तदनन्तर मधुपानसे उन्मत्त होकर दोनों कुछ समय तक निद्राके आवेशमें आखोंको बन्द कर लेते हैं, फिर दोनों कामबाण द्वारा प्रकृष्ट रूपसे जर्जरित (आर्द्र) होकर रमणकी अभिलाषासे एक दूसरेका हाथ पकड़कर कामाप्लुत चित्तसे स्खलित वाणीमें बातें करते हुए कुञ्जमें प्रवेश करते हैं। कुञ्जमें प्रविष्ट होकर वे हस्तिनी और हस्तिराजकी भाँति क्रीड़ा करने लगते हैं। सखियाँ भी मधुपानसे मतवाली होकर अलसाये नेत्रोंसे उसी कुञ्जके चारों ओर प्रस्थान कर जाती हैं। श्रीकृष्ण भी अपनी अचिन्त्यशक्तिके प्रभावसे प्रस्थानके लिए प्रस्तुत प्रत्येक सखीके समीप एक-एक शरीरसे एक ही समय पृथक्-पृथक् रूपसे गमन करते हैं। जिस प्रकार मतवाला गजराज अनेक हस्तिनियोंके साथ बिना थके हुए विहार करता है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण भी प्रियाओंके साथ विहारकर प्रियतमा श्रीमती राधिका और दूसरी-दूसरी सखियोंके साथ जलकेलिके लिए सरोवरमें गमन करते हैं।
श्रीनारद बोले—हे वृन्दे, श्रीनन्दनन्दनकी माधुर्यक्रीड़ामें ऐश्वर्यका किस प्रकार प्रकाश सम्भव हुआ—मेरे इस संशयका छेदन करें।
श्रीवृन्दा बोली—नारद! श्रीहरिमें परिपूर्ण माधुर्य भी विद्यमान है, वही उनकी लीलाशक्ति है, श्रीहरि उस माधुर्य लीलाशक्तिके द्वारा ही पृथक् रूपमें गोप-गोपियोंके साथ क्रीड़ा किया करते हैं। सरोवरमें गमनकर श्रीकृष्ण और राधा परस्पर जलसेककी (जल फेंका—फेंकी) क्रीड़ा करती हैं। इसके पश्चात् सुन्दर वस्त्र माल्य—चन्दन और दिव्य आभरणोंसे विभूषित श्रीराधा और कृष्ण उसी सरोवरके तीरपर स्थित मणिमय दिव्यगृहमें मेरे द्वारा संग्रहीत फलमूलादि भोजन करते हैं। श्रीमती राधिका द्वारा परिसेवित होकर श्रीकृष्ण ही पहले भोजन करते हैं, उसके बाद श्रीकृष्ण पुष्प—रचित शय्यामें गमन करते हैं। उस समय केवल दो-तीन सखियाँ ही पानकी बीड़ी व्यजन (पंखासे हवा करना) और पाद—सम्वाहन आदि द्वारा कृष्णकी सेवा करती हैं। श्रीकृष्ण भी प्रेयसी श्रीमती राधिकाका स्मरण करते हुए सखियों द्वारा सेवित होकर आनन्दपूर्वक विश्राम करते हैं। श्रीहरिके सो जानेपर श्रीमती राधिका भी सखियोंके साथ बड़ी आनन्दित होती हैं। तदनन्तर बड़े प्रेमसे कान्त प्रदत्त

हासितो बहुधा ताभिर्हर्सत्य इव तिष्ठति।
वसन्त ऋतुना जुष्टं वनखण्डं क्वचिन्मुदा॥
प्रविश्य चन्दनाम्भोभिः कुङ्कुमादिजलैरपि।
विषिञ्चतो यन्त्रमुक्तैस्तत्पङ्कलिम्पतो मिथः॥
सख्योऽप्येवं विषिञ्चन्ति ताश्च तौ सिंचतः पुनः।
वसन्तवायु जुष्टेषु वनखण्डेषु सर्वतः॥
तत्तत्कालोचितैर्नानाविहारैः सगणो द्विज।

उच्छिष्ट भोजन करती हैं। थोड़ा-सा भोजन करते ही चकोरी जिस प्रकार चन्द्रका मुखपद्म दर्शन करनेके लिए व्याकुल हो पड़ती हैं, श्रीमती राधिका भी ठीक उसी प्रकार अपने प्राणवल्लभ श्रीकृष्णका मुखकमल दर्शन करनेके लिए व्याकुल होकर शय्यागृहमें गमन करती हैं। श्रीमती राधिका वहाँ पहुँचकर सखियों द्वारा निवेदित ताम्बुलराग द्वारा रंजित प्राणवल्लभका मुखपद्म एक टकसे निहारने लगती हैं और प्रियसखियोंमें विभागकर स्वयं पानकी बीड़ी चबाने लगती हैं। श्रीकृष्ण सखियोंमें स्वच्छन्द रूपसे होनेवाली बातोंको सुननेके लिए उत्सुक होकर अपने सम्पूर्ण शरीरको वस्त्रसे ढक लेते हैं और वास्तवमें जगे रहनेपर भी मानो गम्भीर निद्रामें हैं इस प्रकार दिखलाते हैं। कृष्ण अब सो गये हैं—ऐसा समझकर सखियाँ क्षणभर तक प्राणवल्लभकी बातोंका आश्रयकर परस्पर विश्रम्भभावसे (खुलकर) हास्य—परिहास करती रहती हैं। परन्तु किसी प्रकार यह जानकर कि कृष्ण वास्तवमें कपट—निद्रामें सो रहे हैं—लज्जासे जीभ काटकर परस्पर एक दूसरीकी ओर एकटकसे देखती हुई हक्की-बक्की सी हो जाती हैं, वे कुछ समय तक कुछ बोल भी नहीं पातीं। क्षणभरके बाद ही वे कृष्णके अङ्गोंसे चादरको खींच लेती हैं और "खूब सो रहे हो"—ऐसा कहकर कृष्णको हँसाती हैं और स्वयं भी हँसने लगती हैं। हे मुनिश्रेष्ठ, इस प्रकार राधाकृष्ण सखियोंके साथ नाना प्रकारसे हास्य-परिहासपूर्वक क्रीड़ाकर कुछ समयके लिए निद्रा सुख भोग करते हैं। तदनन्तर सखियोंके साथ विस्तृत दिव्य आसनपर प्रसन्नचित होकर बैठते हैं तथा परस्पर हार, परिच्छेद, चुम्बन और आलिङ्गनकी बाजी रखकर प्रेमपूर्ण परिहास-आलाप करते-करते पाशा क्रीड़ा खेलने लगते हैं। कृष्णके क्रीड़ामें पराजित होनेपर भी "मैंने ही जीता है"—ऐसा कहकर प्रियाजीके हार आदिको ग्रहण करनेके लिए तैयार होनेपर प्रियाजी द्वारा ताड़ित होते हैं। हे नारद, श्रीमती राधिका द्वारा ताड़ित होनेपर कृष्ण उदास होकर उस स्थानसे चले जानेकी भाँति उद्यम प्रकाश करते हैं और कहते हैं—हे देवि, यदि सचमुच तुमने ही जीता है, तो हारनेपर मैं तुम्हें चुम्बन आदि प्रदान करूँगा इस प्रकार जो मैंने पहले ही दाव पर रखा है, वह तुम ग्रहण करो, ऐसा कहकर श्रीकृष्ण श्रीमती राधिकाका चुम्बन आदि करते हैं। भ्रूभङ्गी-दर्शन और श्रीकृष्णके प्रति श्रीमतीकी भर्त्सनापूर्ण वाक्यावलीको सुननेके लिए वहाँ शुक-सारिका उपस्थित होकर परस्पर वाक्—युद्ध प्रारम्भ कर देती हैं। श्रीराधा-कृष्ण शुकसारिकाका परस्पर वाक्युद्ध श्रवणकर घर जानेके लिए वहाँसे बहिर्गत होते हैं। श्रीकृष्ण प्राणवल्लभा श्रीमतीकी अनुमति लेकर गायोंकी ओर चल पड़ते हैं। श्रीमती राधिका भी सखियोंके साथ सूर्य-पूजाके लिए सूर्य-मन्दिरमें चली जाती हैं। श्रीकृष्ण कुछ ही दूर

क्वचिद्वृक्षमूलमासाद्य मुनिसत्तम॥
श्रान्तौ उपविश्यासने दिव्ये मधुपानं प्रचक्रतुः।
ततो मधुमदोन्मत्तौ निद्रया मिलितेक्षणौ॥
मिथः पाणि समालम्ब्य कामबाणप्रसङ्गतौ।
रिरंसुर्विशतः कुञ्जे स्खलत्पादाब्जकौ पथि॥
विक्रीडतुस्तत्र तत्र करिण्यो यूथपौ यथा।
सख्योऽपि मधुभिर्मत्ता निद्रया पीडितेक्षणाः॥
अभितो मंजुकुंजेषु सर्वा एवापि शिष्यिरे।
पृथगेकेन वपुषा कृष्णोऽपि युगपद्विभुः॥
सर्वासां सन्निधिं गच्छेत् प्रियया प्रेरितो मुहुः।
रमयित्वा च ताः सर्वाः करिणीर्गजराडिव॥
प्रियया च तथा ताभिः क्रीडार्थञ्च सरोऽव्रजेत्।

श्रीनारद उवाच—

वृन्दे श्रीनन्दपुत्रस्य माधुर्यक्रीडने कथम्।
ऐश्वर्यस्य प्रकाशोऽभूत इति मे छिन्दि संशयम्॥

श्रीवृन्दा उवाच—

मुने! माधुर्यमप्यस्ति लीलाशक्तिः हरेस्तु सा।
तया पृथक् क्रीडद्गोपगोपिकाभिः समं हरिः॥
राधया सह रूपेण निजेन रमते स्वयम्।
इति माधुर्यलीलायाः शक्तिर्नत्वाशता हरेः॥
जलसेकैर्मिथस्तत्र क्रीडित्वा स्वगणैस्ततः।
वासः स्त्रकचन्दनैर्दिव्यै भूषणैरपि भूषितौ॥
तत्रैव सरस्तीरे दिव्यमणिमये गृहे।
अश्नतः फलमूलानि कल्पितानि मयैरपि॥
हरिस्तु प्रथमं भुक्त्वा कान्तया परिसेवितम्।
द्वित्राभिः सेवितो गच्छेच्छय्यां पुष्पविनिर्मितान्॥
ताम्बूलैर्व्यजनैस्तत्र पादसम्वाहनादिभिः।
सेव्यमानो हसंस्ताभिर्मोदते प्रेयसीं स्मरन्॥
श्रीराधापि हरौ सुप्ते सगणा मुदितान्तरा।

जाकर लौट पड़ते हैं और पुजारी ब्राह्मणका वेश धारणकर सूर्य-मन्दिरमें उपस्थित होते हैं। श्रीमतीजीकी सखियाँ श्रीकृष्णको पुजारी समझकर सूर्य—पूजा करा देनेका आग्रह करती हैं। कृष्ण भी परिहासपूर्ण कल्पित वेदमन्त्रों द्वारा सूर्यकी पूजा कराने लगते हैं। बुद्धिमती सखियाँ कल्पित वेद-मन्त्रोंको सुनते ही झट ऐसा समझ लेती हैं कि ये और कोई नहीं है बल्कि ये तो राधिका-विरहव्यथित कान्त श्रीकृष्ण ही हैं। ऐसा जान लेनेपर वे प्रेमानन्दसागरमें निमज्जित हो पड़ती हैं, उस समय उन्हें अपने और परायेका ज्ञान नहीं रहता। मुने! इस प्रकार विविध प्रकारके विहारमें ढाई प्रहरका समय व्यतीतकर सखियाँ अपने-अपने घरको लौट जाती हैं, कृष्ण भी व्रजमें गायोंकी ओर चले जाते हैं।

कान्तदत्तं प्रीतिमना उच्छिष्टं बुभुजे ततः॥
किंचिदेव ततो भुक्त्वा व्रजेत् शय्यां निकेतनम्।
द्रष्टुं कान्तमुखाम्भोजं चकोरीव निशाकरम्॥
ताम्बूलचर्वितं तस्य तत्रत्याभिर्निवेदितम्॥
ताम्बूलान्यपि चाश्नाति विभजन्ती प्रियालिषु।
कृष्णोऽपि तासां शुश्रूषुः स्वछन्दभाषितं मिथः॥
प्राप्तनिद्र इवाभाति इवाभाति विनिद्रोऽपि पटावृतः।
ताश्च केलीक्षणं कृत्वा मिथःकान्तकथाश्रयाः॥
व्याजनिद्रां हरेर्ज्ञात्वा कुतश्चिदमनुमानतः।
व्युदस्य रसनां दद्भिः पश्यन्त्योऽन्योन्यमाननम्॥
लीना इव लज्जया स्यु क्षणमुचुर्न किञ्चन।
क्षणादेव ततो वस्त्रं दुरीकृत्य तदङ्गतः॥
साधुनिद्रां गतोऽसीति हासयन्ती हसन्ति च।
एवं तौ विविधैर्हास्यै रममानौ गणैः सह॥
अनुभूयः क्षणं निद्रासुखञ्च मुनिसत्तम।
उपविश्यासने दिव्ये सगणौ विस्तृते मुदा॥
पणीकृत्य मिथो हारं चुम्बाश्लेषपरिच्छदान्।
अक्षैर्विक्रीडितं प्रेम्ना नर्मालापपुरःसरम्॥
पराजितोऽपि प्रियया जितोऽहमिति वै ब्रुवन्।
हारादिग्रहणे तस्याः प्रवृत्तस्ताड्यते तथा॥
तथैवं ताडितः कृष्णः करोत्पलसरोरुहे।
विषण्णमानसो भूत्वा गन्तुं च कुरुते मतिम्॥
जितोऽस्मि चेत्त्वया देवि गृह्यतां मत्पणीकृतम्।
चुम्बनादि मया दत्तमित्युक्त्वा च तथाचरेत्॥
कौटिल्यं तद्भ्रुवोर्द्रष्टुं श्रोतुं तद्भर्त्सनम् वचः।
ततः सारी शुकानाञ्च श्रुत्वा बागाहवं मिथः॥
निर्गच्छतस्ततः स्थानाद्गन्तुकामौ गृहं प्रति।
कृष्णः कान्तामनुज्ञाप्य गवामभिमुखं व्रजेत्॥
सा तु सूर्यगृहं गच्छेत् सखीमंडलसंवृता।
कियद्दूरं ततो गत्वा परावृत्य हरिः पुनः॥
विप्रवेषं समास्थाय याति सूर्यगृहं प्रति।
सूर्यञ्च पूजयेत्तत्र प्रार्थितस्तत्सखीजनैः॥
तदैव कल्पितैर्वेदैः परिहासविशारदैः।
ततस्ता व्यथितं कान्तं परिज्ञाय विचक्षणाः॥
आनन्दसागरे लीना न विदुः स्वं न चापरम्।
विहारैर्विविधैरेवं सार्द्धयामद्वयं मुने॥
नीत्वा गृहं व्रजेयुस्ताः स च कृष्णो गवां व्रजेत्।

विजय—अपराह्न लीला कैसी होती है?

गोस्वामी—

(८) संगम्य स्वसखीन् कृष्णो गृहीत्वा गाः समन्ततः।
आगच्छति व्रजं कर्षन् तत्रत्यान् मुरली रवैः॥
ततो नन्दादयः सर्वे श्रुत्वा वेणुरवं हरेः।
गोधूलिपटलव्याप्तं दृष्ट्वा वापि नभस्थलम्॥
कृष्णस्याभिमुखं यान्ति तद्दर्शनसमुत्सुकाः।
राधिकापि समागत्य गृहे स्नात्वा विभूषिता॥
सम्पाद्य कान्तभोगार्थं भक्ष्याणि विविधानि च।
सखीसंघयुता याति कान्तं द्रष्टुं समुत्सुकाः॥
राजमार्गे व्रजद्वारि यत्र सर्वव्रजौकसः।
कृष्णोऽपि तान् समागम्य यथावदनुपूर्वशः॥
दर्शनैः स्पर्शनैर्वाचा स्मितपूर्वावलोकनैः।
गोपवृद्धान् नमस्कारैः कायिकैर्वाचिकैरपि॥
साष्टाङ्गपातैः पितरौ रोहिणीमपि नारद।
नेत्रान्तसूचितेनैव विनयेन प्रियां तथा॥
एवं तैश्च यथायोग्यं व्रजौकोभिः प्रपूजितः।
गवालयं तथा गाश्च संप्रविश्य समन्ततः॥
पितृभ्यामर्थितो याति भ्रात्रा सह निजालयम्।
स्नात्वा भुक्त्वा किञ्चदत्र पित्रा मात्रानुमोदितः॥

---

(८) हे नारद! कृष्ण सखाओंके साथ मिलित होकर चारों ओरसे गायोंको एकत्र करके तथा व्रजवासियोंको मुरलीध्वनि द्वारा आकर्षणकर व्रजको लौटते हैं। तदनन्तर नन्द आदि सभी व्रजवासी श्रीहरिकी वेणुध्वनि श्रवणकर तथा आकाशपथमें गोधूलिको परिव्याप्त होते देखकर ऐसा समझ जाते हैं कि कृष्ण गोचारणसे लौट रहे हैं। ऐसा जानकर वे कृष्णको देखनेके लिए बड़ी उत्सुकतासे गमन करते हैं। श्रीमती राधिका भी इधर घर लौटकर स्नान और शृङ्गार करती हैं और प्राणवल्लभके लिए विविध प्रकारकी भोज्य सामग्रियाँ प्रस्तुतकर सखियोंके साथ उत्कण्ठित चित्तसे प्राणेश्वरके दर्शनोंके लिए चल पड़ती हैं। कृष्ण भी गोचारणसे लौटते समय राजपथपर व्रजके द्वारपर उन व्रजवासियोंके समीप जाकर किसीको देखते हैं, किसीको अपने अङ्गोंके स्पर्श द्वारा, किसीको मधुर वार्त्तालाप द्वारा, तो किसीको मधुर-मधुर मुसकानभरी स्नेहभरी चितवन द्वारा, गोपवृद्धाओंको कायिक और वाचिक नमस्कार द्वारा, श्रीनन्द यशोदा और रोहिणीको साष्टाङ्ग दण्डवत्-प्रणाम द्वारा और प्रियाओंको मधुर कटाक्षसूचित विनय द्वारा सम्मान और आनन्द प्रदान करते हैं। इस प्रकार वे भी बदलेमें व्रजवासियोंके द्वारा यथायोग्य आशिष, संभाषण और पूजादि प्राप्त होकर गोष्ठमें गौवोंको पहुँचा देते हैं। तत्पश्चात् श्रीकृष्ण पिता-माताकी आज्ञासे दाऊजीके साथ अपने गृहमें गमन करते हैं और वहाँ माताके अनुरोधसे स्नान और कुछ भोजनकर गोदोहनके लिए उत्सुक होकर फिर गोष्ठमें गमन करते हैं।

गवालयं पुनर्याति दोग्धुकामो गवां पयः।

विजय—सायंलीला कैसी होती है?

गोस्वामी—

[९]ताश्च दुग्ध्वा पुनः कृष्णः दोहयित्वा च काश्चन।
पित्रा सार्द्धं गृहं याति पयोभारशतानुगः॥
तत्रापि मातृवृन्दैश्च तत् पुत्रैश्च बलेन च।
संभुक्ते विविधान्नानि चर्व्यचोष्यादिकानि च॥

विजय—प्रदोषलीला कैसी होती है?

गोस्वामी—

[१०]तन्मातुः प्रार्थनात् पूर्वं राधयापि तदैव हि।
प्रस्थप्यन्ते सखीद्वारा पक्वान्नानि तदालयम्॥
श्लाघयंश्च हरिस्तानि भुक्त्वा वित्रादिभिः सह।
सभागृहं व्रजेत्तैश्च जुष्टं बन्धुजनादिभिः॥
पक्वान्नानि गृहीत्वा ताः सख्यस्तत्र समागताः।
बहुन्येव पुनस्तानि प्रदत्तानि यशोदया॥
सख्या तत्र तया दत्तं कृष्णोच्छिष्टं तथा रहः।
सर्वं ताभिः समानीय राधिकायै निवेद्यते॥
सापि भुक्त्वा सखीवर्गयुता तदननुपूर्वशः।
सखिभिर्मण्डिता तिष्ठेदभिसत्तुं समुद्यता॥

विजय—प्रभो, रात्रिलीला श्रवण करनेकी लालसा हो रही है। गोस्वामी—

[११] वृन्दा वदति—

---

(९) गोष्ठमें पहुँचकर कृष्ण कुछ गायोंको तो स्वयं ही दुहते हैं और बाकी गायोंको दूसरोंसे दुहवाकर सैंकड़ों दुग्ध-भारवाहियोंके आगे-आगे पिताके साथ चलकर पुनः घर लौटते हैं। वहाँ माताओं, उनके पुत्रों और बलरामके साथ बैठकर चर्व्य, चोष्य, लेह्य और पेय आदि नाना प्रकारके स्वादिष्ट खाद्यपदार्थ भोजन करते हैं।

(१०) श्रीराधिका भी अपनी सासकी आज्ञा पानेके पहले ही सखी द्वारा नाना प्रकारके पकवान और व्यंजनादि कृष्णके भवनमें भेज दिया करती हैं। श्रीकृष्ण पिता आदिके साथ बैठकर राधिकाके द्वारा बनाये गये विविध प्रकारके अन्न और व्यंजनोंकी प्रशंसा करते हैं और उसके पश्चात् पिता आदिके साथ बन्दियों और भाटोंसे सेवित सभाकक्षमें गमन करते हैं। इधर सखियाँ कृष्णका उच्छिष्ट लेकर राधिकाको प्रदान करती हैं। श्रीमती राधिका उस कृष्ण-उच्छिष्टको सखियोंमें बाँटकर स्वयं भी परमानन्दके साथ भोजन करती हैं। उसके बाद सखियों द्वारा विभूषित होकर अभिसारके लिए प्रस्तुत हो जाती हैं।

(११) वृन्दादेवीने कहा—उसी समय इस स्थानसे किसी सखीको राधिकाके समीप भेजती हूँ। उस सखीके सङ्केतानुसार श्रीमती राधिका उस दिन शुक्ल या कृष्ण जो भी पक्ष होता है, उसीके अनुसार सफेद या काला वस्त्र पहनकर सखीके साथ यमुनाके निकट कल्पवृक्षयुक्त निकुञ्जके भीतर दिव्य रत्नमय गृहमें पधारती हैं। इधर कृष्ण सभामें बैठकर नाना

प्रस्थाप्यते मया काचिदतएव ततः सखी।
तथाभिसारिताभिश्च यमुनायाः समीपतः॥
कल्पवृक्षे निकुंजेऽस्मिन् दिव्यरत्नमये गृहे।
सितकृष्णनिशायोग्या वेशयित्वा सखीयुता॥
कृष्णोऽपि विविधस्तत्र दृष्ट्वा कौतूहलं ततः।
कात्यायन्या मनोज्ञानि श्रुत्वापि गीतकान्यपि।
धनधान्यादिभिस्तांश्च प्रीणयित्वा विधानतः।
जनैराराधितो मात्रा याति शय्यानिकेतनम्॥
मातरि प्रस्थितायान्तु बहिर्गत्वा ततो गृहात्।
सांकेतितं कान्तयात्र समागच्छेदलक्षितः॥
मिलित्वा तावुभावत्र क्रीडतो वनराजिषु।
विहारैर्विविधै रासलास्यगीतपुरःसरैः॥
सार्द्धं यामद्वयं नीत्वा रात्रावेव विधानतः।
विश्ये सुषुपतुः कुंजे पक्षिभिस्तावलक्षितौ॥
एकान्ते कुसुमैः क्लिप्ते केलितल्पे मनोहरे।
सुप्तावतिष्ठतां तत्र सेव्यमानौ निजालिभिः॥

विजय! यही अष्टकालीन लीला है। इसमें सब प्रकारके रसोंकी सामग्रियाँ विद्यमान हैं। मैंने पहले जितने प्रकारके रसोंका उल्लेख किया है, वे समस्त इस लीलामें हैं। यथास्थान, यथाकाल, यथादेश और यथा सम्बन्ध—यह सब समझकर तुम अपना सेवाकार्य करते रहो।

श्रीगुरुगोस्वामीके श्रीमुखसे यहाँ तक श्रवणकर विजयकुमार भावमें विभोर हो गये। उनकी आँखोंसे प्रेमाश्रुओंकी धारा प्रवाहित होने लगी, शरीरमें रोमाञ्च हो आया। वे गद्गद स्वरसे दो-एक बातें कहकर श्रीगोपाल गुरुगोस्वामीके चरणोंमें अचेतन होकर गिर पड़े। कुछ देरके बाद चेतनता आनेपर श्रीगुरुगोस्वामीने उन्हें हृदयसे लगा लिया और प्रेमसे उनके सिरपर हाथ फेरने लगे। श्रीगुरुगोस्वामीके नेत्रोंसे भी अश्रुधारा प्रवाहित होने लगी। इसके पश्चात् अधिक रात हुई जानकर श्रीगुरुगोस्वामीके श्रीचरणोंमें दण्डवत् प्रणामकर धीरे-धीरे वासस्थानको लौटे। अब उनके हृदयमें दिन-रात रस कथा उदित होने लगी।

॥अड़तीसवाँ अध्याय समाप्त॥

प्रकारके कौतुकोंका दर्शन करते हैं तथा मनोमोहनकारी कात्यायनी-सङ्गीत श्रवण करते हैं। इसके पश्चात् गायकोंको धनधान्य आदि द्वारा सन्तुष्ट करके प्रजावर्गकी पूजा प्राप्त करते हैं और माताके साथ शयन कक्षमें पधारते हैं। यशोदा कृष्णको सुलाकर जब चली जाती हैं। तब कृष्ण चुपचाप घरसे बाहर गमन करते हैं और सबकी दृष्टिसे छिपकर सङ्केत गृहमें कान्ताके साथ मिलते हैं। वहाँपर दोनों मिलित होकर वन-श्रेणीमें क्रीड़ा करते हैं। सखियोंके नृत्यगीत आदि विविध विहार द्वारा रासलीलामें प्रायः ढाई प्रहर रात बीत जानेपर दोनों सोनेके लिए अलक्षित रूपमें कुञ्जके भीतर प्रवेश करते हैं। राधा और कृष्ण कुञ्जमें प्रवेशकर निर्जनमें पुष्प निर्मित मनोहर केलिशय्यापर शयन करते हैं। अन्तरङ्ग सखियाँ उनकी सेवा करती हैं।

उनतालीसवाँ अध्याय
लीलाप्रवेश-विचार

विजयकुमार अब बड़े व्याकुल हो पड़े। कोई भी बात उन्हें अच्छी नहीं लगती। श्रीमन्दिरमें जगन्नाथ—दर्शनकर चित्तको स्थिर नहीं कर पाते थे। साधारण रसतत्त्वको तो बहुत दिन पहले ही समझ गये थे, मधुररसके स्थायीभाव, विभाव, अनुभाव सात्त्विकभाव और व्यभिचारी भाव—इन सब भावोंको यहाँ आकर अब समझे हैं। उनके हृदयमें एक-एक समय एक-एक भाव पैदा होते हैं। कुछ देर तक एक भावके उन्हें आनन्दमें निमग्न करनेपर एक दूसरा नवीन भाव उनके हृदयपर आक्रमण करता है। इस प्रकार उनके दिन बीत रहे हैं। वे स्वयं किसी प्रकार भी भावका उदय, उसकी क्रिया और दूसरे रूपमें उसका बदलना—आदिका नियम न कर सकनेके कारण एकदिन सजल नेत्रोंसे श्रीगुरु गोस्वामीके चरणोंमें उपस्थित हुए और बोले—प्रभो! आपकी अपार करुणासे सब कुछ जान करके भी मैं अपने आपपर प्रभुत्व नहीं कर पा रहा हूँ एवं कृष्णलीलामें स्थिर नहीं हो पा रहा हूँ। ऐसी दशामें मुझे जो उपदेश देना उचित समझें, देनेकी कृपा करें।

श्रीगुरु गोस्वामी उनके भावको देखकर बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने मन-ही-मन सोचा —"अहा! कृष्ण प्रेम क्या ही अद्भुत है! वह सुखको दुःख-सा और दुःखको सुख-सा करा देता है।" फिर प्रकट रूपमें बोले—बेटा! अब तुम्हें कृष्णलीलामें प्रवेश करानेवाले उपायोंका अवलम्बन करना चाहिये।

विजय—प्रवेशका उपाय क्या है?

गोस्वामी—श्रीदास गोस्वामीने निम्न श्लोकमें लीला-प्रवेशका उपाय बतलाया है—

न धर्मं नाधर्मं श्रुतिगणनिरुक्तं किल कुरु
व्रजे राधाकृष्णप्रचुरपरिचर्यामिह तनु।
शचीसूनुं नन्दीश्वरपतिसुतत्वे गुरुवरं
मुकुन्दप्रेष्ठत्वे स्मर परमजस्रं ननु मनः॥

(मनः शिक्षा २)

देखो, शास्त्रोक्त धर्माधर्मका विचार लेकर व्यर्थका समय न गँवाओ। तात्पर्य यह कि शास्त्रीय युक्तियोंको छोड़कर अपने लोभसे रागानुगा-भक्तिका साधन करो, व्रजमें राधाकृष्णकी प्रचुर परिचर्या—सेवा करो, व्रजरसका भजन करो यदि यह कहो कि व्रजरस-भजनका उद्देश्य कौन बतलायेंगे? तो इसका उत्तर यह है कि व्रजलीलाके पश्चात् प्रच्छन्न वृन्दावन—श्रीनवद्वीपधाममें श्रीशचीदेवीके गर्भसे जो उदित हुए थे, उन प्राणनाथ श्रीनिमानन्दको साक्षात नन्दीश्वरपति—श्रीनन्द महाराजका पुत्र समझो—कृष्णसे किसी प्रकार भी श्रीचैतन्य महाप्रभुको तत्त्वमें छोटा मत समझो। उन्होंने नवद्वीपमें अवतीर्ण होकर एक पृथक् भजनलीला दिखलायी है, इसलिए उन्हें नवद्वीप-नागर मानकर व्रजभजनका परित्याग न करो। वे साक्षात् कृष्ण हैं, अतएव अर्चन मार्गमें जो लोग श्रीचैतन्यमहाप्रभुका कृष्णसे पृथक् ध्यान करते हैं तथा उनके पृथक् मन्त्र आदिका आश्रय ग्रहण करते हैं, उन्हें वैसा करनेमें बाधा मत दो। परन्तु रसमार्गमें वे श्रीराधावल्लभके रूपमें ही एकमात्र भजनीय हैं तथा शचीनन्दनके रूपमें वे व्रजरसके एकमात्र गुरु रूपमें उदित हुए हैं। अतएव उन शचीनन्दनका कृष्ण-प्रेष्ठ-गुरुके रूपमें भजन करो। अष्टकालीय कृष्णलीलाके उद्बोधक भाव स्वरूप गौरलीलाका स्मरण सब

लीलाओंसे पहले ही करना और भजन गुरुदेवको व्रज यूथेश्वरी या सखीके अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं समझना। इस प्रकार भजन करते हुए व्रजलीलामें प्रवेश करो।

विजय—प्रभो! अब तो मेरी ऐसी इच्छा हो रही है कि दूसरी-दूसरी सारी शास्त्र युक्तियों और दूसरे समस्त प्रकारके मार्गोंको छोड़कर श्रीगौराङ्गदेव द्वारा प्रकटित अष्टकालीय कृष्णलीलामें अपनी गुरु रूपा सखीके अनुगत होकर उचित सेवा करूँ। कृपाकर यह बतलाइये कि ऐसा करनेके लिए इस विषयमें मनको स्थिर कैसे किया जाये?

गोस्वामी—इसके लिए दो विषयोंकी परिष्कृतिकी आवश्यकता है—उपासक-परिष्कृति और उपास्य-परिष्कृति। तुमने रसतत्त्व जान लिया है, अतएव तुम्हारी उपास्य परिष्कृति हो चुकी है। उपासक परिष्कृतिके सम्बन्धमें ग्यारह प्रकारके भाव हैं, जिनमेंसे तुमने लगभग सबको पा लिया है; केवल उसमें थोड़ी-सी स्थितिकी आवश्यकता है।

विजय—उन ग्यारह भावोंको एकबार फिरसे भलीभाँति बतलानेकी कृपा करें।

गोस्वामी—ग्यारह भाव ये हैं—(१) सम्बन्ध, (२) वयः, (३) नाम, (४) रूप, (५) यूथ, (६) वेश, (७) आज्ञा, (८) वास, (९) सेवा, (१०) पराकाष्ठा-श्वास और (११) पाल्यदासीभाव।

विजय—सम्बन्ध किसे कहते हैं?

गोस्वामी—सम्बन्ध भाव ही इस विषयमें भित्ति-स्थापन—नींव डालना है। सम्बन्ध कालमें कृष्णके प्रति जिसका जो भाव होता है, उसीके अनुरूप उसकी सिद्धि होती है। कृष्णको प्रभु मानकर सम्बन्ध स्थापन करनेसे दास, सखा मानकार सम्बन्ध स्थापन करनेसे सखा और पुत्र मानकर सम्बन्ध करनेसे पिता-माता हुआ जाता है। स्वकीय पति मानकर सम्बन्ध स्थापन करनेसे पुरकी वनिता हुआ जाता है। व्रजमें शान्त नहीं है। वहाँ दास्य भी संकुचित है। उपासककी स्वाभाविक रुचिके अनुसार सम्बन्ध स्थापित होता है। तुम स्त्री स्वभावके हो, तुम्हारी रुचि भी परकीय रसमें है, अतएव तुम व्रजवनेश्वरीके अनुगत हो। तुम्हारा सम्बन्ध यह है कि "मैं श्रीराधिकाकी परिचारिकाकी परिचारिका—सेविकाकी सेविका हूँ। श्रीराधिका मेरी जीवितेश्वरी हैं; कृष्ण उनके जीवितेश्वर हैं, अतएव श्रीराधावल्लभ श्रीकृष्ण ही मेरे प्राणेश्वर हैं।"

विजय—सुना है, हमारे आचार्य श्रीजीवगोस्वामी स्वकीया भावके सम्बन्धको उचित समझते थे, क्या यह बात सत्य है?

गोस्वामी—श्रीमन् महाप्रभुका कोई भी एक ऐसा अनुचर नहीं है जो शुद्ध परकीया भावसे रहित हो। श्रीस्वरूप गोस्वामीके अतिरिक्त इस रसका भला और कौन गुरु है? उन्होंने शुद्ध परकीया भावकी शिक्षा दी है। श्रीजीव गोस्वामीका भी वही मत है, श्रीरूप और श्रीसनातनका भी वही मत है। श्रीजीवका अपना अलग किसी प्रकारका स्वकीया भजन नहीं है। तब एक बात है, वह यह कि उन्होंने देखा था कि व्रजमें कुछ उपासकोंमें स्वकीया भावकी गन्ध थी। समर्थारति जहाँ समञ्जसा रतिकी गन्धको प्राप्त हो जाती है, वहींपर व्रजका स्वकीया भाव है। उसी भावसे जिनकी कृष्ण सम्बन्ध स्थापन कालमें थोड़ी-सी स्वकीयत्व-बुद्धि होती है, वे ही स्वकीया उपासक हैं। श्रीजीव गोस्वामीके दोनों प्रकारके ही अर्थात् शुद्ध परकीया उपासक एवं स्वकीया मिश्रित भावके उपासक शिष्य थे। इसीलिए अपने नाना प्रकारके रुचिवाले शिष्योंके प्रति पृथक् पृथक् उपदेश रख छोड़े हैं। "स्वेच्छया

लिखितं किञ्चित्" इत्यादि लोचनरोचनी-गत उनके श्लोकोंमें यह बात स्पष्ट रूपसे स्वीकृत है।

विजय—अच्छी बात है, मैं यह जान गया कि हमारे विशुद्ध गौड़ीय मतमें विशुद्ध परकीया भजन ही स्वीकृत है। अब मैं सम्बन्ध समझ गया, कृपाकर वयः की बात बतलाइये।

गोस्वामी—कृष्णके साथ तुम्हारा जो सम्बन्ध हुआ, उससे तुम्हारा एक अपूर्व स्वरूप भी उदित हुआ—वह स्वरूप व्रजललना स्वरूप है। अतएव उसमें सेवाके लिए उपयुक्त वयः का अवश्य प्रयोजन है। कैशोर वयस ही वह उपयुक्त वयस है। दस वर्षसे सोलह वर्षकी अवस्था कैशोर है। इसीको वयःसन्धि भी कहते हैं। तुम्हारी वयः दससे लेकर बढ़ती-बढ़ती सोलह तक जायेगी। बाल्य, पौगण्ड और वृद्ध वयस—ये तीन अवस्थाएँ व्रजललनाओंकी नहीं होती। अपने आपको सदा किशोरी ही समझनेका अभिमान करना।

विजय—नामके सम्बन्धमें बतलानेकी कृपा करें। यद्यपि पहले ही नाम आदि प्राप्त हो चुका है, तथापि उस विषयमें दृढ़ शिक्षा प्रदान करें।

गोस्वामी—विभिन्न व्रजललनाओंका वर्णन सुनकर उसमें तुम्हारी रुचिगत सेवाके अनुरूप तुम राधिका सखीकी एक परिचारिका हो, उसका नाम ही तुम्हारा नाम है। तुम्हारी रुचिकी परीक्षा करके तुम्हारे गुरुदेवने जो नाम दिया है, उसी नामको तुम अपना नित्यनाम समझना। व्रजललनाओंके बीच तुम नाम द्वारा मनोरमा होओगे।

विजय—प्रभो! अब रूपके विषयमें बतलावें।

गोस्वामी—तुम जब रूप यौवनसम्पन्ना किशोरी हो, तब तुम्हारा सिद्ध रूप रुचिके अनुसार ही श्रीगुरुदेवने निर्णय किया है। अचिन्त्य-चिन्मय-रूप सम्पन्न न होनेसे श्रीमती राधिकाकी परिचारिका कौन हो सकती है?

विजय—यूथके विषयमें दृढ़ता प्रदान करनेकी कृपा कीजिये।

गोस्वामी—श्रीमती राधिका ही यूथेश्वरी हैं। श्रीमती राधिकाकी अष्ट सखियोंमेंसे किसीके भी गणमें रहना होगा। तुम्हारे गुरुदेवने तुम्हें श्रीमती ललिताके गणमें रखा है। श्रीललिताकी आज्ञासे श्रीयूथेश्वरीके साथ लीलामय श्रीकृष्णकी सेवा करना।

विजय—प्रभो किस प्रकारके साधक श्रीचन्द्रावली आदि यूथेश्वरियोंके अनुगत होते हैं?

गोस्वामी—जन्म-जन्मान्तरोंके सौभाग्यसे यूथेश्वरीके अनुगत होनेकी वासना उत्पन्न होती है। अतएव श्रीराधिकाके यूथमें बड़े सौभाग्यशाली साधक ही प्रवेश करते हैं। श्रीचन्द्रावली आदि यूथेश्वरियाँ भी श्रीराधामाधवकी लीलापुष्टिके लिए यत्नवती हैं। उन्होंने रस-पुष्टिके लिए ही विपक्षका भाव ग्रहण किया है। वास्तवमें श्रीमती राधिका ही एकमात्र यूथेश्वरी हैं, श्रीकृष्णकी विचित्रलीला—अभिमानमयी हैं। जिनकी जो सेवा है, उनका उसीमें अभिमान है।

विजय—अब गुणके विषयमें दृढ़ होना चाहता हूँ।

गोस्वामी—तुम जो सेवा करोगे, उस सेवाके लिए उपयोगी नाना प्रकारकी शिल्पकलाओंमें तुम निपुण हो, उसके लिए उपयुक्त गुण और वेष चाहिये, उसे तुम्हारे श्रीगुरुदेवने निर्दिष्ट कर दिया है।

विजय—अब आज्ञाके सम्बन्धमें बतलानेकी कृपा करें।

गोस्वामी—आज्ञा दो प्रकारकी होती है—नित्य और नैमित्तिक। करुणामयी सखीने तुम्हारे

प्रति जिस सेवाकी आज्ञा दे रखी है, तुम निरपेक्ष होकर अष्टप्रहरके बीच जब जिस सेवाका कर्त्तव्य है उसे करते रहना। बीच-बीचमें आवश्यकतानुसार यदि कोई सेवा उपस्थित हो जाये, तो उसके लिए जो आज्ञा होती है, उसे नैमित्तिक आज्ञा कहते हैं। वैसी आज्ञाओंका भी यत्नपूर्वक पालन करना चाहिये।

विजय—'वास' किसे कहते हैं?

गोस्वामी—व्रजमें नित्यनिवास करना ही 'वास' है। व्रजके किसी गाँवमें किसी गोपके गृहमें जन्मी तुम एक गोपी हो। किसी दूसरे गाँवमें किसी गोपके साथ तुम्हारा विवाह हो गया है। परन्तु फिर भी कृष्णकी मुरलीध्वनिसे आकृष्ट होकर तुम सखीके अनुगत होकर उनके राधाकुण्ड-स्थित कुञ्जकी एक सुन्दर कुटीमें निवास करती हो—यह अभिमान-सिद्ध वास ही तुम्हारा वास है। तुम्हारा परकीया भाव ही नित्यसिद्ध भाव है।

विजय—अब सेवाका निर्णय करें।

गोस्वामी—तुम श्रीमती राधिकाकी सेविका हो। उनकी सेवा ही तुम्हारी सेवा है। किसी समय यदि आवश्यकतावश वे तुम्हें एकान्तमें श्रीकृष्णके पास भेजें और उस समय निर्जनमें श्रीकृष्ण तुम्हारे प्रति रतिप्रकाश करें, तो तुम उसे स्वीकार नहीं करना। तुम राधाकी दासी हो, राधिकाकी अनुमतिके बिना स्वतन्त्र होकर कृष्णकी सेवा न करना। राधा और कृष्णमें एक समान स्नेह रखकर भी राधिकाके दास्य प्रेममें कृष्णके दास्य-प्रेमकी अपेक्षा अधिकतर आग्रह रखना—इसीका नाम सेवा है। श्रीराधाकी अष्टकालीय सेवा ही तुम्हारी सेवा है। श्रीस्वरूप दामोदरके कड़चाके अनुसार श्रीदास गोस्वामीने विलाप कुसुमाञ्जलि-ग्रन्थमें तुम्हारी सेवाकी रूपरेखा प्रस्तुत की है।

विजय—पराकाष्ठाश्वासका निरूपण कैसे होता है?

गोस्वामी—श्रीदास गोस्वामीके इन दो श्लोकोंमें पराकाष्ठाका वर्णन है—

आशाभरैरमृतसिन्धुमयैः कथञ्चित् कालो मयातिगमितः किल साम्प्रतं हि।
त्वञ्चेत् कृपां मयि विधास्यसि नैव किं मे प्रानैर्व्रजेन च वरोरु वकारिणापि॥

हा नाथ गोकुलसुधाकर सुप्रसन्नवक्त्रारविन्दमधुरस्मित हे कृपार्द्र!
यत्र त्वया विहरते प्रणयैः प्रियारात्तत्रैव मामपि नय प्रियसेवनाय॥

(विलापकुसुमाञ्जलि १०२, १००)

अर्थात् हे वरोरु राधे, मेरी आशा अमृतके समुद्रको प्राप्त करनेकी भाँति अत्यन्त भारी है। मैं उसे प्राप्त करनेकी आशामें बड़े ही कष्टसे जीवनके दिन काट रहा हूँ। अब तुम मुझ दुःखीके ऊपर दया करो।

तुम्हारी कृपाके बिना मेरा जीवन, मेरा व्रजवास और तो क्या, कृष्णदास्य—यह सब कुछ व्यर्थ है। हा गोकुलचन्द! हा मधुरस्मित सुप्रसन्न मुखारविन्द! हा कृपार्द्र! तुम प्रणयपूर्वक श्रीमती राधाको लेकर जहाँ नित्य विहार करते हो, मुझे भी प्रियसेवाके लिए वहीं ले चलो।

विजय—अब कृपाकर पाल्यदासीका स्वभाव बतलावें।

गोस्वामी—व्रजविलास स्तोत्रमें श्रीदास गोस्वामीने पाल्यदासीका भाव इस प्रकार बतलाया है—

सान्द्रप्रेमरसैः प्लुता प्रियतया प्रागल्भ्यमाप्ता तयोः
प्राणप्रेष्ठवयस्ययोरनुदिनं लीलाभिसारं क्रमैः।
वैदग्ध्येन तथा सखीं प्रति सदा मानस्य शिक्षां रसै–
र्येयं कारयतीह हन्त ललिता गृह्णातु सा मां गणैः॥

(व्रजविलास–स्तव, २९ श्लोक)

अर्थात् जो अत्यन्त गाढ़े प्रेमरसमें निमग्न होकर प्रियता द्वारा प्रगल्भताको प्राप्त होकर प्रतिदिन प्राणप्रेष्ठ श्रीराधकृष्णका लीलाभिसार कराया करती हैं एवं वैदग्ध्य द्वारा अपनी सखी श्रीराधिकाको रसके साथ मानकी शिक्षा प्रदान करती हैं, वे ललिता मुझे अपने गणमें स्वीकार करें अर्थात् मुझे अपनी पाल्यदासीके रूपमें ग्रहण करें।

विजय—श्रीललिताकी अन्य सहचरियोंके प्रति पाल्यदासीका व्यवहार कैसा होना चाहिये?

गोस्वामी—श्रीदास गोस्वामीके समस्त रस ग्रन्थ ही श्रीस्वरूप गोस्वामीकी शिक्षा हैं। उन्होंने लिखा है—

ताम्बूलार्पणपादमर्दनपयोदानाभिसारादिभि–
वृन्दारण्यमहेश्वरीं प्रियतया यास्तोषयन्ति प्रियाः।
प्राणप्रेष्ठसखीकुलादपि किलासङ्कोचिता भूमिकाः
केलीभूमिषु रूपमञ्जरिमुखास्तादासिकाः संश्रये॥

(व्रजविलास–स्तव, ३८ श्लोक)

अर्थात् जो ताम्बुल प्रदान करना, पैर दबाना, जल देना और अभिसार कराना आदि कार्यों द्वारा प्रेमपूर्वक श्रीमती राधिकाको नित्य सन्तुष्ट रखती हैं, उन प्राणप्रेष्ठ सखियोंकी अपेक्षा सेवाकार्यमें असंकोच भावको प्राप्त हुई श्रीमती राधिकाजीकी रूपमञ्जरी आदि प्रमुख सेविकाओंका मैं आश्रय ग्रहण करती हूँ।

विजय—अन्य प्रधान सखियोंके प्रति कैसा भाव रखना होगा? गोस्वामी—इस विषयका सङ्केत दास गोस्वामीने इस श्लोकमें दिया है—

प्रणयललितनर्मस्फारभूमिस्तयोर्या व्रजपुरनवयूनोर्या च कण्ठान् पिकानाम्।
नयति परमधस्ताद्दिव्यगानेन तुष्ट्या प्रथयतु मम दीक्षां हन्त सेयं विशाखा॥

(व्रजविलास–स्तव, ३० श्लोक)

जो राधाकृष्णके प्रणय–ललित–कौतुककी पात्री है तथा जो सुदिव्य सङ्गीत द्वारा कोकिलके स्वरको भी पराभूत करती हैं, वे विशाखाजी कृपाकर मुझे सङ्गीतकी शिक्षा प्रदान करें। अन्यान्य सखियोंके प्रति तुम्हारा ऐसा ही भाव होगा।

विजय—विपक्षके प्रति कैसा भाव होगा?

गोस्वामी—श्रीदास गोस्वामीने इस विषयमें इस प्रकार कहा है—

सापत्नयोच्चयरज्यदुज्ज्वलरसस्योच्चैः समुद्वृद्धये
सौभाग्योद्भटगर्वविभ्रमभृतः श्रीराधिकायाः स्फुटम्।
गोविन्दः स्मर फुल्लवल्लव वधूवर्गेण येन क्षणं
क्रीडत्येष तमत्र विस्तृत महापुण्यञ्च वन्दामहे॥

(व्रजविलास–स्तव, ४१ श्लोक)

अर्थात् राधिकाकी शृङ्गार–पुष्टिके लिए सापत्न्य भावमें स्थित सौभाग्य, उद्भट, गर्व,

विभ्रम आदि गुणोंसे सम्पन्न जिन गुणवतियोंके साथ श्रीकृष्ण क्षणभर तक क्रीड़ा करते हैं उन सौभाग्यवती चन्द्रावली प्रमुख, व्रजरमणियोंकी मैं बारम्बार वन्दना करता हूँ। विपक्ष पक्षके प्रति ऐसा भाव हृदयमें रहेगा, तथापि सेवाके समय यथोचित् रूपसे पात्र विशेषके साथ रसपरिहास कर सकोगे। भाव यह कि विलापकुसुमाञ्जलिमें सेवाकी जैसी व्यवस्था दिखलायी गयी है, उसी प्रकार सेवा करना और व्रजविलास-स्तवमें जैसा व्यवहार लिखा है, उसी प्रकारसे परस्पर व्यवहार करना, विशाखानन्दादि-स्तोत्रमें जिस प्रकार 'लीलादि' का वर्णन है उसी प्रकार लीलाचेष्टा अष्टकालीय लीलाके अन्तर्गत दर्शन करना, मनः शिक्षाकी पद्धतिके अनुसार चित्तको कृष्ण लीलामें मग्न करना, स्वनियममें प्रदर्शित भावोंकी भाँति नियमोंकी दृढ़ता रखना, श्रीरूप गोस्वामीने रसतत्त्वका विस्तार किया है। श्रीचैतन्य महाप्रभुजीने उनके ऊपर यही भार दिया था, इसीलिए उन्होंने यह नहीं लिखा कि उपासनामें उस रसकी किस रूपमें क्रिया होगी। श्रीदास गोस्वामीने श्रीस्वरूप दामोदर प्रभुके कड़चाके अनुसार यह कार्य पूरा किया है। श्रीमन् महाप्रभुने जिसे जो भार दिया था, उसने वही किया है।

विजय—कृपया मुझे यह बतलाइये कि श्रीमन् महाप्रभुजीने किनके ऊपर कौन-सा भार सौंपा था?

गोस्वामी—श्रीमन् महाप्रभुजीने स्वरूप दामोदरको रसमयी उपासनाका प्रचार करनेकी आज्ञा दी थी; इस आज्ञाका पालन करनेके लिए स्वरूप दामोदर प्रभुने दो भागोंमें कड़चाकी रचना की थी—एक भागमें रसमयी उपासनाके अन्तःपन्थाका वर्णन है तथा दूसरेमें रसोपासनाके बहिःपन्थाका। उन्होंने अन्तः पन्था श्रीदास गोस्वामीके कण्ठमें अर्पण की है अर्थात् दास गोस्वामीको दी है, वह दास गोस्वामीके ग्रन्थोंमें सुरक्षित है। बहिः पन्था—श्रीवक्रेश्वर गोस्वामीको अर्पण किया—जो आज भी इस गद्दीका विशेष धन है। इसी पन्थाको मैंने श्रीमान ध्यानचन्द्रको दिया है, उन्होंने जो पद्धति लिखी है, उसे तुम पा चुके हो। श्रीमन् महाप्रभुने श्रीनित्यानन्द प्रभु और श्री अद्वैतप्रभुको श्रीनाम-माहात्म्य प्रचार करनेकी आज्ञा और शक्ति दी थी, श्रीरूपगोस्वामीको रसतत्त्व प्रकाश करनेकी आज्ञा और शक्ति दान की थी। श्रीसनातन गोस्वामीको वैधीभक्ति तथा रागभक्तिके पारस्परिक सम्बन्धका प्रचार करनेकी आज्ञा दी थी। इसके अतिरिक्त उन्होंने सनातन गोस्वामीको गोकुलके प्रकटाप्रकट सम्बन्धका निर्णय करनेके लिए भी आज्ञा दी थी। श्रीनित्यानन्द प्रभु और श्रीसनातन गोस्वामीके द्वारा श्रीजीव गोस्वामीको सम्बन्ध-अभिधेय-प्रयोजन-तत्त्वका निर्णय करनेकी शक्ति दिलवायी थी। जिन्हें जो आज्ञा दी है, उन्होंने केवल उसी आज्ञाका पालन किया है।

विजय—प्रभो! श्रीरायरामानन्दके ऊपर कौन-सा भार था?

गोस्वामी—श्रीमन् महाप्रभुने रायरामानन्दको रसतत्त्व विस्तार करनेका भार दिया था, उन्होंने उस कार्यको श्रीरूप द्वारा पूरा करवाया है।

विजय—प्रभो! श्रीसार्वभौमको कौन-सा भार दिया गया था?

गोस्वामी—उनके ऊपर तत्त्व-प्रचारका भार था। उन्होंने उस कार्यका भार अपने किसी शिष्य द्वारा श्रीजीवको सौंप दिया था।

विजय—गौड़ीय महन्तोंके ऊपर कौन-सा भार था?

गोस्वामी—गौरतत्त्व प्रकाशकर जीवोंको श्रीगौरोदित कृष्णरसमें श्रद्धा उत्पन्न करनेका भार गौड़ीय महन्तोंके ऊपर था। कतिपय महात्माओंके ऊपर रसकीर्त्तनकी पद्धति सृजनकर उसके

प्रचारका भार था।

विजय—श्रीरघुनाथ भट्टके ऊपर क्या भार था?

गोस्वामी—श्रीमद्भागवत-माहात्म्यका प्रचार करनेका भार उनपर था।

विजय—श्रीगोपालभट्ट गोस्वामीके प्रति कौन-सा भार दिया गया था?

गोस्वामी—शुद्ध-शृङ्गाररसको कोई विकृत न कर सके तथा वैधीभक्तिके प्रति कोई बिना किसी कारणके ही अश्रद्धाका भाव न रखने लगे—इसकी समुचित व्यवस्था करनेका भार उनके ऊपर श्रीमन् महाप्रभुने सौंपा था।

विजय—श्रीगोपाल भट्ट गोस्वामीके गुरु एवं चाचा श्रीप्रबोधानन्द गोस्वामीके ऊपर कौन-सा भार था?

गोस्वामी—व्रजरसका अनुराग मार्ग ही सर्वश्रेष्ठ है—यह बात जगत्‌को समझानेका भार श्रीसरस्वती गोस्वामीके ऊपर था।

यह सब सुनकर विजयकुमार बड़े प्रसन्न हुए और अपनेको धन्य मानने लगे।

॥उनतालीसवाँ अध्याय समाप्त॥

चालीसवाँ अध्याय
सम्पत्ति-विचार

विजयने विचार किया कि व्रजलीला श्रवणकर उसके प्रति लोभ पैदा होनेपर क्रमशः सम्पत्ति दशा प्राप्त होती है, अतएव इस विषयको जान लेना आवश्यक है। ऐसा सोचकर उन्होंने श्रीगुरुगोस्वामीसे जिज्ञासा की—प्रभो! श्रवण कालसे लेकर सम्पत्ति दशा प्राप्त होने तक भक्तकी कौन-कौनसी दशाएँ होती हैं, उन्हें जानना चाहता हूँ।

गोस्वामी—उन दोनोंके बीच पाँच दशाएँ हाती हैं—(१) श्रवण-दशा, (२) वरण-दशा, (३) स्मरण-दशा, (४) भावापन्न-दशा और (५) प्रेम-सम्पत्ति-दशा।

विजय—श्रवण-दशाका वर्णन कीजिये।

गोस्वामी—कृष्णकी लीलाकथाओंके प्रति रुचि होनेसे ही यह समझना होगा कि उस जीवकी बहिर्मुख-दशा दूर हो गयी है। उस समय उसमें कृष्णकथा श्रवण करनेकी लालसा जागृत हो गयी है। अपनेसे श्रेष्ठ किसी भक्तके निकट ही कृष्णकथाका श्रवण होता है।

श्रीमद्भागवतमें कहते हैं—

तस्मिन्महन्मुखरिता मधुभिच्चरित्र-
पीयूषशेषसरितः परितः स्रवन्ति।
ता ये पिबन्त्यवितृषो नृप गाढकर्णै-
स्तान्नस्पृशन्त्यशनतृड् भयशोकमोहाः॥

(श्रीमद्भा० ४/२९/४०)

अर्थात् उस साधु-समाजमें महापुरुषोंके मुखसे निकले हुए श्रीकृष्णके चरित्र रूप शुद्ध अमृतकी अनेकों नदियाँ बहती रहती हैं। जो लोग अतृप्तचित्तसे श्रवणमें तत्पर अपने कर्ण-कुहरों द्वारा उस अमृतका छककर पान करते हैं, उन्हें भूख-प्यास, भय, शोक और मोह आदि अनर्थ कभी कोई बाधा नहीं पहुँचा सकते।

विजय—बहिर्मुख लोग जो कभी-कभी कृष्णकथाका श्रवण करते हैं, वह कैसा श्रवण है?

गोस्वामी—बहिर्मुख दशाका कृष्णकथा श्रवण और अन्तर्मुख दशाका कृष्णकथा श्रवण—इन दोनोंमें बहुत अन्तर है। बहिर्मुख लोगोंका कृष्णकथा श्रवण किसी घटनाचक्रसे होता है, श्रद्धा द्वारा नहीं होता। वैसे श्रवणसे भक्ति-मुखी सुकृति अर्जित होती है, जो जन्म-जन्मान्तरोंमें श्रद्धाको उत्पन्न कराती है। फिर वही श्रद्धा उत्पन्न होनेपर जो कृष्णकथा महापुरुषोंके मुखसे सुनी जाती है, उसीको 'श्रवण-दशा' कहते हैं। श्रवण-दशा भी दो प्रकारकी होती है—(१) क्रमहीन श्रवण-दशा और (२) क्रमशुद्ध श्रवण-दशा।

विजय—क्रमहीन श्रवण-दशा कैसी होती है?

गोस्वामी—असंलग्न रूपसे कृष्णलीलाका श्रवण करना ही 'क्रमहीन' श्रवण-दशा है। अव्यवसायी बुद्धिसे कृष्णलीलाका श्रवण करनेसे असंलग्न श्रवण होता है—ऐसे श्रवणसे लीलाओंका पारस्परिक सम्बन्ध उदित नहीं होता, इसलिए रसोदय नहीं होता।

विजय—क्रमशुद्ध श्रवण-दशाका वर्णन कीजिये।

गोस्वामी—व्यवसायात्मिका बुद्धिके साथ जब संलग्न रूपमें कृष्ण-लीलाका श्रवण होता है तभी रसोदय होता है। अष्टकालीय नित्यलीला एवं जन्मादि नैमित्तिक लीलाएँ अलग-अलग

सुननेपर क्रमशुद्ध श्रवण होता है। भजनपर्वमें इस प्रकारका क्रमशुद्ध श्रवण ही प्रयोजनीय बतलाया है। क्रमशुद्ध लीलाका श्रवण करते-करते लीलाका माधुर्य प्रकटित होता है और श्रोताके हृदयमें रागानुगा-प्रकृति उदित होती है। उस समय श्रोता मन-ही-मन ऐसा सोचता है —अहा! सुबलका क्या ही आश्चर्यजनक सख्य भाव है! मैं भी उन्हींकी भाँति सख्यरसमें कृष्णकी सेवा करूँगा—इस प्रवृत्तिका नाम 'लोभ' है। लोभके साथ व्रजवासीके भावके अनुगत होकर कृष्ण भजन करनेको ही रागानुगाभक्ति कहा गया है। मैंने यहाँ सख्यरसका उदाहरण दिया। दास्य आदि चार प्रकारके रसोंमें भी इसी प्रकारकी रागानुगाभक्ति होती है। तुम मेरे प्राणेश्वर निमानन्दकी कृपासे शृङ्गाररसके अधिकारी हो। अतएव व्रज-सुन्दरियोंकी कृष्ण-सेवा देखकर उनकी ही भाँति कृष्ण-सेवा करनेका लोभ तुम्हारे हृदयमें उत्पन्न हुआ था, उसी लोभने तुम्हें उसे प्राप्त करनेका पथ प्रदान किया है। वास्तवमें गुरु-शिष्यका संवाद ही इस पर्वकी श्रवण-दशा है।

विजय—श्रवण-दशा क्या होनेसे पूर्ण होती है?

गोस्वामी—कृष्णलीलाका नित्यत्व अनुभव होनेपर श्रवण-दशा पूर्ण होती है, वह शुद्ध अप्राकृत होनेके कारण मनोहर होती है, उसमें प्रवेश करनेके लिए व्याकुलता पैदा होती है। गुरुदेव शिष्यको साधकगत पूर्वोल्लिखित ग्यारह भावोंको दिखला देते हैं। शिष्यका मनोभाव और लीलाकी रंजकता—इनका संयोग होनेपर ही श्रवण-दशा पूर्ण हो गयी—ऐसा समझना होगा। तब शिष्य व्याकुल होकर वरण-दशा प्राप्त करते हैं।

विजय—प्रभो! वरण-दशा कैसी होती है?

गोस्वामी—चित्तका राग पूर्वोक्त ग्यारह प्रकारकी भावरूप शृङ्खला द्वारा लीलामें बँध गया है, शिष्य रोते-रोते श्रीगुरुदेवके चरणकमलोंमें गिर पड़ता है, उस समय गुरुदेव सखीके रूपमें प्रकट होते हैं और शिष्य उनकी परिचारिकाके रूपमें। गोपवधुएँ कृष्णकी सेवाके लिए बड़ी व्याकुल रहती हैं, गुरुदेव उस सेवाकी पराकाष्ठालब्धा व्रजललना हैं, उस समय शिष्यके मुखसे इस प्रकार भावकी ध्वनि निकलती है—

त्वां नत्वा याचते धृत्वा तृणं दन्तैरयं जनः।
स्वदास्यामृतसेकेन जीवयामुं सुदुःखितम॥

न मुञ्चेच्छरणायातमपि दुष्टं दयामयः।
अतो राधालिके! हा हा मुञ्चैनं नैव तादृशम्॥

(प्रेमाम्भोजमरन्दाख्य स्तवराजः ११-१२ श्लोक)

अर्थात् हे राधिके, मैं अधम, दाँतोंके नीचे तृण धारणकर (दीनतापूर्वक) प्रणतिपूर्वक प्रार्थना करता हूँ कि आप कृपा करके मुझ दुःखित व्यक्तिको अपनी दासता रूप अमृत प्रदानकर जीवित करें जब दयालु व्यक्ति शरणमें आये हुए दुष्टजनका भी परित्याग नहीं करते, तब आप भी इस आश्रित दुष्ट व्यक्तिका त्याग न करें। मैं आपके चरणानुगत होकर व्रजयुगलकी सेवा करनेके लिए अतिशय व्याकुल हूँ। इसीको 'वरण-दशा' कहते हैं। ऐसी दशामें गुरुरूपा सखी उसे व्रजमें वासकर कृष्ण नाम आश्रयपूर्वक लीला-स्मरण करनेकी आज्ञा देती हैं और उसे आश्वासन प्रदान करती हैं कि तुम्हारी मनोकामना शीघ्र ही सिद्ध होगी।

विजय—स्मरण-दशा कैसी होती है?

गोस्वामी—श्रीरूप गोस्वामीने कहा है—

कृष्णं स्मरन् जनं चास्य प्रेष्ठं निजसमीहितम्।
तत्तत्कथारतश्चासौ कुर्याद्वासं व्रजे सदा॥
सेवा साधकरूपेण सिद्धरूपेण चात्र हि।
तद्भावलिप्सुना कार्या व्रजलोकानुसारतः॥
श्रवणोत्कीर्तनादीनि वैधभक्त्युदितानि तु।
यान्यङ्गानि च तान्यत्र विज्ञेयानि मनीषिभिः॥(१)

(भ० र० सि० १/२/२९४-२९६)

इन दोनों श्लोकोंका अर्थ बतलानेके पहले ही विजयकुमार बीचमें ही बोले—"कुर्याद्वासं व्रजे सदा" का क्या अर्थ है?

गोस्वामी—श्रीजीव गोस्वामीने कहा है—इस शरीरसे व्रजमण्डलमें अर्थात् लीलामण्डलमें निवास करना चाहिये। देहसे व्रजवास सम्भव नहीं होनेपर मन-ही-मन व्रजवास करना चाहिये। मन-ही-मन व्रजवासका फल भी शरीरसे व्रजवास करनेके समान ही होता है। जो जिस सखीके अनुगत हैं, वे व्रजमें अपनेको उसी सखीकी कुञ्ज-सेविका मानकर कृष्ण एवं अपने भाववाली सखीका सर्वदा स्मरण करते हैं। साधक रूपमें इस स्थूल देहसे श्रवण-कीर्त्तन आदि वैधी भक्तिका अनुष्ठान करते हैं और प्राप्त किये हुए ग्यारह भावोंमेंसे सिद्ध-व्रजगोपी देहमें कार्यानुरोधसे लीलाका ध्यान और निर्दिष्ट सेवा करते हैं। विधिपूर्वक जीवन-यापन करना चाहिये तथा सिद्धदेहकी पुष्टि भावोंके अनुसार करनी चाहिये—ऐसा होनेसे व्रजसे इतर विषयोंके प्रति विरक्ति होगी।

विजय—इस प्रणालीको कुछ और भी स्पष्ट किया जाये।

गोस्वामी—अप्राकृत भावोंके साथ निर्जन-वास ही व्रजवास है। संख्यापूर्वक हरिनाम करते हुए अष्टकालीय-सेवा करना। समस्त देह यात्रा भजन-विरोधी न हो पड़े, ऐसा सोच-विचारकर अपनी समस्त क्रियाओंको इस प्रकार करना चाहिये कि वे क्रियाएँ ऐसी हों कि हमारी शरीर-यात्राका निर्वाह भी हो जाये तथा वे भगवद्भजनके अनुकूल भी हों।

विजयने कुछ गम्भीरतापूर्वक अनुभव करके कहा—प्रभो! इस बातको तो समझ गया, परन्तु मनको कैसे स्थिर करूँगा?

गोस्वामी—रागानुगाभक्ति लाभ करनेके समय ही चित्त स्थिर हो जाता है, क्योंकि यदि चित्त रागके साथ व्रजकी ओर चलता है तब उसकी विषयोंके प्रति गति नहीं होती। इसका कारण यह है कि विषयोंके प्रति रागके कारण ही चित्त विषयोंकी ओर दौड़ता है। जिस

---

(१) कृष्ण और उनके अपने प्रियजनोंका सदा स्मरण पूर्वक उन्हीं कथाओंमें निरत होकर सर्वदा व्रजमें वास करना चाहिये। शरीरसे व्रजवास करनेमें असमर्थ होनेपर मन-ही-मन व्रजवास करना चाहिये। रागात्मिकाभक्तिके प्रति जिन्हें लोभ होता है, वे व्रजजनके कार्यानुसार साधक रूपसे बाहरमें और सिद्ध रूपसे अन्तरमें सेवा करेंगे। वैधीभक्तिमें श्रवण और उच्च कीर्त्तन आदि जो सब भक्तिके अङ्ग हैं, रागानुगाभक्तिमें भी उन सभी अङ्गोंकी उपयोगिता है—ऐसा तत्त्वविद् व्यक्ति जानते हैं।

समय वही राग व्रजकी ओर हो जाता है, उस समय विषय—रागके अभावके कारण चित्त स्थिर हो जाता है। फिर भी यदि उत्पात-विघ्न-बाधाकी आशङ्का हो तो पूर्व क्रमका अवलम्बन करना ही लाभदायक है। चित्त स्थिर होनेपर उत्पात कुछ नहीं कर सकेंगे।

विजय—क्रमका तात्पर्य क्या है?

गोस्वामी—प्रतिदिन नियमित रूपसे कुछ समय तक निर्जनमें बैठकर विषय रूपी उत्पातको दूर हटाकर भावके साथ संख्यापूर्वक नाम करना। धीरे-धीरे इस कार्यका समय क्रमशः बढ़ाते जाना। अन्तमें सब समय ही एक अद्भुत भाव उदित होगा। उस समय उत्पात (बुरे चिन्तन) समीप आनेसे डरेंगे।

विजय—इस प्रकार कितने दिनों तक नियमपूर्वक करना पड़ेगा?

गोस्वामी—जब तक उत्पातरहित अथवा उत्पातसे परेकी अवस्था उदित होनेकी सम्भावना नहीं हो जाती तब तक पूर्वोक्त क्रमका पालन करना चाहिये।

विजय—भावके साथ नाम-स्मरण कैसा होता है? कृपया इसे स्पष्ट बतलानेकी कृपा करें।

गोस्वामी—पहले चित्तके उल्लासके साथ नाम करो, फिर उल्लास में ममताका संयोग करो, फिर ममतामें विश्रम्भका संयोग करो। ऐसा होनेपर क्रमशः शुद्धभाव उदित होनेके पश्चात् भावापन-दशा उपस्थित होगी। स्मरणके समयमें भावका आरोपमात्र होता है। भावापनकालमें शुद्धभावका उदय होता है। इसे ही 'प्रेम' कहते हैं। यही उपासकका निष्ठाक्रम है। इस व्यापारमें उपास्यनिष्ठाका भी एक क्रम है।

विजय—उपास्य-निष्ठा क्रम किसे कहते हैं?

गोस्वामी—यदि तुम असंकुचित (विकसित) प्रेमदशा लाभ करना चाहते हो तो श्रीदास गोस्वामीका उपदेश ग्रहण करो—

यदीच्छेरावासं व्रजभुवि सरागं प्रतिजनु-
युवद्वन्द्वं तच्चेत् परिचरितुमारादभिलषेः।
स्वरूपं श्रीरूपं सगणमिह तस्याग्रजमपि
स्फुटं प्रेम्ना नित्यं स्मर नम तदा त्वं शृणु मनः॥

(मनः शिक्षा ३)

अर्थात् यदि रागके साथ व्रजमें निवास करना चाहते हो एवं यदि जन्म-जन्मान्तरोंमें व्रजयुगलकी साक्षात् विवाह-विधि रूप बन्धनसे रहित पारकीय परिचर्या करनेकी अभिलाषा रखते हो, तो श्रीस्वरूप गोस्वामी तथा गणके साथ श्रीरूप एवं श्रीसनातन गोस्वामीका स्पष्ट प्रेमके साथ नित्य स्मरण करो और उन्हें गुरुरूपा सखी मानकर प्रणति करो। भाव यह कि स्वकीय-रसके अनुसार साधन करनेसे समञ्जस-रस होता है जिसमें युगल सेवाका भाव संकुचित होता है। अतएव श्रीस्वरूप, श्रीरूप और श्रीसनातनके मतानुसार शुद्ध परकीय-अभिमानके साथ भजन करो। आरोपकालमें भी केवल शुद्ध परकीय भावका ही अवलम्बन करना। परकीय आरोपसे परकीय रति प्रकाशित होती है और परकीय रतिसे परकीय-रस। वही व्रजमें अप्रकटलीलाका नित्य रस है।

विजय—अष्टकालीय लीलामें क्या शुद्धिक्रम है?

गोस्वामी—अष्टकालीय लीलामें सब प्रकारकी रस विचित्रताका वर्णन करके

श्रीरूपगोस्वामीने कहा है—

अतलत्वादपारत्वादाप्तोऽसौ दुर्विगाहताम्।
स्पृष्टः परं तटस्थेन रसाब्धिर्मधुरो मया॥

(उ० नी० १५/२५९)

अर्थात् कृष्णलीला सम्पूर्ण चिन्मयी होती है, अतएव अतल और अपार ओर-छोर रहित होती है। प्रपञ्चमें रहनेवालोंके लिए अतल होती है, क्योंकि प्रपञ्चको भेदकर शुद्ध अप्राकृत तत्त्वमें प्रवेश करना दुष्कर है, अप्राकृत रस इतना विचित्र और सर्वव्यापी है कि उसे पार नहीं किया जा सकता है। पुनः यदि कोई अप्राकृत भावको प्राप्त होकर भी अर्थात् सिद्धतत्त्वके बीच रहकर भी उसका वर्णन करे, तो भी वह वर्णन शब्दमलके कारण विशुद्ध और सम्पूर्ण नहीं होता, और तो क्या स्वयं भगवान् भी जब उसका वर्णन करते हैं, तब श्रोता और पाठकोंके प्रपञ्च-दोष (मायाके दोष) के समीप (श्रोता और पाठकोंके समीप) वह अप्राकृत रसका वर्णन दोषयुक्त प्रतीत होता है। ऐसी दशामें रस-समुद्रमें गोता लगाना दुष्कर है। हाँ! तटस्थ होकर उसके एक कणमात्रका प्रकाश किया जा सकता है।

विजय—तब फिर किस उपायसे हमें अप्राकृत-रसकी प्राप्ति सम्भव है?

गोस्वामी—'मधुररस' अपार-अतुलनीय और दुर्विगाह है। कृष्णलीला ही वैसी है, परन्तु हमारे कृष्णमें दो असीम गुण हैं। ये दोनों गुण ही हमारे भरोसे के स्थल हैं—वे सर्वशक्तिमान और इच्छामय हैं। इसलिए जो अतल, अपार और दुर्विगाह है, उसे भी वे संकीर्ण प्रापञ्चिक जगत्में अनायास ही प्रकाशित कर सकते हैं। प्रपञ्च अत्यन्त तुच्छ (हीन) होनेपर भी वे अपने सर्वोत्तम भावको प्रपञ्चमें लानेकी इच्छा करते हैं, उन्हींकी कृपासे उनकी अप्राकृत नित्य मधुर-रसमयी लीला इस प्रपञ्चमें अवतीर्ण हुई है। प्रपञ्चसे परे अप्राकृत श्रीमथुराधाम इस प्रपञ्चमें कैसे अवतीर्ण हुए अथवा किस प्रकार आये और किस प्रकार वर्त्तमान हैं—ऐसा प्रश्न नहीं उठ सकता, क्योंकि भगवान्की अचिन्त्य-शक्तिकी क्रियाको मनुष्य या देवताओंकी सीमित-बुद्धि समझनेमें कदापि समर्थ नहीं है। व्रजलीला प्रपञ्चसे परे सर्वोच्च लीलाका प्रकट भाव है—उसे हमने पा लिया है, अतः हमारे लिए कोई चिन्ताकी बात नहीं है।

विजय—यदि प्रकटलीला और अप्रकटलीला—दोनों एक ही हैं, तब उसकी क्रमोन्नति कैसे सम्भव है?

गोस्वामी—दोनों एक ही वस्तुएँ हैं—इसमें कोई सन्देहकी बात नहीं है। जो यहाँ प्रकट है, वही सम्पूर्ण रूपसे प्रपञ्चातीत राज्यमें विराजमान है। परन्तु वह लीला बद्धजीवोंकी दृष्टिसे प्रारम्भिक साधनावस्थामें जैसी दिखलायी पड़ती है, कुछ उन्नत दशामें वह कुछ अधिक उन्नत रूपमें प्रतीत होती है, जैसे-जैसे साधक उन्नत अवस्थामें पहुँचता जाता है, उसकी अनुभूति भी वैसे ही क्रमशः अधिक निर्मल होती जाती है। भावापन-अवस्थाकी अनुभूति पूर्ण रूपसे निर्मल होती है।

विजय! तुम इस विषयको श्रवण करनेके अधिकारी हो। इसलिए तुमसे कहने में कोई संकोच नहीं है। स्मरण-दशामें अनेक साधन करनेपर एवं उस साधन कालमें भावापन-योग्य चेष्टा रहनेसे स्मरण-दशामें भावापन-अवस्था होती है। स्मरण-अवस्थामें जो अनुभवगत प्रापञ्चिक दुष्ट भाव होते हैं, वे सम्पूर्ण रूपसे दूर हो जानेपर 'आपन-दशा' उपस्थित होती

है। स्मरण-दशामें शुद्ध भक्तिका जितना ही सुयोग्य रूपमें साधन होता है, शुद्ध भक्ति कृपा करके साधकके चित्तमें उतनी ही अधिक उदित होती है। भक्ति ही एकमात्र कृष्णाकर्षणी है, अतएव कृष्णकी कृपासे स्मरण-दशामें चिन्तागत मल क्रमशः दूर हो जाता है। श्रीमद्भागवतमें कहते हैं—

यथा यथात्मा परिमृज्यतेऽसौ मत्पुण्यगाथाश्रवणाभिधानैः।
तथा तथा पश्यति वस्तु सूक्ष्मं चक्षुर्यथैवाञ्जनसम्प्रयुक्तम्॥

(श्रीमद्भा० ११/१४/२६)

अर्थात् जिस प्रकार नेत्र अंजनके संयोगसे अत्यन्त सूक्ष्म वस्तुको भी देखने लगते हैं, उसी प्रकार जीव मेरी परम पवित्र लीलाकथाओंके श्रवण-कीर्त्तन द्वारा परिशुद्ध होकर अतिसूक्ष्म तत्त्व (मेरे स्वरूप तथा मेरी लीलाकी यथार्थता) का दर्शन करता है।

कृष्णकी लीलाकथाओंके श्रवण, कीर्त्तन और स्मरण द्वारा उस अप्राकृत वस्तु-संस्पर्शके प्रभावसे आत्मा जितनी ही अधिक शुद्ध होती जाती है, उतने ही अधिक रूपमें दृश्यरूप कृष्णलीलाका अप्राकृत स्वरूप दिखलायी पड़ता है, ठीक वैसे ही जिस प्रकार अंजनके संयोगसे आँखें दृश्य वस्तुको अच्छी तरह देखती हैं।

प्रेमाञ्जनच्छुरितभक्तिविलोचनेन सन्तः सदैव हृदयेषु विलोकयन्ति।
यं श्यामसुन्दरमचिन्त्यगुणस्वरूपं गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

अर्थात् प्रेमरूपी अंजन द्वारा रंजित भक्तिनेत्रवाले साधुगण अपने हृदयमें जिस अचिन्त्यगुणविशिष्ट श्यामसुन्दर कृष्णको देखते हैं, उन आदि पुरुष गोविन्दका मैं भजन करता हूँ। भावापन-दशामें अप्राकृत दृष्टि-शक्ति उदित होती है, उस समय भक्त अपनी सखी और यूथेश्वरीका दर्शन पाते हैं। गोलोकनाथ श्रीकृष्णको देखकर भी जब तक साधकके लिङ्ग और सूक्ष्म शरीरोंकी ध्वंसरूप सम्पत्ति-दशा उपस्थित नहीं हो जाती, तब तक अनुभाव सब समय स्थायी नहीं होता। भावापन-दशामें जड़ीय स्थूलदेह और लिङ्गदेहके ऊपर शुद्ध जीवका आधिपत्य हो जाता है, परन्तु कृष्णकृपा पूर्ण होनेपर जो अवस्था होती है, उसका अवान्तर फल यह होता है कि जीवके साथ इस प्रापञ्चिक जगत्का सम्बन्ध सम्पूर्ण रूपसे छिन्न हो जाता है। भावापन-दशाका नाम 'स्वरूपसिद्धि' है और सम्पत्ति-दशा होनेपर 'वस्तुसिद्धि' होती है।

विजय—वस्तुसिद्धि होनेपर कृष्ण नाम, रूप, गुण, लीला और धाम किस रूपमें दिखलायी पड़ते हैं?

गोस्वामी—इस प्रश्नका उत्तर देनेमें मैं असमर्थ हूँ। जब मेरी वस्तुसिद्धि होगी, तभी उसे देख सकूँगा और कह सकूँगा। जब तुम्हारी सम्पत्ति-दशा उपस्थित होगी उसी समय तुम उसे समझ सकोगे—फिर तो तुम्हें उसे समझनेकी आवश्यकता भी नहीं रह जायेगी, क्योंकि जिसे तुम प्रत्यक्ष रूपमें देखोगे, उसके सम्बन्धमें तुम्हारी कोई जिज्ञासा ही नहीं रह जायेगी और भी देखो, स्वरूपसिद्धि अर्थात् भावापन-दशाको प्राप्त भक्त जो कुछ देखता है, उसे व्यक्त करनेसे भी कुछ लाभ नहीं है, क्योंकि व्यक्त करनेपर भी कोई श्रोता उसका अनुभव नहीं कर सकेगा। श्रीरूप गोस्वामीने स्वरूपसिद्ध महापुरुषका लक्षण इस प्रकार लिखा है—

जने चेज्जातभावेऽपि वैगुण्यमिव दृश्यते।
कार्या तथाऽपि नासूया कृतार्थः सर्वथैव सः॥

धन्यस्यायं नवः प्रेमा यस्योन्मीलति चेतसि।
अन्तर्वाणिभिरप्यस्य मुद्रा मुद्रा सुष्ठु सुदुर्गमा॥(२)

(भ० र० सि० १/३/५९, १/४/१७)

विजय—यदि ऐसी ही बात है, तब श्रीब्रह्मसंहिता आदि ग्रन्थोंमें गोलोकके विषयोंका वर्णन करनेकी चेष्टा क्यों की गयी है?

गोस्वामी—स्वरूपसिद्धिके समय महाजनगण और कृपा दर्शनके समय ब्रह्मा आदि देवतागण कभी-कभी दर्शनके अनुसार स्तव-स्तुतियोंमें वर्णन करते हैं, परन्तु उनका वह वर्णन (अप्राकृत भावोंकी अभिव्यक्तिके लिए इस जगत्‌में अनुरूप शब्दोंकी कमी के कारण) संक्षेपमें होता है तथा निम्नाधिकारियोंके लिए अस्फुट रूपमें प्रकाश पाता है। उन विचारोंसे भक्तों का कोई प्रयोजन नहीं है। कृष्णने कृपा करके जिस प्रकट लीलाको उदित किया है, उसीका अवलम्बन करके भजन करो, उसीसे सर्वसिद्धि होगी। थोड़े ही समयमें निष्ठायुक्त भजन करनेवालेके हृदयमें गोकुलमें ही गोलोककी स्फूर्ति होगी। गोकुलमें जो कुछ है, गोलोकमें भी वही है। क्योंकि गोकुल और गोलोक भिन्न तत्त्व नहीं हैं। प्रापञ्चिक दृष्टिवाले व्यक्तिके नेत्रोंमें जो माया—प्रत्ययित व्यापार उदित होता है, वह स्वरूप सिद्धिके समय नहीं रहता। जिस अधिकारमें जैसा दर्शन मिले उसीसे सन्तुष्ट रहकर भजन करते चलो—यही कृष्णकी आज्ञा है। उनकी आज्ञाका पालन करनेसे वे कृपा करके क्रमशः निर्मल दर्शन करायेंगे।

अब विजयकुमार समस्त विषयोंमें संशय रहित हो गये हैं। अपने ग्यारहों भावोंको कृष्णलीलामें सुन्दर रूपसे संयोगकर धीरभावमें समुद्रके तटपर भजन-कुटीमें बैठकर निरन्तर प्रेमास्वादन करने लगे। इसी बीच ब्रजनाथकी माताकी धामप्राप्ति हो गयी। ब्रजनाथ अपनी पितामहीको साथ लेकर स्वदेश लौट आये। ब्रजनाथके निर्मल हृदयमें सख्यप्रेम उदित हुआ। वे श्रीनवद्वीपधाममें भगवती गङ्गाके तटपर अनेक सुवैष्णवोंके साथ रहकर आनन्दपूर्वक भजन करने लगे।

इधर विजयने कुछ दिनोंके बाद गृहस्थ वेष परित्यागकर कौपीन बहिर्वास धारण कर लिया और श्रीमहाप्रसाद मधुकरी द्वारा अपना उदर-पोषण करते हुए निरन्तर भजनमें निमग्न रहने लगे। आठ पहर भरमें श्रीराधाकृष्णकी निद्राके समय थोड़ा-सा शयन करते, उनके भोजनके पश्चात् प्रसाद सेवन करते और उनके जागरण-समयमें यथायथ कालोचित सेवा करते। सब समय हरिनामकी माला उनके हाथमें रहती। कभी नृत्य करते, कभी जोरोंसे रोने लगते और कभी समुद्रकी तरङ्गोंको देखकर हँसने लगते। उनकी भजन-मुद्राको—उनके हृदयागत भावोंको सिवाय उनके कौन समझ सकता है? उनका नाम निमाई दास बाबाजी

---

(२) भावावस्थाको प्राप्त हुए भक्तोंमें बाहरी दृष्टिसे यदि दुराचार जैसा कुछ (वैगुण्य) देखा भी जाये तो उनके प्रति असूया (दोष बुद्धि) करना कर्त्तव्य नहीं है, क्योंकि कृष्णेतर विषयोंमें वे अनासक्त होते हैं, इसलिए वे सर्वतोभावेन कृतार्थ हुए होते हैं। जिनके चित्तमें यह नवप्रेम उदित होता है, वे धन्य हैं। उनकी क्रियामुद्रा शास्त्रविदोंके लिए भी अतिशय दुर्बोध्य है। सौभाग्यशाली व्यक्तियोंके चित्तमें ही यह नवीन प्रेम उदित होता है, शास्त्रविद् व्यक्तियोंके लिए इस नवीन प्रेमको समझना बड़ा ही कठिन है।

हुआ। वे अत्यन्त नम्र, विमल–चरित्र और दृढ़ भजनपरायण थे। यदि कोई उनके लिए महाप्रसाद अथवा कौपीन–बहिर्वास लाता, तो वे आवश्यकतानुसार ही ग्रहण करते, आवश्यकतासे अधिक कुछ भी नहीं लेते। हरिनाम करते समय आँखोंके आँसुओंकी धारा बहती रहती, उनका गला रुद्ध हो जाता और शरीर पुलकित हो उठता। थोड़े दिनोंमें ही उनका भजन सिद्ध हो गया। श्रीकृष्णने कृपा करके अपनी अप्रकट–लीलामें उन्हें अधिकार दे दिया। ब्रह्म हरिदासकी भाँति उनकी भजन–देह भी समुद्रकी रेतीमें दब गयी।

॥बोलो, भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रकी जय॥

गुरु-कृष्ण वैष्णवेर कृपाबल धरि।
भकति विनोद दीन बहु यत्न करि॥१॥

विरचिल जैवधर्म गौड़ीय भाषाय।
सम्पूर्ण हइल ग्रन्थ माघी पूर्णिमाय॥२॥

चैतन्याब्द चारिशत दशे नवद्वीपे।
गोद्रुम-सुरभिकुञ्जे, जान्हवी-समीपे॥३॥

श्रीगुरु-वैष्णव और भगवान् श्रीकृष्णके कृपारूपी बलको धारण करके इस दीन-हीन भक्तिविनोदने बहुत प्रयत्न करके 'जैवधर्म' की बँगला भाषामें रचना की है। चैतन्याब्द चार सौ दस (१८९६ ई०) की माघी पूर्णिमाके दिन श्रीनवद्वीपधाममें जाह्नवीके निकट स्थित श्रीगोद्रुमद्वीपके सुरभिकुञ्जमें ग्रन्थ सम्पूर्ण हुआ॥१-३॥

श्रीकलिपावन गोरापदे जार आश।
ए ग्रन्थ पढ़ेन तिनि करियाविश्वास॥४॥

कलियुग पावनावतारी श्रीगौरहरिके चरणकमलोंको प्राप्त करनेकी जिनकी अभिलाषा है, वे दृढ़ विश्वासके साथ इस ग्रन्थका पाठ करें॥४॥

गौराङ्गे जाँहार ना जन्मिल श्रद्धा लेश।
ए ग्रन्थ पढ़िते ताँरे शपथ विशेष॥५॥

जिनमें श्रीगौराङ्ग महाप्रभुके प्रति लेशमात्र भी श्रद्धा उत्पन्न नहीं हुई है, मैं उन्हें इस ग्रन्थको न पढ़नेके लिए शपथ देता हूँ॥५॥

शुष्क मुक्तिवादे कृष्ण कभु नाहि पाय।
श्रद्धावाने व्रजलीला शुद्धरूपे भाय॥६॥

क्योंकि शुष्क मुक्तिवादके द्वारा कोई कभी भी श्रीकृष्णको प्राप्त नहीं कर सकता, परन्तु श्रद्धावान् व्यक्तिको शुद्ध रूपमें वर्णनकी गयी व्रजलीला बहुत अच्छी लगती है॥६॥

फलश्रुति

पृथिवीते यत कथा धर्म नामे चले।
भागवत कहे सब परिपूर्ण छले॥१॥

पृथ्वीपर धर्मके नामपर जो सब बातें कही जाती हैं, भागवत उन सबको सम्पूर्ण छल कहकर प्रचार करती हैं॥१॥

छलधर्म छाड़ि कर सत्यधर्मे मति।
चतुर्वर्ग त्यजि धर नित्य प्रेमगति॥२॥

इसलिए हे पाठको! उन सब छल धर्मोंको छोड़कर सत्य धर्ममें ही अपने चित्तको लगाओ। दूसरे शब्दोंमें, धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूपी चतुर्वगको त्यागकर नित्य प्रेमको प्राप्त करानेवाले मार्गका अवलम्बन करो॥२॥

आमित्व मीमांसा भ्रमे निजे जड़ बुद्धि।
निर्विशेष ब्रह्मज्ञाने नहे चित्तशुद्धि॥३॥

आमित्व मीमांसा अर्थात् अपने आपको शरीर माननेसे भ्रमके कारण अपने प्रति ही जड़बुद्धि उत्पन्न होती है तथा निर्विशेष ब्रह्मज्ञानसे भी चित्तशुद्धि अर्थात् ऐसी जड़बुद्धि दूर नहीं हो सकती॥३॥

विचित्रता हीन हले निर्विशेष हय।
काल सीमातुल्य सेह आप्रकृत नय॥४॥

नाम, रूप, गुण एवं लीला आदिकी विचित्रता न रहनेपर भगवत्-तत्त्व निर्विशेष ब्रह्म हो पड़ते हैं। जो वस्तु काल एवं सीमाके अन्तर्गत होती है, वह अप्राकृत नहीं हो सकती॥४॥

खण्ड ज्ञाने हेय धर्म आछे सुनिश्चत।
प्राकृत हइले कभु अप्राकृत नय॥५॥

इन्द्रियोंसे उत्पन्न होनेवाला प्राकृत ज्ञान खण्ड ज्ञान है, इसलिए उसमें हेय धर्म अर्थात् भ्रम, प्रमाद आदि दोषोंका होना निश्चित है। जो वस्तु प्राकृत होती है। वह कभी भी अप्राकृत नहीं हो सकती॥५॥

जड़े द्वैतज्ञान हेय चिते उपादेय। जड़े
कृष्णभक्ति चिरदिन उपाय-उपेय॥६॥

जड़-जगत्में द्वैतज्ञान हेय है, परन्तु चित्-जगत्में उपादेय है। कृष्णभक्ति सर्वदा ही उपाय एवं उपेय स्वरूप है॥६॥

जीव कभु जड़ नय, हरि कभु नय।
हरि सह जीवाचिन्त्य—भेदाभेदमय॥७॥

जीव न तो कभी जड़ हो सकता है तथा न ही कभी हरि। जीवका भगवान् श्रीहरिसे अचिन्त्यभेदाभेद सम्बन्ध है॥७॥

देह कभु जीव नय, धरा भोग्य नय।
दास भोग्य जीव, कृष्ण प्रभु भोक्ता हय॥८॥

शरीरको कभी भी जीव नहीं कहा जा सकता और न ही जगत् जीवका भोग्य है। भोग्य जीव दास तथा भोक्ता श्रीकृष्ण प्रभु हैं॥८॥

जैवधर्मे नाहि आछे देहधर्म कथा।
नाहि आछे जीव ज्ञाने मायावाद-प्रथा॥९॥

जैवधर्ममें न तो देह धर्मके विषयमें कुछ कहा गया है और न ही उसमें "ब्रह्म सत्य है, संसार झूठा है तथा जीव ही ब्रह्म है—इस मायावाद" का वर्णन किया गया है॥९॥

जीव-नित्यधर्म-भक्ति ताहे जड़ नाई।
शुद्ध जीव 'प्रेम' सेवा फले पाय ताई॥१०॥

जीवका नित्यधर्म-भक्ति कोई जड़धर्म नहीं है, सेवाके फलस्वरूप शुद्ध जीव अपने नित्य स्वरूपमें अवस्थित होनेपर प्रेम प्राप्त करता है॥१०॥

'जैवधर्म' पाठे सेइ शुद्धभक्ति हय।
'जैवधर्म' ना पढ़िले कभु भक्ति नय॥११॥

जैवधर्मके पाठसे उस शुद्धभक्तिकी प्राप्ति होती है। जैवधर्मका पाठ नहीं करनेसे कभी भक्ति हो ही नहीं सकती॥११॥

रूपानुग अभिमान पाठे दृढ़ हय।
जैवधर्म विमुखके धर्महीन कय॥१२॥

इसका पाठ करनेसे रूपानुग होनेका अभिमान दृढ़ होता है। जैवधर्मसे विमुख व्यक्ति वास्तवमें धर्महीन ही है॥१२॥

यावत्, जीवन जेइ पढ़े जैवधर्म।
भक्तिमान सेइ जाने वृथा ज्ञान-कर्म॥१३॥
कृष्णेर अमल सेवा लभि सेह नर।
सेवासुखे मग्न रहे सदा कृष्णपर॥१४॥

जीवन पर्यन्त इस जैवधर्मका पाठ करनेवाले भक्तिवान् व्यक्तिको श्रीकृष्णके चरणकमलोंकी विशुद्ध सेवाकी प्राप्ति होती है तथा वह ज्ञान और कर्मको वृथा जानकर सदैव श्रीकृष्णके सेवारूपी सुखमें निमग्न रहता है॥१३-१४॥

समाप्त

संस्कृत श्लोकों एवं गद्योंकी अनुक्रमणिका

ऋचोऽक्षरे
ऋणमेतत्

(ए)

एकमेव परमं तत्त्वं
एको वशी सर्वगः
एतत् षड्वर्गहरणं
एकमेवाद्वितीयं
एतद्योनीनि भूतानि
एते चांशकलाः
एवं स देवो
एवमेवैष सम्प्रसादः
एष मोहं

(ऐ)

ऐश्वर्ययोगाद्
ऐश्वर्यस्य समग्रस्य

(ओ)

ॐ आस्य जानन्तो
ॐ तमुस्तोतारः
ॐ पदं देवस्य
ॐ ब्रह्मविद्याप्नोति

(क)

कामाद् द्वेषाद्
कालेन नष्टा
किं करिष्यति सांख्येन
कृतिसाध्या भवेत्
कृते यद्ध्यायतो
कृष्णं स्मरन्
कृष्णेति मंगलं
केन कं पश्येत
को ह्येवान्यात्
कौमारं पंचमाब्दान्तं
क्लेशघ्नी शुभदा
क्वाप्यचिन्त्य

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं

(ग)

गुणाविरुद्धा अप्येते
गुरोरप्यवलिप्तस्य
गुरोरवज्ञा
गृहीत विष्णुदीक्षाको
गोकुलाख्ये माथुर
गो–कोटी–दानं ग्रहणे
गोपवेशं सत्पुण्डरीक
गोपवेशधरःसन्दर्शनोत्सुकः
गोप्यः कामाद्

(छ)

छन्दांसि यज्ञाः
छन्नः कलौ

(ज)

जगत् व्यापार

जने चेज्जातभावेऽपि
जातश्रद्धो मत्कथासु
जीवितं विष्णुभक्तस्य
ज्ञानं परमगुह्यं

(त)

ततो भजेत मां
तत्त्वमसि
तथा न ते माधव
तदात्मानं स्वयमकुरुत
तदेजति तन्नैजति
तद्यथा महामत्स्य
तद्विज्ञानार्थं
तद्विष्णोः परमं पदं
तन्मातुःसमुद्यता
तपस्विभ्योऽधिको

यतो वा इमानि
यतो वाचो
यत् कर्मभिर्यत्तपसा
यत्नेनापादितोऽप्यर्थः
यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा
यथातथ्यतोऽर्थान्
यथा यथात्मा
यथा यथा हरेर्नाम
यथा सौमित्रिभरतौ
यदभ्यर्च्य हरिं
यदा भ्रामं भ्रामं
यदा यस्यानुगृह्णाति
यदा वै श्रद्दधाति
यदीच्छेरावासं
यद्गत्वा न निवर्त्तन्ते
यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं
यद् विज्ञाते
यद्वैतत् सुकृतं
यन्नामकीर्त्तनफलं
यन्नामधेयं म्रियमाण
यन्नाम सकृत् श्रवणात्
यस्मात् परं न
यस्य देवे पराभक्तिः
यस्य यत्संगतिः
येऽन्येऽरविन्दाक्ष
यस्य यल्लक्षणं प्रोक्तं
यस्यात्मबुद्धिः
यावता स्यात्
यावत्ते मायया स्पृष्टा
येनाक्षर पुरुषं वेद
योऽनधीत्य द्विजो
योगमायामुपाश्रितः
योगिनामपि सर्वेषां
यो वा एतदक्षरं
यो वेद निहितं
यो व्यक्ति न्यायरहितम्

(र)

रजोभिः समसंख्याताः
रसानां समवेतानां
रसान्तरेण व्यवधौ
रसो वै सः
राक्षसाः कलिमाश्रित्य
राजसूयाश्वमेधानां
राधया भवतश्च
राधाकृष्णप्रणय विकृतिर्-

(ल)

लालसोद्वेगजागर्यास्तानवं
लोके व्यवायामिषमद्यसेवा

(व)

वदन्ति तत्तत्त्वविदः
वरं हुतवहज्ज्वाला
वर्णानामाश्रमाणाञ्च
वार्यमाणाः पतिभिः
विप्राद् द्विषड्गुणयुताद
विमुक्तसंभ्रमा या
विश्रम्भो गाढविश्वासविशेषो
विष्णोर्यत् परमं पदम्
विष्णोरेकैकं
विसृजति हृदयं
वेद्यं वास्तवमत्र
व्यतीत्य भावनावर्त्म
व्रतानि यज्ञाश्छन्दांसि

(श)

शमोदमस्तपः शौचं
शिवस्य श्रीविष्णोर्य
शक्ति-शक्तिमतोरभेदः
शुश्रूषणं द्विजगवां
शूद्रं वा भगवद्भक्तं
श्वपचोऽपि महीपाल
श्वविड्वराहोष्ट्र

पद्यांशोंकी अनुक्रमणता

नित्यसिद्ध कृष्णप्रेम

(प)

पहिलेहि राग नयनभङ्गे
पिशाची पाइले येन मति
पूर्ण विकशित हजा
प्राकृत वस्तुते यदि
प्रेमेर कलिका नाम

(ब)

बड़ हरिदासेर न्याय
बद्धजीवे कृपा करि
बहु अंग साधने

(भ)

भजनेर मध्ये श्रेष्ठ
भाल ना खाइबे

(म)

मर्कट वैराग्य ना कर
मायाके पिछने राखि
मूर्छित हइल मन
मोरे सिद्ध देह दिया

(य)

यदि करिबे कृष्ण नाम
यदि चाह प्रणय राखिते

(ल)

लइनु आश्रय यार

(व)

वस्तुतः परिणामवाद
विषय वासनानले
वैरागी भाई ग्राम्य कथा

(श)

शुद्ध भक्ति हैते हय
शून्य स्थल देखि लोकेर
श्रवणादि क्रिया तार
श्रीकृष्णचैतन्य प्रभु
श्रीकृष्णचैतन्य श्रीप्रभु

(स)

सइ (सखी)! केवा
सप्तताल देखि प्रभु
सशरीरे ताल गेल
साधु पावा कष्ट बड़
साधुसंगे कृष्णनाम
स्वपनेओ ना कर भाई

(ह)

हरि हरये नमः
हृदय हइते बले